[...कवासी जैन श्रमणसघ के प्रथमाचार्य
...रामजी महाराज की जन्म-शताब्दी के अवसर पर विशेष उपहार]

...न श्रीकन्हैयालालजी 'कमल'
...त्री

...न्दजी भारिल्ल

श्रीचन्द सुराणा 'सरस'

☐ अर्थसौजन्य
माननीय सेठ श्रीहीराचन्दजी चोरडिया,

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्रीविनयकुमार 'भीम'
श्रीमहेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ प्रकाशनतिथि
वीरनिर्वाणसवत् २५०६
विक्रम स २०३६
ई सन् १९८२

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशनसमिति
जैनस्थानक, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
ब्यावर—३०५९०१

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यन्त्रालय, केसरगज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य . ५०) रुपये

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Sri Joravarmalji Maharaj

FIFTH GANADHARA SUDHARMA SWAMI COMPILED
FIFTH AṄGA

VY Y TI

(BHAGAVATĪ SŪTRA)

First Part

[Original Text, with Variant Readings, Hindi Version Notes, etc]

Proximity
Up-pravartaka Rev Swami Sri Brijlalji Maharaj

Convener & Chief Editor
Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Editors & Annotators
Shri Amarmuni
Sri Chand Surana 'Saras'

Publishers
Sri Agam Prakashan Samiti
Beawar (Raj.)

[An auspicious publication at the Holy occasion of
Birth Century of Rev Acharya Sri Atmaramji Maharaj
the first Acharya of Vardhman Sthanakvasi Jain Sramana Sangha]

□ **Board of Editors**

Anuyoga-pravartaka Munisri Kanhaiyalal 'Kamal'
Sri Devendra Muni Shastri
Sri Ratan Muni
Pt Shobhachandra Bharill

□ **Managing Editor**

Srichand Surana 'Saras'

□ **Promotor**

Munisri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendramuni 'Dinakar'

□ **Financial Assistance**

Shri Seth Hirachandji Chauradiya

□ **Publishers**

Sri Agam Prakashan Samiti
Jain Sthanak, Pipaliya Bazar, Beawar (Raj)
Pin 305901

□ **Printer**

Satishchandra Shukla
Vedic Yantralaya
Kesarganj, Ajmer—305001

□ **Price : Rs. 50/-**

समर्पण

जो अपने युग मे असाधारण व्यक्तित्व के वैभव से विभूषित थे,

जिनागम-निरूपित विमल साधना का सकल्प ही जिनका एकमात्र साध्य रहा,

जिनवाणी के प्रचार-प्रसार एव जिन-शासन के उद्योत के लिए जिनका सयम-जीवन समर्पित रहा,

जिनकी शिष्य-प्रशिष्य-परम्परा ने काला-नुक्रम से विशाल-विराट् रूप धारण किया,

जिन्होने अपने जीवन द्वारा जैन इतिहास के नूतन अध्यायो का निर्माण किया, उन

परमपूज्य

आचार्यश्री धर्मदासजी महाराज

के कर-कमलो मे

सादर सविनय सभक्ति ।

—मधुकर मुनि

प्रकाशकीय

आगमप्रेमी स्वाध्यायशील पाठकों के कर-कमलों में 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' अंग, जो अपनी अनेक विशिष्टताओं के कारण 'भगवती' नाम से प्रख्यात है, समर्पित करते हुए सन्तोष और आनन्द का अनुभव होता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति विशालकाय आगम है। प्रस्तुत ग्रंथ उसका प्रथम भाग है, जिसमें पांच शतकों का सन्निवेश हुआ है। दूसरा भाग लगभग इतना ही दलदार प्रेस में दिया जा चुका है। इससे आगे का सम्पादन-कार्य चालू है।

प्रस्तुत आगम समिति द्वारा अब तक प्रकाशित आगमों में से १४ वां ग्रन्थाङ्क है। इनमें पूर्व विपाकश्रुत, नन्दी और औपपातिक आदि सूत्र प्रकाशित किए जा चुके हैं।

यशस्वी साहित्यसर्जक श्री देवेन्द्रमुनिजी म. शास्त्री भगवती की प्रस्तावना लिखने वाले थे और यह प्रथम भाग के साथ ही प्रकाशित होने वाली थी, किन्तु स्वास्थ्य अनुकूल न होने के कारण प्रस्तावना लिखी नहीं जा सकी। अतएव वह अन्तिम भाग में दी जाएगी।

प्रस्तुत आगम का अनुवाद एवं सम्पादन पण्डित प्रवर श्रमणसंघीय मुनिवर श्रीपद्मचंदजी म. (भंडारी) के सुयोग्य शिष्य मुनिवर श्री अमरमुनिजी म. तथा श्रीयुत श्रीचंदजी सुराणा ने किया है। मुनिश्री के इस अनुग्रह-पूर्ण सहयोग के लिए समिति अतीव आभारी है। आगम-प्रकाशन का यह महान् भगीरथ-कार्य न व्यक्तिगत है, न सम्प्रदायगत। यह समग्र समाज के लिए समान रूप से उपयोगी है। अतएव हमारा यह आशा करना कि समग्र समाज एवं सभी मुनिराजों का हमें समान रूप से हार्दिक सहयोग प्राप्त होगा, उचित ही है।

इसके मुद्रण में श्रीमान् सेठ हीराचन्दजी चौरडिया साहब का विशिष्ट आर्थिक सहकार प्राप्त हुआ है। उनके प्रति भी हम आभारी हैं। आपके अतिरिक्त सभी अर्थसहयोगी सदस्य महानुभावों के प्रति अपनी कृतज्ञता-भावना प्रकट करना भी हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

आगमवेत्ता विद्वानों के सहयोग के बिना भी यह पुण्य-कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। अतएव हम उन सब विद्वानों के भी आभारी हैं, जिनका प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोग हमें प्राप्त हो रहा है।

आगमप्रकाशन समिति प्रकाशित आगमों का मूल्य लागत से भी कम रखती है। अग्रिम ग्राहकों में से संघ, शिक्षणसंस्था, पुस्तकालय आदि को ७०० रु. में तथा व्यक्तियों को १००० रु. में सम्पूर्ण बत्तीसी दी जाने वाली है। यह मूल्य लागत की तुलना में बहुत ही कम है। इसके पीछे एकमात्र भावना यही है कि आगमों का प्रचार-प्रसार अधिक से अधिक हो और भ. महावीर की पावन वाणी से अधिक से अधिक लोग लाभान्वित हो सकें। किन्तु खेद है कि समाज में आगमज्ञान की वह तीव्र पिपासा दृष्टिगोचर नहीं होती। यही कारण है कि अग्रिम ग्राहकों की जितनी संख्या होनी चाहिए, नहीं हो पाई है। हम अर्थसहयोगी सदस्यों से तथा अग्रिम ग्राहक महानुभावों से निवेदन करना चाहते हैं कि वे प्रत्येक कम से कम पाँच अग्रिम ग्राहक बना कर समिति के पावन उद्देश्य की पूर्ति में भी सहयोगी बनें। तथा श्रमणसंघीय युवाचार्य पण्डितप्रवर मुनिश्री मिश्रीमलजी म. सा. ने जो घोर श्रमसाध्य पवित्रतम उत्तरदायित्व अपने कंधों पर ओढा है उसमें सहभागी बनें।

रतनचंद मोदी
अध्यक्ष

जतनराज मेहता
प्रधानमंत्री

चांदमल विनायकिया
मंत्री

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.)

सम्पादन—सहयोगी सत्कार

[भगवती सूत्र जैसे महान् विशाल आगम का सम्पादन-प्रकाशन वास्तव में ही बहुत श्रमसाध्य एव व्ययसाध्य कार्य है। इसका सम्पादन प्रवचन-भूषण श्री अमर मुनिजी महाराज के सान्निध्य में उन्ही के प्रमुख सहयोग से सम्पन्न हुआ। इसमें गुरुदेव भडारी श्री पद्मचन्द्रजी महाराज की प्रेरणा सदा कार्य को गति देती रही। साथ ही अन्य साधन जुटाने, विद्वानो आदि की व्यवस्था में जो व्यय हुआ, उसका सहयोग निम्न उदार सद्गृहस्थो से प्राप्त हुआ, तदर्थ हार्दिक धन्यवाद]

१ **श्री भोजराजजी जैन बजाज**
भोजराज जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, भटिंडा (पजाब)

२ **डा मोतीरायजी जैन** (देहली)
सुपुत्र-ला जौहरीमलजी जैन, सेवडा (जि सोनीपत)

३ **श्री प्रेमचन्द जैन सी ए**
चडीगढ

४ **श्री रामस्वरूपजी अग्रवाल**
हनुमान राईस मिल्स सफीदो मडी (हरियाणा)

५. **ला. अनन्तराय मलेरीरायजी**
सफीदो मडी (हरियाणा)

६. **श्री धनपतराय जी जैन**
श्री गगानगर (राजस्थान)

७. **ला कबूलचन्द जगमन्दिरलाल जैन**
पदमपुर मडी (राज)

८ **श्रीमती चलनी देवी जैन, धर्मपत्नी श्री ओमप्रकाश जैन**
नरेला मडी (देहली)

प्रस्तुत आगम के प्रकाशन मे अर्थसहयोगी

माननीय सेठ श्रीहीराचन्दजी सा. चोरड़िया

[संक्षिप्त परिचय-रेखा]

नोखा (चादावतो का) का चोरडिया-परिवार जितना विशाल है, उतना ही इस परिवार का हृदय विशाल है। आर्थिक दृष्टि से जितना सम्पन्न है, उदारभावना से भी उतना ही सम्पन्न है। सार्वजनिक सेवा, शासन-अभ्युदय और परोपकार के कार्यो मे जितना अग्रसर है, उतना ही विनम्र, सौम्य और सरल है। सेठ हीराचन्दजी सा इस परिवार के वयोवृद्ध सम्माननीय सदस्य है। आपकी सरलता और गम्भीरता असाधारण है।

चोरडियाजी का जन्म वि स १९५६ की फाल्गुन शुक्ला सप्तमी को नोखा मे हुआ। पिताजी श्रीमान् सिरेमलजी चोरडिया के आप सुपुत्र हैं। आपने श्रीमती मायवकु वरजी की कुक्षि को पावन किया।

जब आप केवल १८ वर्ष के थे तभी आपको पितृवियोग के दारुण प्रसग का सामना करना पडा। पिताजी के बिछुडते ही परिवार का समग्र उत्तरदायित्व आपके कन्धो पर आ पडा। आपने बडी कुशलता, सूझबूझ, धैर्य और साहस से अपने दायित्व का निर्वाह किया।

आज आप की गणना मद्रास के प्रतिष्ठित व्यवसायियो मे की जाती है। आप अपने व्यवसाय-कौशल के कारण अनेक फर्मों के सस्थापक एव सचालक है। आपकी मुख्य फर्म 'सिरेमल हीराचन्द फाइनेन्सीयर्स' (साहूकार पेट, मद्रास) है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित सस्थानो के भी आप अधिपति है—

(१) सिरेमल हीराचन्द एण्ड कम्पनी
(२) इन्टरनेशनल टायर सर्विस—टायर्स एण्ड वेटरीज डीलर्स, माउन्ट रोड, मद्रास
(३) चोरडिया रबर प्रोडक्टस् प्रा लि मद्रास

व्यवसाय के क्षेत्र मे सलग्न और अग्रसर होने पर भी आपका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से उसी के लिए समर्पित नही है। आपने उपार्जित लक्ष्मी का समाजसेवा एव परोपकार मे व्यय किया है और कर रहे है। मरुभूमि मे जल और जलाशय का कितना मूल्य और महत्त्व है, यह सर्वविदित है। सस्कृतभाषा मे जल का एक नाम 'जीवन' है। वास्तव मे जल के अभाव मे जीवन टिक नही सकता। वह जीवन की सर्वोच्च आवश्यकता है। इस तथ्य को ध्यान मे रख कर आपने आज से चालीस वर्ष पूर्व नोखा-निवासियो की सुविधा के लिए कुआ खुदवाया, जिससे सारा गाव आज भी लाभ उठा रहा है।

यही नही, आपके जन्मग्राम नोखा मे ही 'सिरेमल जोरावरमल प्राइमरी हेल्थसेंटर' के निर्माण मे भी आपका विशिष्ट योगदान रहा है।

मद्रास मे होने वाले प्रत्येक सार्वजनिक कार्य मे आपका सक्रिय एव सार्थक योगदान रहा है, चाहे वह हाईस्कूल हो, जैन कालेज हो या बालिकाओ का हाईस्कूल हो।

मगर आपका सब से महत्त्वपूर्ण और विशेष उल्लेखनीय सेवाकार्य है—हीराचन्द आई हॉस्पिटल नामक नेत्रचिकित्सालय। यह मद्रास के साहूकार पेट मे अवस्थित है। यह अस्पताल सेठ हीराचन्दजी सा तथा आपके तीन सुपुत्रो—श्रीतेजराजजी, प्रकाशचन्दजी तथा शरदचन्दजी सा ने बडे ही उत्साह के साथ स्थापित किया है।

आदि वचन

विश्व के जिन दार्शनिको—दृष्टाओ/चिन्तको, ने "आत्मसत्ता" पर चिन्तन किया है, या आत्म-साक्षात्कार किया है उन्होंने पर-हितार्थ आत्म-विकास के साधनों तथा पद्धतियों पर भी पर्याप्त चिन्तन-मनन किया है। आत्मा तथा तत्सम्बन्धित उनका चिन्तन-प्रवचन आज आगम/पिटक/वेद/उपनिषद् आदि विभिन्न नामों से विश्रुत है।

जैन दर्शन की यह धारणा है कि आत्मा के विकारो—राग द्वेष आदि को, साधना के द्वारा दूर किया जा सकता है, और विकार जब पूर्णत निरस्त हो जाते हैं तो आत्मा की शक्तियां ज्ञान/सुख/वीर्य आदि सम्पूर्ण रूप में उद्घाटित-उद्भासित हो जाती है। शक्तियो का सम्पूर्ण प्रकाश-विकास ही सर्वज्ञता है और सर्वज्ञ/आप्त-पुरुष की वाणी, वचन/कथन/प्ररूपणा—"आगम" के नाम से अभिहित होती है। आगम अर्थात् तत्त्वज्ञान, आत्म-ज्ञान तथा आचार-व्यवहार का सम्यक् परिबोध देने वाला शास्त्र/सूत्र/आप्तवचन।

सामान्यत सर्वज्ञ के वचनो/वाणी का सकलन नही किया जाता, वह बिखरे सुमनो की तरह होती है, किन्तु विशिष्ट अतिशयसम्पन्न सर्वज्ञ पुरुष, जो धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं, सघीय जीवन पद्धति मे धर्म-साधना को स्थापित करते है, वे धर्मप्रवर्तक/अरिहत या तीर्थंकर कहलाते हैं। तीर्थंकर देव की जनकल्याणकारिणी वाणी को उन्ही के अतिशयसम्पन्न विद्वान् शिष्य गणधर सकलित कर "आगम" या शास्त्र का रूप देते हैं अर्थात् जिन-वचनरूप सुमनो की मुक्त वृष्टि जब मालारूप मे ग्रथित होती है तो वह "आगम" का रूप धारण करती है। वही आगम अर्थात् जिन-प्रवचन आज हम सब के लिए आत्म-विद्या या मोक्ष-विद्या का मूल स्रोत है।

"आगम" को प्राचीनतम भाषा मे "गणिपिटक" कहा जाता था। अरिहतो के प्रवचनरूप समग्र शास्त्र-द्वादशाग मे समाहित होते है और द्वादशाग/आचाराग-सूत्रकृताग आदि के अग-उपाग आदि अनेक भेदोपभेद विकसित हुए हैं। इस द्वादशागी का अध्ययन प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक और उपादेय माना गया है। द्वादशागी मे भी बारहवाँ अग विशाल एव समग्र श्रुतज्ञान का भण्डार माना गया है, उसका अध्ययन बहुत ही विशिष्ट प्रतिभा एव श्रुतसम्पन्न साधक कर पाते थे। इसलिए सामान्यत एकादशाग का अध्ययन साधको के लिए विहित हुआ तथा इसी ओर सबकी गति/मति रही।

जब लिखने की परम्परा नही थी, लिखने के साधनो का विकास भी अल्पतम था, तब आगमो/शास्त्रो/को स्मृति के आधार पर या गुरु-परम्परा से कठस्थ करके सुरक्षित रखा जाता था। सम्भवत इसलिए आगम ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा गया और इसीलिए श्रुति/स्मृति जैसे सार्थक शब्दो का व्यवहार किया गया। भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के एक हजार वर्ष बाद तक आगमो का ज्ञान स्मृति/श्रुति परम्परा पर ही आधारित रहा। पश्चात् स्मृतिदौर्बल्य, गुरुपरम्परा का विच्छेद, दुष्काल-प्रभाव आदि अनेक कारणो से धीरे-धीरे आगमज्ञान लुप्त होता चला गया। महासरोवर का जल सूखता-सूखता गोष्पद मात्र रह गया। मुमुक्षु श्रमणो के लिए यह जहाँ चिन्ता का विषय था, वहाँ चिन्तन की तत्परता एव जागरूकता को चुनौती भी थी। वे तत्पर हुए श्रुतज्ञान-निधि के सरक्षण हेतु। तभी महान् श्रुतपारगामी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने विद्वान् श्रमणो का एक सम्मेलन बुलाया और स्मृति-दोष से लुप्त होते आगम ज्ञान को सुरक्षित एव सजोकर रखने का आह्वान किया। सर्व-सम्मति से आगमो को लिपि-बद्ध किया गया।

आदि वचन

विश्व के जिन दार्शनिको—दृष्टाओं/चिन्तको, ने "आत्मसत्ता" पर चिन्तन किया है, या आत्म-साक्षात्कार किया है उन्होने पर-हितार्थ आत्म-विकास के साधनो तथा पद्धतियो पर भी पर्याप्त चिन्तन-मनन किया है। आत्मा तथा तत्सम्बन्धित उनका चिन्तन-प्रवचन आज आगम/पिटक/वेद/उपनिषद् आदि विभिन्न नामो से विश्रुत है।

जैन दर्शन की यह धारणा है कि आत्मा के विकारो—राग द्वेष आदि को, साधना के द्वारा दूर किया जा सकता है, और विकार जब पूर्णत निरस्त हो जाते है तो आत्मा की शक्तियाँ ज्ञान/सुख/वीर्य आदि सम्पूर्ण रूप में उद्घाटित-उद्भासित हो जाती है। शक्तियो का सम्पूर्ण प्रकाश-विकास ही सर्वज्ञता है और सर्वज्ञ/आप्त-पुरुष की वाणी, वचन/कथन/प्ररूपणा—"आगम" के नाम से अभिहित होती है। आगम अर्थात् तत्त्वज्ञान, आत्म-ज्ञान तथा आचार-व्यवहार का सम्यक् परिबोध देने वाला शास्त्र/सूत्र/आप्तवचन।

सामान्यत सर्वज्ञ के वचनो/वाणी का सकलन नही किया जाता, वह बिखरे सुमनो की तरह होती है, किन्तु विशिष्ट अतिशयसम्पन्न सर्वज्ञ पुरुष, जो धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते है, सघीय जीवन पद्धति मे धर्म-साधना को स्थापित करते है, वे धर्मप्रवर्तक/अरिहत या तीर्थंकर कहलाते हैं। तीर्थंकर देव की जनकल्याणकारिणी वाणी को उन्ही के अतिशयसम्पन्न विद्वान् शिष्य गणधर सकलित कर "आगम" या शास्त्र का रूप देते है अर्थात् जिन-वचनरूप सुमनो की मुक्त वृष्टि जब मालारूप मे ग्रथित होती है तो वह "आगम" का रूप धारण करती है। वही आगम अर्थात् जिन-प्रवचन आज हम सब के लिए आत्म-विद्या या मोक्ष-विद्या का मूल स्रोत है।

"आगम" को प्राचीनतम भाषा मे "गणिपिटक" कहा जाता था। अरिहतो के प्रवचनरूप समग्र शास्त्र-द्वादशाग मे समाहित होते हैं और द्वादशाग/आचाराग-सूत्रकृताग आदि के अग-उपाग आदि अनेक भेदोपभेद विकसित हुए है। इस द्वादशागी का अध्ययन प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक और उपादेय माना गया है। द्वादशागी मे भी बारहवाँ अग विशाल एव समग्र श्रुतज्ञान का भण्डार माना गया है, उसका अध्ययन बहुत ही विशिष्ट प्रतिभा एव श्रुतसम्पन्न साधक कर पाते थे। इसलिए सामान्यत एकादशाग का अध्ययन साधको के लिए विहित हुआ तथा इसी ओर सबकी गति/मति रही।

जब लिखने की परम्परा नही थी, लिखने के साधनो का विकास भी अल्पतम था, तब आगमो/शास्त्रो/को स्मृति के आधार पर या गुरु-परम्परा से कठस्थ करके सुरक्षित रखा जाता था। सम्भवत इसलिए आगम ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा गया और इसीलिए श्रुति/स्मृति जैसे सार्थक शब्दो का व्यवहार किया गया। भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के एक हजार वर्ष बाद तक आगमो का ज्ञान स्मृति/श्रुति परम्परा पर ही आधारित रहा। पश्चात् स्मृतिदौर्बल्य, गुरुपरम्परा का विच्छेद, दुष्काल-प्रभाव आदि अनेक कारणो से धीरे-धीरे आगमज्ञान लुप्त होता चला गया। महासरोवर का जल सूखता-सूखता गोष्पद मात्र रह गया। मुमुक्षु श्रमणो के लिए यह जहाँ चिन्ता का विषय था, वहाँ चिन्तन की तत्परता एव जागरूकता को चुनौती भी थी। वे तत्पर हुए श्रुतज्ञान-निधि के सरक्षण हेतु। तभी महान् श्रुतपारगामी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने विद्वान् श्रमणो का एक सम्मेलन बुलाया और स्मृति-दोष से लुप्त होते आगम ज्ञान को सुरक्षित एव सजोकर रखने का आह्वान किया। सर्व-सम्मति से आगमो को लिपि-बद्ध किया गया।

जिनवाणी को पुस्तकारूढ करने का यह ऐतिहासिक कार्य वस्तुत आज की समग्र ज्ञान-पिपासु प्रजा के लिए एक अवर्णनीय उपकार सिद्ध हुआ। संस्कृति, दर्शन, धर्म तथा आत्म-विज्ञान की प्राचीनतम ज्ञानधारा को प्रवहमान रखने का यह उपक्रम वीरनिर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् प्राचीन नगरी वलभी (सौराष्ट्र) मे आचार्य श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व मे सम्पन्न हुआ। वैसे जैन आगमो की यह दूसरी अन्तिम वाचना थी, पर लिपिबद्ध करने का प्रथम प्रयास था। आज प्राप्त जैन सूत्रो का अन्तिम स्वरूप-संस्कार इसी वाचना मे सम्पन्न किया गया था।

पुस्तकारूढ होने के बाद आगमो का स्वरूप मूल रूप मे तो सुरक्षित हो गया, किन्तु काल-दोष, श्रमण-सघो के आन्तरिक मतभेद, स्मृतिदुर्बलता, प्रमाद एव भारतभूमि पर बाहरी आक्रमणो के कारण विपुल ज्ञान-भण्डारो का विध्वस आदि अनेकानेक कारणो से आगमज्ञान की विपुल सम्पत्ति, अर्थबोध की सम्यक् गुरु-परम्परा धीरे-धीरे क्षीण एव विलुप्त होने से नही रुकी। आगमो के अनेक महत्वपूण पद, सन्दर्भ तथा उनके गूढार्थ का ज्ञान, छिन्न-विच्छिन्न होते चले गए। परिपक्व भाषाज्ञान के अभाव मे, जो आगम हाथ से लिखे जाते थे, वे भी शुद्ध पाठ वाले नही होते, उनका सम्यक् अर्थ-ज्ञान देने वाले भी विरले ही मिलते। इस प्रकार अनेक कारणो से आगम की पावन धारा सकुचित होती गयी।

विक्रमीय सोलहवी शताब्दी मे वीर लोकाशाह ने इस दिशा मे क्रान्तिकारी प्रयत्न किया। आगमो के शुद्ध और यथार्थ अर्थज्ञान को निरूपित करने का एक साहसिक उपक्रम पुन चालू हुआ। किन्तु कुछ काल बाद उसमे भी व्यवधान उपस्थित हो गये। साम्प्रदायिक-विद्वेष, सैद्धातिक विग्रह, तथा लिपिकारो का अत्यल्प ज्ञान आगमो की उपलब्धि तथा उसके सम्यक् अर्थबोध मे बहुत बडा विघ्न बन गया। आगम-अभ्यासियो को शुद्ध प्रतिया मिलना भी दुर्लभ हो गया।

उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम चरण मे जब आगम-मुद्रण की परम्परा चली तो सुधी पाठको को कुछ सुविधा प्राप्त हुई। धीरे-धीरे विद्वत्-प्रयासो से आगमो की प्राचीन चूर्णियाँ, निर्युक्तियाँ, टीकाये आदि प्रकाश मे आई और उनके आधार पर आगमो का स्पष्ट-सुगम भावबोध सरल भाषा मे प्रकाशित हुआ। इसमे आगम-स्वाध्यायी तथा ज्ञान-पिपासु जनो को सुविधा हुई। फलत आगमो के पठन-पाठन की प्रवृत्ति बढी है। मेरा अनुभव है, आज पहले से कही अधिक आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति बढी है, जनता मे आगमो के प्रति आकर्षण व रुचि जागृत हो रही है। इस रुचि-जागरण मे अनेक विदेशी आगमज्ञ विद्वानो तथा भारतीय जैनेतर विद्वानो की आगम-श्रुत-सेवा का भी प्रभाव व अनुदान है, इसे हम सगौरव स्वीकारते है।

आगम-सम्पादन-प्रकाशन का यह सिलसिला लगभग एक शताब्दी से व्यवस्थित चल रहा है। इस महनीय-श्रुत-सेवा मे अनेक समर्थ श्रमणो, पुरुषार्थी विद्वानो का योगदान रहा है। उनकी सेवायें नीव की ईंट की तरह आज भले ही अदृश्य हो, पर विस्मरणीय तो कदापि नही, स्पष्ट व पर्याप्त उल्लेखो के अभाव मे हम अधिक विस्तृत रूप मे उनका उल्लेख करने मे असमर्थ हैं, पर विनीत व कृतज्ञ तो है ही। फिर भी स्थानकवासी जैन परम्परा के कुछ विशिष्ट-आगम श्रुत-सेवी मुनिवरो का नामोल्लेख अवश्य करना चाहेगे।

आज से लगभग साठ वर्ष पूर्व पूज्य श्री अमोलकऋषिजी महाराज ने जैन आगमो—३२ सूत्रो का प्राकृत से खडी बोली मे अनुवाद किया था। उन्होने अकेले ही बत्तीस सूत्रो का अनुवाद कार्य सिर्फ ३ वर्ष व १५ दिन मे पूर्ण कर अद्भुत कार्य किया। उनकी दृढ लगनशीलता, साहस एव आगम ज्ञान की गम्भीरता उनके कार्य से ही स्वत॰ परिलक्षित होती है। वे ३२ ही आगम अल्प समय मे प्रकाशित भी हो गये।

इससे आगमपठन बहुत सुलभ व व्यापक हो गया और स्थानकवासी-तेरापथी समाज तो विशेष उपकृत हुआ।

गुरुदेव श्री जोरावरमल जी महाराज का संकल्प

मै जब प्रात स्मरणीय गुरुदेव स्वामीजी श्री जोरावरमलजी म० के सान्निध्य मे आगमो का अध्ययन-अनुशीलन करता था तब आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित आचार्य अभयदेव व शीलाक की टीकाओ से युक्त कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्ही के आधार पर मैं अध्ययन-वाचन करता था। गुरुदेवश्री ने कई बार अनुभव किया— यद्यपि यह सस्करण काफी श्रमसाध्य व उपयोगी है, अब तक उपलब्ध सस्करणो मे प्राय शुद्ध भी है, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट है, मूलपाठो मे व वृत्ति मे कही-कही अशुद्धता व अन्तर भी है। सामान्य जन के लिये दुरूह तो है ही। चू कि गुरुदेवश्री स्वय आगमो के प्रकाण्ड पण्डित थे, उन्हे आगमो के अनेक गूढार्थ गुरु-गम से प्राप्त थे। उनकी मेधा भी व्युत्पन्न व तर्क-प्रवण थी, अत वे इस कमी को अनुभव करते थे और चाहते थे कि आगमो का शुद्ध, सर्वोपयोगी ऐसा प्रकाशन हो, जिससे सामान्य ज्ञानवाले श्रमण-श्रमणी एव जिज्ञासुजन लाभ उठा सकें। उनके मन की यह तडप कई बार व्यक्त होती थी। पर कुछ परिस्थितियो के कारण उनका यह स्वप्न-सकल्प साकार नहीं हो सका, फिर भी मेरे मन मे प्रेरणा बनकर अवश्य रह गया।

इसी अन्तराल मे आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज, श्रमणसघ के प्रथम आचार्य जैनधर्म दिवाकर आचार्य श्री आत्माराम जी म०, विद्वद्‌रत्न श्री घासीलालजी म० आदि मनीषी मुनिवरो ने आगमो की हिन्दी, सस्कृत, गुजराती आदि मे सुन्दर विस्तृत टीकायें लिखकर या अपने तत्त्वावधान मे लिखवा कर कमी को पूरा करने का महनीय प्रयत्न किया है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आम्नाय के विद्वान् श्रमण परमश्रुतसेवी स्व० मुनि श्री पुण्यविजयजी ने आगम-सम्पादन की दिशा मे बहुत व्यवस्थित व उच्चकोटि का कार्य प्रारम्भ किया था। विद्वानो ने उसे बहुत ही सराहा। किन्तु उनके स्वर्गवास के पश्चात् उस मे व्यवधान उत्पन्न हो गया। तदपि आगमज्ञ मुनि श्री जम्बूविजयजी आदि के तत्त्वावधान मे आगम-सम्पादन का सुन्दर व उच्चकोटि का कार्य आज भी चल रहा है।

वर्तमान मे तेरापथ सम्प्रदाय मे आचार्य श्री तुलसी एव युवाचार्य महाप्रज्ञजी के नेतृत्व मे आगम-सम्पादन का कार्य चल रहा है और जो आगम प्रकाशित हुए है उन्हे देखकर विद्वानो को प्रसन्नता है। यद्यपि उनके पाठ-निर्णय मे काफी मतभेद की गु जाइश है। तथापि उनके श्रम का महत्त्व है। मुनि श्री कन्हैयालाल जी म० "कमल" आगमो की वक्तव्यता को अनुयोगो मे वर्गीकृत करके प्रकाशित कराने की दिशा मे प्रयत्नशील है। उनके द्वारा सम्पादित कुछ आगमो मे उनकी कार्यशैली की विशदता एव मौलिकता स्पष्ट होती है।

आगम साहित्य के वयोवृद्ध विद्वान् प० श्री बेचरदासजी दोशी, विश्रुत-मनीषी श्री दलसुखभाई मालवणिया जैसे चिन्तनशील प्रज्ञापुरुष आगमो के आधुनिक सम्पादन की दिशा मे स्वय भी कार्य कर रहे है तथा अनेक विद्वानो का मार्ग-दर्शन कर रहे है। यह प्रसन्नता का विषय है।

इस सब कार्य-शैली पर विहगम अवलोकन करने के पश्चात् मेरे मन मे एक सकल्प उठा। आज प्राय सभी विद्वानो की कार्यशैली काफी भिन्नता लिये हुए है। कही आगमो का मूल पाठ मात्र प्रकाशित किया जा रहा है तो कही आगमो की विशाल व्याख्यायें की जा रही हैं। एक पाठक के लिये दुर्बोध है तो दूसरी जटिल। सामान्य पाठक को सरलतापूर्वक आगमज्ञान प्राप्त हो सके, एतदर्थ मध्यम मार्ग का अनुसरण आवश्यक है। आगमो का एक ऐसा सस्करण होना चाहिये जो सरल हो, सुबोध हो, सक्षिप्त और प्रामाणिक हो। मेरे स्वर्गीय गुरुदेव ऐसा ही आगम-सस्करण चाहते थे। इसी भावना को लक्ष्य मे रखकर मैंने ५-६ वर्ष पूर्व इस विषय की चर्चा प्रारम्भ की

थी, सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात् वि स २०३६ वैशाख शुक्ला दशमी, भगवान् महावीर कैवल्यदिवस को यह दृढ निश्चय घोषित कर दिया और आगमबत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ भी। इस साहसिक निर्णय में गुरुभ्राता शासनसेवी स्वामी श्री व्रजलाल जी म की प्रेरणा/प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन मेरा प्रमुख सम्बल बना है। साथ ही अनेक मुनिवरो तथा सद्गृहस्थो का भक्ति-भाव भरा सहयोग प्राप्त हुआ है, जिनका नामोल्लेख किये बिना मन सन्तुष्ट नही होगा। आगम अनुयोग शैली के सम्पादक मुनि श्री कन्हैयालालजी म० "कमल", प्रसिद्ध साहित्यकार श्री देवेन्द्रमुनिजी म० शास्त्री, आचार्य श्री आत्मारामजी म० के प्रशिष्य भण्डारी श्री पदमचन्दजी म० एव प्रवचन-भूषण श्री अमरमुनिजी, विद्वद्रत्न श्री ज्ञानमुनिजी म०, स्व० विदुषी महासती श्री उज्ज्वलकु वरजी म० की सुशिष्याए महासती दिव्यप्रभाजी, एम ए, पी-एच डी, महासती मुक्तिप्रभाजी एम ए, पी-एच डी तथा विदुषी महासती श्री उमरावकु वरजी म० 'अर्चना', विश्रुत विद्वान् श्री दलसुखभाई मालवणिया, सुख्यात विद्वान् प० श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल, स्व प श्री हीरालालजी शास्त्री, डा० छगनलालजी शास्त्री एव श्रीचन्दजी सुराणा "सरस" आदि मनीषियो का सहयोग आगमसम्पादन के इस दुरूह कार्य को सरल बना सका है। इन सभी के प्रति मन आदर व कृतज्ञ भावना से अभिभूत है। इसी के साथ सेवा-सहयोग की दृष्टि से सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार एव महेन्द्र मुनि का साहचर्य-सहयोग, महासती श्री कानकु वरजी, महासती श्री झणकारकु वरजी का सेवाभाव सदा प्रेरणा देता रहा है। इस प्रसग पर इस कार्य के प्रेरणा-स्रोत स्व० श्रावक चिमनसिंहजी लोढा, स्व० श्री पुखराजजी सिसोदिया का स्मरण भी सहजरूप मे हो आता है जिनके अथक प्रेरणा-प्रयत्नो से आगम समिति अपने कार्य मे इतनी शीघ्र सफल हो रही है। दो वर्ष के अल्पकाल मे ही दस आगम ग्रन्थो का मुद्रण तथा करीब १५-२० आगमो का अनुवाद-सम्पादन हो जाना हमारे सब सहयोगियो की गहरी लगन का द्योतक है।

मुझे सुदृढ विश्वास है कि परम श्रद्धेय स्वर्गीय स्वामी श्री हजारीमलजी महाराज आदि तपोपूत आत्माओ के शुभाशीर्वाद से तथा हमारे श्रमणसघ के भाग्यशाली नेता राष्ट्र-सत आचार्य श्री आनन्दऋषिजी म० आदि मुनिजनो के सद्भाव-सहकार के बल पर यह सकल्पित जिनवाणी का सम्पादन-प्रकाशन कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

इसी शुभाशा के साथ,

— मुनि मिश्रीमल "मधुकर"
(युवाचार्य)

□□

सम्पादकीय

भगवतीसूत्र : एकादशांगी का उत्तमाग

जैन-आगम-साहित्य मे समस्त जैनसिद्धान्तो के मूल स्रोत बारह अगशास्त्र माने जाते है (जो 'द्वादशागी' के नाम से अतीव प्रचलित है। इन बारह अगशास्त्रो मे 'दृष्टिवाद' नामक अन्तिम अगशास्त्र विच्छिन्न हो जाने के कारण अब जैनसाहित्य के भडार मे एकादश अगशास्त्र ही वर्तमान में उपलब्ध हैं। ये अग 'एकादशागी' अथवा 'गणिपिटक' के नाम से विश्रुत है।

जो भी हो, वर्तमान काल मे उपलब्ध ग्यारह अगशास्त्रो मे भगवती अथवा 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' सूत्र जैन आगमो का उत्तमाग माना जाता है। एक तरह से समस्त उपलब्ध आगमो मे भगवती सूत्र सर्वोच्चस्थानीय एव विशालकाय शास्त्र है। द्वादशागी मे व्याख्याप्रज्ञप्ति पचम अगशास्त्र है, जो गणधर सुधर्मास्वामी द्वारा ग्रथित है।

नामकरण और महत्ता

वीतराग सर्वज्ञ प्रभु की वाणी अद्भुत ज्ञाननिधि से परिपूर्ण है। जिस शास्त्रराज मे अनन्तलब्धिनिधान गणधर गुरु श्रीइन्द्रभूति गौतम तथा प्रसगवश अन्य श्रमणो आदि द्वारा पूछे गए ३६,००० प्रश्नो का श्रमण शिरोमणि भगवान् महावीर के श्रीमुख से दिये गए उत्तरो का सकलन-सग्रह है, उसके प्रति जनमानस मे श्रद्धा-भक्ति और पूज्यता होना स्वाभाविक है। वीतरागप्रभु की वाणी मे समग्र जीवन को पावन एव परिवर्तित करने का अद्भुत सामर्थ्य है, वह एक प्रकार से भागवती शक्ति है, इसी कारण जब भी व्याख्याप्रज्ञप्ति का वाचन होता है तब गणधर भगवान् श्रीगौतमस्वामी को सम्बोधित करके जिनेश्वर भगवान् महावीर प्रभु द्वारा व्यक्त किये गए उद्गारो को सुनते ही भावुक भक्तो का मन-मयूर श्रद्धा-भक्ति से गद्‌गद होकर नाच उठता है। श्रद्धालु भक्तगण इस शास्त्र के श्रवण को जीवन का अपूर्व अलभ्य लाभ मानते है। फलत अन्य अगो की अपेक्षा विशाल एव अधिक पूज्य होने के कारण व्याख्याप्रज्ञप्ति के पूर्व 'भगवती' विशेषण प्रयुक्त होने लगा और शताधिक वर्षो से तो 'भगवती' शब्द विशेषण न रह कर स्वतत्र नाम हो गया है। वर्तमान मे व्याख्याप्रज्ञप्ति की अपेक्षा 'भगवती' नाम ही अधिक प्रचलित है। वर्तमान **'व्याख्याप्रज्ञप्ति'** का प्राकृतभाषा **'वियाहपण्णत्ति'** नाम है। कही-कही इसका नाम 'विवाहपण्णत्ति' या 'विबाहपण्णत्ति' भी मिलता है। किन्तु वृत्तिकार आचार्यश्री अभयदेव सूरि ने 'वियाह-पण्णत्ति' नाम को ही प्रामाणिक एव प्रतिष्ठित माना है। इसी के तीन सस्कृतरूपान्तर मान कर इनका भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ किया है—

व्याख्याप्रज्ञप्ति—गौतमादि शिष्यो को उनके द्वारा पूछे गए प्रश्नो के उत्तर मे भगवान् महावीर के विविध प्रकार से कथन का समग्रतया विशद (प्रकृष्ट) निरूपण जिस ग्रन्थ मे हो। अथवा जिस शास्त्र मे विविधरूप से भगवान् के कथन का प्रज्ञापन—प्ररूपण किया गया हो।

व्याख्या-प्रज्ञाप्ति—व्याख्या करने की प्रज्ञा (बुद्धिकुशलता) से प्राप्त होने वाला अथवा व्याख्या करने मे प्रज्ञ (पटु) भगवान् से गणधर को जिस ग्रन्थ द्वारा ज्ञान की प्राप्ति हो, वह श्रुतविशेष।

थी, सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात् वि स २०३६ वैशाख शुक्ला दशमी, भगवान् महावीर कैवल्यदिवस को यह दृढ निश्चय घोषित कर दिया और आगमबत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ भी। इस साहसिक निर्णय में गुरुभ्राता शासनसेवी स्वामी श्री ब्रजलाल जी म की प्रेरणा/प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन मेरा प्रमुख सम्बल बना है। साथ ही अनेक मुनिवरो तथा सद्गृहस्थो का भक्ति-भाव भरा सहयोग प्राप्त हुआ है, जिनका नामोल्लेख किये बिना मन सन्तुष्ट नही होगा। आगम अनुयोग शैली के सम्पादक मुनि श्री कन्हैयालालजी म० "कमल", प्रसिद्ध साहित्यकार श्री देवेन्द्रमुनिजी म० शास्त्री, आचार्य श्री आत्मारामजी म० के प्रशिष्य भण्डारी श्री पदमचन्दजी म० एव प्रवचन-भूषण श्री अमरमुनिजी, विद्वद्रत्न श्री ज्ञानमुनिजी म०, स्व० विदुषी महासती श्री उज्ज्वलकु वरजी म० की सुशिष्याए महासती दिव्यप्रभाजी, एम ए, पी-एच डी, महासती मुक्तिप्रभाजी एम ए, पी-एच डी तथा विदुषी महासती श्री उमरावकु वरजी म० 'अर्चना', विश्रुत विद्वान् श्री दलसुखभाई मालवणिया, सुख्यात विद्वान् प० श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल, स्व प श्री हीरालालजी शास्त्री, डा० छगनलालजी शास्त्री एव श्रीचन्दजी सुराणा "सरस" आदि मनीषियो का सहयोग आगमसम्पादन के इस दुरूह कार्य को सरल बना सका है। इन सभी के प्रति मन आदर व कृतज्ञ भावना से अभिभूत है। इसी के साथ सेवा-सहयोग की दृष्टि से सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार एव महेन्द्र मुनि का साहचर्य-सहयोग, महासती श्री कानकु वरजी, महासती श्री झणकारकु वरजी का सेवाभाव सदा प्रेरणा देता रहा है। इस प्रसग पर इस कार्य के प्रेरणा-स्रोत स्व० श्रावक चिमनसिंहजी लोढा, स्व० श्री पुखराजजी सिसोदिया का स्मरण भी सहजरूप मे हो आता है जिनके अथक प्रेरणा-प्रयत्नो से आगम समिति अपने कार्य मे इतनी शीघ्र सफल हो रही हैं। दो वर्ष के अल्पकाल मे ही दस आगम ग्रन्थो का मुद्रण तथा करीब १५-२० आगमो का अनुवाद-सम्पादन हो जाना हमारे सब सहयोगियो की गहरी लगन का द्योतक है।

मुझे सुदृढ विश्वास है कि परम श्रद्धेय स्वर्गीय स्वामी श्री हजारीमलजी महाराज आदि तपोपूत आत्माओ के शुभाशीर्वाद से तथा हमारे श्रमणसघ के भाग्यशाली नेता राष्ट्र-सत आचार्य श्री आनन्दऋषिजी म० आदि मुनिजनो के सद्भाव-सहकार के बल पर यह सकल्पित जिनवाणी का सम्पादन-प्रकाशन कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

इसी शुभाशा के साथ,

— मुनि मिश्रीमल "मधुकर"
(युवाचार्य)

□□

सम्पादकीय

भगवतीसूत्र : एकादशागी का उत्तमाग

जैन-आगम-साहित्य मे समस्त जैनसिद्धान्तो के मूल स्रोत बारह अगशास्त्र माने जाते है (जो 'द्वादशागी' के नाम से अतीव प्रचलित हैं। इन बारह अगशास्त्रो मे 'दृष्टिवाद' नामक अन्तिम अगशास्त्र विच्छिन्न हो जाने के कारण अब जैनसाहित्य के भडार मे एकादश अगशास्त्र ही वर्तमान मे उपलब्ध है। ये अग 'एकादशागी' अथवा 'गणिपिटक' के नाम से विश्रुत है।

जो भी हो, वर्तमान काल मे उपलब्ध ग्यारह अगशास्त्रो मे भगवती अथवा 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' सूत्र जैन आगमो का उत्तमाग माना जाता है। एक तरह से समस्त उपलब्ध आगमो मे भगवती सूत्र सर्वोच्चस्थानीय एव विशालकाय शास्त्र है। द्वादशागी मे व्याख्याप्रज्ञप्ति पचम अगशास्त्र है, जो गणधर सुधर्मास्वामी द्वारा ग्रथित है।

नामकरण और महत्ता

वीतराग सर्वज्ञ प्रभु की वाणी अद्भुत ज्ञाननिधि से परिपूर्ण है। जिस शास्त्रराज मे अनन्तलब्धिनिधान गणधर गुरु श्रीइन्द्रभूति गौतम तथा प्रसगवश अन्य श्रमणो आदि द्वारा पूछे गए ३६,००० प्रश्नो का श्रमण शिरोमणि भगवान् महावीर के श्रीमुख से दिये गए उत्तरो का सकलन-सग्रह है, उसके प्रति जनमानस मे श्रद्धा-भक्ति और पूज्यता होना स्वाभाविक है। वीतरागप्रभु की वाणी मे समग्र जीवन को पावन एव परिवर्तित करने का अद्भुत सामर्थ्य है, वह एक प्रकार से भागवती शक्ति है, इसी कारण जब भी व्याख्याप्रज्ञप्ति का वाचन होता है तब गणधर भगवान् श्रीगौतमस्वामी को सम्बोधित करके जिनेश्वर भगवान् महावीर प्रभु द्वारा व्यक्त किये गए उद्गारो को सुनते ही भावुक भक्तो का मन-मयूर श्रद्धा-भक्ति से गद्गद होकर नाच उठता है। श्रद्धालु भक्तगण इस शास्त्र के श्रवण को जीवन का अपूर्व अलभ्य लाभ मानते है। फलत अन्य अगो की अपेक्षा विशाल एव अधिक पूज्य होने के कारण व्याख्याप्रज्ञप्ति के पूर्व 'भगवती' विशेषण प्रयुक्त होने लगा और शताधिक वर्षो से तो 'भगवती' शब्द विशेषण न रह कर स्वतत्र नाम हो गया है। वर्तमान मे व्याख्याप्रज्ञप्ति की अपेक्षा 'भगवती' नाम ही अधिक प्रचलित है। वर्तमान **'व्याख्याप्रज्ञप्ति'** का प्राकृतभाषा **'वियाहपण्णत्ति'** नाम है। कही-कही इसका नाम 'विवाहपण्णत्ति' या 'विबाहपण्णत्ति' भी मिलता है। किन्तु वृत्तिकार आचार्यश्री अभयदेव सूरि ने 'वियाह-पण्णत्ति' नाम को ही प्रामाणिक एव प्रतिष्ठित माना है। इसी के तीन सस्कृतरूपान्तर मान कर इनका भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ किया है—

व्याख्याप्रज्ञप्ति—गौतमादि शिष्यो को उनके द्वारा पूछे गए प्रश्नो के उत्तर मे भगवान् महावीर के विविध प्रकार से कथन का समग्रतया विशद (प्रकृष्ट) निरूपण जिस ग्रन्थ मे हो। अथवा जिस शास्त्र मे विविधरूप से भगवान् के कथन का प्रज्ञापन—प्ररूपण किया गया हो।

व्याख्या-प्रज्ञाप्ति—व्याख्या करने की प्रज्ञा (बुद्धिकुशलता) से प्राप्त होने वाला अथवा व्याख्या करने मे प्रज्ञ (पटु) भगवान् से गणधर को जिस ग्रन्थ द्वारा ज्ञान की प्राप्ति हो, वह श्रुतविशेष।

व्याख्या-प्रज्ञाप्ति—व्याख्या करने की प्रज्ञापटुता से ग्रहण किया जाने वाला अथवा व्याख्या करने मे प्रज्ञ भगवान् से कुछ ग्रहण करना व्याख्या-प्रज्ञाप्ति है।

इसी प्रकार विवाहप्रज्ञप्ति और विवाधप्रज्ञप्ति इन दोनो सस्कृत रूपान्तरो का अर्थ भी निम्नोक्त प्रकार से मिलता है—(१) **विवाहप्रज्ञप्ति**—जिसमे विविध या विशिष्ट प्रवाहो—अर्थप्रवाहो का प्रज्ञापन-प्ररूपण किया गया हो, उस श्रुत का नाम विवाहप्रज्ञप्ति है। (२) **विवाधप्रज्ञप्ति**—जिस ग्रन्थ मे बाधारहित—प्रमाण से अबाधित तत्त्वो का प्ररूपण उपलब्ध हो, वह श्रुतविशेष विवाध-प्रज्ञप्ति है।

विषयवस्तु की विविधता—

विषयवस्तु की दृष्टि से व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र मे विविधता है। ज्ञान-रत्नाकर शब्द से यदि किसी शास्त्र को सम्बोधित किया जा सकता है तो यही एक महान् शास्त्रराज है। इसमे जैनदर्शन के ही नही, दार्शनिक जगत् के प्राय सभी मूलभूत तत्त्वो का विवेचन तो है ही, इसके अतिरिक्त विश्वविद्या की कोई भी ऐसी विधा नही है, जिसकी प्रस्तुत शास्त्र मे प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से चर्चा न की गई हो। इसमे भूगोल, खगोल, इहलोक-परलोक स्वर्ग-नरक, प्राणिशास्त्र, रसायनशास्त्र, गर्भशास्त्र, स्वप्नशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, गणितशास्त्र, ज्योतिष, इतिहास, मनोविज्ञान, पदार्थवाद, अध्यात्मविज्ञान आदि कोई भी विषय अछूता नही रहा है।

इसमे प्रतिपादित विषयो के समस्त सूत्रो का वर्गीकरण मुख्यतया निम्नोक्त १० खण्डो मे किया जा सकता है—

(१) **आचारखण्ड**—साध्वाचार के नियम, आहार-विहार एव पाँच समिति, तीनगुप्ति, क्रिया, कर्म, पचमहाव्रत आदि से सम्बन्धित विवेकसूत्र, सुसाधु, असाधु, सुसयत, असयत, सयतासयत आदि के आचार के विषय मे निरूपण आदि।

(२) **द्रव्यखण्ड**—षट्द्रव्यो का वर्णन, पदार्थवाद, परमाणुवाद, मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि, गति, शरीर आदि का निरूपण।

(३) **सिद्धान्तखण्ड**—आत्मा, परमात्मा, (सिद्ध-बुद्ध-मुक्त), केवलज्ञान आदि ज्ञान, आत्मा का विकसित एव शुद्ध रूप, जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, कर्म, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, क्रिया, कर्मबन्ध एव कर्म से विमुक्त होने के उपाय आदि।

(४) **परलोकखण्ड**—देवलोक, नरक आदि से सम्बन्धित समग्र वर्णन, नरकभूमियो के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, का तथा नारको की लेश्या, कर्मबन्ध, आयु, स्थिति, वेदना, आदि का तथा देवलोको की सख्या, वहाँ की भूमि, परिस्थिति देवदेवियो की विविध जातिया-उपजातियाँ, उनके निवासस्थान, लेश्या, आयु, कर्मबन्ध, स्थिति, सुखभोग, आदि का विस्तृत वर्णन। सिद्धगति एव सिद्धो का वर्णन।

(५) **भूगोल**—लोक, अलोक, भरतादिक्षेत्र, कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक क्षेत्र, वहाँ रहने वाले प्राणियो की गति, स्थिति, लेश्या, कर्मबन्ध आदि का वर्णन।

(६) **खगोल**—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे, अन्धकार, प्रकाश, तमस्काय, कृष्णराजि आदि का वर्णन।

(७) **गणितशास्त्र**—एकसयोगी, द्विकसयोगी, त्रिकसयोगी, चतुसयोगी भग आदि, प्रवेशनक राशि सख्यात, असख्यात, अनन्त पल्योपम, सागरोपम, कालचक्र आदि।

(८) **गर्भशास्त्र**—गर्भगतजीव के आहार-विहार, नीहार, अगोपाग, जन्म इत्यादि वर्णन।

(९) चरित्रखण्ड—श्रमण भगवान् महावीर के सम्पर्क मे आने वाले अनेक तापसो, परिव्राजको, श्रावक-श्राविकाओ, श्रमणो, निर्ग्रन्थो, अन्यतीर्थिको, पार्श्वापत्यश्रमणो आदि के पूर्वजीवन एव परिवर्त्तनोत्तरजीवन का वर्णन।

(१०) विविध—कुतूहलजनक प्रश्न, राजगृह के गर्म पानी के स्रोत, अश्वध्वनि, देवो की ऊर्ध्व-अधोगमन शक्ति, विविध वैक्रिय शक्ति के रूप, आशीविष, स्वप्न, मेघ, वृष्टि आदि के वर्णन।

इस प्रकार इस अग मे सभी प्रकार का ज्ञानविज्ञान भरा हुआ है। इसी कारण इसे ज्ञान का महासागर कहा जा सकता है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति के अध्ययन 'शतक' के नाम से प्रसिद्ध है। यह शत (सय) का ही रूप है। प्रस्तुत आगम के उपसहार मे 'इक्कचत्तालीसइम रासी जुम्मसय समत्त' ऐसा समाप्तिसूचक पद उपलब्ध होता है। इसमे यह बताया गया है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति मे १०१ शतक थे, किन्तु इस समय केवल ४१ शतक ही उपलब्ध होते हैं। इस समाप्तिसूचक पद के पश्चात् यह उल्लेख मिलता है कि 'सव्वाए भगवईए अट्ठतीस सय सयाण' अर्थात्—अवान्तरशतको की सख्या सब शतको को मिला कर १३८ होती है, उद्देशक १९२५ होते हैं। ये अवान्तरशतक १३८ इस प्रकार है—प्रथम शतक से बत्तीसवें शतक तक और इकतालीसवें शतक मे कोई अवान्तरशतक नही है। ३३वें शतक से ३९वें शतक तक जो ७ शतक है, इनमे १२-१२ अवान्तर शतक है। ४०वे शतक मे २१ अवान्तर शतक है। अत इन ८ शतको की परिगणना १०५ अवान्तरशतको के रूप मे की गई है। इस तरह अवान्तरशतक रहित ३३ शतको और अवान्तरशतक सहित १०५ शतको को मिलाकर कुल १३८ शतक होते हैं। शतक मे उद्देशक रूप उपविभाग हैं। उद्देशको की जो १९२५ सख्या बताई गई है, गवेषणा करने पर भी उसका आधार प्राप्त नही होता। कुछ शतको मे दस-दस उद्देशक है, कुछ मे इससे भी अधिक हैं। इकतालीसवें शतक मे १९६ उद्देशक है। नौवें शतक मे ३४ उद्देशक है। शतक शब्द से सौ की सख्या का कोई सम्बन्ध नही है, यह अध्ययन के अर्थ मे रूढ है।

४१ शतको मे विभक्त विशालकाय भगवतीसूत्र मे श्रमण भगवान् महावीर के स्वय के जीवन की, गणधर गौतम आदि उनके शिष्यवर्ग की, तथा भक्तो, गृहस्थो, उपासक-उपासिकाओ, अन्यतीर्थिको और उनकी मान्यताओ की विस्तृत जानकारी मिलती है। आजीवक सघ के आचार्य गोशालक के सम्बन्ध मे इसमे विस्तृत और प्रामाणिक जानकारी प्राप्त होती है। यत्र-तत्र पुरुषादानीय भगवान् पार्श्वनाथ के अनुगामी साधु-श्रावको का तथा उनके चातुर्याम धर्म का एव चातुर्याम धर्म के बदले पचमहाव्रत रूप धर्म स्वीकार करने का विशद उल्लेख भी प्रस्तुत आगम मे मिलता है। इसमे सम्राट् कूणिक और गणतन्त्राधिनायक महाराजा चेटक के बीच जो महाशिलाकण्टक और रथमूशल महासग्राम हुए, तथा इन दोनो महायुद्धो मे जो करोडो का नरसहार हुआ, उसका विस्तृत मार्मिक एव चौका देने वाला वर्णन भी अकित है।

ऐतिहासिक दृष्टि से आजीवक सघ के आचार्य मखली गोशाल, जमालि, शिवराजर्षि, स्कन्दक परिव्राजक, तामली तापस आदि का वर्णन अत्यन्त रोचक है। तत्त्वचर्चा की दृष्टि से जयन्ती श्राविका, मद्दुक श्रमणोपासक, रोह अनगार, सोमिल ब्राह्मण, भगवान् पार्श्व के शिष्य कालास्यवेशीपुत्र, तु गिका नगरी के श्रावक आदि प्रकरण बहुत ही मननीय हैं। इक्कीस से लेकर तेईसवें शतक तक वनस्पतियो का जो वर्गीकरण किया गया है, वह अद्भुत है। पचास्तिकाय के प्रतिपादन मे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, ये तीनो अमूर्त होने से अदृश्य हैं, वर्त्तमान वैज्ञानिको ने धर्मास्तिकाय को 'ईथर' तत्त्व के रूप मे तथा आकाश को 'स्पेस' के रूप मे स्वीकार कर लिया है। जीवास्तिकाय भी अमूर्त्त होने से अदृश्य है, तथापि शरीर के माध्यम से होने वाली

चैतन्यक्रिया के द्वारा वह दृश्य है। पुद्गलास्तिकाय मूर्त्त होने से दृश्य है। इस प्रकार प्रस्तुत आगम में किया गया प्रतिपादन वैज्ञानिक तथ्यों के अतीव निकट है। इसके अतिरिक्त जीव और पुद्गल के संयोग में दृष्टिगोचर होने वाली विविधता का जितना विशद विवरण प्रस्तुत आगम में है, उतना अन्य भारतीय दर्शन या धर्मग्रन्थों में नहीं मिलता।

आधुनिक शिक्षित एवं कतिपय वैज्ञानिक भगवतीसूत्र में उक्त स्वर्ग-नरक के वर्णन को कपोल-कल्पित कहते नहीं हिचकिचाते। उनका आक्षेप है कि 'भगवतीसूत्र का आधे से अधिक भाग स्वर्ग-नरक से सम्बन्धित वर्णनों से भरा हुआ है, इस ज्ञान का क्या महत्त्व या उपयोग है ?'

परन्तु सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् महावीर ने तथा जैनतत्त्वज्ञों ने स्वर्ग-नरक को सर्वाधिक महत्त्व दिया है, इसके पीछे महान् गूढ रहस्य छिपा हुआ है। वह यह है कि यदि आत्मा को हम अविनाशी और शाश्वत सत्तात्मक मानते हैं तो हमें स्वर्ग-नरक को भी मानना होगा। स्वर्ग-नरक से सम्बन्धित वर्णन को निकाल दिया जाएगा तो आत्मवाद, कर्मवाद, लोकवाद, क्रियावाद एवं विमुक्तिवाद आदि सभी सिद्धान्त निराधार हो जाएंगे। स्वर्ग-नरक भी हमारे तिर्यग्लोकसम्बन्धी भूमण्डल के सदृश ही क्रमशः ऊर्ध्वलोक और अधोलोक के अंग हैं, अतिशय पुण्य और अतिशय पाप से युक्त आत्मा को अपने कृतकर्मों का फल भोगने के लिए स्वर्ग या नरक में गए बिना कोई चारा नहीं। अतः सर्वज्ञ-सर्वदर्शी पुरुष जगत् के अधिकांश भाग से युक्त क्षेत्र का वर्णन किये बिना कैसे रह सकते थे ?

भगवतीसूत्र, अन्य जैनागमों की तरह न तो उपदेशात्मक ग्रन्थ है, और न केवल सैद्धान्तिक-ग्रन्थ है। इसे हम विश्लेषणात्मक ग्रन्थ कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में इसे सिद्धान्तों का अंकगणित कहा जा सकता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टिन का सापेक्षवाद का सिद्धान्त अंकगणित का ही तो चमत्कार है ! गणित ही जगत् के समस्त आविष्कारों का स्रोत है। अतः भगवती में सिद्धान्तों का बहुत ही गहनता एवं सूक्ष्मता से प्रतिपादन किया गया है। जिसे जैनसिद्धान्त एवं कर्मग्रन्थों या तत्त्वों का अच्छा ज्ञान नहीं है, उसके लिए भगवतीसूत्र में प्रतिपादित तात्त्विक विषयों की थाह पाना और उनका रसास्वादन करना अत्यन्त कठिन है।

इसके अतिरिक्त उस युग के इतिहास-भूगोल, समाज और संस्कृति, राजनीति और धर्मसंस्थाओं आदि का जो अनुपम विश्लेषण प्रस्तुत आगम में है, वह सर्व-साधारण पाठकों एवं रिसर्च स्कॉलरों के लिए अतीव महत्त्वपूर्ण है। छत्तीस हजार प्रश्नोत्तरों में आध्यात्मिक ज्ञान की छटा अद्वितीय है।

प्रस्तुत आगम से यह भी ज्ञात होता है कि उस युग में अनेक धर्मसम्प्रदाय होते हुए भी उनमें साम्प्रदायिक कट्टरता इतनी नहीं होती थी। एक धर्मतीर्थ के परिव्राजक, तापस और मुनि दूसरे धर्मतीर्थ के विशिष्ट ज्ञानी या अनुभवी परिव्राजकों तापसों या मुनियों के पास निःसंकोच पहुँच जाते और उनसे ज्ञानचर्चा करते थे, और अगर कोई सत्य-तथ्य उपादेय होता तो वह उसे मुक्तभाव से स्वीकारते थे। प्रस्तुत आगम में वर्णित ऐसे अनेक प्रसंगों से उस युग की धार्मिक उदारता और सहिष्णुता का वास्तविक परिचय प्राप्त होता है।

प्रस्तुत आगम में वर्णित अनेक सिद्धान्त आज विज्ञान ने भी स्वीकृत कर लिये हैं। विज्ञान समर्थित कुछ सिद्धान्त ये हैं—(१) जगत् का अनादित्व (२) वनस्पति में जीवत्वशक्ति, (३) पृथ्वीकाय एवं जलकाय में जीवत्वशक्ति की सम्भावना, (४) पुद्गल और उसका अनादित्व और (५) जीवत्वशक्ति के रूपक आदि।

प्रस्तुत आगम में षट्द्रव्यात्मक लोक (जगत्) को अनादि एवं शाश्वत बताया गया है। आधुनिक विज्ञान भी जगत् (जीव-अजीवात्मक) की कब सृष्टि हुई ? इस विषय में जैनदर्शन के निकट पहुँच गया है। प्रसिद्ध जीवविज्ञानवेत्ता जे. बी. एस. हालडेन का मन्तव्य है कि 'मेरे विचार में जगत् की कोई आदि नहीं है।'

इसी प्रकार प्रस्तुत आगम मे बताया गया है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय मे जीवत्व-शक्ति है। वे हमारी तरह श्वास लेते और नि श्वास छोडते हैं, आहार आदि ग्रहण करते हैं, उनके शरीर मे भी चय-उपचय, हानि-वृद्धि, सुखदु खात्मक अनुभूति होती है आदि।[1]

सुप्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक श्रीजगदीशचन्द्र बोस ने अपने परीक्षणो द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि वनस्पति क्रोध और प्रेम भी प्रदर्शित करती है। स्नेहपूर्ण व्यवहार से वह पुलकित हो जाती है और घृणापूर्ण दुर्व्यवहार से वह मुरझा जाती है। श्री बोस के प्रस्तुत परीक्षण को समस्त वैज्ञानिक जगत् ने स्वीकृत कर लिया है। प्रस्तुत आगम मे वनस्पतिकाय मे १० सज्ञाएँ (आहारसज्ञा आदि) बताई गई है। इन सज्ञाओ के रहते वनस्पति आदि वही व्यवहार अस्पष्टरूप से करती है, जिन्हे मानव स्पष्टरूप से करता है।

इसी प्रकार पृथ्वी मे भी जीवत्वशक्ति है, इस सम्भावना की ओर प्राकृतिक चिकित्सक एव वैज्ञानिक अग्रसर हो रहे हैं। सुप्रसिद्ध भूगर्भ वैज्ञानिक फासिस अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Ten years under earth' मे दशवर्षीय विकट भूगर्भयात्रा के सस्मरणो मे लिखते हैं—"मैंने अपनी इन विविध यात्राओ के दौरान पृथ्वी के ऐसे-ऐसे स्वरूप देखे हैं, जो आधुनिक पदार्थविज्ञान के विरुद्ध थे। वे स्वरूप वर्त्तमान वैज्ञानिक सुनिश्चित नियमो द्वारा समझाए नहीं जा सकते।" अन्त मे वे स्पष्ट लिखते है—'तो क्या प्राचीन विद्वानो ने पृथ्वी मे जो जीवत्व शक्ति की कल्पना की थी, वह सत्य है ?'

इसी प्रकार जैनदर्शन पानी की एक बूद मे असख्यात जीव मानता है। वर्तमान वैज्ञानिको ने माइक्रोस्कोप के द्वारा पानी की बूद का सूक्ष्मनिरीक्षण करके अगणित सूक्ष्म प्राणियो का अस्तित्व स्वीकार किया है। जैन जीवविज्ञान इससे अब भी बहुत आगे है।

आधुनिक वैज्ञानिको ने अगणित परीक्षणो द्वारा जैनदर्शन के इस सिद्धान्त को निरपवाद रूप से सत्य पाया है कि कोई भी पुद्गल (Matter) नष्ट नही होता, वह दूसरे रूप (Form) मे बदल जाता है।

भगवान् महावीर द्वारा भगवतीसूत्र मे पुद्गल की अपरिमेय शक्ति के सम्बन्ध मे प्रतिपादित यह तथ्य आधुनिक विज्ञान से पूर्णत समर्थित है कि 'विशिष्टपुद्गलो मे, जैसे तैजस पुद्गल मे, अग, वग, कलिग आदि १६ देशो को विध्वस करने की शक्ति विद्यमान है। आज तो आधुनिक विज्ञान ने एटमबम से हिरोशिमा और नागासाकी नगरो का विध्वस करके पुद्गल ((Matter) की असीम शक्ति सिद्ध कर बताई है।

इसी प्रकार नरसयोग के बिना ही नारी का गर्भधारण, गर्भस्थानान्तरण आदि सैकडो विषय प्रस्तुत आगम मे प्रतिपादित है, जिन्हे सामान्यबुद्धि ग्रहण नही कर सकती, परन्तु आधुनिक विज्ञान ने नूतन शोधो द्वारा परीक्षण करके ऐसे अधिकाश तथ्य स्वीकृत कर लिये है, धीरे-धीरे शेष विषयो को भी परीक्षण करके स्वीकृत कर लेगा, ऐसी आशा है।

'समवायाग' मे बताया गया है कि अनेक देवो, राजाओ एव राजर्षियो ने भगवान् महावीर से नाना प्रकार के प्रश्न पूछे, उन्ही प्रश्नो का भगवान् ने विस्तृत रूप से उत्तर दिया है। वही व्याख्याप्रज्ञप्ति मे अकित है।

---

१ आचाराग मे वनस्पति मे जीव होने के निम्नलिखित लक्षण दिये है—(१) जाइधम्मय (उत्पन्न होने का स्वभाव) (२) वुड्ढिधम्मय (शरीर की वृद्धि होने का स्वभाव), (३) चित्तमतय (चैतन्य-सुखदु खात्मक अनुभवशक्ति), (४) छिन्नमिलाति (काटने से दु ख के चिह्न—सूखना आदि-प्रकट होते है। (५) आहारग (आहार भी करता है) (६) अणिच्चय असासय (शरीर अनित्य अशाश्वत है।), (७) चओवचइय (शरीर मे चय-उपचय भी होता है)।

इसमे स्वसमय-परसमय, जीव-अजीव, लोक-अलोक आदि की व्याख्या की गई है। आचार्य अकलक के अभिमतानुसार इस शास्त्र मे 'जीव है या नही ?' इस प्रकार के अनेक प्रश्नो का निरूपण किया गया है। आचार्य 'वीरसेन' के कथनानुसार इस आगम मे प्रश्नोत्तरो के साथ ९६,००० छिन्न-छेदक नयो से प्रज्ञापनीय शुभ और अशुभ का वर्णन है।

निष्कर्ष यह है कि प्रस्तुत विराट् आगम मे एक श्रुतस्कन्ध, १०१ अध्ययन, १०००० उद्देशनकाल, १०,००० समुद्देशनकाल, ३६,००० प्रश्नोत्तर, २,८८,००० पद और सख्यात अक्षर है। व्याख्याप्रज्ञप्ति की वर्णन परिधि मे अनन्त गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस और अनन्त स्थावर आ जाते है।

व्यापक विवेचन-शैली

भगवतीसूत्र की रचना प्रश्नोत्तरो के रूप मे हुई है। प्रश्नकर्ताओ मे मुख्य है—श्रमण भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य गणधर इन्द्रभूति गौतम। इनके अतिरिक्त माकन्दिपुत्र, रोह अनगार, अग्निभूति, वायुभूति आदि। कभी-कभी स्कन्धक आदि कई परिव्राजक, तापस एव पार्श्वापत्य अनगार आदि भी प्रश्नकर्ता के रूप मे उपस्थित होते है। कभी-कभी अन्यधर्मतीर्थावलम्बी भी वाद-विवाद करने या शका के समाधानार्थ आ पहुचते है। कभी तत्कालीन श्रमणोपासक अथवा जयती आदि जैसी श्रमणोपासिकाए भी प्रश्न पूछ कर समाधान पाती हैं। प्रश्नोत्तरो के रूप मे ग्रथित होने के कारण इसमे कई वार पिष्टपेषण भी हुआ है, जो किसी भी सिद्धान्तप्ररूपक के लिए अपरिहार्य भी है, क्योकि किसी भी प्रश्न को समझाने के लिए उसकी पृष्ठभूमि बतानी भी आवश्यक हो जाती है।

जैनागमो की तत्कालीन प्रश्नोत्तर पद्धति के अनुसार प्रस्तुत आगम मे भी एक ही वात की पुनरावृत्ति बहुत है, जैसे—प्रश्न का पुनरुच्चारण करना, फिर उत्तर मे उसी प्रश्न को दोहराना, पुन उत्तर का उपसहार करते हुए प्रश्न को दोहराना। उस युग मे यही पद्धति उपयोगी रही होगी।

एक वात और है—भगवतीसूत्र मे विषयो का विवेचन प्रज्ञापना, स्थानाग आदि शास्त्रो की तरह सर्वथा विषयवद्ध, क्रमबद्ध एव व्यवस्थित पद्धति से नही है और न गौतम गणधर के प्रश्नो का सकलन ही निश्चित क्रम से है। इसका कारण भगवतीसूत्र के अध्येता को इस शास्त्र मे अवगाहन करने से स्वत ज्ञात हो जाएगा कि गौतम गणधर के मन मे जब किसी विषय के सम्बन्ध मे स्वत या किसी अन्यतीर्थिक अथवा स्वतीर्थिक व्यक्ति का या उससे सम्बन्धित वक्तव्य सुनकर जिज्ञासा उत्पन्न हुई, तभी उन्होने भगवान् महावीर के पास जाकर सविनय अपनी जिज्ञासा प्रश्न के रूप मे प्रस्तुत की। अत सकलनकर्त्ता श्रीसुधर्मास्वामी गणधर ने उस प्रश्नोत्तर को उसी क्रम से, उसी रूप मे ग्रथित कर लिया। अत यह दोष नही, बल्कि प्रस्तुत आगम की प्रामाणिकता है।

इससे सम्बन्धित एक प्रश्न वृत्तिकार ने प्रस्तुत शास्त्र के प्रारम्भ मे, जहाँ से प्रश्नो की शुरुआत होती है, उठाया है कि प्रश्नकर्त्ता गणधर श्रीइन्द्रभूतिगौतम स्वय द्वादशागी के विधाता है, श्रुत के समस्त विषयो के पारगामी हैं, सब प्रकार के सशयो से रहित है। इतना ही नही, वे सर्वाक्षरसन्निपाती है, मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यायज्ञान के धारक है, एक दृष्टि से सर्वज्ञ-तुल्य है, ऐसी स्थिति मे सशययुक्त सामान्यजन की भाति उनका प्रश्न पूछना कहाँ तक युक्तिसगत है ? इसका समाधान स्वय वृत्तिकार ही देते है—(१) गौतमस्वामी कितने ही अतिशययुक्त क्यो न हो, छद्मस्थ होने के नाते उनसे भूल होना असम्भव नही। (२) स्वय जानते हुए भी, अपने ज्ञान की अविसवादिता के लिए प्रश्न पूछ सकते है। (३) स्वय जानते हुए भी अन्य अज्ञानिजनो के वोध के लिए प्रश्न पूछ सकते है। (४) शिष्यो को अपने वचन मे विश्वास जमाने के लिए भी प्रश्न पूछा जाना सम्भव है। (५) अथवा शास्त्ररचना की यही पद्धति या आचारप्रणाली है। इनमे से एक या अनेक कुछ भी कारण हो, गणधर गौतम का प्रश्न पूछना असगत नही कहा जा सकता।

उपलब्ध व्याख्याप्रज्ञप्ति मे जो प्रश्नोत्तरशैली विद्यमान है, वह अतिप्राचीन प्रतीत होती है। अचेलक-परम्परा के ग्रन्थ राजवार्तिक मे अकलकभट्ट ने व्याख्याप्रज्ञप्ति मे इसी प्रकार की शैली होने का स्पष्ट उल्लेख किया है।[1]

प्रस्तुत आगम मे अनेक प्रकरण कथाशैली मे लिखे गए हैं। जीवनप्रसगो, घटनाओ और रूपको के माध्यम से कठिन विषयो को सरल करके प्रस्तुत किया गया है। भगवान् महावीर को जहाँ कही कठिन विषय को उदाहरण देकर समझाने की आवश्यकता महसूस हुई, वहाँ उन्होने दैनिक जीवनधारा से कोई उदाहरण उठा कर दिया है। किसी भी प्रश्न का उत्तर देने के साथ-साथ वे हेतु का निर्देश भी किया करते थे। जहाँ एक ही प्रश्न के एक से अधिक उत्तर-प्रत्युत्तर होते, वहाँ वे प्रश्नकर्ता की दृष्टि और भावना को मद्देनजर रख कर तदनुरूप समाधान किया करते थे। जैसे—रोहक अनगार के प्रश्न के उत्तर मे स्वय प्रतिप्रश्न करके भगवान् ने प्रत्युत्तर दिया है।

मुख्यरूप मे यह आगम प्राकृत भाषा मे या कही कही शौरसेनी भाषा मे सरल-सरस गद्यशैली मे लिखा हुआ है। प्रतिपाद्य विषय का सकलन करने की दृष्टि से सग्रहणीय गाथाओ के रूप मे कही-कही पद्यभाग भी उपलब्ध होता है। कही पर स्वतत्ररूप से प्रश्नोत्तरो का क्रम है, तो कही किसी घटना के पश्चात् प्रश्नोत्तरो का सिलसिला चला है।

प्रस्तुत आगम मे द्वादशागी-पश्चाद्वर्ती काल मे रचित राजप्रश्नीय, औपपातिक, प्रज्ञापना, जीवाभिगम, प्रश्नव्याकरण एव नन्दीसूत्र आदि (मे वर्णित अमुक विषयो) का अवलोकन करने का निर्देश या उल्लेख देख कर इतिहासवेत्ता विद्वानो का यह अनुमान करना यथार्थ नही है कि यह आगम अन्य आगमो के बाद मे रचा गया है। वस्तुत जैनागमो को लिपिबद्ध करते समय देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने ग्रन्थ की अनावश्यक वृहद्ता कम करने तथा अन्य सूत्रो मे वर्णित विषयो की पुनरावृत्ति से बचने की दृष्टि से पूर्वलिखित आगमो का निर्देश-अतिदेश किया है। आगम-लेखनकाल मे सभी आगम क्रम से नही लिखे गए थे। जो आगम पहले लिखे जा चुके थे, उन आगमो मे उस विषय का विस्तार से वर्णन पहले हो चुका था, अत उन विषयो की पुनरावृत्ति न हो, ग्रन्थगुरुत्व न हो, इसी उद्देश्य से श्रीदेवर्द्धिगणी आदि पश्चाद्वर्ती आगमलेखको ने इस निर्देशपद्धति का अवलम्बन लिया था। इसलिए यह आगम पश्चाद्ग्रथित है, ऐसा निर्णय नही करना चाहिए। वस्तुत व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र गणधर रचित ही है, इसकी मूलरचना प्राचीन ही है।

अद्यावधि मुद्रित व्याख्याप्रज्ञप्ति

सन् १९१८-२१ मे अभयदेवसूरिकृत वृत्तिसहित व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र धनपतसिंह जी द्वारा बनारस से प्रकाशित हुआ। यह १४ वे शतक तक ही मुद्रित हुआ था।

वि स १९७४-७९ मे पण्डित बेचरदासजी दोशी द्वारा सम्पादित एव टीका का गुजराती मे अनूदित भगवतीसूत्र छठे शतक तक दो भागो मे जिनागम-प्रकाशकसभा बम्बई से प्रकाशित हुआ, तत्पश्चात् गुजरात विद्यापीठ तथा जैनसाहित्य प्रकाशन ट्रस्ट अहमदाबाद से सातवे से ४१ वें शतक तक दो भागो मे प भगवानदास दोशी द्वारा केवल मूल का गुजराती अनुवाद होकर प्रकाशित हुआ।

---

१ 'एव हि व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषु उक्तम् इति गौतमप्रश्ने भगवता उक्तम्।'

—तत्त्वार्थ० राजवार्तिक अ ४, सू २६, पृ २४५

सन् १९३८ मे श्री गोपालदास जीवाभाई पटेल द्वारा गुजराती मे छायानुवाद होकर जैनसाहित्य प्रकाशन समिति अहमदाबाद से भगवती-सार प्रकाशित हुआ।

वि स २०११ मे श्री मदनकुमार द्वारा भगवतीसूत्र १ से २० शतक तक का केवल हिन्दी अनुवाद श्रुतप्रकाशन मन्दिर, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ।

इसी प्रकार वीर सवत् २४४६ मे आचार्य श्री अमोलकऋषिजी म कृत हिन्दी अनुवादयुक्त भगवती सूत्र हैदराबाद से प्रकाशित हुआ।

सन् १९६१ मे आचार्य घासीलालजी महाराज कृत भगवतीसूत्र-सस्कृतटीका तथा उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद श्वे स्था जैनशास्त्रोद्धार समिति, राजकोट द्वारा प्रकाशित हुआ।

जैन सस्कृति रक्षकसघ सैलाना द्वारा प्रकाशित एव प घेवरचन्दजी बाठिया, 'वीरपुत्र' द्वारा हिन्दी-अनुवाद एव विवेचन सहित सम्पादित भगवतीसूत्र ७ भागो मे प्रकाशित हुआ।

सन् १९७४ मे प बेचरदास जीवराज दोशी द्वारा सम्पादित 'वियाहपण्णत्तिसुत्त' मूलपाठ-टिप्पणयुक्त श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई द्वारा प्रकाशित हुआ है। इसमे अनेक प्राचीन-नवीन प्रतियो का अवलोकन करके शुद्ध मूलपाठ तथा सूत्रसख्या का क्रमश निर्धारण किया गया है।

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र के इतने सब मुद्रित सस्करणो मे अनेक सस्करण तो अपूर्ण ही रहे, जो पूर्ण हुए उनमे से कई अनुपलब्ध हो चुके है। जो उपलब्ध हैं वे आधुनिक शिक्षित तथा प्रत्येक विषय का वैज्ञानिक आधार ढूढने वाली जैनजनता एव शोधकर्त्ता विद्वानो के लिए उपयुक्त नही थे। अत न तो अतिविस्तृत और न अतिसक्षिप्त हिन्दी विवेचन तथा तुलनात्मक टिप्पणयुक्त भगवतीसूत्र की माग थी। क्योकि केवल मूलपाठ एव सक्षिप्त सार से प्रस्तुत आगम के गूढ रहस्यो को हृदयगम करना प्रत्येक पाठक के बस की बात नही थी।

भगवती के अभिनव सस्करण की प्रेरणा

इन्ही सब कारणो से श्रमणसघ के युवाचार्य आगममर्मज्ञ पण्डितप्रवर मुनिश्री मिश्रीमलजी म 'मधुकर' ने तथा श्रमणसघीय प्रथम आचार्य आगमरत्नाकर स्व पूज्य श्रीआत्मारामजी म की जन्मशताब्दी के उपलक्ष्य मे उनके प्रशिष्य जैनविभूषण परमश्रद्धेय गुरुदेव श्री पद्मचन्द भण्डारीजी महाराज ने व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र का अभिनव सर्वजनग्राह्य सम्पादन करने की बलवती प्रेरणा दी, इसके पश्चात् इसे प्रकाशित करने का बीडा श्रीआगमप्रकाशनसमिति, ब्यावर ने उठाया, जिसका प्रतिफल हमारे सामने है।

प्रस्तुत सम्पादन की विशेषता

प्रस्तुत सम्पादन की विशेषता यह है कि इसमे पाठो की शुद्धता के लिए श्रीमहावीर जैन विद्यालय, बम्बई से प्रकाशित शुद्ध मूलपाठ, टिप्पण, सूत्रसख्या, शीर्षक, पाठान्तर एव विशेषार्थ से युक्त 'वियाहपण्णत्तिसुत्त' का अनुसरण किया गया है। प्रत्येक सूत्र मे प्रश्न और उत्तर को पृथक् पृथक् पक्ति मे रखा गया है। प्रत्येक प्रकरण के शीर्षक-उपशीर्षक दिये गए हैं, ताकि पाठक को प्रतिपाद्य विषय के ग्रहण करने मे आसानी रहे। प्रत्येक परिच्छेद के मूलपाठ देने के बाद सूत्रसख्या देकर क्रमश मूलानुसार हिन्दी-अनुवाद दिया गया है। जहाँ कठिन शब्द हैं, या मूल मे सक्षिप्त शब्द हैं, वहाँ कोष्ठक मे उनका सरल अर्थ तथा कही-कही पूरा भावार्थ भी दे दिया गया है। शब्दार्थ के पश्चात् विवेच्यस्थलो का हिन्दी मे परिमित शब्दो मे विवेचन भी दिया गया है। विवेचन प्रसिद्ध वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरिरचित वृत्ति को केन्द्र मे रख कर किया गया है। वृत्ति मे जहाँ अतिविस्तार है वहाँ उसे छोडकर सारभाग ही ग्रहण किया गया है। जहाँ मूलपाठ अतिविस्तृत है अथवा पुनरुक्त

है, वहाँ विवेचन मे उसका निष्कर्षमात्र दे दिया गया है। कही-कही विवेचन मे कठिन शब्दो का विशेषार्थ अथवा विशिष्ट शब्दो की परिभाषाएँ भी दी गई है। कही-कही मूलपाठ मे उक्त विषय को युक्ति हेतु पूर्वक सिद्ध करने का प्रयास भी विवेचन मे किया गया है। विवेचन मे प्रतिपादित विषयो एव उद्धृत प्रमाणो के सन्दर्भ स्थलो का उल्लेख भी पादटिप्पणो (Foot notes) मे कर दिया गया है। जहाँ कही आवश्यक समझा गया, वहाँ जैन, बौद्ध, वैदिक एव अन्यान्य ग्रन्थो के तुलनात्मक टिप्पण भी दिये गए है। प्रत्येक शतक के प्रारम्भ मे प्राथमिक देकर शतक मे प्रतिपादित विषयवस्तु की समीक्षा की गई है, ताकि पाठक उक्त शतक का हार्द समझ सके। भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) सूत्र विशालकाय आगम है, इसे और अधिक विशाल नही बनाने तथा पुनरुक्ति से बचने के लिए हमने सक्षिप्त एव सारगर्भित विवेचनशैली रखी है। जहाँ आगमिक पाठो के सक्षेप-सूचक 'जाव', जहा, एव आदि शब्द है, उनका स्पष्टीकरण प्राय शब्दार्थ मे कर दिया गया है।

प्रस्तुत सम्पादन को समृद्ध बनाने के लिए अन्त मे हमने तीन परिशिष्ट दिये है—एक मे सन्दर्भग्रन्थो की सूची है, दूसरे मे पारिभाषिक शब्दकोश, और तीसरे मे विशिष्ट शब्दो की अकारादि क्रम से सूची। ये तीनो ही परिशिष्ट अन्तिम खण्ड मे देने का निर्णय किया गया है। इस विराट् आगम को हमने कई खण्डो मे विभाजित किया है। यह प्रथम खड प्रस्तुत है।

कृतज्ञता-प्रकाशन

प्रस्तुत विराट्काय शास्त्र का सम्पादन करने मे जिन-जिनके अनुवादो, मूलपाठो, टीकाओ एव ग्रन्थो से सहायता ली गई है, उन सब अनुवादको, सम्पादको, टीकाकारो एव ग्रन्थकारो के प्रति हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं।

मैं श्रमणसघीय युवाचार्यश्री मिश्रीमलजी महाराज एव मेरे पूज्य गुरुदेव श्री भण्डारी पद्मचन्दजी महाराज के प्रति अत्यन्त आभारी हूँ, जिनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन से हम इस दुरूह, एव बृहत्काय शास्त्र-सम्पादन मे अग्रसर हो सके है। आगमतत्त्वमनीषी प्रवचनप्रभाकर श्री सुमेरमुनिजी म एव विद्वद्वर्य प० मुनिश्री नेमिचन्द्रजी म० के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ जिन्होने निष्ठापूर्वक प्रस्तुत आगम-सम्पादनयज्ञ मे पूरा सहयोग दिया है। आगम-मर्मज्ञ प० शोभाचन्दजी भारिल्ल की श्रुतसेवाओ को कैसे विस्मृत किया जा सकता है?, जिन्होने इस विराट् शास्त्रराज को सशोधित-परिष्कृत करके मुद्रित कराने का दायित्व सफलतापूर्वक पूर्ण किया है। साथ ही हम अपने ज्ञात-अज्ञात सहयोगीजनो के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते है, जिनकी प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से इस सम्पादनकार्य मे सहायता मिली है।

प्रस्तुत सम्पादन के विषय मे विशेष कुछ कहना उपयुक्त नही होगा। सुज्ञ पाठक, विद्वान् शोधकर्ता, आगमरसिक महानुभाव एव तत्त्वमनीषी साधुसाध्वीगण सम्पादनकला की कसौटी पर कस कर इसे हृदय से अपनाएँगे और इसके अध्ययन-मनन से अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र को समुज्ज्वल बनाएँगे तो हम अपना श्रम सार्थक समझेंगे। सुज्ञेषु कि बहुना!

—अमरमुनि
श्रीचन्द सुराना

श्रीआगम प्रकाशन समिति ब्यावर

(कार्यकारिणी समिति)

१	श्रीमान् सेठ मोहनमलजी चोरडिया	अध्यक्ष	मद्रास
२	श्रीमान् सेठ रतनचन्दजी मोदी	कार्यवाहक अध्यक्ष	ब्यावर
३	श्रीमान् कँवरलालजी बैताला	उपाध्यक्ष	गोहाटी
४	श्रीमान् दौलतराजजी पारख	उपाध्यक्ष	जोधपुर
५	श्रीमान् रतनचन्दजी चोरडिया	उपाध्यक्ष	मद्रास
६	श्रीमान् खूबचन्दजी गादिया	उपाध्यक्ष	ब्यावर
७	श्रीमान् जतनराजजी मेहता	महामन्त्री	मेडता सिटी
८	श्रीमान् चाँदमलजी विनायकिया	मन्त्री	ब्यावर
९	श्रीमान् ज्ञानराजजी मूथा	मन्त्री	पाली
१०	श्रीमान् चाँदमलजी चौपडा	सहमन्त्री	ब्यावर
११	श्रीमान् जौहरीलालजी शीशोदिया	कोषाध्यक्ष	ब्यावर
१२	श्रीमान् गुमानमलजी चोरडिया	कोपाध्यक्ष	मद्रास
१३	श्रीमान् मूलचन्दजी सुराणा	सदस्य	नागौर
१४	श्रीमान् जी सायरमलजी चोरडिया	सदस्य	मद्रास
१५	श्रीमान् जेठमलजी चोरडिया	सदस्य	बैंगलौर
१६.	श्रीमान् मोहनसिंहजी लोढा	सदस्य	ब्यावर
१७	श्रीमान् बादलचन्दजी मेहता	सदस्य	इन्दौर
१८	श्रीमान् मागीलालजी सुराणा	सदस्य	सिकन्दराबाद
१९	श्रीमान् माणकचन्दजी बैताला	सदस्य	बागलकोट
२०	श्रीमान् भवरलालजी गोठी	सदस्य	मद्रास
२१	श्रीमान् भवरलालजी श्रीश्रीमाल	सदस्य	दुर्ग
२२	श्रीमान् सुगनचन्दजी चोरडिया	सदस्य	मद्रास
२३	श्रीमान् दुलीचन्दजी चोरडिया	सदस्य	मद्रास
२४	श्रीमान् खीवराजजी चोरडिया	सदस्य	मद्रास
२५	श्रीमान् प्रकाशचन्दजी जैन	सदस्य	भरतपुर
२६	श्रीमान् भवरलालजी मूथा	सदस्य	जयपुर
२७	श्रीमान् जालमसिंहजी मेडतवाल	(परामर्शदाता)	ब्यावर

वियाहपण्णत्तिसुत्तं (भगवईसुत्तं)

वि - ूची

तृतीय शतक २५३–३९९

चतुर्थ शतक ३९१—३९९

पंचम शतक ४००—५२२

□□

पचमगणहर-सिरिसुहम्मसामिविरइय पचम अग

वियाहपण्णत्तिसुत्तं

[भगवई]

पञ्चमगणधर-श्रीसुधर्मस्वामिविरचित पञ्चम अङ्ग

व्याख्या ज्ञप्ति ूत्र

[भगवती]

वियाहपण्णत्तिसुत्तं (भगवईसुत्तं)

परिचय

* द्वादशागी मे पचम अग का नाम **'व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र'** है।

* इसका वर्तमान मे प्रसिद्ध एव प्रचलित नाम **'भगवती सूत्र'** है।

* वृत्तिकार ने **'वियाहपण्णत्ति'** शब्द के सस्कृत मे पाच रूपान्तर करके इनका पृथक्-पृथक् निर्वचन किया है—(१) व्याख्याप्रज्ञप्ति, (२) व्याख्याप्रज्ञाप्ति, (३) व्याख्या-प्रज्ञात्ति, (४) विवाह-प्रज्ञप्ति, (५) विबाधप्रज्ञप्ति।

* **व्याख्या-प्रज्ञप्ति**—(वि+आ+ख्या+प्र+ज्ञप्ति)—जिस ग्रन्थ मे विविध प्रकार (पद्धति) से भगवान् महावीर द्वारा गौतमादि शिष्यो को उनके प्रश्नो के उत्तर के रूप मे जीव-अजीव आदि अनेक ज्ञेय पदार्थो की व्यापकता एव विशालतापूर्वक की गई व्याख्याओ (कथनो) का श्रीसुधर्मा-स्वामी द्वारा जम्बूस्वामी आदि शिष्यो के समक्ष प्रकर्परूप से निरूपण (ज्ञप्ति) किया गया हो। अथवा जिस शास्त्र मे विविध रूप से या विशेष रूप से भगवान् के कथन का प्रज्ञापन—प्रतिपादन किया गया हो। अथवा व्याख्याओ—अर्थ-प्रतिपादनाओ का जिसमे प्रकृष्ट ज्ञान (ज्ञप्ति) दिया गया हो, वह 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' है।

* **व्याख्याप्रज्ञाप्ति**—(व्याख्या+प्रज्ञा+आप्ति) और **व्याख्याप्रज्ञात्ति**—(व्याख्या+प्रज्ञा+आत्ति)—व्याख्या (अर्थ-कथन) की प्रज्ञा (प्रज्ञान हेतुरूप बोध) की प्राप्ति (या ग्रहण) जिस ग्रन्थ से हो। अथवा व्याख्या करने मे प्रज्ञ (पटु भगवान्) से प्रज्ञ (गणधर) को जिस ग्रन्थ द्वारा ज्ञान की प्राप्ति हो, या ग्रहण करने का अवसर मिले।

* **विवाहप्रज्ञप्ति**—(वि+वाह+प्रज्ञप्ति)—जिस शास्त्र मे विविध या विशिष्ट अर्थप्रवाहो या नयप्रवाहो का प्रज्ञापन (प्ररूपण या प्रबोधन) हो।

* **विबाधप्रज्ञप्ति**—जिस शास्त्र मे बाधारहित अर्थात् प्रमाण से अबाधित निरूपण उपलब्ध हो।[1]

* **भगवती**—अन्य अगो की अपेक्षा अधिक विशाल एव अधिक आदरास्पद होने के कारण इसका दूसरा नाम 'भगवती' भी प्रसिद्ध है।

* अचेलक परम्परा मे 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' नाम का उल्लेख है। उपलब्ध व्याख्याप्रज्ञप्ति की शैली गौतम गणधर के प्रश्नो और भगवान् महावीर के उत्तरो के रूप मे है, जिसे 'राजवार्तिक कार' ने भी स्वीकार किया है।[2]

---

१ व्याख्याप्रज्ञप्ति अभयदेववृत्ति, पत्राक १,२,३

२ (क) राजवार्तिक अ ४, सू २६, पृ २४५, (ख) कषाय-पाहुड भा १, पृ १२५ (ग) अभयदेववृत्ति पत्राक २ (घ) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा १, पृ १८७ (ङ) 'शिक्षासमुच्चय' पृ १०८ से ११२ मे प्रज्ञा-पारमिता' को 'भगवती' कहा गया है।

* समवायाग और नन्दीसूत्र के अनुसार व्याख्याप्रज्ञप्ति मे नाना प्रकार के ३६००० प्रश्नो का व्याख्यान (कथन) है, जो कि अनेक देवो, राजाओ, राजर्षियो, अनगारो तथा गणधर गौतम आदि द्वारा भगवान् से पूछे गए हैं। 'कषायपाहुड' के अनुसार प्रस्तुत आगम मे जीव-अजीव, स्वसमय-परसमय, लोक-अलोक आदि की व्याख्या के रूप मे ६० हजार प्रश्नोत्तर है। आचार्य अकलक के मतानुसार इसमे 'जीव है या नही ?' इस प्रकार के अनेक प्रश्नो का निरूपण है। आचार्य वीरसेन के मतानुसार व्याख्याप्रज्ञप्ति मे प्रश्नोत्तरो के साथ ९६ हजार छिन्नछेदनयो से ज्ञापनीय शुभाशुभ का वर्णन है।[1]

* प्राचीन सूची के अनुसार प्रस्तुत आगम मे एक श्रुतस्कन्ध, सौ से अधिक अध्ययन (शतक), दश हजार उद्देशनकाल, दश हजार समुद्देशनकाल, छत्तीस हजार प्रश्नोत्तर तथा २८८००० (दो लाख अठासी हजार) पद एव सख्यात अक्षर है। व्याख्याप्रज्ञप्ति की वर्णन परिधि मे अनन्तगम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस और अनन्त स्थावर आते है।[2]

* वर्तमान मे उपलब्ध 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' मे ४१ शतक है। 'शतक' शब्द शत (सय) का ही रूप है। प्रत्येक शतक मे उद्देशकरूप उपविभाग है। कतिपय शतको मे दश-दश उद्देशक है, कुछ मे इससे भी अधिक है। ४१ वे शतक मे १९६ उद्देशक है।[3]

* प्रत्येक शतक का विषयनिर्देश शतक के प्रारम्भ मे यथास्थान दिया गया है। पाठक वहाँ देखे।

* प्रस्तुत शास्त्र मे भगवान् महावीर के जीवन का तथा, उनके शिष्य, भक्त, गृहस्थ, उपासक, अन्यतीर्थिक गृहस्थ, परिव्राजक, आजीवक एव उनकी मान्यताओ का विस्तृत परिचय प्राप्त होता है। साथ ही उस युग मे प्रचलित अनेक धर्म-सम्प्रदाय, दर्शन, मत एव उनके अनुयायियो की मनोवृत्ति तथा कतिपय साधको की जिज्ञासाप्रधान, सत्यग्राही, सरल, साम्प्रदायिक कट्टरता से रहित उदारवृत्ति भी परिलक्षित होती है। इसमे जैनसिद्धान्त, समाज, सस्कृति, राजनीति, इतिहास, भूगोल, गणित आदि सभी विषयो का स्पर्श किया गया है। विश्वविद्या की कोई भी ऐसी विधा नही है, जिसकी चर्चा प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से इसमे न हुई हो। अन्य आगमो की अपेक्षा इसमे विषय-वस्तु की दृष्टि से विविधता है।[4] □□

---

१ (क) समवायाग सू ९३, नन्दीसूत्र सू ८५,४९, (ख) तत्त्वार्थराजवार्तिक १/२० (ग) कषायपाहुड भा १, पृ १२५ (घ) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा १, पृ १८९

२ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ४ (ख) जैन आगम साहित्य मनन और मीमासा, पृ ११३, (ग) सूत्रकृताग शीलाक वृत्ति पत्राक ५

३ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा १, पृ १८९

४ (क) जैन आगम साहित्य मनन और मीमासा पृ १२५, १२६, ११३

पढम सतगं

प्रथम शतक

प्राथमिक

* भगवतीसूत्र का यह प्रथम शतक है। इस शतक मे दस उद्देशक है।

* दस उद्देशको की विपयानुक्रमणिका इस प्रकार है—(१) चलन, (२) दु ख, (३) काक्षाप्रदोप, (४) प्रकृति, (५) पृथ्वियाँ, (६) यावन्त, (जितने) (७) नैरयिक (८) वाल (९) गुरुक (१०) चलनादि।

* प्रथम उद्देशक प्रारम्भ करने से पूर्व शास्त्रकार ने उपर्युक्त विपयसूची देकर श्रुतदेवता को नमस्कार के रूप मे मगलाचरण किया है।

* प्रथम उद्देशक मे उपोद्घात देकर **'चलमाणे चलिए'** इत्यादि पदो की एकार्थ-नानार्थ-प्ररूपणा, चौबीस दण्डको की स्थिति आदि का विचार, जीवो की आरम्भ प्ररूपणा, चौबीस दण्डको की आरम्भ प्ररूपणा, लेश्यायुक्त जीवो मे आरम्भ की प्ररूपणा, भव की अपेक्षा ज्ञानादि प्ररूपणा, असवृत-सवृतसिद्धिविचार, असयत जीव देवगतिविचार आदि विपयो का निरूपण किया गया है।

* द्वितीय उद्देशक मे जीव को अपेक्षा से एकत्व-पृथक्त्व रूप से दु खवेदन-आयुष्यवेदन-प्ररूपण, चौबीस दण्डको मे समाहारादि सप्त द्वार प्ररूपण, जीवादि की ससारस्थितिकाल के भेदाभेद, अल्प-बहुत्व-अन्तक्रिया कारकादि निरूपण, दर्शनव्यापन्न पर्याप्तक असयत-भव्य-देवादि की विप्रति-पत्ति विचार, असज्ञी जीवो के आयु, आयुबध, अल्प-बहुत्व का विचार प्रतिपादित है।

* तृतीय उद्देशक मे ससारी जीवो के काक्षामोहनीय कर्म के विषय मे विविध पहलुओ से विचार प्रस्तुत किया गया है।

* चतुर्थ उद्देशक मे कर्मप्रकृतियो के बन्ध तथा मोक्ष आदि का निरूपण किया गया है।

* पचम उद्देशक मे नारकी आदि २४ दण्डको की स्थिति, अवगाहना, शरीर, सहनन, सस्थान, लेश्या, दृष्टि, ज्ञान, योग, उपयोग आदि द्वारो की दृष्टि से निरूपण किया गया है।

* छठे उद्देशक मे सूर्य के उदयास्त के अवकाश, प्रकाश, लोकान्तादि स्पर्शना, क्रिया, रोहप्रश्न, लोकस्थिति, स्नेहकाय आदि का निरूपण किया गया है।

* सातवे उद्देशक मे नारक आदि २४ दण्डको के जीवो की उत्पत्ति, स्थिति, विग्रहगति, गर्भस्थ जीव के आहारादि का विचार प्रस्तुत किया गया है।

* आठवे उद्देशक मे बाल, पण्डित और बालपण्डित मनुष्यो के आयुष्यबध, कायिकादि क्रिया, जय-पराजय, हेतु, सवीर्यत्व-अवीर्यत्व की प्ररूपणा है।

* नौवे उद्देशक मे विविध पहलुओ से जीवो के गुरुत्व-लघुत्व आदि का निरूपण किया गया है।

* दसवे उद्देशक मे 'चलमान चलित' आदि सिद्धान्तो के विपय मे अन्यतैर्थिक प्ररूपणा प्रस्तुत करके उसका निराकरण किया गया है।

* कुल मिला कर समस्त जीवो को सब प्रकार की परिस्थितियो के विषय मे इस शतक मे विचार किया गया है, इस दृष्टि से यह शतक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

□□

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र (भगवती ूत्र)

प्रथम उद्देशक

समग्र-शास्त्र-मंगलाचरण—

१—नमो अरहताण। नमो सिद्धाण। नमो आयरियाण। नमो उवज्झायाण। नमो लोए सव्वसाहूण।[1] नमो बभीए लिवीए।

१—अर्हन्तो को नमस्कार हो, सिद्धो को नमस्कार हो, आचार्यो को नमस्कार हो, उपाध्यायो को नमस्कार हो, लोक मे सर्व साधुओ को नमस्कार हो। ब्राह्मी लिपि को नमस्कार हो।

विवेचन—मगलाचरण—प्रस्तुत सूत्र मे समग्रशास्त्र का भावमगल दो चरणो मे किया गया है। प्रथम चरण मे पच परमेष्ठी नमस्कार और द्वितीय चरण मे ब्राह्मी लिपि को नमस्कार।

प्रस्तुत मगलाचरण क्यो और किसलिए ?—शास्त्र सकल कल्याणकर होता है, इसलिए उसकी रचना तथा उसके पठन-पाठन मे अनेक विघ्नो की सम्भावनाएँ है। अन शास्त्र के प्रारम्भ मे मगलाचरण के तीन कारण बताए गए है—

(१) विघ्नो के उपशमन के लिए।

(२) अशुभक्षयोपशमार्थं मगलाचरण मे शिष्यवर्ग की प्रवृत्ति के लिए।

(३) विशिष्ट ज्ञानी शिष्टजनो की परम्परा के पालन के लिए।

प्रस्तुत मगलाचरण भावमगलरूप है क्योकि द्रव्यमगल एकान्त और अत्यन्त अभीष्टसाधक मगल नही है। यद्यपि भावमगल स्तुति, नमस्कार, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप आदि कई प्रकार का है, किन्तु 'चत्तारि मगल' आदि महामगलपाठ मे जो परमेष्ठीमगल है, वह लोकोत्तम एव इन्द्रादि द्वारा शरण्य है, तथा पचपरमेष्ठी-नमस्कार सर्व पापो का नाशक होने से विघ्नशान्ति का कारण एव सर्व-मगलो मे प्रधान (प्रथम) है। इसलिए उसे सर्वश्रुतस्कन्धाभ्यन्तर बताकर प्रस्तुत शास्त्र के प्रारम्भ मे मगलाचरण के रूप मे प्रस्तुत किया गया है।[2]

'नम' पद का अर्थ—द्रव्यभाव से सकोच करना होता है। इस दृष्टि से पचपरमेष्ठी नमस्कार का अर्थ हुआ—द्रव्य से दो हाथ, दो पैर और मस्तक, इन पाच अगो को सकोच कर अर्हन्त आदि

---

१ कुछ प्रतियो मे 'नमो सव्वसाहूण' पाठ है।

२ (क) भगवतीसूत्र अभयदेववृत्ति पत्राक २

(ख) 'चत्तारि मगल-अरिहतामगल, सिद्धामगल, साहू मगल, केवलिपण्णत्तो धम्मो मगल।'—आवश्यकसूत्र

(ग) 'एसो पच णमोक्कारो सव्वपावप्पणासणो। मगलाण च सव्वेसि पढम हवइ मगलं।'—आवश्यकसूत्र

(घ) 'सो सव्वसुयक्खधऽब्भतरभूओ'—भगवती वृति पत्राक २

पचपरमेष्ठी को नमन करता हूँ, तथा भाव से आत्मा को अप्रशस्त परिणति मे पृथक् करके अर्हन्त आदि के गुणो मे लीन करता हूँ ।[1]

'अरहंताण' पद के रूपान्तर और विभिन्न अर्थ—प्राकृत भाषा के 'अरहत' शब्द के सस्कृत मे ७ रूपान्तर बताए गए है—(१) अर्हन्त, (२) अरहोन्तर, (३) अरथान्त, (४) अरहन्त, (५) अरहयत् (६) अरिहन्त और (७) अरुहन्त आदि । क्रमश अर्थ यो है—

अर्हन्त—वे लोकपूज्य पुरुष, जो देवो द्वारा निर्मित अष्टमहाप्रातिहार्य रूप पूजा के योग्य है, इन्द्रो द्वारा भी पूजनीय है ।

अरहोन्तर—सर्वज्ञ होने से एकान्त (रह) और अन्तर (मध्य) की कोई भी बात जिनसे छिपी नही है, वे प्रत्यक्षद्रष्टा पुरुष ।

अरथान्त—रथ शब्द समस्त प्रकार के परिग्रह का सूचक है । जो समस्त प्रकार के परिग्रह से और अन्त (मृत्यु) से रहित है ।

अरहन्त—आसक्ति से रहित, अर्थात् राग या मोह का सर्वथा अन्त—नाश करने वाले ।

अरहयत्—तीव्र राग के कारणभूत मनोहर विषयो का ससर्ग होने पर भी (अष्ट महाप्रातिहार्यादि सम्पदा के विद्यमान होने पर भी) जो परम वीतराग होने से किञ्चित् भी रागभाव को प्राप्त नही होते, वे महापुरुष अरहयत् कहलाते है ।

अरिहन्त—समस्त जीवो के अन्तरग शत्रुभूत आत्मिक विकारो या अष्टविध कर्मो का विशिष्ट साधना द्वारा क्षय करने वाले ।

अरुहन्त—रुह कहते है—सन्तान परम्परा को । जिन्होने कर्मरूपी बीज को जलाकर जन्म-मरण की परम्परा को सर्वथा विनष्ट कर दिया है, वे अरुहन्त कहलाते हैं ।[2]

'सिद्धाण' पद के विशिष्ट अर्थ—सिद्ध शब्द के वृत्तिकार ने ६ निर्वचनार्थ किये हैं—(१) बधे हुए (सित) अष्टकर्म रूप ईन्धन को जिन्होने भस्म कर दिया है, वे सिद्ध है, (२) जो ऐसे स्थान मे सिधार (गमन कर) चुके है, जहाँ से कदापि लौटकर नही आते, (३) जो सिद्ध—कृतकृत्य हो चुके है, (४) जो ससार को सम्यक् उपदेश देकर ससार के लिए मगलरूप हो चुके हैं, (५) जो सिद्ध—नित्य हो चुके है, शाश्वत स्थान को प्राप्त कर चुके है, (६) जिनके गुणसमूह सिद्ध-प्रसिद्ध हो चुके है ।[3]

---

१ 'दव्वभावसकोयण पयत्थो नम '—भगवती वृत्ति पत्राक ३

२ (क) भगवती वृत्ति पत्राक ३

(ख) 'अरिहति वदणनमसणाणि, अरिहति पूयसक्कार ।
सिद्धिगमण च अरहा, अरहता तेण वुच्चति ॥'

(ग) अट्ठविहपि य कम्म अरिभूय होइ सयलजीवाण ।
त कम्ममरि हता अरिहता तेण वुच्चति ॥—भगवती वृत्ति पत्राक ३

३ (क) भगवती वृत्ति पत्राक ३

(ख) ध्मात सित येन पुराणकर्म्म, यो वा गतो निर्वृतिसौधमूर्ध्नि ।
ख्यातोऽनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो, य सोऽस्तु सिद्ध कृतमगलो मे ॥—भगवती वृत्ति पत्राक ४

'आयरियाण' पद के विशिष्ट अर्थ—वृत्तिकार ने आचार्य शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—(१) आ=मर्यादापूर्वक या मर्यादा के साथ जो भव्यजनो द्वारा, चार्य=सेवनीय ह, वे आचार्य कहलाते है, (२) आचार्य वह है जो सूत्र का परमार्थ ज्ञाता, उत्तम लक्षणो मे युक्त, गच्छ के मेढीभूत, गण को चिन्ता से मुक्त करने वाला एव सूत्रार्थ का प्रतिपादक हो, (३) ज्ञानादि पचाचारो का जो स्वय आचरण करते है, दूसरो को आचरण कराते है, वे आचार्य है। (४) जो (मुक्ति) दूत (आ+चार) की तरह हेयोपोदय के, सघहिताहित के अन्वेपण करने मे तत्पर है, वे आचार्य है।[1]

'उवज्झायाण' पद के विशिष्ट अर्थ—उपाध्याय शब्द के पाच अर्थ वृत्तिकार ने किये है—(१) जिनके पास आकर सूत्र का अध्ययन, सूत्रार्थ का स्मरण एव विशेप अर्थचिन्तन किया जाता है, (२) जो द्वादशागीरूप स्वाध्याय का उपदेश करते है, (३) जिनके सान्निध्य (उपाधान) से श्रुत का या स्वाध्याय का अनायास ही आय-लाभ प्राप्त होता है, (४) आय का अर्थ है—इष्टफल। जिनकी सन्निधि (निकटता) ही इष्टफल का निमित्त-कारण हो, (५) आधि (मानसिक पीडा) का लाभ (आय) आध्याय है तथैव 'अधी' का अर्थ है—कुबुद्धि, उसकी आय अध्याय है, जिन्होने आध्याय और अध्याय (कुबुद्धि या दुर्ध्यान) को उपहत—नष्ट कर दिया है, वे उपाध्याय कहलाते हैं।[2]

'सव्वसाहूण' पद के विशिष्ट अर्थ—साधु शब्द के भी वृत्तिकार ने तीन अर्थ वताए है—(१) ज्ञानादि शक्तियो के द्वारा जो मोक्ष की साधना करते है, (२) जो सर्वप्राणियो के प्रति समता-भाव धारण करते है, किसी पर रागद्वेष नही रखते, निन्दक-प्रशसक के प्रति समभाव रखते है, प्राणिमात्र को आत्मवत् समझते है, (३) जो सयम पालन करने वाले भव्य प्राणियो की मोक्षसाधना मे सहायक बनते हैं, वे साधु कहलाते है।

साधु के साथ 'सर्व' विशेषण लगाने का प्रयोजन—जैसे अरिहन्तो और सिद्धो मे स्वरूपत सर्वथा समानता है, वैसी समानता साधुओ मे नही होती। विभिन्न प्रकार की साधना के कारण साधुओ के अनेक अवान्तर भेद होते है। साधुत्व की दृष्टि से सब साधु समान है, इसलिए वन्दनीय हैं। 'सव्व' (सर्व) विशेपण लगाने से सभी प्रकार के, सभी कोटि के साधुओ का ग्रहण हो जाता है, फिर चाहे वे सामायिकचारित्री हो, चाहे छेदोपस्थापनिक, परिहारविशुद्धिक, सूक्ष्मसम्परायी हो या यथाख्यातचारित्री, अथवा वह प्रमत्तसयत हो या अप्रमत्तसयत (सातवे से १४वे गुणस्थान तक के साधु) हो, या वे पुलाकादि पाच प्रकार के निर्ग्रन्थो मे से कोई एक हो, अथवा वे जिनकल्पी, स्थविरकल्पी, प्रतिमाधारी, यथालन्दकल्पी या कल्पातीत हो, अथवा वे प्रत्येकबुद्ध, स्वयबुद्ध या बुद्ध-बोधित मे से किसी भी कोटि के हो, अथवा भरतक्षेत्र, महाविदेहक्षेत्र, जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड आदि

---

१ (क) भगवती वृत्ति पत्राक ३

(ख) 'सुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो, गच्छस्स मेढिभूओ य।
गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थ वाएइ आयरिओ॥'

(ग) पचविह आयार आयरमाणा तहा पयासता।
आयार दसता आयरिया तेण वुच्चति॥ —भ वृ ४

२ (क) भगवती वृत्ति पत्राक ४

(ख) वारसगो जिणक्खाओ सज्झाओ कहिओ वुहे।
त उवइसति जम्हा उवज्झाया तेण वुच्चति॥ —भ वृ ४

है। द्रव्यश्रुत भावश्रुत का कारण होने से सज्ञाक्षररूप (ब्राह्मीलिपिरूप) द्रव्यश्रुत को भी मगलरूप माना है। वस्तुतः यहाँ नमस्करणीय भावश्रुत ही है, वही पूज्य है। अथवा शब्दनय की दृष्टि से शब्द और उसका कर्ता एक हो जाता है। इस अभेद विवक्षा से ब्राह्मीलिपि को नमस्कार भगवान् ऋषभदेव (ब्राह्मी लिपि के आविष्कर्ता) को नमस्कार करना है। अत मात्र लिपि को नमस्कार करने का अर्थ अक्षरविन्यास को नमस्कार करना लिया जाएगा तो अतिव्याप्ति दोप होगा।

यद्यपि प्रस्तुत शास्त्र स्वय मगलरूप है, तथापि इस शास्त्र के लिए जो मगलाचरण किया गया है, वह इस उद्देश्य से कि शिष्यगण शास्त्र को मगलरूप (श्रुतज्ञानरूप मगल हेतु) समझ सके। तथा मगल का ग्रहण उनकी बुद्धि मे हो जाए अर्थात् वे यह अनुभव करे कि हमने मगल किया है।[1]

शास्त्र की उपादेयता के लिए चार बातें—वृत्तिकार ने शास्त्र की उपादेयता सिद्ध करने के लिए चार बाते बताई है—(१) मगल, (२) अभिधेय, (३) फल और (४) सम्बन्ध। शास्त्र के सम्बन्ध मे मगल का निरूपण किया जा चुका है, तथा प्रस्तुत शास्त्र के विविध नामो का निर्देश एव उनकी व्याख्या करके इस शास्त्र का अभिधेय भी बताया जा चुका है। अब रहे फल और सम्बन्ध। अभिधेय सम्बन्धी अज्ञान दूर होकर शास्त्र मे जिन-जिन बातो का वर्णन किया गया है, उन बातो का ज्ञान हो जाना, शास्त्र के अध्ययन या श्रवण का साक्षात् फल है। शास्त्र के अध्ययन या श्रवण से प्राप्त हुए ज्ञान का परम्परा से फल मोक्ष है। शास्त्र मे जिन अर्थों की व्याख्या की गई है, वे अर्थ वाच्य है, और शास्त्र उनका वाचक है। इस प्रकार वाच्य-वाचक भावसम्बन्ध यहाँ विद्यमान है, 'अथवा' इस शास्त्र का यह प्रयोजन है, यह[2] सम्बन्ध (प्रयोज्य-प्रयोजक-भावसम्बन्ध) भी है।

प्रथम शतक : विषयसूची मंगल—

२—रायगिह चलण १ दुक्खे २ कखपओसे य ३ पगति ४ पुढवीओ ५।
जावते ६ नेरइए ७ बाले ८ गुरुए य ९ चलणाओ १०॥१॥

२—(प्रथम शतक के दस उद्देशको की सग्रहणी गाथा इस प्रकार है—) (१) राजगृह नगर मे "चलन" (के विषय मे प्रश्न), (२) दु ख, (३) काक्षा-प्रदोप, (४) (कर्म) प्रकृति (५) पृथ्वियाँ, (६) यावत् (जितनी दूर से इत्यादि), (७) नैरयिक, (८) बाल, (९) गुरुक और (१०) चलनादि।

विवेचन—प्रथम शतक की विषयसूची—प्रस्तुत सूत्र मे प्रथम शतक के दस उद्देशको का क्रम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है। इनमे से प्रत्येक का स्पष्टीकरण आगे यथास्थान किया जाएगा।

३—नमो सुयस्स।

३—श्रुत (द्वादशागीरूप अर्हत्प्रवचन) को नमस्कार हो।

---

१ (क) एव तावत्परमेष्ठिनो नमस्कृत्याऽधुनातनजनानाश्रुतज्ञानस्यात्यन्तोपकारित्वात्। तस्य च द्रव्यभाव श्रुतरूपत्वात् भावश्रुतस्य द्रव्यश्रुतहेतुत्वात् सज्ञाक्षररूप द्रव्यश्रुत।'—भग अ वृ पत्राक ५

(ख) 'लेह लिवीविहाण जिणेण बभीइ दाहिण करेण।'—भग अ वृत्ति, पत्राक ५

२ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ५

विवेचन—प्रथम शतक का मगलाचरण—यद्यपि शास्त्र के प्रारम्भ मे मगलाचरण किया गया है, तथापि शास्त्रकार प्रथम शतक के प्रारम्भ मे श्रुतदेवतानमस्काररूप विशेष मगलाचरण करते है। आचाराग आदि बारह शास्त्र अर्हन्त भगवान् के अगरूप प्रवचन है, उन्ही को यहाँ 'श्रुत' कहा गया है। इष्टदेव को नमस्कार करने की अपेक्षा यहाँ इष्टदेव की वाणीरूप श्रुत को नमस्कार किया गया है, इसके पीछे आशय यह है कि श्रुत भी इष्टदेवरूप ही है, क्योकि अर्हन्त भगवान् जैसे सिद्धो को नमस्कार करते है, उसी प्रकार 'णमो तित्थस्स' (तीर्थ को नमस्कार हो) कह कर परम आदरणीय तथा परम उपकारी होने से श्रुत (प्रवचन या सिद्धान्त)—रूप भावतीर्थ को भी नमस्कार करते है।

श्रुत भी भावतीर्थ है क्योकि द्वादशागी-ज्ञानरूप श्रुत के सहारे से भव्यजीव ससारसागर से तर जाते है, तथा श्रुत अर्हन्त भगवान् के परम केवलज्ञान से उत्पन्न हुआ है, इस कारण इष्टदेव-रूप है। गणधर ने श्रुत को नमस्कार किया है उसके तीन कारण प्रतीत होते है—(१) श्रुत की महत्ता प्रदर्शित करने हेतु, (२) श्रुत पर भव्यजीवो की श्रद्धा बढे एव (३) भव्य जीव श्रुत का आदर करे, आदरपूर्वक श्रवण करे।

प्रथम उद्देशक : उपोद्घात—

४—(१) तेणं कालेण तेण समएण रायगिहे नाम नयरे होत्था। वण्णओ। तस्स ण रायगिहस्स नगरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभागे गुणसिलए नाम चेइए होत्था।

४—(१) उस काल (अवसर्पिणी काल के) और उस समय (चौथे आरे–भगवान् महावीर के युग मे) राजगृह नामक नगर था। वर्णक। (उसका वर्णन औपपातिक सूत्र मे अकित चम्पानगरी के वर्णन के समान समझ लेना चाहिए) उस राजगृह नगर के बाहर उत्तर-पूर्व के दिग्भाग (ईशानकोण) मे गुणशीलक नामक चैत्य (व्यन्तरायतन) था। वहाँ श्रेणिक (भम्भासार–बिम्बसार) राजा राज्य करता था और चिल्लणादेवी उसकी रानी थी।

(२) तेण कालेण तेण समएण समणे भगव महावीरे आइगरे तित्थगरे सहसबुद्धे पुरिसुत्तमे पुरिससीहे पुरिसवरपुडरीए पुरिसवरगधहत्थी लोगणाहे लोगप्पदीवे लोगपज्जोयगरे अभयदये चक्खुदये मग्गदये सरणदये धम्मदेसए धम्मसारही धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टी अप्पडिहयवरनाण-दसणधरे वियट्टछउमे जिणे जावए बुद्धे बोहए मुत्ते मोयए सव्वण्णू सव्वदरिसी सिवमयलमरुजमणत-मक्खयमव्वाबाह 'सिद्धिगति' नामधेय ठाण संपाविउकामे जाव समोसरण।

परिसा निग्गया। धम्मो कहिओ। परिसा पडिगया।

(२) उस काल मे, उस समय मे (वहाँ) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विचरण कर रहे थे, जो आदि-कर (द्वादशागीरूप श्रुत के प्रथम कर्ता), तीर्थकर (प्रवचन या सघ के कर्ता) सहसम्बुद्ध (स्वय तत्त्व के ज्ञाता), पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह (पुरुषो मे सिंह की तरह पराक्रमी), पुरुषवर-पुण्डरीक (पुरुषो मे श्रेष्ठ पुण्डरीक—श्वेत-कमल रूप), पुरुषवरगन्धहस्ती (पुरुषो मे श्रेष्ठ गन्धहस्ती के समान), लोकोत्तम, लोकनाथ (तीनो लोको की आत्माओ के योग-क्षेमकर), (लोकहितकर) लोक-प्रदीप, लोकप्रद्योतकर, अभयदाता, चक्षुदाता (श्रुतधर्मरूपी नेत्रदाता), मार्गदाता (मोक्षमार्ग-प्रदर्शक), शरणदाता (त्राण-दाता) (बोधिदाता), धर्मदाता, धर्मोपदेशक, (धर्मनायक), धर्मसारथि (धर्मरथ के सारथि), धर्मवर-

१ भगवती अभयदेववृत्ति पत्राक ६

चातुरन्त-चक्रवर्ती, अप्रतिहत (निराबाध) ज्ञान-दर्शनधर, छद्मरहित (छलकपट और ज्ञानादि आवरणो से दूर), जिन (रागद्वेषविजेता), ज्ञायक (सम्यक् ज्ञाता), बुद्ध (समग्र तत्त्वो को जानकर रागद्वेषविजेता), बोधक (दूसरो को तत्त्वबोध देने वाले), मुक्त (बाह्य-आभ्यन्तर ग्रन्थि से रहित), मोचक (दूसरो को कर्मबन्धनो से मुक्त कराने वाले), सर्वज्ञ (समस्त पदार्थों के विशेष रूप से ज्ञाता) सर्वदर्शी (सर्व पदार्थों के सामान्य रूप से ज्ञाता) थे। तथा जो शिव (सर्व बाधाओ से रहित), अचल (स्वाभाविक प्रायोगिक चलन-हेतु से रहित), अरुज (रोगरहित), अनन्त (अनन्तज्ञानदर्शनादियुक्त), अक्षय (अन्तरहित), अव्याबाध (दूसरो को पीडित न करने वाले या सर्व प्रकार की बाधाओ से विहीन), पुनरागमनरहित सिद्धिगति (मोक्ष) नामक स्थान को सम्प्राप्त करने के कामी (इच्छुक) थे।

(यहाँ से लेकर समवसरण तक का वर्णन औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए।)

(भगवान् महावीर का पदार्पण जानकर) परिषद् (राजगृह के राजादि लोग तथा अन्य नागरिको का समूह भगवान् के दर्शन, वन्दन, पर्युपासन एव धर्मोपदेश श्रवण के लिए) निकली। (निर्गमन का समग्र वर्णन औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए)। (भगवान् ने उस विशाल परिषद् को) धर्मोपदेश दिया। (यहाँ धर्मकथा का वर्णन कहना चाहिए)। (धर्मोपदेश सुनकर और यथाशक्ति धर्म-धारण करके वह) परिषद् (अपने स्थान को) वापस लौट गई। (यह समग्र वर्णन भी औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए।)

(३) तेण कालेण तेण समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अतेवासी इदभूती नामं अणगारे गोयमसगोत्ते ण सत्तुस्सेहे समचउरससठाणसठिए वज्जरिसभनारायसघयणे कणगपुलगणिघसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे ओराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबभचेरवासी उच्छूढसरीरे सखित्तविपुलतेयलेसे चउदसपुव्वी चउनाणोवगए सव्वक्खरसन्निवाती समणस्स भगवतो महावीरस्स अदूरसामते उड्ढ जाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगए सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे विहरइ।

(३) उस काल और उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर के पास (न बहुत दूर, न बहुत निकट), उत्कुटुकासन से (घुटना ऊचा किये हुए) नीचे सिर झुकाए हुए, ध्यानरूपी कोठे (कोष्ठ) मे प्रविष्ट श्रवण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति नामक अनगार सयम और तप से आत्मा को भावित (वासित) करते हुए विचरण करने थे। वह गौतम-गोत्रीय थे, (शरीर से) सात हाथ ऊचे, समचतुरस्र सस्थान एव वज्रऋषभनाराच सहनन वाले थे। उनके शरीर का वर्ण सोने के टुकडे की रेखा के समान तथा पद्म-पराग के समान (गौर) था। वे उग्रतपस्वी, दीप्ततपस्वी, तप्ततपस्वी, महातपस्वी, उदार, घोर (परीषह तथा इन्द्रियादि पर विजय पाने मे कठोर), घोरगुण (दूसरो द्वारा दुश्चर मूलगुणादि) सम्पन्न, घोरतपस्वी घोर (कठोर) ब्रह्मचर्यवासी, शरीर-सस्कार के त्यागी थे। उन्होने विपुल (व्यापक) तेजोलेश्या (विशिष्ट तपस्या से प्राप्त तेजोज्वाला नामक लब्धि) को सक्षिप्त (अपने शरीर मे अन्तर्लीन) करली थी, वे चौदह पूर्वो के ज्ञाता और चतुर्ज्ञानसम्पन्न सर्वाक्षर-सन्निपाती थे।

(४) तए ण से भगव गोयमे जायसड्ढे जायससए जायकोऊहल्ले, उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नससए उप्पन्नकोऊहल्ले, सजायसड्ढे सजायससए सजायकोऊहल्ले, समुप्पन्नसड्ढे समुप्पन्नससए समुप्पन्न-कोऊहल्ले उट्ठाए उट्ठेति।

उट्ठाए उट्ठेत्ता जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगव महावीर तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिण करेति, तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिण करेत्ता वदति, नमसति, नच्चासन्ने नाइदूरे सुस्सूसमाणे अभिमुहे विणएण पंजलियडे पज्जुवासमाणे एव वयासी—

(४) तत्पश्चात् जातश्रद्ध (प्रवृत्त हुई श्रद्धा वाले), जातसशय, जातकुतूहल, सजातश्रद्ध, समुत्पन्न श्रद्धा वाले, समुत्पन्न कुतूहल वाले भगवान् गौतम उत्थान से (अपने स्थान से उठकर) खडे होते हे।

उत्थानपूर्वक खडे होकर श्रमण गौतम जहाँ (जिस ओर) श्रमण भगवान् महावीर हैं, उस ओर (उनके निकट) आते है। निकट आकर श्रमण भगवान् महावीर को उनके दाहिनी ओर मे प्रारम्भ करके तोन बार प्रदक्षिणा करते है। फिर वन्दन-नमस्कार करते हैं। नमस्कार करके वे न तो बहुत पास और न बहुत दूर भगवान् के समक्ष विनय से ललाट पर हाथ जोडे हुए भगवान् के वचन सुनना चाहते हुए उन्हे नमन करते व उनकी पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—

विवेचन—राजगृह मे भगवान् महावीर का पदार्पण . गौतम स्वामी की प्रश्न पूछने की तैयारी— प्रस्तुत चतुर्थ सूत्र से शास्त्र का प्रारम्भ किया गया है। इसमे नगर, राजा, रानी, भगवान् महावीर, परिषद्—समवसरण, धर्मोपदेश, गौतमस्वामी तथा उनके द्वारा प्रश्न पूछने की तैयारी तक का क्षेत्र या व्यक्तियो का वर्णन किया गया है, वह सब भगवती सूत्र मे यत्र-तत्र श्री भगवान् महावीर स्वामी से श्री गौतमस्वामी द्वारा पूछे गए प्रश्न और उनके द्वारा दिये गए उत्तरो की पृष्ठभूमि के रूप मे अकित किया गया है। इस समग्र पाठ मे कुछ वर्णन के लिए 'वर्णक' या 'जाव' से अन्य सूत्र से जान लेने की सूचना है, कुछ का वर्णन यही कर दिया गया है। इस समग्र पाठ का क्रमश वर्णन इस प्रकार है—

(१) भगवान् महावीर के युग के राजगृह नगर का वर्णन[1]
(२) वहाँ के तत्कालीन राजा श्रेणिक और रानी चिल्लणा का उल्लेख
(३) अनेक विशेषणो से युक्त श्रमण भगवान् महावीर का राजगृह के आसपास विचरण।

(४) इसके पश्चात् 'समवसरण' तक के वर्णन मे निम्नोक्त वर्णन गर्भित है—(अ) भगवान् के १००८ लक्षणसम्पन्न शरीर तथा चरण-कमलो का वर्णन, (जिनसे वे पैदल विहार कर रहे थे), (आ) उनकी बाह्य (अष्ट महाप्रातिहार्यरूपा) एव अन्तरग विभूतियो का वर्णन, (इ) उनके चौदह हजार साधुओ और छत्तीस हजार आर्यिकाओ के परिवार का वर्णन, (ई) वडे-छोटे के क्रम से ग्रामानुग्राम सुखपूर्वक विहार करते हुए राजगृह नगर तथा तदन्तर्गत गुणशीलक चैत्य मे पदार्पण का वर्णन, (उ) तदनन्तर उस चैत्य मे अवग्रह ग्रहण करके सयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विराजमान हुए और उनका समवसरण लगा। (ए) समवसरण मे विविध प्रकार के ज्ञानादि शक्तियो से सम्पन्न साधुओ आदि का वर्णन[2], तथा असुरकुमार, शेष भवनपतिदेव, व्यन्तरदेव, ज्योतिष्कदेव एव वैमानिकदेवो का भगवान् के समीप आगमन एव उनके द्वारा भगवान् की पर्युपासना का वर्णन[3]।

---

१ राजगृह वर्णन—औपपातिक सूत्र १
२ भगवान् के शरीरादि का वर्णन—औपपातिक सूत्र १०,१४,१५,१६,१७
३ देवागमन वर्णन—औपपातिक सूत्र २२ से २६ तक

(५) परिषद् के निर्गमन का विस्तृत वर्णन ।[1]

(६) भगवान् महावीर द्वारा दिये गये धर्मोपदेश का वर्णन ।[2]

(७) सभाविसर्जन के बाद श्रोतागण द्वारा कृतज्ञताप्रकाश, यथाशक्ति धर्माचरण का सकल्प, एव स्वस्थान प्रतिगमन का वर्णन ।[3]

(८) श्री गौतम स्वामी के शारीरिक, मानसिक एव आध्यात्मिक व्यक्तित्व का वर्णन ।

(९) श्री गौतमस्वामी के मन मे उठे हुए प्रश्न और भगवान् महावीर से सविनय पूछने की तैयारी ।[4]

प्रस्तुत शास्त्र किसने, किससे कहा ? प्रस्तुत भगवतीसूत्र का वर्णन पचम गणधर श्री सुधर्मास्वामी ने अपने शिष्य जम्बूस्वामी के समक्ष किया था । इसका कारण आवश्यकसूत्र-निर्युक्ति मे बताया गया है कि सुधर्मास्वामी का ही तीर्थ चला है । अन्य गणधरो की शिष्य परम्परा नही चली, सिर्फ सुधर्मास्वामी के शिष्य-प्रशिष्य हुए है ।[5]

'चलमाणे चलिए' आदि पदो का एकार्थ-नानार्थ—

५ (१) से नूण भते ! चलमाणे चलिते १ ? उदीरिज्जमाणे उदीरिते २ ? वेइज्जमाणे वेइए ३ ? पहिज्जमाणे पहीणे ४ ? छिज्जमाणे छिन्ने ५ ? भिज्जमाणे भिन्ने ६ ? डज्झमाणे डड्ढे ७ ? मिज्जमाणे मडे ८ ? निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे ९ ?

हता गोयमा ! चलमाणे चलिए जाव निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे ।

५—[१ प्र] हे भदन्त (भगवन्) ! क्या यह निश्चित कहा जा सकता है कि १ जो चल रहा हो, वह चला ?, २ जो (कर्म) उदीरा जा रहा है, वह उदीर्ण हुआ ?, ३ जो (कर्म) वेदा (भोगा) जा रहा है, वह वेदा गया ?, ४ जो गिर (पतित या नष्ट हो) रहा है, वह गिरा (पतित हुआ या हटा) ?, ५ जो (कर्म) छेदा जा रहा है, वह छिन्न हुआ ?, ६ जो (कर्म) भेदा जा रहा है, वह भिन्न हुआ (भेदा गया) ?, ७ जो (कर्म) दग्ध हो रहा है, वह दग्ध हुआ ?, ८ जो मर रहा है, वह मरा ?, ९ जो (कर्म) निर्जरित हो रहा है, वह निर्जीर्ण हुआ ?

१ परिषद् निर्गमन वर्णन—औपपातिक सूत्र २७ से ३३ तक

२ धर्मकथा वर्णन—औपपातिक सूत्र ३४

३ परिषद् प्रतिगमन वर्णन—औपपातिक सूत्र ३५-३६-३७

४ चतुर्ज्ञानी गौतमस्वामी द्वारा प्रश्न पूछने के पाच कारण—(१) अतिशययुक्त होते हुए भी छद्मस्थ होने के कारण, (२) स्वय जानते हुए भी ज्ञान की अविसवादिता के लिए, (३) अन्य अज्ञजनो के बोध के लिए, (४) शिष्यो को अपने वचन मे विश्वास बिठाने के लिए, (५) शास्त्ररचना की यही पद्धति होने से । —भगवतीसूत्र वृत्ति, पत्राक १६ ।

५ (क) भगवती सूत्र अ वृत्ति पत्राक ७ से १४ तक का साराश
(ख) वही—पत्राक ६—"तित्थ च सुहम्माओ, निरवच्चा गणहरा सेसा ।"
(ग) जम्बूस्वामी द्वारा पृच्छा—'जइ ण भते ! पचमस्स अगस्स विवाहपन्नत्तीए के अट्ठे पण्णत्ते ?"
—ज्ञाताधर्मकथागसूत्र

[१ उ] हाँ गौतम ! जो चल रहा हो, उसे चला, यावत् निर्जरित हो रहा है, उसे निर्जीर्ण हुआ, (इस प्रकार कहा जा सकता है।)

(२) एए ण भते ! नव पदा कि एगट्ठा नाणाघोसा नाणावजणा उदाहु नाणट्ठा नाणाघोसा नाणावजणा ?

गोयमा ! चलमाणे चलिते १, उदीरिज्जमाणे उदीरिते २, वेइज्जमाणे वेइए ३, पहिज्जमाणे पहीणे ४, एए णं चत्तारि पदा एगट्ठा नाणाघोसा नाणावजणा उप्पन्नपक्खस्स। छिज्जमाणे छिन्ने १, भिज्जमाणे भिन्ने २, डज्झमाणे डड्ढे ३, मिज्जमाणे मडे ४, निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे ५, एए ण पच पदा नाणट्ठा नाणाघोसा नाणावजणा विगतपक्खस्स।

[२ प्र] भगवन् ! क्या ये नौ पद, नानाघोष और नाना व्यञ्जनो वाले एकार्थक है ? अथवा नाना घोष वाले और नाना व्यञ्जनो वाले भिन्नार्थक पद है ?

[२ उ.] हे गौतम ! १ जो चल रहा है, वह चला, २ जो उदीरा जा रहा है, वह उदीर्ण हुआ, ३ जो वेदा जा रहा है वह वेदा गया; ४ और जो गिर (नष्ट हो) रहा है, वह गिरा (नष्ट हुआ), ये चारो पद उत्पन्न पक्ष की अपेक्षा से एकार्थक, नाना-घोष वाले और नाना-व्यञ्जनो वाले हैं। तथा १ जो छेदा जा रहा है, वह छिन्न हुआ, २ जो भेदा जा रहा है, वह भिन्न हुआ, ३ जो दग्ध हो रहा है, वह दग्ध हुआ, ४ जो मर रहा है, वह मरा, और ५ जो निर्जीर्ण किया जा रहा है, वह निर्जीर्ण हुआ, ये पाच पद विगतपक्ष की अपेक्षा से नाना अर्थ वाले, नाना-घोष वाले और नाना-व्यञ्जनो वाले है।

विवेचन—चलन आदि से सम्बन्धित नौ प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत पचम सूत्र मे दो विभाग है—प्रथम विभाग मे कर्मबन्ध के नाश होने की क्रमश प्रक्रिया से सम्बन्धित ९ प्रश्न और उनके उत्तर है, दूसरे विभाग मे इन्ही ९ कर्मबन्धनाशप्रक्रिया के एकार्थक या नानार्थक होने के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर है।[1]

विशेषावश्यकभाष्य मे श्रावस्ती मे प्रादुर्भूत 'बहुरत' नामक निह्नवदर्शन के प्रवर्तक जमालि का वर्णन है। उसका मन्तव्य था कि जो कार्य किया जा रहा है, उसे सपूर्ण न होने तक 'किया गया', ऐसा कहना मिथ्या है, इस प्रकार के प्रचलित मत को लेकर श्रीगौतमस्वामी द्वारा ये प्रश्न समाधानार्थ प्रस्तुत किए गए।[2]

जो क्रिया प्रथम समय मे हुई है, उसने भी कुछ कार्य किया है, निश्चयनय की अपेक्षा से ऐसा मानना उचित है।

चलन—कर्मदल का उदयावलिका के लिए चलना।

उदीरणा—कर्मो की स्थिति परिपक्व होने पर उदय मे आने से पहले ही अध्यवसाय विशेष से उन कर्मो को उदयावलिका मे खीच लाना।

वेदना—उदयावलिका मे आए हुए कर्मो के फल का अनुभव करना।

प्रहाण—आत्मप्रदेशो के साथ एकमेक हुए कर्मो का हटना-गिरना।

छेदन—कर्म की दीर्घकालिक स्थिति को अपवर्तना द्वारा अल्पकालिक स्थिति मे करना।

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति पत्राक १४,१५ का साराश

२ विशेषावश्यकभाष्य गा २३०६, २३०७ (विशेष चर्चा जमालि प्रसग मे देखें)

भेदन—बद्ध कर्म के तीव्र रस को अपवर्त्तनाकरण द्वारा मन्द करना अथवा उद्वर्त्तनाकरण द्वारा मन्द रस को तीव्र करना।

दग्ध—कर्मरूपी काष्ठ को ध्यानाग्नि से जलाकर अकर्म रूप कर देना।

मृत—पूर्वबद्ध आयुष्यकर्म के पुद्गलो का नाश होना।

निर्जीर्ण—फल देने के पश्चात् कर्मो का आत्मा से पृथक् होना—क्षीण होना।

एकार्थ—जिनका विषय एक हो, या जिनका अर्थ एक हो।

घोष—तीन प्रकार के है—उदात्त (जो उच्चस्वर से बोला जाए), अनुदात्त (जो नीचे स्वर से बोला जाए) और स्वरित (जो मध्यमस्वर से बोला जाए)। यह तो स्पष्ट है कि इन नौ पदो के घोष और व्यञ्जन पृथक्-पृथक् है।

चारो एकार्थक—चलन, उदीरणा, वेदना और प्रहाण, ये चारो क्रियाएँ तुल्यकाल (एक अन्तर्मुहूर्तस्थितिक) की अपेक्षा से, गत्यर्थक होने से तथा एक ही कार्य (केवलज्ञान प्रकटीकरण रूप) की साधक होने से एकार्थक है।

पाँचो भिन्नार्थक—छेदन, भेदन, दहन, मरण, निर्जरण, ये पाँचो पद वस्तु विनाश की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न अर्थ वाले है। तात्पर्य यह है कि छेदन स्थितिबन्ध की अपेक्षा से, भेदन अनुभाग (रस) बन्ध की अपेक्षा से, दहन प्रदेशबन्ध की अपेक्षा से, मरण आयुष्यकर्म की अपेक्षा से और निर्जरण समस्त कर्मो की अपेक्षा से कहा गया है। अतएव ये सब पद भिन्न-भिन्न अर्थ के वाचक है।[1]

चौबीस दंडकगत स्थिति आदि का विचार—

(नैरयिक चर्चा)

६. (१ १) नेरइयाण भंते! केवइकाल ठिई पण्णत्ता?

गोयमा! जहन्नेण दस वाससहस्साइ, उक्कोसेण तेत्तीस सागरोवमाइ ठिई पण्णत्ता।

६—[१ १ प्र] भगवन्! नैरयिको की स्थिति (आयुष्य) कितने काल की कही है?

[१ १ उ] हे गौतम! जघन्य (कम से कम) दस हजार वर्ष की, और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) तेतीस सागरोपम की कही है।

(१.२) नेरइया णं भंते! केवइकालस्स आणमति वा पाणमति वा ऊससति वा नीससति वा?

जहा ऊसासपदे।

[१ २ प्र] भगवन्! नारक कितने काल (समय) मे श्वास लेते है और कितने समय मे श्वास छोडते हैं—कितने काल मे उच्छ्वास लेते है और नि श्वास छोडते हैं?

[१ २ उ] (प्रज्ञापना-सूत्रोक्त) उच्छ्वास पद (सातवे पद) के अनुसार समझना चाहिए।

---

१. भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १५ से १९ तक

(१३) नेरइया ण भंते ? आहारट्ठी ?
जहा पण्णवणाए पढमए आहार उद्देसए तथा भाणियव्वं ।
ठिति उस्सासाहारे किं वा ऽऽहारेंति सव्वओ वा वि ।
कतिभाग सव्वाणि व कीस व भुज्जो परिणमति ? ॥२॥

[१ ३ प्र] भगवन् ! क्या नैरयिक आहारार्थी होते हैं ?

[१ ३ उ] गौतम ! प्रज्ञापनासूत्र के आहारपद (२८वे) के प्रथम उद्देशक के अनुसार समझ लेना ।

गाथार्थ—नारक जीवो की स्थिति, उच्छ्वास तथा आहार-सम्बन्धी कथन करना चाहिए । क्या वे आहार करते है ? वे समस्त आत्मप्रदेशो से आहार करते हैं ? वे कितने भाग का आहार करते है या वे सर्व-आहारक द्रव्यो का आहार करते हैं ? और वे आहारक द्रव्यो को किस रूप मे वार-बार परिणमाते है ।

(१४) नेरइयाण भंते ! पुव्वाहारिता पोग्गला परिणता १ ? आहारिता आहारिज्जमाणा पोग्गला परिणता २ ? अणाहारिता आहारिज्जिस्समाणा पोग्गला परिणया ३ ? अणाहारिया अणाहारिज्जिस्समाणा पोग्गला परिणया ४ ?

गोयमा ! नेरइयाण पुव्वाहारित्ता पोग्गला परिणता १, आहारिता आहारिज्जमाणा पोग्गला परिणता परिणमति य २, अणाहारिता आहारिज्जिस्समाणा पोग्गला नो परिणता, परिणमिस्सति ३, अणाहारिया अणाहारिज्जिस्समाणा पोग्गला नो परिणता, नो परिणमिस्सति ४ ।

[१ ४ प्र] भगवन् ! नैरयिको द्वारा पहले आहार किये हुए पुद्गल परिणत हुए ? आहारित (आहार किये हुए, तथा (वर्तमान मे) आहार किये जाते हुए पुद्गल परिणत हुए ? अथवा जो पुद्गल अनाहारित (नही आहार किये हुए) है, वे तथा जो पुद्गल (भविष्य मे) आहार के रूप मे ग्रहण किये जाएँगे, वे परिणत हुए ? अथवा जो पुद्गल अनाहारित है और आगे भी आहारित (आहार के रूप मे) नही होगे, वे परिणत हुए ?

[१ ४ उ] हे गौतम ! नारको द्वारा पहले आहार किये हुए पुद्गल परिणत हुए, १ (इसी तरह) आहार किये हुए और आहार किये जाते हुए पुद्गल परिणत हुए परिणत होते है, २ किन्तु नही आहार किये हुए (अनाहारित) पुद्गल परिणत नही हुए, तथा भविष्य मे जो पुद्गल आहार के रूप मे ग्रहण किये जाएँगे, वे परिणत होगे, ३ अनाहारित पुद्गल परिणत नही हुए, तथा जिन पुद्गलो का आहार नही किया जाएगा, वे भी परिणत नही होगे ४ ।

(१.५) नेरइयाण भते ! पुव्वाहारिया पोग्गला चिता० पुच्छा ।
जहा परिणया तहा चिया वि । एव उवचिता, उदीरिता, वेदिता, निज्जिण्णा । गाहा—
परिणत चिता उवचिता उदीरिता वेदिया य निज्जिण्णा ।
एक्केक्कम्मि पदम्मी चउव्विहा पोग्गला होंति ॥३॥

[१ ५ प्र.] हे भगवन् ! नैरयिको द्वारा पहले आहारित (सगृहीत) पुद्गल चय को प्राप्त हुए ?

[१ ५ उ] हे गौतम ! जिस प्रकार वे परिणत हुए, उसी प्रकार चय को प्राप्त हुए, उसी प्रकार उपचय को प्राप्त हुए, उदीरणा को प्राप्त हुए, वेदन को प्राप्त हुए तथा निर्जरा को प्राप्त हुए ।

गाथार्थ—परिणत, चित, उपचित, उदीरित, वेदित और निर्जीर्ण, इस एक-एक पद मे चार प्रकार के पुद्गल (प्रश्नोत्तर के विषय) होते है।

(१.६) नेरइया ण भते ! कतिविहा पोग्गला भिज्जति ?

गोयमा ! कम्मदव्ववग्गण अहिकिच्च दुविहा पोग्गला भिज्जति। त जहा–अणू चेव बादरा चेव १।

नेरइया ण भते ! कतिविहा पोग्गला चिज्जति ?

गोयमा ! आहारदव्ववग्गण अहिकिच्च दुविहा पोग्गला चिज्जति। तं जहा—अणू चेव बादरा चेव २। एवं उवचिज्जति ३।

नेरइया ण भते ! कतिविहे पोग्गले उदीरेंति ?

गोयमा ! कम्मदव्वग्गण अहिकिच्च दुविहे पोग्गले उदीरेंति। त जहा—अणू चेव बादरे चेव ४।

एव वेदेंति ५। निज्जरेंति ६। ओयट्टिसु ७। ओयट्टेंति ८। ओयट्टिस्सति ९। सकामिसु १०। सकामेंति ११। सकामिस्सति १२। निहत्तिसु १३। निहत्तेंति १४। निहत्तिस्सति १५। निकायसु १६। निकाएंति १७। निकाइस्सति १८। सव्वेसु वि कम्मदव्ववग्गणमहिकिच्च। गाहा—

भेदित चिता उवचिता उदीरिता वेदिया य निज्जिण्णा।
ओयट्टण-सकामण-निहत्तण-निकायणे तिविह कालो ॥४॥

(१ ६ प्र) हे भगवन् ! नारकजीवो द्वारा कितने प्रकार के पुद्गल भेदे जाते है ?

(१ ६ उ) गौतम ! कर्मद्रव्यवर्गणा की अपेक्षा दो प्रकार के पुद्गल भेदे जाते है। वे इस प्रकार है—अणु (सूक्ष्म) और बादर (स्थूल) १।

(प्र) भगवन् ! नारक जीवो द्वारा कितने प्रकार के पुद्गल चय किये जाते है ?

(उ) गौतम ! आहार द्रव्यवर्गणा की अपेक्षा वे दो प्रकार के पुद्गलो का चय करते है, वे इस प्रकार है—अणु और बादर २, इसी प्रकार उपचय समझना ३।

(प्र) भगवन् ! नारक जीव कितने प्रकार के पुद्गलो की उदीरणा करते है ?

(उ) गौतम ! कर्मद्रव्यवर्गणा की अपेक्षा दो प्रकार के पुद्गलो की उदीरणा करते है। वह इस प्रकार है—अणु और बादर ४। शेष पद भी इसी प्रकार कहने चाहिए—वेदते है ५, निर्जरा करते हैं ६, अपवर्त्तन को प्राप्त हुए ७, अपवर्त्तन को प्राप्त हो रहे है ८, अपवर्त्तन को प्राप्त करेंगे ९, सक्रमण किया १०, सक्रमण करते है ११, सक्रमण करेंगे १२, निधत्त हुए १३, निधत्त होते है १४, निधत्त होगे १५, निकाचित हुए १६, निकाचित होते है १७, निकाचित होगे १८, इन सब पदो मे भी कर्मद्रव्यवर्गणा की अपेक्षा (अणु और बादर पुदगलो का कथन करना चाहिए।)

गाथार्थ—भेदेगए, चय को प्राप्त हुए, उपचय को प्राप्त हुए, उदीर्ण हुए, वेदे गए और निर्जीर्ण हुए (इसी प्रकार) अपवर्त्तन, सक्रमण, निधत्तन और निकाचन, (इन पिछले चार) पदो मे भी तीनो प्रकार काल कहना चाहिए।

(१ ७) नेरइया णं भत्ते ! जे पोग्गले तेयाकम्मत्ताए गेण्हति ते किं तीतकालसमए गेण्हति ? पडुप्पन्नकालसमए गेण्हंति ? अणागतकालसमए गेण्हंति ?

गोयमा ! नो तीतकालसमए गेण्हति, पडुप्पन्नकालसमए गेण्हति, नो अणागतकालसमए गेण्हंति १ ।

[१ ७ प्र] हे भगवन् ! नारक जीव जिन पुद्गलो को तैजस और कार्मणरूप मे ग्रहण करते है, उन्हे क्या अतीत काल मे ग्रहण करते है ? प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) काल मे ग्रहण करते हे ? अथवा अनागत (भविष्य) काल मे ग्रहण करते है ?

[१ ७ उ] गौतम ! अतीत काल मे ग्रहण नही करते, वर्तमान काल मे ग्रहण करते है, भविष्यकाल मे ग्रहण नही करते ।

(१ ८) नेरइयाण भते ! जे पोग्गले तेयाकम्मत्ताए गहिए उदीरेंति ते किं तीतकालसमय-गहिते पोग्गले उदीरेंति ? पडुप्पन्नकालसमयघेप्पमाणे पोग्गले उदीरेंति ? गहणसमयपुरेक्खडे पोग्गले उदीरेंति ?

गोयमा ! तीयकालसमयगहिए पोग्गले उदीरेंति, नो पडुप्पन्नकालसमयघेप्पमाणे पोग्गले उदीरेंति, नो गहणसमयपुरेक्खडे पोग्गले उदीरेंति २ । एव वेदेंति ३, निज्जरेंति ४ ।

[१ ८ प्र] हे भगवन् ! नारक जीव तैजस और कार्मणरूप मे ग्रहण किये हुए जिन पुद्गलो की उदीरणा करते है, सो क्या अतीत काल मे गृहीत पुद्गलो की उदीरणा करते है ? या वर्तमान काल मे ग्रहण किये जाते हुए पुद्गलो की उदीरणा करते हैं ? अथवा जिनका उदयकाल आगे आने वाला है, ऐसे भविष्यकालविषयक पुद्गलो की उदीरणा करते है ?

[१ ८ उ] हे गौतम ! वे अतीत काल मे गृहीत पुद्गलो की उदीरणा करते हैं, (परन्तु) वर्तमान काल मे ग्रहण किये जाते हुए पुद्गलो की उदीरणा नही करते, तथा आगे ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलो की भी उदीरणा नही करते ।

इसी प्रकार (उदीरणा की तरह) अतीत काल मे गृहीत पुद्गलो को वेदते है, और उनकी निर्जरा करते है ।

(१.९) नेरइयाण भते ! जीवातो किं चलियं कम्म बधति ? अचलियं कम्मं बंधति ?

गोयमा ! नो चलिय कम्म बधति, अचलित कम्म बधति १ । एव उदीरेंति २ वेदेंति ३ ओयट्टेंति ४ सकामेंति ५ निहत्तेंति ६ निकाएंति ७ । सव्वेसु णो चलियं, अचलियं ।

[१ ९ प्र] भगवन् ! क्या नारक जीवप्रदेशो से चलित (जो जीवप्रदेशो मे अवगाढ नही है, ऐसे) कर्म को बाधते है, या अचलित (जीवप्रदेशो मे स्थित) कर्म को बाधते है ?

[१ ९ उ] गौतम ! (वे) चलित कर्म को नही बाधते, (किन्तु) अचलित कर्म को बाधते है ।

इसी प्रकार (बध के अनुसार ही वे) अचलित कर्म की उदीरणा करते हैं, अचलित कर्म का ही वेदन करते हैं, अपवर्त्तन करते है, सक्रमण करते है, निधत्ति करते है और निकाचन करते है । इन सब पदो मे अचलित (कर्म) कहना चाहिए, चलित (कर्म) नही ।

(१.१०) नेरइयाण भते ! जीवातो किं चलिय कम्म निज्जरेंति ? अचलियं कम्म निज्जरेंति ?

गोयमा ! चलिअ कम्म निज्जरेंति, नो अचलिय कम्म निज्जरेंति ८ । गाहा—

बधोदय-वेदोव्वट्ट-संकमे तह निहत्तण-निकाए ।
अचलिय कम्मं तु भवे चलित जीवाउ निज्जरए ॥५॥

[१ १० प्र] भगवन् ! क्या नारक जीवप्रदेश से चलित कर्म की निर्जरा करते है अथवा अचलित कर्म की निर्जरा करते है ?

[१ १० उ] गौतम ! (वे) चलित कर्म की निर्जरा करते है, अचलित कर्म की निर्जरा-नही करते ।

गाथार्थ—बन्ध, उदय, वेदन, अपवर्त्तन, सक्रमण, निधत्तन और निकाचन के विषय मे अचलित कर्म समझना चाहिए और निर्जरा के विषय मे चलित कर्म समझना चाहिए ।

विवेचन—नारको की स्थिति आदि के सम्बन्ध के प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत छठे सूत्र के २४ अवान्तर विभाग (दण्डक) करके शास्त्रकार ने प्रथम अवान्तर विभाग मे नारको को स्थिति आदि से सम्बन्धित १० प्रश्नोत्तर-समूह प्रस्तुत किये है । वे क्रमश इस प्रकार है—(१) स्थिति, (२) श्वासोच्छ्वास समय, (३) आहार, (४) आहारित-अनाहारित पुद्गल परिणमन, (५) इन्ही के चय, उपचय, उदीरणा, वेदना, और निर्जराविपयक विचार, (६) आहारकर्म द्रव्यवर्गणा के पुद्गलो के भेदन, चय, उपचय, उदीरणा, वेदना, निर्जरा, अपवर्तन, सक्रमण, निधत्तन और निकाचन से सम्बन्धित विचार, (७-८) तैजस-कार्मण के रूप मे गृहीत पुद्गलो के ग्रहण, उदीरणा, वेदना और निर्जरा की अपेक्षा त्रिकालविषयक विचार, (९-१०) चलित-अचलित कर्म सम्बन्धी वन्ध, उदीरणा, वेदन, अपवर्तन, सक्रमण, निधत्तन, निकाचन एव निर्जरा की अपेक्षा विचार ।[1]

स्थिति—आत्मारूपी दीपक मे आयुकर्मपुद्गलरूपी तेल के विद्यमान रहने की सामयिक मर्यादा ।[2]

आणमन-प्राणमन तथा उच्छ्वास-नि श्वास—यद्यपि आणमन-प्राणमन तथा उच्छ्वास-नि श्वास का अर्थ समान है, किन्तु इनमे अपेक्षाभेद से अन्तर वताने की दृष्टि से इन्हे पृथक्-पृथक् ग्रहण किया है । आध्यात्मिक (आभ्यन्तर) श्वासोच्छ्वास को आणमन-प्राणमन और वाह्य को उच्छ्वास-नि श्वास कहते है । प्रज्ञापनासूत्र मे नारको के सतत श्वासोच्छ्वास लेने-छोडने का वर्णन है ।[3]

नारको का आहार—प्रज्ञापनासूत्र मे वताया है कि नारको का आहार दो प्रकार का होता है—आभोग निर्वर्तित (खाने की बुद्धि से किया जाने वाला) और अनाभोगनिर्वर्तित (आहार की इच्छा के विना भी किया जाने वाला) । अनाभोग आहार तो प्रतिक्षण—सतत होता रहता है, किन्तु आभोगनिर्वर्त्तित-आहार की इच्छा कम से कम असख्यात समय मे, अर्थात्—अन्तर्मुहूर्त्त मे होती है ।

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १९ से २५ तक का साराश

२ भगवतीसूत्र अ वृत्ति पत्राक १९

३ (क) वही, पत्राक १९, (ख) प्रज्ञापना, उच्छ्वासपद—७ मे—"गोयमा ! सयय सतयामेव आणमति वा पाणमति वा ऊससति वा नीससति वा ।

इसके अतिरिक्त नारकों के आहार का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, दिशा, समय आदि की अपेक्षा से भी विचार किया गया है।[1]

परिणत, चित, उपचित आदि—आहार का प्रसंग होने से यहाँ परिणत का अर्थ है—शरीर के साथ एकमेक होकर आहार का शरीररूप में पलट जाना। जिन पुद्‌गलों को आहाररूप में परिणत किया है, उनका शरीर में एकमेक होकर शरीर को पुष्ट करना चय (चित) कहलाता है। जो चय किया गया है, उसमें अन्यान्य पुद्‌गल एकत्रित कर देना उपचय (उपचित) कहलाता है।[2]

आहार शब्द यहाँ ग्रहण करने और उपभोग करने (खाने) दोनों अर्थों में प्रयुक्त है। प्रस्तुत में प्रत्येक पद के आहार से सम्बन्धित (१) आहारित, (२) आहारित-आह्रियमाण, (३) अनाहारित-आहारिष्यमाण, एवं अनाहारित—अनाहारिष्यमाण, इन चारों प्रकार के पुद्‌गल विषयक चार-चार प्रश्न हैं।[3]

पुद्‌गलों का भेदन—अपवर्तनाकरण तथा उद्वर्तनाकरण (अध्यवसायविशेष) से तीव्र, मन्द, मध्यम रस वाले पुद्‌गलों को दूसरे रूप में परिणत (परिवर्तित) कर देना। जैसे—तीव्र को मन्द और मन्द को तीव्र बना देना।

पुद्‌गलों का चय-उपचय—यहाँ शरीर का आहार से पुष्ट होना चय और विशेष पुष्ट होना उपचय है। ये आहारद्रव्यवर्गणा की अपेक्षा जानना चाहिए।

अपवर्तन—अध्यवसायविशेष के द्वारा कर्म की स्थिति एवं कर्म के रस को कम कर देना। अपवर्तनाकरण से कर्म की स्थिति आदि कम की जाती है, उद्वर्तनाकरण से अधिक।

संक्रमण—कर्म की उत्तरप्रकृतियों का अध्यवसाय-विशेष द्वारा एक दूसरे के रूप में बदल जाना। यह संक्रमण (परिवर्तन) मूल प्रकृतियों में नहीं होता। उत्तरप्रकृतियों में भी आयुकर्म की उत्तरप्रकृतियों में नहीं होता तथा दर्शनमोह और चारित्रमोह में भी एक दूसरे के रूप में संक्रमण नहीं होता।

निधत्त करना—भिन्न-भिन्न कर्म-पुद्‌गलों को एकत्रित करके धारण करना। निधत्त अवस्था में उद्वर्तना और अपवर्तना, इन दो करणों से ही निधत्त कर्मों में परिवर्तन किया जा सकता है। अर्थात् इन दो करणों के सिवाय किसी अन्य संक्रमणादि के द्वारा जिसमें परिवर्तन न हो सके, कर्म की ऐसी अवस्था को निधत्त कहते हैं।

---

१ (क) भगवतीसूत्र अभय. वृत्ति, पत्रांक २० से २३ तक
(ख) देखिये, प्रज्ञापना, आहारपद, पद २८ उद्दे. १ से

२ भगवतीसूत्र अभय. वृत्ति, पत्रांक २४

३ (१) पूर्वाहृत, (२) आह्रियमाण, (३) आहारिष्यमाण, (४) अनाहृत, (५) अनाह्रियमाण और (६) अनाहारिष्यमाण, इन ६ पदों के ६३ भंग होते हैं—एकपदाश्रित ६, द्विकसंयोग से १५, त्रिकसंयोग से २०, चतुष्कसंयोग से १५, पंचकसंयोग से ६ और षट्‌संयोग से एक।

—भगवती अ. वृत्ति अनुवाद, पृ. ६२-६३

निकाचित करना—निधत्त किये गए कर्मों का ऐसा सुदृढ हो जाना कि, जिससे वे एक-दूसरे से पृथक् न हो सके, जिनमे कोई भी करण कुछ भी परिवर्तन न कर सके। अर्थात्—कर्म जिस रूप मे बाधे हैं, उसी रूप मे भोगने पडे, वे निकाचित कर्म कहलाते है।[1]

चलित-अचलित—जिन आकाशप्रदेशो मे जीवप्रदेश अवस्थित है उन्ही आकाशप्रदेशो मे जो अवस्थित न हो, ऐसे कर्म चलित कहलाते है, इससे विपरीत कर्म अचलित।[2]

देव (असुरकुमार) चर्चा—

(२१) असुरकुमाराण भंते ! केवइय काल ठिती पण्णता ?
जहन्नेण दस वाससहस्साइ, उक्कोसेणं सातिरेग सागरोवम।

[२१ प्र] भगवन् ! असुरकुमारो की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[२१ उ] हे गौतम ! जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट एक सागरोपम से कुछ अधिक की है।

(२२) असुरकुमाराण भंते ! केवइकालस्स आणमति वा[3] ४ ?
गोयमा ! जहन्नेण सत्तण्ह थोवाण,[4] उक्कोसेण साइरेगस्स पक्खस्स आणमति वा ४।

[२२ प्र] भगवन् ! असुरकुमार कितने समय मे श्वास लेते है और कितने समय मे नि श्वास छोडते है ?

[२२ उ] गौतम ! जघन्य सात स्तोकरूप काल मे और उत्कृष्ट एक पक्ष (पखवाडे) से (कुछ) अधिक काल मे श्वास लेते और छोडते है।

(२३) असुरकुमाराण भंते ! आहारट्ठी ?
हंता, आहारट्ठी।

[२३ प्र] हे भगवन् ! क्या असुरकुमार आहार के अभिलाषी होते हैं ?

[२३ उ] हाँ, गौतम ! (वे) आहार के अभिलाषी होते है।

(२४) असुरकुमाराण भंते ! केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ?

---

१. भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक २४-२५
२ वही, पत्राक २८
३ 'आणमति वा' के बाद '४' का अक 'पाणमति वा ऊससति वा नीससति वा', इन शेष तीन पदो का सूचक है।
४ हट्ठस्स अणवगल्लस्स, निरुवकिट्ठस्स जतुणो।
एगे ऊसास-निसासे, एस पाणुत्ति वुच्चइ॥
सत्त पाणूणि से थोवे, सत्त थोवाणि से लवे।
लवाण सत्तहत्तरिए, एस मुहुत्ते वियाहिए॥

अर्थात्—रोगरहित, स्वस्थ, हृष्टपुष्ट प्राणी के एक श्वासोच्छ्वास (उच्छ्वास-नि श्वास) को एक प्राण कहते हैं। सात प्राणो का एक स्तोक होता है, सात स्तोको का एक लव और ७७ लवो का एक मुहूर्त होता है।

गोयमा ! असुरकुमाराण दुविहे आहारे पण्णत्ते, । त जहा—आभोगनिव्वत्तिए य, अणाभोगनिव्वत्तिए य । तत्थ ण जे से अणाभोगनिव्वत्तिए से अणुसमय अविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ । तत्थ ण जे से आभोगनिव्वत्तिए से जहन्नेण चउत्थभत्तस्स, उक्कोसेण साइरेगस्स वाससहस्सस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ।

[२४ प्र] हे भगवन् ! असुरकुमारो को कितने काल मे आहार की इच्छा उत्पन्न होती है ?

[२४ उ] गौतम ! असुरकुमारो का आहार दो प्रकार का कहा गया है, जैसे कि—आभोगनिर्वर्त्तित और अनाभोग-निर्वर्त्तित । इन दोनो मे मे जो अनाभोग-निर्वर्त्तित (बुद्धिपूर्वक न होने वाला) आहार है, वह विरहरहित प्रतिसमय (सतत) होता रहता है । (किन्तु) आभोगनिर्वर्त्तित आहार की अभिलाषा जघन्य चतुर्थभक्त अर्थात्—एक अहोरात्र से और उत्कृष्ट एक हजार वर्ष से कुछ अधिक काल मे होती है ।

(२५) असुरकुमारा ण भते ! कि आहार आहारेंति ?

गोयमा ! दव्वओ अणतपएसियाइं दव्वाइ, खित्त-काल-भावा पण्णवणागमेण । सेस जहा नेरइयाण जाव ते ण तेसिं पोग्गला कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति ? गोयमा ! सोइंदियत्ताए ५[1] सुरूवत्ताए सुवण्णत्ताए इट्ठत्ताए इच्छियत्ताए अभिज्झियत्ताए, उड्ढत्ताए, णो अहत्ताए, सुहत्ताए, णो दुहत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति ।

[२५ प्र] भगवन् ! असुरकुमार किन पुद्गलो का आहार करते है ?

[२५ उ] गौतम ! द्रव्य से अनन्तप्रदेशी द्रव्यो का आहार करते हैं । क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से प्रज्ञापनासूत्र का वही वर्णन जान लेना चाहिए, जो नैरयिको के प्रकरण मे कहा गया है ।

(प्र) हे भगवन् ! असुरकुमारो द्वारा आहार किये हुए पुद्गल किस रूप मे बार-बार परिणत होते है ?

(उ) हे गौतम ! श्रोत्रेन्द्रिय रूप मे यावत् स्पर्शेन्द्रिय रूप मे, सुन्दर रूप मे, सु-वर्णरूप मे, इष्ट रूप मे, इच्छित रूप मे, मनोहर (अभिलषित) रूप मे, ऊर्ध्वरूप मे परिणत होते है, अध रूप मे नही, सुखरूप मे परिणत होते हैं, किन्तु दु खरूप मे परिणत नही होते ।

(२६) असुरकुमाराणं पुव्वाहारिया पुग्गला परिणया ?

असुरकुमाराभिलावेण जहा नेरइयाण जाव[2] । चलिय कम्म निज्जरति ।

[२६ प्र] हे भगवन् ! क्या असुरकुमारो द्वारा आहृत—पहले आहार किये हुए पुद्गल परिणत हुए ?

---

१ 'इंदियत्ताए' के आगे '५' का अक शेष चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय एव स्पर्शनेन्द्रिय का सूचक है ।

२ असुरकुमारो के विषय मे 'चलियं कम्म निज्जरति' पर्यन्त शेष प्रश्न प्रज्ञापनासूत्रानुसार नारको की तरह समझ लेने चाहिए । इसी बात के द्योतक 'जहा' और 'जाव' शब्द है ।

[२-६ उ] गौतम ! असुरकुमारो के अभिलाप मे, अर्थात्—नारको के स्थान पर 'असुरकुमार' शब्द का प्रयोग करके अचलित कर्म की निर्जरा करते है, यहाँ तक सभी आलापक नारको के समान ही समझने चाहिए ।

नागकुमार चर्चा

(३-१) नागकुमाराण भंते ! केवइय कालं ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइ, उक्कोसेण देसूणाइ दो पलिओवमाइ ।

[३ १ प्र] हे भगवन् ! नागकुमार देवो की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[३ १ उ] गौतम ! जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट देशोन=कुछ कम दो पल्योपम की है ।

(३ २) नागकुमारा ण भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ४ ?

गोयमा ! जहन्नेण सत्तण्ह थोवाण, उक्कोसेणं मुहुत्तपुहत्तस्स[1] आणमंति वा ४ ।

[३ २ प्र] हे भगवन् ! नागकुमार देव कितने समय मे श्वास लेते है और छोडते हैं ?

[३ २ उ] गौतम ! जघन्यत सात स्तोक मे और उत्कृष्टत मुहूर्त्त-पृथकत्व मे (दो मुहूर्त्त से लेकर नौ मुहूर्त्त के अन्दर किसी भी समय) श्वासोच्छ्वास लेते है ।

(३ ३) नागकुमारा ण भंते ! आहारट्ठी ?

हंता, गोयमा ! आहारट्ठी ।

[३ ३ प्र] भगवन् ! क्या नागकुमारदेव आहारार्थी होते है ?

[३ ३ उ] हाँ, गौतम ! वे आहारार्थी होते है ।

(३ ४) नागकुमाराण भंते ! केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ?

गोयमा ! नागकुमाराण दुविहे आहारे पण्णत्ते । त जहा—आभोगनिव्वत्तिए य अणाभोग-निव्वत्तिए य । तत्थ ण जे से अणाभोगनिव्वत्तिए से अणुसमय अविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जेइ, तत्थ ण जे से आभोगनिव्वत्तिए, से जहन्नेण चउत्थभत्तस्स, उक्कोसेण दिवस-पुहत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ । सेस जहा असुरकुमाराण जाव चलिय कम्मं निज्जरेंति, नो अचलिय कम्म निज्जरेंति ।

[३ ४ प्र] भगवन् ! नागकुमार देवो को कितने काल के अनन्तर आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है ?

[३ ४ उ] गौतम ! नागकुमार देवो का आहार दो प्रकार का कहा गया है—आभोग-निर्वत्तित और अनाभोग-निर्वत्तित । इन मे जो अनाभोग-निर्वत्तित आहार है, वह प्रतिसमय विरहरहित (सतत) होता है, किन्तु आभोगनिर्वत्तित आहार की अभिलाषा जघन्यत चतुर्थभक्त (एक अहोरात्र) के पश्चात् और उत्कृष्टत दिवस-पृथकत्व (दो दिवस से लेकर नौ दिवस तक), के बाद उत्पन्न होती

१ 'पृथक्त्व' शब्द दो मे लेकर नौ तक के अर्थ मे सिद्धान्त मे प्रसिद्ध है ।

है। शेष "चलित कर्म की निर्जरा करते है, किन्तु अचलित कर्म की निर्जरा नही करते", यहाँ तक सारा वर्णन असुरकुमार देवो की तरह समझ लेना चाहिए।

(४-११) एवं सुवण्णकुमाराण वि जाव[1] थणियकुमाराण ति।

[४ से ११ तक] इसी तरह सुपर्णकुमार देवो से लेकर स्तनितकुमार (शेष सभी भवनपति) देवो तक के भी (स्थिति से लेकर चलित कर्म-निर्जरा तक के) सभी आलापक (पूर्ववत्) कह देने चाहिए।

विवेचन—भवनपतिदेवो की स्थिति आदि के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर—छठे सूत्र के दूसरे अवान्तर विभाग (दण्डक) से (असुरकुमार से) लेकर ग्यारहवे अवान्तर विभाग (दण्डक) तक (स्तनितकुमार पर्यन्त) की स्थिति आदि के सम्बन्ध मे नारको की तरह, क्रमश प्रश्नोत्तर अंकित है।

नागकुमारो की स्थिति के विषय मे स्पष्टीकरण—मूल पाठ मे उक्त नागकुमारो की देशोन दो पल्योपम की उत्कृष्ट स्थिति उत्तर दिशा के नागकुमारो की अपेक्षा मे समझनी चाहिए। दक्षिण-दिशावर्ती नागकुमारो की उत्कृष्ट स्थिति डेढ पल्योपम की है।[2]

पृथिवीकाय आदि स्थावर चर्चा

(१२.१) पुढविक्काइयाण भंते! केवइय काल ठिती पण्णता?

गोयमा! जहन्नेण अंतोमुहुत्त, उक्कोसेण बावीसं वाससहस्साइं।

[१२ १ प्र] भगवन्! पृथ्वीकायिक जीवो की स्थिति कितने काल की कही गई है?

[१२ १ उ] गौतम! जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की, और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष की है।

(१२ २) पुढविक्काइया केवइकालस्स आणमंति वा ४?

गोयमा! वेमायाए आणमति वा ४।

[१२ २ प्र] भगवन्! पृथ्वीकायिक जीव कितने काल मे श्वास नि श्वास लेते है?

[१२ २ उ] गौतम! (वे) विमात्रा से—विविध या विषम काल मे श्वासोच्छ्वास लेते हैं, (अर्थात्—इनके श्वासोच्छ्वास का समय स्थिति के अनुसार नियत नही है।)

(१२.३) पुढविक्काइया आहारट्ठी?

हंता, आहारट्ठी।

[१२ ३ प्र] भगवन्! पृथ्वीकायिक जीव आहार के अभिलाषी होते हैं?

[१२ ३ उ] हाँ, गौतम! वे आहारार्थी होते हैं।

(१२.४) पुढविक्काइयाणं केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ?

गोयमा! अणुसमयं अविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ।

---

१ यहाँ 'जाव' शब्द सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, वायुकुमार और स्तनितकुमार, इन शेष ८ भवनपतिदेवो का सूचक है।

२ कहा है—"दाहिणदिवड्ढपलिय, दो देसूणुत्तरिल्लाण।"

[१२४ प्र] भगवन्! पृथ्वीकायिक जीवो को कितने काल मे आहार की अभिलापा उत्पन्न होती है?

[१२४ उ] हे गौतम! (उन्हे) प्रतिसमय विरहरहित निरन्तर आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है।

(१२५) पुढविक्काइया कि आहार आहारेंति?

गोयमा! दव्वओ जहा नेरइयाण जाव निव्वाघाएण छद्दिसि; वाघाय पडुच्च सिय तिदिसि, सिय चउद्दिसि सिय पचदिसि। वण्णओ काल-नील-लोहित-हालिद्द-सुक्किलाणि। गधओ सुब्भिगध २, रसओ तित्त ५, फासओ कक्खड ८[1]। सेस तहेव। नाणत्त कतिभाग आहारेंति? कइभाग फासादेंति?

गोयमा! असखिज्जइभाग आहारेंति, अणतभाग फासादेंति जाव ते ण तेसि पोग्गला कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति? गोयमा! फासिदियवेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति। सेस जहा नेरइयाण जाव चलिय कम्म निज्जरेंति, नो अचलिय कम्म निज्जरेंति।

[१२-५ प्र] भगवन्! पृथ्वीकायिक जीव क्या (किसका) आहार करते है?

[१२-५ उ] गौतम! वे द्रव्य से अनन्तप्रदेशी द्रव्यो का आहार करते है, इत्यादि (आहार-विषयक) सब बाते नैरयिको के समान जानना चाहिए। यावत् पृथ्वीकायिक जीव व्याघात न हो तो छही दिशाओ से आहार लेते है। व्याघात हो तो कदाचित् तीन दिशाओ से, कदाचित् चार और कदाचित् पाच दिशाओ से आहार लेते है। वर्ण की अपेक्षा से काला, नीला, पीला, लाल, हारिद्र (हल्दी जैसा) तथा शुक्ल (श्वेत) वर्ण के द्रव्यो का आहार करते है। गन्ध की अपेक्षा से सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध, दोनो गन्ध वाले, रस की अपेक्षा से तिक्त आदि पाचो रस वाले, स्पर्श की अपेक्षा से कर्कश आदि आठो स्पर्श वाले द्रव्यो का आहार करते है। शेष सब वर्णन पूर्ववत् ही समझना चाहिए। सिर्फ भेद यह है—(प्र) भगवन्! पृथ्वीकाय के जीव कितने भाग का आहार करते है और कितने भाग का स्पर्श—आस्वादन करते है?

(उ) गौतम! वे असख्यातवे भाग का आहार करते है और अनन्तवे भाग का स्पर्श—आस्वादन करते है। यावत्—"हे भगवन्! उनके द्वारा आहार किये हुए पुद्गल किस रूप मे बार-बार परिणत होते है?" हे गौतम! स्पर्शेन्द्रिय के रूप मे साता—असातारूप विविध प्रकार से बार-बार परिणत होते है। (यावत्) यहाँ से लेकर 'अचलित कर्म को निर्जरा नही करते', यहाँ तक का अवशिष्ट सब वर्णन नैरयिको के समान समझना चाहिए।

(१३-१६) एव जाव वणस्सइकाइयाण। नवर ठिती वण्णेयव्वा जा जस्स, उस्सासो वेमायाए।

[१३-१६] इसी प्रकार अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय तक के जीवो के विषय मे समझ लेना चाहिए। अन्तर केवल इतना है कि जिसकी जितनी स्थिति हो उसकी उतनी

१- '२' अक से सुरभि दुरभि दो गन्ध को, '५' अक से तिक्त, कटुक, कषाय, अम्ल (खट्टा) और मधुर, यो पाच रसो का, और '८' अक से—कर्कश, कोमल, भारी, हलका, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष आठ प्रकार के स्पर्श का ग्रहण करना चाहिए।

स्थिति कह देनी चाहिए तथा इन सबका उच्छ्वास भी विमात्रा से—विविध प्रकार से—जानना चाहिए, (अर्थात्—स्थिति के अनुसार वह नियत नही है।)

विवेचन—पच स्थावर जीवो की स्थिति आदि के विषय मे प्रश्नोत्तर—छठे सूत्र के अन्तर्गत १२ वे दण्डक से सोलहवे दण्डक तक के पृथ्वीकायादि पाच स्थावर जीवो की स्थिति आदि का वर्णन किया गया है।

पृथ्वीकायिक जीवो की उत्कृष्ट स्थिति—खरपृथ्वी की अपेक्षा से २२ हजार वर्ष की कही गई है। क्योकि सिद्धान्तानुसार स्निग्ध पृथ्वी की एक हजार वर्ष की, शुद्ध पृथ्वी की बारह हजार वर्ष की, बालुका पृथ्वी की १४ हजार वर्ष की, मन शिला पृथ्वी की १६ हजार वर्ष की, शर्करा पृथ्वी की १८ हजार वर्ष की और खर पृथ्वी की २२ हजार वर्ष की उत्कृष्ट स्थिति मानी गई है।

विमात्रा-आहार, विमात्रा श्वासोच्छ्वास—पृथ्वीकायिक जीवो का रहन-सहन विचित्र होने से उनके आहार की कोई मात्रा—आहार की एकरूपता—नही है। इस कारण उनमे श्वास की मात्रा नही है कि कब कितना लेते है। इनका श्वासोच्छ्वास विषमरूप है—विमात्र है।

व्याघात—लोक के अन्त मे, जहाँ लोक-अलोक की सीमा मिलती है, वही व्याघात होना सम्भव है। क्योकि अलोक मे आहार योग्य पुद्गल नही होते।

आहार स्पर्शेन्द्रिय से कैसे—पृथ्वीकायिक आदि स्थावर जीवो के एकमात्र स्पर्शेन्द्रिय ही होती है, इसलिये ये स्पर्शेन्द्रिय द्वारा आहार ग्रहण करके उसका आस्वादन करते हैं।

शेष स्थावरो की उत्कृष्ट स्थिति—पृथ्वीकाय के अतिरिक्त शेष स्थावरो की उत्कृष्ट स्थिति क्रमश अप्काय की ७ हजार वर्ष की, तेजस्काय की ३ दिन की, वायुकाय की ३ हजार वर्ष की, और वनस्पतिकाय की दस हजार वर्ष की है।[1]

द्वीन्द्रियादि त्रस-चर्चा—

(१७.१) बेइन्दियाण ठिई भाणियव्वा। ऊसासो वेमायाए।

[१७ १] द्वीन्द्रिय जीवो की स्थिति कह लेनी चाहिए। उनका श्वासोच्छ्वास विमात्रा से (अनियत) कहना चाहिए।

(१७ २) बेइन्दियाण आहारे पुच्छा। अणाभोगनिव्वत्तिओ तहेव। तत्थ णं जे से आभोगनिव्वत्तिए से ण असखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिए वेमायाए आहारट्ठे समुप्पज्जइ। सेस तहेव जाव अणतभाग आसायंति।

[१७ २] (तत्पश्चात्) द्वीन्द्रिय जीवो के आहार के विषय मे (यो) पृच्छा करनी चाहिए—(प्र) भगवन्! द्वीन्द्रिय जीवो को कितने काल मे आहार की अभिलाषा होती है? (उ) अनाभोग-निर्वर्तित आहार पहले के ही समान (निरन्तर) समझना चाहिए। जो आभोग-निर्वर्तित आहार है, उसकी अभिलाषा विमात्रा से असख्यात समय वाले अन्तर्मुहूर्त मे होती है। शेप सब वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए, यावत् अनन्तवे भाग का आस्वादन करते है।

(१७ ३) बेइन्दिया णं भते! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हति ते किं सव्वे आहारेंति? नो सव्वे आहारेंति?

---

१ भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक २९

गोयमा ! बेइन्दियाण दुविहे आहारे पण्णत्ते । त जहा–लोमाहारे पक्खेवाहारे य । जे पोग्गले लोमाहारत्ताए गिण्हति ते सव्वे अपरिसेसिए आहारेंति । जे पोग्गले पक्खेवाहारत्ताए गिण्हंति तेसिं ण पोग्गलाण असखिज्जभाग आहारेंति, अणेगाइ च ण भागसहस्साइं अणासाइज्जमाणाइ अफासाइज्जमाणाइं विद्ध समागच्छति ।

[१७ ३ प्र] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव जिन पुद्‌गलो को आहाररूप से ग्रहण करते है, क्या वे उन सबका आहार कर लेते है ? अथवा उन सबका आहार नही करते ?

[१७ ३ उ] गौतम ! द्वीन्द्रिय जीवो का आहार दो प्रकार का कहा गया है, जैसे कि— रोमाहार (रोमो द्वारा खीचा जाने वाला आहार) और प्रक्षेपाहार (कौर, बू द आदि रूप मे मुह आदि मे डाल कर किया जाने वाला आहार)। जिन पुद्‌गलो को वे रोमाहार द्वारा ग्रहण करते है, उन सबका सम्पूर्णरूप से आहार करते है, जिन पुद्गलो को वे प्रक्षेपाहाररूप से ग्रहण करते है, उन पुद्‌गलो मे से असख्यातवाँ भाग आहार ग्रहण किया जाता है, और (शेष) अनेक-सहस्रभाग बिना आस्वाद किये और बिना स्पर्श किये ही नष्ट हो जाते है ।

(१७ ४) एतेसि णं भते ! पोग्गलाणं अणासाइज्जमाणाण अफासाइज्जमाणाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४[1] ?

गोयमा ! सव्वत्थो वा पुग्गला अणासाइज्जमाणा, अफासाइज्जमाणा अणतगुणा ।

[१७ ४ प्र] हे भगवन् ! इन बिना आस्वादन किये हुए और बिना स्पर्श किये हुए पुद्‌गलो मे से कौन-से पुद्‌गल, किन पुद्‌गलो से अल्प है, बहुत है, अथवा तुल्य है, या विशेषाधिक है ?

[१७ ४ उ] हे गौतम ! आस्वाद मे नही आए हुए पुद्‌गल सबसे थोडे है, (जबकि) स्पर्श मे नही आए हुए पुद्गल उनसे अनन्तगुणा है ।

(१७.५) बेइदिया ण भते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गिण्हति ते ण तेसि पुग्गला कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति ?

गोयमा ! जिब्भिदिय-फासिदिय-वेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति ।

[१७ ५ प्र] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव जिन पुद्‌गलो को आहाररूप मे ग्रहण करते है, वे पुद्गल उनके किस रूप मे बार-बार परिणत होते है ?

[१७ ५ उ] गौतम ! वे पुद्‌गल उनके विविधतापूर्वक जिह्वेन्द्रिय रूप मे और स्पर्शेन्द्रिय-रूप मे बार-बार परिणत होते हैं ।

(१७ ६) बेइदियाण भते ! पुव्वाहारिया पुग्गला परिणया तहेव जाव[2] चलिय कम्म निज्जरंति ।

[१७ ६ प्र] हे भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीवो को क्या पहले आहार किये हुए पुद्गल परिणत हुए है ?

---

१ यहाँ 'अप्पा वा' के आगे ४ का अक 'बहुआ वा, तुल्ला वा, विसेसाहिया वा' इन शेष तीन पदो का सूचक है ।

२ यहाँ 'जाव' पद से छठे सूत्र के १-४ मे १-१० पर्यन्त सूत्रपाठ देखें ।

[१७ ६ उ] ये 'चलित कर्म को निर्जरा करते हैं' यहा तक सारा वक्तव्य पहले की तरह समझ लेना चाहिए।

[१८-१९.१] तेइदिय-चउरिंदियाण णाणत्त ठितीए जाव णेगाइ च ण भागसहस्साइ अणाघाइज्जमाणाइ अणासाइज्जमाणाइ अफासाइज्जमाणाइ विद्धंसमागच्छति।

[१८।१९ १] त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवो की स्थिति मे भेद है, (शेष सब वर्णन पूर्ववत् है,) यावत् अनेक-सहस्रभाग बिना सूघे, बिना चखे तथा बिना स्पर्श किये ही नष्ट हो जाते हैं।

[१८-१९ २] एतेसि णं भंते ! पोग्गलाण अणाघाइज्जमाणाण ३,[1] पुच्छा।

गोयमा ! सव्वत्थोवा पोग्गला अणाघाइज्जमाणा अणासाइज्जमाणा अणंतगुणा, अणासाइज्जमाणा अणतगुणा।

[१८।१९-२ प्र] भगवन् ! इन नही सूघे हुए, नही चखे हुए और नही स्पर्श किये हुए पुद्गलो मे से कौन किससे थोडा, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक है ? ऐसी पृच्छा करनी चाहिए।

[१८।१९-२ उ] गौतम ! नही सूघे हुए पुद्गल सबसे थोडे हैं, उनसे अनन्तगुने नही चखे हुए पुद्गल है, और उनसे भी अनन्तगुणे पुद्गल नही स्पर्श किये हुए है।

[१८ ३] तेइदियाण घाणिदिय-जिब्भिदिय-फासिदियवेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति।

[१८ ३] त्रीन्द्रिय जीवो द्वारा किया हुआ आहार घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के रूप मे बार-बार परिणत होता है।

[१९ ३] चउरिंदियाण चक्खिदिय-घाणिदिय-जिब्भिदिय-फासिदियत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति।

[१९ ३] चतुरिन्द्रिय जीवो द्वारा किया हुआ आहार चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्दिय, जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के रूप मे बार-बार परिणत होता है।

विवेचन—विकलेन्द्रिय जीवो की स्थिति आदि का वर्णन—छठे सूत्र के अन्तर्गत १७-१८-१९वे दण्डक के रूप मे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवो की स्थिति आदि का वर्णन किया गया है।

विकलेन्द्रिय जीवो की स्थिति—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है, उत्कृष्ट द्वीन्द्रिय को बारह वर्ष की, त्रीन्द्रिय की ४९ अहोरात्र की, एव चतुरिन्द्रिय की छह मास की है।

असख्यातसमयवाला अन्तर्मुहूर्त—एक अन्तर्मुहूर्त्त मे असख्यात समय होने से वह असख्येय भेदवाला होता है, इसलिए द्वीन्द्रिय जीवो को आभोग आहार की अभिलाषा असख्यात समय वाले अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् बताई गई है।

रोमाहार—वर्षा आदि मे स्वत (ओघत) रोमो द्वारा जो पुद्गल प्रविष्ट हो जाते है, उनके ग्रहण को रोमाहार कहते है।[2]

---

१ यहाँ '३' अक से 'अणासाइज्जमाणाण अफासाइज्जमाणाण' ये दो पद सूचित किये गए है।

२ भगवती सूत्र अ वृत्ति पत्राक ३०

गोयमा ! बेइन्दियाण दुविहे आहारे पण्णत्ते । त जहा—लोमाहारे पक्खेवाहारे य । जे पोग्गले लोमाहारत्ताए गिण्हति ते सव्वे अपरिसेसिए आहारेंति । जे पोग्गले पक्खेवाहारत्ताए गिण्हति तेसि ण पोग्गलाण असखिज्जभाग आहारेंति, अणेगाइ च ण भागसहस्साइ अणासाइज्जमाणाइ अफासाइज्जमाणाइ विद्ध समागच्छति ।

[१७ ३ प्र] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव जिन पुद्गलो को आहाररूप से ग्रहण करते है, क्या वे उन सबका आहार कर लेते है ? अथवा उन सबका आहार नही करते ?

[१७ ३ उ] गौतम ! द्वीन्द्रिय जीवो का आहार दो प्रकार का कहा गया है, जैसे कि—रोमाहार (रोमो द्वारा खीचा जाने वाला आहार) और प्रक्षेपाहार (कौर, बू द आदि रूप मे मु ह आदि मे डाल कर किया जाने वाला आहार) । जिन पुद्गलो को वे रोमाहार द्वारा ग्रहण करते है, उन सबका सम्पूर्णरूप से आहार करते है, जिन पुद्गलो को वे प्रक्षेपाहाररूप से ग्रहण करते है, उन पुद्गलो मे से असख्यातवाँ भाग आहार ग्रहण किया जाता है, और (शेष) अनेक-सहस्रभाग बिना आस्वाद किये और बिना स्पर्श किये ही नष्ट हो जाते है ।

(१७ ४) एतेसि ण भते ! पोग्गलाण अणासाइज्जमाणाण अफासाइज्जमाणाण य कयरे कयरेहितो अप्पा वा ४[1] ?

गोयमा ! सव्वत्थो वा पुग्गला अणासाइज्जमाणा, अफासाइज्जमाणा अणंतगुणा ।

[१७ ४ प्र] हे भगवन् ! इन बिना आस्वादन किये हुए और बिना स्पर्श किये हुए पुद्गलो मे से कौन-से पुद्गल, किन पुद्गलो से अल्प है, बहुत है, अथवा तुल्य है, या विशेषाधिक है ?

[१७ ४ उ] हे गौतम ! आस्वाद मे नही आए हुए पुद्गल सबसे थोडे है, (जबकि) स्पर्श मे नही आए हुए पुद्गल उनसे अनन्तगुणा है ।

(१७.५) बेइदिया ण भते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गिण्हति ते ण तेसि पुग्गला कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति ?

गोयमा ! जिब्भिदिय-फासिदिय-वेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति ।

[१७ ५ प्र] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव जिन पुद्गलो को आहाररूप मे ग्रहण करते है, वे पुद्गल उनके किस रूप मे बार-बार परिणत होते है ?

[१७ ५ उ] गौतम ! वे पुद्गल उनके विविधतापूर्वक जिह्वे न्द्रिय रूप मे और स्पर्शेन्द्रिय-रूप मे वार-बार परिणत होते है ।

(१७ ६) बेइंदियाण भते ! पुव्वाहारिया पुग्गला परिणया तहेव जाव[2] चलिय कम्मं निज्जरति ।

[१७ ६ प्र] हे भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीवो को क्या पहले आहार किये हुए पुद्गल परिणत हुए है ?

---

१ यहाँ 'अप्पा वा' के आगे ४ का अक 'बहुआ वा, तुल्ला वा, विसेसाहिया वा' इन शेष तीन पदो का सूचक है ।

२ यहाँ 'जाव' पद से छठे सूत्र के १-४ मे १-१० पर्यन्त सूत्रपाठ देखें ।

[१७ ६ उ] ये 'चलित कर्म की निर्जरा करते हैं' यहा तक सारा वक्तव्य पहले की तरह समझ लेना चाहिए।

[१८-१९.१] तेइंदिय-चउरिंदियाण णाणत्त ठितीए जाव णेगाइ च ण भागसहस्साइ अणाघाइज्जमाणाइ अणासाइज्जमाणाइ अफासाइज्जमाणाइ विद्ध समागच्छति।

[१८।१९ १] त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवो की स्थिति मे भेद हे, (शेप सब वर्णन पूर्ववत् है,) यावत् अनेक-सहस्रभाग बिना सू घे, बिना चखे तथा बिना स्पर्श किये ही नष्ट हो जाते है।

[१८-१९ २] एतेंसि ण भंते! पोग्गलाण अणाघाइज्जमाणाणं ३,[1] पुच्छा।

गोयमा! सव्वत्थोवा पोग्गला अणाघाइज्जमाणा अणासाइज्जमाणा अणतगुणा, अणासाइज्जमाणा अणतगुणा।

[१८।१९-२ प्र] भगवन्! इन नही सू घे हुए, नही चखे हुए और नही स्पर्श किये हुए पुद्गलो मे से कौन किससे थोडा, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक है? ऐसी पृच्छा करनी चाहिए।

[१८।१९-२ उ] गौतम! नही सू घे हुए पुद्गल सबसे थोडे है, उनसे अनन्तगुने नही चखे हुए पुद्गल है, और उनसे भी अनन्तगुणे पुद्गल नही स्पर्श किये हुए है।

[१८ ३] तेइंदियाण घाणिदिय-जिब्भिदिय-फासिंदियवेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति।

[१८ ३] त्रीन्द्रिय जीवो द्वारा किया हुआ आहार घ्राणेन्द्रिय, जिह्वे न्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के रूप मे बार-बार परिणत होता है।

[१९ ३] चउरिंदियाण चक्खिदिय-घाणिदिय-जिब्भिदिय-फासिंदियत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति।

[१९ ३] चतुरिन्द्रिय जीवो द्वारा किया हुआ आहार चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्दिय, जिह्वे न्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के रूप मे बार-बार परिणत होता है।

विवेचन—विकलेन्द्रिय जीवो की स्थिति आदि का वर्णन—छठे सूत्र के अन्तर्गत १७-१८-१९वे दण्डक के रूप मे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवो की स्थिति आदि का वर्णन किया गया है।

विकलेन्द्रिय जीवो की स्थिति—जघन्य अन्तर्मु हूर्त्त की है, उत्कृष्ट द्वीन्द्रिय को बारह वर्ष की, त्रीन्द्रिय की ४९ अहोरात्र की, एव चतुरिन्द्रिय की छह मास की है।

असख्यातसमयवाला अन्तर्मु हूर्त—एक अन्तर्मु हूर्त्त मे असख्यात समय होने से वह असख्येय भेदवाला होता है, इसलिए द्वीन्द्रिय जीवो को आभोग आहार की अभिलाषा असख्यात समय वाले अन्तर्मु हूर्त्त के पश्चात् बताई गई है।

रोमाहार—वर्षा आदि मे स्वत (ओघत) रोमो द्वारा जो पुद्गल प्रविष्ट हो जाते है, उनके ग्रहण को रोमाहार कहते है।[2]

---

१ यहाँ '३' अक से 'अणासाइज्जमाणाण अफासाइज्जमाणाण' ये दो पद सूचित किये गए हैं।
२ भगवती सूत्र अ वृत्ति पत्राक ३०

[२०] पंचिदियतिरिक्खजोणियाण ठिति भाणिऊण ऊसासो वेमायाए। आहारो अणाभोगनिव्वत्तिओ अणुसमय अविरहिओ। आभोगनिव्वत्तिओ जहन्नेण अतोमुहुत्तस्स, उक्कोसेण छट्ठभत्तस्स। सेसं जहा चउरिंदियाण जाव[1] चलिय कम्म निज्जरेंति।

[२०] पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीवो की स्थिति कह कर उनका उच्छ्वास विमात्रा से (विविध प्रकार से—अनियत काल मे) कहना चाहिए, उनका अनाभोगनिर्वर्तित आहार प्रतिसमय विरहरहित (निरन्तर) होता है। आभोगनिर्वर्तित आहार जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त मे और उत्कृष्ट षष्ठभक्त अर्थात् दो दिन व्यतीत होने पर होता है। इसके सम्बन्ध मे शेष वक्तव्य 'अचलित कर्म की निर्जरा नही करते,' यहाँ तक चतुरिन्द्रिय जीवो के समान समझना चाहिए।

मनुष्य एवं देवादि विषय

[२१] एव मणुस्साण वि। नवर आभोगनिव्वत्तिए जहन्नेण अतोमुहुत्त, उक्कोसेण अट्ठमभत्तस्स। सोइदिय ५[2] वेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति। सेस तहेव जाव निज्जरेंति।

[२१] मनुष्यो के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही जानना चाहिए, किन्तु इतना विशेष है कि उनका आभोगनिर्वर्तित आहार जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त मे, उत्कृष्ट अष्टमभक्त अर्थात् तीन दिन बीतने पर होता है।

पचेन्द्रिय जीवो द्वारा गृहीत आहार श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, और स्पर्शनेन्द्रिय, इन पाँचो इन्द्रियो के रूप मे विमात्रा से बार-बार परिणत होता है। शेष सब वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए, यावत् वे 'अचलित कर्म की निर्जरा नही करते।'

[२२] वाणमतराण ठिईए नाणत्त। अवसेस जहा[3] नागकुमाराण।

[२२] वाणव्यन्तर देवो की स्थिति मे भिन्नता (नानात्व) है। (उसके सिवाय) शेष समस्त वर्णन नागकुमारदेवो की तरह समझना चाहिए।

[२३] एव जोइसियाण वि। नवर उस्सासो जहन्नेण मुहुत्तपुहत्तस्स, उक्कोसेण वि मुहुत्तपुहत्तस्स। आहारो जहन्नेण दिवसपुहत्तस्स, उक्कोसेण वि दिवसपुहत्तस्स। सेस तहेव।

[२३] इसी तरह ज्योतिष्क देवो के सम्बन्ध मे भी जानना चाहिए। इतनी विशेषता है कि उनका उच्छ्वास जघन्य मुहूर्त्तपृथक्त्व और उत्कृष्ट भी मुहूर्त्तपृथक्त्व के बाद होता है। उनका आहार जघन्य दिवसपृथक्त्व से और उत्कृष्ट दिवसपृथक्त्व के पश्चात् होता है। शेष सारा वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

[२४] वेमाणियाण ठिती भाणियव्वा ओहिया। ऊसासो जहन्नेण मुहुत्तपुहत्तस्स, उक्कोसेणं तेत्तीसाए पक्खाण। आहारो आभोगनिव्वत्तिओ जहन्नेण दिवसपुहत्तस्स, उक्कोसेण तेत्तीसाए वाससहस्साण। सेस तहेव जाव[4] निज्जरेंति।

[२४] वैमानिक देवो की औघिक स्थिति कहनी चाहिए। उनका उच्छ्वास जघन्य मुहूर्त्तपृथक्त्व मे, और उत्कृष्ट तेतीस पक्ष के पश्चात् होता है। उनका आभोगनिर्वर्तित आहार जघन्य

---

१ 'जाव' शब्द से छठे सूत्र के १-२ से १-१० तक का सूत्रपाठ देखे।
२ यहाँ '५' का अक पाचो इन्द्रियो का सूचक है।
३ यहाँ 'जहा' शब्द सू-६, के ३-२ से लेकर ३-१० तक के पाठ का सूचक है।
४ यहाँ 'जाव' शब्द के लिए सूत्र-६, के १-४ से १-१० तक का सूत्रपाठ देखें।

दिवसपृथक्त्व से और उत्कृष्ट तैंतीस हजार वर्ष के पश्चात् होता है। वे 'चलित कर्म की निर्जरा करते है, अचलित कर्म की निर्जरा नही करते,' इत्यादि (यहां तक) शेष समग्र वर्णन पूर्ववत् ही समझना चाहिए।

विवेचन—पचेन्द्रिय तिर्यञ्च, मनुष्य, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एव वैमानिक देवो की स्थिति आदि का वर्णन—छठे सूत्र के अन्तर्गत चौवीस दण्डको मे से अन्तिम २० मे २४ वे दण्डक के जीवो की स्थिति आदि का निरूपण किया गया है।

पचेन्द्रिय जीवो की स्थिति—प्रस्तुत मे तिर्यञ्चपचेन्द्रिय, मनुष्य एव तीनो निकायो के देवो का समावेश हो जाता है। तिर्यञ्चपचेन्द्रिय और मनुष्य की स्थिति जघन्यत अन्तर्मुहूर्त्त की, उत्कृष्टत तीन पल्योपम की है। वाणव्यन्तर देवो की स्थिति जघन्य १० हजार वर्ष की, उत्कृष्ट एक पल्योपम की है। ज्योतिष्क देवो की स्थिति जघन्य पल्योपम के ८वे भाग को, और उत्कृष्ट एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की है। वैमानिक देवो की औघिक (समस्त वैमानिक देवो की अपेक्षा से सामान्य) स्थिति कही है। औघिक का परिमाण एक पल्योपम से लेकर तैंतीस सागरोपम तक है। इसमे जघन्य स्थिति सौधर्म देवलोक की अपेक्षा से और उत्कृष्ट स्थिति अनुत्तरविमानवासी देवो की अपेक्षा से कही गई है।

तिर्यंचो और मनुष्यो के आहार की अवधि किस अपेक्षा से? प्रस्तुत मे तिर्यञ्चपचेन्द्रिय का आहार षष्ठभक्त (दो दिन) बीत जाने पर बतलाया गया है, वह देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्र के यौगलिक तिर्यञ्चो की तथा ऐसी ही स्थिति (आयु) वाले भरत-ऐरवत क्षेत्रीय तिर्यचयौगलिको की अपेक्षा से समझना चाहिए। इसी प्रकार मनुष्यो का आहार अष्टमभक्त बीत जाने पर कहा गया है, वह भी देवकुरु-उत्तरकुरु के यौगलिक मनुष्यो की तथा भरत-ऐरवतक्षेत्र मे जब उत्सर्पिणीकाल का छठा आरा समाप्ति पर होता है, और अवसर्पिणी काल का प्रथम आरा प्रारम्भ होता है, उस समय के मनुष्यो की अपेक्षा से समझना चाहिए।

वैमानिक देवो के श्वासोच्छ्वास एव आहार के परिमाण का सिद्धान्त—यह है कि जिस वैमानिक देव की जितने सागरोपम की स्थिति हो, उसका श्वासोच्छ्वास उतने ही पक्ष मे होता है, और आहार उतने ही हजार वर्ष मे होता है।[1] इस दृष्टि से यहाँ श्वासोच्छ्वास और आहार का जघन्य परिमाण जघन्य स्थिति वाले वैमानिक देवो की अपेक्षा और उत्कृष्ट परिमाण उत्कृष्ट स्थिति वाले देवो की अपेक्षा से समझना चाहिए।

मुहूर्त्तपृथक्त्व . जघन्य और उत्कृष्ट—जघन्य मुहूर्त्तपृथक्त्व मे दो या तीन मुहूर्त्त और उत्कृष्ट मुहूर्त्तपृथक्त्व मे आठ या नौ मुहूर्त्त समझना चाहिए।[2]

जीवो की आरंभ विषयक चर्चा

७ [१] जीवा ण भते! किं आयारभा? परारभा? तदुभयारभा? अणारभा?

---

१ 'जस्स जाइ सागराइ तस्स ठिई तत्तिएहिं पक्खेहिं।
ऊसासो देवाण वाससहस्सेहिं आहारो ॥"

२ भगवतीसूत्र अ वृत्ति पत्राक ३०-३१

गोयमा ! अत्थेगइया जीवा आयारंभा वि, परारंभा वि, तदुभयारंभा वि,[1] नो अणारंभा। अत्थेगइया जीवा नो आयारंभा, नो परारंभा, नो तदुभयारंभा, अणारंभा।

[७-१ प्र] हे भगवन् ! क्या जीव आत्मारम्भी है, परारम्भी हैं, तदुभयारम्भी हैं, अथवा अनारम्भी है ?

[७-१ उ] हे गौतम ! कितने ही जीव आत्मारम्भी भी है, परारम्भी भी हैं और उभयारम्भी भी है, किन्तु अनारम्भी नही है। कितने ही जीव आत्मारम्भी नही है, परारम्भी भी नही है, और न ही उभयारम्भी है, किन्तु अनारम्भी है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति–अत्थेगइया जीवा आयारंभा वि ? एवं पडिउच्चारेतव्वं।

गोयमा ! जीवा दुविहा पण्णत्ता। तं जहा–संसारसमावन्नगा य असंसारसमावन्नगा य। तत्थ णं जे ते असंसारसमावन्नगा ते णं सिद्धा, सिद्धा णं नो आयारंभा जाव अणारंभा। तत्थ णं जे ते संसारसमावन्नगा ते दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—संजता य, असंजता य। तत्थ णं जे ते संजता ते दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—पमत्तसंजता य, अप्पमत्तसंजता य। तत्थ णं जे ते अप्पमत्तसंजता ते णं नो आयारंभा, नो परारंभा, जाव अणारंभा। तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया ते सुभं जोगं पडुच्च नो आयारंभा जाव अणारंभा, असुभं जोगं पडुच्च आयारंभा वि जाव नो अणारंभा। तत्थ णं जे ते असंजता ते अविरतिं पडुच्च आयारंभा वि जाव नो अणारंभा। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—अत्थेगइया जीवा जाव[2] अणारंभा।

[७-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से आप ऐसा कहते है कि कितने ही जीव आत्मारम्भी भी है ? इत्यादि पूर्वोक्त प्रश्न का फिर से उच्चारण करना चाहिए।

[७-२ उ] गौतम ! जीव दो प्रकार के कहे गए है, वे इस प्रकार है—संसारसमापन्नक और असंसारसमापन्नक। उनमे से जो जीव असंसारसमापन्नक है, वे सिद्ध (मुक्त) है और सिद्ध भगवान् न तो आत्मारम्भी हैं, न परारम्भी है और न ही उभयारम्भी है, किन्तु अनारम्भी है। जो संसार-समापन्नक जीव है, वे दो प्रकार के कहे गए है, वे इस प्रकार है—संयत और असंयत। उनमे जो संयत हैं, वे दो प्रकार के कहे गए है, जैसे कि—प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत। उनमे जो अप्रमत्त-संयत हैं, वे न तो आत्मारम्भी है, न परारम्भी है, और न उभयारम्भी है, किन्तु अनारम्भी है। जो प्रमत्तसंयत है, वे शुभ योग की अपेक्षा न आत्मारम्भी है, न परारम्भी हैं, और न उभयारम्भी है, किन्तु अनारम्भी है। अशुभयोग की अपेक्षा वे आत्मारम्भी भी है, परारम्भी भी है और उभयारम्भी भी है, किन्तु अनारम्भी नही है। जो असंयत हैं, वे अविरति की अपेक्षा आत्मारम्भी है, परारम्भी है उभयारम्भी है किन्तु अनारम्भी नही है। इस कारण (हेतु से) हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि कितने ही जीव आत्मारम्भी भी हैं, यावत् अनारम्भी भी हैं।

---

१ 'वि' (अपि) शब्द पूर्वपद और उत्तरपद के सम्बन्ध को तथा कालभेद से एकाश्रयता या भिन्नाश्रयता सूचित करने के लिए है। जैसे—एक ही जीव किसी समय आत्मारम्भी, किसी समय परारम्भी और किसी समय तदुभयारम्भी होता है। इसलिए अनारम्भी नही होता। भिन्नाश्रयता भिन्न-भिन्न जीवो की अपेक्षा से समझना चाहिए। जैसे कई (असंयती जीव) आत्मारम्भी, कई परारम्भी और कई उभयारम्भी भी होते है, इत्यादि।

२ 'जाव' पद के लिए देखिये सू ७-१ का सूत्रपाठ

चौबीस दडक मे आरंभ प्ररूपणा

८ [१] नेरइया ण भते ! किं आयारभा ? परारभा ? तदुभयारभा ? अणारभा ?

गोयमा ! नेरइया आयारभा वि जाव नो अणारभा । से केणट्ठेण ?

गोयमा ! अविरतिं पडुच्च से तेणट्ठेण जाव नो अणारभा ।

[८-१ प्र] भगवन् ! नैरयिक जीव क्या आत्मारम्भी है, परारम्भी है, उभयारम्भी है, या अनारम्भी है ?

[८-१ उ] गौतम ! नैरयिक जीव आत्मारम्भी भी हैं, परारम्भी भी है, और उभयारम्भी भी है, किन्तु अनारम्भी नही है ।

[प्र] भगवन् ! आप ऐसा किस कारण से कहते है ?

[उ] हे गौतम ! अविरति की अपेक्षा से, अविरति होने के कारण (ऐसा कहा जाता है कि) नैरयिक जीव आत्मारम्भी, परारम्भी और उभयारम्भी है, किन्तु अनारम्भी नही है ।

[२-२०] एव जाव असुरकुमारा वि, जाव पंचिदियतिरिक्खजोणिया ।

[८ २ से २०] इसी प्रकार असुरकुमार देवो के विषय मे भी जान लेना चाहिए, यावत् तिर्यञ्चपञ्चेन्द्रिय तक का भी (आलापक) इसी प्रकार कहना चाहिए ।

[२१] मणुस्सा जहा जीवा । नवर सिद्धविरहिता भाणियव्वा ।

[२२-२४] वाणमतरा जाव वेमाणिया जधा नेरतिया ।

[८-२१ से २४] मनुष्यो मे भी सामान्य जीवो को तरह जान लेना विशेष यह है कि सिद्धो का कथन छोडकर । वाणव्यन्तर देवो से वेमानिक देवो तक नैरयिको की तरह कहना चाहिए ।

सलेश्य जीवो मे आरभ प्ररूपणा

९ [१] सलेसा जहा ओहिया (सु ७) ।

[२] किण्हलेस-नीललेस-काउलेसा जहा ओहिया जीवा, नवर पमत्तअप्पमत्ता न भाणियव्वा । तेउलेसा पम्हलेसा सुक्कलेसा जहा ओहिया जीवा (सु ७), नवर सिद्धा न भाणियव्वा ।

[९-१-२] लेश्यावाले जीवो के विषय मे सामान्य (औधिक) जीवो की तरह कहना चाहिए । कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्यावाले जीवो के सम्बन्ध मे सामान्य जीवो की भाति ही सब कथन समझना चाहिए, किन्तु इतना विशेष है कि (सामान्य जीवो के आलापक मे उक्त) प्रमत्त और अप्रमत्त यहाँ नही कहना चाहिए । तेजोलेश्या वाले, पद्मलेश्या वाले और शुक्ललेश्या वाले जीवो के विषय मे भी औधिक जीवो की तरह कहना चाहिए, किन्तु इतना विशेष है कि सामान्य जीवो मे मे सिद्धो के विषय का कथन यहाँ नही करना चाहिए ।

विवेचन—विविध पहलुओं से आरम्भी-अनारम्भी विचार—प्रस्तुत तीन सूत्रो (७-८-९) मे सामान्य जीवो, चतुर्विशतिदण्डकीय जीवो और सलेश्य जीवो की अपेक्षा से आत्मारम्भ, परारम्भ, तदुभयारम्भ और अनारम्भ का विचार किया गया है ।

आरम्भ—यह जैन पारिभाषिक शब्द है । इसका अर्थ है—ऐसा सावद्य कार्य करना, या किसी आश्रव मे प्रवृत्ति करना, जिससे किसी जीव को कष्ट पहुँचे या उसके प्राणो का घात हो ।

आत्मारम्भी—जो स्वय आश्रवद्वार मे प्रवृत्त होता है या आत्मा द्वारा स्वय आरम्भ करता है।

परारम्भी—दूसरे को आश्रव मे प्रवृत्त करने वाला या दूसरे से आरम्भ कराने वाला।

तदुभयारम्भी (उभयारभी)—जो आत्मारम्भ और परारम्भ दोनो करता है।

अनारम्भी—जो आत्मारम्भ, परारम्भ और उभयारम्भ से रहित हो, या उपयोगपूर्वक प्रतिलेखना आदि प्रवृत्ति करने वाला सयत।

शुभयोग—उपयोगपूर्वक—सावधानतापूर्वक योगो की प्रवृत्ति।

लेश्या—कृष्ण आदि द्रव्यो के सम्बन्ध से आत्मा मे उत्पन्न होने वाले परिणाम।[1]

सयत-असयत—जो जीव सव प्रकार की बाह्याभ्यन्तर ग्रन्थि से तथा विषय-कषाय से निवृत्त हो चुके है, वे सयत और जो इनसे अनिवृत्त है तथा आरम्भ मे प्रवृत्त है, वे असयत कहलाते है।[2]

भव की अपेक्षा से ज्ञानादिक की प्ररूपणा

१० [१] इहभविए भंते ! नाणे ? परभविए नाणे ? तदुभयभविए नाणे ?

गोयमा ! इहभविए वि नाणे, परभविए वि नाणे, तदुभयभविए वि नाणे।

[१०-१ प्र] हे भगवन् ! क्या ज्ञान इहभविक है ? परभविक है ? या तदुभयभविक है ?

[१०-१ उ] गौतम ! ज्ञान इहभविक भी है, परभविक भी है, और तदुभयभविक भी है।

[२] दसण पि एवमेव।

[१०-२] इसी तरह दर्शन भी जान लेना चाहिए।

[३] इहभविए भंते ! चरित्ते ? परभविए चरित्ते ? तदुभयभविए चरित्ते ?

गोयमा ! इहभविए चरित्ते, नो परभविए चरित्ते, नो तदुभयभविए चरित्ते।

[१०-३ प्र] हे भगवन् ! क्या चारित्र इहभविक है, परभविक है या तदुभयभविक है ?

[१०-३ उ] गौतम ! चारित्र इहभविक है, वह परभविक नही है और न तदुभयभविक है।

[४] एव तवे, सजमे।

[१०-४] इसी प्रकार तप और सयम के विषय मे भी जान लेना चाहिए।

विवेचन—भव की अपेक्षा ज्ञानादिसम्बन्धी प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत सूत्र मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और सयम के इहभव, परभव और उभयभव मे अस्तित्व के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर अकित है। ज्ञान और दर्शन दोनो यहाँ वहाँ सर्वत्र रहते है, किन्तु चारित्र, तप और सयम इस जीवन तक ही रहते हैं। ये परलोक मे साथ नही रहते, क्योकि चारित्र, तप, सयम आदि की जो जीवनपर्यन्त प्रतिज्ञा ली जाती है, वह इस जीवन के समाप्त होने पर पूर्ण हो जाती है, मोक्ष मे चारित्र का कुछ भी प्रयोजन नही है।[3] देवगति प्राप्त होने पर वहाँ सयम आदि सम्भव नही है।

---

१ कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्परिणामो य आत्मन ।
स्फटिकस्येव तत्राऽयं लेश्याशब्द प्रयुज्यते ॥

२ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ३१ से ३३ तक

३ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ३३

उभयभविक का समावेश परभविक मे ही हो जाता है, तथापि उसे पृथक् कहने का आशय यह है कि ज्ञान और दर्शन परतरभविक अर्थात् अगले भव से भी अगले भव मे साथ जा सकते है ।

असंवुड-संवुड विषयक सिद्धता की चर्चा

११ [१] असवुडे ण भते ! अणगारे किं सिज्झति ? बुज्झति ? मुच्चति ? परिनिव्वाति ? सव्वदुक्खाणमत करेति ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे ।

से केणट्ठेण जाव नो अत करेइ ?

गोयमा ! असवुडे अणगारे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ सिढिलबधणबद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ पकरेति, हस्सकालट्ठितीयाओ दीहकालट्ठितीयाओ पकरेति, मदाणुभागाओ तिव्वाणुभागाओ पकरेति, अप्पपदेसग्गाओ बहुप्पदेसग्गाओ पकरेति, आउग च ण कम्म सिय बधति, सिय नो बधति, अस्सातावेदणिज्ज च णं कम्म भुज्जो-भुज्जो उवचिणाति, अणादीय च ण अणवदग्ग दीहमद्ध चाउरत ससारकतार अणुपरियट्टइ । से तेणट्ठेण गोयमा ! असवुडे अणगारे नो सिज्झति ५[१] ।

[११-१ प्र] भगवन् असवृत अनगार क्या सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, निर्वाण प्राप्त करता है तथा समस्त दु खो का अन्त करता है ?

[११-१ उ] हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ (शक्य या ठीक) नही है ।

(प्र) भगवन् ! वह किस कारण से सिद्ध नही होता, यावत् सव दु खो का अन्त नही करता ?

(उ) गौतम ! असवृत अनगार आयुकर्म को छोडकर शेप शिथिलबन्धन से बद्ध सात कर्मप्रकृतियो को गाढबन्धन से बद्ध करता है, अल्पकालीन स्थिति वाली कर्म-प्रकृतियो को दीर्घकालिक स्थिति वाली करता है, मन्द अनुभाग वाली प्रकृतियो को तीव्र अनुभाग वाली करता है, अल्पप्रदेश वाली प्रकृतियो को बहुत प्रदेश वाली करता है और आयुकर्म को कदाचित् वाधता है, एव कदाचित् नही बाधता, असातावेदनीय कर्म का बार-बार उपार्जन करता है, तथा अनादि अनवदग्र-अनन्त दीर्घमार्ग वाले चतुर्गतिवाले ससाररूपी अरण्य मे बार-बार पर्यटन—परिभ्रमण करता है, हे गौतम ! इस कारण से असवृत अनगार सिद्ध नही होता, यावत् समस्त दु खो का अन्त नही करता ।

[२] सवुडे ण भते ! अणगारे सिज्झति ५ ? हता, सिज्झति जाव[२] अत करेति । से केणट्ठेण ?

गोयमा ! सवुडे अणगारे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ धणियबधणबद्धाओ सिढिलबधणबद्धाओ पकरेति, दीहकालट्ठितीयाओ हस्सकालट्ठितीयाओ पकरेति, तिव्वाणुभागाओ मदाणुभागाओ पकरेति, बहुपएसग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेति, आउय च ण कम्म न बधति, अस्सायावेयणिज्जं च णं कम्म नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाति, अणाईयं च णं अणवदग्ग दीहमद्ध चाउरंत ससारकतारं वीतीवयति । से तेणट्ठेण गोयमा ! एव वुच्चइ—सवुडे अणगारे सिज्झति जाव अत करेति ।

---

१ जहाँ ५ का अक है—वह 'नो सिज्झति' नो बुज्झति आदि पाचो पदो की योजना करनी चाहिए ।

२ 'जाव' पद से बुज्झन्ते से 'सव्वदुक्खाणमत करेति' तक का पाठ समझ लेना चाहिए ।

[११-२ प्र] भगवन् ! क्या सवृत अनगार सिद्ध होता है, यावत् सब दु खो का अन्त करता है ?

[११-२ उ] हाँ, गौतम ! वह सिद्ध हो जाता है, यावत् सब दु खो अन्त का करता है।

(प्र) भगवन् ! वह किस कारण से सिद्ध हो जाता है, यावत् सब दु खो का अन्त कर देता है ?

(उ) गौतम ! सवृत अनगार आयुष्यकर्म को छोडकर शेष गाढबन्धन से बद्ध सात कर्मप्रकृतियो को शिथिलबन्धनबद्ध कर देता है, दीर्घकालिक स्थिति वाली कर्मप्रकृतियो को ह्रस्व (थोडे) काल की स्थिति वाली कर देता है, तीव्ररस (अनुभाव) वाली प्रकृतियो को मन्द रस वाली कर देता है, बहुत प्रदेश वाली प्रकृतियो को अल्पप्रदेश वाली कर देता है, और आयुष्य कर्म को नही बाधता। वह असातावेदनीय कर्म का बार-बार उपचय नही करता, (अतएव वह) अनादि-अनन्त दीर्घमार्ग वाले चातुर्गतिकरूप ससार-अरण्य का उल्लघन कर जाता है। इस कारण से, हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सवृत अनगार सिद्ध हो जाता है, यावत् सब दु खो का अन्त कर देता है।

विवेचन—असवृत और संवृत अनगार के सिद्ध होने आदि से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत सूत्र मे क्रमश असवृत और सवृत अनगार के सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत और सर्वदु खान्तकर होने तथा न होने के सम्बन्ध मे युक्तिसहित विचार प्रस्तुत किया गया है।

असवृत—जिस साधु ने अनगार होकर भी हिंसादि आश्रवद्वारो को रोका नही है।

सवृत—आश्रवद्वारो का निरोध करके सवर की साधना करने वाला मुनि सवृत अनगार है। ये छठे गुणस्थान (प्रमत्तसयत) से लेकर चौदहवे गुणस्थानवर्ती तक होते है। सवृत अनगार दो प्रकार के होते है—चरमशरीरी और अचरमशरीरी। जिन्हे दूसरा शरीर धारण नही करना पडेगा, वे एकभवावतारी चरमशरीरी और जिन्हे दूसरा शरीर (सात-आठ भव तक) धारण करना पडेगा, वे अचरमशरीरी होते है। प्रस्तुत सूत्र चरमशरीरी की अपेक्षा से है। परम्परारूप से अचरमशरीरी की अपेक्षा से भी है।

दोनो मे अन्तर—यद्यपि परम्परा से तो शुक्लपाक्षिक भी मोक्ष प्राप्त करेगे ही, फिर भी सवृत और असवृत अनगार का जो भेद किया गया है, उसका रहस्य यह है कि अचरमशरीरी सवृत अनगार उसी भव मे मोक्ष भले न जाएँ मगर वे ७-८ भवो मे अवश्य मोक्ष जाएँगे ही। इस प्रकार उनकी परम्परा की सीमा ७-८ भवो को ही है। अपार्धपुद्गलपरावर्त्तन की जो परम्परा अन्यत्र कही गई है, वह विराधक की अपेक्षा से समझना चाहिए। अविराधक अचरमशरीरी सवृत अनगार अवश्य सात-आठ भवो मे मोक्ष पाता है, भले ही उसकी चारित्राराधना जघन्य ही क्यो न हो।

'सिज्झइ' आदि पाच पदो का अर्थ और क्रम—चरम भव—अन्तिम जन्म प्राप्त करके जो मोक्षगमनयोग्य होता है, वही सिद्ध (सिद्धिप्राप्त) होता है, चरमशरीरी मानव को भावी नय की अपेक्षा से सिद्ध कह सकते है, बुद्ध नही। बुद्ध तभी कहेगे जब केवलज्ञानप्राप्त होगा। जो बुद्ध हो जाता है, उसके केवल भवोपग्राही अघातिकर्म शेप रहते हैं, भवोपग्राही कर्म को जब वह प्रतिक्षण छोडता है, तब मुक्त कहलाता है। भवोपग्राही कर्मो को प्रतिक्षण क्षीण करने वाला वह महापुरुष

कर्मपुद्गलो को ज्यो-ज्यो क्षीण करता जाता है, त्यो-त्यो शीतल होता जाता है, इस प्रकार की शीतलता-शाति प्राप्त करना ही निर्वाणप्राप्त करना है। वही जीव अपने भव के अन्तमसमय मे जब समस्त कर्मो का सर्वथा क्षय कर चुकता है, तब अपने समस्त दु खो का अन्त करता है।

असवृत अनगार चारो प्रकार के बन्धो का परिवर्धक—कर्मबन्ध के चार प्रकार है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। इनमे से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योग से होते हैं, तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषाय से होते है। असवृत अनगार के योग अशुभ होते है, और कषाय तीव्र। इस कारण वह चारो ही बन्धो मे वृद्धि करता है।

अणाइय के सस्कृत मे चार रूपान्तर वृत्तिकार ने करके उनके पृथक्-पृथक् अर्थ सूचित किये है—(१) **अनादिक** (जिसकी आदि न हो), (२) **अज्ञातिक** (जिसका कोई स्व-जन न हो), (३) **ऋणातीत** (ऋण से होने वाले दु ख को भी मात करने वाले दु ख को देने वाला) और (४) **अणातीत** (अतिशय पाप को प्राप्त)।

अणवदग्ग के सस्कृत मे तीन रूपान्तर करके वृत्तिकार ने उसके अनेक अर्थ सूचित किये है—(१) **अनवदग्रम्**—(अवदग्र अन्त से रहित=अनन्त), (२) **अनवनताग्रम्**—जिसका अग्र=अन्त, अवनत यानी आसन्न (निकट) न हो, और (३) **अनवगताग्रम्** जिसका अग्र=परिमाण, अनवगत हो—पता न चले।

दीहमद्ध—अद्ध के दो रूप—अध्व और अद्ध, अर्थ हुए 'जिसका अध्व (मार्ग) या अद्धा=काल दीर्घ—लम्बा हो।[1]

असयत जीव की देवगति विषयक चर्चा

१२ [१] जीवे ण भते ! असजते अविरते अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे इतो चुए पेच्चा देवे सिया ?

गोयमा ! अत्थेगइए देवे सिया, अत्थेगइए नो देवे सिया।

से केणट्ठे ण जाव इतो चुए पेच्चा अत्थेगइए देवे सिया, अत्थेगइए नो देवे सिया ?

गोयमा ! जे इमे जीवा गामाऽऽगर-नगर-निगम-रायहाणि-खेड-कब्बड-मडब-दोणमुह-पट्टणाऽऽसम-सन्निवेसेसु अकामतण्हाए अकामछुहाए अकामबभचेरवासेण अकामअण्हाणगसेय-जल्ल-मल-पकपरिदाहेण अप्पतरो वा भुज्जतरो वा काल अप्पाण परिकिलेसति, अप्पाण परिकिलेसइत्ता कालमासे काल किच्चा अन्नतरेसु वाणमतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवति।

[१२-१ प्र] भगवन् ! असयत, अविरत, तथा जिसने पापकर्म का हनन एव त्याग नही किया है, वह जीव इस लोक से च्यव (मर) कर क्या परलोक मे देव होता है ?

[१२-१ उ] गौतम ! कोई जीव देव होता है और कोई जीव देव नही होता।

[प्र] भगवन् ! यहाँ से च्यव कर परलोक मे कोई जीव देव होता है, और कोई जीव देव नही होता, इसका क्या कारण है ?

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ३४-३५

[उ] गौतम ! जो ये जीव ग्राम, आकर (खान), नगर, निगम (व्यापारिक केन्द्र), राजधानी, खेट (खेडा), कर्बट (खराब नगर), मडम्ब (चारो ओर ढाई-ढाई कोस तक वस्ती से रहित वस्ती), द्रोणमुख (बन्दरगाह जलपथ-स्थलपथ से युक्त वस्ती), पट्टण (पत्तन—मण्डी, जहाँ देश-देशान्तर से आया हुआ माल उतरता है), आश्रम (तापस आदि का स्थान), सन्निवेश (घोष आदि लोगो का आवासस्थान) आदि स्थानो मे अकाम तृषा (प्यासा) से, अकाम क्षुधा से, अकाम ब्रह्मचर्य से, अकाम शीत, आतप, तथा डास-मच्छरो के काटने के दु ख को सहने से अकाम अस्नान, पसीना, जल्ल (धूल लिपट जाना), मैल तथा पक से होने वाले परिदाह से, थोडे समय तक या वहुत सम यतक अपने आत्मा (आप) को क्लेशित करते है, वे अपने आत्मा (आप) को (पूर्वोक्त प्रकार से) क्लेशित करके मृत्यु के समय पर मर कर वाणव्यन्तर देवो के किसी देवलोक मे देवरूप से उत्पन्न होते है ।

वाणव्यन्तर देवलोक—स्वरूप

[२] केरिसा ण भते ! तेंसि वाणमतराण देवाण देवलोगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! से जहानामए इह असोगवणे इ वा, सत्तवण्णवणे इ वा, चपगवणे इ वा, चूतवणे इ वा, तिलगवणे इ वा, लउयवणे ति वा, णिग्गोहवणे इ वा, छत्तोववणे इ वा, असणवणे इ वा, सणवणे इ वा, अयसिवणे इ वा, कुसु भवणे इ वा, सिद्धत्थवणे इ वा, बधुजीवगवणे इ वा णिच्च कुसुमित माइत लवइत थवइय गुलुइत गुच्छित जमलित जुवलित विणमित पणमित सुविभत्त पिंडिमजरिवडेंसगधरे सिरीए अईव अईव उवसोभेमाणे उवसोभेमाणे चिट्ठति, एवामेव तेंसि वाणमतराणं देवाण देवलोगा जहन्नेण दसवाससहस्सट्ठितीएहिं उक्कोसेण पलिओवमट्ठितीएहिं बहूहिं वाणमंतरेहिं देवेहिं य देवीहिं य आइण्णा वितिकिण्णा उवत्थडा सथडा फुडा अवगाढगाढा सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणा चिट्ठ ति । एरिसगा ण गोतमा ! तेंसि वाणमतराणं देवाण देवलोगा पण्णत्ता । से तेणट्ठे ण गोतमा ! एवं वुच्चति—जीवे ण अस्सजए जाव देवे सिया ।

[१२-२ प्र] भगवन् उन वाणव्यन्तर देवो के देवलोक किस प्रकार के कहे गए है ?

[१२-२ उ] गौतम ! जैसे इस मनुष्यलोक मे नित्य कुसुमित (सदा फूला हुआ), मयूरित (मौर—पुष्पविशेष वाला), लवकित (कौपलो वाला), फूलो के गुच्छो वाला, लतासमूह वाला, पत्तो के गुच्छो वाला, यमल (समान श्रेणी के) वृक्षो वाला, युगलवृक्षो वाला, फल-फूल के भार से नमा हुआ, फल-फूल के भार से झुकने की प्रारम्भिक अवस्था वाला, विभिन्न प्रकार की वालो और मजरियो रूपी मुकुटो को धारण करने वाला अशोकवन, सप्तवर्ण वन, चम्पकवन, आम्रवन, तिलकवृक्षो का वन, तूम्बे की लताओ का वन, वटवृक्षो का वन, छत्रौघवन, अशनवृक्षो का वन, सन (पटसन) वृक्षो का वन, अलसी के पौधो का वन, कुसुम्बवृक्षो का वन, सफेद सरसो का वन, दुपहरिया (वन्धुजीवक) वृक्षो का वन, इत्यादि वन शोभा से अतीव-अतीव उपशोभित होता है, इसी प्रकार वाणव्यन्तर देवो के देवलोक जघन्य दस हजार वर्ष की तथा उत्कृष्ट एक पल्योपम की स्थिति वाले एव वहुत-से वाणव्यन्तरदेवो से और उनकी देवियो से आकीर्ण—व्याप्त, व्याकीर्ण—विशेष व्याप्त, एक दूसरे पर आच्छादित, परस्पर मिले हुए, स्फुट प्रकाश वाले, अत्यन्त अवगाढ श्री—शोभा से अतीव-अतीव सुशोभित रहते है । हे गौतम ! उन वाणव्यन्तर देवो के स्थान—देवलोक इसी प्रकार

के कहे गए है। इस कारण से ऐसा कहा जाता है कि असयत जीव मर कर यावत् कोई देव होता है और कोई देव नही होता।

विवेचन—असयत जीवो की गति एव वाणव्यन्तर देवलोक—प्रस्तुत सूत्र मे असयत जीवो को प्राप्त होने वाली देवगति तथा देवलोको मे भी वाणव्यन्तर देवो मे जन्म और उसका कारण एव वाणव्यन्तरदेवो के आवासस्थानो का विस्तृत वर्णन किया गया है।

कठिन शब्दो की व्याख्या—असयत—असाधु या सयमरहित

अविरत—प्राणातिपात आदि पापो से विरतिरूप व्रतरहित अथवा तप आदि के विषय मे जो विशेष रत नही है। **अप्रतिहत-प्रत्याख्यातपापकर्मा**—(१) जिसने-भूतकालीन पापो को निन्दा गर्हा आदि के द्वारा नष्ट (निराकृत) नही किया है, तथा जिसने भविष्यकालीन पापो का प्रत्याख्यान—त्याग नही किया है। (२) अथवा जिसने मरणकाल से पूर्व तप आदि के द्वारा पापकर्म का नाश न किया हो, मरणकाल आ जाने पर भी आश्रवनिरोध करके पापकर्म का प्रत्याख्यान न किया हो, (३) अथवा जिसने सम्यग्दर्शन अगीकार करके पूर्वपापकर्म नष्ट नही किये, और सर्वविरति आदि अगीकार करके ज्ञानावरणीयादि अशुभकर्मो का निरोध न किया हो।

अकाम—शब्द यहाँ इच्छा के अभाव का द्योतक है। कर्मनिर्जरा की अभिलाषा के विना जो कष्टसहन आदि किया जाय, उससे होने वाली निर्जरा अकामनिर्जरा है। अर्थात् विना स्वेच्छा या विना उद्देश्य के भूख, प्यास आदि कष्ट सहना—अकामनिर्जरा है। मोक्षप्राप्ति की कामना—स्वेच्छा या उद्देश्य से ज्ञानपूर्वक जो निर्जरा की जाती है, वह सकामनिर्जरा कहलाती है।

दोनो के देवलोक मे अन्तर—कई ज्ञानी सकाम निर्जरावाले भी देवलोक मे जाते है और मिथ्यात्वी अकामनिर्जरा वाले भी, फिर भी दोनो के देवलोकगमन मे अन्तर यह है कि अकामनिर्जरा वाले वाणव्यन्तरादि देव होते हैं, जबकि सकामनिर्जरा वाले साधक वैमानिक देवो की उत्तम से उत्तम स्थिति प्राप्त करके मोक्ष की भी आराधना कर सकते है।

वाणव्यन्तर शब्द का अर्थ—वनविशेष मे उत्पन्न होने अर्थात् वसने और वही क्रीडा करने वाले देव।[1]

सेव भते ! सेव भते ! त्ति भगव गोतमे समण भगव महावीर वदति नमसति वदित्ता नमसित्ता सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे विहरति।

॥ पढमे सते पढमो उद्देसो ॥

हे भगवन् ! 'यह इसी प्रकार है', 'यह इसी प्रकार है', ऐसा कह कर भगवान् गौतम श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना करते है नमस्कार करते है, वन्दना-नमस्कार करके सयम तथा तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरण करते है।

विवेचन—गौतम स्वामी द्वारा प्रदर्शित वन्दन-बहुमान—प्रथम उद्देशक के उपसहार मे श्री गौतमस्वामी के द्वारा प्रश्न पूछने से पहले की तरह उत्तर-श्रवण के पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर के प्रति कृतज्ञताप्रकाश के रूप मे विनय एव बहुमान प्रदर्शित किया गया है, जो समस्त साधको के लिए अनुकरणीय है।

॥ प्रथम शतक प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ३६-३७

बितिओ उद्देसो : दुक्खे

द्वितीय उद्देशक : दुःख

उपक्रम—

१. रायगिहे नगरे समोसरण। परिसा निग्गता जाव एव वदासी—

१—राजगृह नगर मे (भगवान् का) समवसरण हुआ। परिषद् (उनके दर्शन-वन्दन-श्रवणार्थ) निकली। यावत् (श्री गौतमस्वामी विनयपूर्वक दोनो हाथ जोड कर पर्युपासना करते हुए) इस प्रकार बोले—

जीव के स्वकृत-दुःखवेदन सम्बन्धी चर्चा

२ जीवे णं भंते! सयकडं दुक्ख वेदेति ?

गोयमा! अत्थेगइय वेदेति, अत्थेगइय नो वेदेति।

से केणट्ठेणं भते! एव वुच्चइ—अत्थेगइय वेदेति, अत्थेगइयं नो वेदेति ?

गोयमा! उदिण्ण वेदेति, अणुदिण्ण नो वेदेति, से तेणट्ठेण एवं वुच्चति—अत्थेगइय वेदेति, अत्थेगइय नो वेदति। एव चउव्वीस दडएणं जाव[1] वेमाणिए।

[२-१ प्र] भगवन्! क्या जीव स्वयकृत दु ख (कर्म) को भोगता है ?

[२-१ उ] गौतम! किसी को भोगता है, किसी को नही भोगता।

[२-२ प्र] भगवन्! किस कारण से आप ऐसा कहते है—कि किसी को भोगता है और किसी को नही भोगता ?

[२-२ उ] गौतम! उदीर्ण (उदय मे आए) दु ख-दु खहेतुक कर्म को भोगता है, अनुदीर्ण दु ख-कर्म को नही भोगता, इसीलिए कहा गया है कि किसी कर्म को भोगता है और किसी कर्म को नही भोगता।

३ जीवा ण भते सयकडं दुक्ख वेदेंति ?

गोयमा! अत्थेगइयं वेदेंति, अत्थेगइयं णो वेदेंति। से केणट्ठेण ?

गोयमा! उदिण्ण वेदेंति, नो अणुदिण्ण वेदेंति, से तेणट्ठेण एवं जाव[2] वेमाणिया।

[३-१ प्र] भगवन्! क्या (बहुत-से) जीव स्वयकृत दु ख (दु खहेतुक कर्म) भोगते है ?

[३-१ उ] गौतम! किसी कर्म (दु ख) को भोगते हैं, किसी को नही भोगते।

[३-२ प्र] भगवन्! इसका क्या कारण है ?

१ 'जाव' पद से यहाँ नैरयिक से लेकर वैमानिक तक २४ दण्डक जानना चाहिए।

२ यहाँ 'जाव' पद मे दूसरे सूत्र मे उक्त 'तेणट्ठेण' से लेकर 'वेमाणिया' तक का पाठ समझना।

[३-२ उ] गौतम ! उदीर्ण (दु ख-कर्म) को भोगते है, अनुदीर्ण को नही भोगते इस कारण ऐसा कहा गया है कि किसी कर्म को भोगते है, किसी को नही भोगते । इसी प्रकार यावत् नैरयिक से लेकर वैमानिक तक चौबीस (सभी) दण्डको के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर समझ लेना चाहिए ।

आयु-वेदन सम्बन्धी चर्चा

४ जीवे ण भंते ! सयकड आउय वेदेति ?

गोयमा ! अत्थेगइयं वेदेति जहा दुक्खेण दो दडगा तहा आउएण वि दो दडगा एगत्त-पोहत्तिया, एगत्तेण जाव वेमाणिया, पुहत्तेण वि तहेव ।

[४ प्र] भगवन् ! क्या जीव स्वयकृत आयु को भोगता है ?

[४ उ] हे गौतम ! किसी को भोगता है, किसी को नही भोगता । जैसे दु ख-कर्म के विषय मे दो दण्डक कहे गए है, उसी प्रकार आयुष्य (-कर्म) के सम्बन्ध मे भी एकवचन और बहुवचन वाले दो दण्डक कहने चाहिए । एकवचन से यावत् वैमानिको तक कहना, इसी प्रकार बहुवचन से भी (वैमानिको तक) कहना चाहिए ।

विवेचन—स्वकृत दु ख एव आयु के वेदनसम्बन्धी प्रश्नोत्तर—द्वितीय उद्देशक के द्वितीय, तृतीय एव चतुर्थ सूत्रो मे स्वयकृत दु ख (कर्म) एव आयुष्य कर्म के वेदन के सम्बन्ध मे एकवचन और बहुवचन की अपेक्षा से महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर अकित है ।

स्वकर्तृक कर्म-फलभोग सिद्धान्त—श्री गौतमस्वामी ने जो ये प्रश्न उठाए है, इनके पीछे पाच भ्रान्त मान्यताओ का निराकरण गर्भित है । उस युग मे ऐसी मिथ्या मान्यताएँ प्रचलित थी कि (१) कर्म दूसरा करता है, फल दूसरा भोग सकता है, (२) ईश्वर या किसी शक्ति की कृपा हो तो स्वकृत दु खजनक अशुभ कर्म का फल भोगना नही पडता, (३) परमाधार्मिक नरकपाल आदि 'पर' के निमित्त से नारक आदि जीवो को दु ख मिलता है, (४) अथवा वस्त्रभोजनादि पर-वस्तुओ या अन्य व्यक्तियो से मनुष्य को दु ख या सुख मिलता है, और (५) दूसरे प्राणी से आयु ली जा सकती है और दूसरे को दी जा सकती है ।

अगर दूसरे के द्वारा किये हुए कर्म (मुख्यत असातावेदनीय और आयु) का फल यदि दूसरा भोगने लगे तो किये हुए कर्म बिना फल दिये हुए नष्ट हो जाएँगे और जो कर्म नही किये हुए है, वे गले पड जाएँगे । इससे लोकोत्तर व्यवहार जैसे गडबड मे पड जाएँगे, वैसे लौकिक व्यवहार भी गडबड मे पड जाएँगे । जैसे—यज्ञदत्त के भोजन करने, निद्रा लेने, औपधसेवन करने आदि कर्म से यज्ञदत्त की क्षुधा, निद्रा और व्याधि का क्रमश निवारण हो जाएगा, परन्तु ऐसा होना असम्भव है । परवस्तु या परव्यक्ति तो सुख या दु ख मे मात्र निमित्त बन सकता है, किन्तु वह कर्मकर्ता के बदले मे सुख या दु ख नही भोग सकता और न ही सुख या दु ख दे सकता है, प्राणी स्वय ही स्वकृतकर्म के फलस्वरूप सुख या दु ख भोगता है । आयुष्यकर्म का फल भी एक के बदले दूसरा नही भोग सकता । इसलिए स्वकर्तृक कर्मफल का स्वय वेदनरूप सिद्धान्त अकाट्य है ।[1] हाँ, जिस साता-असातावेदनीय आदि या आयुष्यकर्म का फल कदाचित् वर्तमान मे नही

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ३८ ।

बितिओ उद्देसो: दुक्खे

द्वितीय उद्देशक : दुःख

उपक्रम—

१. रायगिहे नगरे समोसरण। परिसा निग्गता जाव एव वदासी—

१—राजगृह नगर मे (भगवान् का) समवसरण हुआ। परिषद् (उनके दर्शन-वन्दन-श्रवणार्थ) निकली। यावत् (श्री गौतमस्वामी विनयपूर्वक दोनो हाथ जोड कर पर्युपासना करते हुए) इस प्रकार बोले—

जीव के स्वकृत-दुःखवेदन सम्बन्धी चर्चा

२ जीवे ण भंते ! सयकड दुक्ख वेदेति ?

गोयमा ! अत्थेगइयं वेदेति, अत्थेगइयं नो वेदेति।

से केणट्ठेणं भते ! एव वुच्चइ—अत्थेगइय वेदेति, अत्थेगइय नो वेदेति ?

गोयमा ! उदिण्ण वेदेति, अणुदिण्ण नो वेदेति, से तेणट्ठेण एव वुच्चति—अत्थेगइय वेदेति, अत्थेगइय नो वेदति। एव चउव्वीस दडएणं जाव[1] वेमाणिए।

[२-१ प्र] भगवन् ! क्या जीव स्वयकृत दु ख (कर्म) को भोगता है ?

[२-१ उ] गौतम ! किसी को भोगता है, किसी को नही भोगता।

[२-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से आप ऐसा कहते है—कि किसी को भोगता है और किसी को नही भोगता ?

[२-२ उ] गौतम ! उदीर्ण (उदय मे आए) दु ख-दु खहेतुक कर्म को भोगता है, अनुदीर्ण दु ख-कर्म को नही भोगता, इसीलिए कहा गया है कि किसी कर्म को भोगता है और किसी कर्म को नही भोगता।

३ जीवा ण भते सयकडं दुक्ख वेदेंति ?

गोयमा ! अत्थेगइय वेदेंति, अत्थेगइयं णो वेदेंति। से केणट्ठेण ?

गोयमा ! उदिण्णं वेदेंति, नो अणुदिण्ण वेदेंति, से तेणट्ठेण एव जाव[2] वेमाणिया।

[३-१ प्र] भगवन् ! क्या (बहुत-से) जीव स्वयकृत दु ख (दु खहेतुक कर्म) भोगते है ?

[३-१ उ] गौतम ! किसी कर्म (दु ख) को भोगते है, किसी को नही भोगते।

[३-२ प्र] भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

१ 'जाव' पद से यहाँ नैरयिक से लेकर वैमानिक तक २४ दण्डक जानना चाहिए।

२ यहाँ 'जाव' पद से दूसरे सूत्र मे उक्त 'तेणट्ठेण' से लेकर 'वेमाणिया' तक का पाठ समझना।

[३-२ उ] गौतम ! उदीर्ण (दु ख-कर्म) को भोगते है, अनुदीर्ण को नही भोगते इस कारण ऐसा कहा गया है कि किसी कर्म को भोगते है, किसी को नही भोगते । इसी प्रकार यावत् नैरयिक से लेकर वैमानिक तक चौबीस (सभी) दण्डको के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर समझ लेना चाहिए ।

आयु-वेदन सम्बन्धी चर्चा

४ जीवे ण भंते ! सयकड आउय वेदेति ?

गोयमा ! अत्थेगइय वेदेति जहा दुक्खेण दो दडगा तहा आउएण वि दो दडगा एगत्त-पोहत्तिया, एगत्तेण जाव वेमाणिया, पुहत्तेण वि तहेव ।

[४ प्र] भगवन् ! क्या जीव स्वयकृत आयु को भोगता है ?

[४ उ] हे गौतम ! किसी को भोगता है, किसी को नही भोगता । जंसे दु ख-कर्म के विषय मे दो दण्डक कहे गए है, उसी प्रकार आयुष्य (-कर्म) के सम्बन्ध मे भी एकवचन और बहुवचन वाले दो दण्डक कहने चाहिए । एकवचन से यावत् वैमानिको तक कहना, इसी प्रकार बहुवचन से भी (वैमानिको तक) कहना चाहिए ।

विवेचन—स्वकृत दु ख एव आयु के वेदनसम्बन्धी प्रश्नोत्तर—द्वितीय उद्देशक के द्वितीय, तृतीय एव चतुर्थ सूत्रो मे स्वयकृत दु ख (कर्म) एव आयुष्य कर्म के वेदन के सम्बन्ध मे एकवचन और बहुवचन की अपेक्षा से महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर अकित है ।

स्वकर्तृक कर्म-फलभोग सिद्धान्त—श्री गौतमस्वामी ने जो ये प्रश्न उठाए है, इनके पीछे पाच भ्रान्त मान्यताओ का निराकरण गर्भित है । उस युग मे ऐसी मिथ्या मान्यताएँ प्रचलित थी कि (१) कर्म दूसरा करता है, फल दूसरा भोग सकता है, (२) ईश्वर या किसी शक्ति की कृपा हो तो स्वकृत दु खजनक अशुभ कर्म का फल भोगना नही पडता, (३) परमाधार्मिक नरकपाल आदि 'पर' के निमित्त से नारक आदि जीवो को दु ख मिलता है, (४) अथवा वस्त्रभोजनादि पर-वस्तुओ या अन्य व्यक्तियो से मनुष्य को दु ख या सुख मिलता है, और (५) दूसरे प्राणी से आयु ली जा सकती है और दूसरे को दी जा सकती है ।

अगर दूसरे के द्वारा किये हुए कर्म (मुख्यत असातावेदनीय और आयु) का फल यदि दूसरा भोगने लगे तो किये हुए कर्म बिना फल दिये हुए नष्ट हो जाएँगे और जो कर्म नही किये हुए है, वे गले पड जाएँगे । इससे लोकोत्तर व्यवहार जैसे गडबड मे पड जाएँगे, वैसे लौकिक व्यवहार भी गडबड मे पड जाएँगे । जैसे—यज्ञदत्त के भोजन करने, निद्रा लेने, औषधसेवन करने आदि कर्म से यज्ञदत्त की क्षुधा, निद्रा और व्याधि का क्रमश निवारण हो जाएगा, परन्तु ऐसा होना असम्भव है । परवस्तु या परव्यक्ति तो सुख या दु ख मे मात्र निमित्त बन सकता है, किन्तु वह कर्मकर्त्ता के बदले मे सुख या दु ख नही भोग सकता और न ही सुख या दु ख दे सकता है, प्राणी स्वय ही स्वकृतकर्म के फलस्वरूप सुख या दु ख भोगता है । आयुष्यकर्म का फल भी एक के बदले दूसरा नही भोग सकता । इसलिए स्वकर्तृक कर्मफल का स्वय वेदनरूप सिद्धान्त अकाट्य है ।[1] हाँ, जिस साता-असातावेदनीय आदि या आयुष्यकर्म का फल कदाचित् वर्तमान मे नही

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ३८ ।

दिखाई देता, उसका कारण यह है कि वर्तमान मे वे कर्म उदय मे नही आए हुए (अनुदय-अवस्था मे) है, जब वे उदयावस्था मे आते हैं, तभी फल देते हे। परन्तु स्वकृतकर्म का फल तो चौवीस ही दण्डक के जीवो को अनुभाग से अथवा प्रदेशोदय से भोगना पडता हे।

चौबीस दंडक मे समानत्व चर्चा [नैरयिक विषय]

५ [१] नेरइया ण भते ! सव्वे समाहारा, सव्वे समसरीरा, सव्वे समुस्सास-नीसासा ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेण भते ! एव वुच्चति—नेरइया नो सव्वे समाहारा, नो सव्वे समसरीरा, नो सव्वे समुस्सास-निस्सासा ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता। त जहा—महासरीरा य अप्पसरीरा य। तत्थ ण जे ते महासरीरा ते बहुतराए पोग्गले आहारेंति, बहुतराए पोग्गले परिणामेति, बहुतराए पोग्गले उस्ससति, बहुतराए पोग्गले नीससति, अभिक्खण आहारेंति, अभिक्खणं परिणामेति, अभिक्खण ऊससति, अभिक्खण निस्ससति। तत्थ ण जे ते अप्पसरीरा ते ण अप्पतराए पुग्गले आहारेंति, अप्पतराए पुग्गले परिणामेति, अप्पतराए पोग्गले उस्ससति, अप्पतराए पोग्गले नीससति, आहच्च आहारेंति, आहच्च परिणामेति, आहच्च उस्ससति, आहच्च नीससति। से तेणट्ठेण गोयमा ! एव वुच्चइ—नेरइया नो सव्वे समाहारा जाव नो सव्वे समुस्सास-निस्सासा।१।

[५-१ प्र] भगवन् ! क्या सभी नारक समान आहार वाले, समान शरीर वाले, तथा समान उच्छ्वास-नि श्वास वाले होते है ?

[५ १ उ] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य-सम्भव) नही है।

[प्र] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहते हैं कि सभी नारक जीव समान आहार वाले, समान शरीर वाले, तथा समान उच्छ्वास-नि श्वास वाले नही है ?

[उ] गौतम ! नैरयिक जीव दो प्रकार के कहे गए है, जैसे कि—महाशरीरी (महाकाय) और अल्पशरीरी (छोटे शरीर वाले)। इनमे जो बडे शरीर वाले है, वे बहुत पुद्गलो का आहार करते हैं, बहुत (आहृत) पुद्गलो का परिणमन करते हैं, बहुत पुद्गलो को उच्छ्वास रूप मे ग्रहण करते हैं और बहुत पुद्गलो को नि श्वासरूप से छोडते हैं तथा वे बार-बार आहार लेते है, बार-बार उसे परिणमाते है, तथा बारबार उच्छ्वास-नि श्वास लेते है। तथा जो छोटे शरीर वाले नारक है, वे थोडे पुद्गलो का आहार करते है, थोडे-से (आहृत) पुद्गलो का परिणमन करते है, और थोडे पुद्गलो को उच्छ्वास रूप से ग्रहण करते है, तथा थोडे-से पुद्गलो को नि श्वास-रूप से छोडते हैं। वे कदाचित् आहार करते है, कदाचित् उसे परिणमाते है और कदाचित् उच्छ्वास तथा नि श्वास लेते हैं। इसलिए हे गौतम ! इस हेतु से ऐसा कहा जाता है कि सभी नारक जीव समान आहार वाले, समान शरीर वाले और समान उच्छ्वास-नि श्वास वाले नही हैं।

[२] नेरइया ण भते ! सव्वे समकम्मा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता । त जहा—पुव्वोववन्नगा य पच्छोववन्नगा य । तत्थ ण जे ते पुव्वोववन्नगा ते ण अप्पकम्मतरागा । तत्थ ण जे ते पच्छोववन्नगा ते ण महाकम्मतरागा । से तेणट्ठेण गोयमा ! ० ॥२॥

[५-२ प्र] भगवन् ! क्या सभी नारक समान कर्म वाले है ?

[५-२ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है ।

[प्र] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहते है ?

[उ] गौतम ! नारकी जीव दो प्रकार के कहे गए है, वह इस प्रकार है—पूर्वोपपन्नक (पहले उत्पन्न हुए) और पश्चादुपपन्नक (पीछे उत्पन्न हुए) । इनमे से जो पूर्वोपपन्नक है वे अल्पकर्म वाले है और जो उनमे पश्चादुपपन्नक है, वे महाकर्म वाले है, इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सभी नारक समान कर्म वाले नही है ।

[३] नेरइया ण भते ! सव्वे समवण्णा ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेण तह चेव ?

गोयमा ! जे ते पुव्वोववन्नगा ते ण विसुद्धवण्णतरागा तहेव से तेणट्ठेण ० ॥३॥

[५-३ प्र] भगवन् ! क्या सभी नारक समवर्ण वाले है ?

[५-३ उ] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ नही है ।

[प्र] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[उ] गौतम ! पूर्वोक्त कथनवत् नारक दो प्रकार के है—पूर्वोपपन्नक और पश्चादुपपन्नक । इनमे जो पूर्वोपपन्नक है, वे विशुद्ध वर्ण वाले है, तथा जो पश्चादुपपन्नक है, वे अविशुद्ध वर्ण वाले है, इसीलिए हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है ।

[४] नेरइया ण भते ! सव्वे समलेसा ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेण जाव नो सव्वे समलेसा ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता । त जहा—पुव्वोववन्नगा य पच्छोववन्नगा य । तत्थ ण जे ते पुव्वोववन्नगा ते ण विसुद्धलेसतरागा, तत्थ ण जे ते पच्छोववन्नगा ते ण अविसुद्धलेसतरागा । से तेणट्ठेण ० ॥४॥

[५-४ प्र] भगवन् ! क्या सब नैरयिक समानलेश्या वाले है ?

[५-४ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है ।

[प्र] भगवन् ! किस कारण से कहा जाता है कि सभी नैरयिक समान लेश्या वाले नही है ?

[उ] गौतम ! नैरयिक दो प्रकार के कहे गये है, जैसे कि—पूर्वोपपन्नक और पश्चादुपपन्नक । इनमे जो पूर्वोपपन्नक है, वे विशुद्ध लेश्या वाले और जो इनमे पश्चादुपपन्नक है, वे अविशुद्ध लेश्या वाले है, इस कारण हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सभी नारक समानलेश्या वाले नही हैं ।

[५] नेरइया ण भंते ! सव्वे समवेदणा ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेण ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता । त जहा—सण्णिभूया य असण्णिभूया य । तत्थ ण जे ते सण्णिभूया ते ण महावेयणा, तत्थ ण जे ते असण्णिभूया ते ण अप्पवेयणतरागा । से तेणट्ठेण गोयमा ! ० ॥५॥

[५-५ प्र] भगवन् ! क्या सब नारक समान वेदना वाले है ?

[५-५ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है ।

[प्र] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[उ] गौतम ! नैरयिक दो प्रकार के कहे गए है, यथा—सज्ञिभूत और असज्ञिभूत । इनमे जो सज्ञिभूत है, वे महावेदना वाले है और जो इनमे असज्ञिभूत है, वे (अपेक्षाकृत) अल्पवेदना वाले है । इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सब नारक समान वेदना वाले नही है ।

[६] नेरइया ण भंते ! सव्वे समकिरिया ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेण ?

गोयमा ! नेरइया तिविहा पण्णत्ता । त जहा—सम्मद्दिट्ठी मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छद्दिट्ठी । तत्थ ण जे ते सम्मादिट्ठी तेसि ण चत्तारि किरियाओ पण्णत्ताओ, त जहा—आरंभिया १, पारिग्गहिया २, मायावत्तिया ३, अपच्चक्खाणकिरिया ४ । तत्थ ण जे ते मिच्छादिट्ठी तेसि ण पच किरियाओ कज्जति, त जहा—आरंभिया जाव मिच्छादसणवत्तिया । एव सम्मामिच्छादिट्ठीण पि । से तेणट्ठेणं गोयमा ! ० ॥६॥

[५-६ प्र] हे भगवन् ! क्या सभी नैरयिक समानक्रिया वाले है ?

[५-६ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है ।

[प्र] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[उ] गौतम ! नारक तीन प्रकार के कहे गए है यथा—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्-मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) । इनमे जो सम्यग्दृष्टि है, उनके चार क्रियाएँ कही गई है, जैसे कि—आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया और अप्रत्याख्यानक्रिया । इनमे जो मिथ्यादृष्टि है, उनके पाच क्रियाएँ कही गई है, वे इस प्रकार—आरम्भिकी से लेकर मिथ्यादर्शनप्रत्यया तक । इसी प्रकार सम्यग्मिथ्यादृष्टि के भी पाचो क्रियाएँ समझनी चाहिए । इस कारण हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सब नारक समानक्रिया वाले नही है ।

[७] नेरइया ण भंते ! सव्वे समाउया ? सव्वे समोववन्नगा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेण ?

गोयमा ! नेरइया चउव्विहा पण्णत्ता त जहा—अत्थेगइया समाउया समोववन्नगा १, अत्थेगइया समाउया विसमोववन्नगा २, अत्थेगइया विसमाउया समोववन्नगा ३, अत्थेगइया विसमाउया विसमोववन्नगा ४ । से तेणट्ठेण गोयमा ! ० ॥७॥

[५-७ प्र] भगवन् ! क्या सभी नारक समान आयुष्य वाले हैं और समोपपन्नक—एक साथ उत्पन्न होने वाले हैं ?

[५-७ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है।

[प्र] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहते है ?

[उ] गौतम ! नारक जीव चार प्रकार के कहे गए हैं। वह इस प्रकार—(१) समायुष्क समोपपन्नक (समान आयु वाले और एक साथ उत्पन्न हुए), (२) समायुष्क विषमोपपन्नक (समान आयु वाले और पहले-पीछे उत्पन्न हुए), (३) विषमायुष्क समोपपन्नक (विपम आयु वाले, किन्तु एक साथ उत्पन्न हुए), और (४) विषमायुष्क-विषमोपपन्नक (विपम आयु वाले और पहले-पीछे उत्पन्न हुए)। इसी कारण हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सभी नारक समान आयु वाले और एक साथ उत्पन्न होने वाले नही हैं।

असुरकुमारादि समानत्व चर्चा

६ [१] असुरकुमारा ण भते ! सव्वे समाहारा ? सव्वे समसरीरा ? जहा नेरइया तहा भाणियव्वा। नवर कम्म-वण्ण-लेसाओ परिस्थल्लेयव्वाओ—पुव्वोववन्नगा महाकम्मतरागा, अविसुद्धवण्णतरागा, अविसुद्धलेसतरागा। पच्छोववन्नगा पसत्था। सेस तहेव।

[६-१ प्र] भगवन् ! क्या सब असुरकुमार समान आहार वाले और समान शरीर वाले है ? (इत्यादि सब प्रश्न पूर्ववत् करने चाहिए।)

[६-१ उ] गौतम ! असुरकुमारो के सम्वन्ध मे सब वर्णन नैरयिको के समान कहना चाहिए। विशेषता यह है कि—असुरकुमारो के कर्म, वर्ण और लेश्या नैरयिको से विपरीत कहना चाहिए, अर्थात्—पूर्वोपपन्नक (पूर्वोत्पन्न) असुरकुमार महाकर्म वाले, अविशुद्ध वर्ण वाले और अशुद्ध लेश्या वाले हैं, जबकि पश्चादुपपन्नक (वाद मे उत्पन्न होने वाले) प्रशस्त हैं। शेप सब पहले के समान जानना चाहिए।

[२] एव जाव थणियकुमारा।

[६-२] इसी प्रकार (नागकुमारो से लेकर) यावत् स्तनितकुमारो (तक) समझना चाहिए।

पृथ्वीकायादि समानत्व चर्चा

७ [१] पुढविक्काइयाण आहार-कम्म-वण्ण-लेसा जहा नेरइयाण।

[७-१] पृथ्वीकायिक जीवो का आहार, कर्म, वर्ण और लेश्या नैरयिको के समान समझना चाहिए।

[२] पुढविक्काइया णं भते ! सव्वे समवेदणा ?

हता, समवेयणा। से केणट्ठेण ?

गोयमा ! पुढविक्काइया सव्वे असण्णी असण्णिभूतं अणिदाए वेयण वेदेंति। से तेणट्ठेण।

[७-२ प्र] भगवन् ! क्या सब पृथ्वीकायिक जीव समान वेदना वाले है ?

[७-२ उ] हाँ गौतम ! वे समान वेदना वाले हैं।

[प्र] भगवन् ! आप ऐसा किस कारण से कहते हैं कि सभी पृथ्वीकायिक जीव समान वेदना वाले हैं ?

[उ] हे गौतम ! समस्त पृथ्वीकायिक जीव असंज्ञी हैं और असंज्ञीभूत जीव वेदना को अनिर्धारित रूप से (अनिदा से) वेदते हैं। इस कारण, हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सभी पृथ्वीकायिक समान वेदना वाले हैं।

[३] पुढविक्काइया णं भंते ! समकिरिया ?

हंता, समकिरिया। से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! पुढविक्काइया सव्वे माईमिच्छादिट्ठी, ताणं नेयतियाओ पंच किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया १ जाव मिच्छादंसणवत्तिया ५। से तेणट्ठेणं समकिरिया।

[७-३ प्र] भगवन् ! क्या सभी पृथ्वीकायिक जीव समान क्रिया वाले हैं ?

[७-३ उ] हाँ, गौतम ! वे सभी समान क्रिया वाले हैं।

[प्र] भगवन् ! आप ऐसा किस कारण से कहते हैं ?

[उ] गौतम ! सभी पृथ्वीकायिक जीव मायी और मिथ्यादृष्टि हैं। इसलिए उन्हें नियम से पांचों क्रियाएँ लगती हैं। वे पांच क्रियाएँ ये हैं—आरम्भिकी यावत् मिथ्यादर्शनप्रत्यया। इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सभी पृथ्वीकायिक जीव समानक्रिया वाले हैं।

[४] समाउया, समोववन्नगा जहा नेरइया तहा भाणियव्वा।

[७-४] जैसे नारक जीवों में समायुष्क और समोपपन्नक आदि चार भंग कहे गए हैं, वैसे ही पृथ्वीकायिक जीवों में भी कहने चाहिए।

८. जहा पुढविक्काइया तहा जाव चउरिंदिया।

[८-१] जिस प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों के आहारादि के सम्बन्ध में निरूपण किया गया है, उसी प्रकार अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तक के जीवों के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए।

९ [१] पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा नेरइया। नाणत्तं किरियासु—

[९-१] पचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीवों के आहारादि के सम्बन्ध में कथन भी नैरयिकों के समान समझना चाहिए, केवल क्रियाओं में भिन्नता है।

[२] पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णं भंते ! सव्वे समकिरिया ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया तिविहा पण्णत्ता। तं जहा—सम्मद्दिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी। तत्थ णं जे ते सम्मद्दिट्ठी ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—असंजता य, संजतासंजता य। तत्थ णं जे ते संजतासंजता तेसि णं तिन्नि किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरम्भिया १ पारिग्गहिया २ मायावत्तिया ३। असंजताणं चत्तारि। मिच्छादिट्ठीणं पंच। सम्मामिच्छादिट्ठीणं पंच।

[९-२ प्र] भगवन् ! क्या सभी पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीव समानक्रिया वाले हैं ?

[९-२ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

[प्र] भगवन्! किस कारण से आप ऐसा कहते है ?

[उ] गौतम! पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीव तीन प्रकार के कहे गये है, यथा—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि)। उनमे जो सम्यग्दृष्टि है, वे दो प्रकार के है, जैसे कि—असयत और सयतासयत। उनमे जो सयतासयत है, उन्हे तीन क्रियाएँ लगती है। वे इस प्रकार—आरम्भिकी, पारिग्रहिकी और मायाप्रत्यया। उनमे जो असयत है, उन्हे अप्रत्याख्यानी क्रियासहित चार क्रियाएँ लगती है। जो मिथ्यादृष्टि है तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टि है, उन्हे पाचो क्रियाएँ लगती हैं।

मनुष्य-देव विषयक समानत्वचर्चा—

१०. [१] मणुस्सा जहा नेरइया (सु ५)। नाणत्त—जे महासरीरा ते आहच्च आहारेंति। जे अप्पसरीरा ते अभिक्खणं आहारेंति ४। सेस जहा नेरइयाण जाव वेयणा।

[१०-१] मनुष्यो का आहारादिसम्बन्धित निरूपण नैरयिको के समान समझना चाहिए। उनमे अन्तर इतना ही है कि जो महाशरीर वाले है, वे बहुतर पुद्गलो का आहार करते है, और वे कभी-कभी आहार करते है, इसके विपरीत जो अल्पशरीर वाले है, वे अल्पतर पुद्गलो का आहार करते है, और बार-बार करते है। शेष वेदनापर्यन्त सब वर्णन नारको के समान समझना चाहिए।

[२] मणुस्सा ण भते! सव्वे समकिरिया ?

गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे।

से केणट्ठेण ?

गोयमा! मणुस्सा तिविहा पण्णत्ता। त जहा—सम्मद्दिट्ठी मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी। तत्थ ण जे ते सम्मद्दिट्ठी ते तिविहा पण्णत्ता, त जहा—सजता अस्सजता सजतासजता य। तत्थ ण जे ते सजता ते दुविहा पण्णत्ता, त जहा—सरागसजता य वीतरागसजता य। तत्थ ण जे ते वीतराग-सजता ते ण अकिरिया। तत्थ ण जे ते सरागसजता ते दुविहा पण्णत्ता, त जहा—पमत्तसंजता य अपमत्तसजता य। तत्थ ण जे ते अप्पमत्तसजता तेसि ण एगा मायावत्तिया किरिया कज्जति। तत्थ ण जे ते पमत्तसजता तेसि ण दो किरियाओ कज्जति, त०—आरम्भिया य १ मायावत्तिया य २। तत्थ ण जे ते सजतासजता तेसि ण आइल्लाओ तिन्नि किरियाओ कज्जति। अस्सजताण चत्तारि किरियाओ कज्जति—आर० ४। मिच्छादिट्ठीण पच। सम्मामिच्छादिट्ठीण पच ५।

[१०-२ प्र] "भगवन्! क्या सब मनुष्य समान क्रिया वाले है ?"

[१०-२ उ] "गौतम! यह अर्थ समर्थ नही है।

[प्र] भगवन्! यह आप किस कारण से कहते हैं ?

[उ] गौतम! मनुष्य तीन प्रकार के कहे गए है, वे इस प्रकार—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि। उनमे जो सम्यग्दृष्टि है, वे तीन प्रकार के कहे गए है, वे इस प्रकार—सयत, सयतासयत और असयत। उनमे जो सयत है, वे दो प्रकार के कहे गए हैं, यथा—सरागसयत और वीतरागसयत। उनमे जो वीतरागसयत है, वे क्रियारहित है, तथा जो इनमे सरागसयत है, वे भी

दो प्रकार के कहे गए है, वे इस प्रकार—प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत। उनमे जो अप्रमत्तसयत हैं, उन्हे एक मायाप्रत्यया क्रिया लगती है। उनमे जो प्रमत्तसयत हैं, उन्हे दो क्रियाएँ लगती है, वे इस प्रकार—आरम्भिकी और मायाप्रत्यया। तथा उनमे जो सयतासयत है, उन्हे आदि की तीन क्रियाएँ लगती है, वे इस प्रकार—आरम्भिकी, पारिग्रहिकी और मायाप्रत्यया। असयतो को चार क्रियाएँ लगती है,—आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया और अप्रत्याख्यानी क्रिया। मिथ्यादृष्टियो को पॉचो क्रियाएँ लगती है—आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया, अप्रत्याख्यानी क्रिया और मिथ्यादर्शनप्रत्यया। सम्यग्मिथ्यादृष्टियो (मिश्रदृष्टियो) को भी ये पाचो क्रियाएँ लगती है।

११ वाणमतर-जोतिस-वेमाणिया जहा असुरकुमारा (सु ६)। नवर वेयणाए नाणत्त—मायिमिच्छादिट्ठीउववन्नगा य अप्पवेदणतरा, अमायिसम्मद्दिट्ठीउववन्नगा य महावेयणतरागा भाणियव्वा जोतिस-वेमाणिया।

[११] वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक के आहारादि के सम्बन्ध मे सब वर्णन असुरकुमारो के समान समझना चाहिए। विशेषता यह कि इनकी वेदना मे भिन्नता है। ज्योतिष्क और वैमानिको मे जो मायी-मिथ्यादृष्टि के रूप मे उत्पन्न हुए हैं, वे अल्पवेदना वाले है, और जो अमायी सम्यग्दृष्टि के रूप मे उत्पन्न हुए है, वे महावेदनावाले होते है, ऐसा कहना चाहिए।

चौबीस दंडक मे लेश्या की अपेक्षा समाहारादि विचार—

१२ सलेसा ण भते ! नेरइया सव्वे समाहारगा ?

ओहियाण, सलेसाण, सुक्कलेसाण, एएसि ण तिण्हं एक्को गमो। कण्हलेस-नीललेसाण पि एक्को गमो, नवर वेदणाए—मायिमिच्छादिट्ठीउववन्नगा य, अमायिसम्मद्दिट्ठीउववण्णगा य भाणियव्वा। मणुस्सा किरियासु सराग-वीयराग—पमत्तापमत्ता ण भाणियव्वा। काउलेसाण वि एसेव गमो, नवर नेरइए जहा ओहिए दडए तहा भाणियव्वा। तेउलेसा पम्हलेसा जस्स अत्थि जहा ओहिओ दडओ तहा भाणियव्वा, नवर मणुस्सा सरागा वीयरागा य न भाणियव्वा। गाहा—

दुक्खाऽऽउए उदिण्णे, आहारे, कम्म-वण्ण-लेसा य।
समवेदण समकिरिया समाउए चेव बोद्धव्वा ॥१॥

[१२ प्र] भगवन् ! क्या लेश्या वाले समस्त नैरयिक समान आहार वाले होते है ?

[१२ उ] हे गौतम ! औघिक (सामान्य), सलेश्य, एव शुक्ललेश्या वाले इन तीनो का एक गम-पाठ कहना चाहिए। कृष्णलेश्या और नीललेश्या वालो का एक समान पाठ कहना चाहिए, किन्तु उनकी वेदना मे इस प्रकार भेद है—मायी-मिथ्यादृष्टि-उपपन्नक और अमायी-सम्यग्दृष्टि-उपपन्नक कहने चाहिए। तथा कृष्णलेश्या और नीललेश्या (के सन्दर्भ) मे मनुष्यो के सरागसयत, वीतरागसयत, प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत (भेद) नही कहना चाहिए। तथा कापोतलेश्या मे भी यही पाठ कहना चाहिए। भेद यह है कि कापोतलेश्या वाले नैरयिको को औघिक दण्डक के समान कहना चाहिए। तेजोलेश्या ओर पद्मलेश्या वालो को भी औघिक दण्डक के समान कहना चाहिए। विशेषता यह है कि इन मनुष्यो मे सराग और वीतराग का भेद नही कहना चाहिए, क्योकि तेजोलेश्या और पद्मलेश्या वाले मनुष्य सराग ही होते है।

गाथार्थ—दु ख (कर्म) और आयुष्य उदीर्ण हो तो वेदते हैं। आहार, कर्म, वर्ण, लेश्या, वेदना, क्रिया और आयुष्य, इन सबकी समानता के सम्बन्ध मे पहले कहे अनुसार ही समझना चाहिए।

१३ कति ण भंते ! लेसाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! छल्लेसाओ पण्णत्ताओ। त जहा—लेसाण बीओ उद्देसओ भाणियव्वो जाव इड्ढी।

[१३ प्र] 'भगवन् ! लेश्याएँ कितनी कही गई है ?

[१३ उ] गौतम ! लेश्याएँ छह कही गई हे, वे इस प्रकार है—कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल। यहाँ प्रज्ञापनासूत्र के लेश्यापद (१७ वाँ पद) का द्वितीय उद्देशक कहना चाहिए। वह ऋद्धि की वक्तव्यता तक कहना चाहिए।

विवेचन—नारक आदि चौबीस दण्डको के सम्बन्ध मे समाहारादि दशद्वार-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—पाँचवे सूत्र से ११वे सूत्र तक नारकी से लेकर वैमानिक तक चौबीस दण्डको के सम्बन्ध मे निम्नोक्त दस द्वार-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर अकित किये गए है—(१) सम-आहार (२) सम-शरीर, (३) सम-उच्छ्वास-नि श्वास, (४) समकर्म, (५) समवर्ण, (६) समलेश्या, (७) समवेदना, (८) समक्रिया, (९) समायुष्क, तथा (१०) समोपपन्नक।

छोटा-बडा शरीर आपेक्षिक—प्रस्तुत मे नैरयिको का छोटा और बडा शरीर अपेक्षा से है। छोटे की अपेक्षा कोई वस्तु बडी कहलाती है, और बडी की अपेक्षा छोटी कहलाती है। नारको का छोटे से छोटा शरीर अगुल के असख्यातवे भाग जितना है और बडे से बडा ५०० धनुष के बराबर है। ये दोनो प्रकार के शरीर भवधारणीय शरीर की अपेक्षा से कहे गए है। उत्तरवैक्रिय शरीर छोटे से छोटा अगुल के सख्यातवे भाग तक और बडा से बडा शरीर एक हजार धनुष का हो सकता है।

प्रथम प्रश्न आहार का, किन्तु उत्तर शरीर का इसलिए कहा गया है कि शरीर का परिमाण बताए बिना आहार, श्वासोच्छ्वास आदि की बात सरलतापूर्वक समझ मे नही आ सकती।

अल्प शरीर वाले से महाशरीर वाले का आहार अधिक यह कथन प्रायिक—प्रस्तुत कथन अधिकाश (बहुत) को दृष्टि मे रखकर कहा गया है। यद्यपि लोक मे यह देखा जाता है कि बडे शरीर वाला अधिक खाता है, और छोटे शरीर वाला कम, जैसे कि हाथी और खरगोश; तथापि कही-कही यह बात अवश्य देखी जाती है कि बडे शरीर वाला कम और छोटा शरीर वाला अधिक आहार करता है। यौगलिको का शरीर अन्य मनुष्यो की अपेक्षा बडा होता है, लेकिन उनका आहार कम होता है। दूसरे मनुष्यो का शरीर यौगलिको की अपेक्षा छोटा होता है, किन्तु उनका आहार अधिक होता है। ऐसा होने पर भी प्राय यह सत्य ही है कि बडे शरीर वाले का आहार अधिक होता है, कदाचित् नैरयिको मे भी आहार और शरीर का व्यतिक्रम कही पाया जाए तो भी बहुतो की अपेक्षा यह कथन होने से निर्दोष है।

बडे शरीर वाले की वेदना और श्वासोच्छ्वास-मात्रा अधिक—लोकव्यवहार मे भी देखा जाता है कि बडे को जितनी ताडना होती है, उतनी छोटे को नही। हाथी के पैर के नीचे और जीव तो प्राय दब कर मर जाते हैं, परन्तु चीटी प्राय बच जाती है। इसी प्रकार महाशरीर वाले नारको

को क्षुधा की वेदना तथा ताडना और क्षेत्र आदि से उत्पन्न पीडा भी अधिक होती है, इस कारण उन्हे श्वासोच्छ्वास भी अधिक लेना होता हे।

नारक अल्पकर्मी एव महाकर्मी—जो नारक पहले उत्पन्न हो चुके, उन्होने नरक का आयुष्य तथा अन्य कर्म बहुत-से भोग लिये है, अतएव उनके बहुत-से कर्मो की निर्जरा हो चुकी है, इस कारण वे अल्पकर्मी है। जो नारक बाद मे उत्पन्न हुए हे, उन्हे आयु और सात कर्म बहुत भोगने बाकी है, इसलिए वे महाकर्मी (बहुत कर्म वाले) है। यह सूत्र समान स्थिति वाले नैरयिको की अपेक्षा से समझना चाहिए। यही बात वर्ण और लेश्या (भावलेश्या) के सम्बन्ध मे समझनी चाहिए।

सज्ञिभूत-असज्ञिभूत—वृत्तिकार ने सज्ञिभूत के चार अर्थ बताए है—(१) सज्ञा का अर्थ है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्दर्शनी जीव को सज्ञी कहते है। जिस जीव को सज्ञीपन प्राप्त हुआ, उसे सज्ञिभूत (सम्यग्दृष्टि) कहते है। (२) अथवा सज्ञिभूत का अर्थ है—जो पहले असज्ञी (मिथ्यादृष्टि) था, और अब सज्ञी (सम्यग्दृष्टि) हो गया है, अर्थात्—जो नरक मे ही मिथ्यात्व को छोडकर सम्यग्दृष्टि हुआ है, वह सज्ञी सज्ञिभूत कहलाता है। असज्ञीभूत का अर्थ मिथ्यादृष्टि है। (३) एक आचार्य के मतानुसार सज्ञिभूत का अर्थ सज्ञी पचेन्द्रिय है। अर्थात्—जो जीव नरक मे जाने से पूर्व सज्ञी पचेन्द्रिय था, उसे सज्ञिभूत कहा जाता है। नरक मे जाने से पूर्व जो असज्ञी था, उसे यहाँ असज्ञिभूत कहते हैं। अथवा सज्ञिभूत का अर्थ पर्याप्त और असज्ञिभूत का अर्थ अपर्याप्त है। उक्त सभी अर्थो की दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि सज्ञिभूत को नरक मे तीव्र वेदना होती है और असज्ञिभूत को अल्प। सज्ञिभूत (सम्यग्दृष्टि) को नरक मे जाने पर पूर्वकृत अशुभ कर्मो का विचार करने से घोर पश्चात्ताप होता है—'अहो ! मै कैसे घोर सकट मे आ फसा ! अर्हन्त भगवान् के सर्वसकट-निवारक एव परमानन्ददायक धर्म का मैने आचरण नही किया, अत्यन्त दारुण परिणाम-रूप कामभोगो के जाल मे फँसा रहा, इसी कारण यह अचिन्तित आपदा आ पडी है। इस प्रकार की मानसिक वेदना के कारण वह महावेदना का अनुभव करता है। असज्ञिभूत—मिथ्यादृष्टि को स्वकृत कर्मफल के भोग का कोई ज्ञान या विचार तथा पश्चात्ताप नही होता, और न ही उसे मानसिक पीडा होती है। इस कारण असज्ञितभूत नैरयिक अल्पवेदना का अनुभव करता है। इसी प्रकार सज्ञिभूत यानी सज्ञी पचेन्द्रिय जीव मे तीव्र अशुभ परिणाम हो सकते है, फलत वह सातवी नरक तक जा सकता है। जो जीव आगे की नरको मे जाता है, उसे अधिक वेदना होती है। असज्ञिभूत (नरक मे जाने से पूर्व असज्ञी) जीव रत्नप्रभा के तीव्रवेदनारहित स्थानो मे उत्पन्न होता है, इसलिए उसे अल्पवेदना होती है। इसी प्रकार सज्ञीभूत अर्थात्—पर्याप्त को महावेदना और असज्ञीभूत अर्थात् अपर्याप्त को अल्पवेदना होती है।

क्रिया—यहाँ कर्मबन्धन के कारण अर्थ मे यह शब्द प्रयुक्त है। यद्यपि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाचो कर्मबन्धन के कारण है, तथापि आरम्भ और परिग्रह योग के अन्तर्गत होने से आरम्भिकी, पारिग्रहिकी क्रिया भी कर्मबन्धन का कारण बनती है।

आयु और उत्पत्ति की दृष्टि से नारको के ४ भग—(१) **समायुष्क समोपपन्नक**—उदाहरणार्थ—जिन जीवो ने १० हजार वर्ष की नरकायु बाँधी और वे एक साथ नरक मे उत्पन्न हुए, (२) **समायुष्क-विषमोपपन्नक**—जिन जीवो ने १० हजार वर्ष की नरकायु बाँधी, किन्तु उनमे से कोई

जीव नरक मे पहले उत्पन्न हुआ, कोई बाद मे। (३) **विषमायुष्क समोपपन्नक**—जिनकी आयु समान नही है, किन्तु नरक मे एक साथ उत्पन्न हुए हो, (४) **विषमायुष्क विषमोपपन्नक**—एक जीव ने १० हजार वर्ष की नरकायु बाँधी और दूसरे ने १ सागरोपम की, किन्तु वे दोनो नरक मे भिन्न-भिन्न समय मे उत्पन्न हुए हो।

असुरकुमारो का आहार मानसिक होता है। आहार ग्रहण करने का मन होते ही इष्ट, कान्त आदि आहार के पुद्गल आहार के रूप मे परिणत हो जाते है।

असुरकुमारो का आहार और श्वासोच्छ्वास—पूर्वसूत्र मे असुरकुमारो का आहार एक अहोरात्र के अन्तर से और श्वासोच्छ्वास सात स्तोक मे लेने का बताया गया था, किन्तु इस सूत्र मे बार-बार आहार और श्वासोच्छ्वास लेने का कथन है, यह पूर्वापरविरोध नही, अपितु सापेक्ष कथन है। जैसे एक असुरकुमार एक दिन के अन्तर से आहार करता है, और दूसरा असुरकुमार देव सातिरेक (साधिक) एक हजार वर्ष मे एक बार आहार करता है। अत सातिरेक एक हजार वर्ष मे एक बार आहार करने वाले की अपेक्षा एक दिन के अन्तर से आहार करने वाला बार-बार आहार करता है, ऐसा कहा जाता है। यही बात श्वासोच्छ्वास के सम्बन्ध मे समझ लेनी चाहिए। सातिरेक एक पक्ष मे श्वासोच्छ्वास लेने वाले असुरकुमार की अपेक्षा साथ स्तोक मे श्वासोच्छ्वास लेने वाला असुरकुमार बार-बार श्वासोच्छ्वास लेता है, ऐसा कहा जाता है।

असुरकुमार के कर्म, वर्ण और लेश्या का कथन : नारको से विपरीत—इस विपरीतता का कारण यह है कि पूर्वोपपन्नक असुरकुमारो का चित्त अतिकन्दर्प और दर्प से युक्त होने से वे नारको को बहुत त्रास देते है। त्रास सहन करने से नारको के तो कर्मनिर्जरा होती है, किन्तु असुरकुमारो के नये कर्मो का बन्ध होता है। वे अपनी क्रूरभावना एव विकारादि के कारण अपनी अशुद्धता बढाते है। उनका पुण्य क्षीण होता जाता है, पापकर्म बढता जाता है, इसलिए वे महाकर्मी होते है। उनका वर्ण और लेश्या अशुद्ध हो जाती है। अथवा बद्धायुष्क की अपेक्षा पूर्वोत्पन्न असुरकुमार यदि तिर्यञ्चगति का आयुष्य बाँध चुके हो तो वे महाकर्म, अशुद्ध वर्ण और अशुद्ध लेश्या वाले होते है। पश्चादुत्पन्न बद्धायुष्क न हो तो वे इसके विपरीत होते है।[1]

पृथ्वीकायिक जीवो का महाशरीर और अल्पशरीर—पृथ्वीकायिक जीवो का शरीर यद्यपि अगुल के असख्यातवे भाग कहा गया है, तथापि अगुल के असख्यातवे भाग वाले शरीर मे भी तरतमता से असख्य भेद होते है। प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार किसी का शरीर सख्यात भाग हीन है, किसी का असख्यात भाग हीन है, किसी का शरीर सख्यात भाग अधिक है और किसी का असख्यात भाग अधिक है। इस चतु स्थानपतित हानि-वृद्धि की अपेक्षा से पृथ्वीकायिक जीव अपेक्षाकृत अल्पशरीरी भी होते है और महाशरीरी भी।

पृथ्वीकायिक जीवो की समानवेदना क्यो और कैसे?—पृथ्वीकायिक जीव असज्ञी है और वे असज्ञी जीवो को होने वाली वेदना को वेदते है। उसकी वेदना अनिदा है अर्थात् निर्धारणरहित—अव्यक्त होती है। असज्ञी होने से वे मूर्च्छित या उन्मत्त पुरुष के समान बेसुध होकर कष्ट भोगते है। उन्हे यह पता ही नही रहता कि कौन पीडा दे रहा है? कौन मारता-काटता है, और किस कर्म के

१ भगवतीसूत्र अ० वृत्ति पत्राक ४१ से ४३ तक

उदय से यह वेदना हो रही है ? यद्यपि सुमेरु पर्वत मे जो जीव है, उनका छेदन-भेदन नही होता, तथापि पृथ्वीकाय का जब भी छेदन-भेदन किया जाता है तब सामान्यतया वैसी ही वेदना होती है, जैसी अन्यत्र स्थित पृथ्वीकायिक जीवो को होती है ।[1]

पृथ्वीकायिक जीवो मे पाँचो क्रियाएँ कैसे ?—यद्यपि पृथ्वीकायिक जीव बिना हटाए एक स्थान से दूसरे स्थान पर हट भी नही सकते, वे सदा अव्यक्तचेतना की दशा मे रहते है, फिर भी भगवान् कहते है कि वे पाँचो क्रियाएँ करते है । वे श्वासोच्छ्वास और आहार लेते हैं, इन क्रियाओ मे आरम्भ होता है । वास्तव मे आरम्भ का कारण केवल श्वासादि क्रिया नही, अपितु प्रमाद और कषाय से युक्त क्रिया है । यही कारण है कि तेरहवे गुणस्थान वाले भी श्वासादि क्रिया करते है, तथापि वे आरम्भी नही कहलाते । निष्कर्ष यह है कि चाहे कोई जीव चले-फिरे नही, तथापि जब तक प्रमाद और कषाय नही छूटते, तब तक वह आरम्भी है और कषाय एव प्रमाद के नष्ट हो जाने पर चलने-फिरने की क्रिया विद्यमान होते हुए भी वह अनारम्भी है । सैद्धान्तिक दृष्टि से मायी-मिथ्यादृष्टि जीव प्राय पृथ्वीकाय मे उत्पन्न होते है । यद्यपि पृथ्वीकायिक मायाचार करते दिखाई नही देते, किन्तु माया के कारण ही वे पृथ्वीकाय मे आए है । जीव किसी भी योनि मे हो, यदि वह मिथ्यादृष्टि है तो शास्त्र उसे मायी-मिथ्यादृष्टि कहता है । मायी का एक अर्थ अनन्तानुबन्धी कषाय है, और जहाँ अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होता है, वहाँ मिथ्यात्व अवश्यम्भावी है । इस दृष्टि से पृथ्वीकायिक जीवो मे आरम्भिकी आदि पाचो क्रियाएँ होती है ।

मनुष्यो के आहार की विशेषता—मनुष्य दो प्रकार के होते है—महाशरीरी और अल्पशरीरी । महाशरीरी मनुष्य और नारकी दोनो बहुत पुद्गलो का आहार करते है, किन्तु दोनो के पुद्गलो मे बहुत अन्तर है । महाशरीरी नारकी जिन पुद्गलो का आहार करते है, वे नि सार और स्थूल होते है, जबकि मनुष्य—विशेषत देवकुरु-उत्तरकुरु के भोगभूमिज मनुष्य जिन पुद्गलो का आहार करते है, वे सारभूत और सूक्ष्म होते है । भोगभूमिज मनुष्यो का शरीर तीन गाऊ का होता है और उनका आहार अष्टभक्त—अर्थात्—तीन दिन मे एक बार होता है, इस अपेक्षा से महाशरीर मनुष्यो को कदाचित् आहार करने वाले (एक दृष्टि से अल्पाहारी) कहा गया है । जैसे एक तोला चाँदी से एक तोला सोने मे अधिक पुद्गल होते हैं, वैसे ही देवकुरु-उत्तरकुरु के मनुष्यो का आहार दीखने मे कम होते हुए भी सारभूत होने से उसमे अल्पशरीरी मनुष्य के आहार की अपेक्षा अधिक पुद्गल होते हैं । इस दृष्टि से उन्हे बहुत पुद्गलो का आहार करने वाला कहा गया है । अल्पशरीरी मनुष्यो का आहार नि सार एव थोडे पुद्गलो का होने से उन्हे बार-बार करना पडता है । जैसे कि बालक बार-बार आहार करता है ।

कुछ पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या—जो सयम का पालन करता है, किन्तु जिसका सज्वलन कषाय क्षीण या उपशान्त नही हुआ, वह **सरागसयत** कहलाता है । जिसके कषाय का सर्वथा क्षय या उपशम हो गया है, वह **वीतरागसयत** कहलाता है ।

---

१ (क) भगवती अ० वृत्ति प० ४४ (ख) पुढविक्काइयस्स ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए'

(ग) 'अनिदा चित्तविकला सम्यग्विवेकविकला वा'—प्रज्ञापना वृत्ति पृ० ५५७ ।
'अणिदाए त्ति अविर्धारणया वेदना वेदयन्ति, वेदनामनुभवन्तोऽपि मिथ्यादृष्टित्वात् विमनस्कत्वाद् वा मत्त—मूर्च्छितादिवत् नावगच्छन्ति'—भगवती सूत्र अ० वृत्ति, प ४४ ।

सयोग केवली क्रियारहित कैसे—जो महापुरुष कषायो से सर्वथा मुक्त हो गए है, वे क्रिया—कर्मबन्ध की कारणभूत क्रिया से रहित है। यद्यपि सयोगी अवस्था मे योग की प्रवृत्ति से होने वाली ईर्य्यापथिक क्रिया उनमे विद्यमान है, तथापि वह क्रिया नही के बराबर है, इन क्रियाओ मे उसकी गणना नही है।

अप्रमत्तसयत मे मायाप्रत्यया क्रिया—इसलिए होती है कि उसमे अभी कषाय अवशिष्ट हे। और कषाय के निमित्त से होने वाली क्रिया मायाप्रत्यया कहलाती है।

लेश्या की अपेक्षा चौबीस दण्डको मे समाहारादि-विचार—प्रस्तुत १२वे सूत्र मे छह लेश्याओ के छह दण्डक (आलापक) और सलेश्य का एक दण्डक, इस प्रकार ७ दण्डको से यहाँ विचार किया गया है। अगले सूत्र मे लेश्याओ के नाम गिनाकर उससे सम्बन्धित सारा तात्त्विक ज्ञान प्रज्ञापनासूत्र के लेश्यापद के द्वितीय उद्देशक से जान लेने का निर्देश किया गया है।

यद्यपि कृष्णलेश्या सामान्यरूप से एक है, तथापि उसके अवान्तर भेद अनेक हैं—कोई कृष्ण-लेश्या अपेक्षाकृत विशुद्ध होती है, कोई अविशुद्ध, एक कृष्णलेश्या से नरकगति मिलती है, एक से भवनपति देवो मे उत्पत्ति होती है, अत कृष्णलेश्या के तरतमता के भेद से अनेक भेद हैं, इसलिए उनका आहारादि समान नही होता। यही बात सभी लेश्याओ वाले जीवो के सम्बन्ध मे जान लेनी चाहिए।[1]

जीवो का संसार संस्थान काल एवं अल्पबहुत्व—

१४ जीवस्स ण भते ! तीतद्धाए आदिट्ठस्स कइविहे ससारसचिट्ठणकाले पण्णत्ते ?

गोयमा ! चउव्विहे ससारसचिट्ठणकाले पण्णत्ते। त जहा—णेरइयससारसचिट्ठणकाले, तिरिक्खजोणियससारसचिट्ठणकाले, मणुस्ससारसचिट्ठणकाले, देवससारसचिट्ठणकाले य पण्णत्ते।

[१४-प्र] भगवन् ! अतीतकाल मे आदिष्ट–नारक आदि विशेषण–विशिष्ट जीव का ससार–सस्थानकाल कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१४-उ] गौतम ! ससार-सस्थान-काल चार प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—नैरयिकससार-सस्थानकाल, तिर्यञ्चससारसस्थानकाल, मनुष्य-ससार-सस्थानकाल और देवससार-सस्थानकाल।

१५. [१] नेरइयससारसचिट्ठणकाले ण भते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते। त जहा—सुन्नकाले, असुन्नकाले, मिस्सकाले।

[१५-१ प्र] भगवन् ! नैरयिकससार-सस्थानकाल कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१५-१ उ] गौतम ! तीन प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—शून्यकाल, अशून्य-काल और मिश्रकाल।

---

१ (क) उम्मग्गदेसओ मग्गणासओ गूढहियमाइल्लो। सढसीलो य ससल्लो तिरियाउ बधए जीवो ॥
(ख) भगवती अ० वृत्ति पत्राक ४४ से ४६ तक।

[२] तिरिक्खजोणियसंसारसंचिट्ठणकाले पुच्छा।

गोयमा! दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—असुन्नकाले य मिस्सकाले य।

[१५-२ प्र.] भगवन्! तिर्यञ्चसंसारसंस्थानकाल कितने प्रकार का कहा गया है?

[१५-२ उ.] गौतम! दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—अशून्यकाल और मिश्रकाल।

[३] मणुस्साण य, देवाण य जहा नेरइयाणं।

[१५-३] मनुष्यों और देवों के संसारसंस्थानकाल का कथन नारकों के समान समझना चाहिए।

१६. [१] एयस्स णं भंते! नेरइयसंसारसंचिट्ठणकालस्स सुन्नकालस्स असुन्नकालस्स मीसकालस्स य कयरे कयरेहिंतो अप्पे वा, बहुए वा, तुल्ले वा, विसेसाहिए वा?

गोयमा! सव्वत्थोवे असुन्नकाले, मिस्सकाले अणंतगुणे, सुन्नकाले अणंतगुणे।

[१६-१ प्र.] भगवन्! नारकों के संसारसंस्थानकाल के जो तीन भेद हैं—शून्यकाल, अशून्यकाल और मिश्रकाल, इनमें से कौन किससे कम, बहुत, तुल्य विशेषाधिक है?

[१६-१ उ.] गौतम! सबसे कम अशून्यकाल है, उससे मिश्रकाल अनन्तगुणा है और उसकी अपेक्षा भी शून्यकाल अनन्तगुणा है।

[२] तिरिक्खजोणियाणं सव्वथोवे असुन्नकाले मिस्सकाले अणंतगुणे।

[१६-२] तिर्यंचसंसारसंस्थानकाल के दो भेदों में से सबसे कम अशून्यकाल है और उसकी अपेक्षा मिश्रकाल अनन्तगुणा है।

[३] मणुस्स-देवाण य जहा नेरइयाणं।

[१६-३] मनुष्यों और देवों के संसारसंस्थानकाल की न्यूनाधिकता (अल्पबहुत्व) नारकों के संसारसंस्थानकाल की न्यूनाधिकता के समान ही समझनी चाहिए।

१७. एयस्स णं भंते! नेरइयसंसारसंचिट्ठणकालस्स जाव देवसंसारसंचिट्ठण जाव विसेसाधिए वा?

गोयमा! सव्वत्थोवे मणुस्ससंसारसंचिट्ठणकाले, नेरइयसंसारसंचिट्ठणकाले असंखेज्जगुणे, देवसंसारसंचिट्ठणकाले असंखेज्जगुणे, तिरिक्खजोणियसंसारसंचिट्ठणकाले अणंतगुणे।

[१७ प्र.] भगवन्! नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, इन चारों के संसारसंस्थानकालों में कौन किससे कम, अधिक, तुल्य या विशेषाधिक है?

[१७ उ.] गौतम! सबसे थोड़ा मनुष्यसंसारसंस्थानकाल है, उससे नैरयिक संसारसंस्थानकाल असंख्यातगुणा है, उससे देव संसारसंस्थानकाल असंख्यातगुणा है और उससे तिर्यञ्चसंसारसंस्थानकाल अनन्तगुणा है।

विवेचन—चारो गतियो के जीवों का ससारसस्थानकाल : भेद-प्रभेद एव अल्पबहुत्व—प्रस्तुत पाच सूत्रो (१३ से १७ तक) मे नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, इन चारो प्रकार के जीवो के ससारसस्थानकाल, उसके भेद-प्रभेद एव अल्पबहुत्व का निरूपण किया गया है।

ससारसस्थानकाल सम्बन्धी प्रश्न का उद्भव क्यो—किसी की मान्यता है कि पशु मर कर पशु ही होता है, और मनुष्य मर कर मनुष्य, वह देव या नारक नही होता। जैसे—गेहूँ से गेहूँ ही उत्पन्न होता है, चना नही। हाँ, अच्छी-बुरी भूमि के मिलने से गेहूँ अच्छा-बुरा हो सकता है, इसी प्रकार अच्छे-बुरे सस्कारो के मिलने से मनुष्य अच्छा-बुरा भले ही हो जाए, किन्तु रहता है, मनुष्य ही। इस प्रकार की मान्यतानुसार अनादिभवो मे भी जीव एक ही प्रकार से रहता है। इस भ्रान्तमत का निराकरण करने हेतु गौतम स्वामी ने यह प्रश्न उठाया है कि यह जीव अनादिकाल से एक योनि से दूसरी योनि मे भ्रमण कर रहा है, तो अतीतकाल मे जीव ने कितने प्रकार का ससार बिताया है ?

ससारसस्थानकाल—ससार का अर्थ है—एक भव (जन्म) से दूसरे भव मे ससरण—गमनरूप क्रिया। उसको सस्थान—स्थिर रहने रूप क्रिया तथा उसका काल (अवधि) सस्थानकाल है। अर्थात्—यह जीव अतीतकाल मे कहाँ-कहाँ किस-किस गति मे कितने काल तक स्थित रहा ? यही गौतमस्वामी के प्रश्न का आशय है।

ससारसस्थान न माना जाए तो—अगर भवान्तर मे जीव की गति और योनि नही बदलती, तब तो उसके द्वारा किये हुए प्रकृष्ट पुण्य और प्रकृष्ट पाप निरर्थक हो जाएँगे। शुभकर्म करने पर भी पशु, पशु ही रहे और करोडो पाप कर्म करने पर भी मनुष्य, मनुष्य ही बना रहे तो उनके पुण्य और पाप कर्म का क्या फल हुआ ? ऐसा मानने पर मुक्ति कदापि प्राप्त न हो सकेगी, क्योकि जो जिस गति या योनि मे है, वह वहाँ से आगे कही न जा सकेगा, फलत मुक्ति के लिए किये जाने वाले तप-जप-ध्यान आदि अनुष्ठान निष्फल ही सिद्ध होगे। इसीलिए भगवान् ने बताया कि जीव चार प्रकार के ससार मे सस्थित रहा है, कभी नारक, कभी तिर्यञ्च, कभी देव और कभी मनुष्य योनि मे इस जीव ने समय बिताया है।

त्रिविधससारसस्थानकाल—भगवान् ने ससारसस्थानकाल तीन प्रकार का बताया है—शून्यकाल, अशून्यकाल और मिश्रकाल।

अशून्यकाल—आदिष्ट (वर्तमान मे नियत अमुक) समय वाले नारको मे से एक भी नारक जब तक मर कर नही निकलता और न कोई नया जन्म लेता है, तब तक का काल अशून्यकाल है। अर्थात्—अमुक वर्तमानकाल मे सातो नरको मे जितने भी जीव विद्यमान हैं, उनमे से न कोई जीव मरे, न ही नया उत्पन्न हो, यानी उतने के उतने ही जीव जितने समय तक रहे, उस समय को नरक की अपेक्षा अशून्यकाल कहते है।

मिश्रकाल—वर्तमानकाल के इन नारको मे से एक, दो, तीन इत्यादि क्रम से निकलते-निकलते जब तक एक भी नारक शेष रहे, अर्थात्—विद्यमान नारको मे से जब एक का निकलना प्रारम्भ हुआ, तब से लेकर जब तक नरक मे एक नारक शेष रहा, तब तक के समय को नरक की अपेक्षा मिश्रकाल कहते है।

शून्यकाल—वर्तमानकाल के समादिष्ट (नियत) नारको मे से समस्त नारक नरक से निकल जाएँ, एक भी नारक शेष न रहे, और न ही उनके स्थान पर सभी नये नारक पहुँचे तब तक का काल नरक की अपेक्षा शून्यकाल कहलाता है। तिर्यचयोनि मे शून्यकाल नही है, क्योकि तिर्यञ्चयोनि मे अकेले वनस्पति काय के ही जीव अनन्त है, वे सबके सब उसमे से निकलकर नही जाते। शेष तीनो गतियो मे तीनो प्रकार के ससारसस्थानकाल है।

तीनो कालो का अल्पबहुत्व—अशून्यकाल अर्थात् विरहकाल की अपेक्षा मिश्रकाल को अनन्तगुणा इसलिए कहा कि अशून्यकाल तो सिर्फ बारह मुहूर्त्त का है, जब कि मिश्रकाल वनस्पतिकाय मे गमन की अपेक्षा अनन्तगुना है। नरक के जीव जब तक नरक मे रहे, तभी तक मिश्रकाल नही, वरन् नरक के जीव नरक से निकलकर वनस्पतिकाय आदि तिर्यञ्च, तथा मनुष्य, आदि गतियो-योनियो मे जन्म लेकर फिर नरक मे आवे तब तक का काल मिश्रकाल है। और शून्यकाल मिश्रकाल से भी अनन्तगुणा इसलिए कहा गया है कि नरक के जीव नरक से निकल कर वनस्पति मे आते है, जिसकी स्थिति अनन्तकाल की है।

तिर्यञ्चो की अपेक्षा अशून्यकाल सबसे कम है। सज्ञी तिर्यञ्चपचेन्द्रिय का उत्कृष्ट विरहकाल १२ मुहूर्त्त का, तीन विकलेन्द्रिय और सम्मूर्च्छिम तिर्यचपचेन्द्रिय का अन्तर्मुहूर्त्त का, पचस्थावर जीवो मे समय-समय मे परस्पर एक दूसरे मे असख्यजीव उत्पन्न होते है, अत उनमे विरहकाल नही है।[1]

अन्तक्रिया सम्बन्धी-चर्चा—

१८ जीवे ण भते ! अतकिरिय करेज्जा ?

गोयमा ! अत्थेगतिए करेज्जा, अत्थेगतिए नो करेज्जा। अतकिरियापद नेयव्व।

[१८ प्र] हे भगवन् ! क्या जीव अन्तक्रिया करता है ?

[१८ उ] गौतम ! कोई जीव अन्तक्रिया करता है, कोई जीव नही करता। इस सम्बन्ध मे प्रज्ञापनासूत्र का अन्तक्रियापद (२०वाँ पद) जान लेना चाहिए।

विवेचन—अन्तक्रिया सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत सूत्र मे अन्तक्रिया के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर अकित हैं।

अन्तक्रिया—जिस क्रिया के पश्चात् फिर कभी दूसरी क्रिया न करनी पडे वह, अथवा कर्मो का सर्वथा अन्त करने वाली क्रिया अन्तक्रिया है। आशय यह है कि समस्त कर्मो का क्षय करके मोक्षप्राप्ति की क्रिया ही अन्तक्रिया है। निष्कर्ष यह है कि भव्य जीव ही मनुष्यभव पाकर अन्तक्रिया करता है।

असंयतभव्य द्रव्यदेव आदि सम्बन्धी विचार—

१९ अह भते ! असजयभवियदव्वदेवाण १, अविराहियसजमाण २, विराहियसजमाण ३, अविराहियसजमासजमाण ४, विराहियसजमासजमाण ५, असण्णीण ६, तावसाण ७, कदप्पियाण ८,

---

१ भगवतीसूत्र अ० वृत्ति, पत्राक ४७-४८

चरगपरिव्वायगाण ९, किव्विसियाण १०, तेरिच्छियाण ११, आजीवियाण १२, आभिओगियाण १३, सलिंगीण दसणवावन्नगाण १४, एएसि ण देवलोगेसु उववज्जमाणाण कस्स कहिं उववाए पण्णत्ते ?

गोयमा ! असजतभवियदव्वदेवाण जहन्नेण भवणवासीसु, उक्कोसेण उवरिमगेविज्जएसु १ । अविराहियसजमाणं जहन्नेण सोहम्मे कप्पे, उक्कोसेण सव्वट्ठसिद्धे विमाणे २ । विराहियसजमाण जहन्नेण भवणवासीसु, उक्कोसेण सोधम्मे कप्पे ३ । अविराहियसजमाऽसजमाण जहन्नेण सोहम्मे कप्पे, उक्कोसेण अच्चुए कप्पे ४ । विराहियसजमासजमाण जहन्नेण भवणवासीसु, उक्कोसेण जोतिसिएसु ५ । असण्णीण जहन्नेण भवणवासीसु, उक्कोसेण वाणमतरेसु ६ । अवसेसा सव्वे जहन्नेण भवणवासीसु, उक्कोसग वोच्छामि-तावसाण जोतिसिएसु ७ । कदप्पियाण सोहम्मे कप्पे ८ । चरग-परिव्वायगाण बभलोए कप्पे ९ । किव्विसियाणं लंतगे कप्पे १० । तेरिच्छियाण सहस्सारे कप्पे ११ । आजोविआणं अच्चुए कप्पे १२ । आभिओगियाण अच्चुए कप्पे १३ । सलिंगीण दसणवावन्नगाण उवरिम-गेवेज्जएसु १४ ।

[१९ प्र] भगवन् ! (१) असयत भव्यद्रव्यदेव, (२) अखण्डित सयम वाला, (३) खण्डित सयम वाला, (४) अखण्डित सयमासयम (देशविरति) वाला, (५) खण्डित सयमासयम वाला, (६) असज्ञी, (७) तापस, (८) कान्दर्पिक, (९) चरकपरिव्राजक, (१०) किल्विषिक, (११) तिर्यञ्च (१२) आजीविक, (१३) आभियोगिक, (१४) दर्शन (श्रद्धा) भ्रष्ट वेषधारी, ये सब यदि देवलोक मे उत्पन्न हो तो, किसका कहाँ उपपात (उत्पाद) होता है ?

[१९ उ] गौतम ! असयतभव्यद्रव्यदेवो का उत्पाद जघन्यत भवनवासियो मे और उत्कृष्टत ऊपर के ग्रैवेयको मे कहा गया है । अखण्डित (अविराधित) सयम वालो का जघन्य सौधर्मकल्प मे और उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्ध विमान मे, खण्डित सयम वालो का जघन्य भवनवासियो मे और उत्कृष्ट सौधर्मकल्प मे, अखण्डित सयमासयम का जघन्य सौधर्मकल्प मे और उत्कृष्ट अच्युत-कल्प मे, खण्डित सयमासयम वालो का जघन्य भवनवासियो मे और उत्कृष्ट ज्योतिष्कदेवो मे असज्ञी जीवो का जघन्य भवनवासियो मे और उत्कृष्ट वाण-व्यन्तरदेवो मे और शेष सबका उत्पाद जघन्य भवनवासियो मे होता है, उत्कृष्ट उत्पाद आगे बता रहे हैं—तापसो का ज्योतिष्को मे, कान्दर्पिको का सौधर्मकल्प मे, चरकपरिव्राजको का ब्रह्मलोक कल्प मे, किल्विषिको का लान्तक कल्प मे, तिर्यञ्चो का सहस्रारकल्प मे, आजीविको तथा आभियोगिको का अच्युतकल्प मे, और श्रद्धाभ्रष्ट वेषधारियो का ऊपर के ग्रैवेयको तक मे उत्पाद होता है ।

विवेचन—असयतभव्यद्रव्यदेव आदि के देवलोक उत्पाद के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत सूत्र मे विविध प्रकार के १४ आराधक-विराधक साधको तथा अन्य जीवो की देवलोक-उत्पत्ति के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर अंकित है । इनका अर्थ इस प्रकार है—

असयत भव्यद्रव्यदेव—(१) जो असयत—चारित्रपरिणामशून्य हो, किन्तु भविष्य मे देव होने योग्य हो, (२) असयत भव्यद्रव्य देव का अर्थ अविरत सम्यग्दृष्टि जीव भी हो सकता है, किन्तु

यह अर्थ यहा सगत नही, क्योकि असयत भव्यद्रव्य देव का उत्कृष्ट उत्पाद ग्रैवेयक तक कहा है, जब कि अविरत सम्यग्दृष्टि तो दूर रहे, देशविरतश्रावक (सयमासयमी) भी अच्युत देवलोक से आगे नही जाते। (३) इसी प्रकार असयत भव्यद्रव्य देव का अर्थ असयत निह्नव भी ठीक नही, क्योकि इनके उत्पाद के विषय मे इसी सूत्र मे पृथक् निरूपण है। (४) अत असयत भव्यद्रव्यदेव का स्पष्ट अर्थ है—जो साधु-समाचारी और साध्वाचार का पालन करता हो, किन्तु जिसमे आन्तरिक (भाव से) साधुता न हो केवल द्रव्यलिंगधारी हो, ऐसा भव्य या अभव्य मिथ्यादृष्टि। यद्यपि ऐसे असयत भव्यद्रव्यदेव मे महामिथ्यादर्शनरूप मोह की प्रबलता होती है, तथापि जब वह चक्रवर्ती आदि अनेक राजा-महाराजाओ द्वारा साधुओ को वन्दन-नमन, पूजा, सत्कार-सम्मान आदि करते देखता है तो सोचता है कि मैं भी साधु बन जाऊँ तो मेरी भी इसी तरह वन्दना, पूजा-प्रतिष्ठा आदि होने लगेगी, फलत इस प्रकार की प्रतिष्ठामोह की भावना से वह श्रमणव्रत पालन करता है, आत्म-शुद्धि के उद्देश्य से नही। उसकी श्रद्धा प्रव्रज्या तथा क्रियाकलाप पूर्ण है, वह आचरण भी पूर्णतया करता है, परन्तु चारित्र के परिणाम से शून्य होने से असयत है।

अविराधित सयमी—दीक्षाकाल से लेकर अन्त तक जिस का चारित्र कभी भग न हुआ हो, वह अखण्डित सयमी है। इसे आराधक सयमी भी कहते है।

विराधित सयमी—इसका स्वरूप अविराधित सयमी से विपरीत है। जिसने महाव्रतो का ग्रहण करके उनका भलीभाति पालन नही किया है, सयम की विराधना की है, वह विराधित सयमी, खण्डित सयमी या विराधक सयमी है।

अविराधित सयमासयमी—जो देशविरति ग्रहण करके अन्त तक अखण्डित रूप से उसका पालन करता है उसे आराधक सायमासयमी कहते है।

विराधित सयमासयमी—जिसने देशविरति ग्रहण करके उसका भली भाँति पालन नही किया है, उसे विराधित सयमासयमी कहते है।

असज्ञी जीव—जिसके मनोलब्धि नही है, ऐसा असज्ञी जीव अकाम-निर्जरा करता है, इस कारण वह देवलोक मे जा सकता है।

तापस—वृक्ष से गिरे हुए पत्तो आदि को खाकर उदरनिर्वाह करने वाला बाल-तपस्वी।

कान्दर्पिक—जो साधु हसोड—हास्यशील हो। ऐसा साधु चारित्रवेश मे रहते हुए भी हास्य-शील होने के कारण अनेक प्रकार की विदूषक-की-सी चेष्टाएँ करता है। अथवा कन्दर्प अर्थात् काम-सम्बन्धी वार्तालाप करने वाला साधु भी कान्दर्पित कहलाता है।

चरकपरिव्राजक—गेरूए या भगवे रग के वस्त्र पहनकर धाटी (सामूहिक भिक्षा) द्वारा आजीविका करने वाले त्रिदण्डी, कुच्छोटक आदि अथवा कपिलऋषि के शिष्य।

किल्विषिक—जो ज्ञान, केवली, धर्माचार्य और सब साधुओ का अवर्णवाद करता है और पापमय भावना वाला है, वह किल्विषिक साधु है। किल्विषिक साधु व्यवहार से चारित्रवान भी होता है।

तिर्यञ्च—देशविरति श्रावकव्रत का पालन करने वाले घोडे, गाय आदि। जैसे—नन्दन-मणिहार का जीव मेढक के रूप मे श्रावकव्रती था।

आजीविक—(१) एक खास तरह के पाखण्डी, (२) नग्न रहने वाले गोशालक के शिष्य, (३) लब्धिप्रयोग करके अविवेकी लोगो द्वारा ख्याति प्राप्त करने या महिमा-पूजा के लिए तप और चारित्र का अनुष्ठान करने वाले और (४) अविवेकी लोगो मे चमत्कार दिखलाकर अपनी आजीविका उपार्जन करने वाले।

आभियोगिक—विद्या और मत्र आदि का या चूर्ण आदि के योग का प्रयोग करना और दूसरो को अपने वश मे करना अभियोग कहलाता है। जो साधु व्यवहार से तो सयम का पालन करता है, किन्तु मत्र, तत्र, यत्र, भूतिकर्म, प्रश्नाप्रश्न, निमित्त, चूर्ण आदि के प्रयोग द्वारा दूसरे को आकर्षित करता है, वशीभूत करता है, वह आभियोगिक कहलाता है।

दर्शनभ्रष्टसलिंगी—साधु के वेष मे होते हुए भी दर्शनभ्रष्ट—निह्नव दर्शनभ्रष्टस्ववेषधारी है। ऐसा साधक आगम के अनुसार क्रिया करता हुआ भी निह्नव होता है, जिन-दर्शन से विरुद्ध प्ररूपणा करता है, जैसे जामालि।[1]

असंज्ञी आयुष्य सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—

२०. कतिविहे ण भते ! असण्णियाउए पण्णत्ते ?

गोयमा ! चउव्विहे असण्णिआउए पण्णत्ते। त जहा—नेरइय-असण्णिआउए १, तिरिक्ख-जोणिय-असण्णिआउए २, मणुस्सअसण्णिआउए ३, देवअसण्णिआउए ४।

[२० प्र] भगवन् ! असज्ञी का आयुष्य कितने प्रकार का कहा गया है ?

[२० उ] गौतम ! असज्ञी का आयुष्य चार प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—नैरयिक-असज्ञी आयुष्य, तिर्यञ्च-असज्ञी आयुष्य, मनुष्य-असज्ञी आयुष्य और देव-असज्ञी आयुष्य।

२१. असण्णी णं भते ! जीवे किं नेरइयाउय पकरेति, तिरिक्ख-जोणियाउय पकरेइ, मणुस्साउय पकरेइ, देवाउय पकरेइ ?

हंता, गोयमा ! नेरइयाउय पि पकरेइ, तिरिक्खजोणियाउय पि पकरेइ, मणुस्साउयं पि पकरेइ, देवाउय पि पकरेइ। नेरइयाउयं पकरेमाणे जहन्नेण दस वाससहस्साइं, उक्कोसेण पलिओवमस्स असखेज्जइभाग पकरेति। तिरिक्खजोणियाउय पकरेमाणे जहन्नेण अतोमुहुत्त, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असखेज्जइभाग पकरेइ। मणुस्साउए वि एव चेव। देवाउयं पकरेमाणे जहा नेरइया।

---

१ (क) भगवती सूत्र अ० वृत्ति, पत्राक ४९-५०

(ख) जो सजओ वि एयासु अप्पसत्थासु भावण कुणइ।
सो तव्विहेसु गच्छइ सुरेसु भइओ चरणहीणो ॥

(ग) णाणस्स केवलीण धम्मायरियस्स सव्व साहूण।
माई अवन्नवाई किव्विसिय भावण कुणइ ॥

(घ) कोऊय-भूइकम्मे पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी।
इड्ढिरससायगरुओ अहिओग भावण कुणइ ॥

[२१-प्र] भगवन् ! असञ्ज्ञी जीव क्या नरक का आयुष्य उपार्जन करता है, तिर्यञ्चयोनिक का आयुष्य उपार्जन करता है, मनुष्य का आयुष्य भी उपार्जन करता है या देव का आयुष्य उपार्जन करता है ?

[२१ उ] हाँ गौतम ! वह नरक का आयुष्य भी उपार्जन करता है, तिर्यञ्च का आयुष्य भी उपार्जन करता है, मनुष्य का आयुष्य भी उपार्जन करता है और देव का आयुष्य भी उपार्जन करता है।

नारक का आयुष्य उपार्जन करता हुआ असञ्ज्ञीजीव जघन्य दस हजार वर्ष का और उत्कृष्ट पल्योपम के असख्यातवे भाग का उपार्जन करता है। तिर्यञ्चयोनि का आयुष्य उपार्जन करता हुआ असञ्ज्ञी जीव जघन्य अन्तर्मुहूर्त का और उत्कृष्ट पल्योपम के असख्यातवे भाग का उपार्जन करता है। मनुष्य का आयुष्य भी इतना ही उपार्जन करता है और देव आयुष्य का उपार्जन भी नरक के आयुष्य के समान करता है।

२२ एयस्स ण भते ! नेरइयअसण्णिआउयस्स तिरिक्खजोणियअसण्णिआउयस्स मणुस्स-असण्णिआउयस्स देवअसण्णिआउयस्स य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिए वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवे देवअसण्णिआउए, मणुस्सअसण्णिआउए असखेज्जगुणे, तिरियजोणिय-असण्णिआउए असखेज्जगुणे, नेरइयअसण्णिआउये असखेज्जगुणे।

सेव भते ! सेव भते ! त्ति ॥

॥ बितिओ उद्देसओ समत्तो ॥

[२२ प्र] हे भगवन् ! नारक-असञ्ज्ञी-आयुष्य, तिर्यञ्च-असञ्ज्ञी-आयुष्य, मनुष्य-असञ्ज्ञी-आयुष्य और देव-असञ्ज्ञी-आयुष्य, इनमे कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक है ?

[२२ उ] गौतम ! देव-असञ्ज्ञी-आयुष्य सबसे कम है, उसकी अपेक्षा मनुष्य-असञ्ज्ञी-आयुष्य असख्यातगुणा है, उससे तिर्यञ्च असञ्ज्ञी-आयुष्य असख्यात-गुणा है और उससे भी नारक-असञ्ज्ञी-आयुष्य असख्यातगुणा है।

'हे भगवन् ! (जैसा आप फरमाते हैं,) वह इसी प्रकार है, वह इसी प्रकार है।' ऐसा कहकर गौतम स्वामी सयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करने लगे।

विवेचन—असञ्ज्ञी-आयुष्य . प्रकार, उपार्जन एवं अल्पबहुत्व—प्रस्तुत तीन सूत्रो (२०-२१-२२) मे असञ्ज्ञी जीव के आयुष्य के प्रकार, उपार्जन और अल्पबहुत्व का निरूपण किया गया है।

असञ्ज्ञी-आयुष्य—वर्तमानभव मे जो जीव विशिष्ट सञ्ज्ञा से रहित है, वह परलोक के योग्य जो आयुष्य बाँधता है, उसे असञ्ज्ञी-आयुष्य कहते है।

असञ्ज्ञी द्वारा आयुष्य का उपार्जन या वेदन ?—श्री गौतम स्वामी ने असञ्ज्ञी जीवो के आयुष्य के सम्बन्ध मे दूसरा प्रश्न उठाया है, जिसका आशय यह है कि असञ्ज्ञी जीव मन के अभाव मे आयुष्य का उपार्जन कैसे कर सकता है ? अत नरक, तिर्यञ्च आदि का आयुष्य असञ्ज्ञी द्वारा उपार्जन किया जाता है या सिर्फ भोगा (वेदन किया) जाता है ? इसके उत्तर मे भगवान् कहते है—

असज्ञी का आयुष्य असज्ञी द्वारा ही उपर्जित किया हुआ है। यद्यपि असज्ञी की मनोलब्धि विकसित न होने से उसे अच्छे-बुरे का भान नही होता, मगर उसके आन्तरिक अध्यवसाय को सर्वज्ञ तीर्थंकर तो हस्तामलकवत् जानते ही है कि वह नरकायु का उपार्जन कर रहा है या देवायु का ? जैसे भिक्षु से सम्बन्धित पात्र को भिक्षुपात्र कहते है, वैसे ही असज्ञी से सम्बन्धित आयु को असज्ञी-आयुष्य कहते है।[1]

तिर्यंच और मनुष्य के आयुष्य को पल्योपम के असख्यातवां भाग युगलियो की अपेक्षा से समझना चाहिए।

॥ प्रथम शतक द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१ भगवतीसूत्र अ० वृत्ति, पत्राक ५१

तइओ उद्देसो : कंपओ

तृतीय उद्देशक : कांक्षा-प्रदोष

चौबीस दण्डको में कांक्षामोहनीयकर्मसम्बन्धी षड्द्वार-विचार

१ [१] जीवाण भंते ! कंखामोहणिज्जे कम्मे कडे ?

हंता, कडे ।

[१-१. प्र] भगवन् ! क्या जीवो का कांक्षामोहनीय कर्म कृतक्रियानिष्पादित (किया हुआ) है ?

[१-१ उ] हाँ गौतम ! वह कृत है ।

[२] से भंते ! किं देसेण देसे १ ?, देसेण सव्वे कडे २ ?, सव्वेण देसे कडे ३ ?, सव्वेण सव्वे कडे ४ ?

गोयमा ! नो देसेणं देसे कडे १, नो देसेण सव्वे कडे २, नो सव्वेण देसे कडे ३, सव्वेणं सव्वे कडे ४ ।

[१-२ प्र] भगवन् ! क्या वह देश से देशकृत है, देश से सर्वकृत है, सर्व से देशकृत है अथवा सर्व से सर्वकृत है ?

[१-२ उ] गौतम ! वह देश से देशकृत नही है, देश से सर्वकृत नही है, सर्व से देशकृत नही है, सर्व से सर्वकृत है ।

२ [१] नेरइयाण भंते ! कंखामोहणिज्जे कम्मे कडे ?

हंता, कडे जाव सव्वेण कडे ४ ।

[२] एवं जाव वेमाणियाण दंडओ भाणियव्वो ।

[२-१ प्र] भगवन् ! क्या नैरयिको का कांक्षामोहनीय कर्म कृत है ?

[२-१ उ] हाँ, गौतम कृत, यावत् 'सर्व से सर्वकृत है' इस प्रकार से यावत् चौबीस ही दण्डको मे वैमानिकपर्यन्त आलापक कहना चाहिए ।

३. [१] जीवा ण भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं करिंसु ?

हंता, करिंसु ।

[३-१ प्र] भगवन् ! क्या जीवो ने कांक्षामोहनीय कर्म का उपार्जन किया है ?

[३-१ उ] हाँ गौतम ! किया है ।

[२] तं भंते ! किं देसेणं देसं करिंसु ?

एतेणं अभिलावेणं दंडओ १ जाव वेमाणियाणं ।

[३-२ प्र] 'भगवन् ! क्या वह देश से देशकृत है ?' इत्यादि पूर्वोक्त प्रश्न वैमानिक दण्डक तक करना चाहिए।

[३-२ उ] इस प्रकार 'कहते हैं' यह आलापक भी यावत् वैमानिकपर्यन्त चौवीस ही दण्डको मे आलापक कहना चाहिए।

[३] एव करेंति। एत्थ वि दडओ जाव[1] वेमाणियाण।

[३-३] इसी प्रकार 'करते हैं' यह आलापक भी यावत् वैमानिकपर्यन्त चौवीस ही दण्डको मे कहना चाहिए।

[४] एव करेस्सति। एत्थ वि दडओ जाव[2] वेमाणियाण।

[३-४] इसी प्रकार 'करेंगे' यह आलापक भी यावत् वैमानिकपर्यन्त चौवीस ही दण्डको मे कहना चाहिए।

[५] एव चिते—चिणिसु, चिणति, चिणिस्सति। उवचिते--उवचिणिसु, उवचिणति, उवचिणिस्सति। उदीरेंसु, उदीरेंति, उदीरिस्सति। वेदिसु, वेदेंति, वेदिस्सति। निज्जरेंसु, निज्जरेंति, निज्जरिस्सति। गाहा—

कड चित, उवचित, उदीरिया, वेदिया य, निज्जिण्णा।
आदितिए चउभेदा, तियभेदा पच्छिमा तिण्णि ॥१॥

[३-५] इसी प्रकार (कृत के तीनो काल की तरह) चित किया, चय करते है, चय करेंगे, उपचित-उपचय किया, उपचय करते हैं, उपचय करेंगे, उदीरणा की, उदीरणा करते है, उदीरणा करेंगे, वेदन किया, वेदन करते हैं, वेदन करेंगे, निर्जीर्ण किया, निर्जीर्ण करते है, निर्जीर्ण करेंगे, इन सब पदो का चौवीस ही दण्डको के सम्बन्ध मे पूर्ववत् कथन करना (आलापक करना) चाहिए।

गाथार्थ—कृत, चित, उपचित, उदीर्ण, वेदित और निर्जीर्ण, इतने अभिलाप यहाँ कहने है। इनमे से कृत, चित और उपचित मे एक-एक के चार-चार भेद है, अर्थात्—सामान्य क्रिया, भूतकाल की क्रिया, वर्तमान काल की क्रिया और भविष्यकाल की क्रिया। पिछले तीन पदो मे सिर्फ तीन काल की क्रिया कहनी है।

कांक्षामोहनीय-वेदनकारण-विचार

४ जीवा ण भते ! कंखामोहणिज्ज कम्म वेदेंति ?

हता, वेदेंति।

[४ प्र] 'भगवन् ! क्या जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते है ?'

[४ उ] हाँ गौतम ! वेदन करते है।

५ कह ण भते ! जीवा कखामोहणिज्ज कम्म वेदेंति ?

गोयमा ! तेहिं तेहिं कारणेहिं सकिया कखिया वितिगिछिया भेदसमावन्ना, कलुससमावन्ना एवं खलु जीवा कखामोहणिज्ज कम्मं वेदेंति।

---

१ 'जाव' शब्द से वैमानिकपर्यंत पूर्वोक्त चौबीस दण्डक समझना चाहिए।

[५ प्र] 'भगवन् ! जीव कांक्षामोहनीय कर्म को किस प्रकार वेदते हैं ?'

[५ उ] गौतम ! उन-उन (अमुक-अमुक) कारणो से शंकायुक्त, कांक्षायुक्त, विचिकित्सायुक्त, भेदसमापन्न एव कलुषसमापन्न होकर, इस प्रकार जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं।

आराधक-स्वरूप

६ [१] से नूण भंते ! तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेदितं ?

हंता, गोयमा ! तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेदितं।

[६-१ प्र] 'भगवन् ! क्या वही सत्य और निःशंक है, जो जिन-भगवन्तो ने निरूपित किया है।'

[६-१ उ] हाँ, गौतम ! वही सत्य और निःशंक है, जो जिनेन्द्रो द्वारा निरूपित है।

[२] से नूणं भंते ! एवं मणं धारेमाणे, एवं पकरेमाणे एवं चिट्ठेमाणे, एवं संवरेमाणे आणाए आराहए भवति ?

हंता, गोयमा ! एवं मणं धारेमाणे जाव भवति।

[६-२ प्र] 'भगवन् ! (वही सत्य और निःशंक है, जो जिनेन्द्रो द्वारा प्ररूपित है) इस प्रकार मन मे धारण (निश्चय) करता हुआ, उसी तरह आचरण करता हुआ, यो रहता हुआ, इसी तरह संवर करता हुआ जीव क्या आज्ञा का आराधक होता है ?'

[६-२ उ] हाँ, गौतम ! इसी प्रकार मन मे निश्चय करता हुआ यावत आज्ञा का आराधक होता है।

विवेचन—चतुर्विंशतिदण्डको मे कांक्षामोहनीय का कृत, चित आदि ६ द्वारो से त्रैकालिक विचार—प्रस्तुत तीन सूत्रो मे कांक्षामोहनीय कर्म के सम्बन्ध मे विभिन्न पहलुओ से विचार किया गया है। प्रश्नोत्तर का क्रम इस प्रकार है—(१) क्या कांक्षामोहनीय कर्म जीवो का कृत है ? (२) यदि कृत है तो देश से देशकृत, देश से सर्वकृत, सर्व से देशकृत है या सर्व से सर्वकृत है ? (३) यदि सर्व से सर्वकृत है तो नारकी से लेकर वैमानिक तथा चौबीस दण्डको के जीवो द्वारा कृत है ? कृत है तो सर्व से सर्वकृत है ? इत्यादि, (४) क्या जीवो ने कांक्षामोहनीय कर्म का उपार्जन किया है ? (५) यदि किया है तो वह चौबीस ही दण्डको मे किया है, तथा वह सर्व से सर्वकृत है ? इसी प्रकार करते हैं, करेंगे। (६) इस प्रकार कृत के त्रैकालिक आलापक की तरह चित, उपचित, उदीर्ण, वेदित और निर्जीर्ण पद के कांक्षामोहनीयसम्बन्धी त्रैकालिक आलापक कहने चाहिए।

कांक्षामोहनीय—जो कर्म जीव को मोहित करता है, मूढ बनाता है, उसे मोहनीय कर्म कहते है। मोहनीयकर्म के दो भेद है—चारित्र-मोहनीय और दर्शनमोहनीय। यहाँ चारित्र मोहनीय कर्म के विषय मे प्रश्न नही है। इसीलिए मोहनीय शब्द के साथ 'कांक्षा' शब्द लगाया गया है। कांक्षा-मोहनीय का अर्थ है—दर्शनमोहनीय। कांक्षा का मूल अर्थ है—अन्यदर्शनो को स्वीकार करने की इच्छा करना। संशयमोहनीय, विचिकित्सामोहनीय, परपाखण्डप्रशंसामोहनीय आदि कांक्षामोहनीय के अन्तर्गत समझ लेने चाहिए।

कांक्षामोहनीय का ग्रहण ? कैसे, किस रूप मे ?—कार्य चार प्रकार से होता है—उदाहरणार्थ—एक मनुष्य अपने शरीर के एक देश—हाथ से वस्त्र का एक भाग ग्रहण करता है, यह एकदेश से एकदेश का ग्रहण करना है। इसी प्रकार हाथ से सारे वस्त्र का ग्रहण किया तो यह एकदेश से सर्व का

ग्रहण करना है, यदि समस्त शरीर से वस्त्र के एक भाग को ग्रहण किया तो सर्व से एकदेश का ग्रहण हुआ, सारे शरीर से सारे वस्त्र को ग्रहण किया तो सर्व से सर्व का ग्रहण करना हुआ। प्रस्तुत प्रकरण मे देश का अर्थ है—आत्मा का एक देश और एक समय मे ग्रहण किये जाने वाले कर्म का एकदेश। अगर आत्मा के एकदेश से कर्म का एकदेश किया तो यह एक-देश से एकदेश की क्रिया की। अगर आत्मा के एकदेश से सर्व कर्म किया, तो यह देश से सर्व की क्रिया हुई। सम्पूर्ण आत्मा से कर्म का एकदेश किया, तो सर्व से देश की क्रिया हुई और सम्पूर्ण आत्मा से समग्र कर्म किया तो सर्व से सर्व की क्रिया हुई। गौतम स्वामी के इस चतुर्भंगीय प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा कि गौतम! कांक्षामोहनीय कर्म सर्व से सर्वकृत है, अर्थात्—समस्त आत्मप्रदेशो से समस्त कांक्षामोहनीय कर्म किया हुआ है। पूर्वोक्त चौभगी मे से यहाँ चौथा भग ही ग्रहण किया गया है।

कर्मनिष्पादन की क्रिया त्रिकाल-सम्बन्धित—कर्म क्रिया से निष्पन्न होता है और क्रिया तीनो कालो से सम्बन्धित होती है, इसलिए त्रिकाल सम्बन्धी क्रिया से कर्म लगते है। इसी कारण यहाँ कांक्षामोहनीय कर्म के सम्बन्ध मे त्रिकालसम्बन्धी प्रश्नोत्तर है। आयुकर्म के सिवाय जब तक किसी कर्म के बन्ध का कारण नष्ट नही हो जाता, तब तक उस कर्म का बन्ध होता रहता है। कांक्षामोहनीयकर्म के विषय मे भी यही नियम समझना चाहिए।

'चित' आदि का स्वरूप . प्रस्तुत सन्दर्भ मे—पूर्वोपार्जित कर्मो मे प्रदेश और अनुभाग की एक बार वृद्धि करना अर्थात्—सक्लेशमय परिणामो से उसे एक वार बढाना चित (चय किया) कहलाता है। जैसे—किसी आदमी ने भोजन किया उसमे उसे सामान्य क्रिया लगी, किन्तु बाद मे वह रागभाव से प्रेरित होकर उस भोजन की प्रशसा करने लगा, यह चय करना हुआ। बार-बार तत्सम्बन्धी चय करना उपचय (उपचित) कहलाता है। किसी-किसी आचार्य के मतानुसार कर्म-पुद्गलो का ग्रहण करना 'चय' कहलाता है और अबाधाकाल समाप्त होने के पश्चात् गृहीत कर्म-पुद्गलो को वेदन करने के लिए निषेचन (कर्मदलिको का वर्गीकरण) करना, उदयावलिका मे स्थापित करना 'उपचय' कहा जाता है।

'उदीरणा' 'वेदना' और 'निर्जरा' का स्वरूप पहले बताया जा चुका है।

उदीरणा आदि मे सिर्फ तीन प्रकार का काल—उदीरणा आदि चिरकाल तक नही रहते, अतएव उनमे सामान्यकाल नही बताया गया है।

उदयप्राप्त कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन—प्रस्तुत कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन के प्रश्न को पुन दोहराने का कारण वेदन के हेतुविशेष (विशिष्ट कारणो) को बतलाना है।[1]

शका आदि पदो की व्याख्या—वीतराग सर्वज्ञ प्रभु ने अपने अनन्त-ज्ञानदर्शन मे जिन तत्त्वो को जान कर निरूपण किया, उन तत्त्वो पर या उनमे से किसी एक पर शका करना—'कौन जाने यह यथार्थ है या नही?' इस प्रकार का सन्देह करना शंका है। एकदेश से या सर्वदेश से अन्यदर्शन को ग्रहण करने की इच्छा करना कांक्षा है। तप, जप, ब्रह्मचर्य आदि पालन के फल के विषय मे सशय करना विचिकित्सा है। बुद्धि मे द्वैधीभाव (बुद्धिभेद) उत्पन्न होना भेदसमापन्नता है, अथवा

१ "पुव्वभणियं पि पच्छा ज भण्णइ तत्थ कारण अत्थि।
पडिसेहो य अणुन्ना हेउविसेसोवलभोत्ति ॥"

अनध्यवसाय (अनिश्चितता) को भी भेदसमापन्नता कहते हैं, या पहले शका या काक्षा उत्पन्न होने से बुद्धि मे भ्रान्ति (विभ्रम) पैदा हो जाना भी भेदसमापन्नता है। जो वस्तु जिनेन्द्र भगवान् ने जैसी प्रतिपादित की है, उसे उसी रूप मे निश्चय न करके विपरीत बुद्धि रखना या विपरीत रूप से समझना कलुष-समापन्नता है।

काक्षामोहनीय कर्म को हटाने का प्रबल कारण—काक्षामोहनीय कर्म के कृत, चय आदि तथा वेदन के कारणो की स्पष्टता होने के पश्चात् इसी सन्दर्भ मे अगले सूत्र मे श्री गौतमस्वामी उस कर्म को हटाने का कारण पूछते है। छद्मस्थतावश जब कभी किसी तत्त्व या जिनप्ररूपित तथ्य के विषय मे शका आदि उपस्थित हो, तब इसी सूत्र—**'तमेव सच्च णीसक ज जिणेहिं पवेइय'** को हृदयगम कर ले तो व्यक्ति काक्षामोहनीय कर्म से बच सकता है और जिनाज्ञाराधक हो सकता है।

जिन—'जिन' किसी व्यक्ति विशेष का नाम नही है, वह एक पदवी है, गुणवाचक शब्द है। जिन्होने प्रकृष्ट साधना के द्वारा अनादिकालीन रागद्वेष, अज्ञान, कषाय आदि समस्त आत्मिक विकारो या मिथ्यावचन के कारणो पर विजय प्राप्त करली हो, वे महापुरुष **'जिन'** कहलाते है, भले ही वे किसी भी देश, वेष, जाति, नाम आदि से सम्बन्धित हो। ऐसे वीतराग सर्वज्ञपुरुषो के वचनो मे किसी को सन्देह करने का अवकाश नही है।[1]

अस्तित्व-नास्तित्व-परिणमन चर्चा

७ [१] से नूण भते ! अत्थित्त अत्थित्ते परिणमइ, नत्थित्त नत्थित्ते परिणमति ?

हता, गोयमा ! जाव परिणमति।

[७-१ प्र] भगवन् ! क्या अस्तित्व अस्तित्व मे परिणत होता है, तथा नास्तित्व नास्तित्व मे परिणत होता है ?

[७-१ उ] हाँ, गौतम ! अस्तित्व अस्तित्व मे परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व मे परिणत होता है।

[२] जं त भते ! अत्थित्त अत्थित्ते परिणमति, नत्थित्त नत्थित्ते परिणमति त किं पयोगसा वीससा ?

गोयमा ! पयोगसा वि त, वीससा वि त।

[७-२ प्र] 'भगवन् ! वह जो अस्तित्व अस्तित्व मे परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व मे परिणत होता है, सो क्या वह प्रयोग (जीव के व्यापार) से परिणत होता है अथवा स्वभाव से (विश्रसा) ?'

[७-२ उ] गौतम ! वह प्रयोग से भी परिणत होता है और स्वभाव से भी परिणत होता है।

[३] जहा ते भते ! अत्थित्त अत्थित्ते परिणमइ तहा ते नत्थित्त नत्थित्ते परिणमति ? जहा ते नत्थित्त नत्थित्ते परिणमति तहा ते अत्थित्त अत्थित्ते परिणमति ?

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ५२ से ५४ तक

हंता, गोयमा ! जहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमति तहा मे नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमति, जहा मे नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमति तहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमति ।

[७-३ प्र] 'भगवन् ! जैसे आपके मत से अस्तित्व, अस्तित्व मे परिणत होता है, उसी प्रकार नास्तित्व, नास्तित्व मे परिणत होता है ? और जैसे आपके मत से नास्तित्व, नास्तित्व मे परिणत होता है, उसी प्रकार अस्तित्व अस्तित्व मे परिणत होता है ?'

[७-३ उ] गौतम ! जैसे मेरे मत से अस्तित्व, अस्तित्व मे परिणत होता है, उसी प्रकार नास्तित्व, नास्तित्व मे परिणत होता है और जिस प्रकार मेरे मत से नास्तित्व, नास्तित्व मे परिणत होता है, उसी प्रकार अस्तित्व, अस्तित्व मे परिणत होता है ।

[४] से णूणं भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं ?

जहा परिणमइ दो आलावगा तहा गमणिज्जेण वि दो आलावगा भाणितव्वा जाव तहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं ।

[७-४ प्र] 'भगवन् ! क्या अस्तित्व, अस्तिन्व मे गमनीय है ?'

[७-४ उ] हे गौतम ! जैसे—'परिणत होता है', इस पद के आलापक कहे है, उसी प्रकार यहाँ 'गमनीय' पद के साथ भी दो आलापक कहने चाहिए, यावत् 'मेरे मत से अस्तित्व, अस्तित्व मे गमनीय है ।'

[५] जहा ते भंते ! एत्थं गमणिज्जं तहा ते इहं गमणिज्जं ? जहा ते इहं गमणिज्जं तहा ते एत्थं गमणिज्जं ?

हंता, गोयमा ! जहा मे एत्थं गमणिज्जं जाव तहा में एत्थं गमणिज्जं ।

[७-५ प्र] 'भगवन् ! जैसे आपके मत मे यहाँ (स्वात्मा मे) गमनीय है, उसी प्रकार इह (परात्मा मे भी) गमनीय है, जैसे आपके मत मे इह (परात्मा मे) गमनीय है, उसी प्रकार यहाँ (स्वात्मा मे) भी गमनीय है ?'

[७-५ उ] हाँ, गौतम ! जैसे मेरे मत मे यहाँ (स्वात्मा मे) गमनीय है, यावत् (परात्मा मे भी गमनीय है, और जैसे परात्मा मे गमनीय है) उसी प्रकार यहाँ (स्वात्मा मे) गमनीय है ।

विवेचन— अस्तित्व-नास्तित्व की परिणति और गमनीयता आदि का विचार—प्रस्तुत ७वे सूत्र मे विविध पहलुओ-अस्तित्व-नास्तित्व की परिणति एव गमनीयता आदि के सम्बन्ध मे चर्चा की गई है ।

अस्तित्व की अस्तित्व मे और नास्तित्व की नास्तित्व मे परिणति · व्याख्या—अस्तित्व का अर्थ है—जो पदार्थ जिस रूप मे विद्यमान है, उसका उसी रूप मे रहना । 'अस्तित्व अस्तित्व मे परिणत होता है,' इस सूत्र के दो आशय वृत्तिकार ने बताए है—(१) **प्रथम आशय**—द्रव्य एक पर्याय से दूसरे पर्याय के रूप मे परिणत होता है, तथापि पर्यायरूप द्रव्य को सद्रूप मानना । जैसे—अगुली की ऋजुतापर्याय वक्रतापर्यायरूप मे परिणत हो जाती है, तथापि ऋजुता आदि पर्यायो से अगुलिरूप द्रव्य का अस्तित्व अभिन्न है, पृथक् नही । तात्पर्य यह है कि अगुली आदि का अगुली आदि के रूप मे जो सत्त्व (अस्तित्व) है, वह उसी रूप मे—अगुली आदि का अगुली आदि रूप मे—सत्त्वरूप मे—वक्रतादि पर्यायरूप मे परिणमन होता है अगुली मे अगुलित्व कायम रहता है, केवल

उसके वक्र, ऋजु आदि रूपान्तर होते है। निष्कर्ष यह है—किसी भी पदार्थ की सत्ता किसी भी प्रकार से हो, वही सत्ता दूसरे प्रकार से—पूर्वापेक्षा भिन्न प्रकार से हो जाती है। जैसे—मिट्टी रूप पदार्थ की सत्ता सर्वप्रथम एक पिण्डरूप मे होती है, वही सत्ता घटरूप मे हो जाती है। (२) **द्वितीय आशय**—जो अस्तित्व अर्थात्—सत् (विद्यमान-सत्तावाला) पदार्थ है, वह सत्‌रूप (अस्तित्वरूप) मे परिणत होता है। तात्पर्य यह है कि सत् पदार्थ सदैव सद्‌रूप ही रहता है विनष्ट नही होता—कदापि असत् (शून्यरूप) मे परिणत नही होता। जिसे विनाश कहा जाता है, वह मात्र रूपान्तर—पर्याय परिवर्तन है, 'असत् होना, या समूल नाश होना नही। जैसे—एक दीपक प्रकाशमान है, किन्तु तेल जल जाने या हवा का झौका लगने से वह बुझ जाता है। आप कहेगे कि दीपक का नाश हो गया, किन्तु वास्तव मे वह प्रकाश अपने मूलरूप मे नष्ट नही हुआ, केवल पर्याय-परिवर्तन हुआ है। प्रकाश-रूप पुद्‌गल अब अपनी पर्याय पलट कर अन्धकार के रूप मे परिणत हो गया है। प्रकाशावस्था और अन्धकारावस्था, इन दोनो अवस्थाओ मे दीपकरूप द्रव्य वही है। इसी का नाम है—सत् का सद्‌रूप मे ही रहना, क्योकि सत् धर्मीरूप है और सत्त्व धर्मरूप है, इन दोनो मे अभेद है, तभी सत् पदार्थ सत् रूप मे परिणत होता है।

वस्तु मे अस्तित्व और नास्तित्व दोनो धर्मो की विद्यमानता—केवल अस्तित्व सम्बन्धी प्रश्न करने से सभी वस्तुएँ एक रूप हो जाती, इसलिए नास्तित्व सम्बन्धी प्रश्न भी किया गया है। जहाँ अस्तित्व है, वहाँ नास्तित्व अवश्य है। इस सत्य को प्रकट करने के लिए नास्तित्व सम्बन्धी प्रश्न भी आवश्यक था। कोई कह सकता है कि एक ही पदार्थ मे अस्तित्व और नास्तित्व, ये दो विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म कैसे रह सकते है? परन्तु जैनदर्शन का सिद्धान्त है कि पदार्थ मे अस्तित्व और नास्तित्व दोनो धर्म विभिन्न अपेक्षा से विद्यमान है, बल्कि अपेक्षाभेद के कारण इन दोनो मे विरोध नही रहकर, साहचर्य सम्बन्ध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि एक ही अपेक्षा से अस्तित्व और नास्तित्व—दोनो एक पदार्थ मे माने जाएँ तो विरोध आता है, किन्तु पृथक्-पृथक् अपेक्षाओ से दोनो को एक पदार्थ मे मानना विरुद्ध नही है। जैसे—वस्त्र मे अपने स्वरूप की अपेक्षा अस्तित्व है किन्तु पररूप की अपेक्षा से नास्तित्व है। ऐसा न मानने पर प्रतिनियत विभिन्न पदार्थो की व्यवस्था एव स्वानुभवसिद्ध पृथक्-पृथक् व्यवहार नही हो सकेगा। अतः वस्तु केवल सत्तामय नही किन्तु सत्ता और असत्तामय है। यही मानना उचित है।

नास्तित्व की नास्तित्व-रूप मे परिणति : व्याख्या—इस सूत्र की एक व्याख्या यह है कि जिस वस्तु मे जिसकी जिस रूप मे नास्ति है, उसकी उसी रूप मे नास्ति रहती है। जैसे—अगुली का अगूठा आदि के रूप मे न होना, अगुली का (अगुली की अपेक्षा से) अगूठा आदि रूप मे नास्तित्व है। वह अगुष्ठादिरूप मे नास्तित्व अगुली के लिए अगूठा आदि के नास्तित्व मे परिणत होता है। सीधे शब्दो मे यो कहा जा सकता है—जो अगुली अगुष्ठादिरूप नही है, वह अगुष्ठादि नही होती। इसका यह अर्थ नही है कि अगूठे की अगूठे के रूप मे नास्ति है। जो है, वही है, अन्यरूप नही है। नास्तित्व नास्तित्वरूप मे परिणत होता है, इसके उदाहरण भी वे ही समझने चाहिए क्योकि स्वरूप से अस्तित्व ही परस्वरूप से नास्तित्व कहलाता है।

उसके वक्र, ऋजु आदि रूपान्तर होते है। निष्कर्ष यह है—किसी भी पदार्थ की सत्ता किसी भी प्रकार से हो, वही सत्ता दूसरे प्रकार से—पूर्वापेक्षा भिन्न प्रकार से हो जाती है। जैसे—मिट्टी रूप पदार्थ की सत्ता सर्वप्रथम एक पिण्डरूप मे होती है, वही सत्ता घटरूप मे हो जाती है। (२) द्वितीय आशय—जो अस्तित्व अर्थात्—सत् (विद्यमान-सत्तावाला) पदार्थ है, वह सत्रूप (अस्तित्वरूप) मे परिणत होता है। तात्पर्य यह है कि सत् पदार्थ सदैव सद्रूप ही रहता है विनष्ट नही होता—कदापि असत् (शून्यरूप) मे परिणत नही होता। जिसे विनाश कहा जाता है, वह मात्र रूपान्तर—पर्याय परिवर्तन है, 'असत् होना, या समूल नाश होना नही। जैसे—एक दीपक प्रकाशमान है, किन्तु तेल जल जाने या हवा का झौका लगने से वह बुझ जाता है। आप कहेगे कि दीपक का नाश हो गया, किन्तु वास्तव मे वह प्रकाश अपने मूलरूप मे नष्ट नही हुआ, केवल पर्याय-परिवर्तन हुआ है। प्रकाश-रूप पुद्गल अब अपनी पर्याय पलट कर अन्धकार के रूप मे परिणत हो गया है। प्रकाशावस्था और अन्धकारावस्था, इन दोनो अवस्थाओ मे दीपकरूप द्रव्य वही है। इसी का नाम है—सत् का सद्रूप मे ही रहना, क्योकि सत् धर्मीरूप है और सत्त्व धर्मरूप है, इन दोनो मे अभेद है, तभी सत् पदार्थ सत् रूप मे परिणत होता है।

वस्तु मे अस्तित्व और नास्तित्व दोनो धर्मो की विद्यमानता—केवल अस्तित्व सम्बन्धी प्रश्न करने से सभी वस्तुएँ एक रूप हो जाती, इसलिए नास्तित्व सम्बन्धी प्रश्न भी किया गया है। जहाँ अस्तित्व है, वहाँ नास्तित्व अवश्य है। इस सत्य को प्रकट करने के लिए नास्तित्व सम्बन्धी प्रश्न भी आवश्यक था। कोई कह सकता है कि एक ही पदार्थ मे अस्तित्व और नास्तित्व, ये दो विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म कैसे रह सकते है? परन्तु जैनदर्शन का सिद्धान्त है कि पदार्थ मे अस्तित्व और नास्तित्व दोनो धर्म विभिन्न अपेक्षा से विद्यमान है, बल्कि अपेक्षाभेद के कारण इन दोनो मे विरोध नही रहकर, साहचर्य सम्बन्ध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि एक ही अपेक्षा से अस्तित्व और नास्तित्व—दोनो एक पदार्थ मे माने जाएँ तो विरोध आता है, किन्तु पृथक्-पृथक् अपेक्षाओ से दोनो को एक पदार्थ मे मानना विरुद्ध नही है। जैसे—वस्त्र मे अपने स्वरूप की अपेक्षा अस्तित्व है किन्तु पररूप की अपेक्षा से नास्तित्व है। ऐसा न मानने पर प्रतिनियत विभिन्न पदार्थो की व्यवस्था एव स्वानुभवसिद्ध पृथक्-पृथक् व्यवहार नही हो सकेगा। अत वस्तु केवल सत्तामय नही किन्तु सत्ता और असत्तामय है। यही मानना उचित है।

नास्तित्व की नास्तित्व-रूप मे परिणति व्याख्या—इस सूत्र की एक व्याख्या यह है कि जिस वस्तु मे जिसकी जिस रूप मे नास्ति है, उसकी उसी रूप मे नास्ति रहती है। जैसे—अगुली का अगूठा आदि के रूप मे न होना, अगुली का (अगुली की अपेक्षा से) अगूठा आदि रूप मे नास्तित्व है। वह अगुष्ठादिरूप मे नास्तित्व अगुली के लिए अगूठा आदि के नास्तित्व मे परिणत होता है। सीधे शब्दो मे यो कहा जा सकता है—जो अगुली अगुष्ठादिरूप नही है, वह अगुष्ठादि नही होती। इसका यह अर्थ नही है कि अगूठे की अगूठे के रूप मे नास्ति है। जो है, वही है, अन्यरूप नही है। नास्तित्व नास्तितवरूप मे परिणल होता है, इसके उदाहरण भी वे ही समझने चाहिए क्योकि स्वरूप से अस्तित्व ही परस्वरूप से नास्तित्व कहलाता है।

उसके वक्र, ऋजु आदि रूपान्तर होते है। निष्कर्ष यह है—किसी भी पदार्थ की सत्ता किसी भी प्रकार से हो, वही सत्ता दूसरे प्रकार से—पूर्वापेक्षा भिन्न प्रकार से हो जाती है। जैसे—मिट्टी रूप पदार्थ की सत्ता सर्वप्रथम एक पिण्डरूप मे होती है, वही सत्ता घटरूप मे हो जाती है। (२) **द्वितीय आशय**—जो अस्तित्व अर्थात्—सत् (विद्यमान-सत्तावाला) पदार्थ है, वह सत्रूप (अस्तित्वरूप) मे परिणत होता है। तात्पर्य यह है कि सत् पदार्थ सदैव सद्रूप ही रहता है विनष्ट नही होता—कदापि असत् (शून्यरूप) मे परिणत नही होता। जिसे विनाश कहा जाता है, वह मात्र रूपान्तर—पर्याय परिवर्तन है, 'असत् होना, या समूल नाश होना नही। जैसे—एक दीपक प्रकाशमान है, किन्तु तेल जल जाने या हवा का झोका लगने से वह बुझ जाता है। आप कहेगे कि दीपक का नाश हो गया, किन्तु वास्तव मे वह प्रकाश अपने मूलरूप मे नष्ट नही हुआ, केवल पर्याय-परिवर्तन हुआ है। प्रकाश-रूप पुद्गल अब अपनी पर्याय पलट कर अन्धकार के रूप मे परिणत हो गया है। प्रकाशावस्था और अन्धकारावस्था, इन दोनो अवस्थाओ मे दीपकरूप द्रव्य वही है। इसी का नाम है—सत् का सद्रूप मे ही रहना, क्योकि सत् धर्मीरूप है और सत्त्व धर्मरूप है, इन दोनो मे अभेद है, तभी सत् पदार्थ सत् रूप मे परिणत होता है।

वस्तु मे अस्तित्व और नास्तित्व दोनो धर्मो की विद्यमानता—केवल अस्तित्व सम्बन्धी प्रश्न करने से सभी वस्तुएँ एक रूप हो जाती, इसलिए नास्तित्व सम्बन्धी प्रश्न भी किया गया है। जहाँ अस्तित्व है, वहाँ नास्तित्व अवश्य है। इस सत्य को प्रकट करने के लिए नास्तित्व सम्बन्धी प्रश्न भी आवश्यक था। कोई कह सकता है कि एक ही पदार्थ मे अस्तित्व और नास्तित्व, ये दो विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म कैसे रह सकते है? परन्तु जैनदर्शन का सिद्धान्त है कि पदार्थ मे अस्तित्व और नास्तित्व दोनो धर्म विभिन्न अपेक्षा से विद्यमान है, बल्कि अपेक्षाभेद के कारण इन दोनो मे विरोध नही रहकर, साहचर्य सम्बन्ध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि एक ही अपेक्षा से अस्तित्व और नास्तित्व—दोनो एक पदार्थ मे माने जाएँ तो विरोध आता है, किन्तु पृथक्-पृथक् अपेक्षाओ से दोनो को एक पदार्थ मे मानना विरुद्ध नही है। जैसे—वस्त्र मे अपने स्वरूप की अपेक्षा अस्तित्व है किन्तु पररूप की अपेक्षा से नास्तित्व है। ऐसा न मानने पर प्रतिनियत विभिन्न पदार्थों की व्यवस्था एव स्वानुभवसिद्ध पृथक्-पृथक् व्यवहार नही हो सकेगा। अत• वस्तु केवल सत्तामय नही किन्तु सत्ता और असत्तामय है। यही मानना उचित है।

नास्तित्व की नास्तित्व-रूप मे परिणति व्याख्या—इस सूत्र की एक व्याख्या यह है कि जिस वस्तु मे जिसकी जिस रूप मे नास्ति है, उसकी उसी रूप मे नास्ति रहती है। जैसे—अगुली का अगूठा आदि के रूप मे न होना, अगुली का (अगुली की अपेक्षा से) अगूठा आदि रूप मे नास्तित्व है। वह अगुष्ठादिरूप मे नास्तित्व अगुली के लिए अगूठा आदि के नास्तित्व मे परिणत होता है। सीधे शब्दो मे यो कहा जा सकता है—जो अगुली अगुष्ठादिरूप नही है, वह अगुष्ठादि नही होती। इसका यह अर्थ नही है कि अगूठे की अगूठे के रूप मे नास्ति है। जो है, वही है, अन्यरूप नही है। नास्तित्व नास्तित्वरूप मे परिणत होता है, इसके उदाहरण भी वे ही समझने चाहिए क्योकि स्वरूप से अस्तित्व ही परस्वरूप से नास्तित्व कहलाता है।

इस सूत्र की दूसरी व्याख्या इस प्रकार भी है—नास्तित्व का अर्थ—अत्यन्त अभावरूप है। अत्यन्ताभावरूप नास्तित्व के उदाहरण—गधे के सीग या आकाशपुष्प आदि हैं। अत जो अत्यन्ताभावरूप नास्तित्व है, वह (गर्दभ शृंगादि) अत्यन्ताभावरूप नास्तित्व मे ही रहता है, क्योकि जो वस्तु सर्वथा असत् होती है, उसका कदापि अस्तित्व (सत्‌रूपता) हो नही सकता। कहा भी है—'असत् सद्‌रूप नही होता और सत् असत्‌रूप नहो होता।'

तीसरी व्याख्या इस प्रकार भी है—धर्मी के साथ धर्म का अभेद होता है, इसलिए अस्तित्व यानी सत् (जो सत् होता है, वह) सत्त्वरूप धर्म मे होता है। जैसे--पट पटत्व मे ही है। तथा नास्तित्व यानि असत् (जो असत् है, वह) असत्त्वरूप धर्म मे ही होता है। जैसे अपट अपटत्व मे ही है।

पदार्थो के परिणमन के प्रकार—अस्तित्व का अस्तित्वरूप मे परिणमन दो प्रकार से होता है—प्रयोग से (जीव के व्यापार से) और स्वभाव से (विश्रसा)। **प्रयोग से** यथा—कुम्भार की क्रिया से मिट्टी के पिंड का घटरूप मे परिणमन। **स्वभाव से** यथा—सफेद बादल काले बादलो के रूप मे किसी की क्रिया के बिना, स्वभावत परिणत होते है। **नास्तित्व का नास्तित्वरूप मे परिणमन** भी दो प्रकार से होता है—प्रयोग से और स्वभाव से। प्रयोग से यथा—घटादि की अपेक्षा से मिट्टी का पिण्ड नास्तित्व रूप है। स्वभाव से—यथा—पृच्छाकाल मे सफेद बालो मे कृष्णत्व का नास्तित्व।

गमनीयरूप प्रश्न का आशय—गमनीय का अर्थ है—प्ररूपणा करने योग्य। गमनीयरूप प्रश्न का आशय यह है कि पहले जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, वह केवल समझने के लिए है या प्ररूपणा करने योग्य भी है ?

'एत्थ' और 'इहं' प्रश्नसम्बन्धी सूत्र का तात्पर्य—'एत्थ' और 'इहं' सम्बन्धी प्रश्नात्मकसूत्र की तीन व्याख्याएँ वृत्तिकार ने की हैं—(१) 'एत्थ' का अर्थ यहाँ अर्थात्—स्वशिष्य और 'इहं' का अर्थ—गृहस्थ या परपाषण्डी आदि। इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि वस्तु की प्ररूपणा आप अपने और पराये का भेद न रखकर स्व-परजनो के लिए समभाव से करते हैं ?, (२) अथवा 'एत्थ' का अर्थ है—स्वात्मा और 'इहं' का अर्थ है—परात्मा। इसका आशय यह है कि आपको अपने (स्वात्मा) मे जैसे सुखप्रियता आदि धर्म गमनीय है, वैसे ही क्या परात्मा मे भी गमनीय—अभीष्ट हैं ?, (३) अथवा 'एत्थ' और 'इहं' दोनो समानार्थक शब्द है। दोनो का अर्थ है—प्रत्यक्षगम्य, प्रत्यक्षाधिकरणता। इसका आशय यह है—जैसे आपको अपनी सेवा मे रहे हुए ये श्रमणादि प्रत्यक्षगम्य है, वैसे ही क्या गृहस्थ आदि भी प्रत्यक्षगम्य हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने दिया, उसका आशय यह है कि चाहे स्वशिष्य हो या गृहस्थादि, प्ररूपणा सबके लिए समान होती है—होनी चाहिए।[1]

कांक्षामोहनीय कर्मबन्ध के कारणो की परम्परा—

८ जीवा ण भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं बंधंति ?

हंता, बंधंति।

---

१ (क) भगवतीसूत्र अभय वृत्ति, पत्राक ५५-५६

(ख) भगवतीसूत्र (टीका-अनुवाद प बेचरदासजी) खण्ड १, पृ ११८ से १२० तक

[८ प्र] भगवन् ! क्या जीव कांक्षामोहनीय कर्म बांधते है ?

[८ उ] हाँ, गौतम ! बांधते है।

९. [१] कहं णं भंते ! जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं बंधंति ?

गोयमा ! पमादपच्चया जोगनिमित्तं च।

[९-१ प्र] भगवन् ! जीव कांक्षामोहनीय कर्म किस प्रकार बांधते है ?

[९-१ उ] गौतम ! प्रमाद के कारण और योग के निमित्त से (जीव कांक्षामोहनीय कर्म बांधते है)।

[२] से णं भंते ! पमादे किंपवहे ?

गोयमा ! जोगप्पवहे।

[९-२ प्र] 'भगवन् ! प्रमाद किससे उत्पन्न होता है ?'

[९-२ उ] गौतम ! प्रमाद, योग से उत्पन्न होता है।

[३] से णं भंते ! जोगे किंपवहे ?

गोयमा ! वीरियप्पवहे।

[९-३ प्र] 'भगवन् ! योग किससे उत्पन्न होता है ?'

[९-३ उ] गौतम ! योग, वीर्य से उत्पन्न होता है।

[४] से णं भंते वीरिए किंपवहे ?

गोयमा ! सरीरप्पवहे।

[९-४ प्र] 'भगवन् ! वीर्य किससे उत्पन्न होता है ?'

[९-४ उ] गौतम ! वीर्य शरीर से उत्पन्न होता है।

[५] से णं भंते ! सरीरे किंपवहे ?

गोयमा ! जीवप्पवहे। एवं सति अत्थि उट्ठाणे ति वा, कम्मे ति वा, बले ति वा, वीरिए ति वा, पुरिसक्कार-परक्कमे ति वा।

[९-५ प्र] 'भगवन् ! शरीर किससे उत्पन्न होता है ?'

[९-५ उ] गौतम ! शरीर जीव से उत्पन्न होता है। और ऐसा होने मे जीव का उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम होता है।

विवेचन—कांक्षामोहनीय कर्मबन्ध के कारणो की परम्परा—प्रस्तुत दो सूत्रो मे कांक्षामोहनीय कर्मबन्ध और उसके कारणो की परम्परा के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर अंकित है।

बन्ध के कारण पूछने का आशय—यदि बिना निमित्त के ही कर्मबन्ध होने लगे तो सिद्धजीवो को भी कर्मबन्ध होने लगेगा, परन्तु होता नही है। इसलिए कांक्षामोहनीय कर्मबन्ध के कारण के सम्बन्ध मे प्रश्न किया गया है।

कर्मबन्ध के कारण—यद्यपि कर्मबन्ध के ५ मुख्य कारण बताए गए हैं, तथापि यहाँ प्रमाद और योग दो कारण बताने का आशय यह है कि मिथ्यात्व, अविरति और कषाय का अन्तर्भाव प्रमाद मे हो जाता है। यद्यपि सिद्धान्तानुसार छठे से आगे के गुणस्थानो मे प्रमाद नही होता, फिर भी जहाँ (दसवे गुणस्थान) तक कषाय है, वहाँ तक सूक्ष्म प्रमाद माना जाता है, स्थूल प्रमाद नही। इसलिए वहाँ तक प्राय मोहनीयकर्म का बन्ध होता है। दसवे गुणस्थान मे कषाय अत्यल्प (सूक्ष्म) होने से मोहकर्म का बन्ध नही होता है। यो प्रमाद के शास्त्रोक्त आठ भेदो मे इन तीनो के अतिरिक्त और भी कई विकार प्रमाद के अन्तर्गत है।[1]

शरीर का कर्ता कौन ?—प्रस्तुत मे शरीर का कर्ता जीव को बताया गया है, किन्तु जीव का अर्थ यहाँ नामकर्मयुक्त जीव समझना चाहिए। इससे सिद्ध, ईश्वर या नियति आदि के कर्तृत्व का निराकरण हो जाता है।

उत्थान आदि का स्वरूप—ऊर्ध्व होना, खडा होना या उठना उत्थान है। जीव की चेष्टा-विशेष को कर्म कहते है। शारीरिक प्राण बल कहलाता है। जीव के उत्साह को वीर्य कहते है। पुरुष को स्वाभिमानपूर्वक इष्टफलसाधक क्रिया पुरुषकार है और शत्रु को पराजित करना पराक्रम है।

शरीर से वीर्य की उत्पत्ति : एक समाधान—वीर्यान्तरायकर्म के क्षय या क्षयोपशम से वीर्य उत्पन्न होता है, और सिद्ध भगवान् इस कर्म का क्षय कर चुके हैं। किन्तु प्रस्तुत मे बताया गया है कि वीर्य की उत्पत्ति शरीर से होती है, ऐसी स्थिति मे सिद्ध या अलेश्यी भगवान् वीर्यरहित सिद्ध होते है, क्योकि सिद्धो के शरीर नही होता। इस शका का समाधान यह है कि वीर्य दो प्रकार के होते हैं—सकरणवीर्य और अकरणवीर्य। सिद्धो मे या अलेश्यी भगवान् मे अकरणवीर्य है, जो आत्मा का परिणामविशेष है, उसका शरीरोत्पन्न वीर्य (सकरणवीर्य) मे समावेश नही है। अत यहाँ सकरणवीर्य से तात्पर्य है।

कांक्षामोहनीय की उदीरणा, गर्हा आदि से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर—

१० [१] से णूणं भंते ! अप्पणा चेव उदीरेइ, अप्पणा चेव गरहइ, अप्पणा चेव संवरेइ ?
हंता, गोयमा ! अप्पणा चेव तं चेव उच्चारेयव्वं ३।

[१०-१ प्र] भगवन् ! क्या जीव अपने आपसे ही उस (कांक्षामोहनीय कर्म) को उदीरणा करता है, अपने आप से ही उसकी गर्हा करता है और अपने आप से ही उसका सवर करता है ?

[१०-१ उ] हाँ, गौतम ! जीव अपने आप से ही उसकी उदीरणा, गर्हा और सवर करता है।

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ५६-५७

(ख) पमाओ य मुणिदेहिं भणिओ अट्ठभेयओ।
अण्णाण ससओ चेव मिच्छानाण तहेव य ॥
रागदोसो मइब्भसो, धम्मम्मि य अणायरो।
जोगाण दुप्पणिहाण अट्ठहा वज्जियव्वओ ॥—भगवती अ वृत्ति पत्राक ५७ मे उद्धृत।

(ग) 'मिथ्यादर्शनाऽविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतव'—तत्त्वार्थ अ ८ सूत्र १

[२] जं तं भंते ! अप्पणा चेव उदीरेइ अप्पणा चेव गरहेइ, अप्पणा चेव संवरेइ तं उदिण्णं उदीरेइ १ अणुदिण्णं उदीरेइ २ अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ ३ उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं उदीरेइ ४ ?

गोयमा ! नो उदिण्णं उदीरेइ १, नो अणुदिण्णं उदीरेइ २, अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ ३, णो उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं उदीरेइ ४।

[१०-२ प्र] भगवन् ! वह जो अपने आप से ही उसकी उदीरणा करता है, गर्हा करता है और संवर करता है, तो क्या उदीर्ण (उदय मे आए हुए) की उदीरणा करता है ?, अनुदीर्ण (उदय मे नहीं आए हुए) की उदीरणा करता है ?, या अनुदीर्ण उदीरणाभविक (उदय मे नही आये हुए, किन्तु उदीरणा के योग्य) कर्म की उदीरणा करता है ? अथवा उदयानन्तर पश्चात्कृत कर्म की उदीरणा करता है ?

[१०-२ उ] गौतम ! उदीर्ण की उदीरणा नही करता, अनुदीर्ण की भी उदीरणा नही करता, तथा उदयानन्तर पश्चात्कृत कर्म की भी उदीरणा नही करता, किन्तु अनुदीर्ण-उदीरणा-भविक (योग्य) कर्म की उदीरणा करता है।

[३] जं तं भंते ! अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ तं किं उट्ठाणेणं कम्मेणं बलेणं वीरिएणं पुरिसक्कारपरक्कमेणं अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ ? उदाहु तं अणुट्ठाणेणं अकम्मेणं अबलेणं अवीरिएणं अपुरिसक्कारपरक्कमेणं अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ ?

गोयमा ! तं उट्ठाणेण वि कम्मेण वि बलेण वि वीरिएण वि पुरिसक्कारपरक्कमेण वि अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ, णो तं अणुट्ठाणेणं अकम्मेणं अबलेणं अवीरिएणं अपुरिसक्कारपरक्कमेणं अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ। एवं सति अत्थि उट्ठाणे इ वा कम्मे इ वा बले इ वा वीरिए इ वा पुरिसक्कारपरक्कमे इ वा।

[१०-३ प्र] भगवन् ! यदि जीव अनुदीर्ण-उदीरणाभविक की उदीरणा करता है, तो क्या उत्थान से, कर्म से, बल से, वीर्य से और पुरुषकार-पराक्रम से उदीरणा करता है, अथवा अनुत्थान से, अकर्म से, अबल से, अवीर्य से और अपुरुषकार-पराक्रम से उदीरणा करता है ?

[१०-३ उ] गौतम ! वह अनुदीर्ण-उदीरणा-भविक कर्म की उदीरणा उत्थान से, कर्म से, बल से, वीर्य से और पुरुषकार-पराक्रम से करता है, (किन्तु) अनुत्थान से, अकर्म से, अबल से, अवीर्य से और अपुरुषकार-पराक्रम से उदीरणा नहीं करता। अतएव उत्थान है, कर्म है, बल है, वीर्य है और पुरुषकार पराक्रम है।

११. [१] से नूणं भंते ! अप्पणा चेव उवसामेइ, अप्पणा चेव गरहइ, अप्पणा चेव संवरेइ ?

हंता, गोयमा ! एत्थ वि तं चेव भाणियव्वं, नवरं अणुदिण्णं उवसामेइ, सेसा पडिसेहेयव्वा तिण्णि।

[११-१ प्र] भगवन् ! क्या वह अपने आप से ही (कांक्षा-मोहनीय कर्म का) उपशम करता है, अपने आप से ही गर्हा करता है और अपने आप से ही संवर करता है ?

[११-१ उ] हाँ, गौतम ! यहाँ भी उसी प्रकार 'पूर्ववत्' कहना चाहिए । विशेषता यह है कि अनुदीर्ण (उदय मे नही आए हुए) का उपशम करता है, शेष तीनो विकल्पो का निषेध करना चाहिए ।

[२] ज तं भंते ! अणुदिण्ण उवसामेइ त किं उट्ठाणेणं जाव पुरिसक्कारपरक्कमेण वा ।

[११-२ प्र] भगवन् ! जीव यदि अनुदीर्ण कर्म का उपशम करता है, तो क्या उत्थान से यावत् पुरुषकार-पराक्रम से करता है या अनुत्थान से यावत् अपुरुषकार-पराक्रम से करता है ?'

[११-२ उ] गौतम ! पूर्ववत् जानना—यावत् पुरुषकार-पराक्रम से उपशम करता है ।

१२ से नूण भंते ! अप्पणा चेव वेदेइ अप्पणा चेव गरहइ ?

एत्थ वि स च्चेव परिवाडी । नवरं उदिण्णं वेएइ, नो अणुदिण्ण वेएइ । एव जाव पुरिसक्कार-परक्कमे इ वा ।

[१२-प्र] भगवन् क्या जीव अपने आप से ही वेदन करता है और गर्हा करता है ?

[१२-उ] गौतम ! यहाँ भी पूर्वोक्त समस्त परिपाटी पूर्ववत् समझनी चाहिए । विशेषता यह है कि उदीर्ण को वेदता है, अनुदीर्ण को नही वेदता । इसी प्रकार यावत् पुरुषकार पराक्रम से वेदता है, अनुत्थानादि से नही वेदता है ।

१३ से नूण भंते ! अप्पणा चेव निज्जरेति अप्पणा चेव गरहइ ?

एत्थ वि स च्चेव परिवाडी । नवर उदयाणतरपच्छाकडं कम्म निज्जरेइ, एव जाव परक्कमेइ वा ।

[१३-प्र] 'भगवन् ! क्या जीव अपने आप से ही निर्जरा करता है और गर्हा करता है ?'

[१३-उ] गौतम ! यहाँ भी समस्त परिपाटी 'पूर्ववत्' समझनी चाहिए, किन्तु इतनी विशेषता है कि उदयानन्तर पश्चात्कृत कर्म को निर्जरा करता है । इसी प्रकार यावत् पुरुषकार-पराक्रम से निर्जरा और गर्हा करता है । इसलिए उत्थान यावत् पुरुषकार-पराक्रम है ।

विवेचन—कांक्षामोहनीय कर्म को उदीरणा, गर्हा, संवर, उपशम, वेदन, निर्जरा आदि से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत चार सूत्रो मे कांक्षामोहनीय कर्म की उदीरणा आदि के सम्बन्ध मे तीन मुख्य प्रश्नोत्तर हैं—(१) उदीरणादि अपने आप से करता है, (२) उदीर्ण, अनुदीर्ण, अनुदीर्ण-उदीरणाभविक और उदयानन्तर पश्चात्कृत कर्म मे से अनुदीर्ण-उदीरणाभविक की अर्थात्—जो उदय मे नही आया है किन्तु उदीरणा के योग्य है उसकी उदीरणा करता है, (३) उत्थानादि पाँचो से कर्मोदीरणा करता है, अनुत्थानादि से नही । इसी के सन्दर्भ मे उपशम, सवर, वेदन, गर्हा एव निर्जरा के विषय मे पूर्ववत् तीन-तीन मुख्य प्रश्नोत्तर अंकित है ।

उदीरणा कुछ शका-समाधान—(१) जीव काल आदि अन्य की सहायता से उदीरणा आदि करता है, फिर भी जीव को ही यहाँ कर्ता के रूप मे क्यो बताया गया है ? इसका समाधान यह है कि जैसे घडा बनाने मे कुम्हार के अतिरिक्त गधा, दण्ड, चक्र, चीवर, काल आदि सहायक होते हुए भी कुम्हार को ही प्रधान एव स्वतत्र कारण होने के नाते घडे का कर्ता माना जाता है,

वैसे ही कर्म की उदीरणा आदि का प्रधान एव स्वतत्र कर्ता जीव को ही समझना चाहिए। (२) उदीरणा के साथ गर्हा और सवरणा (सवर) को रखने का कारण यह है कि ये दोनो उदीरणा के साधन है। (३) कर्म की उदीरणा मे काल, स्वभाव, नियति, गुरु आदि भी कारण है, फिर भी जीव के उत्थान आदि पुरुपार्थ की प्रधानता होने से उदीरणा आदि मे आत्मा के पुरुपार्थ को कारण बताया गया है।

गर्हा आदि का स्वरूप—अतीतकाल मे जो पापकर्म किया, उनके कारणो को ग्रहण (कर्मबन्ध के कारणो का विचार) करके आत्मनिन्दा करना गर्हा है। इससे पापकर्म के प्रति विरक्ति-भाव जागृत होता है। गर्हा प्रायश्चित्त की पूर्वभूमिका है, और उदीरणा मे सहायक है। वर्तमान मे किये जाने वाले पापकर्म के स्वरूप को जानकर या उसके कारण को समझकर उस कर्म को रोकना या उसका त्याग-प्रत्याख्यान कर देना **सवर** है। उदीर्ण (उदय मे आए हुए) कर्म का क्षय होता है और जो उदय मे नही आए है, उनके विपाक और प्रदेश का अनुभव न होना—कर्म की ऐसी अवस्था को **उपशम** कहते है। शास्त्रानुसार उपशम अनुदीर्ण कर्मों का—विशेषत मोहनीय कर्म का ही होता है, अन्य कर्मो का नही।

वेदना और गर्हा—वेदन का अर्थ है—उदय मे आए हुए कर्म-फल को भोगना। दूसरे की वेदना दूसरे को नही होती, न ही दूसरा दूसरे की वेदना को भोग सकता है। पुत्र की वेदना से माता दु खी होती है, परन्तु पुत्र को पुत्र की वेदना होती है, माता को अपनी वेदना—मोहममत्व सम्बन्ध के कारण पीडा—होती है। और यह भी सत्य है, अपनी वेदना को स्वय व्यक्ति से, समभाव से या गर्हा से भोगकर मिटा सकता है, दूसरा नही। वेदना और गर्हा दोनो पदो को साथ रखने का कारण यह है कि सकाम वेदना और सकाम निर्जरा बिना गर्हा के नही होती। अत सकाम वेदना और सकाम निर्जरा का कारण गर्हा है, वैसे सवर भी है।

कर्मसम्बन्धी चतुर्भंगी—मूल मे जो चार भग कहे है, उनमे से तीसरे भग मे उदीरणा, दूसरे भग मे उपशम, पहले भग मे वेदन और चौथे भग मे निर्जरा होती है। शेष सब बाते सब मे समान हैं।[1]

निष्कर्ष यह है कि उदय मे न आए हुए, किन्तु उदीरणा के योग्य कर्मो की उदीरणा होती है, अनुदीर्ण कर्मो का उपशम होता है, उदीर्ण कर्म का वेदन होता है, और उदयानन्तर पश्चात्कृत (उदय के बाद हटे हुए) कर्म की निर्जरा होती है।

---

१ (क) भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक ५८-५९

(ख) "अणुमेत्तो वि, ण कस्सइ बधो, परवत्थुपच्चयो भणिओ।"

(ग) "मोहस्सेवोपसमो खओवसमो चउण्ह घाईण।
उदयक्खयपरिणामा अठण्ह वि होति कम्माण॥"

(घ) "तइएण उदीरेंति, उवसामेति य पुणो वि बीएण।
वेइति निज्जरति य पढमचउत्थेहिं सव्वेऽवि॥"

चौबीस दण्डकों तथा श्रमणों के कांक्षामोहनीयवेदन सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—

१४ [१] नेरइया णं भंते ! कखामोहणिज्ज कम्म वेएंति ?

जहा ओहिया जीवा तहा नेरइया जाव थणितकुमारा ।

[१४-१ प्र] भगवन् ! क्या नैरयिक जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते है ?

[१४-१ उ] हॉ, गौतम ? वेदन करते है। सामान्य (ओघिक) जीवो के सम्बन्ध मे जैसे आलापक कहे थे, वैसे ही नैरयिको के सम्बन्ध मे यावत् स्तनितकुमारो (दसवे भवनपति देवो) तक समझ लेने चाहिए ।

[२] पुढविक्काइया ण भंते ! कखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ?

हंता, वेदेंति ।

[१४-२ प्र] भगवन् ? क्या पृथ्वीकायिक जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते है ?

[१४-२ उ,] हाँ, गौतम ! वे वेदन करते है ।

[३] कह ण भंते ! पुढविक्काइया कखामोहणिज्ज कम्म वेदेंति ?

गोयमा ! तेसि ण जीवाण णो एव तक्का इ वा सण्णा इ वा पण्णा इ वा मणे इ वा वई ति वा 'अम्हे णं कखामोहणिज्ज कम्म वेदेमो' वेदेंति पुण ते ।

[१४-३ प्र] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव किस प्रकार कांक्षामोहनीयकर्म का वेदन करते है ?

[१४-३ उ] गौतम ! उन जीवो को ऐसा तर्क, सज्ञा, प्रज्ञा, मन अथवा वचन नही होता कि 'हम कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं', किन्तु वे उसका वेदन अवश्य करते है ।

[४] से णूण भंते ! तमेव सच्च नीसक जं जिणेहिं पवेदिय ।

सेसं त चेव जाव पुरिसक्कार-परक्कमेण ति वा ।

[१४-४ प्र] भगवन् ! क्या वही सत्य और नि शक है, जो जिन-भगवन्तो द्वारा प्ररूपित है ?

[१४-४ उ] हाँ, गौतम ! यह सब पहले के समान जानना चाहिए—अर्थात्—जिनेन्द्रो द्वारा जो प्ररूपित है, वही सत्य और नि शक (असदिग्ध) है, यावत्—पुरुषकार-पराक्रम से निर्जरा होती है ।

[५] एव जाव चउरिंदिया ।

[१४-५] इसी प्रकार चतुरिन्द्रियजीवो तक जानना चाहिए ।

[६] पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जाव वेमाणिया जहा ओहिया जीवा ।

[१४-६] जैसे सामान्य जीवो के विषय मे कहा है, वैसे ही पचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक जीवो से लेकर यावत् वैमानिक तक कहना चाहिए ।

१५ [१] अत्थि ण भंते ! समणा वि निग्गथा कंखामोहणिज्ज कम्म वेदेंति ?

हंता, अत्थि ।

[१५-१ प्र] भगवन् ! क्या श्रमणनिर्ग्रन्थ भी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते है ?

[१५-१ उ] हाँ, गौतम ! वे भी वेदन करते है ।

[२] कहं णं भंते ! समणा वि निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ?

गोयमा ! तेहिं तेहिं नाणंतरेहिं दंसणंतरेहिं चरित्तंतरेहिं लिंगंतरेहिं पवयणंतरेहिं पावयणंतरेहिं कप्पंतरेहिं मग्गंतरेहिं मतंतरेहिं भंगंतरेहिं नयंतरेहिं नियमंतरेहिं पमाणंतरेहिं संकिया कंखिया वितिकिंछिता भेदसमावन्ना, कलुससमावन्ना, एवं खलु समणा निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ।

[१५-२ प्र] भगवन् ! श्रमणनिर्ग्रन्थ कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन किस प्रकार करते है ?

[१५-२ उ] गौतम ! उन-उन कारणो से ज्ञानान्तर, दर्शनान्तर, चारित्रान्तर, लिंगान्तर, प्रवचनान्तर, प्रावचनिकान्तर कल्पान्तर, मार्गान्तर, मतान्तर, भंगान्तर, नयान्तर, नियमान्तर और प्रमाणान्तरो के द्वारा शंकित, कांक्षित, विचिकित्सित, भेदसमापन्न और कलुषसमापन्न होकर श्रमणनिर्ग्रन्थ भी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते है ।

[३] से नूणं भंते ! तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं ?
हंता, गोयमा ! तमेव सच्चं नीसंकं जाव पुरिसक्कारपरक्कमे इ वा ।
सेवं भंते ! सेवं भंते ! ० ।

॥ तइओ उद्देसओ सम्मत्तो १-३ ॥

[१५-३ प्र] भगवन् ! क्या वही सत्य और निःशंक है, जो जिन भगवन्तो ने प्ररूपित किया है ?

[१५-३ उ] हाँ, गौतम ! वही सत्य है, निःशंक है, जो जिन भगवन्तो द्वारा प्ररूपित है, यावत् पुरुषकार-पराक्रम से निर्जरा होती है, (तक सारे आलापक समझ लेने चाहिए ।)

गौतम—हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है ! भगवन् ! यही सत्य है !

विवेचन—चौबीस दण्डको तथा श्रमणनिर्ग्रन्थो मे कांक्षामोहनीय कर्मवेदन सम्बन्धी प्रश्नोत्तर— प्रस्तुत दो सूत्र मे से प्रथम सूत्र मे चौबीस दण्डक के जीवो के ६ अवान्तर प्रश्नोत्तरो द्वारा तथा श्रमणनिर्ग्रन्थो के कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर प्रस्तुत किये गए हैं ।

पृथ्वीकाय कर्मवेदन कैसे करते हैं ?—जिन्हे मनोलब्धि प्राप्त नही, जो भले-बुरे की पहिचान नही कर पाते वे पृथ्वीकायिक जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन कैसे करते हैं ? इस आशय से श्री गौतमस्वामी द्वारा पूछा गया है ।

तर्क आदि का स्वरूप—'यह इस प्रकार होगा', इस प्रकार के विचार-विमर्श या ऊहापोह को तर्क कहते हैं । संज्ञा का अर्थ है—अर्थावग्रहरूप ज्ञान । प्रज्ञा का अर्थ है—नई-नई स्फुरणा वाला विशिष्ट ज्ञान या बुद्धि । स्मरणादिरूप मतिज्ञान के भेद को मन कहते हैं । अपने अभिप्राय को शब्दो द्वारा व्यक्त करना वचन कहलाता है ।

शेष दण्डको मे कांक्षामोहनीय कर्मवेदन—पृथ्वीकाय की तरह अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तक ऐसा ही वर्णन जानना चाहिए। तिर्यञ्च-पञ्चेन्द्रिय से वैमानिक तक समुच्चयजीव के वर्णन की तरह समझना चाहिए।

श्रमण-निर्ग्रन्थ को भी कांक्षामोहनीयकर्म-वेदन—श्रमणनिर्ग्रन्थो की बुद्धि आगमो के परिशीलन से शुद्ध हो जाती है, फिर उन्हे काक्षामोहनीय कर्म का वेदन कैसे हो सकता है ? इस आशय से गौतम स्वामी का प्रश्न है।

ज्ञानान्तर—एक ज्ञान से दूसरा ज्ञान। यथा पाच ज्ञान क्यो कहे गये ? अवधि और मन पर्याय ये दो ज्ञान पृथक् क्यो ? दोनो रूपी पदार्थो को जानते है, दोनो विकल एव अतीन्द्रिय है, क्षायोपशमिक है। फिर भेद का क्या कारण है ? इस प्रकार का सदेह होना। यद्यपि विषय, क्षेत्र, स्वामी आदि अनेक अपेक्षाओ से दोनो ज्ञानो मे अन्तर है, उसे न समझ कर शका करने से और शका-निवारण न होने से काक्षा, विचिकित्सा और कलुषता आदि आती है।

दर्शनान्तर—सामान्य बोध, दर्शन है। यह इन्द्रिय और मन से होता है। फिर चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन, इस प्रकार से दो भेद न करके या तो इन्द्रियदर्शन और मनोदर्शन, यो दो भेद करने थे, या इन्द्रियजन्य और अनिन्द्रियजन्य, यो दो भेद करने थे, अथवा श्रोत्रदर्शन, रसनादर्शन, मनोदर्शन आदि ६ भेद करने चाहिए थे। किन्तु चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन, ये दो भेद करने के दो मुख्य कारण है—(१) चक्षुदर्शन विशेष रूप से कथन करने के लिए और अचक्षुदर्शन सामान्य रूप से कथन के लिए है। (२) चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी है, शेष चार इन्द्रिया प्राप्यकारी है। मन अप्राप्यकारी होते हुए भी सभी इन्द्रियो के साथ रहता है। इस प्रकार का समाधान न होने से शकादि दोषो से ग्रस्त हो जाता है।

अथवा 'दर्शन' का अर्थ सम्यक्त्व है। उसके विषय मे शका पैदा होना। जैसे—औपशमिक और क्षायोपशमिक दोनो सम्यक्त्वो का लक्षण लगभग एक-सा है, फिर दोनो को पृथक-पृथक बताने का क्या कारण है ? ऐसी शका का समाधान न होने पर काक्षामोहनीयकर्म का वेदन करते है। इसका समाधान यह है कि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे प्रदेशानुभव की अपेक्षा उदय होता है, जबकि औपशमिक सम्यक्त्व मे प्रदेशानुभव ही नही होता। इस कारण दोनो को पृथक-पृथक कहा गया है।

चारित्रान्तर—चारित्र विषयक शका होना। जैसे—सामायिक चारित्र सर्वसावद्यविरति रूप है और महाव्रतरूप होने से छेदोपस्थापनिक चारित्र भी अवद्यविरति रूप है, फिर दोनो पृथक्-पृथक् क्यो कहे गए हैं ? इस प्रकार की चारित्रविषयक शका भी काक्षामोहनीय कर्मवेदन का कारण बनती है। समाधान यह है कि चारित्र के ये दो प्रकार न किये जाए तो केवल सामायिक चारित्र ग्रहण करने वाले साधु के मन मे जरा-सी भूल करते ही ग्लानि पैदा होती कि मैं चारित्रभ्रष्ट हो गया ! क्योकि उसकी दृष्टि से केवल सामायिक ही चारित्ररूप है। इसलिए प्रथम सामायिक चारित्र ग्रहण करने के बाद दूसरी बार महाव्रतारोपण रूप छेदोपस्थापनीय चारित्र ग्रहण करने पर सामायिक सम्बन्धी थोडी भूल हो जाए तो भी उसके महाव्रत खण्डित नही होते। इसीलिए दोनो चारित्रो के ग्रहण करने का विधान प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरो के क्रमश ऋजुजड और वक्रजड साधुओ के लिए अनिवार्य बताया गया है।

लिगान्तर—लिग=वेष के विषय मे शका उत्पन्न होना कि बीच के २२ तीर्थंकरो के साधुओ के लिए तो वस्त्र के रग और परिमाण का कोई नियम नही है, फिर प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के साधुओ के लिए श्वेत एव प्रमाणोपेत वस्त्र रखने का नियम क्यो ? इस प्रकार की वेश (लिंग) सम्बन्धी शका से काक्षामोहकर्म वेदन होता है।

प्रवचनान्तर—प्रवचनविषयक शका, जैसे—प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरो ने पाच महाव्रतो का और बीच के २२ तीर्थंकरो ने चार महाव्रतो का प्रतिपादन किया, तीर्थंकरो मे यह प्रवचन (वचन) भेद क्यो ? इस प्रकार की शका होना भी काक्षामोहकर्मवेदन का कारण है।

प्रावचनिकान्तर—प्रावचनिक का अर्थ है—प्रवचनो का ज्ञाता या अध्येता, बहुश्रुत साधक। दो प्रावचनिको के आचरण मे भेद देखकर शका उत्पन्न होना भी काक्षामोहवेदन का कारण है।

कल्पान्तर—जिनकल्प, स्थविरकल्प आदि कल्पो के मुनियो का आचार-भेद देखकर शका करना कि यदि जिनकल्प कर्मक्षय का कारण हो तो स्थविरकल्प का उपदेश क्यो ? यह भी काक्षामोहवेदन का कारण है।

मार्गान्तर—मार्ग का अर्थ है—परम्परागत समाचारी पद्धति। भिन्न समाचारी देखकर शका करना कि यह ठीक है या वह ? ऐसी शका भी काक्षा मोह वेदन का कारण है।

मतान्तर—भिन्न-भिन्न आचार्यो के विभिन्न मतो को देखकर शका करना।

भंगान्तर—द्रव्यादि सयोग से होने वाले भगो को देखकर शका उत्पन्न होना।

नयान्तर—एक ही वस्तु मे विभिन्न नयो की अपेक्षा से दो विरुद्ध धर्मो का कथन देखकर शका होना।

नियमान्तर—साधुजीवन मे सर्वसावद्य का प्रत्याख्यान होता ही है, फिर विभिन्न नियम क्यो, इस प्रकार शकाग्रस्त होना।

प्रमाणान्तर—आगमप्रमाण के विषय मे शका होना। जैसे—सूर्य पृथ्वी मे से निकलता दीखता है परन्तु आगम मे कहा है कि पृथ्वी से ८०० योजन ऊपर सचार करता है, आदि।[1]

॥ प्रथम शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

१ भगवतीसूत्र, अ वृत्ति, पत्राक ६० से ६२ तक

उत्थो उद्देसओ : पगई

चतुर्थ उद्देशक : (कर्म-) प्रकृति

१ कति ण भंते ! कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ?

गोतमा ! अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ । कम्मपगडीए पढमो उद्देसो नेतव्वो जाव अणुभागो सम्मत्तो ।

गाहा— कति पगडी ?१ कह बंधइ ?२ कतिहिं व ठाणेहिं बंधती पगडी ? ३ ।
कति वेदेति व पगडी ?४ अणुभागो कतिविहो कस्स ? ५ ॥ १ ॥

[१ प्र] भगवन् ! कर्म-प्रकृतियाँ कितनी कही गई है ?

[१ उ] गौतम ! कर्मप्रकृतियाँ आठ कही गई है । यहाँ (प्रज्ञापनासूत्र के) 'कर्मप्रकृति' नामक तेईसवे पद का प्रथम उद्देशक (यावत्) अनुभाग तक सम्पूर्ण जान लेना चाहिए ।

गाथार्थ—कितनी कर्मप्रकृतियाँ है ? जीव किस प्रकार कर्म बाधता है ? कितने स्थानो से कर्मप्रकृतियो को बाधता है ? कितनी प्रकृतियो का वेदन करता है ? किस प्रकृति का कितने प्रकार का अनुभाग (रस) है ?

विवेचन—कर्मप्रकृतियो से सम्बन्धित निर्देश—प्रस्तुत सूत्र मे प्रज्ञापनासूत्र का सदर्भ देकर कर्मप्रकृति सम्बन्धी समस्त तत्त्वज्ञान का निर्देश कर दिया है ।

कर्म और आत्मा का सम्बन्ध—निम्नोक्त शकाओ के परिप्रेक्ष्य मे कर्मसम्बन्धी प्रश्न श्री गौतम स्वामी ने उठाए है—(१) कर्म आत्मा को किस प्रकार लगते है ? क्योकि जड कर्मो को कुछ ज्ञान नही होता, वे स्वय आत्मा को लग नही सकते, (२) कर्म रूपी है, आत्मा अरूपी । अरूपी के साथ रूपी का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ?

यद्यपि प्रत्येक बधने वाले कर्म की आदि है, किन्तु प्रवाहरूप मे कर्मबन्ध अनादिकालीन है । अत यह कहा जा सकता है कि अनादिकाल से कर्म आत्मा के साथ लगे हुए है । कर्म भले जड है किन्तु जीव के रागादि विभावो के कारण उनका आत्मा के साथ बध होता है । उन कर्मो के सयोग से आत्मा अनादिकाल से ही, स्वभाव से अमूर्त्तिक होते हुए भी मूर्त्तिक हो रहा है । वास्तव मे, ससारी आत्मा रूपी है उसी को कर्म लगते हैं । इसलिए आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अरूपी और रूपी का सम्बन्ध नही है वरन् रूपी का रूपी के साथ सम्बन्ध है । इस दृष्टि से ससारी आत्मा कर्मो का कर्ता है, उसके किये विना कर्म नही लगते । यद्यपि कोई भी एक कर्म अनादिकालीन नही है और न अनन्तकाल तक आत्मा के साथ रह सकता है । ८ मूल कर्मप्रकृतियो का बध प्रवाहत अनादिकाल से होता आ रहा है । राग-द्वेष दो स्थानो से कर्म-बन्ध होने के साथ-साथ वेदन आदि भी होता है, अनुभागबन्ध भी । यह सब विवरण प्रज्ञापनासूत्र से जान लेना चाहिए ।[1]

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ६३

उदीर्ण-उपशान्तमोह जीव के सम्बन्ध में उपस्थान-उपक्रमणादि प्ररूपणा—

२. [१] जीवे ण भंते ! मोहणिज्जेण कडेणं कम्मेण उदिण्णेण उवट्ठाएज्जा ?
हंता, उवट्ठाएज्जा।

[२-१ प्र] भगवन् ! (पूर्व-) कृत मोहनीय कर्म जब उदीर्ण (उदय मे आया) हो, तब जीव उपस्थान-परलोक की क्रिया के लिए उद्यम करता है ?

[२-१ उ] हाँ, गौतम ! वह उपस्थान करता है।

[२] से भंते ! किं वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ? अवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ?
गोतमा ! वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, नो अवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा।

[२-२ प्र] भगवन् ! क्या जीव वीर्यता—सवीर्य होकर उपस्थान करता है या अवीर्यता से ?

[२-२ उ] गौतम ! जीव वीर्यता से उपस्थान करता है, अवीर्यता से नही करता।

[३] जदि वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा किं बालवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ? पंडितवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ? बाल-पंडितवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ?

गोयमा ! बालवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, णो पंडितवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, नो बाल-पंडितवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा।

[२-३ प्र] भगवन् ! यदि जीव वीर्यता से उपस्थान करता है, तो क्या बालवीर्य से करता है, अथवा पण्डितवीर्य से या बाल-पण्डितवीर्य से करता है ?

[२-३ उ] गौतम ! वह बालवीर्य से उपस्थान करता है, किन्तु पण्डितवीर्य से या बाल-पण्डितवीर्य से उपस्थान नही करता।

३ [१] जीवे ण भंते ! मोहणिज्जेण कडेण कम्मेण उदिण्णेण अवक्कमेज्जा ?
हंता, अवक्कमेज्जा।

[३-१ प्र] भगवन् ! (पूर्व-) कृत (उपार्जित) मोहनीय कर्म जब उदय मे आया हो, तब क्या जीव अपक्रमण (पतन) करता है, अर्थात्—उत्तम गुणस्थान से हीन गुणस्थान मे जाता है ?

[३-१ उ] हाँ, गौतम ! अपक्रमण करता है।

[२] से भंते ! जाव बालपंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा ३ ?

गोयमा ! बालवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा, नो पंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा, सिय बाल-पंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा।

[३-२ प्र] भगवन् ! वह बालवीर्य से अपक्रमण करता है, अथवा पण्डितवीर्य से या बाल-पण्डितवीर्य से ?

[३-२ उ] गौतम ! वह बालवीर्य से अपक्रमण करता है, पण्डितवीर्य से नही करता, कदाचित् बालपण्डितवीर्य से अपक्रमण करता है।

४. जहा उदिण्णेण दो आलावगा तहा उवसंतेण वि दो आलावगा भाणियव्वा। नवर उवट्ठाएज्जा पंडितवीरियत्ताए, अवक्कमेज्जा बाल-पंडितवीरियत्ताए।

[४] जैसे उदीर्ण (उदय मे आए हुए) पद के साथ दो आलापक कहे गए है, वैसे ही 'उपशान्त' पद के साथ दो आलापक कहने चाहिए। विशेषता यह है कि यहाँ जीव पण्डितवीर्य से उपस्थान करता है और अपक्रमण करता है—बालपण्डितवीर्य से।

५ [१] से भते ! किं आताए अवक्कमइ ? अणाताए अवक्कमइ ?

गोयमा ! आताए अवक्कमइ, णो अणाताए अवक्कमइ।

[५-१ प्र] भगवन् ! क्या जीव आत्मा (स्व) से अपक्रमण करता है अथवा अनात्मा (पर) से करता है ?

[५-१ उ] गौतम ! आत्मा से अपक्रमण करता है, अनात्मा से नही करता।

[२] मोहणिज्जं कम्म वेदेमाणे से कहमेय भते ! एव ?

गोतमा ! पुव्वि से एत एव रोयति इदाणिं से एय एव नो रोयइ, एव खलु एत एव।

[५-२ प्र] भगवन् ! मोहनीय कर्म को वेदता हुआ यह (जीव) इस प्रकार क्यो होता है अर्थात् क्यो अपक्रमण करता है ?

[५-२ उ] गौतम ! पहले उसे इस प्रकार (जिनेन्द्र द्वारा कथित तत्त्व) रुचता है और अब उसे इस प्रकार नही रुचता, इस कारण यह अपक्रमण करता है।

विवेचन—उदीर्ण-उपशान्त मोहनीय जीव के सम्बन्ध मे उपस्थान-अपक्रमणादि प्ररूपणा— प्रस्तुत चार सूत्रो मे विशेषरूप से मोहनीय कर्म के उदय तथा उपशम के समय जीव की परलोक साधन के लिए की जाने वाली (उपस्थान) क्रिया तथा अपक्रमण क्रिया के सम्बन्ध मे सकलित प्रश्नोत्तर है।

मोहनीय का प्रासगिक अर्थ—यहाँ मोहनीय कर्म का अर्थ साधारण मोहनीय नही, अपितु 'मिथ्यात्वमोहनीय कर्म' विवक्षित है। श्री गौतमस्वामी का यह प्रश्न पूछने का आशय यह है कि कई अज्ञानी भी परलोक के लिए बहुत उग्र एव कठोर क्रिया करते है अत क्या वे मिथ्यात्व का उदय होने पर भी परलोक साधन के लिए क्रिया करते हैं या मिथ्यात्व के अनुदय से ? भगवान् का उत्तर स्पष्ट है कि मिथ्यात्व मोहनीय का उदय होने पर भी जीव परलोक सम्बन्धी क्रिया करते है।

वीरियत्ताए—वीर्य (पराक्रम) का योग होने से प्राणी भी वीर्य कहलाता है। वीर्यता का आशय है वीर्ययुक्त होकर या वीर्यवान् होने से। और उसी वीर्यता के द्वारा वह परलोक साधन की क्रिया करता है। इससे स्पष्ट है कि उस क्रिया का कर्त्ता जीव ही है, कर्म नही। अगर जीव को क्रिया का कर्त्ता न माना जाए तो उसका फल किसे मिलेगा ?

त्रिविध वीर्य—बालवीर्य, पण्डितवीर्य और बालपण्डितवीर्य। जिस जीव को अर्थ का सम्यक् बोध न हो और सद्‌बोध के फलस्वरूप विरति न हो, यानी जो मिथ्यादृष्टि एव अज्ञानी हो, वह बाल है, उसका वीर्य बालवीर्य है। जो जीव सर्वपापो का त्यागी हो, जिसमे विरति हो, जो क्रियानिष्ठ हो, वह पण्डित है, उसीका वीर्य **पण्डितवीर्य** है। जिन त्याज्य कार्यों को मोहकर्म के उदय से त्याग नही सका, किन्तु त्यागने योग्य समझता है—स्वीकार करता है, वह बालपण्डित है। जैसे—

उसका हिंसा को त्याज्य मानना पण्डितपन है, किन्तु आचरण से उसे न छोडना वालपन है जो आशिक रूप से पाप से हट जाता है वह भो वालपण्डित है। उसका वीर्य वालपण्डितवीर्य कहलाता है।

उपस्थान क्रिया और अपक्रमण क्रिया—मिथ्यात्वमोहनीय का उदय होने पर जीव के द्वारा उपस्थान क्रिया वालवीर्य द्वारा ही होती है। उपस्थान की विपक्षी क्रिया—अपक्रमण है। अपक्रमण क्रिया का अर्थ है—उच्चगुणस्थान से नीचे गुणस्थान को प्राप्त करना। अपक्रमण क्रिया भी वालवीर्य द्वारा होती है। इसका तात्पर्य यह है कि जव जीव के मिथ्यात्व का उदय हो, तव वह सम्यक्त्व से, सयम (सर्वविरति) से, या देशविरति (सयम) से वापस मिथ्यादृष्टि वन जाता है। पण्डितवीर्यत्व से वह अपक्रमण नही करता, (वापस लौटता नही), कदाचित् चारित्रमोहनीय का उदय हो तो सर्वविरति (सयम) से पतित होकर बालपण्डितवीर्य द्वारा देशविरति श्रावक हो जाता है। वाचनान्तर के अनुसार प्रस्तुत मे 'न तो पण्डितवीर्य द्वारा अपक्रमण होता है, और न ही वालपण्डितवीर्य द्वारा', क्योकि जहाँ मिथ्यात्व का उदय हो, वहाँ केवल वालवीर्य द्वारा ही अपक्रमण होता है। निष्कर्ष यह है कि मिथ्यात्व मोहकर्मवश जीव अपने ही पुरुषार्थ से गिरता है।

मोहनीय की उदीर्ण अवस्था से उपशान्त अवस्था विलकुल विपरीत है। इसके होने पर जीव पण्डितवीर्य द्वारा उपस्थान करता है। वाचनान्तर के अनुसार वृद्ध आचार्य कहते है—'मोह का उपशम होने पर जीव मिथ्यादृष्टि नही होता साधु या श्रावक होता है।' उपशान्तमोहवाला जीव जब अपक्रमण करता है, तब बालपण्डितवीर्यता मे आता है, वालवीर्यता मे नही, क्योकि मोहनीय कर्म उपशान्त होता है, तब जीव वालपण्डितवीर्यता द्वारा सयत अवस्था से पीछे हटकर देशसयत हो जाता है, परन्तु मिथ्यादृष्टि नही होता। यह अपक्रमण भी स्वय (आत्मा) द्वारा होता है, दूसरे के द्वारा नही।

मोहनीय कर्म वेदते हुए भी अपक्रमण क्यो ?—इस प्रश्न के उत्तर का आशय यह है कि अपक्रमण होने से पूर्व यह जीव, जीवादि नौ तत्त्वो पर श्रद्धा रखता था, धर्म का मूल—अहिंसा मानता था, 'जिनेन्द्र प्रभु ने जैसा कहा है, वही सत्य है' इस प्रकार धर्म के प्रति पहले उसे रुचि थी, लेकिन अब मिथ्यात्वमोहनीय के वेदनवश श्रद्धा विपरीत हो जाने से अर्हन्त प्ररूपित धर्म तथा पहले रुचिकर लगने वाली बाते अब रुचिकर नही लगती। तब सम्यग्दृष्टि था, अब मिथ्यादृष्टि है। साराश यह है कि मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का बन्ध, धर्म आदि पर अरुचि-अश्रद्धा रखने से होता है।[1]

कृतकर्म भोगे बिना मोक्ष नहीं—

६ से नूण भ ते ! नेरइयस्स वा, तिरिक्खजोणियस्स वा, मणूसस्स वा, देवस्स वा जे कडे पावे कम्मे, नत्थि ण तस्स अवेदइत्ता मोक्खो ?

हता, गोतमा ! नेरइयस्स वा, तिरिक्खजोणियस्स वा, मणुस्सस्स वा, देवस्स वा जे कडे पाव कम्मे, नत्थि ण तस्स अवेदइत्ता मोक्खो। से केणट्ठे ण भ ते ! एव वुच्चति नेरइयस्स वा जाव मोक्खो ?

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ६३, ६४

एवं खलु मए गोयमा ! दुविहे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—पदेसकम्मे य, अणुभागकम्मे य। तत्थ णं जं तं पदेसकम्मं तं नियमा वेदेति, तत्थ णं जं तं अणुभागकम्मं तं अत्थेगइयं वेदेति, अत्थेगइयं नो वेएइ। णायमेतं अरहता, सुतमेतं अरहता, विण्णायमेतं अरहता—"इमं कम्मं अयं जीवे अब्भोवगमियाए वेदणाए वेइस्सइ, इमं कम्मं अयं जीवे उवक्कमियाए वेदणाए वेइस्सइ। अहाकम्मं अधानिकरणं जहा जहा तं भगवता दिट्ठं तहा तहा तं विप्परिणमिस्सतीति। से तेणट्ठेणं गोतमा ! नेरइयस्स वा ४ जाव मोक्खो।

[६ प्र] भगवन् ! नारक, तिर्यञ्चयोनिक, मनुष्य या देव ने जो पापकर्म किये हैं, उन्हे भोगे (वेदे) बिना क्या मोक्ष (छुटकारा) नही होता ?

[६ उ] हाँ गौतम ! नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ने जो पापकर्म किये हैं, उन्हे भोगे बिना मोक्ष नही होता।

[प्र] भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते है कि नारक यावत् देव को कृतकर्म भोगे बिना मोक्ष नही होता ?

[उ] गौतम ! मैने कर्म के दो भेद बताए है। वे इस प्रकार है—प्रदेशकर्म और अनुभागकर्म। इनमे जो प्रदेशकर्म है, वह अवश्य (नियम से) भोगना पडता है, और इनमे जो अनुभागकर्म है, वह कुछ वेदा (भोगा) जाता है, कुछ नही वेदा जाता। यह बात अर्हन्त द्वारा ज्ञात है, स्मृत (अनुचिन्तित या प्रतिपादित) है, और विज्ञात है, कि यह जीव इस कर्म को आभ्युपगमिक वेदना से वेदेगा और यह जीव इस कर्म को औपक्रमिक वेदना से वेदेगा। बाँधे हुए कर्मो के अनुसार, निकरणो के अनुसार जैसा-जैसा भगवान् ने देखा है, वैसा-वैसा वह विपरिणाम पाएगा। इसलिए गौतम ! इस कारण से मैं ऐसा कहता हूँ कि—यावत् किये हुए कर्मो को भोगे बिना नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य या देव का मोक्ष—छुटकारा नही है।

विवेचन—कृतकर्म भोगे बिना छुटकारा नहीं—प्रस्तुत सूत्र मे कृतकर्मफल को अवश्य भोगना पडता है, इसी सिद्धान्त का विशद निरूपण किया गया है।

प्रदेशकर्म—जीव के प्रदेशो मे ओतप्रोत हुए—दूध-पानी की तरह एकमेक हुए कर्मपुद्गल। प्रदेशकर्म निश्चय ही भोगे जाते है। विपाक अर्थात् अनुभव न होने पर भी प्रदेशकर्म का भोग अवश्य होता है।

अनुभागकर्म—उन प्रदेशकर्मो का अनुभव मे आने वाला रस। अनुभागकर्म कोई वेदा जाता है, और कोई नही वेदा जाता। उदाहरणार्थ—जब आत्मा मिथ्यात्व का क्षयोपशम करता है, तब प्रदेश से तो वेदता है, किन्तु अनुभाग से नही वेदता। यही बात अन्य कर्मो के विषय मे समझनी चाहिए।

चारो गति के जीव कृतकर्म को अवश्य भोगते है, परन्तु किसी कर्म को विपाक से भोगते है और किसी को प्रदेश से भोगते है।

आभ्युपगमिकी वेदना का अर्थ—स्वेच्छापूर्वक, ज्ञानपूर्वक कर्मफल भोगना है। दीक्षा लेकर ब्रह्मचर्य पालन करना, भूमिशयन करना, केशलोच करना, बाईस परिषह सहना, तथा विविध प्रकार का तप करना इत्यादि वेदना जो ज्ञानपूर्वक स्वीकार की जाती है, वह भी आभ्युपगमिकी वेदना कहलाती है।

औपक्रमिकी वेदना का अर्थ है—जो कर्म अपना अबाधाकाल पूर्ण होने पर स्वय ही उदय मे आए है, अथवा उदीरणा द्वारा उदय मे लाए गए हे उन कर्मो का फल अज्ञानपूर्वक या अनिच्छा से भोगना।

यथाकर्म, यथानिकरण का अर्थ—यथाकर्म यानी जो कर्म जिस रूप मे बाधा है, उसी रूप से, और यथानिकरण यानी विपरिणाम के कारणभूत देश, काल आदि करणो की मर्यादा का उल्लघन न करके।

पापकर्म का आशय—प्रस्तुत मे पापकर्म का आशय है—सभी प्रकार के कर्म। यो तो पापकर्म का अर्थ अशुभकर्म होता है, इस दृष्टि से जो मुक्ति मे व्याघात रूप है, वे समस्त कर्ममात्र ही अशुभ है, दुष्ट है, पाप है। क्योकि कर्ममात्र को भोगे विना छुटकारा नही है।[1]

पुद्गल, स्कन्ध और जीव के सम्बन्ध मे त्रिकाल शाश्वत प्ररूपणा—

७ एस ण भते ! पोग्गले तीतमणत सासय समय 'भुवि' इति वत्तव्व सिया ?

हता, गोयमा ! एस ण पोग्गले तीतमणत सासय समय 'भुवि' इति वत्तव्व सिया।

[७ प्र] भगवन् ! क्या यह पुद्गल—परमाणु अतीत, अनन्त (परिमाणरहित), शाश्वत (सदा रहने वाला) काल मे था—ऐसा कहा जा सकता है ?

[७ उ] हाँ, गौतम ! यह पुद्गल अतीत, अनन्त, शाश्वतकाल मे था, ऐसा कहा जा सकता है।

८ एस णं भ ते ! पोग्गले पडुप्पन्न सासयं समय 'भवति' इति वत्तव्वं सिया ?

हता, गोयमा ! त चेव उच्चारेतव्व।

[८ प्र] भगवन् ! क्या यह पुद्गल वर्त्तमान शाश्वत—सदा रहने वाले काल मे है, ऐसा कहा जा सकता है ?

[८ उ] हाँ, गौतम ! ऐसा कहा जा सकता है। (पहले उत्तर के समान ही उच्चारण करना चाहिए।)

९ एस ण भ ते ! पोग्गले अणागतमणत सासत समयं 'भविस्सति' इति वत्तव्व सिया ?

हता, गोयमा ! त चेव उच्चारेतव्वं।

[९ प्र] हे भगवन् ! क्या यह पुद्गल अनन्त और शाश्वत भविष्यकाल मे रहेगा, ऐसा कहा जा सकता है ?

[९ उ] हाँ, गौतम ! ऐसा कहा जा सकता है। (उसी पहले उत्तर के समान उच्चारण करना चाहिए)।

१०. एव खधेण वि तिण्णि आलावगा।

[१०] इसी प्रकार के 'स्कन्ध' के साथ भी तीन (त्रिकाल सम्बन्धी) आलापक कहने चाहिए।

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ६५

११ एव जीवेण वि तिण्णि आलावगा भाणितव्वा ।

[११] इसी प्रकार 'जीव' के साथ भी तीन आलापक कहने चाहिए ।

विवेचन—पुद्गल, स्कन्ध और जीव के विषय मे त्रिकाल शाश्वत आदि प्ररूपणा—प्रस्तुत पाँच सूत्रो मे पुद्गल अर्थात् परमाणु, स्कन्ध और जीव के भूत, वर्त्तमान और भविष्य मे सदैव होने की प्ररूपणा की गई है ।

वर्तमानकाल को शाश्वत कहने का कारण—वर्त्तमान प्रतिक्षण भूतकाल मे परिणत हो रहा है और भविष्य प्रतिक्षण वर्तमान बनता जा रहा है, फिर भी सामान्य रूप से, एक समय रूप मे, वर्तमानकाल सदैव विद्यमान रहता है । इस दृष्टि से उसे शाश्वत कहा है ।

पुद्गल का प्रासगिक अर्थ—यहाँ पुद्गल का अर्थ 'परमाणु' किया गया है । यो तो पुद्गल ४ प्रकार के होते है—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु । किन्तु यहाँ केवल परमाणु ही विवक्षित है क्योकि स्कन्ध के विषय मे आगे अलग से प्रश्न किया गया है ।

छद्मस्थ मनुष्य की मुक्ति से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर—

१२. छउमत्थे ण भ ते ! मणूसे तीतमणत सासत समय केवलेण सजमेण, केवलेण सवरेणं, केवलेण बभचेरवासेण, केवलाहि पवयणमाताहि सिज्झिसु बुज्झिसु जाव सव्वदुक्खाणमत करिसु ?

गोतमा ! नो इणट्ठे समट्ठे ।

से केणट्ठेण भ ते ! एव वुच्चइ त चेव जाव अत करेंसु ?

गोतमा ! जे केइ अतकरा वा, अतिमसरीरिया वा सव्वदुक्खाणमत करेंसु वा करेंति वा करिस्सति वा सव्वे ते उप्पन्ननाण-दसणधरा अरहा जिणे केवली भवित्ता ततो पच्छा सिज्झति बुज्झति मुच्चति परिनिव्वायति सव्वदुक्खाणमंत करेंसु वा करेंति वा करिस्सति वा, से तेणट्ठेणं गोतमा ! जाव सव्वदुक्खाणमत करेंसु ।

[१२ प्र] भगवन् ! क्या बीते हुए अनन्त शाश्वत काल मे छद्मस्थ मनुष्य केवल सयम से, केवल सवर से, केवल ब्रह्मचर्यवास से और केवल (अष्ट) प्रवचनमाता (के पालन) से सिद्ध हुआ है, बुद्ध हुआ है, यावत् समस्त दु खो का अन्त करने वाला हुआ है ?

[१२ उ] हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है ।

[प्र] भगवन् ! किस कारण से आप ऐसा कहते है कि पूर्वोक्त छद्मस्थ मनुष्य यावत् समस्त दु खो का अन्तकर नही हुआ ?

[उ] गौतम ! जो भी कोई मनुष्य कर्मो का अन्त करने वाले, चरमशरीरी हुए है, अथवा समस्त दु खो का जिन्होने अन्त किया है, जो अन्त करते है या करेंगे, वे सब उत्पन्नज्ञानदर्शनधारी (केवलज्ञानी-केवलदर्शनी), अर्हन्त, जिन, और केवली होकर तत्पश्चात् सिद्ध हुए है, बुद्ध हुए है, मुक्त हुए है, परिनिर्वाण को प्राप्त हुए है, और उन्होने समस्त दु खो का अन्त किया है, वे ही करते है और करेंगे, इसी कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा है कि यावत् समस्त दु खो का अन्त किया ।

१३ पडुप्पन्ने वि एव चेव, नवर 'सिज्झति' भाणितव्व ।

[१३] वर्त्तमान काल मे भी इसी प्रकार जानना । विशेष यह है कि 'सिद्ध होते है', ऐसा कहना चाहिए ।

१४ अणागते वि एव चेव, नवर 'सिज्झिस्सति' भाणियव्व ।

[१४] तथा भविष्यकाल मे भी इसी प्रकार जानना । विशेष यह है कि 'सिद्ध होगे', ऐसा कहना चाहिए ।

१५. जहा छउमत्थो तहा आधोहिओ वि, तहा परमाहोहिओ वि । तिण्णि तिण्णि आलावगा भाणियव्वा ।

[१५] जैसा छद्मस्थ के विषय मे कहा है, वैसा ही आधोवधिक और परमाधोवधिक के के विषय मे जानना चाहिए और उसके तीन-तीन आलापक कहने चाहिए ।

केवली की मुक्ति से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर—

१६ केवली ण भते ! मणूसे तीतमणत सासय समय जाव अ त करेंसु ?

हता, सिज्झिसु जाव अत करेंसु । एते तिण्णि आलावगा भाणियव्वा छउमत्थस्स जहा, नवर सिज्झिसु, सिज्झति, सिज्झिस्सति ।

[१६ प्र] भगवन् ! बीते हुए अनन्त शाश्वत काल मे केवली मनुष्य ने यावत् सर्व-दु खो का अन्त किया है ?

[१६ उ] हाँ गौतम ! वह सिद्ध हुआ, यावत् उसने समस्त दु खो का अन्त किया । यहाँ भी छद्मस्थ के समान ये तीन आलापक कहने चाहिए । विशेष यह है कि सिद्ध हुआ, सिद्ध होता है और सिद्ध होगा, इस प्रकार (त्रिकाल-सम्बन्धी) तीन आलापक कहने चाहिए ।

१७ से नूण भते ! तीतमणत सासय समय, पडुप्पन्न वा सासय समय, अणागतमणत वा सासय समय जे केइ अतकरा वा अतिमसरीरिया वा सव्वदुक्खाणमत करेंसु वा करेंति वा, करिस्सति वा सव्वे ते उप्पन्ननाण-दसणधरा अरहा जिणे केवली भवित्ता तओ पच्छा सिज्झति जाव अत करेस्सति वा ?

हता, गोयमा ! तीतमणत सासत समय जाव अत करेस्सति वा ।

[१७ प्र] भगवन् ! बीते हुए अनन्त शाश्वत काल मे, वर्त्तमान शाश्वत काल मे और अनन्त शाश्वत भविष्यकाल मे जिन अन्तकरो ने अथवा चरमशरीरी पुरुषो ने समस्त दु खो का अन्त किया है, करते हैं या करेंगे, क्या वे सब उत्पन्नज्ञान-दर्शनधारी, अर्हन्त, जिन और केवली होकर तत्पश्चात् सिद्ध, बुद्ध आदि होते हैं, यावत् सब दु खो का अन्त करेंगे ?

[१७ उ] हाँ, गौतम ! बीते हुए अनन्त शाश्वतकाल मे यावत् सब दु खो का अन्त करेंगे ।

१८ से नूण भते ! उप्पन्ननाण-दसणधरे अरहा जिणे केवली 'अलमत्थु' त्ति वत्तव्व सिया ?

हता गोयमा ! उप्पन्ननाण-दसणधरे अरहा जिणे केवली 'अलमत्थु' त्ति वत्तव्व सिया ।

सेव भते ! सेव भते ! त्ति० ।

॥ चउत्थो उद्देसओ सम्मत्तो ॥

[१८ प्र] भगवन्! वह उत्पन्न ज्ञान-दर्शनधारी, अर्हन्त, जिन और केवली 'अलमस्तु' अर्थात्-पूर्ण है, ऐसा कहा जा सकता है?

[१८ उ] हाँ, गौतम! वह उत्पन्न ज्ञानदर्शनधारी, अर्हन्त, जिन और केवली पूर्ण (अलमस्तु) है, ऐसा कहा जा सकता है।

(गौ) 'हे भगवन्! यह ऐसा ही है, भगवन्! ऐसा ही है।'

विवेचन—छद्मस्थ, केवली आदि की मुक्ति से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत सात सूत्रो (१२ से १८) तक मे छद्मस्थ द्विविध अवधिज्ञानी और केवली, चरम शरीरी आदि के सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वाणप्राप्त, सर्वदु खान्तकर होने के विषय मे त्रिकाल-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर अकित है।

छद्मस्थ—छद्म का अर्थ है-ढका हुआ। जिसका ज्ञान किसी आवरण से आच्छादित हो रहा है—दब रहा है, वह छद्मस्थ कहलाता है। यद्यपि अवधिज्ञानी का ज्ञान भी आवरण से ढका होता है, तथापि आगे इसके लिए पृथक सूत्र होने से यहाँ छद्मस्थ शब्द से अवधिज्ञानी को छोडकर सामान्य ज्ञानी ग्रहण करना चाहिए।

निष्कर्ष—मनुष्य चाहे कितना ही उच्च सयमी हो, ग्यारहवे, बारहवे गुणस्थान पर पहुँचा हुआ हो, किन्तु जब तक केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त न हो, तब तक वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त नही हो सकता, न हुआ है, न होगा। अवधिज्ञानी, जो लोकाकाश के सिवाय अलोक के एक प्रदेश को भी जान लेता हो, वह उसी भव मे मोक्ष जाता है, किन्तु जाता है, केवली होकर ही।

आधोऽवधि एव परमावधिज्ञान—परिमित क्षेत्र-काल-सम्बन्धी अवधिज्ञान आधोऽवधि कहलाता है, उससे बहुतर क्षेत्र को जानने वाला परम-उत्कृष्ट अवधिज्ञान, जो समस्त रूपी द्रव्यो को जान लेता हो, परमावधिज्ञान कहलाता है।[1]

॥ प्रथम शतक चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ६७

पं मो उद्देसओ : पुढवी

पंचम उद्देशक : पृथ्वी

चौबीस दण्डको की आवास संख्या का निरूपण—

१. कति ण भते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ । त जहा—रयणप्पभा जाव तमतमा ।

[१ प्र] भगवन् ! (अधोलोक मे) कितनी पृथ्वियाँ (नरकभूमियाँ) कही गई है ?

[१ उ] गौतम ! सात पृथ्वियाँ कही गई है । वे इस प्रकार है—रत्नप्रभा से लेकर यावत् तमस्तम प्रभा तक ।

२. इमी से ण भते ! रयणप्पभाए पुढवीए कति निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता ?

गोतमा ! तीस निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता । गाहा—

तीसा य पण्णवीसा पण्णरस दसेव या सयसहस्सा ।
तिण्णेग पचूण पचेव अणुत्तरा निरया ॥१॥

[२ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे कितने लाख नारकावास—नैरयिको के रहने के स्थान कहे गए है ?

[२ उ] गौतम ! रत्नप्रभा पृथ्वी मे तीस लाख नारकावास कहे गए है । नारकावासो की सख्या बताने वाली गाथा इस प्रकार है—

गाथार्थ—प्रथम पृथ्वी (नरकभूमि) मे तीस लाख, दूसरी मे पच्चीस लाख, तीसरी मे पन्द्रह लाख, चौथी मे दस लाख, पाचवी मे तीन लाख, छठो मे ५ कम एक लाख और सातवी मे केवल पाच नारकावास हैं ।

३. केवतिया ण भते ! असुरकुमारावाससतसहस्सा पण्णत्ता ? एव—

चोयट्ठी असुराण, चउरासीती य होंति नागाण ।
बावत्तरी सुवण्णाण, वाउकुमाराण छण्णउती ॥२॥
दीव-दिसा-उदहीण विज्जुकुमारिंद-थणिय-मग्गीण ।
छण्ह पि जुयलगाण छावत्तरिमो सतसहस्सा ॥३॥

[३ प्र] भगवन् ! असुरकुमारो के कितने लाख आवास कहे गये है ?

[३ उ] गौतम ! इस प्रकार हैं—असुरकुमारो के चौसठ लाख आवास कहे है । इसी प्रकार नागकुमारो के चौरासी लाख, सुपर्णकुमारो के ७२ लाख, वायुकुमारो के ९६ लाख, तथा द्वीपकुमार, दिक्कुमार, उदधिकुमार, विद्युत्कुमार, स्तनितकुमार और अग्निकुमार, इन छह युगलको (दक्षिण-वर्ती और उत्तरवर्त्ती दोनो के ७६-७६ लाख आवास कहे गये है ।

४. केवतिया ण भंते ! पुढविक्काइयावाससतसहस्सा पण्णत्ता ?

गोयमा ! असखेज्जा पुढविक्काइयावाससयसहस्सा पण्णत्ता जाव असखिज्जा जोदिसिय-विमाणावाससयसहस्सा पण्णत्ता ।

[४. प्र] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवो के कितने लाख आवास कहे गए हैं ?

[४ उ] गौतम ! पृथ्वीकायिक जोवो के असख्यात लाख आवास कहे गए है । इसी प्रकार (पृथ्वीकाय से लेकर) यावत् ज्योतिष्क देवो तक के असख्यात लाख विमानावास कहे गए है ।

५. सोहम्मे ण भंते ! कप्पे कति विमाणावाससतसहस्सा पण्णत्ता ?

गोयमा ! बत्तीसं विमाणावाससतसहस्सा पण्णत्ता । एवं—

बत्तीसऽट्ठावीसा बारस अट्ठ चउरो सतसहस्सा ।
पण्णा चत्तालीसा छच्च सहस्सा सहस्सारे ।।४।।
आणय-पाणयकप्पे चत्तारि सताऽऽरण-ऽच्चुए तिण्णि ।
सत्त विमाणसताइं चउसु वि एएसु कप्पेसु ।।५।।
एक्कारसुत्तरं हेट्ठिमेसु सत्तुत्तर च मज्झिमए ।
सतमेग उवरिमए पचेव अणुत्तरविमाणा ।।६।।

[५ प्र] भगवन् ! सौधर्मकल्प मे कितने विमानावास कहे गए है ?

[५ उ] गौतम ! वहाँ बत्तीस लाख विमानावास कहे गए है । इस प्रकार क्रमश बत्तीस लाख, अट्ठाईस लाख, बारह लाख, आठ लाख, चार लाख, पचास हजार तथा चालीस हजार, विमानावास जानना चाहिए । सहस्रार कल्प मे छह हजार विमानावास है । आणत और प्राणत कल्प मे चार सौ, आरण और अच्युत मे तीन सौ, इस तरह चारो मे मिलकर सात सौ विमान है । अधस्तन (नीचले) ग्रैवेयक त्रिक मे एक सौ ग्यारह, मध्यम (बीच के) ग्रैवेयक त्रिक मे एक सौ सात और ऊपर के ग्रैवेयक त्रिक मे एक सौ विमानावास है । अनुत्तर विमानावास पाच ही है ।

विवेचन—चौबीस दण्डको की आवास सख्या का निरूपण—प्रस्तुत पाच सूत्रो मे नरक पृथ्वियो से लेकर पच अनुत्तर विमानवासी देवो तक के आवासो की सख्या के सम्बन्ध मे प्रतिपादन किया गया है ।

६ पुढवि ट्ठिति १ ओगाहण २ सरीर ३ सघयणमेव ४ सठाणे ५ ।
लेसा ६ दिट्ठी ७ णाणे ८ जोगुवओगे ९-१० य दस ठाणा ।।१४।।

अर्थाधिकार—

[सू ६] पृथ्वी (नरक भूमि) आदि जीवावासो मे १ स्थिति, २ अवगाहना, ३ शरीर, ४. सहनन, ५ सस्थान, ६ लेश्या, ७ दृष्टि, ८ ज्ञान, ९ योग और १० उपयोग इन दस स्थानो (बोलो) पर विचार करना है ।

नारको के क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक प्रथम स्थितिस्थानद्वार—

७ इमीसे णं भंते ! रतणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससतसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावाससि नेरतियाणं केवतिया ठितिठाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जा ठितिठाणा पण्णत्ता । तं जहा—जहन्निया ठिती, समयाहिया जहन्निया ठिई, दुसमयाहिया जहन्निया ठिती जाव असंखेज्जसमयाहिया जहन्निया ठिती, तप्पाउग्गुक्कोसिया ठिती ।

[७ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में के एक-एक नारकवास में रहने वाले नारक जीवों के कितने स्थिति-स्थान कहे गए हैं ? अर्थात् एक-एक नारकावास के नारकों की कितनी उम्र है ?

[७ उ] गौतम ! उनके असंख्य स्थान कहे गए हैं । वे इस प्रकार हैं—जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है, वह एक समय अधिक, दो समय अधिक—इस प्रकार यावत् जघन्य स्थिति असंख्यात समय अधिक है, तथा उसके योग्य उत्कृष्ट स्थिति भी । (ये सब मिलकर असंख्यात स्थिति-स्थान होते हैं) ।

८. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससतसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि जहन्नियाए ठितीए वट्टमाणा नेरइया किं कोधोवउत्ता, माणोवउत्ता, मायोवउत्ता, लोभोवउत्ता ?

गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा कोहोवउत्ता १, अहवा कोहोवउत्ता य माणोवउत्ते य २, अहवा कोहोवउत्ता य, माणोवउत्ता य ३, अहवा कोहोवउत्ता य मायोवउत्ते य ४, अहवा कोहोवउत्ता य मायोवउत्ता य ५, अहवा कोहोवउत्ता य लोभोवउत्ते य ६, अहवा कोहोवउत्ता य लोभोवउत्ता य ७ । अहवा कोहोवउत्ता य माणोवउत्ते य मायोवउत्ते य १, कोहोवउत्ता य माणोवउत्ते य मायोवउत्ता य २, कोहोवउत्ता य माणोवउत्ता य मायोवउत्ते य ३, कोहोवउत्ता य माणोवउत्ता य मायाउवउत्ता य ४ । एवं कोह-माण-लोभेण वि चउ ४ । एवं कोह-माया-लोभेण वि चउ ४, एवं १२ । पच्छा माणेण मायाए लोभेण य कोहो भइयव्वो, ते कोहं अमुंचता ८ । एवं सत्तावीसं भंगा णेयव्वा ।

[८ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में से एक-एक नारकावास में कम से कम (जघन्य) स्थिति में वर्तमान नारक क्या क्रोधोपयुक्त हैं, मानोपयुक्त हैं, मायोपयुक्त हैं अथवा लोभोपयुक्त हैं ?

[८ उ] गौतम ! वे सभी क्रोधोपयुक्त होते हैं ? अथवा बहुत से नारक क्रोधोपयुक्त और एक नारक मानोपयुक्त होता है २, अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त और बहुत-से मानोपयुक्त होते हैं ३, अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त और एक मायोपयुक्त होते हैं, ४, अथवा बहुत-से क्रोधोपयुक्त और बहुत-से मायोपयुक्त होते हैं ५, अथवा बहुत-से क्रोधोपयुक्त और एक लोभोपयुक्त होता है ६, अथवा बहुत-से क्रोधोपयुक्त और बहुत-से लोभोपयुक्त होते हैं ७ । अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त, एक मानोपयुक्त और एक मायोपयुक्त होता है १, बहुत-से क्रोधोपयुक्त, एक मानोपयुक्त और बहुत-से मायोपयुक्त होते हैं २, बहुत-से क्रोधोपयुक्त, बहुत-से मानोपयुक्त और एक मायोपयुक्त होता है ३, बहुत-से क्रोधोपयुक्त, बहुत मानोपयुक्त और बहुत मायोपयुक्त होते हैं ४, इसी तरह क्रोध, मान और लोभ, (यों त्रिक्संयोग) के चार भंग क्रोध, माया और लोभ, (यों त्रिक्संयोग) के भी चार भंग कहने चाहिए । फिर मान, माया और लोभ के साथ क्रोध को जोड़ने से चतुष्क-संयोगी आठ भंग

कहने चाहिए। इसी तरह क्रोध को नही छोडते हुए (चतुष्कसयोगी ८ भग होते हे) कुल २७ भग समझ लेने चाहिए।

९. इमीसे ण भते! रयणप्पमाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगसि निरयावाससि समयाधियाए जहन्नट्ठितीए वट्टमाणा नेरइया किं कोधोवउत्ता, माणोवउत्ता, मायोवउत्ता लोभोवउत्ता ?

गोयमा! कोहोवउत्ते य माणोवउत्ते य मायोवउत्ते य लोभोवउत्ते य ४। कोहोवउत्ता य माणोवउत्ता य मायोवउत्ता य लोभोवउत्ता य ८। अथवा कोहोवउत्ते य माणोवउत्ते य १०, अथवा कोहोवउत्ते य माणोवयुत्ता य १२, एव असीति भगा नेयव्वा एव जाव संखिज्जसमयाधिया ठिई। असंखेज्जसमयाहियाए ठिईए तप्पाउग्गुक्कोसियाए ठिईए सत्तावीस भंगा भाणियव्वा।

[९ प्र] इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासो मे से एक-एक नारकावास मे एक समय अधिक जघन्य स्थिति मे वर्तमान नारक क्या क्रोधपयुक्त होते है, मानोपयुक्त होते है, मायोपयुक्त होते है अथवा लोभोपयुक्त होते है ?

[९ उ] गौतम! उनमे से कोई-कोई क्रोधोपयुक्त, कोई मानोपयुक्त, कोई मायोपयुक्त और कोई लोभोपयुक्त होता है। अथवा बहुत-से क्रोधोपयुक्त, मानोपयुक्त, मायोपयुक्त और लोभोपयुक्त होते हैं। अथवा कोई-कोई क्रोधोपयुक्त और मानोपयुक्त होता है, या कोई-कोई क्रोधोपयुक्त और बहुत-से मानोपयुक्त होते है। [अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त और एक मानोपयुक्त या बहुत से क्रोधोपयुक्त और बहुत से मानोपयुक्त होते है।] इत्यादि प्रकार से अस्सी भग समझने चाहिए। इसी प्रकार यावत् दो समय अधिक जघन्य स्थिति से लेकर सख्येय समयाधिक जघन्य स्थिति वाले नैरयिको के लिए समझना चाहिए। असख्येय समयाधिक स्थिति वालो मे तथा उसके योग्य उत्कृष्ट स्थिति वाले नारको मे सत्ताईस भग कहने चाहिए।

विवेचन—नारको के क्रोधोपयुक्तादिनिरूपणपूर्वक प्रथम स्थितिस्थानद्वार—प्रस्तुत तीन सूत्रो मे सग्रहणी गाथा के अनुसार रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकावासो के निवासी नारको के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थिति स्थानो की अपेक्षा से क्रोधोपयुक्तादि विविध विकल्प (भग) प्रस्तुत किये गए है।

जघन्यादि स्थिति—प्रत्येक नारकावास मे रहने वाले नारको की स्थिति के स्थान भिन्न-भिन्न होने के कारण है—किसी की जघन्य स्थिति है, किसी की मध्यम और किसी की उत्कृष्ट। इस प्रथम रत्नप्रभा पृथ्वी के प्रथम प्रतर मे नारको की आयु कम से कम (जघन्य) १० हजार वर्ष की और अधिक से अधिक (उत्कृष्ट) ९० हजार वर्ष की है। जघन्य और उत्कृष्ट के बीच की आयु को मध्यम आयु कहते है। मध्यम आयु जघन्य और उत्कृष्ट के समान एक प्रकार की नही है। जघन्य आयु से एक समय अधिक की, दो, तीन, चार समय अधिक की यावत् सख्येय और असख्येय समय अधिक की आयु भी मध्यम कहलाती है। यो मध्यम आयु (स्थिति) के अनेक विकल्प है। इसलिए कोई नारक दस हजार वर्ष की स्थिति (जघन्य) वाला, कोई एक समय अधिक १० हजार वर्ष की स्थिति वाला यो क्रमश असख्यात समय अधिक (मध्यम) स्थिति वाला और कोई उत्कृष्ट स्थिति वाला होने से नारको के स्थितिस्थान असख्य है।

समय—काल का वह सूक्ष्मतम अश, जो निरश है, जिसका दूसरा अश सभव नही है, वह जैनसिद्धान्तानुसार 'समय' कहलाता है।

अस्सी भग—एक समयाधिक जघन्यस्थिति वाले नारको के क्रोधोपयुक्त आदि ८० भग इस प्रकार है— असयोगी ८ भग (चार भग एक-एक कपाय वालो के, चार भग बहुत कपाय वालो के), द्विक सयोगी २४ भग, त्रिकसयोगी ३२ भग, [चतुष्कसयोगी १६ भग, यो कुल ८० भग होते है ।

नारको के कहाँ, कितने भग ?—प्रत्येक नरक मे जघन्य स्थिति वाले नारक सदा पाये जाते है, उनमे क्रोधोपयुक्त नैरयिक बहुत ही होते है । अत उनमे मूलपाठोक्त २७ भग क्रोधबहुवचनान्त वाले होते है । एक समय अधिक से लेकर सख्यात समय अधिक जघन्यस्थिति (मध्यम) वाले नारको मे पूर्वोक्त ८० भग होते है । इनमे क्रोधादि-उपयुक्त नारको की सख्या एक और अनेक होती है । इस स्थिति वाले नारक कभी मिलते है, कभी नही मिलते । असख्यात समय अधिक की स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति वाले नारको मे पूर्वोक्त २७ भग पाये जाते है । इस स्थिति वाले नारक सदा काल पाये जाते है और वे बहुत होते है ।[1]

द्वितीय–अवगाहनाद्वार—

१०. इमीसे ण भते ! रतणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगसि निरयावाससि नेरइयाण केवतिया ओगाहणाठाणा पण्णत्ता ।

गोयमा ! असखेज्जा ओगाहणाठाणा पण्णत्ता । त जहा—जहन्निया ओगाहणा, पदेसाहिया जहन्निया ओगाहणा, दुप्पदेसाहिया जहन्निया ओगाहणा जाव असखिज्जपदेसाहिया जहन्निया ओगाहणा, तप्पाउग्गुक्कोसिया ओगाहणा ।

[१० प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी (प्रथम नरक भूमि) के तीस लाख नारकावासो मे से एक-एक नारकावास मे रहने वाले नारको के अवगाहना स्थान कितने कहे गए है ?

[१० उ] गौतम ! उनके अवगाहना स्थान असख्यात कहे गए है । वे इस प्रकार है— जघन्य अवगाहना (अगुल के असख्यातवे भाग), (मध्यम अवगाहना) एक प्रदेशाधिक जघन्य अवगाहना, द्विप्रदेशाधिक जघन्य अवगाहना, यावन् असख्यात प्रदेशाधिक जघन्य अवगाहना, तथा उसके योग्य उत्कृष्ट अवगाहना (जिस नारकावास के योग्य जो उत्कृष्ट अवगाहना हो) ।

११. इमीसे ण भते ! रतणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगसि निरयावाससि जहन्नियाए ओगाहणाए वट्टमाणा नेरतिया कि कोहोवउत्ता० ?

असीति भगा भाणियव्वा जाव सखिज्जपदेसाधिया जहन्निया ओगाहणा । असखेज्जपदेसाहियाए जहन्नियाए ओगाहणाए वट्टमाणाण तप्पाउग्गुक्कोसियाए ओगाहणाए वट्टमाणाण नेरइयाण दोसु वि सत्तावीस भगा ।

(११ प्र) भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासो मे से एक-एक नारकावास मे जघन्य अवगाहना वाले नैरयिक क्या क्रोधोपयुक्त है, मानोपयुक्त हैं, मायोपयुक्त हैं अथवा लोभोपयुक्त है ?

[११ उ] 'गौतम ! जघन्य अवगाहना वालो मे अस्सी भग कहने चाहिए, यावत् सख्यात प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना वालो के भी अस्सी भग कहने चाहिए । असख्यात-प्रदेश अधिक जघन्य

---

1 भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ६९-७०

अवगाहना वाले और उसके योग्य उत्कृष्ट अवगाहना वाले, इन दोनो प्रकार के नारको मे सत्ताईस भग कहने चाहिए।

विवेचन—नैरयिको के क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक द्वितीय अवगाहनास्थान द्वार—प्रस्तुत दो सूत्रो मे नारको के अवगाहनास्थान तथा क्रोधादियुक्तता का विचार किया गया है।

अवगाहनास्थान—जिसमे जीव ठहरता है, अवगाहन करके रहता है, वह अवगाहना है। अर्थात्—जिस जीव का जितना लम्बा-चौडा शरीर होता है, वह उसकी अवगाहना है। जिस क्षेत्र मे जो जीव जितने आकाश प्रदेशो को रोक कर रहता है, उतने आधारभूत परिमाण क्षेत्र को भी अवगाहना कहते है। उस अवगाहना के जो स्थान—प्रदेशो की वृद्धि से विभाग हो, वे अवगाहनास्थान होते है।

उत्कृष्ट अवगाहना—प्रथम नरक की उत्कृष्ट अवगाहना ७ धनुष, ३ हाथ, ६ अगुल होती है, इससे आगे के नरको मे अवगाहना दुगुनी-दुगुनी होती है। अर्थात् शर्करा प्रभा मे १५ धनुष, २ हाथ, १२ अगुल की, बालुकाप्रभा मे ३१ धनुष, १ हाथ की, पकप्रभा मे ६२ धनुष, २ हाथ की, धूमप्रभा मे १२५ धनुष की, तम प्रभा मे २५० धनुष की, तमस्तम प्रभा मे ५०० धनुष की उत्कृष्ट अवगाहना होती है।

जघन्यस्थिति तथा जघन्य अवगाहना के भगो मे अन्तर क्यो ?—जघन्यस्थितिवाले नारक जब तक जघन्य अवगाहना वाले रहते है, तब तक उनकी अवगाहना के ८० भग ही होते है, क्योकि जघन्य अवगाहना उत्पत्ति के समय ही होती है। जघन्यस्थिति वाले जिन नैरयिको के २७ भग कहे है, वे जघन्य अवगाहना को उल्लघन कर चुके है, उनकी अवगाहना जघन्य नही होती। इसलिए उनमे २७ ही भग होते है।

जघन्य अवगाहना से लेकर सख्यातप्रदेश की अधिक अवगाहना वाले जीव नरक मे सदा नही मिलते, इसलिए उनमे ८० भग कहे गए है, किन्तु जघन्य अवगाहना से असख्यातप्रदेश अधिक की अवगाहना वाले जीव, नरक मे अधिक ही पाये जाते है, इसलिए उनमे २७ भग होते है।[1]

तृतीय—शरीरद्वार—

१२. इमीसे ण भते ! रयण० जाव एगमेगसि निरयावाससि नेरतियाण कति सरीरया पण्णत्ता ?

गोयमा ! तिण्णि सरीरया पण्णत्ता। त जहा—वेउव्विए तेयए कम्मए।

[१२ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासो मे से एक-एक नारकावास मे बसने वाले नारक जीवो के शरीर कितने है ?

[१२ उ] गौतम ! उनके तीन शरीर कहे गए है। वे इस प्रकार है—वैक्रिय, तैजस और कार्मण।

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ७१

१३. [१] इमीसे ण भंते ! जाव वेउव्वियसरीरे वट्टमाणा नेरतिया किं कोहोवउत्ता० ? सत्तावीस भंगा।

[२] एतेण गमेण तिण्णि सरीरा भाणियव्वा।

[१३-१ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासो मे से प्रत्येक नारकावास मे बसने वाले वैक्रियशरीरो नारक क्या क्रोधोपयुक्त है, (मानोपयुक्त हैं, मायोपयुक्त है अथवा लोभोपयुक्त है ?)

[१३-१ उ] गौतम ! उनके क्रोधोपयुक्त आदि २७ भंग कहने चाहिए।

[१३-२] और इस प्रकार शेष दोनो शरीरो (तैजस और कार्मण) सहित तीनो के सम्बन्ध मे यही बात (आलापक) कहनी चाहिए।

विवेचन—नारको के क्रोधोपयुक्तादिनिरूपणपूर्वक तृतीय शरीरद्वार—प्रस्तुत द्विसूत्री मे नारकीय जीवो के तीन शरीर और उनसे सम्बन्धित क्रोधोपयुक्त आदि २७ भंगो का निरूपण है।

शरीर—शरीर नामकर्म के उदय से होने वाली वह रचना जिसमे आत्मा व्याप्त होकर रहती है, अथवा जिसका क्षण-क्षण नाश होता रहता है, उसे शरीर कहते है।

वैक्रियशरीर—जिस शरीर के प्रभाव से एक से अनेक शरीर, छोटा शरीर, बड़ा शरीर या मनचाहा रूप धारण किया जा सकता है, उसे वैक्रियशरीर कहते है। इसके दो भेद हैं—भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय। नारको के भवधारणीय वैक्रिय शरीर होता है।

तैजसशरीर—आहार को पचाकर खलभाग और रसभाग मे विभक्त करने और रस को शरीर के अंगो मे यथास्थान पहुँचाने वाला शरीर तैजस कहलाता है।

कार्मणशरीर—रागद्वेषादि भावो से शुभाशुभ कर्मवर्गणा के पुद्गलो को संचित करने वाला कार्मण शरीर है।[1]

चौथा—संहननद्वार—

१४ इमीसे ण भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए जाव नेरइयाण सरीरगा किं संघयणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! छण्हं संघयणाणं असंघयणी, नेवऽट्ठी, नेव छिरा, नेव ण्हारूणि। जे पोग्गला अणिट्ठा अकंता अप्पिया असुभा अमणुण्णा अमणामा ते तेसिं सरीरसंघातत्ताए परिणमंति।

[१४ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के तीस लाख नारकावासो मे से प्रत्येक नारकावास मे बसने वाले नैरयिको के शरीरो का कौन-सा संहनन है ?

[१४ उ] गौतम ! उनका शरीर संहननरहित है, अर्थात् उनमे छह संहननो मे से कोई भी संहनन नही होता। उनके शरीर मे हड्डी, शिरा (नस) और स्नायु नही होती। जो पुद्गल अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ और अमनोहर हैं, वे पुद्गल नारको के शरीर-संघातरूप मे परिणत होते है।

---

१ भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ७२

१५ इमीसे ण भंते ! जाव छण्ह संघयणाणं असंघयणे वट्टमाणा नेरतिया किं कोहोवउत्ता० ?

सत्तावीस भंगा ।

[१५ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासो मे के प्रत्येक नारकावास मे रहने वाले और छह संहननो मे से जिनके एक भी संहनन नही है वे नैरयिक क्या क्रोधोपयुक्त है, मानोपयुक्त हैं, मायोपयुक्त है अथवा लोभोपयुक्त है ?

[१५ उ] गौतम ! इनके सत्ताईस भंग कहने चाहिए ।

पाँचवाँ—संस्थानद्वार—

१६. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभा जाव सरीरया किं संठिता पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविधा पण्णत्ता । तं जहा—भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य । तत्थ णं जे ते भवधारणिज्जा ते हुंडसंठिया पण्णत्ता । तत्थ णं उत्तरवेउव्विया ते वि हुंडसंठिया पण्णत्ता ।

[१६ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के तीस लाख नारकावासो मे के प्रत्येक नारकावास मे रहने वाले नैरयिको के शरीर किस संस्थान वाले है ?

[१६ उ] गौतम ! उन नारको का शरीर दो प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार है—भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय । उनमे जो भवधारणीय शरीर वाले है, वे हुण्डक संस्थान वाले होते है, और जो शरीर उत्तरवैक्रियरूप है, वे भी हुण्डकसंस्थान वाले कहे गए है ।

१७. इमीसे ण जाव हुंडसंठाणे वट्टमाणा नेरतिया किं कोहोवउत्ता० ?

सत्तावीस भंगा ।

[१७ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी मे यावत् हुण्डकसंस्थान मे वर्तमान नारक क्या क्रोधोपयुक्त इत्यादि है ?

[१७ उ] गौतम ! इनके भी क्रोधोपयुक्त आदि २७ भंग कहने चाहिए ।

विवेचन—नारको का क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक चतुर्थ एवं पंचम संहनन-संस्थानद्वार— प्रस्तुत चार सूत्रो (१४ से १७ तक) मे नारको के संहनन एव संस्थान के सम्बन्ध मे प्ररूपण करते हुए उक्त संहननहीन एव संस्थानयुक्त नारको के क्रोधोपयुक्तादि भंगो की चर्चा की है ।

उत्तरवैक्रिय शरीर—एक नारकी जीव दूसरे जीव को कष्ट देने के लिए जो शरीर बनाता है, वह उत्तरवैक्रिय कहलाता है । उत्तरवैक्रिय शरीर सुन्दर न बनाकर नारक हुण्डकसंस्थान वाला क्यो बनाते है ? इसका समाधान यह है कि उनमे शक्ति की मन्दता है तथा देश-काल आदि की प्रतिकूलता है, इस कारण वे शरीर का आकार सुन्दर बनाना चाहते हुए भी नही बना पाते, वह बेढगा ही बनता है । उनका शरीर संहननरहित होता है, इसलिए उन्हे छेदने पर शरीर के पुद्गल अलग हो जाते है और पुन मिल जाते है ।[1]

---

१ भगवतीसूत्र अ० वृत्ति, पत्रांक ७२

अस्थियो के विशिष्ट प्रकार के ढाचे को सहनन कहते है। अस्थियाँ केवल औदारिक शरीर मे ही होती है और नारको को औदारिक शरीर होता नही है। इस कारण वे सहननरहित कहे गए है।

छठा—लेश्याद्वार—

१८. इमीसे ण भते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयाण कति लेसाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! एक्का काउलेस्सा पण्णत्ता।

[१८ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे बसने वाले नैरयिको मे कितनी लेश्याएँ कही गई है ?

[१८ उ] गौतम ! उनमे केवल एक कापोतलेश्या कही गई है।

१९. इमीसे ण भते ! रयणप्पभाए जाव काउलेस्साए वट्टमाणा० ?

सत्तावीस भगा।

[१९ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे बसने वाले कापोतलेश्या वाले नारक जीव क्या क्रोधोपयुक्त है, यावत् लोभोपयुक्त है ?

[१९ उ] गौतम ! इनके भी सत्ताईस भग कहने चाहिए।

विवेचन—नारको का क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक छठा लेश्याद्वार—प्रस्तुत दो सूत्रो मे नारको मे लेश्या का निरूपण तथा उक्त लेश्या वाले नारको के क्रोधोपयुक्त आदि २७ भग बताये गये है।

सातवाँ—दृष्टिद्वार—

२०. इमीसे ण जाव किं सम्मद्दिट्ठी मिच्छद्दिट्ठी सम्मामिच्छद्दिट्ठी ?

तिण्णि वि।

[२० प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे बसने वाले नारक जीव क्या सम्यग्दृष्टि है, मिथ्यादृष्टि हैं, या सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) है ?

[२० उ] हे गौतम ! वे तीनो प्रकार के (कोई सम्यग्दृष्टि, कोई मिथ्यादृष्टि और कोई मिश्रदृष्टि) होते है।

२१ [१] इमीसे ण जाव सम्मद्दसणे वट्टमाणा नेरइया० ?

सत्तावीस भगा।

[२] एव मिच्छद्दसणे वि।

[३] सम्मामिच्छद्दसणे असीति भगा।

[२१-१ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे बसने वाले सम्यग्दृष्टि नारक क्या क्रोधोपयुक्त यावत् लोभोपयुक्त हैं ?

[२१-१ उ] गौतम ! इनके क्रोधोपयुक्त आदि सत्ताईस भग कहने चाहिए ।

[२१-२] इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि के भी क्रोधोपयुक्त आदि २७ भग कहने चाहिए ।

[२१-३] सम्यग्मिथ्यादृष्टि के अस्सी भग (पूर्ववत्) कहने चाहिए ।

आठवाँ–ज्ञानद्वार—

२२ इमीसे ण भंते ! जाव किं णाणी, अण्णाणी ?

गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि । तिण्णि नाणाणि नियमा, तिण्णि अण्णाणाइ भयणाए ।

[२२ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे रहने वाले नारक जीव क्या ज्ञानी है, या अज्ञानी है ?

[२२ उ] गौतम ! उनमे ज्ञानी भी है, और अज्ञानी भी है । जो ज्ञानी हैं, उनमे नियमपूर्वक तीन ज्ञान होते हैं, और जो अज्ञानी है, उनमे तीन अज्ञान भजना (विकल्प) से होते है ।

२३ [१] इमीसे ण भंते ! जाव आभिणिबोहियणाणे वट्टमाणा० ?

सत्तावीस भगा ।

[२] एव तिण्णि णाणाइ, तिण्णि य अण्णाणाइं भाणियव्वाइं ।

[२३-१ प्र] भगवन ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे रहने वाले आभिनिबोधिक ज्ञानी (मतिज्ञानी) नारकी जीव क्या क्रोधोपयुक्त यावत् लोभोपयुक्त होते हैं ?

[२३-१ उ] गौतम ! उन आभिनिबोधिक ज्ञानवाले नारको के क्रोधोपयुक्त आदि २७ भग कहने चाहिए ।

[२३-२] इसी प्रकार तीनो ज्ञान वाले तथा तीनो अज्ञान वाले नारको मे क्रोधोपयुक्त आदि २७ भग कहने चाहिए ।

विवेचन—नारको का क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक सातवाँ—आठवाँ दृष्टि-ज्ञानद्वार—प्रस्तुत चार सूत्रो मे नारको मे तीनो दृष्टियो तथा तीन ज्ञान एव तीन अज्ञान की प्ररूपणा करके उनमे क्रोधोपयुक्तादि भगो का प्रतिपादन किया गया है ।

दृष्टि—जिनकी दृष्टि (दर्शन) मे समभाव है, सम्यक्त्व है, वे सम्यग्दृष्टि कहलाते है । वस्तु के वास्तविक स्वरूप को समझना सम्यग्दर्शन है, और विपरीतस्वरूप समझना मिथ्यादर्शन है । विपरीत बुद्धि दृष्टि वाला प्राणी मिथ्यादृष्टि होता है । जो न पूरी तरह मिथ्यादृष्टि वाला है और न सम्यग्दृष्टि वाला है, वह सम्यग्मिथ्यादृष्टि—मिश्रदृष्टि कहलाता है ।

तीनो दृष्टियो वाले नारको मे क्रोधोपयुक्तादि भग—सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि मे पूर्ववत् २७ भग होते हैं, किन्तु मिश्रदृष्टि मे ८० भग होते हैं, क्योकि मिश्रदृष्टि जीव अल्प हैं, उनका सद्भाव काल की अपेक्षा से भी अल्प है । अर्थात्—वे कभी नरक मे पाये जाते है, कभी नही भी पाये जाते । इसी कारण मिश्रदृष्टि नारक मे क्रोधादि के ८० भग पाये जाते हैं ।

अस्थियो के विशिष्ट प्रकार के ढाचे को सहनन कहते हैं। अस्थियाँ केवल औदारिक शरीर मे ही होती हैं और नारको को औदारिक शरीर होता नही है। इस कारण वे सहननरहित कहे गए है।

छठा—लेश्याद्वार—

१८. इमीसे ण भंते! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयाण कति लेसाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा! एक्का काउलेस्सा पण्णत्ता।

[१८ प्र] भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे वसने वाले नैरयिको मे कितनी लेश्याएँ कही गई है ?

[१८ उ] गौतम! उनमे केवल एक कापोतलेश्या कही गई है।

१९. इमीसे ण भते! रयणप्पभाए जाव काउलेस्साए वट्टमाणा० ?

सत्तावीस भगा।

[१९ प्र] भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे बसने वाले कापोतलेश्या वाले नारक जीव क्या क्रोधोपयुक्त है, यावत् लोभोपयुक्त है ?

[१९ उ] गौतम! इनके भी सत्ताईस भग कहने चाहिए।

विवेचन—नारको का क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक छठा लेश्याद्वार—प्रस्तुत दो सूत्रो मे नारको मे लेश्या का निरूपण तथा उक्त लेश्या वाले नारको के क्रोधोपयुक्त आदि २७ भग बताये गये हैं।

सातवाँ—दृष्टिद्वार—

२०. इमीसे ण जाव किं सम्मद्दिट्ठी मिच्छद्दिट्ठी सम्मामिच्छद्दिट्ठी ?

तिण्णि वि।

[२० प्र] भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे बसने वाले नारक जीव क्या सम्यग्दृष्टि हैं, मिथ्यादृष्टि है, या सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) है ?

[२० उ] हे गौतम! वे तीनो प्रकार के (कोई सम्यग्दृष्टि, कोई मिथ्यादृष्टि और कोई मिश्रदृष्टि) होते है।

२१ [१] इमीसे ण जाव सम्मद्दसणे वट्टमाणा नेरइया० ?

सत्तावीस भगा।

[२] एव मिच्छद्दसणे वि।

[३] सम्मामिच्छद्दसणे असीति भगा।

[२१-१ प्र] भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे बसने वाले सम्यग्दृष्टि नारक क्या क्रोधोपयुक्त यावत् लोभोपयुक्त है ?

[२१-१ उ] गौतम ! इनके क्रोधोपयुक्त आदि सत्ताईस भग कहने चाहिए ।

[२१-२] इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि के भी क्रोधोपयुक्त आदि २७ भग कहने चाहिए ।

[२१-३] सम्यग्मिथ्यादृष्टि के अस्सी भग (पूर्ववत्) कहने चाहिए ।

आठवाँ—ज्ञानद्वार—

२२ इमीसे ण भते ! जाव किं णाणी, अण्णाणी ?

गोयमा ! णाणी वि, अण्णाणी वि । तिण्णि नाणाणि नियमा, तिण्णि अण्णाणाइ भयणाए ।

[२२ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे रहने वाले नारक जीव क्या ज्ञानी है, या अज्ञानी है ?

[२२ उ] गौतम ! उनमे ज्ञानी भी है, और अज्ञानी भी है । जो ज्ञानी हैं, उनमे नियम-पूर्वक तीन ज्ञान होते हैं, और जो अज्ञानी है, उनमे तीन अज्ञान भजना (विकल्प) से होते है ।

२३ [१] इमीसे ण भते ! जाव आभिणिबोहियणाणे वट्टमाणा० ?

सत्तावीस भगा ।

[२] एव तिण्णि णाणाइं, तिण्णि य अण्णाणाइं भाणियव्वाइ ।

[२३-१ प्र] भगवन ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे रहने वाले आभिनिबोधिक ज्ञानी (मतिज्ञानी) नारकी जीव क्या क्रोधोपयुक्त यावत् लोभोपयुक्त होते हैं ?

[२३-१ उ] गौतम ! उन आभिनिबोधिक ज्ञानवाले नारको के क्रोधोपयुक्त आदि २७ भग कहने चाहिए ।

[२३-२] इसी प्रकार तीनो ज्ञान वाले तथा तीनो अज्ञान वाले नारको मे क्रोधोपयुक्त आदि २७ भग कहने चाहिए ।

विवेचन—नारको का क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक सातवाँ—आठवाँ दृष्टि-ज्ञानद्वार—प्रस्तुत चार सूत्रो मे नारको मे तीनो दृष्टियो तथा तीन ज्ञान एव तीन अज्ञान की प्ररूपणा करके उनमे क्रोधोपयुक्तादि भगो का प्रतिपादन किया गया है ।

दृष्टि—जिनकी दृष्टि (दर्शन) मे समभाव है, सम्यक्त्व है, वे सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं । वस्तु के वास्तविक स्वरूप को समझना सम्यग्दर्शन है, और विपरीतस्वरूप समझना मिथ्यादर्शन है । विपरीत बुद्धि दृष्टि वाला प्राणी मिथ्यादृष्टि होता है । जो न पूरी तरह मिथ्यादृष्टि वाला है और न सम्यग्दृष्टि वाला है, वह सम्यग्मिथ्यादृष्टि—मिश्रदृष्टि कहलाता है ।

तीनों दृष्टियो वाले नारको मे क्रोधोपयुक्तादि भग—सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि मे पूर्ववत् २७ भग होते हैं, किन्तु मिश्रदृष्टि मे ८० भग होते हैं, क्योकि मिश्रदृष्टि जीव अल्प हैं, उनका सद्भाव काल की अपेक्षा से भी अल्प है । अर्थात्—वे कभी नरक मे पाये जाते है, कभी नही भी पाये जाते । इसी कारण मिश्रदृष्टि नारक मे क्रोधादि के ८० भग पाये जाते है ।

तीन ज्ञान और तीन अज्ञान वाले नारक कौन और कैसे ?—जो जीव नरक मे सम्यक्त्व-सहित उत्पन्न होते है, उन्हे जन्मकाल के प्रथम समय से लेकर भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है, इसलिए उनमे नियम (निश्चितरूप) से तीन ज्ञान होते है। जो मिथ्यादृष्टि जीव नरक मे उत्पन्न होते है, वे यहाँ से सज्ञी या असज्ञी जीवो मे से गए हुए होते है। उनमे से जो जीव यहाँ से सज्ञी जीवो मे से जाकर नरक मे उत्पन्न होते है, उन्हे जन्मकाल से ही विभग (विपरीत अवधि) ज्ञान होता है। इसलिए उनमे नियमत तीन अज्ञान होते है। जो जीव यहाँ से असज्ञी जीवो मे से जाकर नरक मे उत्पन्न होते है, उन्हे जन्मकाल मे दो अज्ञान (मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान) होते है, और एक अन्तर्मुहूर्त व्यतीत हो जाने पर पर्याप्त अवस्था प्राप्त होने पर विभगज्ञान उत्पन्न होता है, तब उन्हे तीन अज्ञान हो जाते है। इसीलिए उनमे तीन अज्ञान भजना (विकल्प) से कहे गये है। अर्थात्—किसी समय उनमे दो अज्ञान होते है, किसी समय तीन अज्ञान। जब दो अज्ञान होते है, तब उनमे क्रोधोपयुक्त आदि ८० भग होते है, क्योकि ये जीव थोडे-से होते है।

ज्ञान और अज्ञान—ज्ञान का अर्थ यहाँ सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान समझना चाहिए और अज्ञान का अर्थ ज्ञानाभाव नही, अपितु मिथ्याज्ञान, जो कि मिथ्यादर्शनपूर्वक होता है, समझना चाहिए। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीन सम्यग्ज्ञान है और मत्यज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभगज्ञान ये तीन मिथ्याज्ञान है।[1]

नौवाँ—योगद्वार—

२४ इमीसे ण जाव किं मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी ?

तिण्णि वि।

[२४ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे रहने वाले नारक जीव क्या मनोयोगी है, वचनयोगी है अथवा काययोगी है ?

[२४ उ] गौतम ! वे प्रत्येक तीनो प्रकार के है, अर्थात्—सभी नारक जीव मन, वचन और काया, इन तीनो योगो वाले है।

२५. [१] इमीसे ण जाव मणजोए वट्टमाणा किं कोहोवउत्ता० ?

सत्तावीस भगा।

[२] एव वइजोए। एव कायजोए।

[२५-१ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे रहने वाले और यावत् मनोयोग मे रहने वाले नारक जीव क्या क्रोधोपयुक्त यावत् लोभोपयुक्त है ?

[२५-१ उ] गौतम ! उनके क्रोधोपयुक्त आदि २७ भग कहने चाहिए।

[२५-२] इसी प्रकार वचनयोगी और काययोगी के भी क्रोधोपयुक्त आदि २७ भग कहने चाहिए।

---

१ (क) भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक ७२-७३

(ख) देखें—नन्दीसूत्र मे पाँच ज्ञान और तीन अज्ञान का वर्णन।

दसवाँ—उपयोगद्वार—

२६ इमीसे ण जाव नेरइया किं सागारोवउत्ता, अणागारोवउत्ता ?

गोयमा ! सागारोवउत्ता वि, अणागारोवउत्ता वि।

[२६ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नारक जीव क्या साकारोपयोग से युक्त है अथवा अनाकारोपयोग से युक्त है ?'

[२६ उ] गौतम ! वे साकारोपयोगयुक्त भी है और अनाकारोपयोगयुक्त भी हैं।

२७ [१] इमीसे ण जाव सागारोवओगे वट्टमाणा कि कोहोवउत्ता० ?

सत्तावीस भगा।

[२] एव अणागारोवउत्ते वि सत्तावीस भगा।

[२७-१ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के साकारोपयोगयुक्त नारक जीव क्या क्रोधोपयुक्त है, यावत् लोभोपयुक्त है ?

[२७-१ उ] गौतम ! इनमे क्रोधोपयुक्त इत्यादि २७ भग कहने चाहिए।

[२७-१] इसी प्रकार अनाकारोपयोगयुक्त मे भी क्रोधोपयुक्त इत्यादि सत्ताईस भग कहने चाहिए।

विवेचन—नारको का क्रोधोपयुक्त इत्यादि निरूपणपूर्वक नौवाँ एव दसवाँ योग-उपयोगद्वार— प्रस्तुत चार सूत्रो (२४ से २७ तक) मे नारको मे तीन योग और दो उपयोग बताकर उक्त दोनो प्रकार के नारको मे क्रोधोपयुक्त आदि पूर्वोक्त २७ भगो का निरूपण किया गया है।

योग का अर्थ—यहाँ हठयोग आदि नही है, किन्तु उसका खास अर्थ है—प्रयु जन या प्रयोग। योग का तात्पर्य है—आत्मा की शक्ति को फैलाना। वह मन, वचन और काया के माध्यम से फैलाई जाती है। इसलिए इन तीनो की प्रवृत्ति, प्रसारण या प्रयोग को योग कहा जाता है। यद्यपि केवल कार्मणकाययोग मे ८० भग पाये जाते है, किन्तु यहाँ सामान्य काययोग की विवक्षा से २७ भग ही समझने चाहिए।

उपयोग का अर्थ—जानना या देखना है। वस्तु के सामान्य (स्वरूप) को जानना अनाकार-उपयोग है और विशेष धर्म को जानना साकारोपयोग है। दूसरे शब्दो मे, दर्शन को अनाकारोपयोग और ज्ञान को साकारोपयोग कहा जा सकता है।[1]

ग्यारहवाँ—लेश्याद्वार—

२८ एव सत्त वि पुढवीओ नेतव्वाओ। णाणत्त लेसासु। गाहा—

काऊ य दोसु, ततियाए मीसिया, नीलिया चउत्थीए।
पचमियाए मीसा, कण्हा, तत्तो परमकण्हा ॥७॥

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ७३

(ख) 'आकारो—विशेषाग्रहणशक्तिस्तेन सहेति साकार, तद्विकलोऽनाकार सामान्यग्राहीत्यर्थः'।
—भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ७३

[२८] रत्नप्रभा पृथ्वी के विषय मे दस द्वारो का वर्णन किया है, उसी प्रकार से सातो पृथ्वियो (नरकभूमियो) के विषय मे जान लेना चाहिए। किन्तु लेश्याओ मे विशेषता है। वह इस प्रकार है—

गाथार्थ—पहली और दूसरी नरकपृथ्वी मे कापोतलेश्या है, तीसरी नरकपृथ्वी मे मिश्र अर्थात्—कापोत और नील, ये दो लेश्याएँ है, चौथी मे नील लेश्या है, पाँचवी मे मिश्र अर्थात्—नील और कृष्ण, ये दो लेश्याए है, छठी मे कृष्ण लेश्या और सातवी मे परम कृष्ण लेश्या होती है।

विवेचन—लेश्या के सिवाय सातो नरकपृथ्वियो मे शेष नौ द्वारो मे समानता—प्रस्तुत सूत्र मे सातो नरकपृथ्वियो मे लेश्या के अतिरिक्त शेष नो द्वारो का तथा उनसे सम्बन्धित क्रोधोपयुक्त आदि भगो का वर्णन रत्नप्रभापृथ्वी के वर्णन के समान है।

भवनपतियो की क्रोधोपयुक्तादि वक्तव्यतापूर्वक स्थिति आदि दस द्वार—

२९ चउसट्ठीए ण भते ! असुरकुमारावाससयसहस्सेसु एगमेगसि असुरकुमारावाससि असुरकुमाराण केवतिया ठिइठाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! असखेज्जा ठितिठाणा पण्णत्ता। त जहा—जहन्निया ठिई जहा नेरतिया तहा, नवर पडिलोमा भगा भाणियव्वा—सव्वे वि ताव होज्ज लोभोवयुत्ता, अहवा लोभोवयुत्ता य मायोवउत्ते य, अहवा लोभोवयुत्ता य मायोवयुत्ता य। एतेण गमेण नेतव्वं जाव थणियकुमारा, नवर णाणत्त जाणितव्व।

[२९ प्र] भगवन् ! चौसठ लाख असुरकुमारावासो मे के एक-एक असुरकुमारावास मे रहने वाले असुरकुमारो के कितने स्थिति-स्थान कहे गए है ?

[२९ उ] गौतम ! उनके स्थिति-स्थान असख्यात कहे गये है। वे इस प्रकार है—जघन्य स्थिति, एक समय अधिक जघन्य स्थिति, इत्यादि सब वर्णन नैरयिको के समान जानना चाहिए। विशेषता यह है कि इनमे जहाँ सत्ताईस भग आते हैं, वहा प्रतिलोम (विपरीत) समझना चाहिए। वे इस प्रकार है—समस्त असुरकुमार लोभोपयुक्त होते है, अथवा बहुत-से लोभोपयुक्त और एक मायोपयुक्त होता है, अथवा बहुत-से लोभोपयुक्त और मायोपयुक्त होते है, इत्यादि रूप (गम) से जानना चाहिए। इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमारो तक समझना चाहिए। विशेषता यह है कि सहनन, सस्थान, लेश्या आदि मे भिन्नता जाननी चाहिए।

एकेन्द्रियो की क्रोधोपयुक्तादि प्ररूपणापूर्वक स्थिति आदि द्वार—

३० असखेज्जेसु ण भते ! पुढविकाइयावाससतसहस्सेसु एगमेगसि पुढविकाइयावाससि पुढविक्काइयाण केवतिया ठितिठाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! असखेज्जा ठितिठाणा पण्णत्ता। त जहा—जहन्निया ठिई जाव तप्पाउग्गुक्कोसिया ठिती।

[३० प्र] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवो के असख्यात लाख आवासो मे से एक-एक आवास मे बसने वाले पृथ्वीकायिको के कितने स्थिति-स्थान कहे गये हैं ?

[३० उ] गौतम ! उनके असख्येय स्थिति-स्थान कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं— उनकी जघन्य स्थिति, एक समय अधिक जघन्य स्थिति, दो समय अधिक जघन्य स्थिति, इत्यादि यावत् उनके योग्य उत्कृष्ट स्थिति।

३१ असखेज्जेसु ण भते ! पुढविक्काइयावाससतसहस्सेसु एगमेगसि पुढविक्काइयावाससि जहन्नठितीए वट्टमाणा पुढविक्काइया किं कोधोवउत्ता, माणोवउत्ता, मायोवउत्ता, लोभोवउत्ता ?

गोयमा ! कोहोवउत्ता वि माणोवउत्ता वि मायोवउत्ता वि लोभोवउत्ता वि। एव पुढविक्काइयाण सव्वेसु वि ठाणेसु अभगय, नवर तेउलेस्साए असीति भगा।

[३१ प्र] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवो के असख्यात लाख आवासो मे से एक-एक आवास मे बसने वाले और जघन्य स्थिति वाले पृथ्वीकायिक क्या क्रोधोपयुक्त हैं, मानोपयुक्त हैं, मायोपयुक्त है या लोभोपयुक्त हैं ?

[३१ उ] गौतम ! वे क्रोधोपयुक्त भी है, मानोपयुक्त भी है, मायोपयुक्त भी है, और लोभोपयुक्त भी है। इस प्रकार पृथ्वीकायिको के सब स्थानो मे अभगक है (पृथ्वीकायिको की सख्या बहुत होने से उनमे एक, बहुल आदि विकल्प नही होते। वे सभी स्थानो मे बहुत है।) विशेष यह है कि तेजोलेश्या मे अस्सी भग कहने चाहिए।

३२ [१] एव आउक्काइया वि।

[२] तेउक्काइय-वाउक्काइयाण सव्वेसु वि ठाणेसु अभगय।

[३] वणप्फतिकाइया जहा पुढविक्काइया।

[३२-१] इसी प्रकार अप्काय के सम्बन्ध मे भी जानना चाहिए।

[३२-२] तेजस्काय और वायुकाय के सब स्थानो मे अभगक है।

[३२-३] वनस्पतिकायिक जीवो के सम्बन्ध मे पृथ्वीकायिको के समान समझना चाहिए।

विकलेन्द्रियो के क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक स्थिति आदि दसद्वार—

३३ बेइदिय-तेइदिय-चउरिंदियाण जेहि ठाणेहि नेरतियाण असीइ भगा तेहिं ठाणेहिं असीइं चेव। नवर अब्भहिया सम्मत्ते, आभिणिबोहियनाणे सुयनाणे य, एएहि असीइ भगा, जेहि ठाणेहि नेरतियाण सत्तावीस भगा तेसु ठाणेसु सव्वेसु अभगय।

[३३] जिन स्थानो मे नैरयिक जीवो के अस्सी भग कहे गये है, उन स्थानो मे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवो के भी अस्सी भग होते है। विशेषता यह है कि सम्यक्त्व (सम्यग्दृष्टि) आभिनिबोधिक ज्ञान, और श्रुतज्ञान—इन तीन स्थानो मे भी द्वीन्द्रिय आदि जीवो के अस्सी भग होते है, इतनी बात नारक जीवो से अधिक है। तथा जिन स्थानो मे नारक जीवो के सत्ताईस भग कहे है, उन सभी स्थानो मे यहाँ अभगक है, अर्थात्—कोई विकल्प नही होते।

तिर्यञ्चपंचेन्द्रियो के क्रोधोपयुक्तादि कथनपूर्वक दसद्वारनिरूपण—

३४ पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा नेरइया तहा भाणियव्वा, नवर जेहि सत्तावीस भगा तेहि अभगयं कायव्व। जत्थ असीति तत्थ असीतिं चेव।

[३४] जैसा नैरयिको के विपय मे कहा, वैसा ही पचेन्द्रिय तिर्यचयोनिक जीवो के विषय मे कहना चाहिए। विशेपता यह है कि जिन-जिन स्थानो मे नारक-जीवो के सत्ताईस भग कहे गये है, उन-उन स्थानो मे यहाँ अभगक कहना चाहिए, और जिन स्थानो मे नारको के अस्सी भग कहे है, उन स्थानो मे पचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीवो के भी अस्सी भग कहने चाहिए।

मनुष्यों के क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक दसद्वार—

३५. मणुस्सा वि। जेहिं ठाणेहि नेरइयाण असीति भगा तेहिं ठाणेहिं मणुस्साण वि असीति भंगा भाणियव्वा। जेसु ठाणेसु सत्तावीसा तेसु अभगय, नवर मणुस्साण अब्भहिय—जहन्नियाए ठिईए आहारए य असीति भगा।

[३५] नारक जीवो मे जिन-जिन स्थानो मे अस्सी भग कहे गए है, उन-उन स्थानो मे मनुष्यो के भी अस्सी भग कहने चाहिए। नारक जीवो मे जिन-जिन स्थानो मे सत्ताईस भग कहे गए है उनमे मनुष्यो मे अभगक कहना चाहिए। विशेषता यह है कि मनुष्यो के जघन्य स्थिति मे और आहारक शरीर मे अस्सी भग होते हैं, और यही नैरयिको की अपेक्षा मनुष्यो मे अधिक है।

वाणव्यन्तरो के क्रोधोपयुक्तपूर्वक दसद्वार—

३६ वाणमतर-जोदिस-वेमाणिया जहा भवणवासो (सु २९) नवर णाणत्त जाणियव्व ज जस्स, जाव[1] अणुत्तरा।

सेव भते! सेव भंते! त्ति०।

॥ पचमो उद्देसो समत्तो ॥

[३६] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो का कथन भवनपति देवो के समान समझना चाहिए। विशेषता यह है कि जो जिसका नानात्व—भिन्नत्व है, वह जान लेना चाहिए, यावत् अनुत्तरविमान तक कहना चाहिए।

'भगवन्! यह इसी प्रकार है, यह इसी प्रकार है', ऐसा कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरण करते है।

विवेचन—भवनपति से लेकर वैमानिक देवो तक के क्रोधोपयुक्त आदि भग निरूपणपूर्वक स्थिति—अवगाहनादि दसद्वारप्ररूपण— प्रस्तुत आठ सूत्रो (सू २९ से ३६ तक) द्वारा शास्त्रकार ने स्थिति अवगाहना आदि दस द्वारो का प्ररूपण करते हुए उनसे सम्बन्धित क्रोधोपयुक्त आदि भगो का प्रतिपादन किया है।

भवनपति देवो की प्रकृति नारको की प्रकृति से भिन्न—नरक के जीवो मे क्रोध अधिक होता है, वहाँ भवनपति आदि देवो मे लोभ की अधिकता होती है। इसीलिए नारको मे जहा २७ भग—क्रोध, मान, माया, लोभ इस क्रम से कहे गए थे, वहाँ देवो मे इससे विपरीत क्रम से कहना चाहिए, यथा—लोभ, माया, मान, और क्रोध। देवो की प्रकृति मे लोभ की अधिकता होने से समस्त भगो मे

१ 'जाव' पद से 'सोहम्म-ईसाण' से लेकर 'अणुत्तरा' (अनुत्तरदेवलोक के देव) तक के नामो की योजना कर लेनी चाहिए।

'लोभ' शब्द को बहुवचनान्त ही रखना चाहिए। यथा—**असयोगी एक भंग**—१ सभी लोभी, **द्विकसयोगी ६ भंग**—१ लोभी बहुत, मायी एक, २ लोभी बहुत, मायी बहुत, ३ लोभी बहुत, मानी एक, ४ लोभी बहुत, मानी बहुत, ५ लोभी बहुत, क्रोधी एक और ६ लोभी बहुत, क्रोधी बहुत।

त्रिकसयोगी १२ भंग—१ लोभी बहुत, मायी एक, मानी एक, २ लोभी बहुत, मायी एक मानी बहुत, ३ लोभी बहुत, मायी बहुत, मानी एक, ४ लोभी बहुत, मायी बहुत, मानी बहुत, ५ लोभी बहुत, मायी एक, क्रोधी एक, ६ लोभी बहुत, मानी एक, क्रोधी एक, ७ लोभी बहुत, मायी एक, क्रोधी एक, ८ लोभी बहुत, मायी बहुत, क्रोधी बहुत, ९ लोभी बहुत, मानी एक, क्रोधी एक, १० लोभी बहुत, मानी एक, क्रोधी बहुत, ११ लोभी बहुत, मानी बहुत, क्रोधी एक और १२ लोभी बहुत, मानी बहुत, क्रोधी बहुत।

चतुःसयोगी ८ भंग—१ लोभी बहुत, मायी एक, मानी एक, क्रोधी एक, २ लोभी बहुत, मायी एक, मानी एक, क्रोधी बहुत, ३ लोभी बहुत, मायी एक, मानी बहुत, क्रोधी एक, ४ लोभी बहुत, मायी एक, मानी बहुत, क्रोधी बहुत, ५ लोभी बहुत, मायी बहुत, मानी एक, क्रोधी एक, ६ लोभी बहुत, मायी बहुत, मानी एक, क्रोधी बहुत, ७ लोभी बहुत, मायी बहुत, मानी एक, क्रोधी एक और ८ लोभी बहुत, मायी बहुत, मानी बहुत, क्रोधी बहुत।

अन्य द्वारो मे अन्तर—असुरकुमारादि सहननरहित है, किन्तु उनके शरीरसघातरूप से जो पुद्गल परिणमते है, वे इष्ट और सुन्दर होते है। उनके भवधारणीय शरीर का सस्थान समचतुरस्र होता है, उत्तरवैक्रिय शरीर किसी एक सस्थान मे परिणत होता है। तथा असुरकुमारादि मे कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या होती है।

पृथ्वीकायादि के दश द्वार और क्रोधादियुक्त के भंग—इनके स्थितिस्थान आदि दशो ही द्वारो मे अभंगक समझना चाहिए। केवल पृथ्वीकायसम्बन्धी लेश्याद्वार मे तेजोलेश्या की अपेक्षा ८० भंग होते हैं। एक या अनेक देव देवलोक से च्यवकर पृथ्वीकाय मे उत्पन्न होते हैं तब तेजोलेश्या होती है। उनके एकत्वादि के कारण ८० भंग होते है। पृथ्वीकायिक मे ३ शरीर—(औदारिक, तैजस्, कार्मण), शरीरसघातरूप मे मनोज्ञ-अमनोज्ञ दोनो प्रकार के पुद्गल परिणमते है। इनमे भवधारणीय एव उत्तरवैक्रियशरीर भेद नही होते। क्रमश. चार लेश्याएँ होती है। ये हुण्डक सस्थानी, एकान्त मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी (मति-श्रुताज्ञान), केवल काययोगी होते है। इसी तरह अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के दश ही द्वार समझने चाहिए। तेजस्काय और वायुकाय मे देव उत्पन्न नही होते, इसलिए तेजोलेश्या और तत्सम्बन्धी ८० भंग नही होते। वायुकाय के ४ शरीर (आहारक को छोडकर) होते है।

विकलेन्द्रिय जीवो से नारको मे अन्तर—चूंकि विकलेन्द्रिय जीव अल्प होते है, इसलिए उनमे एक-एक जीव भी कदाचित् क्रोधादि—उपयुक्त हो सकता है, विकलेन्द्रियो मे मिश्रदृष्टि नही होती, आभिनिबोधिक ज्ञान और श्रुतज्ञान (अपर्याप्त दशा मे) होने से इनमे भी ८० भंग होते हैं। नारको मे जिन-जिन स्थानो मे २७ भंग बतलाए गए हैं, उन-उन स्थानो मे विकलेन्द्रिय मे अभंगक (भंगो का अभाव) कहना चाहिए। इनमे तेजोलेश्या नही होती। ये (विकलेन्द्रिय) सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि तथा ज्ञानी और अज्ञानी, तथा काययोगी और वचनयोगी होते है।

तिर्यंचपचेन्द्रिय जीवो और नारको मे अन्तर—नारको मे जहाँ २७ भग कहे गए हैं, वहाँ इनमे अभगक कहना चाहिए, क्योकि क्रोधादि—उपयुक्त पचेन्द्रियतिर्यंच एक साथ बहुत पाए जाते हैं, नारको मे जहाँ ८० भग कहे गए है, वहाँ इनमे भी ८० भग होते है। इनमे आहारक को छोडकर चार शरीर, वज्रऋषभनाराचादि छह सहनन तथा ६ सस्थान एव कृष्णादि छहो लेश्याएँ होती हैं।

मनुष्यो और नारको के कथन मे अन्तर—जिन द्वारो मे नारको के ८० भग कहे हैं, उनमे मनुष्यो के भी ८० भग होते है। एक समय अधिक जघन्य स्थिति से लेकर सख्यात समय अधिक तक की जघन्य स्थिति मे, जघन्य तथा एक प्रदेशाधिक जघन्य अवगाहना से लेकर सख्यातप्रदेशाधिक जघन्य अवगाहना मे, और मिश्रदृष्टि मे भी नारको के समान ८० भग ही होते हैं। जहाँ नारको के २७ भग कहे हैं, वहाँ मनुष्यो मे अभगक है, क्योकि मनुष्य सभी कषायो से उपयुक्त बहुत पाए जाते है। मनुष्यो मे शरीर पाच, सहनन छह, सस्थान छह, लेश्याएँ छह, दृष्टि तीन, ज्ञान पाच, अज्ञान तीन आदि होते है। आहारक शरीर वाले मनुष्य अत्यल्प होने से ८० भग होते हैं। केवलज्ञान मे कषाय नही होता।

चारो देवो सम्बन्धी कथन मे अन्तर—भवनपति देवो की तरह शेष तीन देवो का वर्णन समझना। ज्योतिष्क और वैमानिको मे कुछ अन्तर है। ज्योतिष्को मे केवल एक तेजोलेश्या होती है, जबकि वैमानिको मे तेजो, पद्म और शुक्ल, ये तीन शुभलेश्याएँ पाई जाती हैं। वैमानिको मे नियमत तीन ज्ञान, तीन अज्ञान पाए जाते है। असज्ञी जीव ज्योतिष्क देवो मे उत्पन्न नही होते, इसलिए उनमे अपर्याप्त अवस्था मे भी विभगज्ञान होता है।[1]

॥ प्रथम शतक पचम उद्देशक समाप्त ॥

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ७३ से ७७ तक

छट्ठो उद्देसओ : 'जावंते'

छठा उद्देशक : 'यावन्त'

सूर्य के उदयास्त क्षेत्र स्पर्शादि सम्बन्धो प्ररूपणा—

१. जावतियातो णं भते ! ओवासतरातो उदयते सूरिए चक्खुप्फास हव्वमागच्छति, अत्थमते वि य णं सूरिए तावतियाओ चेव ओवासतराओ चक्खुफासं हव्वमागच्छति ?

हता, गोयमा ! जावतियाओ ण ओवासतराओ उदयते सूरिए चक्खुफासं हव्वमागच्छति अत्थमते वि सूरिए जाव हव्वमागच्छति ।

[१ प्र] भगवन् ! जितने जितने अवकाशान्तर से अर्थात्—जितनी दूरी से उदय होता हुआ सूर्य आँखो से शीघ्र देखा जाता है, उतनी ही दूरी से क्या अस्त होता हुआ सूर्य भी दिखाई देता है ?

[१ उ] हाँ, गौतम ! जितनी दूर से उदय होता हुआ सूर्य आँखो से दीखता है, उतनी ही दूर से अस्त होता सूर्य भी आँखो से दिखाई देता है ।

२. जावतियं ण भते ! खेत्त उदयते सूरिए आतवेण सव्वतो समता ओभासेति उज्जोएति तवेति पभासेति अत्थमते वि य णं सूरिए तावइय चेव खेत्त आतवेण सव्वतो समता ओभासेति उज्जोएति तवेति पभासेति ?

हंता, गोयमा ! जावतियं ण खेत्त जाव पभासेति ।

[२ प्र] भगवन् ! उदय होता हुआ सूर्य अपने ताप द्वारा जितने क्षेत्र को सब प्रकार से, चारो ओर से सभी दिशाओ-विदिशाओ को प्रकाशित करता है, उद्योतित करता है, तपाता है और अत्यन्त तपाता है, क्या उतने ही क्षेत्र को अस्त होता हुआ सूर्य भी अपने ताप द्वारा सभी दिशाओ-विदिशाओ को प्रकाशित करता है, उद्योतित करता है, तपाता है और बहुत तपाता है ?

[२ उ] हा, गौतम ! उदय होता हुआ सूर्य जितने क्षेत्र को प्रकाशित करता है, यावत् अत्यन्त तपाता है, उतने ही क्षेत्र को अस्त होता हुआ सूर्य भी प्रकाशित करता है, यावत् अत्यन्त तपाता है ।

३ [१] त भते ! किं पुट्ठ ओभासेति अपुट्ठं ओभासेति ?

जाव[1] छद्दिसिं ओभासेति ।

---

१ यहाँ 'जाव' शब्द से निम्नोक्त पाठ समझें—

"गोयमा ! पुट्ठ ओभासेइ नो अपुट्ठं ।

त भते ! ओगाढ ओभासेइ ? अणोगाढ ओभासेइ ? गोयमा ! ओगाढ ओभासेइ, नो अणोगाढ । एव अणतरोगाढ ओभासेइ, नो परपरोगाढ । त भते ! किं अणु ओभासइ ? बायर ओभासेइ ? गोयमा ! अणु पि ओभासेइ, बायर पि ओभासेइ । त भते ! उड्ढ ओभासइ, तिरिय ओभासइ, अहे ओभासइ ? गोयमा ! उड्ढ पि, तिरिय पि, अहे वि ओभासइ । त भते ! आइ ओभासइ मज्झे ओभासइ अते ओभासइ ? गोयमा ! आइ पि मज्झे वि अते वि ओभासइ । त भते ! सविसए ओभासइ अविसए ओभासइ ? गोयमा ! सविसए ओभासइ, नो अविसए । त भते ! आणुपुव्वि ओभासइ ? अणाणुपुव्वि ओभासइ ? गोयमा ! आणुपुव्वि ओभासइ, नो अणाणुपुव्वि । त भते ! कइदिसिं ओभासइ ? गोयमा ! नियमा छद्दिसिं ति" ।

[३-१ प्र] भगवन् ! सूर्य जिस क्षेत्र को प्रकाशित करता है, क्या वह क्षेत्र सूर्य से स्पृष्ट—स्पर्श किया हुआ होता है, या अस्पृष्ट होता है ?

[३-१ उ] गौतम ! वह क्षेत्र सूर्य से स्पृष्ट होता है और यावत् उस क्षेत्र को छहो दिशाओ मे प्रकाशित करता है।

[२] एव उज्जोवेदि ? तवेति ? पभासेति ?

जाव नियमा छद्दिसि।

[३-२] इसी प्रकार उद्योतित करता है, तपाता है और बहुत तपाता है, यावत् नियमपूर्वक छहो मे दिशाओ अत्यन्त तपाता है।

४. [१] से नूण भते ! सव्वति सव्वावति फुसमाणकालसमयसि जावतिय खेत्त फुसइ तावतिय फुसमाणे पुट्ठे त्ति वत्तव्व सिया ?

हता, गोयमा ! सव्वति जाव वत्तव्व सिया।

[४-१ प्र] भगवन् ! स्पर्श करने के काल-समय मे सूर्य के साथ सम्बन्ध रखने वाले (सर्वाय) जितने क्षेत्र को सर्व दिशाओ मे सूर्य स्पर्श कर रहा होता है, क्या वह क्षेत्र 'स्पृष्ट' कहा जा सकता है ?

[४-१ उ] हाँ, गौतम ! वह 'सर्व' यावत् स्पर्श करता हुआ स्पृष्ट, ऐसा कहा जा सकता है।

[२] त भते ! किं पुट्ठ फुसति अपुट्ठ फुसइ ?

जाव नियमा छद्दिसि।

[४-२ प्र] 'भगवन् ! सूर्य स्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श करता है, या अस्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श करता है ?

[४-२ उ] गौतम ! सूर्य स्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श करता है, यावत् नियमपूर्वक छहो दिशाओ मे स्पर्श करता है।

विवेचन—सूर्य के उदयास्तक्षेत्रस्पर्शादिसम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रो मे सूर्य के द्वारा किये जाते हुए क्षेत्रस्पर्श तथा ताप द्वारा उक्त को प्रकाशित, प्रतापित एव स्पृष्ट करने के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर अकित हैं।

सूर्य कितनी दूर से दिखता है और क्यो ?—सूर्य के १८४ मण्डल कहे गये है। कर्कसक्रान्ति मे सूर्य सर्वाभ्यन्तर (सब के मध्य वाले) मण्डल मे प्रवेश करता है। उस समय वह भरतक्षेत्रवासियो को साधिक ४७२६३ योजन दूर से दीखता है। इतनी दूर से दिखाई देने का कारण यह है कि चक्षु अप्राप्यकारी इन्द्रिय है, यह अपने विषय (रूप) को छुए बिना ही दूर से देख सकती है। अन्य सब इन्द्रियाँ प्राप्यकारी है। यहाँ **चक्खुफास** (चक्षु स्पर्श) शब्द दिया गया है, उसका अर्थ—आँखो का

स्पर्श होना नही, अपितु आँखो से दिखाई देना है। स्पर्श होने पर तो आँख अपने मे रहे हुए काजल को भी नही देख पाती।

ओभासेइ आदि पदो के अर्थ—ओभासेइ=थोडा प्रकाशित होता है। उदयास्त समय का लालिमायुक्त प्रकाश अवभास कहलाता है। उज्जोएइ=उद्योतित होता है, जिससे स्थूल वस्तुएँ दिखाई देती है। तवेइ=तपता है—शीत को दूर करता है, उस ताप मे छोटे-वडे सभी पदार्थ स्पष्ट दिखाई देते हैं। पभासेइ=अत्यन्त तपता है, जिस ताप मे छोटी से छोटी वस्तु भी दिखाई देती है।

सूर्य द्वारा क्षेत्र का अवभासादि—सूर्य जिस क्षेत्र को अवभासित आदि करता है, वह उस क्षेत्र का स्पर्श—अवगाहन करके अवभासित आदि करता है। अनन्तरावगाढ को अवभासितादि करता है, परम्परावगाढ को नही। वह अणु, बादर, ऊपर, नीचे, तिरछा, आदि, मध्य और अन्त सव क्षेत्र को स्वविषय मे, क्रमपूर्वक, छहो दिशाओ मे अवभासितादि करता है। इसीलिए इसे स्पृष्ट-क्षेत्रस्पर्शी कहा जाता है।[1]

लोकान्त-अलोकान्तादिस्पर्श-प्ररूपणा—

५. [१] लोअते भते ! अलोअत फुसति ? अलोअते वि लोअतं फुसति ?

हंता, गोयमा ! लोगते अलोगत फुसति, अलोगते वि लोगतं फुसति।

[५-१ प्र] भगवन् ! क्या लोक का अन्त (किनारा) अलोक के अन्त को स्पर्श करता है ? क्या अलोक का अन्त लोक के अन्त को स्पर्श करता है ?

[५-१ उ] हाँ, गौतम ! लोक का अन्त अलोक के अन्त को स्पर्श करता है, और अलोक का अन्त लोक के अन्त को स्पर्श करता है।

[२] त भते ! किं पुट्ठ फुसति ?

जाव नियमा छद्दिसिं फुसति।

[५-२ प्र] भगवन् ! वह जो (लोक का अन्त अलोकान्त को और अलोकान्त लोकान्त को) स्पर्श करता है, क्या वह स्पृष्ट है या अस्पृष्ट है ?

[५-२ उ] गौतम ! यावत् नियमपूर्वक छहो दिशाओ मे स्पृष्ट होता है।

६. [१] दीवते भते ! सागरत फुसति ? सागरते वि दीवतं फुसति ?

हता, जाव नियमा छद्दिसिं फुसति।

[६-१ प्र] भगवन् क्या द्वीप का अन्त (किनारा) समुद्र के अन्त को स्पर्श करता है ? और समुद्र का अन्त द्वीप के अन्त को स्पर्श करता है ?

[६-१ उ] हाँ गोतम ! यावत्—नियम से छहो दिशाओ मे स्पर्श करता है।

[२] एव एतेण अभिलावेणं उदयते पोदत्त, छिद्द ते दूसत, छायते आतवतं ?

जाव नियमा छद्दिसिं फुसति।

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ७८

[६-२ प्र] भगवन्! क्या इसी प्रकार इसी अभिलाप से (इन्ही शब्दो मे) पानी का किनारा, पोत (नौका-जहाज) के किनारे को और पोत का किनारा पानी के किनारे को स्पर्श करता है? क्या छेद का किनारा वस्त्र के किनारे को और वस्त्र का किनारा छेद के किनारे को स्पर्श करता है? और क्या छाया का अन्त आतप (धूप) के अन्त को और आतप का अन्त छाया के अन्त को स्पर्श करता है?

[६-२ उ] हाँ, गौतम! यावत् नियमपूर्वक छहो दिशाओ को स्पर्श करता है।

विवेचन—लोकान्त-अलोकान्तादिस्पर्श-प्ररूपणा—प्रस्तुत दो सूत्रो मे लोकान्त और अलोकान्त, द्वीपान्त और सागरान्त, जलान्त और पोतान्त छेदान्त और वस्त्रान्त तथा छायान्त और आतपान्त के (छहो दिशाओ से स्पृष्ट) स्पर्श का निरूपण किया गया है। लोकान्त अलोकान्त से और अलोकान्त लोकान्त से छहो दिशाओ मे स्पृष्ट है। उसी प्रकार सागरान्त द्वीपान्त को परस्पर स्पर्श करता है।[1]

लोक-अलोक—जहाँ धर्मास्तिकाय आदि पचास्तिकाय को पूर्णज्ञानियो ने विद्यमान देखा, उसे 'लोक' सज्ञा दी, और जहाँ केवल आकाश देखा उस भाग को अलोक सज्ञा दी।

चौबीस दण्डकों में अठारह-पापस्थान-क्रिया-स्पर्श प्ररूपणा—

७. [१] अत्थि ण भंते! जीवाण पाणातिवातेण किरिया कज्जति?

हंता, अत्थि।

[७-१ प्र] भगवन्! क्या जीवो द्वारा प्राणातिपातक्रिया की जाती है?

[७-१ उ] हाँ, गौतम! की जाती है।

[२] सा भंते! किं पुट्ठा कज्जति? अपुट्ठा कज्जति?

जाव निव्वाघातेण छद्दिसिं, वाघात पडुच्च सिय तिदिसिं, सिय चउदिसिं, सिय पंचदिसिं।

[७-२ प्र] भगवन्! की जाने वाली वह प्राणातिपातक्रिया क्या स्पृष्ट है, या अस्पृष्ट है?

[७-२ उ] गौतम! यावत् व्याघात न हो तो छहो दिशाओ को और व्याघात हो तो कदाचित् तीन दिशाओ को, कदाचित् चार दिशाओ को और कदाचित् पाच दिशाओ को स्पर्श करती है।

[३] सा भंते! किं कडा कज्जति? अकडा कज्जति?

गोयमा! कडा कज्जति, नो अकडा कज्जति।

[७-३ प्र] भगवन्! की जाने वाली क्या वह (प्राणातिपात) क्रिया 'कृत' है अथवा अकृत?

[७-३ उ] गौतम! वह क्रिया कृत है, अकृत नही।

[४] सा भंते! किं अत्तकडा कज्जति? परकडा कज्जति? तदुभयकडा कज्जति?

गोयमा! अत्तकडा कज्जति, णो परकडा कज्जति, णो तदुभयकडा कज्जति।

---

१ भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक ७८-७९

[७-४ प्र] भगवन् ! की जाने वाली वह क्रिया क्या आत्मकृत है, परकृत है, अथवा उभयकृत है ?

[७-४ उ] गौतम ! वह क्रिया आत्मकृत है, किन्तु परकृत या उभयकृत नही ।

[५] सा भ ते ! कि आणुपुव्विकडा कज्जति ? अणाणुपुव्विकडा कज्जति ?

गोयमा ! आणुपुव्विकडा कज्जति, नो अणाणुपुव्विकडा, कज्जति । जा य कडा, जा य कज्जति, जा य कज्जिस्सति सव्वा सा आणुपुव्विकडा, नो अणाणुपुव्विकड त्ति वत्तव्व सिया ।

[७-५ प्र] भगवन् ! जो क्रिया की जाती है, वह क्या आनुपूर्वी—अनुक्रमपूर्वक की जाती है, या बिना अनुक्रम से (पूर्व-पश्चात् के बिना) की जाती है ?

[७-५ उ] गौतम ! वह अनुक्रमपूर्वक की जाती है, किन्तु बिना अनुक्रम से नही की जाती । जो क्रिया की गई है, या जो क्रिया की जा रही है, अथवा जो क्रिया की जाएगी, वह सब अनुक्रम-पूर्वक कृत है । किन्तु बिना अनुक्रमपूर्वक कृत नही है, ऐसा कहना चाहिए ।

८ [१] अत्थि णं भते ! नेरइयाण पाणातिवायकिरिया कज्जति ?

हता, अत्थि ।

[८-१ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिको द्वारा प्राणातिपातक्रिया की जाती है ?

[८-१ उ] हॉ, गौतम ! की जाती है ।

[२] सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जति ? अपुट्ठा कज्जति ?

जाव नियमा छद्दिसिं कज्जति ।

[८-२ प्र] भगवन् ! नैरयिको द्वारा जो क्रिया की जाती है, वह स्पृष्ट की जाती है या अस्पृष्ट की जाती है ?

[८-२ उ] गौतम ! वह यावत् नियम से छहो दिशाओ मे की जाती है ।

[३] सा भते ! कि कडा कज्जति ? अकडा कज्जति ?

त चेव जाव[1] नो अणाणुपुव्विकड त्ति वत्तव्व सिया ।

[८-३ प्र] भगवन् ! नैरयिको द्वारा जो क्रिया की जाती है, वह क्या कृत है अथवा अकृत है ?

[८-३ उ] गौतम ! वह पहले की तरह जानना चाहिए, यावत्—वह अनुक्रमपूर्वक कृत है, अननुपूर्वक कृत नही, ऐसा कहना चाहिए ।

९. जहा नेरइया (सु ८) तहा एगिंदियवज्जा भाणितव्वा जाव[2] वेमाणिया ।

[९] नैरयिको के समान एकेन्द्रिय को छोडकर यावत् वैमानिको तक सब दण्डको मे कहना चाहिए ।

१०. एगिंदिया जहा जीवा (सु. ७) तहा भाणियव्वा ।

---

१ 'जाव' पद से सू ७-५ मे अकित 'आणुपुव्विकडा कज्जति' से लेकर ' त्ति वत्तव्व सिया' तक का पाठ समझ लेना चाहिए ।

२ 'जाव' पद से द्वीन्द्रियादि से लेकर वैमानिकपर्यन्त का पाठ समझना चाहिए ।

[१०] एकेन्द्रियो के विषय मे औधिक (सामान्य) जीवो की भाति कहना चाहिए।

११. जहा पाणादिवाते (सु ७-१०) तहा मुसावादे तहा अदिन्नादाणे मेहुणे परिग्गहे कोहे जाव मिच्छादसणसल्ले एव एते अट्ठारस, चउवीस दडगा भाणियव्वा।

सेव भते ! सेव भ ते ! त्ति भगव गोतमे समण भगव जाव विहरति।

[११] प्राणातिपात (क्रिया) के समान मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, यावत् मिथ्यादर्शन शल्य तक इन अठारह ही पापस्थानो के विषय मे चौबीस दण्डक कहने चाहिए।

"हे भगवन् ! यह इमी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है" यो कहकर भगवान् गौतम श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दना—नमस्कार करके यावत् विचरते है।

विवेचन—चौबीस दण्डको मे अष्टादशपापस्थान क्रिया-स्पर्शप्ररूपणा—प्रस्तुत पाच सूत्रो मे सामान्य जीवो, नैरयिको तथा शेप सभी दण्डको मे प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक की क्रिया के सम्बन्ध मे विविध पहलुओ से प्रश्नोत्तरो का निरूपण है।

प्राणातिपातादि क्रिया के सम्बन्ध मे निष्कर्ष—(१) जीव प्राणातिपातादि की क्रिया स्वय करते है वे बिना किये नही होती। (२) ये क्रियाएँ मन, वचन या काया से स्पृष्ट होती है। (३) ये क्रियाएँ करने से लगती है, बिना किये नही लगती। फिर भले ही वह क्रिया मिथ्यात्वादि किसी कारण से की जाएँ, (४) क्रियाएँ स्वय करने से लगती है, दूसरे के (ईश्वर, काल आदि के) करने से नही लगती, (५) ये क्रियाएँ अनुक्रमपूर्वक कृत होती है।

कुछ शब्दो की व्याख्या—मोहनीयकर्म के उदय से चित्त मे जो उद्वेग होता है, उसे अरति और विषयानुराग को रति कहते है। लडाई-झगडा करना कलह है, असद्भूत दोषो को प्रकट रूप से जाहिर करना 'अभ्याख्यान' और गुप्तरूप से जाहिर करना या पीठ पीछे दोष प्रकट करना पैशुन्य है। दूसरे की निन्दा करना पर-परिवाद है, मायापूर्वक झूठ बोलना मायामृषावाद है, श्रद्धा का विपरीत होना मिथ्यादर्शन है, वही शल्यरूप होने से मिथ्यादर्शनशल्य है।[1]

रोह अनगार का वर्णन—

१२ तेण कालेण तेण समएण समणस्स भगवतो महावीरस्स अतेवासी रोहे नाम अणगारे पगतिभद्दए पगतिमउए पगतिविणीते पगति उवसते पगति पतणुकोह-माण-माय-लोभे मिदुमद्दवसपन्ने अल्लीणे भद्दए विणीए समणस्स भगवतो महावीरस्स अदूरसामते उड्ढजाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगते सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे विहरति। तए ण से रोहे नाम अणगारे जातसड्ढे जाव[2] पज्जुवासमाणे एव वदासी—

[१२] उस काल और उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के अन्तेवासी (शिष्य) रोह नामक अनगार थे। वे प्रकृति से भद्र, प्रकृति से मृदु (कोमल), प्रकृति से विनीत, प्रकृति से

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ८०

२ 'जाव' पद से प्रथम उद्देशक के उपोद्घात मे वर्णित श्री गौतमवर्णन मे प्रयुक्त 'जायससाए जायकोउहल्ले' इत्यादि समस्त विशेषणरूप पद यहा समझ लेने चाहिए।

उपशान्त, अल्प क्रोध, मान, माया और लोभ वाले, अत्यन्त निरहकारता-सम्पन्न, गुरु समाश्रित (गुरु-भक्ति मे लीन), किसी को सताप न पहुँचाने वाले, विनयमूर्ति थे। वे रोह अनगार ऊर्ध्वजानु (घुटने ऊपर करके) और नीचे की ओर सिर झुकाए हुए, ध्यान रूपी कोष्ठक (कोठे) मे प्रविष्ट, सयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए श्रमण भगवान् महावीर के समीप विचरते थे। तत्पश्चात् वह रोह अनगार जातश्रद्ध होकर यावत् भगवान् की पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—

विवेचन—रोह अनगार और भगवान् से प्रश्न पूछने की तैयारी—प्रकृति से भद्र एव विनीत रोह अनगार उत्कुटासन से बैठे ध्यान कोष्ठक मे लीन होकर तत्त्वविचार कर रहे थे, तभी उनके मन मे कुछ प्रश्न उद्भूत हुए, उन्हे पूछने के लिए वे विनयपूर्वक भगवान् के समक्ष उपस्थित हुए, यही वर्णन प्रस्तुत सूत्र मे प्रस्तुत किया गया है।

रोह अनगार के प्रश्न और भगवान् महावीर के उत्तर—

१३. पुव्वि भंते ! लोए ? पच्छा अलोए ? पुव्वि अलोए ? पच्छा लोए ?

रोहा ! लोए य अलोए य पुव्वि पेते, पच्छा पेते, दो वि ते सासता भावा, अणाणुपुव्वी एसा रोहा ! ।

[१३ प्र] भगवन् ! पहले लोक है, और पीछे अलोक है ? अथवा पहले अलोक और पीछे लोक है ?

[१३ उ] रोह ! लोक और अलोक, पहले भी है और पीछे भी है। ये दोनो ही शाश्वत-भाव है। हे रोह ! इन दोनो मे 'यह पहला और यह पिछला', ऐसा क्रम नही है।

१४. पुव्वि भते ! जीवा ? पच्छा अजीवा ? पुव्वि अजीवा ? पच्छा जीवा ?

जहेव लोए य अलोए य तहेव जीवा य अजीवा य।

[१४ प्र] भगवन् ! पहले जीव और पीछे अजीव है, या पहले अजीव और पीछे जीव है ?

[१४ उ] रोह ! जैसा लोक और अलोक के विषय मे कहा है, वैसा ही जीवो और अजीवो के विषय मे समझना चाहिए।

१५ एव भवसिद्धिया[1] य अभवसिद्धिया य, सिद्धी असिद्धी, सिद्धा असिद्धा।

[१५] इसी प्रकार भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक, सिद्धि और असिद्धि तथा सिद्ध और ससारी के विषय मे भी जानना चाहिए।

१६ पुव्वि भतें ! अडए ? पच्छा कुक्कुडी ? पुव्वि कुक्कुडी ? पच्छा अडए ?

रोहा ! से ण अडए कतो ?

भगवं ! त कुक्कुडीतो ।

---

१ भवसिद्धिया —भविष्यतीति भवा, भवसिद्धि निर्वृत्तिर्येषा ते, भव्या इत्यर्थ ।
भविष्य मे जिनकी सिद्धि-मुक्ति होगी, वे भव्य भवसिद्धिक होते हैं।

सा ण कुक्कुडी कतो ?

भते ! अडगातो ।

एवामेव रोहा ! से य अडए सा य कुक्कुडी, पुव्वि पेते, पच्छा पेते, दो वेते सासता भावा, अणाणुपुव्वी एसा रोहा !

[१६ प्र] भगवन् ! पहले अण्डा और फिर मुर्गी है ? या पहले मुर्गी और फिर अण्डा है ?

[१६ उ] (भगवान्—) हे रोह ! वह अण्डा कहाँ से आया ?

(रोह—) भगवन् ! वह मुर्गी से आया ।

(भगवान्—) वह मुर्गी कहाँ से आई ?

(रोह—) भगवन् ! वह अण्डे से हुई ।

(भगवान्—) इसी प्रकार हे रोह ! मुर्गी और अण्डा पहले भी है, और पीछे भी है। ये दोनो शाश्वतभाव है । हे रोह ! इन दोनो मे पहले-पीछे का क्रम नही है ।

१७ पुव्वि भते ! लोअते ? पच्छा अलोयते ? पुव्व अलोअते ? पच्छा लोअते ?

रोहा ! लोअते य अलोअते य जाव[1] अणाणुपुव्वी एसा रोहा !

[१७ प्र] भगवन् ! पहले लोकान्त और फिर अलोकान्त है ? अथवा पहले अलोकान्त और फिर लोकान्त है ?

[१७ उ] रोह ! लोकान्त और अलोकान्त, इन दोनो मे यावत् कोई क्रम नही है ।

१८ पुव्वि भंते ! लोअते ? पच्छा सत्तमे ओवासतरे ? पुच्छा ।

रोहा ! लोअते य सत्तमे य ओवासतरे पुव्वि पेते जाव अणाणुपुव्वी एसा रोहा !

[१८ प्र] भगवन् ! पहले लोकान्त है और फिर सातवाँ अवकाशान्तर है ? अथवा पहले सातवाँ अवकाशान्तर है और पीछे लोकान्त है ?

[१८ उ] हे रोह ! लोकान्त और सप्तम अवकाशान्तर, ये दोनो पहले भी है और पीछे भी है । इस प्रकार यावत्—हे रोह! इन दोनो मे पहले-पीछे का क्रम नही है ।

१९ एव लोअते य सत्तमे य तणुवाते । एव घणवाते, घणोदही, सत्तमा पुढवी ।

[१९] इसी प्रकार लोकान्त और सप्तम तनुवात, इसी प्रकार घनवात, घनोदधि और सातवी पृथ्वी के लिए समझना चाहिए ।

२० एव लोअते एक्केक्केण सजोएतव्वे इमेहि ठाणेहि, त जहा—

ओवास वात घण उदही पुढवी दीवा य सागरा वासा ।

नेरइयादी अत्थिय समया कम्माइ लेस्साओ ॥१॥

---

१ 'जाव' पद से सू १६ मे अकित 'पुव्वि पेते' से लेकर 'अणाणुपुव्वी एसा रोहा' तक का पाठ समझ लेना चाहिए ।

दिट्ठी दंसण णाणा सण्ण सरीरा य जोग उवश्रोगे ।

दव्व पदेसा पज्जव श्रद्धा, किं पुव्वि लोयते ? ॥२॥

पुव्वि भते ! लोयते पच्छा सव्वद्धा ? ० ।

[२०] इस प्रकार निम्नलिखित स्थानो मे से प्रत्येक के साथ लोकान्त को जोडना चाहिए, यथा—(गाथार्थ—) अवकाशान्तर, वात, घनोदधि, पृथ्वी, द्वीप, सागर, वर्ष (क्षेत्र), नारक आदि जीव (चौबीस दण्डक के प्राणी), अस्तिकाय, समय, कर्म, लेश्या, दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, सज्ञा, शरीर योग, उपयोग, द्रव्य, प्रदेश, पर्याय और काल (अद्धा), क्या ये पहले है और लोकान्त पीछे है ? अथवा हे भगवन् ! क्या लोकान्त पहले और सर्वाद्धा (सर्व काल) पीछे है ?

२१. जहा लोयतेण सजोइया सव्वे ठाणा एते, एव अलोयतेण वि सजोएतव्वा सव्वे ।

[२१] जैसे लोकान्त के साथ (पूर्वोक्त) सभी स्थानो का सयोग किया, उसी प्रकार अलोकान्त के साथ इन सभी स्थानो को जोडना चाहिए ।

२२. पुव्वि भते ! सत्तमे ओवासतरे ? पच्छा सत्तमे तणुवाते ?

एव सत्तम ओवासतर सव्वेहि सम सजोएतव्व जाव[1] सव्वद्धाए ।

[२२ प्र] भगवन् ! पहले सप्तम अवकाशान्तर है और पीछे सप्तम तनुवात है ?

[२२ उ] हे रोह ! इसी प्रकार सप्तम अवकाशान्तर को पूर्वोक्त सब स्थानो के साथ जोडना चाहिए । इसी प्रकार यावत् सर्वाद्धा तक समझना चाहिए ।

२३ पुव्वि भते ! सत्तमे तणुवाते ? पच्छा सत्तमे घणवाते ?

एय पि तहेव नेतव्व जाव सव्वद्धा ।

[२३ प्र] भगवन् ! पहले सप्तम तनुवात है और पीछे सप्तम घनवात है ?

[२३ उ] रोह ! यह भी उसी प्रकार यावत् सर्वाद्धा तक जानना चाहिए ।

२४ एव उवरिल्ल एक्केक्क सजोयतेण जो जो हेट्ठिल्लो त त छड्डेंतेण नेयव्व जाव अतीत-अणागतद्धा पच्छा सव्वद्धा जाव अणाणुपुव्वी एसा रोहा !

सेव भते ! सेव भते त्ति ! जाव[2] विहरति ।

[२४] इस प्रकार ऊपर के एक-एक (स्थान) का सयोग करते हुए और नीचे का जो-जो स्थान हो, उसे छोडते हुए पूर्ववत् समझना चाहिए, यावत् अतीत और अनागत काल और फिर सर्वाद्धा (सर्वकाल) तक, यावत् हे रोह ! इसमे कोई पूर्वापर का क्रम नही होता ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कह कर रोह अनगार तप सयम से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे ।

---

१ 'जाव' पद से यहाँ सू २० मे अकित गाथाद्वयगत पदो की योजना कर लेनी चाहिए ।

२ 'जाव' पद 'भगव महावीर तिक्खुत्तो पज्जुवासमाणे' पाठ का सूचक है ।

विवेचन—रोह अनगार के प्रश्न भगवान् महावीर के उत्तर—प्रस्तुत बारह सूत्रो (१३ से-२४ तक) मे लोक-अलोक, जीव-अजीव, भवसिद्धिक-अभवसिद्धक, सिद्धि-असिद्धि, सिद्ध-ससारी, लोकान्त-अलोकान्त, अवकाशान्तर, तनुवात, घनवात, घनोदधि, सप्त पृथ्वी, द्वीप, सागर, वर्ष, नारकी, आदि चौबीस दण्डक के जीव, अस्तिकाय, समय, कर्म, लेश्या, दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, सज्ञा, शरीर, योग, उपयोग, द्रव्य प्रदेश और पर्याय तथा काल इनमे परस्पर पूर्वापर क्रम के सबध मे रोहक अनगार द्वारा पूछे गए प्रश्न और श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रदत्त उत्तर अकित है ।

इन प्रश्नो के उत्थान के कारण—कई मतवादी लोक को बना हुआ, विशेषत ईश्वर द्वारा रचित मानते है, इसी तरह कई लोक आदि को शून्य मानते है । जीव-अजीव दोनो को ईश्वरकृत मानते है, कई मतवादी जीवो को पचमहाभूतो (जड) से उत्पन्न मानते है, कई लोग ससार से सिद्ध मानते है, इसलिए कहते है—पहले ससार हुआ, उसके बाद सिद्धि या सिद्ध हुए । इसी प्रकार कई वर्तमान या भूतकाल को पहले और भविष्य को बाद मे हुआ मानते है, इस प्रकार तीनो कालो को आदि मानते है । विभिन्न दार्शनिक चारो गति के जीवो की उत्पत्ति के सबध मे आगे-पीछे की कल्पना करते है । इन सब दृष्टियो के परिप्रेक्ष्य मे रोह-अनगार के मन मे लोक-अलोक, जीव-अजीव आदि विभिन्न पदार्थो के विषय मे जिज्ञासा उत्पन्न हुई और भगवान् से उसके समाधानार्थ उन्होने विभिन्न प्रश्न प्रस्तुत किये ।

भगवान् ने कहा—इन सब मे पहले पीछे के क्रम का प्रश्न ही नही उठता क्योकि ये सब शाश्वत और अनादिकालीन हैं । इन्हे किसी ने बनाया नही है । कर्म आदि का कर्त्ता आत्मा है किन्तु प्रवाह रूप से वे भी अनादि-सान्त है । तीनो ही काल द्रव्यदृष्टि से अनादि शाश्वत है, इनमे भी आगे पीछे का क्रम नही होता ।[1]

अष्टविधलोकस्थिति का सदृष्टान्त-निरूपण—

२५ [१] भते त्ति भगव गोतमे समण जाव एव वदासि—कतिविहा ण भते ! लोयट्ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! अट्ठविहा लोयट्ठिती पण्णत्ता । त जहा--आगासपतिट्ठिते वाते १, वातपतिट्ठिते उदही २, उदहिपतिट्ठिता पुढवी ३, पुढविपतिट्ठिता तस-थावरा पाणा ४, अजीवा जीवपतिट्ठिता ५, जीवा कम्मपतिट्ठिता ६, अजीवा जीवसगहिता ७, जीवा कम्मसगहिता ८ ।

[२५-१ प्र] 'हे भगवन्' ! ऐसा कह कर गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से यावत् इस प्रकार कहा—भगवन् ! लोक की स्थिति कितने प्रकार की कही गई है ?

[२५-१ उ] 'गौतम ! लोक की स्थिति आठ प्रकार की कही गई है । वह इस प्रकार है—आकाश के आधार पर वायु (तनुवात) टिका हुआ है, वायु के आधार पर उदधि है, उदधि के आधार पर पृथ्वी है, त्रस और स्थावर जीव पृथ्वी के आधार पर हैं, अजीव जीवो के आधार पर टिके है, (सकर्मक जीव) कर्म के आधार पर है, अजीवो को जीवो ने सग्रह कर रखा है, जीवो को कर्मो ने सग्रह कर रखा है ।

---

१ भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक ८१, ८२

[२] से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चति अट्ठविहा जाव जीवा कम्मसंगहिता ?

गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे वत्थिमाडोवेति, वत्थिमाडोवित्ता उप्पिं सितं बंधति, बंधित्ता मज्झे णं गंठिं बंधति, मज्झे गंठिं बंधित्ता उवरिल्लं गंठिं मुयति, मुइत्ता उवरिल्लं देसं वामेति, उवरिल्लं देसं वामेत्ता उवरिल्लं आउयायस्स पूरेति,पूरित्ता उप्पिं सितं बंधति, बंधित्ता मज्झिल्लं गंठिं मुयति । से नूणं गोतमा ! से आउयाए तस्स वाउयायस्स उप्पिं उवरितले चिट्ठति ?

हंता, चिट्ठति ।

से तेणट्ठेण जाव जीवा कम्मसंगहिता ।

[२५-२ प्र] भगवन् ! इस प्रकार कहने का क्या कारण है कि लोक की स्थिति आठ प्रकार की है और यावत् जीवो को कर्मो ने सग्रह कर रखा है ?

[२५-२ उ] गौतम ! जैसे कोई पुरुष चमडे की मशक को वायु से (हवा भर कर) फुलावे, फिर उस मशक का मुख बाध दे, तत्पश्चात् मशक के बीच के भाग मे गाठ बाधे, फिर मशक का मुँह खोल दे और उसके भीतर की हवा निकाल दे, तदनन्तर उस मशक के ऊपर के (खाली) भाग मे पानी भरे, फिर मशक का मुख बद कर दे, तत्पश्चात् उस मशक की बीच की गाठ खोल दे, तो हे गौतम ! वह भरा हुआ पानी क्या उस हवा के ऊपर ही ऊपर के भाग मे रहेगा ?

(गौतम—) हाँ, भगवान् ! रहेगा ।

(भगवान्—) 'हे गौतम ! इसीलिए मैं कहता हू कि यावत्—कर्मो को जीवो ने सग्रह कर रखा है ।

[३] से जहा वा केई पुरिसे वत्थिमाडोवेति, आडोवित्ता कडीए बंधति, बंधित्ता अत्थाहमतारमपोरुसियंसि उदगंसि ओगाहेज्जा । से नूणं गोतमा ! से पुरिसे तस्स आउयायस्स उवरिमतले चिट्ठति ?

हंता, चिट्ठति ।

एवं वा अट्ठविहा लोयट्ठिती पण्णत्ता जाव जीवा कम्मसंगहिता ।

[२५-३ उ] अथवा हे गौतम ! कोई पुरुष चमडे की उस मशक को हवा से फुला कर अपनी कमर पर बाध ले, फिर वह पुरुष अथाह, दुस्तर और पुरुष-परिमाण से (जिसमे पुरुष मस्तक तक डूब जाए, उससे) भी अधिक पानी मे प्रवेश करे, तो हे गौतम ! वह पुरुष पानी की ऊपरी सतह पर ही रहेगा ?

(गौतम—) हाँ, भगवन् ! रहेगा ।

(भगवान्—) हे गौतम ! इसी प्रकार लोक की स्थिति आठ प्रकार की कही गई है, यावत्—कर्मो ने जीवो को सगृहीत कर रखा है ।

विवेचन—अष्टविध लोकस्थिति का सदृष्टान्त निरूपण—प्रस्तुत सूत्र मे लोकस्थिति के सम्बन्ध मे श्री गौतम स्वामी द्वारा पूछे गए प्रश्न का भगवान् द्वारा दो दृष्टान्तो द्वारा दिया गया समाधान अकित है ।

लोकस्थिति का प्रश्न और उसका यथाथ समाधान—कई मतावलम्वी पृथ्वी को शेपनाग पर, शेषनाग कच्छप पर अथवा शेपनाग के फन पर टिकी हुई मानते है। कोई पृथ्वी को गाय के सीग पर टिकी हुई मानते है, कई दार्शनिक पृथ्वी को सत्य पर आधारित मानते है, इन सब मान्यताओ से लोकस्थिति का प्रश्न हल नही होता, इसीलिए श्री गौतम स्वामी ने यह प्रश्न उठाया हे। भगवान् ने प्रत्यक्ष सिद्ध समाधान दिया है कि सर्वप्रथम आकाश स्वप्रतिष्ठित है। उस पर तनुवात (पतली हवा) फिर घनवात (मोटी हवा), उस पर घनोदधि (जमा हुआ मोटा पानी)और उस पर यह पृथ्वी टिकी हुई है। पृथ्वी के टिकने की तथा पृथ्वी पर त्रस-स्थावर जीवो के रहने की वात प्रायिक एव आपेक्षिक है। इस पृथ्वी के अतिरिक्त और भी मेरुपर्वत, आकाश, द्वीप, सागर, देवलोक, नरकादि क्षेत्र है, जहाँ जीव रहते है।

कर्मो के आधार पर जीव—निश्चयनय की दृष्टि से जीव अपने ही आधार पर टिके हुए है, किन्तु व्यवहारदृष्टि से सकर्मक जीवो की अपेक्षा से यह कथन किया गया है। जीव कर्मो से यानी नारकादि भावो से प्रतिष्ठित अवस्थित है।[1]

जीव और पुद्गलो का सम्बन्ध—

२६ [१] अत्थि ण भते ! जीवा य पोग्गला य अन्नमन्नबद्धा अन्नमन्नपुट्ठा अन्नमन्नमोगाढा अन्नमन्नसिणेहपडिबद्धा अन्नमन्नघडत्ताए चिट्ठ ति ?

हता, अत्थि।

[२६-१ प्र] भगवन् ! क्या जीव और पुद्गल परस्पर सम्बद्ध है ?, परस्पर एक दूसरे से स्पृष्ट है ?, परस्पर गाढ सम्बद्ध (मिले हुए) है, परस्पर स्निग्धता (चिकनाई) से प्रतिवद्ध (जुडे हुए) है, (अथवा) परस्पर घट्टित (गाढ) हो कर रहे हुए है ?

[२६-१ उ] हाँ, गौतम ! ये परस्पर इसी प्रकार रहे हुए है।

[२] से केणट्ठेण भते ! जाव चिट्ठ ति ?

गोयमा ! से जहानामए हरदे सिया पुण्णे पुण्णप्पमाणे वोलट्टमाणे वोसट्टमाणे समभरघडत्ताए चिट्ठति, अहे ण केइ पुरिसे तसि हरदसि एग मह नाव सदासव सतछिड्ड ओगाहेज्जा। से नूण गोतमा ! सा णावा तेहिं आसवद्दारेहि आपूरमाणी आपूरमाणी पुण्णा पुण्णप्पमाणा वोलट्टमाणा वोसट्टमाणा समभरघडत्ताए चिट्ठति ?

हता, चिट्ठति।

से तेणट्ठेण गोयमा ! अत्थि ण जीवा य जाव चिट्ठति।

[२६-२ प्र] भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं कि—यावत् जीव और पुद्गल इस प्रकार रहे हुए है ?

[२६-२ उ] गौतम ! जैसे—कोई एक तालाव हो, वह जल से पूर्ण हो, पानी से लबालब भरा हुआ हो, पानी से छलक रहा हो और पानी से बढ रहा हो, वह पानी से भरे हुए घडे के समान है। उस तालाव मे कोई पुरुष एक ऐसी वडी नौका, जिसमे सौ छोटे छिद्र हो (अथवा सदा छेद

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ८१-८२

वाली) और सौ बडे छिद्र हो, डाल दे तो हे गौतम ! वह नौका, उन-उन छिद्रो द्वारा पानी से भरती हुई, अत्यन्त भरती हुई, जल से परिपूर्ण, पानी से लबालब भरी हुई, पानी से छलकती हुई, बढती हुई क्या भरे हुए घडे के समान हो जाएगी ?

(गौतम—) हाँ, भगवन् ! हो जाएगी।

(भगवन्—) इसलिए हे गौतम ! मै कहता हूँ—यावत् जीव और पुद्गल परस्पर घट्टित हो कर रहे हुए है।

विवेचन—जीव और पुद्गलो का सम्बन्ध—प्रस्तुत सूत्र मे जीव और पुद्गलो के परस्पर गाढ सम्बन्ध को दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है।

जीव और पुद्गलो का सम्बन्ध तालाब और नौका के समान—जैसे कोई व्यक्ति जल से परिपूर्ण तालाब मे छिद्रो वाली नौका डाले तो उन छिद्रो से पानी भरते-भरते नौका जल मे डूब जाती है और तालाब के तलभाग मे जा कर बैठ जाती है। फिर जिस तरह नौका और तालाब का पानी एकमेक हो कर रहते है, वैसे ही जीव और (कर्म) पुद्गल परस्पर सम्बद्ध एव एकमेक होकर रहते है।[1] इसी प्रकार ससार रूपी तालाब के पुद्गलरूपी जल मे जीव रूपी सछिद्र नौका डूब जाने पर पुद्गल और जीव एकमेक हो जाते है।

सूक्ष्मस्नेहकायपात सम्बन्धी प्ररूपणा—

२७. [१] अत्थि ण भते ! सदा समित सुहुमे सिणेहकाये पवडति ?

हता, अत्थि।

[२७-१ प्र] भगवन् ! क्या सूक्ष्म स्नेहकाय (एक प्रकार का सूक्ष्म जल), सदा परिमित (सपरिमाण) पडता है ?

[२७-१ उ] हा, गौतम ! पडता है।

[२] से भते ! किं उड्ढे पवडति, अहे पवडति तिरिए पवडति ?

गोतमा ! उड्ढे वि पवडति, अहे वि पवडति, तिरिए वि पवडति।

[२७-२ प्र] भगवन् ! वह सूक्ष्म स्नेहकाय ऊपर पडता है, नीचे पडता है या तिरछा पडता है ?

[२७-२ उ] गौतम ! वह उपर (ऊर्ध्वलोक मे वर्तुल वैताढ्यादि मे) भी पडता है, नीचे (अधोलोकग्रामो मे) भी पडती है और तिरछा (तिर्यग्लोक मे) भी पडता है।

[३] जहा से बादरे आउकाए अन्नमन्नसमाउत्ते चिर पि दीहकाल चिट्ठति तहा ण से वि ?

नो इणट्ठे समट्ठे, से ण खिप्पामेव विद्धसमागच्छति।

सेव भते ! सेव भंते ! त्ति !०।

॥ छट्ठो उद्देसो समत्तो ॥

---

[1] भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ८२

[२७-३ प्र] भगवन् ! क्या वह सूक्ष्म स्नेहकाय स्थूल अप्काय की भाँति परस्पर समायुक्त होकर बहुत दीर्घकाल तक रहता है ?

[२७-३ उ] हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है, क्योकि वह (सूक्ष्म स्नेहकाय) शीघ्र ही विध्वस्त हो जाता है ।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह उसी प्रकार है, यो कहकर गौतमस्वामी तप-सयम द्वारा आत्मा को भावित करते हुए विचरण करते हैं ।

विवेचन—सूक्ष्मस्नेहकायपात के सम्बन्ध मे प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र (२७-१/२/३) मे सूक्ष्म-स्नेह (अप्) काय के गिरने के सम्बन्ध मे तीन प्रश्नोत्तर अकित है ।

'सया समिय' का दूसरा अर्थ—इन पदो का एक अर्थ तो ऊपर दिया गया है । दूसरा अर्थ वृत्तिकार ने इस प्रकार किया है—सदा अर्थात्—सभी ऋतुओ मे, समित—अर्थात्—रात्रि तथा दिन के प्रथम और अन्तिम प्रहर मे । काल की विशेषता से वह स्नेहकाय कभी थोडा और कभी अपेक्षाकृत अधिक होता है ।[1]

॥ प्रथम शतक छठा उद्देशक समाप्त ॥

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ८३

सत्तमो उद्देसओ : नेरइए

सप्तम उद्देशक : नैरयिक

नारकादि चौबीस दण्डकों के उत्पाद, उद्वर्तन और आहारसम्बन्धी प्ररूपणा—

१ [१] नेरइए ण भंते ! नेरइएसु उववज्जमाणे किं देसेणदेस उववज्जति १, देसेणसव्वं उववज्जति २, सव्वेणदेस उववज्जति ३, सव्वेणसव्व उववज्जति ४ ?

गोयमा ! नो देसेणदेसं उववज्जति, नो देसेणसव्व उववज्जति, नो सव्वेणदेसं उववज्जति, सव्वेणसव्व उववज्जति ।

[२] जहा नेरइए एव जाव वेमाणिए । १ ।

[१-१ प्र] 'भगवन् ! नारको मे उत्पन्न होता हुआ नारक जीव एक भाग से एक भाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है या एक भाग से सर्व भाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है, या सर्वभाग से एक भाग को आश्रित करके उत्पन्न होता अथवा सब भागो से सब भागो को आश्रय करके उत्पन्न होता है ?

[१-१ उ] गौतम ! नारक जीव एक भाग से एक भाग को आश्रित करके उत्पन्न नही होता, एक भाग से सर्वभाग को आश्रित करके भी उत्पन्न नही होता, और सर्वभाग से एक भाग को आश्रित करके भी उत्पन्न नही होता, किन्तु सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है ।

[१-२] नारको के समान वैमानिको तक इसी प्रकार समझना चाहिए ।१।

२ [१] नेरइए ण भंते ! नेरइएसु उववज्जमाणे किं देसेणदेस आहारेति १, देसेणसव्वं आहारेति २, सव्वेणदेस आहारेति ३, सव्वेणसव्वं आहारेति ४ ?

गोयमा ! नो देसेणदेस आहारेति, नो देसेणसव्व आहारेति, सव्वेण वा देस आहारेति, सव्वेण वा सव्व आहारेति ।

[२] एव जाव वेमाणिए । २ ।

[२-१ प्र] नारको मे उत्पन्न होता हुआ नारक जीव क्या एक भाग से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है, एक भाग से सर्वभाग को आश्रित करके आहार करता है, सर्वभागो से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है, अथवा सर्वभागो से सर्वभागो को आश्रित करके आहार करता है ?

[२-१ उ] गौतम ! वह एक भाग से एक भाग को आश्रित करके आहार नही करता, एक भाग से सर्वभाग को आश्रित करके आहार नही करता, किन्तु सर्वभागो से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है, अथवा सर्वभागो से सर्वभागो को आश्रित करके आहार करता है ।

[२-२] नारको के समान ही वैमानिको तक इसी प्रकार जानना ।

३ नेरइए ण भंते ! नेरइएहिंतो उव्वट्टमाणे किं देसेणदेस उव्वट्टति ?

जहा उववज्जमाणे (सु १) तहेव उव्वट्टमाणे वि दडगो भाणितव्वो । ३ ।

[३ प्र] भगवन् ! नारको मे से उद्वर्तमान — निकलता हुआ नारक जीव क्या एक भाग से एक भाग को आश्रित करके निकलता (उद्वर्तन करता) है ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न करना चाहिए।

[३ उ] गौतम ! जैसे उत्पन्न होते हुए नैरयिक आदि के विषय मे कहा था, वैसे ही उद्वर्तमान नैरयिक आदि के (चौवीस ही दण्डको के) विषय मे दण्डक कहना चाहिए।

४ [१] नेरइए ण भते ! नेरइएहितो उव्वट्टमाणे किं देसेणदेस आहारेति ?

तहेव जाव (सु २ [१]), सव्वेण वा देस आहारेति, सव्वेण वा सव्व आहारेति।

[२] एव जाव वेमाणिए। ४।

[४-१ प्र] भगवन् ! नैरयिको से उद्वर्तमान नैरयिक क्या एक भाग से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है ? इत्यादि प्रश्न पूर्ववत् करना चाहिए।

[४-१ उ] गौतम ! यह भी पूर्वसूत्र (२-१) के समान जानना चाहिए, यावत् सर्वभागो से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है, अथवा सर्वभागो से सर्वभागो को आश्रित करके आहार करता है।

[४-२] इसी प्रकार यावत् वैमानिको तक जानना चाहिए।

५ [१] नेरइए ण भते ! नेरइएसु उववन्ने किं देसेणदेस उववन्ने ?

एसो वि तहेव जाव सव्वेणसव्व उववन्ने।

[२] जहा उववज्जमाणे उव्वट्टमाणे य चत्तारि दडगा तहा उववन्नेण उव्वट्टेण वि चत्तारि दडगा भाणियव्वा। सव्वेणसव्व उववन्ने; सव्वेण वा देस आहारेति, सव्वेण वा सव्व आहारेति, एएण अभिलावेण उववन्ने वि, उव्वट्टे वि नेयव्व। ८।

[५-१ प्र] भगवन् ! नारको मे उत्पन्न हुआ नैरयिक क्या एक भाग से एक भाग को आश्रित करके उत्पन्न हुआ है ? इत्यादि प्रश्न पूर्ववत् करना चाहिए।

[५-१ उ] गौतम ! यह दण्डक भी उसी प्रकार जानना, यावत्—सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है।

[५-२] जैसे उत्पद्यमान और उद्वर्तमान के विषय मे चार दण्डक कहे, वैसे ही उत्पन्न और उद्वृत्त के विषय मे भी चार दण्डक कहने चाहिए। (यथा—'सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न', तथा सर्वभाग से एक भाग को आश्रित करके आहार, या सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके आहार, इन शब्दो द्वारा उत्पन्न और उद्वृत्त के विषय मे भी समझ लेना चाहिए।

६ नेरइए ण भते ! नेरइएसु उववज्जमाणे किं अद्धेणंअद्ध उववज्जति १ ? अद्धेणसव्व उववज्जति २ ? सव्वेणअद्ध उववज्जइ ३ ? सव्वेणसव्व उववज्जति ४ ?

जहा पढमिल्लेण अट्ठ दडगा तहा अद्धेण वि अट्ठ दडगा भाणितव्वा। नवर जहिं देसेणदेस उववज्जति तहिं अद्धेणअद्ध उववज्जावेयव्व, एयं णाणत्त। एते सव्वे वि सोलस दंडगा भाणियव्वा।

[६ प्र] भगवन्! नैरयिको मे उत्पन्न होता हुआ नारक जीव क्या अर्द्धभाग से अर्द्धभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है? या अर्द्धभाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है? अथवा सर्वभाग से अर्द्धभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है? या सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है?

[६ उ] गौतम! जैसे पहले वालो के साथ आठ दण्डक कहे है, वैसे ही 'अर्द्ध' के साथ भी आठ दण्डक कहने चाहिए। विशेषता इतनी है कि—जहाँ 'एक भाग से एक भाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है,' ऐसा पाठ आए, वहाँ 'अर्द्धभाग से अर्द्धभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है', ऐसा पाठ बोलना चाहिए। बस यही भिन्नता है।

ये सब मिल कर कुल सोलह दण्डक होते है।

विवेचन—नारक आदि चौबीस दण्डको के उत्पाद, उद्वर्तन और आहार के विषय में प्रश्नोत्तर— नारक आदि जीवो की उत्पत्ति, उद्वर्तन एव आहार के सबध मे एकदेश-सर्वदेश, अथवा अर्धदेश-सर्वदेश विषयक प्रश्नोत्तर प्रस्तुत ६ सूत्रो मे अकित है।

प्रस्तुत प्रश्नोत्तरो के १६ दण्डक—देश और सर्व के द्वारा उत्पाद आदि के ८ दण्डक (विकल्प या भग) इस प्रकार बनते है—(१) उत्पन्न होता हुआ, (२) उत्पन्न होता हुआ आहार लेता है, (३) उद्वर्तमान (निकलता हुआ), (४) उद्वर्तमान आहार लेता है, (५) उत्पन्न हुआ, (६) उत्पन्न हुआ आहार लेता है, (७) उद्वृत्त (निकलता हुआ) और (८) उद्वृत्त हुआ आहार लेता है।

इसी प्रकार अर्द्ध और सर्व के द्वारा जीव के उत्पादादि के विषय मे विचार करने पर भी पूर्वोक्तवत् आठ दण्डक (विकल्प) होते है। इस प्रकार कुल मिलाकर १६ दण्डक होते है।

देश और सर्व का तात्पर्य—जीव जब नरक आदि मे उत्पन्न होता है, तब क्या वह यहाँ (पूर्वभव) के एकदेश से नारक के एकदेश—अवयवरूप मे उत्पन्न होता है? अर्थात्—उत्पन्न होने वाले जीव का एक भाग ही नारक के एक भाग के रूप मे उत्पन्न होता है? या पूरा जीव पूरे नारक के रूप मे उत्पन्न होता है? यह उत्पत्ति सबधी प्रश्न का आशय है। इसी प्रकार अन्य विकल्पो का आशय भी समझ लेना चाहिए।

नैरयिक की नैरयिको मे उत्पत्ति कैसे?—यद्यपि नारक मरकर नरक मे उत्पन्न नही होता, मनुष्य और तिर्यञ्च मरकर ही नरक मे उत्पन्न हो सकते हैं, परन्तु यह प्रश्न 'चलमाणे चलिए' के सिद्धान्तानुसार है, जो जीव मनुष्य या तिर्यच गति का आयुष्य समाप्त कर चुका है जिसके नरकायु का उदय हो चुका है, उस नरक मे उत्पन्न होने वाले जीव की अपेक्षा से यह कथन है।

आहार विषयक समाधान का आशय— जीव जिस समय उत्पन्न होता है, उस समय—जन्म के प्रथम समय— मे अपने सर्व आत्मप्रदेशो के द्वारा सर्व आहार को ग्रहण करता है।

उत्पत्ति समय के पश्चात् सर्व आत्मप्रदेशो से किन्ही आहार्य पुद्गलो को ग्रहण करता है, किन्ही को नही, अत कहा गया है कि सर्वभागो से एक भाग का आहार करता है।

देश और अर्द्ध मे अन्तर— जैसे मूग मे सैकडो देश (अश या अवयव) है, उसका छोटे से छोटा टुकडा भी देश ही कहलाएगा, लेकिन अर्द्धभाग तभी कहलाता है, जब उसके बीचो-बीच से दो हिस्से किये जाते है। यही देश और अर्द्ध मे अन्तर है।[1]

१ भगवतीसूत्र, अ वृत्ति, पत्राक ८३, ८४

[३ प्र] भगवन् ! नारको मे से उद्वर्तमान — निकलता हुआ नारक जीव क्या एक भाग से एक भाग को आश्रित करके निकलता (उद्वर्तन करता) है ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न करना चाहिए।

[३ उ] गौतम ! जैसे उत्पन्न होते हुए नैरयिक आदि के विषय मे कहा था, वैसे ही उद्-वर्तमान नैरयिक आदि के (चौवीस ही दण्डको के) विपय मे दण्डक कहना चाहिए।

४ [१] नेरइए ण भते ! नेरइएहितो उव्वट्टमाणे कि देसेणदेस आहारेति ?

तहेव जाव (सु २ [१]), सव्वेण वा देस आहारेति, सव्वेण वा सव्व आहारेति।

[२] एव जाव वेमाणिए। ४।

[४-१ प्र] भगवन् ! नैरयिको से उद्वर्तमान नैरयिक क्या एक भाग से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है ? इत्यादि प्रश्न पूर्ववत् करना चाहिए।

[४-१ उ] गौतम ! यह भी पूर्वसूत्र (२-१) के समान जानना चाहिए, यावत् सर्वभागो से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है, अथवा सर्वभागो से सर्वभागो को आश्रित करके आहार करता है।

[४-२] इसी प्रकार यावत् वैमानिको तक जानना चाहिए।

५ [१] नेरइए ण भते ! नेरइएसु उववन्ने किं देसेणदेस उववन्ने ?

एसो वि तहेव जाव सव्वेणसव्व उववन्ने।

[२] जहा उववज्जमाणे उव्वट्टमाणे य चत्तारि दडगा तहा उववन्नेण उव्वट्टेण वि चत्तारि दडगा भाणियव्वा। सव्वेणसव्व उववन्ने; सव्वेण वा देस आहारेति, सव्वेण वा सव्व आहारेति, एएण अभिलावेण उववन्ने वि, उव्वट्टे वि नेयव्व। ८।

[५-१ प्र] भगवन् ! नारको मे उत्पन्न हुआ नैरयिक क्या एक भाग से एक भाग को आश्रित करके उत्पन्न हुआ है ? इत्यादि प्रश्न पूर्ववत् करना चाहिए।

[५-१ उ] गौतम ! यह दण्डक भी उसी प्रकार जानना, यावत्—सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है।

[५-२] जैसे उत्पद्यमान और उद्वर्तमान के विषय मे चार दण्डक कहे, वैसे ही उत्पन्न और उद्वृत्त के विषय मे भी चार दण्डक कहने चाहिए। (यथा—'सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न', तथा सर्वभाग से एक भाग को आश्रित करके आहार, या सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके आहार, इन शब्दो द्वारा उत्पन्न और उद्वृत्त के विषय मे भी समझ लेना चाहिए।

६ नेरइए ण भते ! नेरइएसु उववज्जमाणे किं अद्धेणअद्ध उववज्जति १ ? अद्धेणसव्व उववज्जति २ ? सव्वेणअद्ध उववज्जइ ३ ? सव्वेणसव्व उववज्जति ४ ?

जहा पढमिल्लेण अट्ठ दडगा तहा अद्धेण वि अट्ठ दडगा भाणितव्वा। नवर जहि देसेणदेस उववज्जति तहि अद्धेणअद्ध उववज्जावेयव्व, एय णाणत्त। एते सव्वे वि सोलस दडगा भाणियव्वा।

[६ प्र] भगवन्! नैरयिको मे उत्पन्न होता हुआ नारक जीव क्या अर्द्धभाग से अर्द्धभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है? या अर्द्धभाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है? अथवा सर्वभाग से अर्द्धभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है? या सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है?

[६ उ] गौतम! जैसे पहले वालो के साथ आठ दण्डक कहे है, वैसे ही 'अर्द्ध' के साथ भी आठ दण्डक कहने चाहिए। विशेषता इतनी है कि—जहाँ 'एक भाग से एक भाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है,' ऐसा पाठ आए, वहाँ 'अर्द्धभाग से अर्द्धभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है', ऐसा पाठ बोलना चाहिए। बस यही भिन्नता है।

ये सब मिल कर कुल सोलह दण्डक होते है।

विवेचन—नारक आदि चौबीस दण्डको के उत्पाद, उद्वर्तन और आहार के विषय मे प्रश्नोत्तर— नारक आदि जीवो की उत्पत्ति, उद्वर्तन एव आहार के सबध मे एकदेश-सर्वदेश, अथवा अर्धदेश-सर्वदेश विषयक प्रश्नोत्तर प्रस्तुत ६ सूत्रो मे अकित है।

प्रस्तुत प्रश्नोत्तरो के १६ दण्डक—देश और सर्व के द्वारा उत्पाद आदि के ८ दण्डक (विकल्प या भग) इस प्रकार बनते है—(१) उत्पन्न होता हुआ, (२) उत्पन्न होता हुआ आहार लेता है, (३) उद्वर्तमान (निकलता हुआ), (४) उद्वर्तमान आहार लेता है, (५) उत्पन्न हुआ, (६) उत्पन्न हुआ आहार लेता है, (७) उद्वृत्त (निकलता हुआ) और (८) उद्वृत्त हुआ आहार लेता है।

इसी प्रकार अर्द्ध और सर्व के द्वारा जीव के उत्पादादि के विषय मे विचार करने पर भी पूर्वोक्तवत् आठ दण्डक (विकल्प) होते है। इस प्रकार कुल मिलाकर १६ दण्डक होते है।

देश और सर्व का तात्पर्य—जीव जब नरक आदि मे उत्पन्न होता है, तब क्या वह यहाँ (पूर्वभव) के एकदेश से नारक के एकदेश—अवयवरूप मे उत्पन्न होता है? अर्थात्—उत्पन्न होने वाले जीव का एक भाग ही नारक के एक भाग के रूप मे उत्पन्न होता है? या पूरा जीव पूरे नारक के रूप मे उत्पन्न होता है? यह उत्पत्ति सबधी प्रश्न का आशय है। इसी प्रकार अन्य विकल्पो का आशय भी समझ लेना चाहिए।

नैरयिक की नैरयिको मे उत्पत्ति कैसे?—यद्यपि नारक मरकर नरक मे उत्पन्न नही होता, मनुष्य और तिर्यञ्च मरकर ही नरक मे उत्पन्न हो सकते हैं, परन्तु यह प्रश्न 'चलमाणे चलिए' के सिद्धान्तानुसार है, जो जीव मनुष्य या तिर्यंच गति का आयुष्य समाप्त कर चुका है जिसके नरकायु का उदय हो चुका है, उस नरक मे उत्पन्न होने वाले जीव की अपेक्षा से यह कथन है।

आहार विषयक समाधान का आशय— जीव जिस समय उत्पन्न होता है, उस समय—जन्म के प्रथम समय— मे अपने सर्व आत्मप्रदेशो के द्वारा सर्व आहार को ग्रहण करता है।

उत्पत्ति समय के पश्चात् सर्व आत्मप्रदेशो से किन्ही आहार्य पुद्गलो को ग्रहण करता है, किन्ही को नही, अत कहा गया है कि सर्वभागो से एक भाग का आहार करता है।

देश और अर्द्ध मे अन्तर— जैसे मू ग मे सैंकडो देश (अश या अवयव) है, उसका छोटे से छोटा टुकडा भी देश ही कहलाएगा, लेकिन अर्द्धभाग तभी कहलाता है, जब उसके बीचो-बीच मे दो हिस्से किये जाते है। यही देश और अर्द्ध मे अन्तर है।[1]

१ भगवतीसूत्र, अ वृत्ति, पत्राक ८३, ८४

जीवो की विग्रहगति-अविग्रहगतिसम्बन्धी प्रश्नोत्तर—

७ [१] जीव ण भते ! किं विग्गहगतिसमावन्नए ? अविग्गहगतिसमावन्नए ?

गोयमा ! सिय विग्गहगतिसमावन्नए, सिय अविग्गहगतिसमावन्नगे ।

[२] एव जाव[1] वेमाणिए ।

[७-१ प्र] भगवन् ! क्या जीव विग्रहगतिसमापन्न—विग्रहगति को प्राप्त होता है, अथवा विग्रहगतिसमापन्न—विग्रहगति को प्राप्त नही होता ?

[७-१ उ] गौतम ! कभी (वह) विग्रहगति को प्राप्त होता है, और कभी विग्रहगति को प्राप्त नही होता ।

[७-२] इसी प्रकार वैमानिकपर्यन्त जानना चाहिए ।

८ [१] जीवा ण भते ! किं विग्गहगतिसमावन्नगा ? अविग्गहगतिसमावन्नगा ?

गोयमा ! विग्गहगतिसमावन्नगा वि, अविग्गहगतिसमावन्नगा वि ।

[२] नेरइया ण भते ! किं विग्गहगतिसमावन्नगा ? अविग्गहगतिसमावन्नगा ?

गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा अविग्गहगतिसमावन्नगा १, अहवा अविग्गहगतिसमावन्नगा य विग्गहगतिसमावन्नगे य २, अहवा अविग्गहगतिसमावन्नगा य विग्गहगतिसमावन्नगा य ३, एव जीव-एगिंदियवज्जो तियभगो ।

[८-१ प्र] भगवन् ! क्या बहुत से जीव विग्रहगति को प्राप्त होते है अथवा विग्रहगति को प्राप्त नही होते ?

[८-१ उ] गौतम ! बहुत से जीव विग्रहगति को प्राप्त होते है और बहुत से जीव विग्रहगति को प्राप्त नही भी होते ।

[८-२ प्र] भगवन् ! क्या नैरयिक विग्रहगति को प्राप्त होते है या विग्रहगति को प्राप्त नही होते ?

[८-२ उ] गौतम ! (१) (कभी) वे सभी विग्रहगति को प्राप्त नही होते, अथवा (२) (कभी) बहुत से विग्रहगति को प्राप्त नही होते और कोई-कोई विग्रहगति को प्राप्त नही होता, अथवा (३) (कभी) बहुत से जीव विग्रहगति को प्राप्त नही होते और बहुत से (जीव) विग्रहगति को प्राप्त होते है । यो जीव सामान्य और एकेन्द्रिय को छोडकर सर्वत्र इसी प्रकार तीन-तीन भग कहने चाहिए ।

विवेचन—जीवो की विग्रहगति-अविग्रहगति-सम्बन्धित प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत दो सूत्रो द्वारा एक जीव, बहुत जीव, एव नैरयिक से लेकर वैमानिक तक चौबीस दण्डको की अपेक्षा से विग्रहगति और अविग्रहगति की प्राप्ति से सबधित प्रश्नोत्तर प्रस्तुत किये गये है ।

---

१ 'जाव' शब्द यहाँ नैरयिक से लेकर वैमानिक तक चौवीस दण्डको का सूचक है ।

विग्रहगति-अविग्रहगति की व्याख्या—सामान्यतया विग्रह का अर्थ होता है—वक्र या मुडना, मोड खाना। जीव जब एक गति का आयुष्य समाप्त होने पर शरीर छोड कर दूसरा नया शरीर धारण करने हेतु दूसरी गति मे जाते समय मार्ग (वाट) मे गमन करता (वहता) है, तव उसकी गति दो प्रकार की हो सकती है—विग्रहगति और अविग्रहगति। कोई-कोई जीव जव एक, दो या तीन बार टेढा-मेढा मुडकर उत्पत्तिस्थान पर पहुँचता है, तव उसकी वह गति विग्रहगति कहलाती है और जब कोई जीव मार्ग मे बिना मुडे (मोड खाए) सीधा अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुँच जाता है तव उसकी उस गति को अविग्रहगति कहते है। यहाँ अविग्रहगति का अर्थ ऋजु—सरल गति नही लिया गया है, किन्तु 'विग्रहगति का अभाव' अर्थ ही यहाँ सगत माना गया है। इस दृष्टि से 'अविग्रह-गतिसमापन्न' का अर्थ होता है--विग्रहगति को अप्राप्त (नही पाया हुआ), चाहे जैसी स्थिति वाला—गतिवाला या गतिरहित जीव। अर्थात्—जो जीव किसी भी गति मे स्थित (ठहरा हुआ) है, उस अवस्था को प्राप्त जीव अविग्रहगतिसमापन्न है, और दूसरी गति मे जाते समय जो जीव मार्ग मे गति करता है, उस अवस्था को प्राप्त जीव विग्रहगतिसमापन्न है। इस व्याख्या के अनुसार अविग्रह-गतिसमापन्न मे ऋजुगति वाले तथा भवस्थित सभी जीवो का समावेश हो जाता है, तथा नारको मे जो अविग्रहगतिसमापन्न वालो की बहुलता बताई है, वह कथन भी सगत हो जाता है, मगर अविग्रहगति का अर्थ केवल ऋजुगति करने से यह कथन नही होता।

बहुत जीवो की अपेक्षा से—जीव अनन्त है। इसलिए प्रतिसमय बहुत से जीव विग्रहगति समापन्न भी होते है, और विग्रहगति के अभाव वाले भी होते है, जिन्हे शास्त्रीय भाषा मे अविग्रह-गति समापन्न कहा गया है। इस दृष्टि से एकेन्द्रिय जीव बहुत होने से उनमे सदैव वहुत से विग्रहगति वाले भी पाए जाते है और बहुत से विग्रहगति के अभाव वाले भी।[1]

देव का च्यवनानन्तर आयुष्य प्रतिसंवेदन-निर्णय—

९. देवे ण भंते! महिड्ढिए महज्जुतीए महब्बले महायसे महेसक्खे[2] महाणुभावे अविउक्कतिय चयमाणे किंचि वि काल हिरिवत्तिय दुगुछावत्तिय परिस्सहवत्तिय आहार नो आहारेति, अहे ण आहारेति, आहारिज्जमाणे आहारिए, परिणामिज्जमाणे परिणामिए, पहीणे य आउए भवइ, जत्थ उववज्जति तमाउय पडिसवेदेति, त जहा—तिरिक्खजोणियाउय वा मणुस्साउयं वा?

हंता, गोयमा! देवे ण महिड्ढीए जाव मणुस्साउग वा।

[९ प्र] भगवन्! महान् ऋद्धि वाला, महान् द्युति वाला, महान् बल वाला, महायशस्वी, महाप्रभावशाली, (महासामर्थ्य सम्पन्न) मरणकाल मे च्यवने वाला, महेश नामक देव (अथवा महा-प्रभुत्वसम्पन्न या महासौख्यवान् देव) लज्जा के कारण, घृणा के कारण, परीषह के कारण कुछ समय तक आहार नही करता, फिर आहार करता है और ग्रहण किया हुआ आहार परिणत भी होता है। अन्त मे उस देव की वहाँ की आयु सर्वथा नष्ट हो जाती है। इसलिए वह देव जहाँ उत्पन्न होता है, वहाँ की आयु भोगता है, तो हे भगवन्! उसकी वह आयु तिर्यञ्च की समझी जाए या मनुष्य की आयु समझी जाए?

१ (क) 'विग्रहो वक्र तत्प्रधाना गतिर्विग्रहगति ।' अविग्रहगतिसमापन्नस्तु ऋजुगतिक, स्थितो वा।
(ख) भगवतीसूत्र अ टीका, पत्राक ८५-८६

२ महासोक्खे (पाठान्तर)

[९ उ] हा, गौतम! उस महा ऋद्धि वाले देव का यावत् च्यवन (मृत्यु) के पश्चात तिर्यञ्च का आयुष्य अथवा मनुष्य का आयुष्य समझना चाहिए।

विवेचन—देव का च्यवनानन्तर—आयुष्यप्रतिसवेदन-निर्णय—प्रस्तुत सूत्र मे देवगति से च्युत होने के बाद तिर्यञ्च या मनुष्य गति के आयुष्य भोग के सबध मे उठाये गए प्रश्न का समाधान है। चू कि देव मर कर देवगति या नरकगति मे नही जाता, इसलिए तिर्यञ्च या मनुष्य जिस गति मे भी जाता है, वहाँ की आयु भोगता है।

गर्भगतजीव-सम्बन्धी विचार—

१०. जीवे ण भते! गब्भ वक्कममाणे किं सइंदिए वक्कमति? अणिंदिए वक्कमइ?

गोयमा! सिय सइंदिए वक्कमइ, सिय अणिंदिए वक्कमइ।

से केणट्ठेण?

गोयमा! दव्विदियाइ पडुच्च अणिंदिए वक्कमति, भाविंदियाइ पडुच्च सइंदिए वक्कमति, से तेणट्ठेण०।

[१०-१ प्र] भगवन्! गर्भ मे उत्पन्न होता हुआ जीव, क्या इन्द्रियसहित उत्पन्न होता है अथवा इन्द्रियरहित उत्पन्न होता?

[१०-१ उ] गौतम! इन्द्रियसहित भी उत्पन्न होता है, इन्द्रियरहित भी, उत्पन्न होता है।

[१०-२ प्र] भगवन्! ऐसा आप किस कारण से कहते है?

[१०-२ उ] गौतम! द्रव्येन्द्रियो की अपेक्षा वह विना इन्द्रियो का उत्पन्न होता है और भावेन्द्रियो की अपेक्षा इन्द्रियो सहित उत्पन्न होता है, इसलिए हे गौतम! ऐसा कहा गया है।

११ जीवे ण भते! गब्भ वक्कममाणे किं ससरीरी वक्कमइ? असरीरी वक्कमइ?

गोयमा! सिय ससरीरी वक्कमति, सिय असरीरी वक्कमति।

से केणट्ठेण?

गोयमा! ओरालिय-वेउव्विय-आहारयाइ पडुच्च असरीरी वक्कमति, तेया-कम्माइ पडुच्च ससरीरी वक्कमति, से तेणट्ठेण गोयमा!

[११-१ प्र] भगवन्! गर्भ मे उत्पन्न होता हुआ जीव, क्या शरीर-सहित उत्पन्न होता है, अथवा शरीररहित उत्पन्न होता है?

[११-१ उ] गौतम! शरीरसहित भी उत्पन्न होता है, शरीररहित भी उत्पन्न होता है।

[११-२ प्र] भगवन्! यह आप किस कारण से कहते है?

[११-२ उ] गौतम! औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरो की अपेक्षा शरीररहित उत्पन्न होता है तथा तैजस, कार्मण शरीरो की अपेक्षा शरीरसहित उत्पन्न होता है। इस कारण गौतम! ऐसा कहा है।

१२ जीवे णं भते! गब्भ वक्कममाणे तप्पढमताए किमाहारमाहारेति?

गोयमा! माउओय पिउसुक्क त तदुभयसंसिट्ठं कलुसं किब्बिस तप्पढमताए आहारमाहारेति।

[१२ प्र] भगवन्! गर्भ मे उत्पन्न होते ही जीव सर्वप्रथम क्या आहार करता है?

[१२ उ] गौतम! परस्पर एक दूसरे मे मिला हुआ माता का आर्तव (रज) और पिता का शुक्र (वीर्य), जो कि कलुष और किल्विष है, जीव गर्भ मे उत्पन्न होते ही सर्वप्रथम उसका आहार करता है।

१३ जीवे ण भंते ! गब्भगए समाणे किमाहारमाहारेति ?

गोयमा ! जं से माता नाणाविहाओ रसविगतीओ आहारमाहारेति तदेक्कदेसेण ओयमाहारेति।

[१३ प्र] भगवन् ! गर्भ मे गया (रहा) हुआ जीव क्या आहार करता है ?

[१३ उ] गौतम ! उसकी माता जो नाना प्रकार की (दुग्धादि) रसविकृतियो का आहार करती है, उसके एक भाग के साथ गर्भगत जीव माता के आर्तव का आहार करता है।

१४ जीवस्स णं भते ! गब्भगतस्स समाणस्स अत्थि उच्चारे इ वा पासवणे इ वा खेले इ वा सिंघाणे इ वा वते इ वा पित्ते इ वा ?

णो इणट्ठे समट्ठे ।

से केणट्ठेण ?

गोयमा ! जीवे ण गब्भगए समाणे जमाहारेति त चिणाइ त सोतिंदियत्ताए जाव फासिंदियत्ताए अट्ठि-अट्ठिमिंज-केस-मंसु-रोम-नहत्ताए, से तेणट्ठेणं० ।

[१४-१ प्र] भगवन् ! क्या गर्भ मे रहे हुए जीव के मल होता है, मूत्र होता है, कफ होता है, नाक का मैल होता है, वमन होता है, पित्त होता है ?

[१४-१ उ] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नही है—गर्भगत जीव के ये सब (मल-मूत्रादि) नही होते है।

[१४-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते है ?

[१४-२ उ] हे गौतम ! गर्भ मे जाने पर जीव जो आहार करता है, जिस आहार का चय करता है, उस आहार को श्रोत्रेन्द्रिय (कान) के रूप मे यावत् स्पर्शेन्द्रिय के रूप मे तथा हड्डी, मज्जा, केश, दाढी-मूछ, रोम और नखो के रूप मे परिणत करता है। इसलिए हे गौतम ! गर्भ मे गए हुए जीव के मल-मूत्रादि नही होते।

१५ जीवे ण भते ! गब्भगते समाणे पभू मुहेण कावलियं आहारं आहारित्तए ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

से केणट्ठेण ?

गोयमा ! जीवे ण गब्भगते समाणे सव्वतो आहारेति, सव्वतो परिणामेति, सव्वतो उस्ससति, सव्वतो निस्ससति, अभिक्खण आहारेति, अभिक्खण परिणामेति, अभिक्खण उस्ससति, अभिक्खणं निस्ससति, आहच्च आहारेति, आहच्च परिणामेति, आहच्च उस्ससति, आहच्च नीससति । मातु-जीवरसहरणी पुत्तजीवरसहरणी मातुजीवपडिबद्धा पुत्तजीव फुडा तम्हा आहारेइ, तम्हा परिणामेति, अवरा वि य ण पुत्तजीवपडिबद्धा माउजीवफुडा तम्हा चिणाति, तम्हा उवचिणाति, से तेणट्ठेणं० जाव नो पभू मुहेण कावलिक आहार आहारित्तए ।

[१५-१ प्र] भगवन् ! क्या गर्भ मे रहा हुआ जीव मुख से कवलाहार (ग्रासरूप मे आहार) करने मे समर्थ है ?

[१५-१ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है—ऐसा होना सम्भव नही है।

[१५-२ प्र] भगवन् ! यह आप किस कारण से कहते है ?

[१५-२ उ] गौतम ! गर्भगत जीव सब ओर से (सारे शरीर से) आहार करता है, सारे शरीर से परिणमाता है, सर्वात्मना (सब ओर से) उच्छ्वास लेता है, सर्वात्मना नि श्वास लेता है,

बार-बार आहार करता है, बार-बार (उसे) परिणमाता है, बार-बार उच्छ्वास लेता है, बार-बार निःश्वास लेता है, कदाचित आहार करता है, कदाचित् परिणमाता है, कदाचित् उच्छ्वास लेता है, कदाचित् निःश्वास लेता है, तथा पुत्र (-पुत्री) के जीव को रस पहुँचाने मे कारणभूत और माता के रस लेने मे कारणभूत जो मातृजीवरसहरणी नाम की नाडी है वह माता के जीव के साथ सम्बद्ध है और पुत्र (-पुत्री) के जीव के साथ स्पृष्ट—जुडी हुई है। उस नाडी द्वारा वह (गर्भगत जीव) आहार लेता है और आहार को परिणमाता है। तथा एक और नाडी है, जो पुत्र (-पुत्री) के जीव के साथ सम्बद्ध है और माता के जीव के साथ स्पृष्ट—जुडी हुई होती है, उससे (गर्भगत) पुत्र (या पुत्री) का जीव आहार का चय करता है और उपचय करता है। इस कारण से हे गौतम! गर्भगत जीव मुख द्वारा कवलरूप आहार को लेने मे समर्थ नही है।

१६ कति ण भंते! माति‌अंगा पण्णत्ता ?

गोयमा! तओ मातियंगा पण्णत्ता। तं जहा— मंसे सोणिते मत्थुलुंगे।

[१६ प्र] भगवन्! (जीव के शरीर मे) माता के अंग कितने कहे गए है ?

[१६ उ] गौतम! माता के तीन अंग कहे गए है, वे इस प्रकार है—(१) मांस, (२) शोणित (रक्त) और (३) मस्तक का भेजा (दिमाग)।

१७. कति णं भंते! पितियंगा पण्णत्ता ?

गोयमा! तओ पेतियंगा पण्णत्ता। तं जहा—अट्ठि अट्ठिमिंजा केस-मंसु-रोम-नहे।

[१७ प्र] भगवन्! पिता के कितने अंग कहे गए है ?

[१७ उ] गौतम! पिता के तीन अंग कहे गए है। वे इस प्रकार है—(१) हड्डी, (२) मज्जा और (३) केश, दाढी-मूंछ, रोम तथा नख।

१८ अम्मापेतिए णं भंते! सरीरए केवइयं कालं संचिट्ठति ?

गोयमा! जावतियं से कालं भवधारणिज्जे सरीरए अव्वावन्ने भवति एवतियं कालं संचिट्ठति, अहे णं समए समए वोक्कसिज्जमाणे २ चरमकालसमयंसि वोच्छिन्ने भवइ।

[१८ प्र] भगवन्! माता और पिता के अंग सन्तान के शरीर मे कितने काल तक रहते है ?

[१८ उ] गौतम! संतान का भवधारणीय शरीर जितने समय तक रहता है, उतने समय तक वे अंग रहते है, और जब भवधारणीय शरीर समय-समय पर हीन (क्षीण) होता हुआ अन्तिम समय मे नष्ट हो जाता है, तब माता-पिता के वे अंग भी नष्ट हो जाते है।

१९ [१] जीवे णं भंते! गब्भगते समाणे नेरइएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा! अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा।

[१९-१ प्र] भगवन्! गर्भ मे रहा हुआ जीव क्या नारको मे उत्पन्न होता है ?

[१९-१ उ] गौतम! कोई उत्पन्न होता है और कोई नही उत्पन्न होता।

[२] से केणट्ठेणं ?

गोयमा! से णं सन्नी पंचिदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए पराणीयं आगयं सोच्चा निसम्म पदेसे निच्छुभति, २ वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णइ, वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णित्ता चाउरंगिणिं सेणं विउव्वइ, चाउरंगिणिं सेणं विउव्वेत्ता चाउरंगिणीए सेणाए

पराणीएण सद्धि संगामं संगामेइ, से णं जीवे अत्थकामए रज्जकामए भोगकामए कामकामए, अत्थकंखिए रज्जकंखिए भोगकंखिए कामकंखिए, अत्थपिवासिते रज्जपिवासिते भोगपिवासिए कामपिवासिते, तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसिए तत्तिव्वज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तदप्पितकरणे तब्भावणाभाविते एतंसि णं अंतरंसि कालं करेज्ज नेरतिएसु उववज्जइ; से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा।

[१९-२ प्र] भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

[१९-२ उ] गौतम ! गर्भ में रहा हुआ संज्ञी पंचेन्द्रिय और समस्त पर्याप्तियों से पर्याप्त (परिपूर्ण) जीव, वीर्यलब्धि द्वारा, वैक्रियलब्धि द्वारा शत्रुसेना का आगमन सुनकर, अवधारण (विचार) करके अपने आत्मप्रदेशों को गर्भ से बाहर निकालता है, बाहर निकाल कर वैक्रियसमुद्घात से समवहत होकर चतुरंगिणी सेना की विक्रिया करता है। चतुरंगिणी सेना की विक्रया करके उस सेना से शत्रुसेना के साथ युद्ध करता है। वह अर्थ (धन) का कामी, राज्य का कामी, भोग का कामी, काम का कामी, अर्थाकांक्षी, राज्याकांक्षी, भोगाकांक्षी, कामाकांक्षी, (अर्थादि का लोलुप), तथा अर्थ का प्यासा, राज्य का प्यासा, भोग-पिपासु एवं कामपिपासु, उन्हीं चित्त वाला, उन्हीं में मन वाला, उन्हीं में आत्मपरिणाम वाला, उन्हीं में अध्यवसित, उन्हीं में प्रयत्नशील, उन्हीं में सावधानता-युक्त, उन्हीं के लिए क्रिया करने वाला, और उन्हीं भावनाओं से भावित (उन्हीं संस्कारों में ओतप्रोत), यदि उसी (समय के) अन्तर में (दौरान) मृत्यु को प्राप्त हो तो वह नरक में उत्पन्न होता है। इसलिए हे गौतम ! यावत्—कोई जीव नरक में उत्पन्न होता है और कोई नहीं उत्पन्न होता।

२०. जीवे णं भंते ! गब्भगते समाणे देवलोगेसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा।

से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! से णं सन्नी पंचिदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म ततो भवति संवेगजातसड्ढे तिव्वधम्माणुरागरत्ते, से णं जीवे धम्मकामए पुण्णकामए सग्गकामए मोक्खकामए, धम्मकंखिए पुण्णकंखिए सग्गकंखिए मोक्खकंखिए, धम्मपिवासिए पुण्णपिवासिए सग्गपिवासिए मोक्खपिवासिए, तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसिते तत्तिव्वज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तदप्पितकरणे तब्भावणाभाविते एयंसि णं अंतरंसि कालं करेज्ज देवलोएसु उववज्जति; से तेणट्ठेणं गोयमा ! ०।

[२०-१ प्र] भगवन् ! गर्भस्थ जीव क्या देवलोक में जाता है ?

[२०-१ उ] हे गौतम ! कोई जीव जाता है, और कोई नहीं जाता।

[२०-२ प्र] भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

[२०-२ उ] गौतम ! गर्भ में रहा हुआ संज्ञी पंचेन्द्रिय और सब पर्याप्तियों से पर्याप्त जीव, तथारूप श्रमण या माहन के पास एक भी आर्य और धार्मिक सुवचन सुन कर, अवधारण करके शीघ्र ही संवेग से धर्मश्रद्धालु बनकर, धर्म में तीव्र अनुराग से रक्त होकर, वह धर्म का कामी, पुण्य का कामी, स्वर्ग का कामी, मोक्ष का कामी, धर्माकांक्षी, पुण्याकांक्षी, स्वर्ग का आकांक्षी, मोक्षाकांक्षी तथा

वार-वार आहार करता है, वार-वार (उसे) परिणमाता है, वार-वार उच्छ्वास लेता है, वार-वार निश्वास लेता है, कदाचित् आहार करता है, कदाचित् परिणमाता है, कदाचित् उच्छ्वास लेता है, कदाचित् निश्वास लेता है, तथा पुत्र (-पुत्री) के जीव को रस पहुँचाने मे कारणभूत और माता के रस लेने मे कारणभूत जो मातृजीवरसहरणी नाम की नाडी है वह माता के जीव के साथ सम्बद्ध है और पुत्र (-पुत्री) के जीव के साथ स्पृष्ट—जुडी हुई है। उस नाडी द्वारा वह (गर्भगत जीव) आहार लेता है और आहार को परिणमाता है। तथा एक और नाडी है, जो पुत्र (-पुत्री) के जीव के साथ सम्बद्ध है और माता के जीव के साथ स्पृष्ट—जुडी हुई होती है, उससे (गर्भगत) पुत्र (या पुत्री) का जीव आहार का चय करता है और उपचय करता है। इस कारण से हे गौतम! गर्भगत जीव मुख द्वारा कवलरूप आहार को लेने मे समर्थ नही है।

१६ कति ण भते! मातिअगा पण्णत्ता ?

गोयमा! तओ मातियगा पण्णत्ता। त जहा— मसे सोणिते मत्थुलुगे।

[१६ प्र] भगवन्! (जीव के शरीर मे) माता के अग कितने कहे गए हैं ?

[१६ उ] गौतम! माता के तीन अग कहे गए है, वे इस प्रकार है—(१) मास, (२) शोणित (रक्त) और (३) मस्तक का भेजा (दिमाग)।

१७. कति ण भते! पितियगा पण्णत्ता ?

गोयमा! तओ पेतियगा पण्णत्ता। तं जहा—अट्ठि अट्ठिमिजा केस-मसु-रोम-नहे।

[१७ प्र] भगवन्! पिता के कितने अग कहे गए हैं ?

[१७ उ] गौतम! पिता के तीन अग कहे गए हैं। वे इस प्रकार है—(१) हड्डी, (२) मज्जा और (३) केश, दाढी-मूछ, रोम तथा नख।

१८ अम्मापेतिए णं भते! सरीरए केवइय काल सचिट्ठति ?

गोयमा! जावतिय से कालं भवधारणिज्जे सरीरए अव्वावन्ने भवति एवतिय काल सचिट्ठति, अहे ण समए समए वोक्कसिज्जमाणे २ चरमकालसमयसि वोच्छिन्ने भवइ।

[१८ प्र] भगवन्! माता और पिता के अग सन्तान के शरीर मे कितने काल तक रहते है ?

[१८ उ] गौतम! सतान का भवधारणीय शरीर जितने समय तक रहता है, उतने समय तक वे अग रहते है, और जब भवधारणीय शरीर समय-समय पर हीन (क्षीण) होता हुआ अन्तिम समय मे नष्ट हो जाता है, तब माता-पिता के वे अग भी नष्ट हो जाते है।

१९. [१] जीवे ण भते! गब्भगते समाणे नेरइएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा! अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा।

[१९-१ प्र] भगवन्! गर्भ मे रहा हुआ जीव क्या नारको मे उत्पन्न होता है ?

[१९-१ उ] गौतम! कोई उत्पन्न होता है और कोई नही उत्पन्न होता।

[२] से केणट्ठेण ?

गोयमा! से ण सन्नी पंचिदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए पराणीय आगय सोच्चा निसम्म पदेसे निच्छुभति, २ वेउव्वियसमुग्घाएण समोहण्णइ, वेउव्वियसमुग्घाएण समोहण्णित्ता चाउरगिणि सेण विउव्वइ, चाउरगिणि सेण विउव्वेत्ता चाउरगिणीए सेणाए

पराणीएण सद्धि सगाम सगामेइ, से ण जीवे अत्थकामए रज्जकामए भोगकामए कामकामए, अत्थकखिए रज्जकखिए भोगकखिए कामकखिए, अत्थपिवासिते रज्जपिवासिते भोगपिवासिए कामपिवासिते, तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसिए तत्तिव्वज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तदप्पितकरणे तब्भावणाभाविते एतसि ण अतरम्मि काल करेज्ज नेरतिएसु उववज्जइ, से तेणट्ठेण गोयमा ! जाव अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा ।

[१९-२ प्र] भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

[१९-२ उ] गौतम ! गर्भ मे रहा हुआ सज्ञी पचेन्द्रिय और समस्त पर्याप्तियो से पर्याप्त (परिपूर्ण) जीव, वीर्यलब्धि द्वारा, वैक्रियलब्धि द्वारा शत्रुसेना का आगमन सुनकर, अवधारण (विचार) करके अपने आत्मप्रदेशो को गर्भ से वाहर निकालता है, वाहर निकाल कर वैक्रियसमुद्घात से समवहत होकर चतुरगिणी सेना को विक्रिया करता है । चतुरगिणी सेना की विक्रया करके उस सेना से शत्रुसेना के साथ युद्ध करता है । वह अर्थ (धन) का कामी, राज्य का कामी, भोग का कामी, काम का कामी, अर्थाकाक्षी, राज्याकाक्षी, भोगाकाक्षी, कामाकाक्षी, (अर्थादि का लोलुप), तथा अर्थ का प्यासा, राज्य का प्यासा, भोग-पिपासु एव कामपिपासु, उन्ही चित्त वाला, उन्ही मे मन वाला, उन्ही मे आत्मपरिणाम वाला, उन्ही मे अध्यवसित, उन्ही मे प्रयत्नशील, उन्ही मे सावधानता-युक्त, उन्ही के लिए क्रिया करने वाला, और उन्ही भावनाओ से भावित (उन्ही सस्कारो मे ओतप्रोत), यदि उसी (समय के) अन्तर मे (दौरान) मृत्यु को प्राप्त हो तो वह नरक मे उत्पन्न होता है । इसलिए हे गौतम ! यावत्—कोई जीव नरक मे उत्पन्न होता है और कोई नही उत्पन्न होता ।

२०. जीवे ण भते ! गब्भगते समाणे देवलोगेसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा ।

से केणट्ठेण ?

गोयमा ! से ण सन्नी पचिदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अतिए एगमवि आरिय धम्मिय सुवयण सोच्चा निसम्म ततो भवति सवेगजातसड्ढे तिव्वधम्माणुरागरत्ते, से ण जीवे धम्मकामए पुण्णकामए सग्गकामए मोक्खकामए, धम्मकखिए पुण्ण-कखिए सग्गकखिए मोक्खकखिए, धम्मपिवासिए पुण्णपिवासिए सग्गपिवासिए मोक्खपिवासिए, तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसिते तत्तिव्वज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तदप्पितकरणे तब्भावणाभाविते एयसि ण अतरसि काल करेज्ज देवलोएसु उववज्जति; से तेणट्ठेण गोयमा ! ० ।

[२०-१ प्र] भगवन् ! गर्भस्थ जीव क्या देवलोक मे जाता है ?

[२०-१ उ] हे गौतम ! कोई जीव जाता है, और कोई नही जाता ।

[२०-२ प्र] भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

[२०-२ उ] गौतम ! गर्भ मे रहा हुआ सज्ञी पचेन्द्रिय और सब पर्याप्तियो से पर्याप्त जीव, तथारूप श्रमण या माहन के पास एक भी आर्य और धार्मिक सुवचन सुन कर, अवधारण करके शीघ्र ही सवेग से धर्मश्रद्धालु बनकर, धर्म मे तीव्र अनुराग से रक्त होकर, वह धर्म का कामी, पुण्य का कामी, स्वर्ग का कामी, मोक्ष का कामी, धर्माकाक्षी, पुण्याकाक्षी, स्वर्ग का आकाक्षी, मोक्षाकाक्षी तथा

धर्मपिपासु, पुण्यपिपासु, स्वर्गपिपासु एव मोक्षपिपासु, उसी मे चित्त वाला, उसी मे मन वाला, उसी मे आत्मपरिणाम वाला, उसी मे अध्यवसित, उसी मे तीव्र प्रयत्नशील, उसी मे सावधानतायुक्त, उसी के लिए अर्पित होकर क्रिया करने वाला, उसी की भावनाओ से भावित (उसी के सस्कारो से सस्कारित) जीव ऐसे ही अन्तर (समय) मे मृत्यु को प्राप्त हो तो देवलोक मे उत्पन्न होता है। इसलिए हे गौतम ! कोई जीव देवलोक मे उत्पन्न होता है और कोई नही उत्पन्न होता।

२१, जीवे ण भंते ! गब्भगए समाणे उत्ताणए वा पासिल्लए वा अबखुज्जए वा अच्छेज्ज वा चिट्ठेज्ज वा निसीएज्ज वा तुयट्टेज्ज वा, मातुए सुवमाणीए सुवति, जागरमाणीए जागरति, सुहियाए सुहिते भवइ, दुहिताए दुहिए भवति ?

हता, गोयमा ! जीवे ण गब्भगए समाणे जाव दुहियाए भवति।

[२१ प्र] भगवन् ! गर्भ मे रहा हुआ जीव क्या चित—लेटा हुआ (उत्तानक) होता है, या करवट वाला होता है, अथवा आम के समान कुबडा होता है, या खडा होता है, बैठा होता है या पडा हुआ (सोता हुआ) होता है, तथा माता जब सो रही हो तो सोया होता है, माता जब जागती हो तो जागता है, माता के सुखी होने पर सुखी होता है, एव माता के दु खी होने पर दु खी होता है ?

[२१ उ] हाँ, गौतम ! गर्भ मे रहा हुआ जीव यावत्—जब माता दु खित हो तो दु खी होता है।

२२ अहे ण पसवणकालसमयसि सीसेण वा पाएहि वा आगच्छति सममागच्छइ तिरियमागच्छइ विणिहायमावज्जति। वण्णवज्झाणि य से कम्माइ बद्धाइ पुट्ठाइ निहत्ताइं कडाइ पट्ठविताइ अभिनिविट्ठाइ अभिसमन्नागयाइ उदिण्णाइ, नो उवसंताइ भवति, तओ भवइ दुरूवे दुव्वण्णे दुग्गधे दूरसे दुप्फासे अणिट्ठे अकते अप्पिए असुभे अमणुण्णे अमणामे हीणस्सरे दीणस्सरे अणिट्ठस्सरे अकतस्सरे अप्पियस्सरे असुभस्सरे अमणुण्णस्सरे अमणामस्सरे अणादेज्जवयणे पच्चायाए याऽवि भवति। वण्णवज्झाणि य से कम्माइ नो बद्धाइ० पसत्थ नेतव्व जाव आदेज्जवयणे पच्चायाए याऽवि भवति।

सेव भते ! सेव भते ! त्ति०।

॥ सत्तमो उद्देसो समत्तो ॥

[२२] इसके पश्चात् प्रसवकाल मे अगर वह गर्भगत जीव मस्तक द्वारा या पैरो द्वारा (गर्भ से) बाहर आए तब तो ठीक तरह आता है, यदि वह टेढा (आडा) हो कर आए तो मर जाता है। गर्भ से निकलने के पश्चात् उस जीव के कर्म यदि अशुभरूप मे बधे हो, स्पृष्ट हो, निधत्त हो, कृत हो, प्रस्थापित हो, अभिनिविष्ट हो' अभिसमन्वागत हो, उदीर्ण हो, और उपशान्त न हो, तो वह जीव कुरूप, कुवर्ण (खराब वर्ण वाला) दुर्गन्ध वाला, कुरस वाला, कुस्पर्श वाला, अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, अमनाम (जिसका स्मरण भी बुरा लगे), हीन स्वर वाला, दीन स्वर वाला, अनिष्ट अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ एव अमनाम स्वर वाला, तथा अनादेय वचन वाला होता है, और यदि उस जीव के कर्म अशुभरूप मे न बँधे हुए हो तो, उसके उपर्युक्त सब बाते प्रशस्त होती है, यावत्—वह आदेयवचन वाला होता है।'

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है।' यो कह कर श्री गौतमस्वामी तप-सयम मे विचरण करने लगे।

विवेचन—गर्भगत जीव सम्बन्धी विचार—प्रस्तुत १३ सूत्रो (सू १० से २२ तक) मे विविध पहलुओ से गर्भगत जीव से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर अकित किये गए है —

द्रव्येन्द्रिय-भावेन्द्रिय—इन्द्रिय के दो भेद है—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। पौद्गलिक रचना-विशेष को द्रव्येन्द्रिय कहते है। इसके दो प्रकार है—निर्वृत्ति और उपकरण। इन्द्रियो की आकृति को निवृत्ति कहते है, और उनके सहायक को उपकरण कहते है। भावेन्द्रिय के भी दो भेद है-लब्धि और उपयोग। लब्धि का अर्थ शक्ति है, जिसके द्वारा आत्मा शब्दादि का ज्ञान प्राप्त करने मे समर्थ होता है। उपयोग का अर्थ है—ग्रहण करने का व्यापार। जीव जब गर्भ मे आता है, तब उसमे शक्तिरूप भावेन्द्रियाँ यथायोग्य साथ ही होती है।

गर्भगत जीव के आहारादि—गर्भमे पहुँचने के प्रथम समय मे माता के ऋतु-सम्बन्धी रज और पिता के वीर्य के सम्मिश्रण को ग्रहण करता है। तत्पश्चात् माता द्वारा ग्रहण किये हुए रसविकारो का एक भाग ओज के साथ ग्रहण करता है। गर्भस्थ जीव के मल-मूत्रादि नही होते, क्योकि वह जो भी आहार ग्रहण करता है उसे श्रोत्रेन्द्रियादि रूप मे परिणमाता है। वह कवलाहार नही करता, सर्वात्म-रूप से आहार ग्रहण करता है। रसहरणी नाडी (नाभिका नाल) द्वारा गर्भगत जीव माता के जीव का रस ग्रहण करता है। यह नाडी माता के जीव के साथ प्रतिवद्ध और सन्तान के जीव के साथ स्पृष्ट होती है। दूसरी पुत्रजीवरसहरणी द्वारा गर्भस्थ जीव आहार का चय-उपचय करता है। इससे गर्भस्थ जीव परिपुष्टि प्राप्त करता है। यह नाडी सन्तान के जीव के साथ प्रतिवद्ध और माता के जीव के साथ स्पृष्ट होती है।

गर्भगत जीव के अगादि—जिन अगो मे माता के आर्तव का भाग अधिक होता है। वे कोमल अग—मास, रक्त और मस्तक का भेजा (अवथा मस्तुलु ग=चर्बी या फेफडा) माता के होते है, तथा जिन अगो मे पिता के वीर्य का भाग अधिक होता है, वे तीन कठोर अग—केश, रोम तथा नखादि पिता के होते हैं। शेष सब अग माता और पिता दोनो के पुद्गलो से बने हुए होते है। सन्तान के भवधारणीय शरीर का अन्त होने तक माता-पिता के ये अग उस शरीर मे रहते है।

गर्भगत जीव के नरक या देवलोक मे जाने का कारण—धन, राज्य और कामभोग की तीव्र-लिप्सा और शत्रुसेना को मारने की तीव्र आकाक्षा के वश मृत्यु हो जाय तो गर्भस्थ सज्ञी पचेन्द्रिय जीव नरक मे जाता है और धर्म, पुण्य, स्वर्ग एव मोक्ष के तीव्र शुभ अध्यवसाय मे मृत्यु होने पर वह देव-लोक मे जाता है।

गर्भस्थ जीव स्थिति—गर्भस्थ जीव ऊपर की ओर मुख किये चित सोता, करवट से सोता है, या आम्रफल की तरह टेढा हो कर रहता है। उसकी खडे या बैठे रहने या सोने आदि की क्रिया माता की क्रिया पर आधारित है।

बालक का भविष्य . पूर्वजन्मकृत कर्म पर निर्भर—पूर्वभव मे शुभ कर्म उपार्जित किया हुआ जीव यहाँ शुभवर्णादि वाला होता है, किन्तु पूर्वजन्म मे अशुभ कर्म उपार्जित किया हुआ जीव यहाँ अशुभवर्ण कुरस आदि वाला होता है।[1]

॥ प्रथम शतक सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

---

१ भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक ८६ से ९० तक

अट् ाे उद्देसओ : ाले

अष्टम उद्देशक : बाल

एकान्त बाल, पण्डित आदि के आयुष्यबन्ध का विचार—

१ एगंतबाले णं भंते ! मणुस्से किं नेरइयाउयं पकरेति ? तिरिक्खाउयं पकरेति ? मणुस्साउयं पकरेति ? देवाउयं पकरेति ? नेरइयाउयं किच्चा नेरइएसु उववज्जति ? तिरियाउयं किच्चा तिरिएसु उववज्जइ ? मणुस्साउयं किच्चा मणुस्सेसु उववज्जइ ? देवाउयं किच्चा देवलोगेसु उववज्जति ?

गोयमा ! एगंतबाले णं मणुस्से नेरइयाउयं पि पकरेइ, तिरियाउयं पि पकरेइ, मणुयाउयं पि पकरेइ, देवाउयं पि पकरेइ; णेरइयाउयं पि किच्चा नेरइएसु उववज्जति, तिरियाउयं पि किच्चा तिरिएसु उववज्जति, मणुस्साउयं पि किच्चा मणुस्सेसु उववज्जति देवाउयं पि किच्चा देवेसु उववज्जति ।

राजगृह नगर मे समवसरण हुआ और यावत्—श्री गौतम स्वामी इस प्रकार बोले—

[१ प्र] भगवन् ! क्या एकान्त-बाल (मिथ्यादृष्टि) मनुष्य, नारक की आयु बाधता है तिर्यञ्च की आयु बाधता है, मनुष्य की आयु बाधता है अथवा देव की आयु बाधता है ? तथा क्या वह नरक की आयु बाधकर नैरयिको मे उत्पन्न होता है , तिर्यञ्च की आयु बाधकर तिर्यञ्चो मे उत्पन्न होता है, मनुष्य की आयु बाधकर मनुष्यो मे उत्पन्न होता है अथवा देव की आयु बाध कर देवलोक मे उत्पन्न होता है ?

[१ उ] गौतम ! एकान्त बाल मनुष्य नारक की भी आयु बाधता है, तिर्यञ्च की भी आयु बाधता है, मनुष्य की भी आयु बाधता है और देव की भी आयु बाधता है, तथा नरकायु बाध कर नैरयिको मे उत्पन्न होता है, तिर्यञ्चायु बाधकर तिर्यञ्चो मे उत्पन्न होता है, मनुष्यायु बाध कर मनुष्यो मे उत्पन्न होता है और देवायु बाधकर देवो मे उत्पन्न होता है ।

२. एगंतपंडिए णं भंते ! मणुस्से किं नेरइयाउयं पकरेइ ? जाव देवाउयं किच्चा देवलोएसु उववज्जति ?

गोयमा ! एगंतपंडिए णं मणुस्से आउयं सिय पकरेति, सिय नो पकरेति । जइ पकरेइ नो नेरइयाउयं पकरेइ, नो तिरियाउयं पकरेइ, नो मणुस्साउयं पकरेइ, देवाउयं पकरेति । नो नेरइयाउयं किच्चा नेरइएसु उववज्जइ, णो तिरि०, णो मणुस्सा०, देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जति ।

से केणट्ठेणं जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जति ?

गोयमा ! एगंतपंडितस्स णं मणुस्सस्स केवलमेव दो गतीओ पन्नायंति, तं जहा—अंतकिरिया चेव, कप्पोववत्तिया चेव । से तेणट्ठेणं गोतमा ! जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जति ।

[२ प्र] भगवन् ! एकान्तपण्डित मनुष्य क्या नरकायु बांधता है ? या यावत् देवायु बाधता है ? और यावत् देवायु बाध कर देवलोक मे उत्पन्न होता है ?

[२ उ] हे गौतम ! एकान्तपण्डित मनुष्य, कदाचित् आयु बाधता है और कदाचित् आयु नही बाधता। यदि आयु बाधता है तो देवायु बाधता है, किन्तु नरकायु, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु नही बाधता। वह नरकायु नही बाधने से नारको मे उत्पन्न नही होता, इसी प्रकार तिर्यञ्चायु न बाधने से तिर्यञ्चो मे उत्पन्न नही होता और मनुष्यायु न बाधने से मनुष्यो मे भी उत्पन्न नही होता, किन्तु देवायु बाधकर देवो मे उत्पन्न होता है।

[प्र] भगवन् ! इसका क्या कारण है कि यावत्—देवायु बाधकर देवो मे उत्पन्न होता है ?

[उ] गौतम ! एकान्तपण्डित मनुष्य की केवल दो गतियाँ कही गई है। वे इस प्रकार है— अन्तक्रिया और कल्पोपपत्तिका (सौधर्मादि कल्पो मे उत्पन्न होना)। इस कारण हे गौतम ! एकान्त-पण्डित मनुष्य देवायु बाध कर देवो मे उत्पन्न होता है।

३ बालपंडिते ण भंते ! मणुस्से किं नेरइयाउय पकरेति जाव देवाउय किच्चा देवेसु उववज्जति ?

गोतमा ! नो नेरइयाउय पकरेति जाव देवाउय किच्चा देवेसु उववज्जति।

से केणट्ठेण जाव देवाउय किच्चा देवेसु उववज्जति ?

गोयमा ! बालपडिए ण मणुस्से तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरिय धम्मिय सुवयण सोच्चा निसम्म देस उवरमति, देस नो उवरमइ, देस पच्चक्खाति, देसं णो पच्चक्खाति; से ण तेण देसोवरम-देसपच्चक्खाणेण नो नेरयाउय पकरेति जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जति। से तेणट्ठेण जाव देवेसु उववज्जइ।

[३ प्र] भगवन् ! क्या बालपण्डित मनुष्य नरकायु बाधता है, यावत्—देवायु बाधता है ? और यावत्—देवायु बाधकर देवलोक मे उत्पन्न होता है ?

[३ उ] गौतम ! वह नरकायु नही बाधता और यावत् (तिर्यञ्चायु तथा मनुष्यायु नही बाधता), देवायु बाधकर देवो मे उत्पन्न होता है।

[प्र] भगवन् ! इसका क्या कारण है कि—बालपण्डित मनुष्य यावत् देवायु बाध कर देवो मे उत्पन्न होता है ?

[उ] गौतम ! बालपण्डित मनुष्य तथारूप श्रमण या माहन के पास से एक भी आर्य तथा धार्मिक सुवचन सुनकर, अवधारण करके एकदेश से विरत होता है, और एकदेश से विरत नही होता। एकदेश से प्रत्याख्यान करता है और एकदेश से प्रत्याख्यान नही करता। इसलिए हे गौतम ! देश-विरति और देश-प्रत्याख्यान के कारण वह नरकायु, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु का बन्ध नही करता और यावत्—देवायु बाधकर देवो मे उत्पन्न होता है। इसलिए हे गौतम ! पूर्वोक्त कथन किया गया है।

विवेचन—बाल, पण्डित आदि के आयुबन्ध का विचार—प्रस्तुत तीन सूत्रो मे क्रमश एकान्त-बाल, एकान्तपण्डित और बाल-पण्डित मनुष्य के आयुष्यबन्ध का विचार किया गया है।

बाल आदि के लक्षण—मिथ्यादृष्टि और अविरत को एकान्तबाल कहते हैं। वस्तुतत्त्व के

यथार्थ स्वरूप को जानकर जो तदनुसार आचरण करता है, वह 'पण्डित' कहलाता है, और जो वस्तुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है, किन्तु आंशिक (एकदेश) आचरण करता है, वह बालपण्डित कहलाता है। एकान्तबाल मिथ्यादृष्टि एव अविरत होता है, एकान्त-पण्डित महाव्रती साधु होता है और बालपण्डित देशविरत श्रमणोपासक होता है।

एकान्तबाल मनुष्य के चारो गतियो का आयुष्य बन्ध क्यो ?—एकान्त बालत्व समान होते हुए भी एक ही गति का आयुष्यबन्ध न होकर चारो गतियो का आयुबन्ध होता है, इसका कारण एकान्तबालजीवो का प्रकृतिवैविध्य है। कई एकान्तबालजीव महारम्भी, महापरिग्रही, असत्यमार्गोपदेशक तथा पापाचारी होते है, वे नरकायु या तिर्यञ्चायु का बन्ध करते है। कई एकान्तबालजीव अल्पकषायी, अकामनिर्जरा, बालतप आदि से युक्त होते है। वे मनुष्यायु या देवायु का बन्ध करते है।

एकान्तपण्डित की दो गतियाँ—जिनके सम्यक्त्वसप्तक (अनन्तानुबन्धी चार कषाय और मोहनीयत्रिक इन सात प्रकृतियो) का क्षय हो गया है, तथा जो तद्भवमोक्षगामी है, वे आयुष्यबन्ध नही करते। यदि इन सातप्रकृतियो के क्षय से पूर्व उनके आयुष्यबन्ध हो गया हो तो सिर्फ एक वैमानिक देवायु का बन्ध करते है। इसी कारण एकान्त पण्डित मनुष्य की क्रमश दो ही गतियाँ कही गई हैं—अन्तक्रिया (मोक्षगति) अथवा कल्पोपपत्तिका (वैमानिक देवगति)।[1]

मृगघातकादि को लगने वाली क्रियाओ की प्ररूपणा—

४ पुरिसे ण भते ! कच्छसि वा १ दहसि वा २ उदगसि वा ३ दवियसि वा ४ वलयसि वा ५ नूमसि वा ६ गहणसि वा ७ गहणविदुग्गसि वा ८ पव्वतसि वा ९ पव्वतविदुग्गंसि वा १० वणसि वा ११ वणविदुग्गसि वा १२ मियवित्तीए मियसकप्पे मियपणिहाणे मियवहाए गता 'एते मिए' त्ति काउं अन्नयरस्स मियस्स वहाए कूड-पासं उद्दाइ, ततो णं भते ! से पुरिसे कतिकिरिए ?

गोयमा ! जाव च ण से पुरिसे कच्छसि वा १२ जाव कूड-पास उद्दाइ ताव च ण से पुरिसे सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए।

से केणट्ठेणं भते ! एव वुच्चति 'सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पचकिरिए' ?

गोयमा ! जे भविए उद्दवणयाए, णो बधणयाए, णो मारणयाए, ताव च ण से पुरिसे काइयाए अहिगरणियाए पादोसियाए तीहिं किरियाहिं पुट्ठे। जे भविए उद्दवणयाए वि बधणयाए वि, णो मारणयाए ताव च ण से पुरिसे काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए पारियावणियाए चउहिं किरियाहिं पुट्ठे। जे भविए उद्दवणयाए वि बधणयाए वि मारणयाए वि ताव च ण से पुरिसे काइयाए जाव पाणातिवातकिरियाए पचहिं किरियाहिं पुट्ठे। से तेणट्ठेण जाव पचकिरिए।

[४ प्र] भगवन् ! मृगो से आजीविका चलाने वाला, मृगो का शिकारी, मृगो के शिकार मे तल्लीन कोई पुरुष मृगवध के लिए निकला हुआ कच्छ (नदी के पानी से घिरे हुए झाडियो वाले स्थान) मे, द्रह मे, जलाशय मे, घास आदि के समूह मे, वलय (गोलाकार नदी आदि के पानी से टेढे-मेढे स्थान) मे, अन्धकारयुक्त प्रदेश मे, गहन (वृक्ष, लता आदि झुड से सघन वन) मे, पर्वत के

---

१ भगवती सूत्र, अ वृत्ति पत्राक ९०-९१

एक भागवर्त्ती वन मे, पर्वत पर पर्वतीय दुर्गम प्रदेश मे, वन मे, बहुत-से वृक्षो से दुर्गम वन मे 'ये मृग हैं', ऐसा सोच कर किसी मृग को मारने के लिए कूटपाश रचे (गड्ढा बना कर जाल फैलाए) तो हे भगवन् ! वह पुरुष कितनी क्रियाओ वाला कहा गया है ? अर्थात्—उसे कितनी क्रियाए लगती हैं ?

[४ उ] हे गौतम ! वह पुरुष कच्छ मे, यावत्—जाल फैलाए तो कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पाच क्रिया वाला होता है।

[प्र] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि 'वह पुरुष कदाचित् तीन क्रियाओ वाला, कदाचित् चार क्रियाओ वाला और कदाचित् पाच क्रियाओ वाला होता है ?

[उ] गौतम ! जब तक वह पुरुष जाल को धारण करता है, और मृगो को बाधता नही है तथा मृगो को मारता नही है, तब तक वह पुरुष कायिकी, आधिकरणिकी और प्राद्वेषिकी, इन तीन क्रियाओ से स्पृष्ट (तीन क्रियाओ वाला) होता। जब तक वह जाल को धारण किये हुए है और मृगो को बाधता है किन्तु मारता नही, तब तक वह पुरुष कायिकी आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, और पारितापनिकी, इन चार क्रियाओ से स्पृष्ट होता है। जब वह पुरुष जाल को धारण किये हुए है, मृगो को बाधता है और मारता है, तब वह—कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी, इन पाँचो क्रियाओ से स्पृष्ट होता है। इस कारण हे गौतम ! वह पुरुष कदाचित् तीन क्रियाओ वाला, कदाचित् चार क्रियाओ वाला और कदाचित् पाचो क्रियाओ वाला कहा जाता है।

५ पुरिसे ण भते ! कच्छसि वा जाव वणविदुग्गसि वा तणाइ ऊसविय ऊसविय अगणिकाय निसिरइ तावं च ण भते ! से पुरिसे कतिकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पचकिरिए।

से केणट्ठेण ?

गोतमा ! जे भविए उस्सवणयाए तिहि, उस्सवणयाए वि निसिरणयाए वि, नो दहणयाए चउहि, जे भविए उस्सवणयाए वि निसिरणयाए वि दहणयाए वि ताव च ण से पुरिसे काइयाए जाव पंचहि किरियाहि पुट्ठे। से तेणट्ठेण गोयमा ! ०।

[५ प्र] भगवन् ! कच्छ मे यावत्—वनविदुर्ग (अनेक वृक्षो के कारण दुर्गम वन) मे कोई पुरुष घास के तिनके इकट्ठे करके उनमे अग्नि डाले तो वह पुरुष कितनी क्रिया वाला होता है ?

[५ उ] गौतम ! वह पुरुष कदाचित् तीन क्रियाओ वाला, कदाचित् चार क्रियाओ वाला और कदाचित् पाच क्रियाओ वाला होता है।

[प्र] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[उ] गौतम ! जब तक वह पुरुष तिनके इकट्ठे करता है, तब तक वह तीन क्रियाओ से स्पृष्ट होता है। जब वह तिनके इकट्ठे कर लेता है, और उनमे अग्नि डालता है, किन्तु जलाता नही है, तक तक वह चार क्रियाओ वाला होता है। जब वह तिनके इकट्ठे करता है, उनमे आग डालता है और जलाता है, तब वह पुरुष कायिकी आदि पाचो क्रियाओ से स्पृष्ट होता है। इसलिए हे

गौतम ! वह (पूर्वोक्त) पुरुष कदाचित् तीन क्रियाओ वाला, कदाचित् चार क्रियाओ वाला एव कदाचित् पाचो क्रियाओ वाला कहा जाता है ।

६ पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा जाव वणविदुग्गंसि वा मियवित्तीए मियसकप्पे मियपणिहाणे मियवहाए गता 'एए मिये' त्ति काउ अन्नयरस्स मियस्स वहाए उसुं निसिरइ, ततो ण भंते ! से पुरिसे कतिकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पचकिरिए ।

से केणट्ठेण ?

गोयमा ! जे भविए निसिरणयाए तिहिं; जे भविए निसिरणयाए वि विद्धसणयाए वि, नो मारणयाए चउहिं, जे भविए निसिरणयाए वि विद्धंसणयाए वि मारणयाए वि ताव च णं से पुरिसे जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे । से तेणट्ठेण गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पचकिरिए ।

[६ प्र] भगवन् ! मृगो से आजीविका चलाने वाला, मृगो का शिकार करने के लिए कृत-सकल्प, मृगो के शिकार मे तन्मय, मृगवध के लिए कच्छ मे यावत् वनविदुर्ग मे जाकर 'ये मृग हैं' ऐसा सोचकर किसी एक मृग को मारने के लिए बाण फेंकता है, तो वह पुरुष कितनी क्रिया वाला होता है (अर्थात् उसे कितनी क्रिया लगती है?)

[६ उ] हे गौतम ! वह पुरुष कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पाँच क्रिया वाला होता है ।

[प्र] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[उ] गौतम ! जब तक वह पुरुष बाण फेंकता है, परन्तु मृग को बेधता नही है, तथा मृग को मारता नही है, तब वह पुरुष तीन क्रिया वाला है । जब वह बाण फेंकता है और मृग को बेधता है, पर मृग को मारता नही है, तब तक वह चार क्रिया वाला है, और जब वह बाण फेंकता है, मृग को बेधता है और मारता है, तब वह पुरुष पाँच क्रिया वाला कहलाता है । हे गौतम ! इस कारण ऐसा कहा जाता है कि 'कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पाँच क्रिया वाला होता है ।'

७ पुरिसे णं भते ! कच्छंसि वा जाव अन्नयरस्स मियस्स वहाए आयतकण्णायत उसुं आयामेत्ता चिट्ठिज्जा, अन्ने य से पुरिसे मग्गतो आगम्म सयपाणिणा असिणा सीस छिंदेज्जा, से य उसू ताए चेव पुव्वायामणयाए त मिय विधेज्जा, से णं भते! पुरिसे किं मियवेरेण पुट्ठे ? पुरिसवेरेण पुट्ठे !

गोतमा ! जे मिय मारेति से मियवेरेण पुट्ठे, जे पुरिस मारेइ से पुरिसवेरेणं पुट्ठे ।

से केणट्ठेण भते ! एव वुच्चइ जाव से पुरिसवेरेण पुट्ठे ?

से नूण गोयमा ! कज्जमाणे कडे, सधिज्जमाणे सधिते, निव्वतिज्जमाणे निव्वत्तिए, निसिरिज्जमाणे निसट्ठे त्ति वत्तव्व सिया ?

हता, भगव ! कज्जमाणे कडे जाव निसट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया ।

से तेणट्ठेण गोयमा ! जे मिय मारेति से मियवेरेण पुट्ठे जे पुरिसं मारेइ से पुरिसवेरेण पुट्ठे । अंतो छण्ह मासाणं मरइ काइयाए जाव पचहिं किरियाहिं पुट्ठे, बाहिं छण्ह मासाण मरति काइयाए जाव पारितावणियाए चउहिं किरियाहिं पुट्ठे ।

[७ प्र] भगवन् ! कोई पुरुष, कच्छ मे यावत् किसी मृग का वध करने के लिए कान तक ताने (लम्बे किये) हुए वाण को प्रयत्नपूर्वक खीच कर खडा हो और दूसरा कोई पुरुष पीछे मे आकर उस खडे हुए पुरुष का मस्तक अपने हाथ से तलवार द्वारा काट डाले । वह वाण पहले के खिंचाव से उछल कर उस मृग को वीध डाले, तो हे भगवन् ! वह पुरुष मृग के वैर मे स्पृष्ट है या (उक्त) पुरुष के वैर से स्पृष्ट है ?

[७ उ] गौतम ! जो पुरुष मृग को मारता है, वह मृग के वैर मे स्पृष्ट है और जो पुरुष, पुरुष को मारता है, वह पुरुष के वैर से स्पृष्ट है ।

[प्र] भगवन् ! आप ऐसा किस कारण से कहते है कि यावत् वह पुरुष, पुरुष के वैर मे स्पृष्ट है ?

[उ] हे गौतम ! यह तो निश्चित है न कि 'जो किया जा रहा है, वह किया हुआ' कहलाता है, 'जो मारा जा रहा है, वह मारा हुआ' 'जो जलाया जा रहा है, वह जलाया हुआ' कहलाता है और 'जो फैका जा रहा है, वह फैका हुआ, कहलाता है ?

(गौतम—) हाँ, भगवन् ! जो किया जा रहा है, वह किया हुआ कहलाता है, और यावत्— जो फैका जा रहा है, वह फैका हुआ कहलाता है ।

(भगवान्—) 'इसलिए इसी कारण हे गौतम ! जो मृग को मारता है, वह मृग के वैर से स्पृष्ट और जो पुरुष को मारता है, वह पुरुष के वैर से स्पृष्ट कहलाता है । यदि मरने वाला छह मास के अन्दर मरे, तो मारने वाला कायिकी आदि यावत् पाचो क्रियाओ से स्पृष्ट कहलाता है और यदि मरने वाला छह मास के पश्चात् मरे तो मारने वाला पुरुष, कायिकी यावत् पारितापनिकी इन चार क्रियाओ से स्पृष्ट कहलाता है ।

८ पुरिसे ण भते ! पुरिस सत्तीए समभिधसेज्जा, सयपाणिणा वा से असिणा सीस छिंदेज्जा, ततो ण भते ! से पुरिसे कतिकिरिए ?

गोयमा ! जाव च णं से पुरिसे त पुरिस सत्तीए समभिधसेइ सयपाणिणा वा से असिणा सीसं छिंदइ ताव च ण से पुरिसे काइयाए अहिगरणि० जाव पाणातिवायकिरियाए पचहिं किरियाहिं पुट्ठे, आसन्नवहएण य अणवकखणवत्तिएण पुरिसवेरेण पुट्ठे ।

[८ प्र] भगवन् ! कोई पुरुष किसी पुरुष को बरछी (या भाले) से मारे अथवा अपने हाथ से तलवार द्वारा उस पुरुष का मस्तक काट डाले, तो वह पुरुष कितनी क्रिया वाला होता है ?

[८ उ] गौतम ! जब वह पुरुष उसे बरछी द्वारा मारता है, अथवा अपने हाथ से तलवार द्वारा उस पुरुष का मस्तक काटता है, तब वह पुरुषकायिकी, आधिकरणिकी यावत् प्राणातिपातकी इन पाँचो क्रियाओ से स्पृष्ट होता है और वह आसन्नवधक एव दूसरे के प्राणो की परवाह न करने वाला पुरुष, पुरुष-वैर से स्पृष्ट होता है ।

विवेचन—मृगघातकादि को लगने वाली क्रियाओ के सम्बन्ध मे विचार—प्रस्तुत पाँच सूत्रों (४ से ८ तक) मे मृगघातक, पुरुषघातक आदि को लगने वाली क्रियाओ के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर प्रस्तुत किये गए है । प्रश्नो का क्रम इस प्रकार है—

(१) मृगवध के लिए जाल फैलाने, मृगो को वाधने तथा मारने वाले को लगने वाली क्रियाएँ।
(२) तिनके इकट्ठे करके आग डालने एव जलाने वाले को लगने वाली क्रियाएं।
(३) मृगो को मारने हेतु वाण फैकने, वीधने और मारने वाले को लगने वाली क्रियाएँ।
(४) वाण को खीचकर खडे हुए पुरुप का मस्तक कोई अन्य पुरुप पीछे मे आकर खड्ग से काट डाले, इसी समय वह वाण उछल कर यदि मृग को वीध डाले तो मृग मारने वाला मृगवैर से स्पृष्ट और पुरुप को मारने वाला पुरुपवैर मे स्पृष्ट होता है, उनको लगने वाली क्रियाएँ।
(५) वरछी या तलवार द्वारा किसी पुरुप का मस्तक काटने वाले को लगने वाली क्रियाएँ।

षट्मास की अवधि क्यो ?—जिस पुरुष के प्रहार से मृगादि प्राणी छह मास के भीतर मर जाए तो उनके मरण मे वह प्रहार निमित्त माना जाता है। इसलिए मारने वाले को पाँचो क्रियाएँ लगती है, किन्तु वह मृगादि प्राणी छह महीने के बाद मरता है तो उसके मरण मे वह प्रहार निमित्त नही माना जाता, इसलिए उसे प्राणातिपातिकी के अतिरिक्त शेप चार क्रियाएँ ही लगती है। यह कथन व्यवहारनय की दृष्टि से है, अन्यथा उस प्रहार के निमित्त से जव कभी भी मरण हो, उसे पाँचो क्रियाएँ लगती है[1]

आसन्नवधक—वरछी या खड्ग से मस्तक काटने वाला पुरुष आसन्नवधक होने के कारण तीव्र वैर से स्पृष्ट होता है। उस वैर के कारण वह उसी पुरुप द्वारा अथवा दूसरे के द्वारा उसी जन्म मे या जन्मान्तर मे मारा जाता है।

पचक्रियाएँ—(१) **कायिकी**—काया द्वारा होने वाला सावद्य व्यापार (२) **आधिकरणिकी**-हिंसा के साधन—शस्त्रादि जुटाना, (३) **प्राद्वेषिकी**—तीव्र द्वेष भाव से लगने वाली क्रिया, (४) **पारितापनिकी**—किसी जीव को पीडा पहुँचाना, और (५) **प्राणातिपातिकी**—जिस जीव को मारने का सकल्प किया था, उसे मार डालना।

अनेक बातो मे समान दो योद्धाओ मे जय-पराजय का कारण—

९ दो भते ! पुरिसा सरिसया सरित्तया सरिव्वया सरिसभडमत्तोवगरणा अन्नमन्नेण सद्धि सगाम सगामेंति, तत्थ ण एगे पुरिसे पराइणइ एगे पुरिसे पराइज्जइ, से कहमेय भते ! एव ?

गोतमा ! सवीरिए परायिणति, अवीरिए पराइज्जति। से केणट्ठेण जाव पराइज्जति ? गोयमा ! जस्स ण वीरियवज्झाइ कम्माइ नो बद्धाइ नो पुट्ठाइ जाव नो अभिसमन्नागताइ, नो उदिण्णाइ, उवसताइ भवति से णं पुरिसे परायिणति, जस्स ण वीरियवज्झाइ कम्माइ बद्धाइ जाव उदिण्णाइ, कम्माइ नो उवसताइ भवति से ण पुरिसे परायिज्जति। से तेणट्ठेण गोयमा ! एव वुच्चइ सवीरिए पराजिणइ, अवीरिए पराइज्जति !

[९ प्र] भगवन् ! एक सरीखे, एक सरीखी चमडी वाले, समानवयस्क, समान द्रव्य और उपकरण (शस्त्रादि साधन) वाले कोई दो पुरुष परस्पर एक दूसरे के साथ सग्राम करे, तो उनमे से एक पुरुप जीतता है और एक पुरुष हारता है, भगवन् ! ऐसा क्यो होता है ?

१. भगवती सूत्र अ वृत्ति ९३,९४

[९ उ] हे गौतम ! जो पुरुष सवीर्य (वीर्यवान्=शक्तिशाली) होता है, वह जीतता है और जो वीर्यहीन होता है, वह हारता है।

[प्र] भगवन् ! इसका क्या कारण है यावत्-वीर्यहीन हारता है ?

[उ] गौतम ! जिसने वीर्य-विघातक कर्म नही बाधे है, नही स्पर्श किये है यावत् प्राप्त नही किये है, और उसके वे कर्म उदय मे नही आए है, परन्तु उपशान्त है, वह पुरुष जीतता है। जिसने वीर्य विघातक कर्म बाधे है, स्पर्श किये है, यावत् उसके वे कर्म उदय मे आए है, परन्तु उपशान्त नही है, वह पुरुष पराजित होता है। अतएव हे गौतम ! इस कारण ऐसा कहा जाता है कि सवीर्य पुरुष विजयी होता है और वीर्यहीन पुरुष पराजित होता है।

विवेचन—दो पुरुषो की अनेक बातो मे सदृशता होते हुए भी जय-पराजय का कारण—प्रस्तुत सूत्र मे दो पुरुषो की शरीर, वय, चमडी तथा शस्त्रादि साधनो मे सदृशता होते हुए भी एक की जय और दूसरे की पराजय होने का कारण बताया गया है।

वीर्यवान् और निर्वीर्य—वस्तुत वीर्य से यहाँ तात्पर्य है,—आत्मिक शक्ति, मनोबल, उत्साह, साहस और प्रचण्ड पराक्रम इत्यादि। जिसमे इस प्रकार का प्रचण्ड वीर्य हो, जो वीर्य विघातक-कर्मरहित हो, वह शरीर से दुर्बल होते हुए भी युद्ध मे जीत जाता है, इसके विपरीत भीमकाय एव परिपुष्ट शरीर वाला होते हुए भी जो निर्वीर्य हो, वीर्यविघातककर्मयुक्त हो, वह हार जाता है।[1]

जीव एवं चौबीस दण्डको में सवीर्यत्व-अवीर्यत्व की प्ररूपणा—

१० जीवा ण भते ! किं सवीरिया ? अवीरिया ? गोयमा ! सवीरिया वि, अवीरिया वि। से केणट्ठेण ?

गोयमा ! जीवा दुविहा पण्णत्ता, त जहा—ससारसमावन्नगा य, असंसारसमावन्नगा य। तत्थ ण जे ते असंसारसमावन्नगा ते ण सिद्धा, सिद्धा ण अवीरिया। तत्थ ण जे ते ससारसमावन्नगा ते दुविहा पन्नता, त जहा—सेलेसिपडिवन्नगा य, असेलेसिपडिवन्नगा य। तत्थ ण जे ते सेलेसिपडिवन्नगा ते ण लद्धिवीरिएण सवीरिया, करणवीरिएण अवीरिया। तत्थ ण जे ते असेलेसिपडिवन्नगा ते ण लद्धि-वीरिएण सवीरिया, करणवीरिएण सवीरिया वि अवीरिया वि। से तेणट्ठेण गोयमा ! एव वुच्चति जीवा दुविहा पण्णत्ता; तं जहा—सवीरिया वि, अवीरिया वि।

[१०-१ प्र] भगवन् ! क्या जीव सवीर्य है अथवा अवीर्य हैं ?

[१०-१ उ] गौतम ! जीव सवीर्य भी है अवीर्य भी है।

[१०-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से आप ऐसा कहते है ?

[१०-२ उ] गौतम ! जीव दो प्रकार के है—ससारसमापन्नक (ससारी) और असंसारसमापन्नक (सिद्ध)। इनमे जो जीव असंसारसमापन्नक है, वे सिद्ध जीव है, वे अवीर्य (करण वीर्य से रहित) हैं। इनमे जो जीव ससार-समापन्नक है, वे दो प्रकार के कहे गए है, यथा—शैलेशीप्रतिपन्न और अशैलेशीप्रतिपन्न। इनमे जो शैलेशीप्रतिपन्न हैं, वे लब्धिवीर्य की अपेक्षा सवीर्य हैं और करणवीर्य की अपेक्षा अवीर्य है। जो अशैलेशीप्रतिपन्न है वे लब्धिवीर्य की अपेक्षा सवीर्य है, किन्तु करणवीर्य की

1 भगवती सूत्र अ वृत्ति पत्राक ९४

अपेक्षा सवीर्य भी है और अवीर्य भी है। जो अशैलेशीप्रतिपन्न है, वे लब्धिवीर्य की अपेक्षा अवीर्य हैं, किन्तु करणवीर्य की अपेक्षा सवीर्य भी है और अवीर्य भी है। इसलिए हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि जीव सवीर्य भी है और अवीर्य भी।

११. [१] नेरइया ण भते ! किं सवीरिया ? अवीरिया ?

गोयमा ! नेरइया लद्धिवीरिएण सवीरिया, करणवीरिएण सवीरिया वि अवीरिया वि।

से केणट्ठेण ?

गोयमा ! जेसि ण नेरइयाणअत्थि उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे ते ण नेरइया लद्धिवीरिएण वि सवीरिया, करणवीरिएण वि सवीरिया, जेसि ण नेरइयाण नत्थि उट्ठाणे जाव परक्कमे ते ण नेरइया लद्धिवीरिएण सवीरिया, करणवीरिएण अवीरिया। से तेणट्ठेण०।

[११-१ प्र] भगवन् ! क्या नारक जीव सवीर्य है या अवीर्य ?

[११-१ प्र] गौतम ! नारक जीव लब्धिवीर्य की अपेक्षा सवीर्य है और करणवीर्य की अपेक्षा सवीर्य भी है और अवीर्य भी है।

[प्र] भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

[उ ['गौतम ! जिन नैरयिको मे उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकारपराक्रम है, वे नारक लब्धिवीर्य और करणवीर्य, दोनो से सवीर्य है, और जो नारक उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम से रहित है, वे लब्धिवीर्य से सवीर्य है, किन्तु करणवीर्य से अवीर्य है। इसलिए हे गौतम ! इस कारण से पूर्वोक्त कथन किया गया है।

[२] जहा नेरइया एवं जाव पंचिदियतिरिक्खजोणिया।

[११-२] जिस प्रकार नैरयिको के विषय मे कथन किया गया है, उसी प्रकार पचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक तक के जीवो के लिए समझना चहिए।

[३] मणुस्सा जहा ओहिया जीवा। नवर सिद्धवज्जा भाणियव्वा।

[११-३] मनुष्यो के विषय मे सामान्य जीवो के समान समझना चाहिए, विशेषता यह है कि सिद्धो को छोड देना चाहिए।

[४] वाणमतर-जोतिस-वेमाणिया जहा नेरइया।

सेव भते ! सेव भते ! त्ति०।

॥ पढमसए अट्ठमो उद्देसो समत्तो ॥

[११-४] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो के विषय मे नैरयिको के समान कथन समझना चाहिए।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यह इसी प्रकार है, यो कह कर श्री गौतमस्वामी सयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।[1]

विवेचन—जीवो के सवीर्यत्व-अवीर्यत्व सम्बन्धी प्ररूपण—प्रस्तुत दो सूत्रो मे सामान्य जीवो तथा नैरयिक आदि से लेकर वैमानिक तक चौबीस दण्डको के जीवो के सवीर्य-अवीर्य सम्बन्धी निरूपण किया गया है।

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ९५

अनन्तवीर्य सिद्ध अवीर्य कैसे ?—सिद्धो मे सकरणवीर्य के अभाव की अपेक्षा मे उन्हे अवीर्य कहा गया है, क्योकि सिद्ध कृतकृत्य है, उन्हे किसी प्रकार का पुरुषार्थ करना शेप नही है। अकरण-वीर्य की अपेक्षा से सिद्ध सवीर्य (अनन्तवीर्य) है ही।

शैलेशी शब्द की व्याख्याएँ—(१) शीलेश का अर्थ है—सर्वसवररूपचारित्र मे समर्थ (प्रभु)। उसकी यह अवस्था (२) अथवा शैलेश-मेरुपर्वत, उसकी तरह निष्कम्प-स्थिर अवस्था (३) अथवा सैल (शैल)+इसी (ऋषि)=शैल की तरह चारित्र मे अविचल ऋषि की अवस्था, (४) सेऽलेसी=सालेश्यी=लेश्यारहित स्थिति।[1]

॥ प्रथमशतक अष्टम उद्देशक समाप्त ॥

---

१ विशेषावश्यक भाष्य गाथा ३६६३-६४ पृ ७२८

नवमो उद्देसओ : गरुए

नवम उद्देशक : गुरुक

जीवों के गुरुत्व—लघुत्वादि की प्ररूपणा—

१. कह ण भते ! जीवा गरुयत्त हव्वमागच्छंति ?

गोयमा ! पाणातिवातेण मुसावादेण अदिण्णा० मेहुण० परिग्ग० कोह० माण० माया० लोभ० पेज्ज० दोस० कलह० अब्भक्खाण० पेसुन्न० रति-अरति० परपरिवाय० मायामोस० मिच्छादसणसल्लेण, एव खलु गोयमा ! जीवा गरुयत्त हव्वमागच्छंति ।

[१ प्र] भगवन् ! जीव, किस प्रकार शीघ्र गुरुत्व (भारीपन) को प्राप्त होते है ?

[१ उ] गौतम ! प्राणातिपात से, मृषावाद से, अदत्तादान से, मैथुन से, परिग्रह से, क्रोध से, मान से, माया से, लोभ से, प्रेय (राग) से, द्वेष से, कलह से, अभ्याख्यान से, पैशुन्य से, रति—अरति से, परपरिवाद [परनिन्दा] से, मायामृषा से और मिथ्यादर्शनशल्य से, इस प्रकार हे गौतम ! (इन अठारह ही पापस्थानो का सेवन करने से) जीव शीघ्र गुरुत्व को प्राप्त होते है ।

२ कह ण भते ! जीवा लहुयत्त हव्वमगच्छंति ?

गोयमा ! पाणातिवातवेरमणेण जाव मिच्छादसणसल्लवेरमणेण, एव खलु गोयमा ! जीवा लहुयत्त हव्वमागच्छंति ।

[२ प्र] भगवन् ! जीव किस प्रकार शीघ्र लघुत्व (लघुता=हल्केपन) को प्राप्त करते हैं ?

[२ उ] गौतम ! प्राणातिपात से विरत होने से यावत् मिथ्यादर्शनशल्य से विरत होने से जीव शीघ्र लघुत्व को प्राप्त होते हैं ।

३ एव आकुलीकरेंति,[1] एव परित्तीकरेंति । एव दीहीकरेंति, एव हस्सीकरेंति । एव अणुपरियट्टंति, एव वीतीवयंति । पसत्था चत्तारि । अप्पसत्था चत्तारि ।

[३] इस प्रकार जीव प्राणातिपात आदि पापो का सेवन करने से ससार को (कर्मो से) बढाते (प्रचुर करते) है, दीर्घकालीन करते है, और बार-बार भव-भ्रमण करते है, तथा प्राणातिपति आदि पापो से निवृत्त होने से जीव ससार को परिमित (परित्त) करते (घटाते) हैं, अल्पकालीन (छोटा) करते है, और ससार को लाघ जाते हैं । उनमे से चार (लघुत्व, ससार का परित्तीकरण, ह्रस्वीकरण एव व्यतिक्रमण) प्रशस्त हैं, और चार (गुरुत्व, ससार का वृद्धीकरण (प्रचुरीकरण), दीर्घीकरण, एव (पुन पुन भव-भ्रमण) अप्रशस्त हैं ।

---

१ आकुलीकरेंति = प्रचुरीकुर्वन्ति कर्मभि । परित्तीकरेंति = स्तोककुर्वन्ति कर्मभिरेव । दीहीकरेंति = दीर्घं प्रचुरकाल कुर्वन्तीत्यर्थं । हस्सीकरेंति = अल्पकाल कुर्वन्ति । अणुपरियट्टंति = पौन पुन्येन भ्रमन्ति । विइवयंति = व्यतिव्रजन्ति—व्यतिक्रामन्ति ।

विवेचन—जीवो का गुरुत्व-लघुत्व—प्रस्तुत त्रिसूत्री मे जीवो के गुरुत्व-लघुत्व के कारण अष्टादशपापसेवन तथा अष्टादशपाप-विरमण को बताकर साथ ही लघुत्व आदि चार की प्रशस्तता एव गुरुत्व आदि चार की अप्रशस्तता भी प्रतिपादित की गई है।

चार प्रशस्त और चार अप्रशस्त क्यो?—इन आठो मे से लघुत्व, परीतत्व ह्रस्वत्व और व्यतिव्रजन, ये चार दण्डक प्रशस्त है, क्योकि ये मोक्षाग है, तथा गुरुत्व, आकुलत्व, दीर्घत्व और अनुपरिवर्तन, ये चार दण्डक अप्रशस्त है, क्योकि ये अमोक्षाग (ससाराग) है।[1]

पदार्थों के गुरुत्व-लघुत्व आदि की प्ररूपणा—

४ सत्तमे ण भंते ! ओवासतरे किं गरुए, लहुए, गरुयलहुए, अगरुयलहुए ?

गोयमा ! नो गरुए, नो लहुए, नो गरुयलहुए, अगरुयलहुए।

[४ प्र] भगवन् ! क्या सातवाँ अवकाशान्तर गुरु है, अथवा वह लघु है, या गुरुलघु है, अथवा अगुरुलघु है ?

[४ उ] गौतम ! वह गुरु नही है, लघु नही है, गुरु-लघु नही है, किन्तु अगुरुलघु है।

५ [१] सत्तमे ण भंते ! तणुवाते किं गरुए, लहुए, गरुयलहुए, अगरुयलहुए ?

गोयमा ! नो गरुए, नो लहुए, गरुयलहुए, नो अगरुयलहुए।

[५-१ प्र] भगवन् ! सप्तम तनुवात क्या गुरु है, लघु है या गुरुलघु है अथवा अगुरुलघु है ?

[५-१ उ] गौतम ! वह गुरु नही है, लघु नही है, किन्तु गुरु-लघु है, अगुरुलघु नही है।

[२] एव सत्तमे घणवाए, सत्तमे घणोदही, सत्तमा पुढवी।

[५-२] इस प्रकार सप्तम-घनवात, सप्तम घनोदधि और सप्तम पृथ्वी के विषय मे भी जानना चाहिए।

[३] ओवासतराइं सव्वाइं जहा सत्तमे ओवासतरे (सु ४)।

[५-३] जैसा सातवे अवकाशान्तर के विषय मे कहा है, वैसा ही सभी अवकाशान्तरो के विषय मे समझना चाहिए।

[४] [सेसा] जहा तणुवाए। एव—ओवास वाय घणउदहि पुढवी दीवा य सागरा वासा।

[५-४] तनुवात के विषय मे जैसा कहा है, वैसा ही सभी घनवात, घनोदधि, पृथ्वी, द्वीप, समुद्र और क्षेत्रो के विषय मे भी जानना चाहिए।

६ [१] नेरइया ण भंते ! किं गरुया जाव अगरुयलहुया ?

गोयमा ! नो गरुया, नो लहुया, गरुयलहुया वि, अगरुयलहुया वि।

[६-१ प्र] भगवन् ! नारक जीव गुरु हैं, लघु है, गुरु-लघु है या अगुरुलघु है ?

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति पत्राक ९६

[६-१ उ] गौतम ! नारक जीव गुरु नही है, लघु नही, किन्तु गुरुलघु हे और अगुरुलघु भी है।

[२] से केणट्ठेण ?

गोयमा। वेउव्विय-तेयाइ पडुच्च नो गरुया, नो लहुया, गरुयलहुया, नो अगुरुयलहुया जीव च कम्मण च पडुच्च नो गरुया, नो लहुया, नो गरुयलहुया, अगरुयलहुया। सेतेणट्ठेणं०।

[६-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[६-२ उ] गौतम ! वैक्रिय और तैजस शरीर की अपेक्षा नारक जीव गुरु नही है, लघु नही है, अगुरुलघु भी नही है, किन्तु गुरु-लघु है। किन्तु जीव और कार्मणशरीर की अपेक्षा नारक जीव गुरु नही है, लघु भी नही हैं, गुरु-लघु भी नही है, किन्तु अगुरुलघु है। इस कारण हे गौतम ! पूर्वोक्त कथन किया गया है।

[३] एव जाव वेमाणिया। नवर णाणत्तं जाणियव्व सरीरेहिं।

[६-३] इसी प्रकार वैमानिको (अन्तिम दण्डक) तक जानना चाहिए, किन्तु विशेष यह है कि शरीरो मे भिन्नता कहना चाहिए।

७. धम्मत्थिकाये जाव जीवत्थिकाये चउत्थपदेण।

[७] धर्मास्तिकाय से लेकर यावत् (अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और) जीवास्तिकाय तक चौथे पद से (अगुरुलघु) जानना चाहिए।

८ पोग्गलत्थिकाए ण भते ! किं गरुए, लहुए, गरुयलहुए, अगरुयलहुए ?

गोयमा ! णो गरुए, नो लहुए, गरुयलहुए वि, अगरुयलहुए वि।

से केणट्ठेण ?

गोयमा ! गरुयलहुयदव्वाइं पडुच्च नो गरुए, नो लहुए, गरुयलहुए, नो अगरुयलहुए। अगरुयलहुयदव्वाइं पडुच्च नो गरुए, नो लहुए, नो गरुयलहुए, अगरुयलहुए।

[८ प्र] भगवन् ! पुद्गलास्तिकाय क्या गुरु है, लघु है, गुरुलघु है अथवा अगुरुलघु है ?

[८ उ] गौतम ! पुद्गलास्तिकाय न गुरु है, न लघु है, किन्तु गुरुलघु है और अगुरुलघु भी है।

[प्र] भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

[उ] गौतम ! गुरुलघु द्रव्यो की अपेक्षा पुद्गलास्तिकाय गुरु नही है, लघु नही है, किन्तु गुरुलघु है, अगुरुलघु नही है। अगुरुलघु द्रव्यो की अपेक्षा पुद्गलास्तिकाय गुरु नही, लघु नही है, न गुरु-लघु है, किन्तु अगुरुलघु है।

९. समया कम्माणि य चउत्थपदेण।

[९] समयो और कर्मों (कार्मण शरीर) को चौथे पद से जानना चाहिए अर्थात्—समय और कार्मण शरीर अगुरुलघु हैं।

१०. [१] कण्हलेसा ण भते ! किं गरुया, जाव अगरुयलहुया ?

गोयमा ! नो गरुया, नो लहुया, गरुयलहुया वि, अगरुयलहुया वि।

[१०-१ प्र] भगवन् ! कृष्णलेश्या क्या गुरु है, लघु है ? या गुरुलघु है अथवा अगुरुलघु है?

[१०-१ उ] गौतम ! कृष्णलेश्या गुरु नही है, लघु नहीं है, किन्तु गुरुलघु है और अगुरुलघु भी है।

[२] से केणट्ठेण ?

गोयमा ! दव्वलेसं पडुच्च ततियपदेण, भावलेसं पडुच्च चउत्थपदेण ।

[१०-२ प्र] भगवन् ! ऐसा कहने का क्या कारण है ?

[१०-२ उ] गौतम ! द्रव्यलेश्या की अपेक्षा तृतीय पद से (अर्थात्—गुरुलघु) जानना चाहिए, और भावलेश्या की अपेक्षा चौथे पद से (अर्थात् अगुरुलघु) जानना चाहिए।

[३] एव जाव सुक्कलेसा ।

[१०-३] इसी प्रकार शुक्ललेश्या तक जानना चाहिए।

११. दिट्ठी-दसण-नाण-अण्णाण-सण्णाओ चउत्थपदेण णेतव्वाओ ।

[११] दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, अज्ञान और सज्ञा को भी चतुर्थ पद मे (अगुरुलघु) जानना चाहिए।

१२ हेट्ठिल्ला चत्तारि सरीरा नेयव्वा ततियएण पदेण । कम्मय चउत्थएण पदेण ।

[१२] आदि के चारो शरीरो—औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस शरीर—को तृतीय पद से (गुरुलघु) जानना चाहिए, तथा कार्मण शरीर को चतुर्थ पद से (अगुरुलघु) जानना चाहिए।

१३. मणजोगो वइजोगो चउत्थएणं पदेण । कायजोगो ततिएण पदेण ।

[१३] मनोयोग और वचनयोग को चतुर्थ पद से (अगुरुलघु) और काययोग को तृतीय पद से (गुरुलघु) जानना चाहिए।

१४. सागारोवओगो अणागारोवओगो चउत्थएण पदेण ।

[१४] साकारोपयोग और अनाकारोपयोग को चतुर्थ पद से जानना चाहिए।

१५ सव्वदव्वा सव्वपदेसा सव्वपज्जवा जहा पोग्गलत्थिकाओ (सु ८) ।

[१५] सर्वद्रव्य, सर्वप्रदेश और सर्वपर्याय पुद्गलास्तिकाय के समान समझना चाहिए।

१६ तीतद्धा अणागतद्धा सव्वद्धा चउत्थेण पदेणं ।

[१६] अतीतकाल, अनागत (भविष्य) काल और सर्वकाल चौथे पद से अर्थात् अगुरुलघु जानना चाहिए।

विवेचन—पदार्थो की गुरुता-लघुता आदि का चतुर्भंग की अपेक्षा से विचार—प्रस्तुत तेरह सूत्रो (सू. ४ से १६ तक) मे अवकाशान्तर, घनवात, तनुवात आदि विविध पदार्थो तथा चौबीस दण्डक के जीवो, धर्मास्तिकाय आदि पचास्तिकाय, लेश्या आदि की दृष्टि से गुरुता, लघुता, गुरुलघुता और अगुरुलघुता का विचार प्रस्तुत किया गया है।

गुरु-लघु आदि की व्याख्या—गुरु का अर्थ है—भारी। भारी वह वस्तु होती है, जो पानी पर रखने से डूब जाती है, जैसे—पत्थर आदि। लघु का अर्थ है—हल्की। हल्की वह वस्तु है, जो पानी

पर रखने से नही डूबती बल्कि ऊर्ध्वगामी हो, जैसे—लकडी आदि। तिरछी जाने वाली वस्तु गुरु-लघु है। जैसे—वायु। सभी अरूपी द्रव्य अगुरुलघु है, जैसे—आकाश आदि। तथा कार्मणपुद्गल आदि कोई-कोई रूपी पुद्गल चतु स्पर्शी (चौफरसी) पुद्गल भी अगुरुलघु होते है। अष्टस्पर्शी (अठफरसी) पुद्गल गुरु-लघु होते है। यह सब व्यवहारनय की अपेक्षा से है। निश्चयनय की अपेक्षा से कोई भी द्रव्य एकान्तगुरु या एकान्तलघु नही है। व्यवहारनय की अपेक्षा से बादरस्कन्धो मे भारीपन या हल्कापन होता है, अन्य किसी स्कन्ध मे नही।

निष्कर्ष निश्चयनय से अमूर्त और सूक्ष्म चतु स्पर्शी पुद्गल अगुरुलघु है। इनके सिवाय शेष पदार्थ गुरुलघु है। प्रथम और द्वितीय भग शून्य है। ये किसी भी पदार्थ मे नही पाये जाते। हाँ, व्यवहारनय से चारो भग पाये जाते है।

अवकाशान्तर—चौदह राजू परिमाण पुरुषाकार लोक मे नीचे की ओर ७ पृथ्वियाँ (नरक) है। प्रथम पृथ्वी के नीचे घनोदधि, उसके नीचे घनवात, उनके नीचे तनुवात है, और तनुवात के नीचे आकाश है। इसी क्रम से सातो नरकपृथ्वियो के नीचे ७ आकाश हैं, इन्हे ही अवकाशान्तर कहते हैं। ये अवकाशान्तर आकाशरूप होने से अगुरुलघु है।[1]

श्रमणनिर्ग्रन्थो के लिए प्रशस्त तथा अन्तकर—

१७. से नूण भते ! लाघविय अप्पिच्छा अमुच्छा अगेही अपडिबद्धता समणाण णिग्गथाण पसत्थ ?

हता, गोयमा ! लाघविय जाव पसत्थ।

[१७ प्र] भगवन् ! क्या लाघव, अल्प इच्छा, अमूर्च्छा, अनासक्ति (अगृद्धि) और अप्रतिबद्धता, ये श्रमणनिर्ग्रन्थो के लिए प्रशस्त है ?

[१७ उ] हाँ गौतम ! लाघव यावत् अप्रतिबद्धता प्रशस्त है।

१८ से नूण भते ! अकोहत्त अमाणत्त अमायत्त अलोभत्त समणाण निग्गथाण पसत्थ ?

हता, गोयमा ! अकोहत्त जाव पसत्थ।

[१८ प्र] भगवन् ! क्रोधरहितता, मानरहितता, मायारहितता और अलोभत्व, क्या ये श्रमणनिर्ग्रन्थो के लिए प्रशस्त है ?

[१८ उ] हाँ गौतम ! क्रोधरहितता यावत् अलोभत्व, ये सब श्रमणनिर्ग्रन्थो के लिए प्रशस्त है।

१९ से नूण भते ! कखा-पदोसे खीणे समणे निग्गथे अतकरे भवति, अतिमसरीरिए वा, बहुमोहे वि य ण पुव्वि विहरित्ता अह पच्छा सवुडे काल करेति तओ पच्छा सिज्झति ३ जाव अतं करेइ ?

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति पत्राक ९६, ९७

(ख) णिच्छयओ सव्वगुरु, सव्वलहु वा ण विज्जए दव्व।
ववहारओ उ जुज्जइ, बायरखधेसु ण अण्णेसु ॥ १ ॥
अगुरुलहू चउप्फासा, अरूविदव्वा य होति णायव्वा।
सेसाओ अट्ठफासा, गुरुलहुया णिच्छयणयस्स ॥ २ ॥

हंता गोयमा ! कखा-पदोसे खीणे जाव अंत करेति ।

[१९ प्र] भगवन् ! क्या कांक्षाप्रदोष क्षीण होने पर श्रमणनिर्ग्रन्थ अन्तकर अथवा अन्तिम (चरम) शरीरी होता है ? अथवा पूर्वावस्था मे बहुत मोह वाला होकर विहरण करे और फिर संवृत (संवरयुक्त) होकर मृत्यु प्राप्त करे, तो क्या तत्पश्चात् वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है, यावत् सब दु खो का अन्त करता है ?

[१९ उ] हाँ, गौतम ! कांक्षाप्रदोष नष्ट हो जाने पर यावत् सब दु खों का अन्त करता है।

विवेचन—श्रमण निर्ग्रन्थो के लिए प्रशस्त तथा अन्तकर—प्रस्तुत तीन सूत्रो (१७ से १९ तक) मे से दो सूत्रो मे लाघव आदि श्रमणगुणो को श्रमणनिर्ग्रन्थो के लिए प्रशस्त बताया है, शेष तृतीय सूत्र मे कांक्षाप्रदोषक्षीणता एव संवृतता से सिद्ध, बुद्ध, मुक्त एव सर्वदु खो का अन्तकर होने का निर्देश किया गया है।

लाघव आदि पदो के अर्थ—लाघव—शास्त्रमर्यादा से भी अल्प उपधि रखना। अल्पेच्छा—आहारादि मे अल्प अभिलाषा रखना। अमूर्च्छा—अपने पास रही हुई उपधि मे भी ममत्व (संरक्षणानुबन्ध) न रखना। अगृद्धि—आसक्ति का अभाव। अर्थात्—भोजनादि के परिभोगकाल मे अनासक्ति रखना। अप्रतिबद्धता—स्वजनादि या द्रव्य-क्षेत्रादि मे स्नेह या राग के बन्धन को काट डालना। कांक्षाप्रदोष—अन्यदर्शनो का आग्रह-आसक्ति, अथवा राग और प्रद्वेष। इसका दूसरा नाम कांक्षाप्रद्वेष भी है। जिसका आशय है—जिस बात को पकड रखा है, उससे विरुद्ध या भिन्न बात पर द्वेष होना।[1]

आयुष्यबन्ध के सम्बन्ध में अन्यमतीय एवं भगवदीय प्ररूपणा—

२०. अन्नउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति एवं भासेंति एवं पण्णवेंति एवं परूवेंति—"एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो आउयाइं पगरेति, तं जहा—इहभवियाउयं च, परभवियाउयं च। जं समयं इहभवियाउगं पकरेति तं समयं परभवियाउगं पकरेति, जं समयं परभवियाउगं पकरेति तं समयं इहभवियाउगं पकरेइ; इहभवियाउगस्स पकरणयाए परभवियाउगं पकरेइ, परभवियाउगस्स पगरणताए इहभवियाउयं पकरेति। एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो आउयाइं पकरेति, तं०—इहभवियाउयं च, परभवियाउयं च।" से कहमेतं भंते ! एवं ?

गोयमा ! जं णं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति जाव परभवियाउयं च। जे ते एवमाहंसु मिच्छं ते एवमाहंसु। अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि—एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं आउगं पकरेति, तं जहा—इहभवियाउयं वा, परभवियाउयं वा, जं समयं इहभवियाउयं पकरेति णो तं समयं परभवियाउयं पकरेति, जं समयं परभवियाउयं पकरेइ णो तं समयं इहभवियाउयं पकरेइ, इहभवियाउयस्स पकरणताए णो परभवियाउयं पकरेति, परभवियाउयस्स पकरणताए णो इहभवियाउयं पकरेति। एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं आउयं पकरेति, तं०—इहभवियाउयं वा, परभवियाउयं वा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं गोयमे जाव विहरति।

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति पत्रांक ९७

[२० प्र] भगवन् ! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते है, इस प्रकार विशेषरूप से कहते है, इस प्रकार बताते है, और इस प्रकार की प्ररूपणा करते है कि एक जीव एक समय मे दो आयुष्य करता (बांधता) है। वह इस प्रकार—इस भव का आयुष्य और परभव का आयुष्य। जिस समय इस भव का आयुष्य करता है, उस समय परभव का आयुष्य करता है और जिस समय परभव का आयुष्य करता है, उस समय इहभव का आयुष्य करता है। इस भव का आयुष्य करने मे परभव का आयुष्य करता है और परभव का आयुष्य करने से इस भव का आयुष्य करता है। इस प्रकार एक जीव एक समय मे दो आयुष्य करता है—इस भव का आयुष्य और परभव का आयुष्य। भगवन् ! क्या यह इसी प्रकार है ?

[२० उ] गौतम ! अन्यतीर्थिक जो इस प्रकार कहते हैं, यावत् इस भव का आयुष्य और परभव का आयुष्य (करता है), उन्होने जो ऐसा कहा है, वह मिथ्या कहा है। हे गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूँ, यावत् प्ररूपणा करता हूँ कि—एक जीव एक समय मे एक आयुष्य करता है और वह या तो इस भव का आयुष्य करता है अथवा परभव का आयुष्य करता है। जिस समय इस भव का आयुष्य करता है, उस समय परभव का आयुष्य नही करता और जिस समय परभव का आयुष्य करता है, उस समय इस भव का आयुष्य नही करता। तथा इस भव का आयुष्य करने से परभव का आयुष्य और परभव का आयुष्य करने से इस भव का आयुष्य नही करता। इस प्रकार एक जीव एक समय मे एक आयुष्य करता है—इस भव का आयुष्य अथवा परभव का आयुष्य।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' ऐसा कहकर भगवान् गौतम स्वामी यावत् विचरते है।

विवेचन—आयुष्यबन्ध के सम्बन्ध मे अन्यमतीय एवं भगवदीय प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र मे अन्य-मतमान्य आयुष्यबन्ध की प्ररूपणा प्रस्तुत करके भगवान् के द्वारा प्रतिपादित सैद्धान्तिक प्ररूपणा प्रदर्शित की गई है।

आयुष्य करने का अर्थ—यहाँ आयुष्य बाँधना है।

दो आयुष्यबन्ध क्यो नहीं ?—यद्यपि आयुष्यबन्ध के समय जीव इस भव के आयुष्य को वेदता है, और परभव के आयुष्य को बाधता है, किन्तु उत्पन्न होते ही या इसी भव मे एक साथ दो आयुष्यो का बध नही करता, अन्यथा, इस भव मे किये जाने वाले दान-धर्म आदि सब व्यर्थ हो जाएँगे।[1]

पार्श्वापत्यीय कालास्यवेषिपुत्र का स्थविरों द्वारा समाधान और हृदयपरिवर्तन—

२१ [१] तेण कालेण तेण समएणं पासावच्चिज्जे कालासवेसियपुत्ते णाम अणगारे जेणेव थेरा भगवतो तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता थेरे भगवते एव वयासी—थेरा सामाइय ण जाणति, थेरा सामाइयस्स अट्ठ ण याणति, थेरा पच्चक्खाण ण याणति, थेरा पच्चक्खाणस्स अट्ठं ण याणति, थेरा सजम ण याणति, थेरा सजमस्स अट्ठ ण याणति, थेरा संवर ण याणति, थेरा सवरस्स अट्ठं ण याणति, थेरा विवेगं ण याणति, थेरा विवेगस्स अट्ठ ण याणति, थेरा विउस्सग्ग ण याणति, थेरा विउस्सग्गस्स अट्ठ ण याणति।

---

१ भगवती सूत्र, अ वृत्ति पत्राक ९८, ९९

[२१-१] उस काल (भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण के लगभग २५० वर्ष पश्चात्) और उस समय (भगवान् महावीर के शासनकाल) मे पार्श्वापत्यीय (पार्श्वनाथ की परम्परा के शिष्यानुशिष्य) कालास्यवेपिपुत्र नामक अनगार जहाँ (भगवान् महावीर के) स्थविर (श्रुतवृद्ध शिष्य) भगवान् विराजमान थे, वहाँ गए। उनके पास आकर स्थविर भगवन्तो से उन्होंने इस प्रकार कहा—"हे स्थविरो! आप सामायिक को नही जानते, सामायिक के अर्थ को नही जानते, आप प्रत्याख्यान को नही जानते और प्रत्याख्यान के अर्थ को नही जानते, आप सयम को नही जानते और सयम के अर्थ को नही जानते, आप सवर को नही जानते, सवर के अर्थ को नही जानते, हे स्थविरो! आप विवेक को नही जानते और विवेक के अर्थ को नही जानते है, तथा आप व्युत्सर्ग को नही जानते और न व्युत्सर्ग के अर्थ को जानते है।"

[२] तए ण ते थेरा भगवतो कालासवेसियपुत्त अणगार एव वयासी—जाणामो ण अज्जो! सामाइय, जाणामो ण अज्जो! सामाइयस्स अट्ठ जाव जाणामो ण अज्जो! विउस्सग्गस्स अट्ठ।

[२१-२] तव उन स्थविर भगवन्तो ने कालास्यवेपिपुत्र अनगार से इस प्रकार कहा—"हे आर्य! हम सामायिक को जानते है, सामायिक के अर्थ को भी जानते है, यावत् हम व्युत्सर्ग को जानते हैं और व्युत्सर्ग के अर्थ को भी जानते है।

[३] तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे ते थेरे भगवते एव वयासी—जति ण अज्जो! तुब्भे जाणह सामाइयं, जाणह सामाइयस्स अट्ठ जाव जाणह विउस्सग्गस्स अट्ठ कि मे अज्जो! सामाइए? कि से अज्जो! सामाइयस्स अट्ठे? जाव कि मे विउस्सग्गस्स अट्ठे?

[२१-३ प्र] उसके पश्चात् कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने उन स्थविर भगवन्तो से इस प्रकार कहा—हे आर्यो! यदि आप सामायिक को (जानते है) और सामायिक के अर्थ को जानते हैं, यावत्-व्युत्सर्ग को एव व्युत्सर्ग के अर्थ को जानते है, तो वतलाइये कि (आपके मतानुसार) सामायिक क्या है और सामायिक का अर्थ क्या है? यावत् . व्युत्सर्ग क्या है और व्युत्सर्ग का अर्थ क्या है?

[४] तए ण ते थेरा भगवतो कालासवेसियपुत्त अणगार एव वयासी—आया णे अज्जो! सामाइए, आया णे अज्जो! सामाइयस्स अट्ठे जाव विउस्सग्गस्स अट्ठे।

[२१-४ उ] तब उन स्थविर भगवन्तो ने इस प्रकार कहा कि—हे आर्य! हमारी आत्मा सामायिक है, हमारी आत्मा सामायिक का अर्थ है, यावत् हमारी आत्मा व्युत्सर्ग है, हमारी आत्मा ही व्युत्सर्ग का अर्थ है।

[५] तए ण से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवते एव वयासी—जति मे अज्जो! आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे एव जाव आया विउस्सग्गस्स अट्ठे, अवहट्टु कोह-माण-माया-लोमे किमट्ठं अज्जो! गरहह?

कालास०! सजमट्ठयाए।

[२१-५ प्र] इस पर कालास्यवेषिपुत्र, अनगार ने उन स्थविर भगवन्तो से इस प्रकार पूछा—'हे आर्यो! यदि आत्मा ही सामायिक है, आत्मा ही सामायिक का अर्थ है, और इसी प्रकार यावत्

आत्मा ही व्युत्सर्ग है तथा आत्मा ही व्युत्सर्ग का अर्थ है, तो आप क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करके क्रोधादि की गर्हा—निन्दा क्यो करते है ?'

[२१-५ उ] हे कालास्यवेषिपुत्र ! हम सयम के लिए क्रोध आदि की गर्हा करते है।

[६] से भंते ! किं गरहा सजमे ? अगरहा सजमे ?

कालास० ! गरहा सजमे, नो अगरहा सजमे, गरहा वि य ण सव्व दोस पविणेति, सव्वं बालिय परिण्णाए एव खु णे आया सजमे उवहिते भवति, एव खु णे आया सजमे उवचिते भवति, एव खु णे आया सजमे उवट्ठिते भवति।

[२१-६ प्र] तो 'हे भगवन् ! क्या गर्हा (करना) सयम है या अगर्हा (करना) सयम है ?'

[२१-६ उ] हे कालास्यवेषिपुत्र ! गर्हा (पापो की निन्दा) सयम है, अगर्हा सयम नही है। गर्हा सब दोषो को दूर करती है—आत्मा समस्त मिथ्यात्व को जान कर गर्हा द्वारा दोषनिवारण करता है। इस प्रकार हमारी आत्मा सयम मे पुष्ट होती हे, और इसी प्रकार हमारी आत्मा सयम मे उपस्थित होती है।

२२ [१] एत्थ ण से कालासवेसियपुत्ते अणगारे सबुद्धे थेरे भगवते वदति णमसति, २ एव वयासी—एतेसि ण भंते ! पदाण पुव्विं अण्णाणयाए असवणयाए अबोहीए अणभिगमेण अदिट्ठाण अस्सुताण अमुताण अविण्णायाण अव्वोगडाण अव्वोच्छिन्नाण अणिज्जूढाण अणुवधारिताण एतमट्ठं णो सद्दहिते, णो पत्तिए, णो रोइए। इदाणिं भंते ! एतेसि पदाण जाणताए सवणताए बोहीए अभिगमेण दिट्ठाण सुताण मुयाण विण्णाताण वोगडाण वोच्छिन्नाण णिज्जूढाण उवधारिताण एतमट्ठं सद्दहामि, पत्तियामि, रोएमि। एवमेत से जहेय तुब्भे वदह।

[२२-१] (स्थविर भगवन्तो का उत्तर सुनकर) वह कालास्यवेषिपुत्र अनगार बोध को प्राप्त हुए और उन्होने स्थविर भगवन्तो को वन्दना की, नमस्कार किया, वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—'हे भगवन् ! इन (पूर्वोक्त) पदो को न जानने से, पहले सुने हुए न होने से, बोध न होने से अभिगम (ज्ञान) न होने से, दृष्ट न होने से, विचारित (सोचे हुए) न होने से, सुने हुए न होने से, विशेषरूप से न जानने से, कहे हुए न होने से, अनिर्णीत होने से, उद्धृत न होने से, और ये पद अवधारण किये हुए न होने से इस अर्थ मे श्रद्धा नही की थी, प्रतीति नही की थी, रुचि नही की थी, किन्तु भगवन् ! अब इन (पदो) को जान लेने से, सुन लेने से, बोध होने से, अभिगम होने से, दृष्ट होने से, चिन्तित (चिन्तन किये हुए) होने से, श्रुत (सुने हुए) होने से, विशेष जान लेने से, (आपके द्वारा) कथित होने से, निर्णीत होने से, उद्धृत होने से और इन पदो का अवधारण करने से इस अर्थ (कथन) पर मैं श्रद्धा करता हूँ, प्रतीति करता हूँ, रुचि करता हूँ, हे भगवन् ! आप जो यह कहते हैं, वह यथार्थ है, वह इसी प्रकार है।'

[२] तए ण ते थेरा भगवतो कालासवेसियपुत्त अणगार एव वयासी—सद्दहाहि अज्जो ! पत्तियाहि अज्जो ! रोएहि अज्जो ! से जहेत अम्हे वदामो।

[२२-२] तब उन स्थविर भगवन्तो ने कालास्यवेषिपुत्र अनगार से इस प्रकार कहा—'हे आर्य ! हम जैसा कहते हैं उस पर वैसी ही श्रद्धा करो, आर्य ! उस पर प्रतीति करो, आर्य ! उसमे रुचि रखो।'

२३. [१] तए ण से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवते वदइ नमसइ, २ एव वदासी—इच्छामि ण भते ! तुब्भ अतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पचमहव्वइय सपडिक्कमण धम्म उवसपजित्ताण विहरित्तए।

अहासुह देवाणुप्पिया ! मा पडिबध करेह।

[२३-१] तत्पश्चात् कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने उन स्थविर भगवन्तो को वन्दना की, नमस्कार किया, और तब वह इस प्रकार बोले—'हे भगवन् ! पहले मैंने (भ० पार्श्वनाथ का) चातुर्याम-धर्म स्वीकार किया है, अब मैं आपके पास प्रतिक्रमणसहित पचमहाव्रतरूप धर्म स्वीकार करके विचरण करना चाहता हूँ।'

(स्थविर—) 'हे देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हे सुख हो, वैसे करो। परन्तु (इस शुभकार्य मे) विलम्ब (प्रतिबन्ध) न करो।'

[२] तए ण से कालसवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवते वदइ नमसइ, वदित्ता, नमसित्ता चाउज्जामाओ धम्माओ पचमहव्वइय सपडिक्कमण धम्म उवसपज्जित्ताण विहरइ।

[२३-२] तदनन्तर कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने स्थविर भगवन्तो को वन्दना की, नमस्कार किया, और फिर चातुर्याम धर्म के स्थान पर प्रतिक्रमणसहित पचमहाव्रत वाला धर्म स्वीकार किया और विचरण करने लगे।

२४ तए ण से कालासवेसियपुत्ते अणगारे बहूणि वासाणि सामण्णपरियाग पाउणइ, २ जस्सट्ठाए कीरति नग्गभावे मुण्डभावे अण्हाणय अदतधुवणय अच्छत्तय अणोवाहणय भूमिसेज्जा फलगसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोओ बभचेरवासो परघरपवेसो लद्धावलद्धी, उच्चावया गामकटगा बावीस परिसहोवसग्गा अहियासिज्जति तमट्ठ आराहेइ, २ चरमेहिं उस्सास-नोसासेहिं सिद्धे बुद्धे मुक्के परिनिव्वुडे सव्वदुक्खप्पहीणे।

[२४] इसके पश्चात् कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने बहुत वर्षो तक श्रमणपर्याय (साधुत्व) का पालन किया और जिस प्रयोजन से नग्नभाव, मुण्डभाव, अस्नान, अदन्तधावन, छत्रवर्जन, पैरो मे जूते न पहनना, भूमिशयन, फलक (पट्टे) पर शय्या, काष्ठ पर शयन, केशलोच, ब्रह्मचर्यवास, भिक्षार्थ गृहस्थो के घरो मे प्रवेश, लाभ और अलाभ (सहना) (अभीष्ट भिक्षा प्राप्त होने पर हर्षित न होना और भिक्षा न मिलने पर खिन्न न होना), अनुकूल और प्रतिकूल, इन्द्रियसमूह के लिए कण्टकसम चुभने वाले कठोर शब्दादि इत्यादि २२ परीषहो को सहन करना, इन सब (साधनाओ) का स्वीकार किया, उस अभीष्ट प्रयोजन की सम्यक्रूप से आराधना की। और वह अन्तिम उच्छ्वास-नि श्वास द्वारा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए और समस्त दु खो से रहित हुए।

विवेचन—पार्श्वापत्यीय कालास्यवेषिपुत्र का स्थविरो द्वारा समाधान और हृदय-परिवर्तन— प्रस्तुत चार सूत्रो मे पार्श्वनाथ भगवान् के शिष्यानुशिष्य कालास्यवेषिपुत्र अनगार द्वारा भगवान् महावीर के श्रुतस्थविर शिष्यो से सामायिक, प्रत्याख्यान, सयम, सवर, विवेक और व्युत्सर्ग एव इनके अर्थो के सम्बन्ध मे की गई शकाओ का समाधान एव अन्त मे कृतज्ञता-प्रकाशपूर्वक विनयसहित सप्रतिक्रमण पचमहाव्रत धर्म के स्वीकार का वर्णन है।

'**कट्ठसेज्जा**' के तीन अर्थ—काष्ठशय्या, कष्टशय्या, अथवा अमनोज्ञवसति।

स्थविरो के उत्तर का विश्लेषण—स्थविरो का उत्तर निश्चयनय की दृष्टि से है। गुण और गुणी मे तादात्म्य—अभेदसम्बन्ध होता है। इस दृष्टि से आत्मा (गुणी) और सामायिक (गुण) अभिन्न है। आत्मा को सामायिक आदि और सामायिक आदि का अर्थ कहना इस (निश्चय) दृष्टि से युक्तियुक्त है। व्यवहारनय की अपेक्षा से आत्मा और सामायिक आदि पृथक्-पृथक् होने से सामायिक आदि का अर्थ इस प्रकार होगा—

सामायिक—शत्रु-मित्र पर समभाव। **प्रत्याख्यान**—नवकारसी, पौरसी आदि का नियम करना। **सयम**—पृथ्वीकायादि जीवो की यतना—रक्षा करना। **सवर**-पाँच इन्द्रियो तथा मन को वश मे रखना। **विवेक**—विशिष्ट वोध—ज्ञान। **व्युत्सर्ग**—शारीरिक हलन-चलन वन्द करके उस पर से ममत्व हटाना।

इनका प्रयोजन—सामायिक का अर्थ—नये कर्मो का वन्ध न करना, प्राचीन कर्मो की निर्जरा करना। **प्रत्याख्यान का प्रयोजन**—आस्रवद्वारो को रोकना। **सयम का प्रयोजन**—आस्रवरहित होना। **सवर का प्रयोजन**—इन्द्रियो और मन की प्रवृत्ति को रोक कर आस्रवरहित होना। **विवेक का प्रयोजन**—हेय का त्याग, ज्ञेय का ज्ञान और उपादेय का ग्रहण करना। **व्युत्सर्ग का प्रयोजन**—सभी प्रकार के सग से रहित हो जाना।

गर्हा सयम कैसे ?—सयम मे हेतुरूप होने तथा कर्मवन्ध मे कारणरूप न होने से गर्हा सयम है।[1]

चारो में अप्रत्याख्यानक्रिया : समानरूप से

२५. 'भंते !' त्ति भगव गोयमे समणं भगव महावीर वदति नमंसति, २ एव वदासी—से नूण भंते ! सेट्ठिस्स य तणुयस्स य किविणस्स य खत्तियस्स य समा चेव अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ ?

हंता, गोयमा ! सेट्ठिस्स य जाव अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ।

से केणट्ठेण भंते ! ० ?

गोयमा ! अविरतिं पडुच्च, से तेणट्ठेण गोयमा ! एव वुच्चइ सेट्ठिस्स य तणु० जाव कज्जइ।

[२५ प्र] 'भगवन् !' ऐसा कहकर भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार किया। तत्पचात् (वन्दन-नमस्कार करके) वे इस प्रकार बोले—भगवन् ! क्या श्रेष्ठी (स्वर्णपट्टविभूषित पगडी से युक्त पौरजननायक—नगर सेठ, श्रीमन्त) और दरिद्र को, रक को और क्षत्रिय (राजा) को अप्रत्याख्यान क्रिया (प्रत्याख्यानक्रिया का अभाव अथवा अप्रत्याख्यानजन्य कर्मवन्ध) समान होती है ?

[२५ उ] हाँ, गौतम ! श्रेष्ठी यावत् क्षत्रिय राजा (इन सब) के द्वारा अप्रत्याख्यान क्रिया (प्रत्याख्यान क्रिया का अभाव) समान की जाती है, (अर्थात्—अप्रत्याख्यानजन्य कर्मबन्ध भी समान होता है।)

१ भगवतीसूत्र, अ वृत्ति पत्राक १००

[प्र] भगवन् ! आप ऐसा किस हेतु से कहते है ?

[उ] गौतम ! (इन चारो की) अविरति को लेकर, ऐसा कहा जाता है कि श्रेष्ठी और दरिद्र, कृपण (रक) और राजा (क्षत्रिय) इन सबकी अप्रत्याख्यानक्रिया (प्रत्याख्यानक्रिया मे विरति या तज्जन्यकर्मबन्धता) समान होती है ।

विवेचन—चारो मे अप्रत्याख्यानक्रिया समानरूप से—प्रस्तुत सूत्र मे कहा गया है कि चाहे कोई बडा नगरसेठ हो, या दरिद्र, रक हो या राजा इन चारो मे बाह्य असमानता होते हुए भी अविरति के कारण चारो को अप्रत्याख्यानक्रिया समानरूप से लगती है । अर्थात्—सबको प्रत्याख्यानक्रिया के अभावरूप अप्रत्याख्यान (अविरति) क्रिया के कारण समान कर्मबन्ध होता है । वहाँ राजा-रक आदि का कोई लिहाज नही होता ।[1]

आधाकर्म एवं प्रासुक-एषणीयादि आहारसेवन का फल

२६. आहाकम्म ण भुजमाणे समणे निग्गथे किं बधति ? किं पकरेति ? किं चिणाति ? किं उवचिणाति ?

गोयमा ! आहाकम्म ण भुजमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मप्पगडीओ सिढिलबधणबद्धाओ घणियबधणबद्धाओ पकरेइ जाव अणुपरियट्टइ ।

से केणट्ठेण जाव अणुपरियट्टइ ?

गोयमा ! आहाकम्म ण भुजमाणे आयाए धम्म अतिक्कमति, आयाए धम्म अतिक्कममाणे पुढविक्काय णावकंखति जाव तसकाय णावकखति, जेसि पि य ण जीवाणं सरीराइ आहारमाहारेइ ते वि जीवे नावकखति । से तेणट्ठेण गोयमा ! एव वुच्चइ—आहाकम्म ण भुजमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ जाव[2] अणुपरियट्टति ।

[२६ प्र] भगवन् ! आधाकर्मदोषयुक्त आहारादि का उपभोग करता हुआ श्रमणनिर्ग्रन्थ क्या बाँधता है ? क्या करता है ? किसका चय (वृद्धि) करता है, और किसका उपचय करता है ?

[२६ उ] गौतम ! आधाकर्मदोषयुक्त आहारादि का उपभोग करता हुआ श्रमणनिर्ग्रन्थ आयुकर्म को छोडकर शिथिलबन्धन से बधी हुई सात कर्मप्रकृतियो को दृढबन्धन से बँधी हुई बना लेता है, यावत्-ससार मे बार—बार पर्यटन करता है ।

[प्र] भगवन् ! इसका क्या कारण है कि, यावत्—वह ससार मे बार-बार पर्यटन करता है ?

[उ] गौतम ! आधाकर्मी आहारादि का उपभोग करता हुआ श्रमणनिर्ग्रन्थ अपने आत्म-धर्म का अतिक्रमण करता है । अपने आत्मधर्म का अतिक्रमण करता हुआ (साधक) पृथ्वीकाय के

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १०१

२ 'जाव' पद से—'सिढिलबधणबद्धाओ घणिय बधणबद्धाओ पकरेइ, हस्सकालठितियाओ दीहकालठितियाओ पकरेइ, मदाणुभावाओ तिव्वाणुभावाओ पकरेइ, अप्पपएसग्गाओ बहुपएसग्गाओ पकरेइ, आउय च कम्म सिय बधइ, सिय नो बधइ, अस्सायावेयणिज्ज च ण कम्म भुज्जो भुज्जो उवचिणइ, अणाइय च ण अणवयग्ग दीहमद्ध चाउरतससारकतार,' . यहाँ तक का पाठ समझना ।

के जीवो की अपेक्षा (परवाह) नही करता, और यावत्—त्रसकाय के जीवो की चिन्ता (परवाह) नही करता और जिन जीवो के शरीरो का वह भोग करता है, उन जीवो की भी चिन्ता नही करता। इस कारण हे गौतम ! ऐसा कहा गया है कि आधाकर्मदोषयुक्त आहार भोगता हुआ (श्रमण) आयुकर्म को छोडकर सात कर्मो की शिथिलबद्ध प्रकृतियो को गाढबन्धन बद्ध कर लेता है, यावत्—ससार मे बार-बार परिभ्रमण करता है।

२७ **फासुएसणिज्ज ण भंते ! भुंजमाणे किं बधइ जाव उवचिणाइ ?**

गोयमा ! फासुएसणिज्ज ण भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मप्पयडीओ धणियबधणबद्धाओ सिढिलबधणबद्धाओ पकरेइ जहा सवुडे ण (स० १ उ० १ सु ११ [२]), नवर आउय च ण कम्म सिय बधइ, सिय नो बधइ। सेस तहेव जाव वीतीवयति।

से केणट्ठेण जाव वीतीवयति ?

गोयमा ! फासुएसणिज्ज भुंजमाणे समणे निग्गथे आताए धम्म णाइक्कमति, आताए धम्म अणतिक्कममाणे पुढविक्काय अवकखति जाव तसकाय अवकखति, जेसि पि य ण जीवाण सरीराइ आहारेति ते वि जीवे अवकखति, से तेणट्ठेण जाव वीतीवयति।

[२७ प्र] हे भगवन् ! प्रासुक और एषणीय आहारादि का उपभोग करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ क्या बाँधता है ? यावत् किसका उपचय करता है ?

[२७ उ] गौतम ! प्रासुक और एषणीय आहारादि भोगने वाला श्रमणनिर्ग्रन्थ, आयुकर्म को छोडकर सात कर्मो की दृढबन्धन से बद्ध प्रकृतियो को शिथिल करता है। उसे सवृत अनगार के समान समझना चाहिए। विशेषता यह है कि आयुकर्म को कदाचित् बाँधता है और कदाचित् नही बाधता। शेष उसी प्रकार समझना चाहिए, यावत् ससार को पार कर जाता है।

[प्र] 'भगवन् ! इसका क्या कारण है कि—यावत्—ससार को पार कर जाता है ?'

[उ] गौतम ! प्रासुक एषणीय आहारादि भोगने वाला श्रमणनिर्ग्रन्थ, अपने आत्मधर्म का उल्लघन नही करता। अपने आत्मधर्म का उल्लघन न करता हुआ वह श्रमणनिर्ग्रन्थ पृथ्वीकाय के जीवो का जीवन चाहता है, यावत्—त्रसकाय के जीवो का जीवन चाहता है और जिन जीवो का शरीर उसके उपभोग मे आता है, उनका भी वह जीवन चाहता है। इस कारण से हे गौतम ! वह यावत्—ससार को पार कर जाता है।

विवेचन—आधाकर्मी एव एषणीय आहारादि-सेवन का फल—प्रस्तुत दो सूत्रो मे क्रमश आधाकर्मदोषयुक्त एव प्रासुक एषणीय आहारादि के उपभोग का फल बताया गया है।

प्रासुकादिशब्दो के अर्थ—प्रासुक—अचित्त, निर्जीव। **एषणीय**—आहार आदि से सम्बन्धित दोषो से रहित। **आधाकर्म**—साधु के निमित्त सचित्त वस्तु को अचित्त की जाए अर्थात्—सजीव वस्तु को निर्जीव बनाया जाए, अचित्त वस्तु को पकाया जाए, घर मकान आदि बधवाए जाएँ, वस्त्रादि बनवाए जाएँ, इसे आधाकर्म कहते हैं।

'बधइ' आदि पदो के भावार्थ—बधइ—यह पद प्रकृतिबन्ध की अपेक्षा से, या स्पृष्टबन्ध की अपेक्षा से है, **पकरइ** पद स्थितिबन्ध अथवा बद्ध अवस्था की अपेक्षा से है, **'चिणइ'** पद अनुभागबन्ध

की अपेक्षा से अथवा निधत्त अवस्था की अपेक्षा से है। 'उवचिणइ' पद प्रदेशबन्ध की अपेक्षा अथवा निकाचित अवस्था की अपेक्षा से है।[1]

स्थिर-अस्थिरादि-निरूपण—

२८. से नूण भंते ! अथिरे पलोट्टति, नो थिरे पलोट्टति, अथिरे भज्जति, नो थिरे भज्जति, सासए, बालए, बालियत्त असासय, सासते पडिते, पडितत्त असासत ?

हता, गोयमा ! अथिरे पलोट्टति जाव पडितत्त असासत।

सेव भंते ! सेवं भंते त्ति जाव विहरति।

॥ नवमो उद्देसो समत्तो ॥

[२८ प्र] भगवन् ! क्या अस्थिर पदार्थ बदलता है और स्थिर पदार्थ नही बदलता है ? क्या अस्थिर पदार्थ भग होता है और स्थिर पदार्थ भग नही होता ? क्या बाल शाश्वत है तथा बालत्व अशाश्वत है ? क्या पण्डित शाश्वत है और पण्डितत्व अशाश्वत है ?

[२८ उ] हाँ, गौतम ! अस्थिर पदार्थ बदलता है यावत् पण्डितत्व अशाश्वत है।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है !, यो कहकर यावत् गौतम स्वामी विचरण करते है।

विवेचन—स्थिर-अस्थिरादि-निरूपण—प्रस्तुत सूत्र मे अस्थिर एव स्थिर पदार्थो के परिवर्तन होने, न होने, भग होने, न होने तथा बाल और पण्डित के शाश्वतत्व एव बालत्व तथा पण्डितत्व के अशाश्वतत्व की चर्चा की गई है।

'अथिरे पलोट्टइ' आदि के दो अर्थ—व्यवहारपक्ष मे पलट जाने वाला अस्थिर होता है, जैसे मिट्टी का ढेला आदि अस्थिर द्रव्य अस्थिर हैं। अध्यात्मपक्ष मे कर्म अस्थिर है, वे प्रतिसमय जीवप्रदेशो से चलित—पृथक् होते है। कर्म अस्थिर होने से बन्ध, उदय और निर्जीर्ण आदि परिणामो द्वारा वे बदलते रहते हैं। व्यवहारपक्ष मे पत्थर की शिला स्थिर है, वह बदलती नही, अध्यात्मपक्ष मे आत्मा स्थिर है। व्यवहारपक्ष मे तृणादि नश्वर स्वभाव के है, इसलिए भग्न हो जाते है, अध्यात्मपक्ष मे कर्म अस्थिर होने से भग्न हो जाते हैं। जीव का प्रकरण होने से व्यवहारपक्ष मे अबोध बच्चे को बाल कहते है, अध्यात्मपक्ष मे असयत अविरत को बाल कहते है। यह जीव द्रव्य रूप होने से शाश्वत है और बालत्व, पण्डितत्व आदि जीव की पर्याय होने से अशाश्वत है।[2]

॥ प्रथम शतक नवम उद्देशक समाप्त ॥

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १०१-१०२

२ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १०२

दस ाो उद्देसओ : च णाओ

दशम उद्देशक : चलना

चलमान चलित आदि से सम्बन्धित अन्यतीर्थिकमत निराकरणपूर्वक स्वसिद्धान्त निरूपण—

१. अन्नउत्थिया ण भते ! एवमाइक्खति जाव एव परूवेंति—"एव खलु चलमाणे अचलिते जाव निज्जरिज्जमाणे अणिज्जिण्णे। दो परमाणुपोग्गला एगयओ न साहन्नन्ति। कम्हा दो परमाणु-पोग्गला एगयतो न साहन्नति ?

दोण्ह परमाणुपोग्गलाण नत्थि सिणेहकाए तम्हा दो परमाणुपोग्गला एगयओ न साहन्नति। तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नति, कम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नति ?

तिण्ह परमाणुपोग्गलाण अत्थि सिणेहकाए तम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नति। ते भिज्जमाणा दुहा वि तिहा वि कज्जति, दुहा कज्जमाणा एगयओ दिवड्ढे परमाणुपोग्गले भवति, एगयओ वि दिवड्ढे परमाणुपोग्गले भवति, तिहा कज्जमाणा तिण्णि परमाणुपोग्गला भवति, एव जाव चत्तारि, पंच परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नति, एगयओ साहन्नित्ता दुक्खत्ताए कज्जति, दुक्खे वि य ण से सासते सया समित्त चिज्जति य अवचिज्जति य। पुव्वि भासा भासा, भासिज्जमाणी भासा अभासा, भासासमयवीतिक्कत च ण भासिया भासा भासा, सा किं भासओ भासा ? अभासओ भासा ?

अभासओ ण सा भासा, नो खलु सा भासओ भासा।

पुव्वि किरिया दुक्खा, कज्जमाणी किरिया अदुक्खा, किरियासमयवीतिक्कत च ण कडा किरिया दुक्खा, जा सा पुव्वि किरिया दुक्खा, कज्जमाणी किरिया अदुक्खा, किरियासमयवीइक्कत च ण कडा किरिया दुक्खा, सा किं करणतो दुक्खा अकरणतो दुक्खा ?

अकरणओ ण सा दुक्खा, णो खलु सा करणतो दुक्खा, सेव वत्तव्व सिया।

अकिच्च दुक्ख, अफुस दुक्ख, अकज्जमाणकड दुक्ख अकट्टु अकट्टु पाण-भूत-जीव-सत्ता वेदण वेदेंतीति वत्तव्व सिया"। से कहमेय भते ! एव ?

गोयमा ! ज ण ते अन्नउत्थिया एवमाइक्खति जाव वेदणं वेदेंतीति वत्तव्व सिया, जे ते एवमाहसु मिच्छा ते एवमाहसु। अह पुण गोतमा ! एवमाइक्खामि—एवं खलु चलमाणे चलिते जाव निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे। दो परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नति। कम्हा दो परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नति ? दोण्ह परमाणुपोग्गलाण अत्थि सिणेहकाए, तम्हा दो परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नति, ते भिज्जमाणा दुहा कज्जति, दुहा कज्जमाणे एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ परमाणु पोग्गलेभवति।

तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नति, कम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नंति ?

तिण्ह परमाणुपोग्गलाण अत्थि सिणेहकाए, तम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णति, ते भिज्जमाणा दुहा वि तिहा वि कज्जति, दुहा कज्जमाणा एगयओ परमाणुपोग्गले, एगयओ दुपदेसिए खधे भवति, तिहा कज्जमाणा तिण्णि परमाणुपोग्गला भवति। एव जाव चत्तारि पच परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नति, साहन्नित्ता खधत्ताए कज्जति, खधे वि य ण से असासते सया समियं उवचिज्जइ य अवचिज्जइ य।

पुव्वि भासा भसा सा, भासिज्जमाणी भासा भासा, भासासमयवीतिक्कत च ण भासिता भासा अभासा; जा सा पुव्वि भासा अभासा, भासिज्जमाणी भासा भासा, भासासमयवीतिक्कत च ण भासिता भासा अभासा, सा किं भासतो भासा अभासओ भासा ?

भासओ ण सा भासा, नो खलु सा अभासओ भासा। पुव्वि किरिया अदुक्खा जहा भासा तहा भाणितव्वा किरिया वि जाव करणतो ण सा दुक्खा, नो खलु सा अकरणओ दुक्खा, सेव वत्तव्व सिया। किच्च दुक्ख, फुस दुक्ख, कज्जमाणकड दुक्ख कट्टु कट्टु पाण-भूत-जीव-सत्ता वेदण वेदेंतीति वत्तव्व सिया।

[१ प्र] भगवन् ! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते है, यावत् इस प्रकार प्ररूपणा करते है कि—'जो चल रहा है, वह अचलित है—चला नही कहलाता और यावत्—जो निर्जीर्ण हो रहा है, वह निर्जीर्ण नही कहलाता।'

'दो परमाणुपुद्गल एक साथ नही चिपकते।' दो परमाणुपुद्गल एक साथ क्यो नही चिपकते ? इसका कारण यह है कि दो परमाणुपुद्गलो मे चिपकनापन (स्निग्धता) नही होती इसलिए दो परमाणुपुद्गल एक साथ नही चिपकते।'

'तीन परमाणुपुद्गल एक दूसरे से चिपक जाते है।' तीन परमाणुपुद्गल परस्पर क्यो चिपक जाते है ? इसका कारण यह है कि तीन परमाणुपुद्गलो मे स्निग्धता (चिकनाहट) होती है, इसलिए तीन परमाणु-पुद्गल आपस मे चिपक जाते है। यदि तीन परमाणु-पुद्गलो का भेदन (भाग) किया जाए तो दो भाग भी हो सकते हैं, एव तीन भाग भी हो सकते है। अगर तीन परमाणु-पुद्गलो के दो भाग किये जाएँ तो एक तरफ डेढ परमाणु होता है और दूसरी तरफ भी डेढ परमाणु होता है। यदि तीन परमाणुपुद्गलो के तीन भाग किये जाएँ तो एक-एक करके तीन परमाणु अलग-अलग हो जाते है। इसी प्रकार यावत् चार परमाणु-पुद्गलो के विषय मे समझना चाहिए।'

'पाँच परमाणुपुद्गल परस्पर चिपक जाते हैं और वे दुःखरूप (कर्मरूप) मे परिणत होते है। वह दुःख (कर्म) भी शाश्वत है, और सदा सम्यक् प्रकार से उपचय को प्राप्त होता है और अपचय को प्राप्त होता है।'

'बोलने से पहले की जो भाषा (भाषा के पुद्गल) है, वह भाषा है। बोलते समय की भाषा अभाषा है और बोलने का समय व्यतीत हो जाने के बाद की भाषा, भाषा है।'

[प्र] यह जो बोलने से पहले की भाषा, भाषा है और बोलते समय की भाषा, अभाषा है तथा बोलने के समय के बाद की भाषा, भाषा है, सो क्या बोलते हुए पुरुष की भाषा है या न बोलते हुए पुरुष की भाषा है ?'

[उ] 'न बोलते हुए पुरुष की वह भाषा है, बोलते हुए पुरुष की वह भाषा नही है।'

'करने से जो पूर्व की जो क्रिया है, वह दु खरूप है, वर्तमान मे जो क्रिया की जाती है, वह दु खरूप नही है और करने के समय के वाद की कृतक्रिया भी दु खरूप है ।'

[प्र॰] वह जो पूर्व की क्रिया है, वह दु ख का कारण है, की जाती हुई क्रिया दु ख का कारण नही है और करने के समय के वाद की क्रिया दु ख का कारण है, तो क्या वह करने से दु ख का कारण है या न करने से दु ख का कारण है ?

[उ] न करने से वह दु ख का कारण हे, करने से दु ख का कारण नही है, ऐसा कहना चाहिए ।

अकृत्य दु ख है, अस्पृश्य दु ख है, और अक्रियमाण कृत दु ख है । उसे न करके प्राण, भूत, जीव और सत्त्व वेदना भोगते हैं, ऐसा कहना चाहिए ।

[प्र] श्री गौतमस्वामी पूछते है—'भगवन् ! क्या अन्यतीर्थिको का इस प्रकार का यह मत सत्य है ?'

[उ] गौतम ! यह अन्यतीर्थिक जो कहते है—यावत् वेदना भोगते है, ऐसा कहना चाहिए, उन्होने यह सब जो कहा है, वह मिथ्या कहा है । हे गौतम ! मैं ऐसा कहता हूँ कि जो चल रहा है, वह 'चला' कहलाता है और यावत् जो निर्जर रहा है, वह निर्जीर्ण कहलाता है ।

दो परमाणु पुद्गल आपस मे चिपक जाते है । इसका क्या कारण है ?दो परमाणु पुद्गलो मे चिकनापन है, इसलिए दो परमाणु पुद्गल परस्पर चिपक जाते है । इन दो परमाणु पुद्गलो के दो भाग हो सकते है । दो परमाणु पुद्गलो के दो भाग किये जाएँ तो एक तरफ एक परमाणु और एक तरफ एक परमाणु होता है ।

तीन परमाणुपुद्गल परस्पर चिपक जाते है । तीन परमाणुपुद्गल परस्पर क्यो चिपक जाते है । तीन परमाणुपुद्गल इस कारण चिपक जाते है, कि उन परमाणुपुद्गलो मे चिकनापन है । इस कारण तीन परमाणु पुद्गल परस्पर चिपक जाते है । उन तीन परमाणुपुद्गलो के दो भाग भी हो सकते है और तीन भाग भी हो सकते है । दो भाग करने पर एक तरफ परमाणु, और एक तरफ दो प्रदेश वाला एक द्वयणुक स्कन्ध होता है । तीन भाग करने पर एक-एक करके तीन परमाणु हो जाते है । इसी प्रकार यावत्—चार परमाणु पुद्गल मे भी समझना चाहिए । परन्तु तीन परमाणु के डेढ-डेढ (भाग) नही हो सकते ।

पाँच परमाणुपुद्गल परस्पर चिपक जाते है और परस्पर चिपककर एक स्कन्धरूप बन जाते है । वह स्कन्ध अशाश्वत है और सदा उपचय तथा अपचय पाता है । अर्थात्-वह बढता घटता भी है ।

बोलने से पहले की भाषा अभाषा है, बोलते समय की भाषा भाषा है और बोलने के बाद की भाषा भी अभाषा है ।

[प्र] वह जो पहले की भाषा अभाषा है, बोलते समय की भाषा भाषा है, और बोलने के वाद की भाषा अभाषा है, सो क्या वोलने वाले पुरुष की भाषा है, या नही बोलते हुए पुरुष की भाषा है ?

[उ] वह बोलने वाले पुरुष की भाषा है, नही बोलते हुए पुरुष की भाषा नही है ।

(करने से) पहले की क्रिया दु ख का कारण नही है, उसे भाषा के समान ही समझना चाहिए ।

यावत्—वह क्रिया करने से दु ख का कारण है, न करने मे दु ख का कारण नही है, ऐमा कहना चाहिए।

कृत्य दु ख है, स्पृश्य दु ख है, क्रियमाण कृत दु ख है। उमे कर-करके प्राण, भूत, जीव और वेदना भोगते है, ऐसा कहना चाहिए।

विवेचन—'चलमान चलित' आदि-सम्बन्धी अन्यतीर्थिकमत निराकरणपूर्वक स्वसिद्धान्त-निरूपण—प्रस्तुत सूत्र मे अन्यतीर्थिको की कतिपय विपरीत मान्यताओ का भगवान् महावीर द्वारा निराकरण करके स्वसिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है।

अन्यतीर्थिको के मिथ्या मन्तव्यो का निराकरण—(१) चलमान कर्म प्रथम क्षण मे चलित नही होगा तो द्वितीय आदि समयो मे भी अचलित ही रहेगा, फिर तो किमी भी समय वह कर्म चलित होगा ही नही। अत चलमान चलित नही होता, यह कथन अयुक्त है। (२) दो परमाणु सूक्ष्म और स्निग्धतारहित होने से नही चिपकते, यह कथन भी अयुक्त है, क्योकि एक परमाणु मे भी स्निग्धता होती है, अन्यतीर्थिको ने जब डेढ-डेढ परमाणुओ के चिपक जाने की बात स्वीकार की है, तब उनके मत से आधे परमाणु मे भी चिकनाहट होनी चाहिए। ऐसी स्थिति मे दो परमाणु भी चिपकते है, यही मानना युक्ति-युक्त है। (३) 'डेढ-डेढ परमाणु चिपकते है,' यह अन्यतीर्थिक-कथन भी युक्तियुक्त नही, क्योकि परमाणु के दो भाग हो ही नही सकते, दो भाग हो जाएँ तो वह परमाणु नही कहलाएगा। (४) 'चिपके हुए पाँच पुद्गल कर्मरूप (दु खस्वरूप) होते हैं' यह कथन भी असगत है, क्योकि कर्म अनन्तपरमाणुरूप होने से अनन्तस्कन्धरूप है और पाँच परमाणु तो मात्र स्कन्धरूप ही है, तथा कर्म, जीव को आवृत करने के स्वभाव वाले है, अगर ये पाँच परमाणुरूप ही हो तो असख्यात-प्रदेशवाले जीव को कैसे आवृत कर सकेंगे ? तथा (५) कर्म (दु ख) को शाश्वत मानना भी ठीक नही क्योकि कर्म को यदि शाश्वत माना जाएगा तो कर्म का क्षयोपशम, क्षय आदि न होने से ज्ञानादि की हानि और वृद्धि नही हो सकेगी, परन्तु ज्ञानादि की हानि-वृद्धि लोक मे प्रत्यक्षसिद्ध है। अत कर्म (दु ख) शाश्वत नही है। तथा आगे उन्होने जो कहा है कि (६) कर्म (दु ख) चय को प्राप्त होता है, नष्ट होता है, यह कथन भी कर्म को शाश्वत मानने पर कैसे घटित होगा ? (७) भाषा की कारण-भूत होने से बोलने से पूर्व की भाषा, भाषा है, कह कथन भी अयुक्त तथा औपचारिक है। बोलते समय की भाषा को अभाषा कहने का अर्थ हुआ—वर्तमानकाल व्यवहार का अग नही है, यह कथन भी मिथ्या है। क्योकि विद्यमानरूप वर्तमानकाल ही व्यवहार का अग है। भूतकाल नष्ट हो जाने के कारण अविद्यमानरूप है, और भविष्य असद्रूप होने से अविद्यमानरूप है, अत ये दोनो काल व्यवहार के अग नही हैं। (८) बोलने से पूर्व की भाषा को भाषा मानकर भी उसे न बोलते हुए पुरुष की भाषा मानना तो और भी युक्तिविरुद्ध है। क्योकि अभाषक की भाषा को ही भाषा माना जाएगा तो सिद्ध भगवान् को या जड को भाषा की प्राप्ति होगी, जो भाषक है, उन्हे नही। (९) की जाती हुई क्रिया को दु खरूप न बताकर पूर्व की या क्रिया के बाद की क्रिया बताना भी अनुभवविरुद्ध है, क्योकि करने के समय ही क्रिया सुखरूप या दु खरूप लगती है, करने से पहले या करने के बाद (नही करने से) क्रिया सुखरूप या दु खरूप नही लगती।

इस प्रकार अन्यतीर्थिको के मत का निराकरण करके भगवान् द्वारा प्ररूपित स्वसिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।[1]

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १०२ से १०४ तक

ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी क्रियासम्बन्धी चर्चा

२. अन्नउत्थिया ण भंते ! एवमाइक्खंति जाव—एवं खलु एगे जीवे एगेण समएण दो किरियाओ पकरेति, त जहा—इरियावहिय च सपराइय च । ज समय इरियावहिय पकरेइ त समय सपराइय पकरेइ०, परउत्थियवत्तव्व[1] नेयव्व ।

ससमयवत्तव्वयाए नेयव्व जाव[2] इरियावहिय वा सपराइय वा ।

[२ प्र] भगवन् ! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते है—यावत् प्ररूपणा करते है कि एक जीव एक समय मे दो क्रियाएँ करता है । वह इस प्रकार—ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी । जिस समय (जीव) एर्यापथिकी क्रिया करता है, उस समय साम्परायिकी क्रिया करता है और जिस समय साम्परायिकी क्रिया करता है, उस समय ऐर्यापथिकी क्रिया करता है । ऐर्यापथिकी क्रिया करने से साम्परायिकी क्रिया करता है और साम्परायिकी क्रिया करने से ऐर्यापथिकी क्रिया करता है, इस प्रकार एक जीव, एक समय मे दो क्रियाएँ करता है—एक ऐर्यापथिकी और दूसरी साम्परायिकी । हे भगवन् ! क्या यह इसी प्रकार है ?

[२ उ] गौतम ! जो अन्यतीर्थिक ऐसा कहते है, यावत्—उन्होने ऐसा जो कहा है, सो मिथ्या कहा है । हे गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूँ कि एक जीव एक समय मे एक क्रिया करता है । यहाँ परतीर्थिको का तथा स्वसिद्धान्त का वक्तव्य कहना चाहिए । यावत् ऐर्यापथिकी अथवा साम्परायिकी क्रिया करता है ।

विवेचन—ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी क्रियासम्बन्धी चर्चा—प्रस्तुत (सू० २) सूत्र मे ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी, दोनो क्रियाएँ एक समय मे होती है, या नही, इसकी चर्चा अन्यतीर्थिको का पूर्वपक्ष देकर प्रस्तुत की गई है ।

ऐर्यापथिकी—जिस क्रिया मे केवल योग का निमित्त हो, ऐसी कषायरहित-वीतरागपुरुष की क्रिया ।

साम्परायिकी—जिस क्रिया मे योग का निमित्त होते हुए भी कषाय की प्रधानता हो ऐसी सकषाय जीव की क्रिया । यही क्रिया ससार-परिभ्रमण का कारण है । पच्चीस क्रियाओ मे से चौबीस क्रियाएँ साम्परायिकी है, सिर्फ एक ऐर्यापथिकी है ।

---

१ परउत्थियवत्तव्व—अन्यतीर्थिकवक्तव्य का पाठ इस प्रकार है—

"ज समय सपराइय पकरेइ त समय इरियावहिय पकरेइ; इरियावहियापकरणताए सपराइय पकरेइ, सपराइयपकरणयाए इरियावहिय पकरेइ, एव खलु एगे जीवे एगेण समएण दो किरियाओ पकरेति, त जहा—इरियावहिय च सपराइय च ।"—भगवती अ वृत्ति

२ स्वसमयवक्तव्यता के सन्दर्भ मे 'जाव' पदसूचक पाठ—

"से कहमेय भते ! एव ?

गोयमा ! "ज ण ते अन्नउत्थिया एवमाइक्खति जाव सपराइय च, जे ते एवमाहसु मिच्छा ते एवमाहसु, अह पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि ४—एव खलु एगे जीवे एगेण समएण एग किरिय पकरेइ, त जहा"
—भगवती अ वृत्ति

एक जीव द्वारा एक समय में ये दो क्रियाएँ सम्भव नहीं—जीव जब कषाययुक्त होता है, तो कषायरहित नही होता और जब कषायरहित होता है, तो सकषाय नही हो सकता। दसवे गुणस्थान तक सकषायदशा है। आगे के गुणस्थानो मे अकषाय-अवस्था है। ऐर्यापथिकी अकषाय-अवस्था की क्रिया है, साम्परायिकी कषाय-अवस्था की। अतएव एक ही जीव एक ही समय मे इन दोनो क्रियाओ को नही कर सकता।[1]

नरकादि गतियों में जीवो का उत्पाद-विरहकाल—

३. निरयगती ण भते ! केवतिय काल विरहिता उववातेण पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्क समय, उक्कोसेण बारस मुहुत्ता। एव वक्कतीपद भाणितव्व निरवसेस।

सेवं भते ! सेव भते ! त्ति जाव विहरति।

॥ दसमो उद्देसओ समत्तो ॥

॥ पढम सत समत्त ॥

[३ प्र] भगवन् ! नरकगति, कितने समय तक उपपात से विरहित रहती है ?

[३ उ] गौतम ! जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त्त तक नरकगति उपपात से रहित रहती है। इसी प्रकार यहाँ (प्रज्ञापनासूत्र का सारा) 'व्युत्क्रान्तिपद' कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह ऐसा ही है, यह ऐसा ही है,' इस प्रकार कहकर यावत् गौतम स्वामी विचरते हैं।

विवेचन—नरकादि गतियो तथा चौबीसदण्डको मे उत्पाद-विरहकाल—प्रस्तुत सूत्र मे प्रज्ञापनासूत्र के छठे व्युत्क्रान्तिपद का अतिदेश करके नरकादि गतियो मे जीवो की उत्पत्ति (उपपात=उत्पाद) के विरहकाल की प्ररूपणा की गई है।

नरकादि मे उत्पादविरहकाल—प्रज्ञापनासूत्र के छठे व्युत्क्रान्तिपद के अनुसार विभिन्न गतियो मे जीवो के उत्पाद का विरहकाल सक्षेप मे इस प्रकार है—पहली नरक मे २४ मुहूर्त्त का, दूसरी मे ७ अहोरात्र का, तीसरी मे १५ अहोरात्र का, चौथी मे १ मास का, पाचवी मे दो मास का, छठी मे चार मास का, सातवो मे छह मास का विरहकाल होता है। इसी प्रकार तिर्यंचपचेन्द्रिय, मनुष्य एव देवगति मे जघन्य एक समय का, उत्कृष्ट १२ मुहूर्त्त का उत्पादविरहकाल है। पचस्थावरो मे कभी विरह नही होता, विकलेन्द्रिय मे और असज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यंच मे अन्तर्मुहूर्त्त का तथा सज्ञी-तिर्यञ्च एव सज्ञी मनुष्य मे १२ मुहूर्त्त का विरह होता है। सिद्ध अवस्था मे उत्कृष्ट ६ मास का विरह होता है। इसी प्रकार उद्वर्तना के विरहकाल के विषय मे भी जानना चाहिए।[2]

॥ प्रथम शतक . दशम उद्देशक समाप्त ॥

प्रथम शतक सम्पूर्ण

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १०६

२ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १०७-१०८

बिइयं सयं

द्वितीय शतक

परिचय

* भगवतीसूत्र का यह द्वितीय शतक है। इसके भी दश उद्देशक हैं। उनके नाम क्रमश इस प्रकार है—(१) श्वासोच्छ्वास (और स्कन्दक अनगार), (२) समुद्घात, (३) पृथ्वी, (४) इन्द्रियाँ, (५) निर्ग्रन्थ (अथवा अन्यतीर्थिक), (६) भाषा, (७) देव, (८) (चमरेन्द्र-) सभा (या चमरचचा राजधानी), (९) द्वीप (अथवा समयक्षेत्र), और (१०) अस्तिकाय।

* प्रथम उद्देशक मे एकेन्द्रियो आदि के श्वासोच्छ्वास से सम्बन्धित निरूपण मृतादी अनगार के सम्बन्ध मे भवभ्रमण-सिद्धिगमन सम्बन्धी प्ररूपण एव स्कन्दक अनगार का विस्तृत वर्णन है।

* द्वितीय उद्देशक मे सप्त समुद्घात के सम्बन्ध मे निरूपण है।

* तृतीय उद्देशक मे सात नरकपृथ्वियो के नाम, सस्थान आदि समस्त जीवो की उत्पत्ति-सभावना-सम्बन्धी वर्णन है।

* चतुर्थ उद्देशक मे इन्द्रियो के नाम, विषय, विकार, सस्थान, वाहल्य, विस्तार, परिमाण, विषय-ग्रहण क्षमता आदि का वर्णन है।

* पचम उद्देशक मे देवलोक मे उत्पन्न भूतपूर्व निर्ग्रन्थ किन्तु वर्तमान मे देव की परिचारणा सम्बन्धी प्रश्नोत्तर, जीवो की गर्भस्थिति सम्बन्धी विचार, तु गिका नगरी के श्रावको द्वारा तप आदि के फलसम्बन्धी शका-समाधान, श्रमण-माहन की पर्यु पासना का फल, राजगृहस्थित उष्णजल कुण्ड आदि का निरूपण है।

* छठे उद्देशक मे भाषा के भेद, कारण, उत्पत्ति, सस्थान, भाषापुद्गलो की गतिसीमा, भाषा रूप मे गृहीत पुद्गल, उन पुद्गलो के वर्णादि, षड्दिशागत भाषा-ग्रहण, भाषा का अन्तर (व्यवधान), भाषा के माध्यम-काय—वचनयोग तथा अल्पबहुत्व आदि भाषासम्बन्धी वर्णन है।

* सातवे उद्देशक मे देवो के प्रकार, स्थान, उपपात, प्रतिष्ठान, बाहल्य, उच्चत्व, सस्थान इत्यादि देवसम्बन्धी वर्णन है।

* आठवे उद्देशक मे चमरेन्द्र (असुरेन्द्र) की सभा, राजधानी, आदि का वर्णन है।

* नौवे उद्देशक मे अढाई द्वीप, दो समुद्र के रूप मे प्रसिद्ध समयक्षेत्र सम्बन्धी प्ररूपण है।

* दशवे उद्देशक मे पचास्तिकाय, उनके नाम, उनमे वर्णगन्धादि, उनकी शाश्वतता-अशाश्वतता, द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव गुणरूप प्रकारो आदि का सागोपाग निरूपण है।[1]

---

१ (क) भगवतीसूत्र मूलपाठ सग्रहणीगाथा १०९, भा १, पृ ७३ (ख) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १०९

बिइयं सयं : द्वितीय शतक

द्वितीय शतक के दस उद्देशकों का नामनिरूपण—

१. आणमति १ समुग्घाया २ पुढवी ३ इदिय ४ णियठ ५ भासा य ६।
देव ७ सभ ८ दीव ९ अत्थिय १० बीयम्मि सदे दसुद्देसा ॥ १ ॥

[१] द्वितीय शतक के दस उद्देशको का नाम-निरूपण—(गाथार्थ)—द्वितीय शतक मे दस उद्देशक हैं। उनमे क्रमश इस प्रकार विषय है—(१) श्वासोच्छ्वास (और स्कन्दक अनगार), (२) समुद्घात, (३) पृथ्वी, (४) इन्द्रियाँ, (५) निर्ग्रन्थ, (६) भाषा, (७) देव, (८) (चमरेन्द्र) सभा, (९) द्वीप (समयक्षेत्र का स्वरूप) (१०) अस्तिकाय (का विवेचन)।

पढमो उद्देसो : आणमति (ऊसास)

प्रथम उद्देशक : श्वासोच्छ्वास

एकेन्द्रियादि जीवो मे श्वासोच्छ्वास सम्बन्धी प्ररूपणा—

२ तेणं कालेण तेण समएण रायगिहे नाम नगरे होत्था। वण्णओ। सामी समोसढे। परिसा निग्गता। धम्मो कहितो। पडिगता परिसा।

तेण कालेण तेणं समएण जेट्ठे अतेवासी जाव पज्जुवासमाणे एव वयासी—

[२] उस काल उस समय मे राजगृह नामक नगर था। (उसका वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार जान लेना चाहिए)। (एकदा) भगवान् महावीर स्वामी (वहाँ) पधारे। उनका धर्मोपदेश सुनने के लिए परिषद् निकली। भगवान् ने धर्मोपदेश दिया। धर्मोपदेश सुनकर परिषद् वापिस लौट गई।

उस काल उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के ज्येष्ठ अन्तेवासी (शिष्य) श्री इन्द्रभूति गौतम अनगार यावत्—भगवान् की पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—

३ जे इमे भते! बेइदिया तेइदिया चउरिंदिया पचिन्दिया जीवा एएसि ण आणाम व पाणाम वा उस्सास वा नीसास वा जाणामो पासामो। जे इमे पुढविक्काइया जाव वणस्सतिकाइया एगिंदिया जीवा एएसि ण आणाम वा पाणामं वा उस्सास वा निस्सास वा णं याणामो ण पासामो, एए वि य ण भते! जीवा आणमति वा पाणमंति वा उस्ससति वा नीससति वा?

हता, गोयमा! एए वि य णं जीवा आणमति वा पाणमति वा ऊससति वा नीससंति वा।

[३ प्र] भगवन्! ये जो द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीव है, उनके आभ्यन्तर और बाह्य उच्छ्वासो को और आभ्यन्तर एव बाह्य नि श्वास को हम जानते और देखते हैं, किन्तु जो ये पृथ्वीकाय से यावत् वनस्पतिकाय तक एकेन्द्रिय जीव हैं, उनके आभ्यन्तर एव बाह्य

उच्छ्वास को तथा आभ्यन्तर एव बाह्य नि श्वास को हम न जानते है, और न देखते है। तो हे भगवन्! क्या ये पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय जीव आभ्यन्तर और बाह्य उच्छ्वास लेते है तथा आभ्यन्तर और बाह्य नि श्वास छोडते है?

[३ उ] हाँ, गौतम! ये पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय जीव भी आभ्यन्तर और बाह्य उच्छ्वास लेते हैं और आभ्यन्तर एव बाह्य नि श्वास छोडते है।

४. [१] किं ण भते! एते जीवा आणमति वा पाणमति वा उस्ससति वा नीससति वा?

गोयमा! दव्वतो णं अणतपएसियाइ दव्वाइं, खेत्तओ ण असंखेज्जपएसोगाढाइ, कालओ अन्नयरट्ठितीयाइ, भावओ वण्णमताइ गधमताइ रसमताइ फासमताइं आणमंति वा पाणमति वा ऊससति वा नीससति वा।

[४-१ प्र] भगवन्! ये पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय जीव, किस प्रकार के द्रव्यो को बाह्य और आभ्यन्तर उच्छ्वास के रूप मे ग्रहण करते है, तथा नि श्वास के रूप मे छोडते हैं?

[४-१ उ] गौतम! द्रव्य की अपेक्षा अनन्तप्रदेश वाले द्रव्यो को, क्षेत्र की अपेक्षा असख्य-प्रदेशो मे रहे हुए द्रव्यो को, काल की अपेक्षा किसी भी प्रकार की स्थिति वाले (एक समय की, दो समय की स्थिति वाले इत्यादि) द्रव्यो को, तथा भाव की अपेक्षा वर्ण वाले, गन्ध वाले, रस वाले और स्पर्श वाले द्रव्यो को बाह्य और आभ्यन्तर उच्छ्वास के रूप मे ग्रहण करते है, तथा नि श्वास के रूप मे छोडते है।

[२] जाइ भावओ वण्णमंताइ आण० पाण० ऊस० नीस० ताइ किं एगवण्णाइ आणमति वा पाणमति ऊस० नीस०?

आहारगमो नेयव्वो जाव ति-चउ-पचदिसि।

[४-२ प्र] भगवन्! वे पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय जीव भाव की अपेक्षा वर्ण वाले जिन द्रव्यो को बाह्य और आभ्यन्तर श्वासोच्छ्वास के रूप मे ग्रहण करते और छोडते है, क्या वे द्रव्य एक वर्ण वाले हैं?

[४-२ उ] हे गौतम! जैसा कि प्रज्ञापनासूत्र के अट्ठाईसवे आहारपद मे कथन किया है, वैसा ही यहाँ समझना चाहिए। यावत् वे तीन, चार, पाँच दिशाओ की ओर से श्वासोच्छ्वास के पुद्गलो को ग्रहण करते है।

५ किं ण भते! नेरइया आ० पा० उ० नी०?

त चेव जाव नियमा आ० पा० उ० नी०। जीवा एगिंदिया वाघाय-निव्वाघाय भाणियव्वा।

सेसा नियमा छद्दिसिं।

[५ प्र] भगवन्! नैरयिक किस प्रकार के पुद्गलो को बाह्य और आभ्यन्तर श्वासोच्छ्वास के रूप मे ग्रहण करते और छोडते हैं?

[५ उ] गौतम! इस विषय मे पूर्वकथनानुसार ही जानना चाहिए और यावत्—वे नियम से (निश्चितरूप से) छहो दिशा से पुद्गलो को बाह्य एव आभ्यन्तर श्वासोच्छ्वास के रूप मे ग्रहण करते और छोडते हैं।

जीवसामान्य और एकेन्द्रियो के सम्बन्ध मे इस प्रकार कहना चाहिए कि यदि व्याघात न हो तो वे सब दिशाओ से बाह्य और आभ्यन्तर श्वासोच्छ्वास के लिए पुद्गलो को ग्रहण करते हैं। यदि व्याघात हो तो कदाचित् तीन दिशा से, कदाचित् चार दिशा से, और कदाचित् पाच दिशा से श्वासोच्छ्वास के पुद्गलो को ग्रहण करते हैं। शेप सब जीव नियम से छह दिशा से श्वासोच्छ्वास के पुद्गलो को ग्रहण करते है।

विवेचन—एकेन्द्रियादि जीवों मे श्वासोच्छ्वास सम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रो (सू २ से ५ तक) मे एकेन्द्रिय जीवो, नारको आदि के श्वासोच्छ्वास के सम्बन्ध मे शका-समाधान प्रस्तुत किया गया है।

आणमति पाणमतिउ स्ससति नीससति—वृत्तिकार ने आण-प्राण और ऊस-नीस इन दोनो-दोनो को एकार्थक माना है। किन्तु आचार्य मलयगिरि ने प्रज्ञापनावृत्ति मे अन्य आचार्य का मत देकर इनमे अन्तर बताया है—**आनमंति और प्राणमन्ति** ये दोनो अन्त स्फुरित होने वाली उच्छ्वास-नि श्वासक्रिया के अर्थ मे, तथा **उच्छ्वसन्ति और नि श्वसन्ति** ये दोनो बाह्यस्फुरित उच्छ्वास-नि श्वासक्रिया के अर्थ मे ग्रहण करना चाहिए—(प्रज्ञापना-म०-वृत्ति, पत्राक २२०)।

एकेन्द्रिय जीवो के श्वासोच्छ्वाससम्बन्धी शका क्यो?—यद्यपि आगमादि प्रमाणो से पृथ्वीकायादि एकेन्द्रियो मे चैतन्य सिद्ध है और जो जीव है, वह श्वासोच्छ्वास लेता ही है, यह प्रकृतिसिद्ध नियम है, तथापि यहाँ एकेन्द्रिय जीवो के श्वासोच्छ्वास सम्बन्धी शका का कारण यह है कि मेढक आदि कतिपय जीवित जीवो का शरीर कई बार बहुत काल तक श्वासोच्छ्वास-रहित दिखाई देता है, इसलिए स्वभावत इस प्रकार की शका होती है कि पृथ्वीकाय आदि के जीव भी क्या इसी प्रकार के है या मनुष्यादि की तरह श्वासोच्छ्वास वाले है? क्योकि पृथ्वीकायादि स्थावर जीवो का श्वासोच्छ्वास मनुष्य आदि की तरह दृष्टिगोचर नही होता। इसी का समाधान भगवान् ने किया है। वास्तव मे, बहुत लम्बे समय मे श्वासोच्छ्वास लेने वालो को भी किसी समय मे तो श्वासोच्छ्वास लेना ही पडता है।

श्वासोच्छ्वास-योग्य पुद्गल—प्रज्ञापनासूत्र मे बताया गया है कि वे पुद्गल दो वर्ण वाले, तीन वर्ण वाले, यावत् पाँच वर्ण वाले होते है। वे एक गुण काले यावत् अनन्तगुण काले होते है।

व्याघात-अव्याघात—एकेन्द्रिय जीव लोक के अन्त भाग मे भी होते है, वहाँ उन्हे अलोक द्वारा व्याघात होता है। इसलिए वे तीन, चार या पाँच दिशाओ से ही श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गल ग्रहण करते है, किन्तु व्याघातरहित जीव (नैरयिक आदि) त्रसनाडी के अन्दर ही होते हैं, अत उन्हे व्याघात न होने से वे छहो दिशाओ से श्वासोच्छ्वास-पुद्गल ग्रहण कर सकते है।[1]

वायुकाय के श्वासोच्छ्वास, पुनरुत्पत्ति, मरण एवं शरीरादि सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—

६. वाउयाए ण भते! वाउयाए चेव आणमति वा पाणमति वा ऊससति वा नीससति वा?
हता, गोयमा! वाउयाए ण वाउयाए जाव नीससति वा।

[६ प्र] हे भगवन्! क्या वायुकाय, वायुकायो को ही बाह्य और आभ्यन्तर उच्छ्वास और नि श्वास के रूप मे ग्रहण करता और छोडता है?

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १०९

[६ उ] हाँ, गौतम ! वायुकाय, वायुकायो को ही वाह्य और आभ्यन्तर उच्छ्वास और नि श्वास के रूप मे ग्रहण करता और छोडता है ।

७ [१] वाउयाए ण भते ! वाउयाए चेव अणेगसयसहस्सखुत्तो उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता तत्थेव भुज्जो भुज्जो पच्चायाति ?

हता, गोयमा ! जाव पच्चायाति ।

[७-१ प्र] भगवन् ! क्या वायुकाय, वायुकाय मे ही अनेक लाख वार मर कर पुन पुन. (वायुकाय मे ही) उत्पन्न होता है ?

[७-१ उ] हाँ, गौतम ! वायुकाय, वायुकाय मे ही अनेक लाख वार मर कर पुन पुन वही उत्पन्न होता है ।

[२] से भते किं पुट्ठे उद्दाति ? अपुट्ठे उद्दाति ?

गोयमा ! पुट्ठे उद्दाइ, नो अपुट्ठे उद्दाइ ।

[७-२ प्र] भगवन् ! क्या वायुकाय स्वकायशस्त्र से या परकायशस्त्र से स्पृष्ट हो (छू) कर मरण पाता है, अथवा अस्पृष्ट (बिना टकराए हुए) ही मरण पाता है ?

[७-२ उ] गौतम ! वायुकाय, (स्वकाय के अथवा परकाय के शस्त्र से) स्पृष्ट होकर मरण पाता है, किन्तु स्पृष्ट हुए बिना मरण नही पाता ।

[३] से भते ! किं ससरीरी निक्खमइ, असरीरी निक्खमइ ?

गोयमा ! सिय ससरीरी निक्खमइ, सिय असरीरी निक्खमइ ।

से केणट्ठेण भते ! एव वुच्चइ सिय ससरीरी निक्खमइ, सिय असरीरी निक्खमइ ?

गोयमा ! वाउकायस्स ण चत्तारि सरीरया पण्णत्ता, त जहा—ओरालिए वेउव्विए तेयए कम्मए । ओरालिय-वेउव्वियाइ विप्पजहाय तेय-कम्मएहिं निक्खमति, से तेणट्ठेण गोयमा ! एव वुच्चइ—सिय ससरीरी सिय असरीरी निक्खमइ ।

[७-३ प्र] भगवन् ! वायुकाय मर कर (जब दूसरी पर्याय मे जाता है, तब) सशरीरी (शरीरसहित) होकर जाता है, या शरीररहित (अशरीरी) होकर जाता है ?

[७-३ उ] गौतम ! वह कथञ्चित् शरीरसहित होकर जाता (निकलता) है, कथचित् शरीररहित हो कर जाता है ।

[प्र] भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं कि वायुकाय का जीव जब निकलता (दूसरी पर्याय मे जाता) है, तब वह कथञ्चित् शरीरसहित निकलता (परलोक मे जाता) है, कथञ्चित् शरीररहित होकर निकलता (जाता) है ?

[उ.] गौतम ! वायुकाय के चार शरीर कहे गए है, वे इस प्रकार—(१) औदारिक, (२) वैक्रिय, (३) तैजस और (४) कार्मण । इनमे से वह औदारिक और वैक्रिय शरीर को छोडकर दूसरे भव मे जाता है, इस अपेक्षा से वह शरीररहित जाता है और तैजस तथा कार्मण शरीर को साथ लेकर जाता है, इस अपेक्षा से वह शरीरसहित (सशरीरी) जाता है । इसलिए हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि वायुकाय मर कर दूसरे भव मे कथञ्चित् (किसी अपेक्षा से) सशरीरी जाता है और कथञ्चित् अशरीरी जाता है ।

विवेचन—वायुकाय के श्वासोच्छ्वास, पुनरुत्पत्ति, मरण, एव शरीरादि सम्बन्धी प्रश्नोत्तर— प्रस्तुत दो सूत्रो मे वायुकाय के श्वासोच्छ्वास आदि से सम्बन्धित जिज्ञासाओ का समाधान अकित है।

वायुकाय के श्वासोच्छ्वास-सम्बन्धी शका-समाधान—सामान्यतया श्वासोच्छ्वास वायुरूप होता है, अत वायुकाय के अतिरिक्त पृथ्वी, जल, तेज एव वनस्पति तो वायुरूप मे श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते है, किन्तु वायुकाय तो स्वय वायुरूप है तो उसे श्वासोच्छ्वास के रूप मे क्या दूसरे वायु की आवश्यकता रहती है ?, यही इस शका के प्रस्तुत करने का कारण है।

दूसरी शका—'यदि वायुकाय दूसरी वायु को श्वासोच्छ्वास के रूप मे ग्रहण करता है, तब तो दूसरी वायु को तीसरी वायु की, तीसरी को चौथी की आवश्यकता रहेगी। इस तरह अनवस्थादोष आजाएगा।' इस शका का समाधान यह है कि वायुकाय जीव है, उसे दूसरी वायु के रूप मे श्वासोच्छ्वास की आवश्यकता रहती है, लेकिन ग्रहण की जाने वाली वह दूसरी वायु सजीव नही, निर्जीव (जड) होती है, उसे किसी दूसरे सजीव वायुकाय की श्वासोच्छ्वास के रूप मे आवश्यकता नही रहती। इसलिए अनवस्थादोष नही आ सकता। इसके अतिरिक्त यह जो वायुरूप उच्छ्वास-नि श्वास है, वे वायुकाय के औदारिक और वैक्रियशरीररूप नही है, क्योकि आन-प्राण तथा उच्छ्वास-नि श्वास के योग्य पुद्गल औदारिक शरीर और वैक्रिय शरीर के पुद्गलो की अपेक्षा अनन्तगुण-प्रदेशवाले होने से सूक्ष्म है, अतएव वे (उच्छ्वास-नि श्वास) चैतन्यवायुकाय के शरीररूप नही है। निष्कर्ष यह कि वह उच्छ्वास-नि श्वासरूप वायु जड है, उसे उच्छ्वास-नि श्वास की जरूरत नही होती।

वायुकाय आदि की कायस्थिति—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय, इन चार की कायस्थिति असख्य अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी तक है तथा वनस्पतिकाय की[1] कायस्थिति अनन्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणीपर्यन्त है।

वायुकाय का मरण स्पृष्ट होकर ही—वायुकाय स्वकायशस्त्र से अथवा परकायशस्त्र से स्पृष्ट हो (टकरा) कर ही मरण पाता है, अस्पृष्ट होकर नही। यह सूत्र सोपक्रमी आयु वाले जीवो की अपेक्षा से है।[2]

मृतादीनिर्ग्रन्थो के भवभ्रमण एवं भवान्तकरण के कारण—

८. [१] मडाई ण भते ! नियठे नो निरुद्धभवे, नो निरुद्धभवपवचे, नो पहीणससारे, णो पहीणससारवेदणिज्जे, णो वोच्छिण्णससारे, णो वोच्छिण्णससारवेदणिज्जे, नो निट्ठियट्ठे नो निट्ठियकरणिज्जे पुणरवि इत्तत्थ हव्वमागच्छति ?

हता, गोयमा ! मडाई ण नियठे जाव पुणरवि इत्तत्थ हव्वमागच्छइ।

[८-१ प्र] भगवन् ! जिसने ससार का निरोध नही किया, ससार के प्रपचो का निरोध नही किया, जिसका ससार क्षीण नही हुआ, जिसका ससार-वेदनीय कर्म क्षीण नही हुआ, जिसका

१ 'असखोसप्पिणी-ओस्सप्पिणी उ एगिंदियाण चउण्ह।
ता चेव उ अणता, वणस्सइए उ बोधव्वा॥' —सग्रहणी गाथा

२ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ११०

ससार व्युच्छिन्न नही हुआ, जिसका ससार-वेदनीय कर्म व्युच्छिन्न नही हुआ, जो निष्ठितार्थ (सिद्धप्रयोजन=कृतार्थ) नही हुआ, जिसका कार्य (करणीय) समाप्त नही हुआ, ऐसा मृतादी (अचित्त, निर्दोष आहार करने वाला) अनगार पुन मनुष्यभव आदि भावो को प्राप्त होता है ?

[८-१ उ] हाँ, गौतम ! पूर्वोक्त स्वरूप वाला मृतादीनिर्ग्रन्थ फिर मनुष्यभव आदि भावो को प्राप्त होता है ।

[२] से ण भते ! किं ति वत्तव्व सिया ?

गोयमा ! पाणे त्ति वत्तव्व सिया, भूते त्ति वत्तव्व सिया, जीवे त्ति वत्तव्व सिया, सत्ते त्ति वत्तव्व सिया, विण्णू ति वत्तव्व सिया, वेदा ति वत्तव्व सिया—पाणे भूए जीवे सत्ते विण्णू वेदा ति वत्तव्व सिया ।

से केणट्ठेण भते ! पाणे त्ति वत्तव्व सिया जाव वेदा ति वत्तव्व सिया ?

गोयमा ! जम्हा आणमइ वा पाणमइ वा उस्ससइ वा नीससइ वा तम्हा पाणे त्ति वत्तव्व सिया । जम्हा भूते भवति भविस्सति य तम्हा भूए ति वत्तव्व सिया । जम्हा जीवे जीवइ जीवत्त आउय च कम्म उवजीवइ तम्हा जीवे ति वत्तव्व सिया जम्हा सत्ते सुभासुभेहिं कम्मेहिं तम्हा सत्ते त्ति वत्तव्व सिया । जम्हा तित्त-कडुय-कसायबिल-महुरे रसे जाणइ तम्हा विण्णू ति वत्तव्व सिया । जम्हा वेदेइ य सुह-दुक्ख तम्हा वेदा ति वत्तव्वं सिया । से तेणट्ठेण जाव पाणे त्ति वत्तव्व सिया जाव वेदा ति वत्तव्वं सिया ।

[८-२ प्र] भगवन् ! पूर्वोक्त निर्ग्रन्थ के जीव को किस शब्द से कहना चाहिए ?

[८-२ उ] गौतम ! उसे कदाचित् 'प्राण' कहना चाहिए, कदाचित् 'भूत' कहना चाहिए, कदाचित् 'जीव' कहना चाहिए, कदाचित् 'सत्व' कहना चाहिए, कदाचित् 'विज्ञ' कहना चाहिए, वदाचित् 'वेद' कहना चाहिए, और कदाचित् 'प्राण, भूत, जीव, सत्त्व, विज्ञ और वेद' कहना चाहिए ।

[प्र] हे भगवन् ! उसे 'प्राण' कहना चाहिए, यावत्—'वेद' कहना चाहिए, इसका क्या कारण है ?

[उ] गौतम ! पूर्वोक्त निर्ग्रन्थ का जीव, बाह्य और आभ्यन्तर उच्छ्वास तथा नि श्वास लेता और छोड़ता है, इसलिए उसे 'प्राण' कहना चाहिए । वह भूतकाल मे था, वर्तमान मे है और भविष्यकाल मे रहेगा (तथा वह होने के स्वभाववाला है) इसलिए उसे 'भूत' कहना चाहिए । तथा वह जीव होने से जीता है, जीवत्व एव आयुष्यकर्म का अनुभव करता है, इसलिए उसे 'जीव' कहना चाहिए । वह शुभ और अशुभ कर्मो से सम्बद्ध है, इसलिए उसे 'सत्त्व' कहना चाहिए । वह तिक्त, (तीखा) कटु, कषाय (कसैला), खट्टा और मीठा, इन रसो का वेत्ता (ज्ञाता) है, इसलिए उसे 'विज्ञ' कहना चाहिए, तथा वह सुख-दुःख का वेदन (अनुभव) करता है, इसलिए उसे 'वेद' कहना चाहिए । इस कारण हे गौतम ! पूर्वोक्त निर्ग्रन्थ के जीव को 'प्राण' यावत्—'वेद' कहा जा सकता है ।

९ [१] मडाई ण भते ! नियठे निरुद्धभवे निरुद्धभवपवंचे जाव निट्ठियट्ठकरणिज्जे णो पुणरवि इत्तत्थ हव्वमागच्छति ?

हता, गोयमा ! मडाई ण नियठे जाव नो पुणरवि इत्तत्थ हव्वमागच्छति ।

[२] से ण भंते ! किं ति वत्तव्व सिया ?

गोयमा ! सिद्धे त्ति वत्तव्व सिया, बुद्धे त्ति वत्तव्व सिया, मुत्ते त्ति वत्तव्व० पारगए त्ति व०, परंपरगए त्ति व०, सिद्धे बुद्धे मुत्ते परिनिव्वुडे अंतकडे सव्वदुक्खप्पहीणे त्ति वत्तव्वं सिया ।

सेव भंते ! सेव भंते ! त्ति भगव गोयमे समण भगव महावीर वदइ नमसइ, २ सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे विहरति ।

[९-१ प्र] भगवन् ! जिसने ससार का निरोध किया है, जिसने ससार के प्रपच का निरोध किया है, यावत् जिसने अपना कार्य सिद्ध कर लिया है, ऐसा मृतादी (प्रासुकभोजी) अनगार क्या फिर मनुष्यभव आदि भवो को प्राप्त नही होता ?

[९-१ उ] हाँ गौतम ! पूर्वोक्त स्वरूप वाला निर्ग्रन्थ अनगार फिर मनुष्यभव आदि भवो को प्राप्त नही होता ।

[९-२ प्र] हे भगवन् ! पूर्वोक्त स्वरूप वाले निर्ग्रन्थ के जीव को किस शब्द से कहना चाहिए ?

[९-२ उ] हे गौतम ! पूर्वोक्त स्वरूप वाले निर्ग्रन्थ को 'सिद्ध' कहा जा सकता है, 'बुद्ध' कहा जा सकता है, 'मुक्त' कहा जा सकता है, 'पारगत' (ससार के पार पहुँचा हुआ) कहा जा सकता है, 'परम्परागत' (अनुक्रम से ससार के पार पहुँचा हुआ) कहा जा सकता है । उसे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत, अन्तकृत् एव सर्वदु खप्रहीण कहा जा सकता है ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कहकर भगवान् गौतम स्वामी श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार करते है और फिर सयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करके विचरण करते है ।

विवेचन—मृतादी निर्ग्रन्थ के भवभ्रमण एव भवान्तकरण के कारण—प्रस्तुत दो सूत्रो (८ और ९) मे प्रासुकभोजी (मृतादी) अनगार के मनुष्यादि भवो मे भ्रमण का तथा भवभ्रमण के अन्त का, यो दो प्रकार के निर्ग्रन्थो का चित्र प्रस्तुत किया है । साथ ही भवभ्रमण करने वाले और भवभ्रमण का अन्त करने वाले दोनो प्रकार के मृतादी अनगारो के लिए पृथक्-पृथक् विविध विशेषणो का प्रयोग भी किया गया है ।

मृतादी—'मडाई' शब्द की सस्कृत छाया 'मृतादी' होती है, जिसका अर्थ है—मृत=निर्जीव प्रासुक अदी=भोजन करने वाला । अर्थात्—प्रासुक और एषणीय पदार्थ को खाने वाला निर्ग्रन्थ अनगार 'मडाई' कहलाता है । अमरकोश के अनुसार 'मृत' शब्द **'याचित'**[1] अर्थ मे है । अत मृतादी का अर्थ हुआ याचितभोजी ।

'णिरुद्धभवे' आदि पदो के अर्थ—णिरुद्धभवे=जिसने आगामी जन्म को रोक दिया है, जो चरमशरीरी है । **णिरुद्धभवपवचे**=जिसने ससार के विस्तार को रोक दिया है । **पहीणससारे**=

१ 'द्वे याचितायाचितयो यथासख्य मृतामृते'—अमरकोश, द्वितीयकाण्ड, वैश्यवर्ग, श्लो-३

जिसका चतुर्गतिभ्रमणरूप ससार क्षीण को चुका है। **पहीणससारवेयणिज्जे**—जिसका समारवेदनीय कर्म क्षीण हो चुका है। **वोच्छिण्णससारे**=जिसका चतुर्गतिकससार व्यवच्छिन्न हो चुका है। **इत्थत्थ**=इस अर्थ को अर्थात्—अनेक बार तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और नारकगतिगमनरूप बात को। **'इत्थत्त'** पाठान्तर भी है, जिसका अर्थ है—मनुष्यादित्व आदि।

'इत्थत्त' का तात्पर्य—आचार्यों ने बताया है कि जिसके कपाय उपशान्त हो चुके हैं, ऐसा जीव भी अनन्त प्रतिपात को प्राप्त होता है। इसलिए कपाय की मात्रा थोडी-सी भी शेप रहे, वहाँ तक मोक्षाभिलाषी प्राणी को विश्वस्त नही हो जाना चाहिए।[1]

पिंगल निर्ग्रन्थ के पांच प्रश्नो से निरुत्तर स्कन्दक परिव्राजक—

१० तए ण समणे भगव महावीरे रायगिहाओ नगराओ गुणसिलाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ।

[१०] उस काल और उस समय मे (एकदा) श्रमण भगवान् महावीरस्वामी राजगृह नगर के गुणशील चैत्य (उद्यान) से निकले और बाहर जनपदो मे विहार करने लगे।

११ तेणं कालेण तेण समएण कयगला नामं नगरी होत्था। वण्णओ। तीसे ण कयगलाए नगरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभागे छत्तपलासए नाम चेइए होत्था। वण्णओ। तए ण समणे भगव महावीरे उप्पण्णनाण-दसणधरे जाव[2] समोसरण। परिसा निगच्छति।

[११] उस काल उस समय मे कृतगला नाम की नगरी थी। उसका वर्णन औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए। उस कृतगला नगरी के बाहर उत्तर-पूर्वदिशा भाग (ईशान कोण) मे छत्रपलाशक नाम का चैत्य था। उसका वर्णन भी (औपपातिक सूत्र के अनुसार) जान लेना चाहिए। वहाँ किसी समय उत्पन्न हुए केवलज्ञान-केवलदर्शन के धारक श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे। यावत्—भगवान् का समवसरण (धर्मसभा) हुआ (लगा)। परिषद् (जनता) धर्मोपदेश सुनने के लिए निकली।

१२ तीसे ण कयगलाए नगरीए अदूरसामते सावत्थी नाम नयरी होत्था। वण्णओ। तत्थ ण सावत्थीए नयरीए गद्दभालस्स अतेवासी खदए नाम कच्चायणसगोत्ते परिव्वायगे परिवसइ, रिउव्वेद-जजुव्वेद-सामवेद-अथव्वणवेद इतिहासपंचमाण निघंटुछट्ठाण चउण्ह वेदाणं सगोवगाणं सरहस्साण सारए वारए पारए सडगवी सट्ठितत्तविसारए सखाणे सिक्खा-कप्पे वागरणे छदे निरुत्ते जोतिसामयणे अन्नेसु य बहूसु बभण्णएसु पारिव्वायएसु य नयेसु सुपरिनिट्ठिए यावि होत्था।

[१२] उस कृतगला नगरी के निकट श्रावस्ती नगरी थी। उसका वर्णन (औपपातिक सूत्र से) जान लेना चाहिए। उस श्रावस्ती नगरी मे गर्दभाल नामक परिव्राजक का शिष्य कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक नाम का परिव्राजक (तापस) रहता था। वह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, इन चार

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति पत्राक १११

२ 'जाव' शब्द 'अरहा जिणे केवली सव्वण्णू सव्वदरिसी आगासगएण छत्तेण' इत्यादि समवसरणपर्यन्त पाठ का सूचक है।

वेदो, पाचवे इतिहास (पुराण), छठे निघण्टु नामक कोश का तथा सागोपाग (अगो-उपागो सहित) रहस्यसहित वेदो का सारक (स्मारक=स्मरण कराने वाला—भूले हुए पाठ को याद कराने वाला, पाठक), वारक (अशुद्ध पाठ बोलने से रोकने वाला), धारक (पढे हुए वेदादि को नही भूलने वाला—धारण करने वाला), पारक (वेदादि शास्त्रो का पारगामी), वेद के छह अगो (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दशास्त्र और ज्योतिषशास्त्र) का वेत्ता था। वह षष्ठितत्र (साख्यशास्त्र) मे विशारद था, वह गणितशास्त्र, शिक्षाकल्प (आचार) शास्त्र व्याकरणशास्त्र, छन्दशास्त्र, निरुक्त (व्युत्पत्ति) शास्त्र और ज्योतिषशास्त्र, इन सब शास्त्रो मे तथा दूसरे बहुत-से ब्राह्मण और परिव्राजक-सम्बन्धी नीति और दर्शनशास्त्रो मे भी अत्यन्त निष्णात था।

१३ तत्थ ण सावत्थीए नयरीए पिंगलए नाम नियठे वेसालियसावए परिवसइ। तए ण से पिंगलए णाम णियठे वेसालियसावए अण्णदा कयाइ जेणेव खदए कच्चायणसगोत्ते तेणेव उवागच्छइ, २ खदग कच्चायणसगोत्त इणमक्खेव पुच्छे—मागहा! किं सअते लोके, अणते लोके १, सअते जीवे अणते जीवे २, सअता सिद्धी अणता सिद्धी ३, सअते सिद्धे अणते सिद्धे ४, केण वा मरणेणं मरमाणे जीवे वड्ढति वा हायति वा ५? एताव ताव आयक्खाहि। वुच्चमाणे एव।

[१३] उसी श्रावस्ती नगरी मे वैशालिक-श्रावक—(भगवान् महावीर के वचनो को सुनने मे रसिक) पिंगल नामक निर्ग्रन्थ (साधु) था। एकदा वह वैशालिक श्रावक पिगल नामक निर्ग्रन्थ किसी दिन जहाँ कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक रहता था, वहाँ उसके पास आया और उसने आक्षेपपूर्वक कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक से पूछा—'मागध! (मगधदेश मे जन्मे हुए), १-लोक सान्त (अन्त वाला) है या अनन्त (अन्तरहित) है?, २-जीव सान्त है या अनन्त है?, ३-सिद्धि सान्त है या अनन्त है?, ४-सिद्ध सान्त है या अनन्त है?, ५-किस मरण से मरता हुआ जीव बढता (ससार बढाता) है और किस मरण से मरता हुआ जीव घटता (ससार घटाता) है? इतने प्रश्नो का उत्तर दो (कहो)।

१४. तए ण से खदए कच्चायणसगोत्ते पिंगलएण णियठेण वेसालीसावएणं इणमक्खेव पुच्छिए समाणे सकिए कखिए वितिगिछिए भेदसमावन्ने कलुसमावन्ने णो सचाएइ पिंगलयस्स नियंठस्स वेसालियसावयस्स किंचि वि पमोक्खमक्खाइउं, तुसिणीए सचिट्ठइ।

[१४] इस प्रकार उस कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक तापस से वैशालिक श्रावक पिंगल निर्ग्रन्थ द्वारा पूर्वोक्त प्रश्न आक्षेपपूर्वक पूछे, तब स्कन्दक तापस ('इन प्रश्नो के ये ही उत्तर होगे या दूसरे?' इस प्रकार) शकाग्रस्त हुआ, (इन प्रश्नो के उत्तर कैसे दूँ? मुझे इन प्रश्नो का उत्तर कैसे आएगा? इस प्रकार की) काक्षा उत्पन्न हुई, उसके मन मे विचिकित्सा उत्पन्न हुई (कि अब मैं जो उत्तर दूँ, उससे प्रश्नकर्ता को सन्तोष होगा या नही?), उसकी बुद्धि मे भेद उत्पन्न हुआ (कि मैं क्या करूँ?) उसके मन मे कालुष्य (क्षोभ) उत्पन्न हुआ (कि अब मैं तो इस विषय मे कुछ भी नही जानता), इस कारण वह तापस, वैशालिक श्रावक पिंगलनिर्ग्रन्थ के प्रश्नो का कुछ भी उत्तर न दे सका। अत चुपचाप रह गया।

१५ तए ण से पिंगलए नियंठे वेसालीसावए खदय कच्चायणसगोत्त दोच्च पि तच्च पि इणमक्खेव पुच्छे—मागहा ! किं सम्रते लोए जाव केण वा मरणेण मरमाणे जीवे वड्ढइ वा हायति वा ? एताव ताव आइक्खाहि वुच्चमाणे एव ।

[१५] इसके पश्चात् उस वैशालिक श्रावक पिगल निर्ग्रन्थ ने कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक से दो बार, तीन बार भी उन्ही प्रश्नो का साक्षेप पूछा कि मागध ! लोक सान्त है या अनन्त ? यावत्—किस मरण मे मरने से जीव बढता या घटता है ?, इतने प्रश्नो का उत्तर दो ।

१६. तए ण से खदए कच्चायणसगोत्ते पिंगलएण नियठेण वेसालीसावएण दोच्च पि तच्च पि इणमक्खेव पुच्छिए समाणे सकिए कखिए वितिगिच्छिए भेदसमावण्णे कलुसमावन्ने नो सचाएइ पिंगलयस्स नियठस्स वेसालिसावयस्स किंचि वि पमोक्खमक्खाइउ, तुसिणीए सचिट्ठइ ।

[१६] जब वैशालिक श्रावक पिंगल निर्ग्रन्थ ने कात्यायन-गोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक से दो-तीन बार पुन उन्ही प्रश्नो को पूछा तो वह पुन पूर्ववत् शकित, काक्षित, विचिकित्साग्रस्त, भेद-समापन्न तथा कालुप्य (शोक) को प्राप्त हुआ, किन्तु वैशालिक श्रावक पिगल निर्ग्रन्थ के प्रश्नो का कुछ भी उत्तर न दे सका । अत चुप होकर रह गया ।

विवेचन—पिगलक निर्ग्रन्थ के पांच प्रश्नो से निरुत्तर स्कन्दक परिव्राजक—प्रस्तुत सात सूत्रो मे मुख्य प्रतिपाद्य विषय श्रावस्ती के पिंगलक निर्ग्रन्थ द्वारा स्कन्दक परिव्राजक के समक्ष पाच महत्त्वपूण प्रश्न प्रस्तुत करना और स्कन्दक परिव्राजक का शकित, काक्षित आदि होकर निरुत्तर हो जाना हैं । इसी से पूर्वापर सम्बन्ध जोडने के लिए शास्त्रकार ने निम्नोक्त प्रकार से क्रमश प्रतिपादन किया है—

१ श्रमण भगवान् महावीर का राजगृह से बाहर अन्य जनपदो मे विहार ।

२ श्रमण भगवान् महावीर का कृतगला नगरी मे पदार्पण और धर्मोपदेश ।

३ कृतगला की निकटवर्ती श्रावस्ती नगरी के कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक का परिचय ।

४ श्रावस्ती नगरी मे स्थित वैशालिकश्रवणरसिक पिंगलक निर्ग्रन्थ का परिचय ।

५ पिंगलक निर्ग्रन्थ द्वारा स्कन्दक परिव्राजक के समक्ष उत्तर के लिए प्रस्तुत निम्नोक्त पाँच प्रश्न—(१-२-३-४) लोक, जीव, सिद्धि और सिद्ध सान्त है या अन्तरहित और (५) किस मरण से मरने पर जीव का ससार बढता है, किससे घटता है ?

६ पिगलक निर्ग्रन्थ के ये प्रश्न सुनकर स्कन्दक का शकित, काक्षित, विचिकित्साग्रस्त, भेद-समापन्न और कालुष्ययुक्त तथा उत्तर देने मे असमर्थ होकर मौन हो जाना ।

७ पिंगलक द्वारा पूर्वोक्त प्रश्नो को दो-तीन बार दोहराये जाने पर भी स्कन्दक परिव्राजक के द्वारा पूर्ववत् निरुत्तर होकर मौन धारण करना ।[1]

---

१ भगवतीसूत्र मूलपाठ-टिप्पणयुक्त (प बेचरदास जी सपादित) भा १, पृ ७६ से ७८ तक

नो सचाएइ पमोक्खमक्खाइउ—प्रमोक्ष = उत्तर (जिससे प्रश्नरूपी बन्धन से मुक्त हो सके वह—उत्तर) कह (दे) न सका।[1]

वेसालियसावए = विशाला = महावीरजननी, उसका पुत्र वैशालिक भगवान्, उनके वचन-श्रवण का रसिक = श्रावक धर्म-श्रवणेच्छुक।[2]

स्कन्दक का भगवान् की सेवा मे जाने का संकल्प और प्रस्थान

१७ तए ण सावत्थीए नयरीए सिंघाडग जाव महापहेसु महया जणसम्मद्दे इ वा जणवूहे इ वा परिसा[3] निग्गच्छइ।

तए ण तस्स खदयस्स कच्चायणसगोत्तस्स बहुजणस्स अतिए एयमट्ठ सोच्चा निसम्म इमेयारूवे अज्झत्थिए चितिए पत्थिए मणोगए सकप्पे समुप्पज्जित्था—'एव खलु समणे भगव महावीरे, कयंगलाए नयरीए बहिया छत्तपलासए चेइए सजमेणं तवसा अप्पाण भावेमाणे विहरइ। त गच्छामि णं, समण भगव महावीर वदामि नमसामि सेय खलु मे समण भगव महावीर वदित्ता णमसित्ता सक्कारेत्ता सम्माणित्ता कल्लाण मगलं देवत चेतिय पज्जुवासित्ता इमाइ च ण एयारूवाइ अट्ठाइ हेऊइ पसिणाइ कारणाइ वागरणाइ पुच्छित्तए' त्ति कट्टु एव सपेहेइ, २ जेणेव परिव्वायावसहे तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता तिदड च कु डिय च कचणिय च करोडिय च भिसिय च केसरिय च छन्नालय च अकुसय च पवित्तय च गणेत्तिय च छत्तय च वाहणाओ य पाउयाओ य धाउरत्ताओ य गेण्हइ, गेण्हइत्ता परिव्वायावसहाओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता तिदड-कु डिय-कचणिय-करोडिय-भिसिय-केसरिय-छन्नालय-अकुसय-पवित्तय-गणेत्तियहत्थगए छत्तोवाहणसजुत्ते धाउरत्तवत्थपरिहिए सावत्थीए नगरीए मज्झमज्झेण निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव कयगला नगरी जेणेव छत्तपलासए चेइए जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

[१७] उस समय श्रावस्ती नगरी मे जहाँ तीन मार्ग, चार मार्ग, और बहुत-से मार्ग मिलते हैं, वहाँ तथा महापथो मे जनता की भारी भीड व्यूहाकार रूप मे चल रही थी, लोग इस प्रकार बाते कर रहे थे कि 'श्रमण भगवान् महावीरस्वामी कृतगला नगरी के बाहर छत्रपलाशक नामक उद्यान मे पधारे हैं।' जनता (परिषद्) भगवान् महावीर को वन्दना करने के लिए निकली।

उस समय बहुत-से लोगो के मुँह से यह (भगवान् महावीर के पदार्पण की) बात सुनकर और उसे अवधारण करके उस कात्यायन गोत्रीय स्कन्दक तापस के मन मे इस प्रकार का अध्यवसाय,

---

१ भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक ११४

२ वही, अ वृत्ति, पत्राक ११४-११५

३ भगवती सूत्र, अ वृत्ति, पत्राक ११४-११५ मे यहाँ अन्य पाठ भी उद्धृत है—

"जणवोले इ वा, जणकलकले इ वा, जणुम्मी इ वा, जणुक्कलिया इ वा, जणसन्निवाए इ वा, बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ ४—एव खलु देवाणुप्पिया समणे ३ आइगरे जाव सपाविउकामे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे, गामाणुगाम दुइज्जमाणे कयगलाए नगरीए छत्तपलासए चेइए अहापडिरूव उग्गह जाव विहरइ।"

चिन्तन, अभिलाषा एव सकल्प उत्पन्न हुआ कि श्रमण भगवान् महावीर कृतगला नगरी के बाहर छत्रपलाशक नामक उद्यान मे तप-सयम से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करते (विराजमान) है। अत मैं उनके पास जाऊँ, उन्हे वन्दना—नमस्कार करूँ। मेरे लिये यह श्रेयस्कर है कि मै श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना—नमस्कार करके, उनका सत्कार-सम्मान करके, उन कल्याणरूप, मगलरूप, देवरूप और चैत्यरूप भगवान् महावीर स्वामी की पर्युपासना करूँ, तथा उनसे इन और इस प्रकार के अर्थो, हेतुओ, प्रश्नो, कारणो और व्याकरणो (व्याख्याओ) आदि को पूछूँ।, यो पूर्वोक्त प्रकार से विचार कर वह स्कन्दक तापस, जहाँ परिव्राजको का मठ था, वहाँ आया। वहाँ आकर त्रिदण्ड, कुण्डी, रुद्राक्ष की माला (काचनिका), करोटिका (एक प्रकार की मिट्टी का बर्तन), आसन, केसरिका (बर्तनो को साफ करने का कपडा), त्रिगडी (छन्नालय), अकुशक (वृक्ष के पत्तो को एकत्रित करने के अकुश जैसा साधन), पवित्री (अगूठी), गणेत्रिका (कलाई मे पहनने का एक प्रकार का आभूषण), छत्र (छाता), पगरखी, पादुका (खडाऊ), धातु (गैरिक) से रगे हुए वस्त्र (गेरुए कपडे), इन सब तापस के उपकरणो को लेकर परिव्राजको के आवसथ (मठ) से निकला। वहाँ से निकल कर त्रिदण्ड, कुण्डी, काचनिका (रुद्राक्षमाला), करोटिका (मिट्टी का बना हुआ भिक्षापात्र), भृशिका (आसनविशेष), केसरिका, त्रिगडी, अकुशक, अगूठी, और गणेत्रिका, इन्हे हाथ मे लेकर, छत्र और पगरखी से युक्त होकर, तथा गेरुए (धातुरक्त) वस्त्र पहनकर श्रावस्ती नगरी के मध्य मे से (बीचोबीच) निकलकर जहाँ कृतगला नगरी थी, जहाँ छत्रपलाशक चैत्य था, और जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, उसी ओर जाने के लिए प्रस्थान किया।

विवेचन—स्कन्दक का शका-समाधानार्थ भगवान् की सेवा मे जाने का सकल्प और प्रस्थान— प्रस्तुत सूत्र मे शकाग्रस्त स्कन्दक परिव्राजक द्वारा भगवान् महावीर का कृतगला मे पदार्पण सुन कर अपनी पूर्वोक्त शकाओ के समाधानार्थ उनकी सेवा मे जाने के सकल्प और अपने तापस-उपकरणो—सहित उस ओर प्रस्थान का विवरण दिया गया है।

श्री गौतमस्वामी द्वारा स्कन्दक का स्वागत और परस्पर वार्तालाप—

१८ [१] 'गोयमा!' इ समणे भगव महावीरे भगव गोयम एव वयासी—दच्छिसि ण गोयमा! पुव्वसगतिय।

[२] कं भते! ?

खदय नाम।

[३] से काहे वा? किह वा? केवच्चिरेण वा?

एवं खलु गोयमा! तेणं कालेण २ सावत्थी नाम नगरी होत्था। वण्णओ। तत्थ ण सावत्थीए नगरीए गद्दभालस्स अतेवासी खदए णाम कच्चायणसगोत्ते परिव्वायए परिवसइ, त चेव जाव जेणेव मम अतिए तेणेव पहारेत्थ गमणाए। से य अदूराइते बहुसपत्ते अद्धाणपडिवन्ने अंतरापहे वट्टइ। अज्जेव ण दच्छिसि गोयमा।

[४] 'भते!' त्ति भगवं गोयमे समण भगव वदइ नमसइ, २ एवं वदासी—पहू णं भते! खदए कच्चायणसगोत्ते देवाणुप्पियाण अतिए मुडे भवित्ता ण अगाराओ अणगारिय पव्वइत्तए?

हता, पभू।

[१८-१] (भगवान् महावीर जहाँ विराजमान थे, वहाँ क्या हुआ ? यह शास्त्रकार बताते हैं—) 'हे गौतम!', इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने अपने ज्येष्ठ शिष्य श्री इन्द्रभूति अनगार को सम्बोधित करके कहा—"गौतम! (आज) तू अपने पूर्व के साथी को देखेगा।"

[१८-२] (गौतम—) 'भगवन्! मैं (आज) किसको देखूंगा ?'

[भगवान्—] गौतम! तू स्कन्दक (नामक तापस) को देखेगा।

[१८-३ प्र] (गौतम—) "भगवन्! मै उसे कब, किस तरह से, और कितने समय बाद देखूंगा ?"

[१८-३ उ०] 'गौतम! उस काल उस समय मे श्रावस्ती नाम की नगरी थी। जिसका वर्णन जान लेना चाहिए। उस श्रावस्ती नगरी मे गर्दभाल नामक परिव्राजक का शिष्य कात्यायन गोत्रीय स्कन्दक नामक परिव्राजक रहता था। इससे सम्बन्धित पूरा वृत्तान्त पहले के अनुसार जान लेना चाहिए। यावत्—उस स्कन्दक परिव्राजक ने जहाँ मैं हूँ, वहाँ—मेरे पास आने के लिए सकल्प कर लिया है। वह अपने स्थान से प्रस्थान करके मेरे पास आ रहा है। वह बहुत-सा मार्ग पार करके (जिस स्थान मे हम है उससे) अत्यन्त निकट पहुँच गया है। अभी वह मार्ग मे चल रहा है। वह बीच के मार्ग पर है। हे गौतम! तू आज ही उसे देखेगा।'

[१८-४ प्र.] फिर 'हे भगवन्!' यो कहकर भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार पूछा—'भगवन्! क्या वह कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक आप देवानुप्रिय के पास मुण्डित होकर आगार (घर) छोडकर अनगार धर्म मे प्रव्रजित होने मे समर्थ है ?'

[१८-४ उ०] 'हाँ, गौतम! वह मेरे पास अनगार धर्म मे प्रव्रजित होने मे समर्थ है।'

१९ जाव च ण समणे भगव महावीरे भगवओ गोयमस्स एयमट्ठ परिकहेइ ताव च से खदए कच्चायणसगोत्ते त देस हव्वमागते।

[१९] जब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी भगवान् गौतम स्वामी से यह (पूर्वोक्त) बात कह ही रहे थे, कि इतने मे वह कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक उस स्थान (प्रदेश) मे (भगवान् महावीर के पास) शीघ्र आ पहुँचे।

२० [१] तए ण भगव गोयमे खदय कच्चायणसगोत्त अदूरआगय जाणित्ता खिप्पामेव अब्भुट्ठेति, खिप्पामेव पच्चुवगच्छइ, २ जेणेव खदए कच्चायणसगोत्ते तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता खदयं कच्चायणसगोत्त एव वयासी—'हे खदया!, सागय खदया!, सुसागय खदया!, अणुरागय खदया!, सागयमणुरागय खदया!। से नूण तुम खदया! सावत्थीए नयरीए पिंगलएण नियठेणं वेसालियसावएणं इणमक्खेव पुच्छिए 'मागहा! किं सअते लोगे अणते लोगे? एव तं चेव' जेणेव इह तेणेव हव्वमागए। से नूण खदया! अत्थे समत्थे ?

हता अत्थि।

[२] तए ण से खदए कच्चायणसगोत्ते भगव गोयमं एव वयासी—से केस णं गोयमा ! तहारूवे नाणी वा तवस्सी वा जेण तव एस अट्ठे मम ताव रहस्सकडे हव्वमक्खाए, जओ ण तुमं जाणसि ? ।

तए ण से भगव गोयमे खदय कच्चायणसगोत्त एव वयासी—एवं खलु खदया ! मम धम्मायरिए धम्मोवएसए समणे भगव महावीरे उप्पन्नणाण-दसणधरे अरहा जिणे केवली तीय-पच्चुप्पन्नमणागयवियाणए सव्वण्णू सव्वदरिसी जेण मम एस अट्ठे तव ताव रहस्सकडे हव्वमक्खाए,जओ ण अहं जाणामि खदया ! ।

[३] तए णं से खदए कच्चायणसगोत्ते भगव गोयम एवं वयासी—गच्छामो णं गोयमा ! तव धम्मायरिय धम्मोवदेसय समण भगव महावीरं वंदामो णमसामो जाव पज्जुवासामो ।

अहासुह देवाणुप्पिया ! मा पडिबध करेह ।

[४] तए ण से भगव गोयमे खदएण कच्चायणसगोत्तेण सद्धि जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव पहारेत्थ गमणयाए ।

[२०-१) इसके पश्चात् भगवान् गौतम कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक को पास आया हुआ जानकर शीघ्र ही अपने आसन से उठे और शीघ्र ही उनके सामने गए, और जहाँ कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक था, वहाँ आए। स्कन्दक के पास आकर उससे इस प्रकार कहा—हे स्कन्दक ! स्वागत है तुम्हारा, स्कन्दक ! तुम्हारा सुस्वागत है ! स्कन्दक ! तुम्हारा आगमन अनुरूप (ठीक समय पर—उचित—योग्य हुआ है । हे स्कन्दक ! पधारो ! आप भले पधारे ! (इस प्रकार श्री गौतमस्वामी ने स्कन्दक का सम्मान किया) फिर श्री गौतम स्वामी ने स्कन्दक से कहा—"स्कन्दक ! श्रावस्ती नगरी मे वैशालिक श्रावक पिंगल निर्ग्रन्थ ने तुम से इस प्रकार आक्षेपपूर्वक पूछा था कि हे मागध ! लोक सान्त है या अनन्त ? इत्यादि (सब पहले की तरह कहना चाहिए)। (पाच प्रश्न पूछे थे, जिनका उत्तर तुम न दे सके। तुम्हारे मन मे शका, काक्षा आदि उत्पन्न हुए। यावत्—) उनके प्रश्नो से निरुत्तर होकर उनके उत्तर पूछने के लिए यहाँ भगवान् के पास आए हो। हे स्कन्दक ! कहो, यह बात सत्य है या नही ?"

स्कन्दक ने कहा—"हाँ, गौतम ! यह बात सत्य है ।

[२०-२ प्र] फिर कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक ने भगवान् गौतम से इस प्रकार पूछा—"गौतम ! (मुझे यह बतलाओ कि) कौन ऐसा ज्ञानी और तपस्वी पुरुष है, जिसने मेरे मन की गुप्त बात तुमसे शीघ्र कह दी, जिससे तुम मेरे मन की गुप्त बात को जान गए ?"

[उ.] तब भगवान् गौतम ने कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक से इस प्रकार कहा—'हे स्कन्दक ! मेरे धर्मगुरु, धर्मोपदेशक, श्रमण भगवान् महावीर, उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धारक हैं, अर्हन्त हैं, जिन हैं, केवली हैं, भूत, भविष्य और वर्तमान काल के ज्ञाता हैं, सर्वज्ञ—सर्वदर्शी हैं, उन्होने तुम्हारे मन मे रही हुई गुप्त बात मुझे शीघ्र कह दी, जिससे हे स्कन्दक ! मैं तुम्हारी उस गुप्त बात को जानता हूँ ।'

[२०-३] तत्पश्चात् कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक ने भगवान् गौतम से इस प्रकार कहा—"हे गौतम ! (चलो) हम तुम्हारे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास चले, उन्हे वन्दना-नमस्कार करे, यावत्—उनकी पर्युपासना करे।"

(गौतम स्वामी—) 'हे देवानुप्रिय ! जैसा तुम्हे सुख हो वैसा करो। (इस शुभकार्य मे) विलम्ब न करो।'

[२०-४] तदनन्तर भगवान् गौतम स्वामी ने कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक के साथ जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ जाने का सकल्प किया।

विवेचन—श्री गौतमस्वामी द्वारा स्कन्दक परिव्राजक का स्वागत और दोनो का परस्पर वार्तालाप—प्रस्तुत तीन सूत्रो (१८ से २० तक) मे शास्त्रकार ने स्कन्दक परिव्राजक से पूर्वापर सम्बद्ध निम्नोक्त विषयो का क्रमश प्रतिपादन किया है—

१ श्री भगवान् महावीर द्वारा गौतमस्वामी को स्कन्दक परिव्राजक का परिचय और उसके निकट भविष्य मे शीघ्र आगमन का सकेत।
२ श्री गौतम स्वामी द्वारा स्कन्दक के निर्ग्रन्थधर्म मे प्रव्रजित होने की पृच्छा और समाधान।
३. श्री गौतमस्वामी द्वारा अपने पूर्वसाथी स्कन्दक परिव्राजक के सम्मुख जाकर सहर्ष भव्य स्वागत।
४. स्कन्दक परिव्राजक और गौतम स्वामी का मधुर वार्तालाप।
५. स्कन्दक द्वारा श्रद्धाभक्तिवश भगवान् महावीर की सेवा मे पहुँचने का सकल्प, श्री गौतम स्वामी द्वारा उसका समर्थन और प्रस्थान।

विशेषार्थ—रहस्सकड—गुप्त किया हुआ, केवल मन मे अवधारित।[1]

भगवान् द्वारा स्कन्दक की मनोगत शंकाओ का समाधान—

२१ तेण कालेण २ समणे भगवं महावीरे वियडभोई याऽवि होत्था। तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स वियडभोगिस्स सरीरयं ओरालं सिंगारं कल्लाणं सिवं धण्णं मंगल्लं सस्सिरीयं अणलंकियविभूसियं लक्खण-वंजणगुणोववेयं सिरीए अतीव २ उवसोभेमाणं चिट्ठइ।

[२१] उस काल और उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर व्यावृत्तभोजी (प्रतिदिन आहार करने वाले) थे। इसलिए व्यावृत्तभोजी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का शरीर उदार (प्रधान), शृंगाररूप, अतिशयशोभासम्पन्न, कल्याणरूप, धन्यरूप, मगलरूप, बिना अलकार के ही सुशोभित, उत्तम लक्षणो, व्यजनो और गुणो से युक्त तथा शारीरिक शोभा से अत्यन्त शोभायमान था।

२२ तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स वियडभोगिस्स सरीरयं ओरालं जाव अतीव २ उवसोभेमाणं पासइ, २ त्ता हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए नंदिए पीइमणे परमसोम-

१ (क) भगवती गुजराती टीकानुवाद (प बेचरदास जी) खण्ड १, पृ २४९-२५०
(ख) भगवती मूलपाठ टिप्पण (प बेचरदासजी) भाग १, पृ ८०-८१

[२] तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते भगवं गोयम एवं वयासी—से केस णं गोयमा! तहारूवे नाणी वा तवस्सी वा जेण तव एस अट्ठे मम ताव रहस्सकडे हव्वमक्खाए, जओ णं तुमं जाणसि ?।

तए णं से भगवं गोयमे खंदयं कच्चायणसगोत्तं एवं वयासी—एवं खलु खंदया! मम धम्मायरिए धम्मोवएसए समणे भगवं महावीरे उप्पन्नणाण-दंसणधरे अरहा जिणे केवली तीय-पच्चुप्पन्नमणागयवियाणए सव्वण्णू सव्वदरिसी जेण मम एस अट्ठे तव ताव रहस्सकडे हव्वमक्खाए, जओ णं अहं जाणामि खंदया!।

[३] तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—गच्छामो णं गोयमा! तव धम्मायरियं धम्मोवदेसयं समणं भगवं महावीरं वंदामो णमंसामो जाव पज्जुवासामो।

अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह।

[४] तए णं से भगवं गोयमे खंदएणं कच्चायणसगोत्तेण सद्धिं जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव पहारेत्थ गमणयाए।

[२०-१] इसके पश्चात् भगवान् गौतम कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक को पास आया हुआ जानकर शीघ्र ही अपने आसन से उठे और शीघ्र ही उनके सामने गए; और जहाँ कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक था, वहाँ आए। स्कन्दक के पास आकर उससे इस प्रकार कहा—हे स्कन्दक! स्वागत है तुम्हारा, स्कन्दक! तुम्हारा सुस्वागत है! स्कन्दक! तुम्हारा आगमन अनुरूप (ठीक समय पर—उचित—योग्य हुआ है। हे स्कन्दक! पधारो! आप भले पधारे! (इस प्रकार श्री गौतमस्वामी ने स्कन्दक का सम्मान किया) फिर श्री गौतम स्वामी ने स्कन्दक से कहा—"स्कन्दक! श्रावस्ती नगरी में वैशालिक श्रावक पिंगल निर्ग्रन्थ ने तुम से इस प्रकार आक्षेपपूर्वक पूछा था कि हे मागध! लोक सान्त है या अनन्त? इत्यादि (सब पहले की तरह कहना चाहिए)। (पांच प्रश्न पूछे थे, जिनका उत्तर तुम न दे सके। तुम्हारे मन में शंका, कांक्षा आदि उत्पन्न हुए। यावत्—) उनके प्रश्नों से निरुत्तर होकर उनके उत्तर पूछने के लिए यहाँ भगवान् के पास आए हो। हे स्कन्दक! कहो, यह बात सत्य है या नहीं?"

स्कन्दक ने कहा—"हाँ, गौतम! यह बात सत्य है।

[२०-२ प्र] फिर कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक ने भगवान् गौतम से इस प्रकार पूछा—"गौतम! (मुझे यह बतलाओ कि) कौन ऐसा ज्ञानी और तपस्वी पुरुष है, जिसने मेरे मन की गुप्त बात तुमसे शीघ्र कह दी, जिससे तुम मेरे मन की गुप्त बात को जान गए?"

[उ.] तब भगवान् गौतम ने कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक से इस प्रकार कहा—'हे स्कन्दक! मेरे धर्मगुरु, धर्मोपदेशक, श्रमण भगवान् महावीर, उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धारक हैं, अर्हन्त हैं, जिन हैं, केवली हैं, भूत, भविष्य और वर्तमान काल के ज्ञाता हैं, सर्वज्ञ—सर्वदर्शी हैं, उन्होंने तुम्हारे मन में रही हुई गुप्त बात मुझे शीघ्र कह दी, जिससे हे स्कन्दक! मैं तुम्हारी उस गुप्त बात को जानता हूँ।'

[२०-३] तत्पश्चात् कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक ने भगवान् गौतम से इस प्रकार कहा—"हे गौतम ! (चलो) हम तुम्हारे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास चले, उन्हे वन्दना-नमस्कार करे, यावत्—उनकी पर्युपासना करे ।"

(गौतम स्वामी—) 'हे देवानुप्रिय ! जैसा तुम्हे सुख हो वैसा करो । (इस शुभकार्य मे) विलम्ब न करो ।'

[२०-४] तदनन्तर भगवान् गौतम स्वामी ने कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक के साथ जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ जाने का सकल्प किया ।

विवेचन—श्री गौतमस्वामी द्वारा स्कन्दक परिव्राजक का स्वागत और दोनो का परस्पर वार्तालाप—प्रस्तुत तीन सूत्रो (१८ से २० तक) मे शास्त्रकार ने स्कन्दक परिव्राजक मे पूर्वापर सम्बद्ध निम्नोक्त विषयो का क्रमश प्रतिपादन किया है—

१ श्री भगवान् महावीर द्वारा गौतमस्वामी को स्कन्दक परिव्राजक का परिचय और उसके निकट भविष्य मे शीघ्र आगमन का सकेत ।
२ श्री गौतम स्वामी द्वारा स्कन्दक के निर्ग्रन्थधर्म मे प्रव्रजित होने की पृच्छा और समाधान ।
३ श्री गौतमस्वामी द्वारा अपने पूर्वसाथी स्कन्दक परिव्राजक के सम्मुख जाकर सहर्ष भव्य स्वागत ।
४. स्कन्दक परिव्राजक और गौतम स्वामी का मधुर वार्तालाप ।
५. स्कन्दक द्वारा श्रद्धाभक्तिवश भगवान् महावीर की सेवा मे पहुँचने का सकल्प, श्री गौतम स्वामी द्वारा उसका समर्थन और प्रस्थान ।

विशेषार्थ—रहस्सकडे—गुप्त किया हुआ, केवल मन मे अवधारित ।[1]

भगवान् द्वारा स्कन्दक की मनोगत शंकाओं का समाधान—

२१ तेण कालेण २ समणे भगवं महावीरे वियडभोई याऽवि होत्था । तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स वियडभोगिस्स सरीरयं ओरालं सिंगारं कल्लाणं सिवं धण्णं मंगल्लं सस्सिरीयं अणलंकियविभूसियं लक्खण-वंजणगुणोववेयं सिरीए अतीव २ उवसोभेमाणं चिट्ठइ ।

[२१] उस काल और उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर व्यावृत्तभोजी (प्रतिदिन आहार करने वाले) थे । इसलिए व्यावृत्तभोजी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का शरीर उदार (प्रधान), शृगाररूप, अतिशयशोभासम्पन्न, कल्याणरूप, धन्यरूप, मगलरूप, बिना अलकार के ही सुशोभित, उत्तम लक्षणो, व्यजनो और गुणो से युक्त तथा शारीरिक शोभा से अत्यन्त शोभायमान था ।

२२ तए ण से खंदए कच्चायणसगोत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स वियडभोगिस्स सरीरयं ओरालं जाव अतीव २ उवसोभेमाणं पासइ, २ त्ता हट्ठतुट्ठचित्तमाणदिए नंदिए पीइमणे परमसोम-

१ (क) भगवती गुजराती टीकानुवाद (प बेचरदास जी) खण्ड १, पृ २४९-२५०
(ख) भगवती मूलपाठ टिप्पण (प बेचरदासजी) भाग १, पृ ८०-८१

णस्सिए हरिसवसविसप्पमाणहियए जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता समण भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणप्पयाहिण करेइ जाव पज्जुवासइ ।

[२२] अत व्यावृत्तभोजी श्रमण भगवान् महावीर के उदार यावत् शोभा से अतीव शोभायमान शरीर को देखकर कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक को अत्यन्त हर्ष हुआ, सन्तोष हुआ, एव उसका चित्त आनन्दित हुआ । वह आनन्दित, मन मे प्रीतियुक्त परम सौमनस्यप्राप्त तथा हर्ष से प्रफुल्लहृदय होता हुआ जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ उनके निकट आया । निकट आकर श्रमण भगवान् महावीर की दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा की, यावत् पर्युपासना करने लगा ।

२३ 'खदया !' ति समणे भगव महावीरे खदय कच्चाय० एव वयासी—से नूण तुम खदया ! सावत्थीए नयरीए पिंगलएण णियठेण वेसालियसावएणं इणमक्खेव पुच्छिए 'मागहा ! किं सअते लोए अणते लोए ?' एव तं चेव जाव जेणेव मम अतिए तेणेव हव्वमागए । से नूण खंदया ! अयमट्ठे समट्ठे ।

हंता, अत्थि ।

[२३] तत्पश्चात् 'स्कन्दक !' इस प्रकार सम्बोधित करके श्रमण भगवान् महावीर ने कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक से इस प्रकार कहा—हे स्कन्दक ! श्रावस्ती नगरी मे वैशालिक श्रावक पिंगल निर्ग्रन्थ ने तुमसे इस प्रकार आक्षेपपूर्वक पूछा था कि—मागध ! लोक सान्त है या अनन्त ! आदि । (उसने पाच प्रश्न पूछे थे, तुम उनका उत्तर नही दे सके, इत्यादि सब वर्णन पूर्ववत् जान लेना) यावत्—उसके प्रश्नो से व्याकुल होकर तुम मेरे पास (उन प्रश्नो का उत्तर जानने के लिए) शीघ्र आए हो । हे स्कन्दक ! क्या यह बात सत्य है ।

(स्कन्दक ने कहा—) 'हाँ, भगवन् ! यह बात सत्य है ।'

२४. [१] जे वि य ते खदया ! अयमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए सकप्पे समुप्पज्जित्था—किं सअते लोए, अणते लोए ? तस्स वि य ण अयमट्ठे—एव खलु मए खदया ! चउव्विहे लोए पण्णत्ते, त जहा—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ । दव्वओ ण एगे लोए सअते । खेत्तओ ण लोए असखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयाम-वि भेण, असखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेण प०, अत्थि पुण से अते । कालओ ण लोए ण कयावि न आसी न कयावि न भवति न कयावि न भविस्सति, भुविं च भवति य भविस्सइ य, धुवे णियए सासते अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे, णत्थि पुण से अते । भावओ णं लोए अणता वण्णपज्जवा गध० रस० फासपज्जवा, अणता सठाणपज्जवा, अणता गरुयलहुयपज्जवा, अणता अगरुयलहुयपज्जवा, नत्थि पुण से अते । से त्त खदगा ! दव्वओ लोए सअते, खेत्तओ लोए सअते, कालतो लोए अणते, भावओ लोए अणते ।

[२] जे वि य ते खदया ! जाव सअते जीवे, अणते जीवे ? तस्स वि य ण अयमट्ठे—एव खलु जाव दव्वओ ण एगे जीवे सअते । खेत्तओ ण जीवे असखेज्जपएसिए असखेज्जपदेसोगाढे, अत्थि

पुण से अते। कालओ ण जीवे न कयावि न आसि जाव निच्चे, नत्थि पुणाइ से अते। भावओ ण जीवे अणता णाणपज्जवा अणता दसणपज्जवा अणता चरित्तपज्जवा अणता गरुयलहुयपज्जवा अणता अगरुयलहुयपज्जवा, नत्थि पुण से अते। से त्तं दव्वओ जीवे सअते, खेत्तओ जीवे सअते, कालओ जीवे अणते, भावओ जीवे अणते।

[३] जे वि य ते खदया! पुच्छा। दव्वओ ण एगा सिद्धी सअता, खेत्तओ ण सिद्धी पणयालीसं जोयणसयसहस्साइं आयाम-विक्खभेण, एगा जोयणकोडी बायालीस च जोयणसयसहस्साइं तीस च जोयणसहस्साइ दोन्नि य अउणापन्ने जोयणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेण प०, अत्थि पुण से अते; कालओ णं सिद्धी न कयावि न आसि०; भावओ य जहा लोयस्स तहा भाणियव्वा। तत्थ दव्वओ सिद्धी सअता, खेत्तओ सिद्धी सअता, कालओ सिद्धी अणता, भावओ सिद्धी अणंता।

[४] जे वि य ते खदया! जाव किं अणते सिद्धे ? त चेव जाव दव्वओ ण एगे सिद्धे सअते; खेत्तओ ण सिद्धे असखेज्जपएसिए असखेज्जपदेसोगाढे, अत्थि पुण से अते; कालओ ण सिद्धे सादीए अपज्जवसिए, नत्थि पुण से अते; भावओ सिद्धे अणंता णाणपज्जवा, अणता दसणपज्जवा जाव अणता अगरुयलहुयपज्जवा, नत्थि पुण से अते। से त्त दव्वओ सिद्धे सअंते, खेत्तओ सिद्धे सअते, कालओ सिद्धे अणते, भावओ सिद्धे अणते।

[२४-१] (भगवान् ने फरमाया—) हे स्कन्दक! तुम्हारे मन मे जो इस प्रकार का अध्यवसाय, चिन्तन, अभिलाषा एव सकल्प, समुत्पन्न हुआ था कि 'लोक सान्त है, या अनन्त ?' उस का यह अर्थ (उत्तर) है—हे स्कन्दक! मैंने चार प्रकार का लोक बतलाया है, वह इस प्रकार है—द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक और भावलोक। उन चारो मे से द्रव्य से लोक एक है, और अन्त वाला है, क्षेत्र से लोक असख्य कोडाकोडी योजन तक लम्बा—चौडा है असख्य कोडाकोडी योजन की परिधि वाला है, तथा वह अन्तसहित है। काल से ऐसा कोई काल नही था, जिसमे लोक नही था, ऐसा कोई काल नही है, जिसम लोक नही है, ऐसा कोई काल नही होगा, जिसमे लोक न होगा। लोक सदा था, सदा है, और सदा रहेगा। लोक ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य है। उसका अन्त नही है। भाव से लोक अनन्त वर्णपर्यायरूप, गन्धपर्यायरूप, रसपर्यायरूप और स्पर्श-पर्यायरूप है। इसी प्रकार अनन्त सस्थानपर्यायरूप, अनन्त गुरुलघुपर्यायरूप एव अनन्त अगुरुलघुपर्यायरूप है। उसका अन्त नही है। इस प्रकार हे स्कन्दक! द्रव्य-लोक अन्तसहित है, क्षेत्र-लोक अन्तसहित है, काल-लोक अन्तरहित है और भावलोक भी अन्तरहित है। अतएव लोक अन्तसहित भी है और अन्तरहित भी है।

[२४-२] और हे स्कन्दक! तुम्हारे मन मे यह विकल्प उठा था, कि यावत्—'जीव सान्त है या अन्तरहित है ?' उसका भी अर्थ (स्पष्टीकरण) इस प्रकार है—'यावत् द्रव्य से एक जीव अन्तसहित है। क्षेत्र से—जीव असंख्य प्रदेश वाला है और असख्य प्रदेशो का अवगाहन किये हुए है, अत वह अन्तसहित है। काल से—ऐसा कोई काल नही था, जिसमे जीव न था, यावत्—जीव नित्य है, अन्तरहित है। भाव से—जीव अनन्त-ज्ञानपर्यायरूप है, अनन्तदर्शनपर्यायरूप है, अनन्त-चारित्रपर्यायरूप है, अनन्त गुरुलघुपर्यायरूप है, अनन्त-अगुरुलघुपर्यायरूप है और उसका अन्त नही

(अन्तरहित) है । इस प्रकारद्रव्यजीव और क्षेत्रजीव अन्तसहित है, तथा काल-जीव और भावजीव अन्तरहित है । अत हे स्कन्दक ! जीव अन्तसहित भी है और अन्तरहित भी है ।

[२४-३] हे स्कन्दक ! तुम्हारे मन मे यावत् जो यह विकल्प उठा था कि सिद्धि (सिद्धशिला) सान्त है या अन्तरहित है ? उसका भी यह अर्थ (समाधान) है—हे स्कन्दक ! मैंने चार प्रकार की सिद्धि बताई है । वह इस प्रकार है—द्रव्यसिद्धि, क्षेत्रसिद्धि, कालसिद्धि और भावसिद्धि । १—द्रव्य से सिद्धि एक है, अत अन्तसहित है । २—क्षेत्र से—सिद्धि ४५ लाख योजन की लम्बी-चौडी है, तथा एक करोड, बयालीस लाख, तीस हजार दो सौ उनचास योजन से कुछ विशेषाधिक (झाझेरी) है, अत अन्तसहित है । ३—काल से—ऐसा कोई काल नही था, जिसमे सिद्धि नही थी, ऐसा कोई काल नही है, जिसमे सिद्धि नही है तथा ऐसा कोई काल नही होगा, जिसमे सिद्धि नही रहेगी । अत वह नित्य है, अन्तरहित है । ४—भाव से सिद्धि—जैसे भाव लोक के सम्बन्ध मे कहा था, उसी प्रकार है । (अर्थात् वह अनन्त वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-गुरुलघु-अगुरुलघु-पर्यायरूप है तथा अन्तरहित है) इस प्रकार द्रव्यसिद्धि और क्षेत्रसिद्धि अन्तसहित है तथा कालसिद्धि और भावसिद्धि अन्तरहित है । इसलिए हे स्कन्दक ! सिद्धि अन्त-सहित भी है और अन्तरहित भी है ।

[२४-४] हे स्कन्दक ! फिर तुम्हे यह सकल्प-विकल्प उत्पन्न हुआ था कि सिद्ध अन्तसहित है या अन्तरहित हैं ? उसका अर्थ (सामाधान) भी इस प्रकार है—(यहाँ सब कथन पूर्ववत् कहना चाहिए) यावत्—द्रव्य से एक सिद्ध अन्तसहित है । क्षेत्र से—सिद्ध असख्यप्रदेश वाले तथा असख्य आकाश-प्रदेशो का अवगाहन किये हुए है, अत अन्तसहित है । काल से—(कोई भी एक) सिद्ध आदि-सहित और अन्तरहित है । भाव से—सिद्ध अनन्तज्ञानपर्यायरूप है, अनन्तदर्शनपर्यायरूप है, यावत्—अनन्त-अगुरुलघुपर्यायरूप है तथा अन्तरहित है । अर्थात्—द्रव्य से और क्षेत्र से सिद्ध अन्तसहित है तथा काल से और भाव से सिद्ध अन्तरहित है । इसलिए हे स्कन्दक ! सिद्ध अन्तसहित भी है और अन्तरहित भी है ।

२५. जे वि य ते खदया ! इमेयारूवे अज्झत्थिए चितिए जाव समुप्पज्जित्था केण वा मरणेण मरमाणे जीवे वड्ढति वा हायति वा ? तस्स वि य ण अयमट्ठे—एव खलु खदया ! मए दुविहे मरणे पण्णत्ते, त जहा—बालमरणे य पडियमरणे य ।

[२५] और हे स्कन्दक ! तुम्हे जो इस प्रकार का अध्यवसाय, चिन्तन, यावत्—सकल्प उत्पन्न हुआ था कि कौन-से मरण से मरते हुए जीव का ससार बढता है और कौन-से मरण से मरते हुए जीव का ससार घटता है ? उसका भी अर्थ (समाधान) यह है—हे स्कन्दक ! मैने दो प्रकार के मरण बतलाए है । वे इस प्रकार हैं—बालमरण और पण्डितमरण ।

२६ से किं त बालमरणे ?

बालमरणे दुवालसविहे प०, त जहा—वलयमरणे १ वसट्टमरणे २ अतोसल्लमरणे ३ तब्भव-मरणे ४ गिरिपडणे ५ तरुपडणे ६ जलप्पवेसे ७ जलणप्पवेसे ८ विसभक्खणे ९ सत्थोवाडणे १० वेहाणसे ११ गद्धपट्ठे १२ ।

इच्चेते ण खदया ! दुवालसविहेणं बालमरणेण मरमाणे जीवे अणतेहिं नेरइयभवग्गहणेहिं

अप्पाणं सजोएइ, तिरिय० मणुय० देव०, अणाइय च ण अणवदग्ग दीहमद्ध चाउरत मसारकतार अणुपरियट्टइ, से त्त मरमाणे वड्ढइ। से त्त वालमरणे।

[२६] 'वह बालमरण क्या है ?' बालमरण बारह प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार है—(१) बलयमरण (वलन्मरण—तडफते हुए मरना), (२) वशार्तमरण (पराधीनतापूर्वक या विषयवश होकर रिब रिब कर मरना), (३) अन्त शल्यमरण (हृदय मे शल्य रखकर मरना, या शरीर मे कोई तीखा शस्त्रादि घुस जाने से मरना अथवा सन्मार्ग से भ्रष्ट होकर मरना), (४) तद्भव-मरण (मरकर उसी भव मे पुन उत्पन्न होना, और मरना), (५) गिरिपतन (६) तरुपतन, (७) जल-प्रवेश (पानी मे डूबकर मरना), (८) ज्वलनप्रवेश (अग्नि मे जलकर मरना), (९) विपभक्षण (विप खाकर मरना), (१०) शस्त्रावपाटन (शस्त्राघात से मरना), (११) वैहानस मरण (गले मे फासी लगाने या वृक्ष आदि पर लटकने से होने वाला मरण) और (१२) गृध्रपृष्ठमरण (गिद्ध आदि पक्षियो द्वारा पीठ आदि शरीरावयवो का मास खाये जाने से होने वाला मरण)।

हे स्कन्दक ! इन बारह प्रकार के वालमरणो से मरता हुआ जीव अनन्त वार नारक भवो को प्राप्त करता है, तथा नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, इस चातुर्गतिक अनादि-अनन्त ससाररूप कान्तार (वन) मे बार-बार परिभ्रमण करता है। अर्थात्—इस तरह बारह प्रकार के बालमरण से मरता हुआ जीव अपने ससार को बढाता है। यह है—बालमरण का स्वरूप।

२७ से किं त पडियमरणे ?

पडियमरणे दुविहे प०, त०—पाओवगमणे य भत्तपच्चक्खाणे य।

[२७] पण्डितमरण क्या है ?

पण्डितमरण दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—पादपोपगमन (वृक्ष की कटी हुई शाखा की तरह स्थिर (निश्चल) होकर मरना) और भक्त-प्रत्याख्यान (यावज्जीवन तीन या चारो आहारो का त्याग करने के बाद शरीर की सार सभाल करते हुए जो मृत्यु होती है)।

२८. से किं त पाओवगमणे ?

पाओवगमणे दुविहे प०, त जहा—नीहारिमे य अनीहारिमे य, नियमा अप्पडिकम्मे। से त्त पाओवगमणे।

[२८] पादपोपगमन (मरण) क्या है ?

पादपोपगमन दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—निर्हारिम और अनिर्हारिम। यह दोनो प्रकार का पादपोपगमन-मरण नियम से अप्रतिकर्म होता है। यह है—पादपोपगमन का स्वरूप।

२९. से किं त भत्तपच्चक्खाणे ?

भत्तपच्चक्खाणे दुविहे प०, त जहा—नीहारिमे य अनीहारिमे य, नियमा सपडिकम्मे। से त्तं भत्तपच्चक्खाणे।

[२९] भक्तप्रत्याख्यान (मरण) क्या है ?

भक्तप्रत्याख्यान मरण दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—निर्हारिम और

अनिर्हारिम । यह दोनो प्रकार का भक्तप्रत्याख्यान-मरण नियम से सप्रतिकर्म होता है । यह है—भक्त प्रत्याख्यान का स्वरूप ।

३०. इच्चेतेण खदया ! दुविहेण पडियमरणेण मरमाणे जीवे अणतेहि नेरइयभवग्गहणेहि अप्पाण विसजोएइ जाव वीईवयति । से त्त मरमाणे हायइ हायइ । से त्त पडियमरणे ।

[३०] हे स्कन्दक ! इन दोनो प्रकार के पण्डितमरणो से मरता हुआ जीव नारकादि अनन्त भवो को प्राप्त नही करता, यावत् ससाररूपी अटवी को उल्लघन (पार) कर जाता है । इस प्रकार इन दोनो प्रकार के पण्डितमरणो से मरते हुए जीव का ससार घटता है । यह है—पण्डितमरण का स्वरूप !

३१ इच्चेएण खदया ! दुविहेण मरणेण मरमाणे जीवे वड्ढइ वा हायति वा ।

[३१] हे स्कन्दक ! इन दो प्रकार (बालमरण और पण्डितमरण) के मरणो से मरते हुए जीव का ससार (क्रमश) बढता और घटता है ।

विवेचन—भगवान् द्वारा स्कन्दक की मनोगत शकाओ का समाधान—प्रस्तुत ग्यारह सूत्रो (२१ से ३१ तक) मे स्कन्दक परिव्राजक के भगवान् महावीर के पास जाने से लेकर भगवान् द्वारा उसकी मनोगत शकाओ का विश्लेषणपूर्वक यथार्थ समाधान पर्यन्त का विवरण प्रस्तुत किया गया है । उसका क्रम इस प्रकार है—

(१) प्रथम दर्शन मे ही स्कन्दक का भगवान् के अतीव तेजस्वी व्यक्तित्व से प्रभावित, चित्त मे हर्षित एव सन्तुष्ट होना तथा भगवान् के प्रति प्रीति उत्पन्न होना । उसके द्वारा भगवान् की प्रदक्षिणा, वन्दना, यावत् पर्युपासना करना । (२) भगवान् द्वारा स्कन्दक के समक्ष उसकी मनोगत बातें प्रकट करना, (३) तत्पश्चात् एक-एक करके स्कन्दक की पूर्वोक्त पाचो मनोगत शकाओ को अभिव्यक्त करते हुए भगवान् द्वारा विश्लेषणपूर्वक अनेकान्त दृष्टि से समाधान करना ।

भगवान् द्वारा किये गये समाधान का निष्कर्ष—(१) लोक द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा सान्त है तथा काल और भाव की अपेक्षा अनन्त है । (२) जीव भी इसी प्रकार है । (३-४) यही समाधान सिद्धि और सिद्ध के विषय मे है । (५) मरण दो प्रकार के है—बालमरण और पण्डितमरण । द्विविध बालमरणो से जीव ससार बढाता है और द्विविध पण्डितमरणो से घटाता है ।

नीहारिमे-अनीहारिमे—निर्हारिम और अनिर्हारिम, ये दोनो भेद पादपोपगमन और भक्त-प्रत्याख्यान इन दोनो के है । निर्हार शब्द का अर्थ है—बाहर निकलना । निर्हार से जो निष्पन्न हो, वह निर्हारिम है । अर्थात् जो साधु उपाश्रय मे ही (पूर्वोक्त दोनो पण्डितमरणो मे से किसी एक से) मरण पाता है—अपना शरीर छोडता है । ऐसी स्थिति मे उस साधु के शव को उपाश्रय से बाहर निकालकर सस्कारित किया जाता है, अतएव उस साधु का उक्त पण्डितमरण 'निर्हारिम' कहलाता है । जो साधु अरण्य आदि मे ही अपने शरीर को छोडता है—पण्डितमरण पाता है । उसके शरीर (शव) को कही बाहर नही निकाला जाता, अत उक्त साधु का वैसा पण्डितमरण **'अनिर्हारिम'** कहलाता है ।

इंगितमरण—यह भी पण्डितमरण है, किन्तु भक्तप्रत्याख्यानमरण का ही विशिष्ट प्रकार होने से उसका पृथक् उल्लेख नही किया गया।

अपडिक्कम्मे-सपडिक्कम्मे—अप्रतिकर्म और सप्रतिकर्म, ये क्रमश पादपोपगमन और भक्त-प्रत्याख्यानमरण के ही लक्षणरूप हैं। पादपोपगमनमरण मे चारो प्रकार के आहार का त्याग अनिवार्य है, साथ ही वह नियमत अप्रतिकर्म-शरीरसस्काररहित होता है, जबकि भक्तप्रत्याख्यान सप्रतिकर्म—शरीर की सारसभाल करते हुए होता है।

वियडभोई-वियट्टभोई तीन अर्थ—(१) विकट-भोजी = अचित्त भोजी, (२) व्यावृत्तभोजी सूर्य के व्यावृत्त—प्रकाशित होने पर भोजनकर्ता—प्रतिदिन दिवसभोजी और (३) व्यावृत्तभोजी = अनैषणीय आहार से निवृत्त अर्थात् एषणीय आहारभोक्ता।[1]

स्कन्दक द्वारा धर्मकथाश्रवण, प्रतिबोध, प्रव्रज्याग्रहण और निर्ग्रन्थधर्माचरण—

३२. [१] एत्थ ण से खदए कच्चायणसगोत्ते सबुद्धे समण भगव महावीर वदइ नमसइ, २ एव वदासी—इच्छामि ण भते ! तुब्भ अतिए केवलिपन्नत्त धम्म निसामेत्तए।

[२] अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबध करेह।

[३२-१] (भगवान् महावीर के इन (पूर्वोक्त) वचनो से समाधान पाकर) कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक को सम्बोध प्राप्त हुआ। उसने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार करके यो कहा—'भगवन् ! मैं आपके पास केवलिप्ररूपित धर्म सुनना चाहता हूँ।'

[३२-२] हे देवानुप्रिय ! जैसा तुम्हे सुख हो, वैसा करो, शुभकार्य मे विलम्ब मत करो।

३३. तए ण समणे भगव महावीरे खदयस्स कच्चायणसगोत्तस्स तीसे य महतिमहालियाए परिसाए धम्म परिकहेइ। धम्मकहा भाणियव्वा।

[३३] इसके पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक को और उस बहुत बडी परिषद् को धर्मकथा कही। (यहाँ धर्मकथा का वर्णन (औपपातिक सूत्र के अनुसार) करना चाहिए।)

३४ तए ण से खदए कच्चायणसगोत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए धम्म सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठे जाव हियए उट्ठाए उट्ठेइ, २ समण भगव महावीर तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिणं करेइ, २ एव वदासी—सद्दहामि ण भते ! निग्गथ पावयण, पत्तियामि ण भते ! निग्गथ पावयणं रोएमि ण भते ! निग्गथ पावयण, अब्भुट्ठेमि ण भते ! निग्गथ पावयण, एवमेय भते!, तहमेय भते !, अवितहमेय भते !, असदिद्धमेय भते !, इच्छियमेय भते !, पडिच्छियमेय भते !, इच्छियपडिच्छियमेय भते !, से जहेय तुब्भे वदह त्ति कट्टु समण भगव महावीर वदति नमसति, २ उत्तरपुरत्थिम दिसीभाय

---

१ (क) भगवती अ वृत्ति पत्राक ११८, (ख) भगवती मू पा टि भा १, पृ ८१, (ग) भगवती प्रमेयचन्द्रिका टीका भा २पृ ५५३ (घ) आचाराग श्रु १ अ ९ मे, उत्तरा २।४, तथा समवायाग ११ मे 'वियड' शब्द का यही अर्थ है।

अवक्कमइ, २ तिदंडं च कुंडियं च जाव धातुरत्ताओ य एगंते एडेइ, २ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, २ समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता जाव नमंसित्ता एवं वदासी—

आलित्ते णं भंते ! लोए, पलित्ते णं भंते ! लोए, आलित्तपलित्ते णं भंते ! लोए जराए मरणेण य। से जहानामए केइ गाहावती अगारंसि झियायमाणंसि जे से तत्थ भंडे भवइ अप्पसारे मोल्लगरुए तं गहाय आयाए एगंतमंतं अवक्कमइ, एस मे नित्थारिए समाणे पच्छा पुरा य हियाए सुहाए खमाए निस्सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ। एवामेव देवाणुप्पिया ! मज्झ वि आया एगे भंडे इट्ठे कंते पिए मणुन्ने मणामे थेज्जे वेसासिए सम्मए बहुमए अणुमए भंडकरंडगसमाणे, मा णं सीतं, मा णं उण्हं, मा णं खुहा, मा णं पिवासा, मा णं चोरा, मा णं वाला, मा णं दंसा, मा णं मसगा, मा णं वाइय-पित्तिय-सिंभिय-सन्निवाइय विविहा रोगायंका परीसहोवसग्गा फुसंतु त्ति कट्टु, एस मे नित्थारिए समाणे परलोयस्स हियाए सुहाए खमाए नीसेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ। तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! सयमेव पव्वावियं, सयमेव मुंडावियं, सयमेव सेहावियं, सयमेव सिक्खावियं, सयमेव आयार-गोयरं विणय-वेणइय-चरण-करण-जाया-मायावत्तियं धम्ममाइक्खिअं।

[३४] तत्पश्चात् वह कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक श्रमण भगवान् महावीर के श्रीमुख से धर्मकथा सुनकर एवं हृदय में अवधारण करके अत्यन्त हर्षित हुआ, सन्तुष्ट हुआ, यावत् उसका हृदय हर्ष से विकसित हो गया। तदनन्तर खड़े होकर और श्रमण भगवान् महावीर को दाहिनी ओर से तीन बार प्रदक्षिणा करके स्कन्दक परिव्राजक ने इस प्रकार कहा—"भगवन् ! निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर मैं श्रद्धा करता हूँ, निर्ग्रन्थ प्रवचन पर मैं प्रतीति करता हूँ, भगवन् ! निर्ग्रन्थ-प्रवचन में मुझे रुचि है, भगवन् ! निर्ग्रन्थ प्रवचन में (प्रव्रजित होने के लिए) अभ्युद्यत होता हूँ (अथवा निर्ग्रन्थ प्रवचन को स्वीकार करता हूँ)। हे भगवन् ! यह (निर्ग्रन्थ प्रवचन) इसी प्रकार है, यह तथ्य है, यह सत्य है, यह असंदिग्ध है, भगवन् !, यह मुझे इष्ट है, प्रतीष्ट है, इष्ट-प्रतीष्ट है। हे भगवन् ! जैसा आप फरमाते हैं, वैसा ही है।" यों कह कर स्कन्दक परिव्राजक ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। ऐसा करके उसने उत्तरपूर्व दिशा-भाग (ईशानकोण) में जाकर त्रिदण्ड, कुण्डिका, यावत् गेरुए वस्त्र आदि परिव्राजक के उपकरण एकान्त में छोड़ दिये। फिर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ आकर भगवान् महावीर को तीन बार प्रदक्षिणा करके यावत् नमस्कार करके इस प्रकार कहा—

'भगवन् ! वृद्धावस्था और मृत्यु रूपी अग्नि से यह लोक (संसार) आदीप्त-प्रदीप्त (जल रहा है, विशेष जल रहा) है, वह एकदम जल रहा है और विशेष जल रहा है। जैसे किसी गृहस्थ के घर में आग लग गई हो और वह घर जल रहा हो, तब वह उस जलते घर में से बहुमूल्य और अल्प भार (वजन) वाले सामान को पहले बाहर निकालता है, और उसे लेकर वह एकान्त में जाता है। वह यह सोचता है—(अग्नि में से बचाकर) बाहर निकाला हुआ यह सामान भविष्य में आगे-पीछे मेरे लिए हितरूप, सुखरूप, क्षेमकुशलरूप, कल्याणरूप, एवं साथ चलने वाला (अनुगामीरूप) होगा। इसी तरह हे देवानुप्रिय भगवन् ! मेरा आत्मा भी एक भाण्ड (सामान) रूप है। यह मुझे इष्ट, कान्त,

प्रिय, सुन्दर, मनोज्ञ, मनोरम, स्थिरता वाला, विश्वासपात्र, सम्मत, अनुमत, बहुमत और रत्नो (या आभूषणो) के पिटारे के समान है। इसलिए इसे ठड न लगे, गर्मी न लगे, यह भूख-प्यास से पीडित न हो, इसे चोर, सिंह और सर्प हानि न पहुँचाएँ, इसे डास और मच्छर न सताएँ, तथा वात, पित्त, कफ, सन्निपात आदि विविध रोग और आतक (प्राणघातक रोग) परीषह और उपसर्ग इसे स्पर्श न करे, इसप्रकार मैं इनसे इसकी बराबर रक्षा करता हूँ। पूर्वोक्त विघ्नो से रक्षित किया हुआ मेरा आत्मा मुझे परलोक मे हितरूप, सुखरूप, कुशलरूप, कल्याणरूप और अनुगामीरूप होगा। इसलिए भगवन्! मैं आपके पास स्वय प्रव्रजित होना, स्वयं मुण्डित होना चाहता हूँ। मेरी इच्छा है कि आप स्वय मुझे प्रव्रजित करे, मुण्डित करें, आप स्वय मुझे प्रतिलेखनादि क्रियाएँ सिखाएँ, सूत्र और अर्थ पढाएँ। मैं चाहता हूँ कि आप मुझे ज्ञानादि आचार, गोचर (भिक्षाचरी), विनय, विनय का फल, चारित्र (व्रतादि) और पिण्ड-विशुद्धि आदि करण तथा सयम यात्रा और सयमयात्रा के निर्वाहक आहारादि की मात्रा के ग्रहणरूप धर्म को कहे।'

३५ तए ण समणे भगवं महावीरे खदय कच्चायणसगोत्त सयमेव पव्वावेइ जाव धम्म-माइक्खइ—एव देवाणुप्पिया! गतव्व, एव चिट्ठियव्व, एव निसीतियव्व, एव तुयट्टियव्व, एव भु जियव्व, एव भासियव्व एव उट्ठाय उट्ठाय पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमेणं सजमियव्वं, अस्सिं च ण अट्ठे णो किंचि वि पमाइयव्व।

[३५] तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने स्वयमेव कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक को प्रव्रजित किया, यावत् स्वयमेव धर्म की शिक्षा दी कि हे देवानुप्रिय! इस प्रकार (यतना) से चलना चाहिए, इस तरह से खडा रहना चाहिए, इस तरह से बैठना चाहिए, इस तरह से सोना चाहिए, इस तरह से खाना चाहिए, इस तरह से बोलना चाहिए, इस प्रकार से उठकर सावधानतापूर्वक प्राण, भूत, जीव और सत्त्व के प्रति सयमपूर्वक बर्ताव करना चाहिये। इस विषय मे जरा भी प्रमाद नही करना चाहिए।

३६. तए ण से खदए कच्चायणसगोत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स इम एयारूव धम्मियं उवएस सम्म संपडिवज्जति, तमाणाए तह गच्छइ, तह चिट्ठइ, तह निसीयति, तह तुयट्टइ, तह भुंजइ, तह भासइ, तह उट्ठाय २ पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं सजमेण सजमइ, अस्सिं च णं अट्ठे णो पमायइ।

[३६] तब कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक मुनि ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पूर्वोक्त धार्मिक उपदेश को भलीभाति स्वीकार किया और जिस प्रकार की भगवान् महावीर की आज्ञा थी, तदनुसार श्री स्कन्दकमुनि चलने लगे, वैसे ही खडे रहने लगे, वैसे ही बैठने, सोने, खाने, बोलने आदि की क्रियाएँ करने लगे, तथा तदनुसार ही प्राणो, भूतो, जीवो और सत्त्वो के प्रति सयमपूर्वक वर्ताव करने लगे। इस विषय मे वे जरा-सा भी प्रमाद नही करते थे।

३७ तए णं से खदए कच्चायणसगोत्ते अणगारे जाते इरियासमिए भासासमिए एसणासमिए आयाणभडमत्तनिक्खेवणासमिए उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्ल-परिट्ठावणियासमिए मणसमिए

अवक्कमइ, २ तिदंड च कुंडिय च जाव धातुरत्ताओ य एगते एडेइ, २ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, २ समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता जाव नमंसित्ता एवं वदासी—

आलित्ते णं भंते ! लोए, पलित्ते णं भंते ! लोए, आलित्तपलित्ते णं भंते ! लोए जराए मरणेण य। से जहानामए केइ गाहावती अगारंसि झियायमाणंसि जे से तत्थ भंडे भवइ अप्पसारे मोल्लगरुए तं गहाय आयाए एगतमंतं अवक्कमइ, एस मे नित्थारिए समाणे पच्छा पुरा य हियाए सुहाए खमाए निस्सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ। एवामेव देवाणुप्पिया ! मज्झ वि आया एगे भंडे इट्ठे कंते पिए मणुन्ने मणामे थेज्जे वेसासिए सम्मए बहुमए अणुमए भंडकरंडगसमाणे, मा णं सीतं, मा णं उण्हं, मा णं खुहा, मा णं पिवासा, मा णं चोरा, मा णं वाला, मा णं दंसा, मा णं मसगा, मा णं वाइय-पित्तिय-सिंभिय-सन्निवाइय विविहा रोगायंका परीसहोवसग्गा फुसंतु त्ति कट्टु, एस मे नित्थारिए समाणे परलोयस्स हियाए सुहाए खमाए नीसेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ। तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! सयमेव पव्वावियं, सयमेव मुंडावियं, सयमेव सेहावियं, सयमेव सिक्खावियं, सयमेव आयार-गोयरं विणय-वेणइय-चरण-करण-जाया-मायावत्तियं धम्ममाइक्खिअं।

[३४] तत्पश्चात् वह कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक श्रमण भगवान् महावीर के श्रीमुख से धर्मकथा सुनकर एवं हृदय में अवधारण करके अत्यन्त हर्षित हुआ, सन्तुष्ट हुआ, यावत् उसका हृदय हर्ष से विकसित हो गया। तदनन्तर खड़े होकर और श्रमण भगवान् महावीर को दाहिनी ओर से तीन बार प्रदक्षिणा करके स्कन्दक परिव्राजक ने इस प्रकार कहा—"भगवन् ! निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर मैं श्रद्धा करता हूँ, निर्ग्रन्थ प्रवचन पर मैं प्रतीति करता हूँ, भगवन् ! निर्ग्रन्थ-प्रवचन मे मुझे रुचि है, भगवन् ! निर्ग्रन्थ प्रवचन मे (प्रव्रजित होने के लिए) अभ्युद्यत होता हूँ (अथवा निर्ग्रन्थ प्रवचन को स्वीकार करता हूँ)। हे भगवन् ! यह (निर्ग्रन्थ प्रवचन) इसी प्रकार है, यह तथ्य है, यह सत्य है, यह असंदिग्ध है, भगवन् !, यह मुझे इष्ट है, प्रतीष्ट है, इष्ट-प्रतीष्ट है। हे भगवन् ! जैसा आप फरमाते हैं, वैसा ही है।" यो कह कर स्कन्दक परिव्राजक ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। ऐसा करके उसने उत्तरपूर्व दिशा-भाग (ईशानकोण) में जाकर त्रिदण्ड, कुण्डिका, यावत् गेरुए वस्त्र आदि परिव्राजक के उपकरण एकान्त मे छोड दिये। फिर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ आकर भगवान् महावीर को तीन बार प्रदक्षिणा करके यावत् नमस्कार करके इस प्रकार कहा—

'भगवन् ! वृद्धावस्था और मृत्यु रूपी अग्नि से यह लोक (संसार) आदीप्त-प्रदीप्त (जल रहा है, विशेष जल रहा) है, वह एकदम जल रहा है और विशेष जल रहा है। जैसे किसी गृहस्थ के घर मे आग लग गई हो और वह घर जल रहा हो, तब वह उस जलते घर मे से बहुमूल्य और अल्प भार (वजन) वाले सामान को पहले बाहर निकालता है, और उसे लेकर वह एकान्त मे जाता है। वह यह सोचता है—(अग्नि मे से बचाकर) बाहर निकाला हुआ यह सामान भविष्य मे आगे-पीछे मेरे लिए हितरूप, सुखरूप, क्षेमकुशलरूप, कल्याणरूप, एवं साथ चलने वाला (अनुगामीरूप) होगा। इसी तरह हे देवानुप्रिय भगवन् ! मेरा आत्मा भी एक भाण्ड (सामान) रूप है। यह मुझे इष्ट, कान्त,

प्रिय, सुन्दर, मनोज्ञ, मनोरम, स्थिरता वाला, विश्वासपात्र, सम्मत, अनुमत, बहुमत और रत्नो (या आभूषणो) के पिटारे के समान है। इसलिए इसे ठंड न लगे, गर्मी न लगे, यह भूख-प्यास से पीडित न हो, इसे चोर, सिंह और सर्प हानि न पहुँचाएँ, इसे डास और मच्छर न सताएँ, तथा वात, पित्त, कफ, सन्निपात आदि विविध रोग और आतक (प्राणघातक रोग) परीषह और उपसर्ग इसे स्पर्श न करे, इसप्रकार मै इनसे इसकी बराबर रक्षा करता हूँ। पूर्वोक्त विघ्नो से रक्षित किया हुआ मेरा आत्मा मुझे परलोक मे हितरूप, सुखरूप, कुशलरूप, कल्याणरूप और अनुगामीरूप होगा। इसलिए भगवन्! मैं आपके पास स्वय प्रव्रजित होना, स्वयं मुण्डित होना चाहता हूँ। मेरी इच्छा है कि आप स्वय मुझे प्रव्रजित करे, मुण्डित करे, आप स्वय मुझे प्रतिलेखनादि क्रियाएँ सिखाएँ, सूत्र और अर्थ पढाएँ। मै चाहता हूँ कि आप मुझे ज्ञानादि आचार, गोचर (भिक्षाचरी), विनय, विनय का फल, चारित्र (व्रतादि) और पिण्ड-विशुद्धि आदि करण तथा सयम यात्रा और सयमयात्रा के निर्वाहक आहारादि की मात्रा के ग्रहणरूप धर्म को कहे।'

३५ तए ण समणे भगव महावीरे खदय कच्चायणसगोत्त सयमेव पव्वावेइ जाव धम्म-माइक्खइ—एव देवाणुप्पिया! गतव्व, एव चिट्ठियव्व, एव निसीतियव्व, एव तुयट्टियव्व, एव भुंजियव्व, एव भासियव्व एव उट्ठाय उट्ठाय पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं सजमेणं सजमियव्वं, अस्सि च ण अट्ठे णो किंचि वि पमाइयव्व।

[३५] तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने स्वयमेव कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक को प्रव्रजित किया, यावत् स्वयमेव धर्म की शिक्षा दी कि हे देवानुप्रिय! इस प्रकार (यतना) से चलना चाहिए, इस तरह से खडा रहना चाहिए, इस तरह से बैठना चाहिए, इस तरह से सोना चाहिए, इस तरह से खाना चाहिए, इस तरह से बोलना चाहिए, इस प्रकार से उठकर सावधानतापूर्वक प्राण, भूत, जीव और सत्त्व के प्रति सयमपूर्वक बर्ताव करना चाहिये। इस विषय मे जरा भी प्रमाद नही करना चाहिए।

३६. तए णं से खदए कच्चायणसगोत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स इम एयारूव धम्मिय उवएस सम्म संपडिवज्जति, तमाणाए तह गच्छइ, तह चिट्ठइ, तह निसीयति, तह तुयट्टइ, तह भुंजइ, तह भासइ, तह उट्ठाय २ पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं सजमेण सजमइ, अस्सि च णं अट्ठे णो पमायइ।

[३६] तब कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक मुनि ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पूर्वोक्त धार्मिक उपदेश को भलीभाति स्वीकार किया और जिस प्रकार की भगवान् महावीर की आज्ञा थी, तदनुसार श्री स्कन्दकमुनि चलने लगे, वैसे ही खडे रहने लगे, वैसे ही बैठने, सोने, खाने, बोलने आदि की क्रियाएँ करने लगे, तथा तदनुसार ही प्राणो, भूतो, जीवो और सत्त्वो के प्रति सयमपूर्वक वर्ताव करने लगे। इस विषय मे वे जरा-सा भी प्रमाद नही करते थे।

३७ तए ण से खदए कच्चायणसगोत्ते अणगारे जाते इरियासमिए भासासमिए एसणासमिए आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्ल-परिट्ठावणियासमिए मणसमिए

वयसमिए कायसमिए मणगुत्ते वइगुत्ते कायगुत्ते गुत्ते गुत्तिंदिए गुत्तबंभचारी चाई लज्जू धण्णे खंतिखमे जिंतिंदिए सोहिए अणियाणे अप्पुस्सुए अबहिल्लेस्से सुसामण्णरए दंते इणमेव णिग्गंथं पावयणं पुरओ काउं विहरइ।

[३७] अब वह कात्यायन गोत्रीय स्कन्दक अनगार हो गए। वह अब ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमिति, उच्चार-प्रस्रवण-खेल-जल्ल-सिंघाण-परिष्ठापनिका समिति, एवं मन समिति, वचनसमिति और कायसमिति, इन आठ समितियों का सम्यक् रूप से सावधानतापूर्वक पालन करने लगे। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति से गुप्त रहने लगे, अर्थात्—मन, वचन और काया को वश में रखने लगे। वे सबको वश में रखने वाले (गुप्त) इन्द्रियों को गुप्त (सुरक्षित=वश में) रखने वाले, गुप्तब्रह्मचारी, त्यागी, लज्जावान् (संयमी=सरल) धन्य (पुण्यवान् या धर्मधनवान्), क्षमावान्, जितेन्द्रिय, व्रतों आदि के शोधक (शुद्धिपूर्वक आचरणकर्ता) निदानरहित (नियाणा न करने वाले), आकांक्षारहित, उतावल से दूर, संयम से बाहर चित्त न रखने वाले, श्रेष्ठ साधुव्रतों में लीन, दान्त स्कन्दक मुनि इसी निर्ग्रन्थ प्रवचन को सम्मुख रखकर विचरण करने लगे, (अर्थात्—निर्ग्रन्थप्रवचनानुसार सब क्रियाएँ करने लगे)।

विवेचन—स्कन्दक द्वारा धर्मकथाश्रवण, प्रतिबोध, प्रव्रज्याग्रहण एवं निर्ग्रन्थ धर्माचरण— प्रस्तुत छह सूत्रों (३२ से ३७ तक) में शास्त्रकार ने स्कन्दक परिव्राजक के द्वारा धर्मकथाश्रवण से लेकर प्रव्रजित होकर निर्ग्रन्थ धर्माचरण तक का विवरण प्रस्तुत किया है। यहाँ पूर्वापर सम्बद्ध विषय क्रम इस प्रकार है—स्कन्दक की धर्म-श्रवण की इच्छा, भगवान् द्वारा धर्मोपदेश, निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति श्रद्धा की अभिव्यक्ति, प्रतिबोध, संसार से विरक्ति, निर्ग्रन्थ धर्म में प्रव्रजित करने के लिए निवेदन, भगवान् द्वारा निर्ग्रन्थधर्मदीक्षा, तत्पश्चात् निर्ग्रन्थधर्माचरण से सम्बन्धित समिति-गुप्ति आदि की शिक्षा, आज्ञानुसार शास्त्रोक्त साध्वाचारपूर्वक विचरण इत्यादि।

कठिन शब्दों की व्याख्या—आयार-गोयरं=ज्ञानादि आचार और गोचर (भिक्षाटन) **वेणइय**-विनय का आचरण या विनयोत्पन्न चारित्र। **जाया-मायावत्तियं**=संयमयात्रा, और आहारादि की मात्रादि वृत्ति, **चरण**=चारित्र, **करण**=पिण्डविशुद्धि। **अप्पुस्सुए**=उत्सुकतारहित। **लज्जू**=लज्जावान् या रज्जू (रस्सी) की तरह सरल—अवक्र।[1]

३८ तए णं समणे भगवं महावीरे कयंगलाओ नयरीओ छत्तपलासाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ, २ बहिया जणवयविहारं विहरति।

[३८] तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कृतंगला नगरी के छत्रपलाशक उद्यान से निकले और बाहर (अन्य) जनपदों (देशों) में विचरण करने लगे।

स्कन्दक द्वारा शास्त्राध्ययन भिक्षुप्रतिमाऽऽराधन और गुणरत्नादि तपश्चरण—

३९ तए णं से खंदए अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ, २ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, २

१ (क) भगवती अ वृत्ति, पत्रांक १२२, (ख) भगवती टीकानुवाद (पं. बेचर) खण्ड १, पृ. २५३

समण भगव महावीर वदइ नमसइ, २ एव वयासी—इच्छामि ण भते ! तुब्भेहि अब्भणुण्णाए समाणे मासिय भिक्खुपडिम उवसपज्जित्ताण विहरित्तए ।

अहासुह देवाणुप्पिया ! मा पडिबध करेह ।

[३९] इसके बाद स्कन्दक अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर के तथारूप स्थविरो से सामायिक आदि ग्यारह अगो का अध्ययन किया । शास्त्र-अध्ययन करने के बाद श्रमण भगवान् महावीर के पास आकर वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार बोले—'भगवन् ! आपकी आज्ञा हो तो मैं मासिकी भिक्षुप्रतिमा अगीकार करके विचरना चाहता हूँ ।'

(भगवान्—) हे देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हे सुख हो, वैसा करो । शुभ कार्य मे प्रतिबन्ध न करो (रुकावट न डालो) ।

४० तए ण से खदए अणगारे समणेण भगवया महावीरेण अब्भणुण्णाए समाणे हट्ठ जाव नमसित्ता मासिय भिक्खुपडिम उवसपज्जित्ताण विहरइ ।

[४०] तत्पश्चात् स्कन्दक अनगार श्रमण भगवान् महावीर की आज्ञा प्राप्त करके अतीव हर्षित हुए और यावत् भगवान् महावीर को नमस्कार करके मासिक भिक्षुप्रतिमा अगीकार करके विचरण करने लगे ।

४१ [१] तए ण से खदए अणगारे मासिय भिक्खुपडिम अहासुत्त अहाकप्प अहामग्ग अहातच्च अहासम्म काएण फासेति पालेति सोहेति तीरेति पूरेति किट्टेति अणुपालेइ आणाए आराहेइ, काएण फासित्ता जाव आराहेत्ता जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छइ, २ समण भगव जाव नमसित्ता एव वयासी—इच्छामि ण भते ! तुब्भेहि अब्भणुण्णाए समाणे दोमासिय भिक्खुपडिम उवसपज्जित्ताण विहरित्तए ।

अहासुह देवाणुप्पिया ! मा पडिबध० ।

[२] त चेव ।

[४१] तदनन्तर स्कन्दक अनगार ने सूत्र के अनुसार, मार्ग के अनुसार, यथातत्त्व (सत्यतापूर्वक), सम्यक् प्रकार से स्वीकृत मासिक भिक्षुप्रतिमा का काया से स्पर्श किया, पालन किया, उसे शोभित (शुद्धता से आचरण=शोधित) किया, पार लगाया, पूर्ण किया, उसका कीर्तन (गुणगान) किया, अनुपालन किया, और आज्ञापूर्वक आराधन किया । उक्त प्रतिमा का काया से सम्यक् स्पर्श करके यावत् उसका आज्ञापूर्वक आराधन करके जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ आए और श्रमण भगवान् महावीर को यावत् वन्दन-नमस्कार करके यो बोले—'भगवन् ! आपकी आज्ञा हो तो मैं द्विमासिकी भिक्षुप्रतिमा स्वीकार करके विचरण करना चाहता हूँ ।'

इस पर भगवान् ने कहा— 'हे देवानुप्रिय ! तुम्हे जैसा सुख हो वैसा करो, शुभकार्य मे विलम्ब न करो ।'

[४१-२] तत्पश्चात् स्कन्दक अनगार ने द्विमासिकी भिक्षुप्रतिमा को स्वीकार किया । (सभी वर्णन पूर्ववत् कहना), यावत् सम्यक् प्रकार से आज्ञापूर्वक आराधन किया ।

वयसमिए कायसमिए मणगुत्ते वइगुत्ते कायगुत्ते गुत्ते गुत्तिंदिए गुत्तबभचारी चाई लज्जू धण्णे खतिखमे जिंतिदिए सोहिए अणियाणे अप्पुस्सुए अबहिल्लेस्से सुसामण्णरए दते इणमेव णिग्गथ पावयण पुरओ काउ विहरइ।

[३७] अब वह कात्यायन गोत्रीय स्कन्दक अनगार हो गए। वह अब ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमिति, उच्चार-प्रस्रवण-खेल-जल्ल-सिंघाण-परिष्ठापनिका समिति, एव मन समिति, वचनसमिति और कायसमिति, इन आठ समितियो का सम्यक् रूप से सावधानतापूर्वक पालन करने लगे। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति से गुप्त रहने लगे, अर्थात्—मन, वचन और काया को वश मे रखने लगे। वे सबको वश मे रखने वाले (गुप्त) इन्द्रियो को गुप्त (सुरक्षित=वश मे) रखने वाले, गुप्तब्रह्मचारी, त्यागी, लज्जावान् (सयमी=सरल) धन्य (पुण्यवान् या धर्मधनवान्), क्षमावान्, जितेन्द्रिय, व्रतो आदि के शोधक (शुद्धिपूर्वक आचरणकर्ता) निदानरहित (नियाणा न करने वाले), आकाक्षारहित, उतावल से दूर, सयम से बाहर चित्त न रखने वाले, श्रेष्ठ साधुव्रतो मे लीन, दान्त स्कन्दक मुनि इसी निर्ग्रन्थ प्रवचन को सम्मुख रखकर विचरण करने लगे, (अर्थात्—निर्ग्रन्थप्रवचनानुसार सब क्रियाएँ करने लगे)।

विवेचन—स्कन्दक द्वारा धर्मकथाश्रवण, प्रतिबोध, प्रव्रज्याग्रहण एव निर्ग्रन्थ धर्माचरण— प्रस्तुत छह सूत्रो (३२ से ३७ तक) मे शास्त्रकार ने स्कन्दक परिव्राजक के द्वारा धर्मकथाश्रवण से लेकर प्रव्रजित होकर निर्ग्रन्थ धर्माचरण तक का विवरण प्रस्तुत किया है। यहाँ पूर्वापर सम्बद्ध विषय क्रम इस प्रकार है—स्कन्दक की धर्म-श्रवण की इच्छा, भगवान् द्वारा धर्मोपदेश, निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति श्रद्धा की अभिव्यक्ति, प्रतिबोध, ससार से विरक्ति, निर्ग्रन्थ धर्म मे प्रव्रजित करने के लिए निवेदन, भगवान् द्वारा निर्ग्रन्थधर्मदीक्षा, तत्पश्चात् निर्ग्रन्थधर्माचरण से सम्बन्धित समिति-गुप्ति आदि की शिक्षा, आज्ञानुसार शास्त्रोक्त साध्वाचारपूर्वक विचरण इत्यादि।

कठिन शब्दो की व्याख्या—आयार-गोयर=ज्ञानादि आचार और गोचर (भिक्षाटन) **वेणइय**-विनय का आचरण या विनयोत्पन्न चारित्र। **जाया-मायावत्तिय**=सयमयात्रा, और आहारादि की मात्रादि वृत्ति, **चरण**=चारित्र, **करण**=पिण्डविशुद्धि। **अप्पुस्सुए**=उत्सुकतारहित। **लज्जू**=लज्जावान् या रज्जू (रस्सी) की तरह सरल—अवक्र।[1]

३८ तए ण समणे भगव महावीरे कयगलाओ नयरीओ छत्तपलासाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ, २ बहिया जणवयविहार विहरति।

[३८] तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कृतगला नगरी के छत्रपलाशक उद्यान से निकले और बाहर (अन्य) जनपदो (देशो) मे विचरण करने लगे।

स्कन्दक द्वारा शास्त्राध्ययन भिक्षुप्रतिमाऽऽराधन और गुणरत्नादि तपश्चरण—

३९ तए ण से खदए अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाण थेराण अतिए सामाइयमाइयाइ एक्कारस अंगाइ अहिज्जइ, २ जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छइ, २

---

१ (क) भगवती अ वृत्ति, पत्राक १२२, (ख) भगवती टीकानुवाद (प बेचर) खण्ड १, पृ २५३

समण भगव महावीर वदइ नमसइ, २ एव वयासी—इच्छामि ण भते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे मासिय भिक्खुपडिम उवसपज्जित्ताण विहरित्तए।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबध करेह।

[३९] इसके बाद स्कन्दक अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर के तथारूप स्थविरो से सामायिक आदि ग्यारह अगो का अध्ययन किया। शास्त्र-अध्ययन करने के वाद श्रमण भगवान् महावीर के पास आकर वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार वोले—'भगवन् ! आपकी आज्ञा हो तो मैं मासिकी भिक्षुप्रतिमा अगीकार करके विचरना चाहता हूँ।'

(भगवान्—) हे देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हे सुख हो, वैसा करो। शुभ कार्य मे प्रतिवन्ध न करो (रुकावट न डालो)।

४० तए ण से खदए अणगारे समणेण भगवया महावीरेण अब्भणुण्णाए समाणे हट्ठ जाव नमसित्ता मासिय भिक्खुपडिम उवसपज्जित्ताण विहरइ।

[४०] तत्पश्चात् स्कन्दक अनगार श्रमण भगवान् महावीर की आज्ञा प्राप्त करके अतीव हर्षित हुए और यावत् भगवान् महावीर को नमस्कार करके मासिक भिक्षुप्रतिमा अगीकार करके विचरण करने लगे।

४१ [१] तए ण से खदए अणगारे मासिय भिक्खुपडिम अहासुत्त अहाकप्प अहामग्ग अहातच्च अहासम्म काएण फासेति पालेति सोहेति तीरेति पूरेति किट्टेति अणुपालेइ आणाए आराहेइ, काएण फासित्ता जाव आराहेत्ता जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छइ, २ समण भगवं जाव नमसित्ता एव वयासी—इच्छामि ण भते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणें दोमासिय भिक्खुपडिम उवसपज्जित्ताण विहरित्तए।

अहासुह देवाणुप्पिया ! मा पडिबध०।

[२] त चेव।

[४१] तदनन्तर स्कन्दक अनगार ने सूत्र के अनुसार, मार्ग के अनुसार, यथातत्त्व (सत्यता-पूर्वक), सम्यक् प्रकार से स्वीकृत मासिक भिक्षुप्रतिमा का काया से स्पर्श किया, पालन किया, उसे शोभित (शुद्धता से आचरण=शोधित) किया, पार लगाया, पूर्ण किया, उसका कीर्तन (गुणगान) किया, अनुपालन किया, और आज्ञापूर्वक आराधन किया। उक्त प्रतिमा का काया से सम्यक् स्पर्श करके यावत् उसका आज्ञापूर्वक आराधन करके जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ आए और श्रमण भगवान् महावीर को यावत् वन्दन-नमस्कार करके यो बोले—'भगवन् ! आपकी आज्ञा हो तो मैं द्विमासिकी भिक्षुप्रतिमा स्वीकार करके विचरण करना चाहता हूँ।'

इस पर भगवान् ने कहा— 'हे देवानुप्रिय ! तुम्हे जैसा सुख हो वैसा करो, शुभकार्य मे विलम्ब न करो।'

[४१-२] तत्पश्चात् स्कन्दक अनगार ने द्विमासिकी भिक्षुप्रतिमा को स्वीकार किया। (सभी वर्णन पूर्ववत् कहना), यावत् सम्यक् प्रकार से आज्ञापूर्वक आराधन किया।

४२ एव तेमासिय चाउम्मासियं पंच-छ-सत्तमा० । पढम सत्तराइदिय, दोच्च सत्तराइदिय, तच्च सत्तरातिंदिय, रातिंदिय, एगराइय ।

[४२] इसी प्रकार त्रैमासिकी, चातुर्मासिकी, पचमासिकी, षाण्मासिकी एव सप्तमासिकी भिक्षुप्रतिमा की यथावत् आराधना की। तत्पश्चात् प्रथम सप्तरात्रि-दिवस की, द्वितीय सप्त रात्रि-दिवस की एव तृतीय सप्तरात्रि-दिवस की फिर एक अहोरात्रि की, तथा एकरात्रि की, इस तरह बारह भिक्षुप्रतिमाओ का सूत्रानुसार यावत् आज्ञापूर्वक सम्यक् आराधन किया।

४३ तए ण से खदए अणगारे एगराइय भिक्खुपडिम अहासुत्त जाव आराहेत्ता जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छति, २ समण भगव महावीर जाव नमसित्ता एव वदासी—इच्छामि ण भते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे गुणरयणसवच्छर तवोकम्म उवसपज्जित्ताण विहरित्तए ।

अहासुह देवाणुप्पिया ! मा पडिबध० ।

[४३] फिर स्कन्दक अनगार अन्तिम एकरात्रि की भिक्षुप्रतिमा का यथासूत्र यावत् आज्ञा-पूर्वक सम्यक् आराधन करके जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ आकर उन्हे (श्रमण भगवान् महावीर को) वन्दना-नमस्कार करके यावत् इस प्रकार बोले—'भगवन् ! आपकी आज्ञा हो तो मैं 'गुणरत्नसवत्सर' नामक तपश्चरण अगीकार करके विचरण करना चाहता हूँ ।'

भगवान् ने फरमाया—'तुम्हे जैसा सुख हो, वैसा करो, धर्मकार्य मे विलम्ब न करो ।'

४४ तए ण से खदए अणगारे समणेण भगवया महावीरेण अब्भणुण्णाए समाणे जाव नमसित्ता गुणरयणसवच्छर तवोकम्म उवसपज्जित्ताण विहरति ।

त जहा— पढम मास चउत्थ चउत्थेण अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे, रत्ति वीरासणेण अवाउडेण य । दोच्च मास छट्ठ छट्ठेण अणिक्खित्तेण० दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे, रत्ति वीरासणेण अवाउडेण य । एव तच्च मास अट्ठम अट्ठमेण, चउत्थ मास दसम दसमेण, पचमं मास बारसम बारसमेण, छट्ठ मास चोद्दसम चोद्दसमेण, सत्तम मास सोलसम २, अट्ठम मास अट्ठारसम २, नवम मास वीसतीम २, दसम मास बावीसतिम २, एक्कारसम मास चउव्वीसतिम २, बारसम मास छव्वीसतिम २, तेरसम मासं अट्ठावीसतिम २, चोद्दसम मास तीसतिमं २, पन्नरसम मास बत्तीसतिम २, सोलसम मास चोत्तीसतिम २, अनिक्खित्तेण तवोकम्मेण दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे, रत्ति वीरासणेण अवाउडेण ।

[४४] तत्पश्चात् स्कन्दक अनगार श्रमण भगवान् महावीर की आज्ञा प्राप्त करके यावत् उन्हे वन्दना-नमस्कार करके गुणरत्नसवत्सर नामक तपश्चरण स्वीकार करके विचरण करने लगे।

जैसे कि—(गुणरत्न सवत्सर तप की विधि) पहले महीने मे निरन्तर (लगातार) उपवास (चतुर्थभक्त तप कर्म) करना, दिन मे सूर्य के सम्मुख (मुख) दृष्टि रखकर आतापनाभूमि मे उत्कुटुक

आसन से बैठकर सूर्य की आतापना लेना और रात्रि मे अपावृत (निर्वस्त्र) होकर वीरासन से बैठना एव शीत सहन करना। इसी तरह निरन्तर बेले-बेले (छट्ठ-छट्ठ) पारणा करना। दिन मे उत्कुटुक आसन से बैठकर सूर्य के सम्मुख मुख रखकर आतापनाभूमि मे सूर्य की आतापना लेना, रात्रि मे अपावृत होकर वीरासन से बैठकर शीत सहन करना। इसी प्रकार तीसरे मास मे उपर्युक्त विधि के अनुसार निरन्तर तेले-तेले पारणा करना। इसी विधि के अनुसार चौथे मास मे निरन्तर चौले-चौले (चार-चार उपवास से) पारणा करना। पाँचवे मास मे पचौले-पचौले (पाच-पाच उपवास से) पारणा करना। छठे मास मे निरन्तर छह-छह उपवास करना। सातवें मास मे निरन्तर सात-सात उपवास करना। आठवे मास मे निरन्तर आठ-आठ उपवास करना। नौवे मास मे निरन्तर नौ-नौ उपवास करना। दसवे मास मे निरन्तर दस-दस उपवास करना। ग्यारहवे मास मे निरन्तर ग्यारह-ग्यारह उपवास करना। बारहवे मास मे निरन्तर बारह-बारह उपवास करना। तेरहवे मास मे निरन्तर तेरह-तेरह उपवास करना। निरन्तर चौदहवे मास मे चौदह-चौदह उपवास करना। पन्द्रहवे मास मे निरन्तर पन्द्रह-पन्द्रह उपवास करना और सोलहवे मास मे निरन्तर सोलह-सोलह उपवास करना। इन सभी मे दिन मे उत्कुटुक आसन से बैठकर सूर्य के सम्मुख मुख करके आतापनाभूमि मे आतापना लेना, रात्रि के समय अपावृत (वस्त्ररहित) होकर वीरासन से बैठकर शीत सहन करना।

४५ तए ण से खदए अणगारे गुणरयणसवच्छर तवोकम्म अहासुत्त अहाकप्प जाव आराहेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, २ समण भगव महावीर वदइ नमसइ, २ बहूहिं चउत्थ-छट्ठऽट्ठम-दसम-दुवालसेहिं मासऽद्धमासखमणेहिं विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाण भावेमाणे विहरति।

[४५] तदनन्तर स्कन्दक अनगार ने (उपर्युक्त विधि के अनुसार) गुणरत्नसवत्सर नामक तपश्चरण की सूत्रानुसार, कल्पानुसार यावत् आराधना की। इसके पश्चात् जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ वे आए और उन्हे वन्दना-नमस्कार किया। और फिर अनेक उपवास, बेला, तेला, चौला, पचौला, मासखमण (मासिक उपवास), अर्द्धमासखमण इत्यादि विविध प्रकार के तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरण करने लगे।

४६ तए ण से खदए अणगारे तेणं ओरालेण, विपुलेण पयत्तेण पग्गहिएण कल्लाणेण सिवेण धण्णेण मगल्लेण सस्सिरीएण उदग्गेण उदत्तेण उत्तमेण उदारेण महाणुभागेण तवोकम्मेण सुक्के लुक्खे निम्मसे अट्ठिचम्मावणद्धे किडिकिडियाभूए किसे धमणिसतए जाते यावि होत्था, जीवजीवेण गच्छइ, जीवजीवेण चिट्ठइ, भास भासित्ता वि गिलाइ, भास भासमाणे गिलाति, भास भासिस्सामीति गिलाति, से जहा नाम ए कट्ठसगडिया इ वा पत्तसगडिया इ वा पत्ततिलभडगसगडिया इ वा एरड-कट्ठसगडिया इ वा इगालसगडिया इ वा उण्हे दिण्णा सुक्का समाणी ससद्द गच्छइ, ससद्द चिट्ठइ, एवामेव खदए वि अणगारे ससद्द गच्छइ, ससद्द चिट्ठइ, उवचिते तवेण, अवचिए मस-सोणितेण, हुयासणे विव भासरासिपडिच्छन्ने, तवेणं तेएणं तवतेयसिरीए अतीव २ उवसोभेमाणे २ चिट्ठइ।

[४६] इसके पश्चात् वे स्कन्दक अनगार उस (पूर्वोक्त प्रकार के) उदार, विपुल, प्रदत्त (या प्रयत्न), प्रगृहीत, कल्याणरूप, शिवरूप, धन्यरूप, मंगलरूप, श्रीयुक्त (शोभास्पद), उत्तम, उदग्र

(उत्तरोत्तर वृद्धियुक्त), उदात्त (उज्ज्वल), सुन्दर, उदार और महाप्रभावशाली तप कर्म से शुष्क हो गए, रूक्ष हो गए, मासरहित हो गए, वह (उनका शरीर) केवल हड्डी और चमडी से ढका हुआ रह गया। चलते समय हड्डियाँ खड-खड करने लगी, वे कृश-दुर्बल हो गए, उनकी नाडियाँ सामने दिखाई देने लगी, अब वे केवल जीव (आत्मा) के बल से चलते थे, जीव के बल से खडे रहते थे, तथा वे इतने दुर्बल हो गए थे कि भाषा बोलने के बाद, भाषा बोलते-बोलते भी और भाषा बोलूंगा, इस विचार से भी ग्लानि (थकावट) को प्राप्त होते थे, (उन्हे बोलने मे भी कष्ट होता था) जैसे कोई सूखी लकडियो से भरी हुई गाडी हो, पत्तो से भरी हुई गाडी हो, पत्ते, तिल और अन्य सूखे सामान से भरी हुई गाडी हो, एरण्ड की लकडियो से भरी हुई गाडी हो, या कोयले से भरी हुई गाडी हो, सभी गाडियाँ (गाडियो मे भरी सामग्री) धूप मे अच्छी तरह सुखाई हुई हो और फिर चलाई जाएँ तो खड-खड आवाज करती हुई चलती है और आवाज करती हुई खडी रहती है, इसी प्रकार जब स्कन्दक अनगार चलते थे, खडे रहते थे, तब खड-खड आवाज होती थी। यद्यपि वे शरीर से दुर्बल हो गए थे, तथापि वे तप से पुष्ट थे। उनका मास और रक्त क्षीण (अत्यन्त कम) हो गए थे, किन्तु राख के ढेर मे दबी हुई अग्नि की तरह वे तप और तेज से तथा तप-तेज की शोभा से अतीव-अतीव सुशोभित हो रहे थे।

विवेचन—स्कन्दक द्वारा शास्त्राध्ययन, भिक्षुप्रतिमाऽऽराधन और गुणरत्नादि तपश्चरण— प्रस्तुत आठ सूत्रो (३९ से ४६ तक) मे निर्ग्रन्थदीक्षा के बाद स्कन्दक अनगार द्वारा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना किस-किस प्रकार से की गई थी ?, उसका सागोपाग विवरण प्रस्तुत किया गया है। इनसे पूर्व के सूत्रो मे स्कन्दक द्वारा आचरित समिति, गुप्ति, दशविध श्रमणधर्म, सयम, ब्रह्मचर्य, महाव्रत, आदि चारित्रधर्म के पालन का विवरण प्रस्तुत किया जा चुका है। इसलिए इन सूत्रो मे मुख्यतया ज्ञान, दर्शन और तप की आराधना का विवरण दिया गया है। उसका क्रम इस प्रकार है—

१ स्कन्दक ने स्थविरो से सामायिक आदि ग्यारह अगो का अध्ययन किया।

२ तत्पश्चात् भगवान् की आज्ञा से क्रमश मासिक, द्विमासिक, त्रैमासिक, चातुर्मासिक, पंचमासिक, षण्मासिक, सप्तमासिक, फिर प्रथम सप्तरात्रिकी, द्वितीय सप्तरात्रिकी, तृतीय सप्तरात्रिकी, एक अहोरात्रिकी, एव एकरात्रिकी, यो द्वादश भिक्षुप्रतिमा का अगीकार करके उनकी सम्यक् आराधना की।

३ तत्पश्चात् गुणरत्नसवत्सर नामक तप का स्वीकार करके यथाविधि सम्यक् आराधना की तथा अन्य विभिन्न तपस्याओ से आत्मा भावित की।

४ इस प्रकार की आभ्यन्तर तपश्चरण पूर्वक बाह्य तपस्या से स्कन्दक अनगार का शरीर अत्यन्त कृश हो गया था, किन्तु आत्मा अत्यन्त तेजस्वी, उज्ज्वल, शुद्ध एव अत्यन्त लघुकर्मा बन गयी।

स्कन्दक का चरित किस वाचना द्वारा अकित किया गया ?—भगवान् महावीर के शासन मे ९ वाचनाएँ थी। पूर्वकाल मे उन सभी वाचनाओ मे अन्य चरितो के द्वारा वे अर्थ प्रकट किये जाते थे, जो प्रस्तुत वाचना मे स्कन्दक के चरित द्वारा प्रकट किये गए है। जब स्कन्दक का चरित घटित हो गया, तो सुधर्मा स्वामी ने वही अर्थ स्कन्दकचरित द्वारा प्रकट किया हो, ऐसा सम्भव है।

भिक्षुप्रतिमा की आराधना—निर्ग्रन्थ मुनियो के अभिग्रह (प्रतिज्ञा) विशेप को भिक्षुप्रतिमा कहते है। ये प्रतिमाएँ बारह होती है, जिनकी अवधि का उल्लेख मूल पाठ मे किया है। भिक्षुप्रतिमा-धारक मुनि अपने शरीर को सस्कारित करने का तथा शरीर के प्रति ममत्व का त्याग कर देता है। वह अदीनतापूर्वक समभाव से देव, मनुष्य और तिर्यञ्च-सम्बन्धी उपसर्गो को सहता है। जहाँ कोई जानता हो, वहाँ एक रात्रि और कोई न जानता हो, वहाँ दो रात्रि तक रहे, इससे अधिक जितने दिन तक रहे, उतने दिनो के छेद या तप का प्रायश्चित्त ग्रहण करे। प्रतिमाधारी मुनि चार प्रकार की भाषा बोल सकता है—याचनी, पृच्छनी, अनुज्ञापनी (स्थान आदि की आज्ञा लेने हेतु) और पृष्ट-व्याकरणी (प्रश्न का उत्तर देने हेतु)। उपाश्रय के अतिरिक्त मुख्यतया तीन स्थानो मे प्रतिमाधारक निवास करे—(१)अध आरामगृह (जिसके चारो ओर बाग हो), (२) अधोविकटगृह (जो चारो ओर से खुला हो, किन्तु ऊपर से आच्छादित हो), और (३) वृक्षमूलगृह। तीन प्रकार के सस्तारक ग्रहण कर सकता है—पृथ्वीशिला, काष्ठशिला या उपाश्रय मे पहले से बिछा हुआ तृण या दर्भ का सस्तारक। उसे अधिकतर समय स्वाध्याय या ध्यान मे तल्लीन रहना चाहिए। कोई व्यक्ति आग लगाकर जलाए या वध करे, मारे-पीटे तो प्रतिमाधारी मुनि को आक्रोश या प्रतिप्रहार नही करना चाहिए। समभाव से सहना चाहिए। विहार करते समय मार्ग मे मदोन्मत्त हाथी, घोडा, साड या भैसा अथवा सिंह, व्याघ्र, सूअर आदि हिंस्र पशु सामने आ जाए तो प्रतिमाधारक मुनि भय से एक कदम भी पीछे न हटे, किन्तु मृग आदि कोई प्राणी डरता हो तो चार कदम पीछे हट जाना चाहिए।

प्रतिमाधारी मुनि को शीतकाल मे शीतनिवारणार्थ ठडे स्थान से गर्म स्थान मे तथा ग्रीष्म-काल मे गर्म स्थान से ठडे स्थान मे नही जाना चाहिए, जिस स्थान मे बैठा हो, वही बैठे रहना चाहिए। प्रतिमाधारी साधु को प्राय अज्ञात कुल से और आचाराग एव दशवैकालिक मे बताई हुई विधि के अनुसार एषणीय कल्पनीय निर्दोष भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। छह प्रकार की गोचरी उसके लिए बताई है—१ पेटा, २ अर्धपेटा, ३ गोमूत्रिका, ४ पतगवीथिका, ५ शखावर्ता और ६ गतप्रत्या-गता। प्रतिमाधारी साधु तीन समय मे से किसी एक समय मे भिक्षा ग्रहण कर सकता है—(१) दिन के आदिभाग मे (२) दिन के मध्यभाग मे और (३) दिन के अन्तिम भाग मे। पहली प्रतिमा से सातवी प्रतिमा तक उत्तरोत्तर एक-एक मास की अवधि और एक-एक दत्ति आहार और पानी की क्रमश बढाता जाए। आठवी प्रतिमा सात दिनरात्रि की है, इसमे एकान्तर चौविहार उपवास करके गाँव के बाहर जाकर उत्तानासन या पार्श्वासन से लेटना या निषद्यासन से बैठकर ध्यान लगाना चाहिए। उपसर्ग के समय दृढ रहे। मल-मूत्रादि वेगो को न रोके। सप्त अहोरात्रि की नौवी प्रतिमा मे ग्रामादि के बाहर जाकर दण्डासन या उत्कुटुकासन से बैठना चाहिए। शेष विधि पूर्ववत् है। सप्त अहोरात्रि की दसवी प्रतिमा मे ग्रामादि से बाहर जाकर गोदोहासन, वीरासन या अम्बकुब्जासन से ध्यान करे। शेष विधि पूर्ववत्। एक अहोरात्रि की ग्यारहवी प्रतिमा (८ प्रहर की) मे चौविहार बेला करके ग्रामादि के बाहर जाकर दोनो पैरो को कुछ सकुचित करके हाथो को घुटने तक लम्बे करके कायोत्सर्ग करे। शेषविधि पूर्ववत्। एक रात्रि की बारहवी प्रतिमा मे चौविहार तेला करके ग्रामादि से बाहर जाकर एक पुद्गल पर अनिमेप दृष्टि स्थिर करके पूर्ववत् कायोत्सर्ग करना होता है। यद्यपि यह प्रतिमा जघन्य नौवे पूर्व की तीसरी आचार वस्तु तक के ज्ञान वाला कर सकता है, तथापि स्कन्दक मुनि ने साक्षात् तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा से ये प्रतिमाएँ ग्रहण की थी। पचाशक मे प्रतिमा

ग्रहण करने से पूर्व उतनी अवधि तक उसके अभ्यास करने तथा सबसे क्षमापना करके निःशल्य, निष्कषाय होने का उल्लेख है।[1]

गुणरत्न (गुणरचन) संवत्सर तप—जिस तप मे गुणरूप रत्नो वाला सम्पूर्ण वर्ष बिताया जाए वह गुणरत्न संवत्सर तप कहलाता है। अथवा जिस तप को करने मे १६ मास तक एक ही प्रकार की निर्जरारूप विशेष गुण की रचना (उत्पत्ति) हो, वह गुणरचन-संवत्सर तप है। इस तप मे १६ महीने लगते हैं जिनमे से ४०७ दिन तपस्या के और ७३ दिन पारणे के होते हैं। शेष सब विधि मूलपाठ मे है।

उदार, विपुल, प्रदत्त, प्रगृहीत . तपोविशेषणो की व्याख्या—उदार—लौकिक आशारहित होने से उदार, विपुल—दीर्घकाल तक चलने वाला होने से विपुल, प्रदत्त=प्रमाद छोडकर अप्रमत्ततापूर्वक आचरित होने से प्रदत्त तथा प्रगृहीत—बहुमानपूर्वक आचरित होने से प्रगृहीत कहलाता है।[2] उत्तम—उत्तम पुरुषसेवित, या तम-अज्ञान से ऊपर।

स्कन्दक द्वारा संलेखना-भावना, अनशन-ग्रहण, समाधि-मरण—

४७ तेण कालेण २ रायगिहे नगरे जाव समोसरण जाव परिसा पडिगया।

[४७] उस काल उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी राजगृह नगर मे पधारे। समवसरण की रचना हुई। यावत् जनता भगवान् का धर्मोपदेश सुनकर वापिस लौट गई।

४८ तए ण तस्स खदयस्स अणगारस्स अण्णया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयसि धम्म-जागरिय जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए जाव (सु १७) समुप्पज्जित्था—"एवं खलु अह इमेण एयारूवेणं ओरालेण जाव (सु ४६) किसे धमणिसतए जाते जीवजीवेण गच्छामि, जीवजीवेण चिट्ठामि, जाव गिलामि, जाव (सु ४६) एवामेव अहं पि ससद्दं गच्छामि, ससद्द चिट्ठामि, तं अत्थि ता मे उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे त जावता मे अत्थि उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे जाव य मे धम्मायरिए धम्मोवदेसए समणे भगव महावीरे जिणे सुहत्थी विहरइ तावता मे सेय कल्ल पाउप्पभायाए रयणीए फुल्लुप्पल-कमलकोमलुम्मिल्लियम्मि अहपंडरे पभाए रत्तासोयप्पकासकिंसुय-सुयमुह-गुजऽद्धरागसरिसे कमलागरसंडबोहए उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा जलते समण भगवं महावीर वदित्ता नमसित्ता जाव पज्जुवासित्ता, समणेण भगवया महावीरेण अब्भणुण्णाए समाणे सयमेव पंच महव्वयाणि आरोवेत्ता, समणा य समणीओ य खामेत्ता, तहारूवेहिं थेरेहिं कडाऽऽईहिं सद्धि विपुल पव्वय सणियं दुरूहित्ता, मेघघणसन्निगासं देवसन्निवात पुढवीसिलावट्टयं पडिलेहित्ता, दब्भसंथारय सथरित्ता, दब्भसथारोवगयस्सं सलेहणाझूसणाझूसियस्स भत्त-पाणपडियाइक्खियस्स पाओवगयस्स काल अणवकखमाणस्स विहरित्तए त्ति कट्टु एव सपेहेइ, २ त्ता कल्ल पाउप्पभायाए रयणीए जाव जलते जेणेव समणे भगव महावीरे जाव पज्जुवासति।

---

१ (क) दशाश्रुतस्कन्ध अ ७ के अनुसार। (ख) हरिभद्रसूरि रचित पचाशक, पचा १८, गा ५,७
(ग) विशेषार्थ देखें—आयारदसा ७ (मुनि कन्हैयालालजी कमल)

२ भगवती, अ वृत्ति, पत्राक १२४-१२५

[४८] तदनन्तर किसी एक दिन रात्रि के पिछले पहर मे धर्म-जागरणा करते हुए स्कन्दक अनगार के मन मे इस प्रकार का अध्यवसाय चिन्तन यावत् सकल्प उत्पन्न हुआ कि मैं इस (पूर्वोक्त) प्रकार के उदार यावत् महाप्रभावशाली तप कर्म द्वारा शुष्क, रूक्ष यावत् कृश हो गया हूँ। यावत् मेरा शारीरिक वल क्षीण हो गया, मैं केवल आत्मवल से चलता हू और खडा रहता हूँ। यहाँ तक कि बोलने के बाद, बोलते समय और बोलने से पूर्व भी मुझे ग्लानि—खिन्नता होती है यावत् पूर्वोक्त गाडियो की तरह चलते और खडे रहते हुए मेरी हड्डियो मे खड-खड आवाज होती है। अत जब तक मुझ मे उत्थान, कर्म, वल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम है, जब तक मेरे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक, तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर सुहस्ती (गन्धहस्ती) की तरह (या भव्यों के लिए शुभार्थी होकर) विचरण कर रहे है, तब तक मेरे लिए श्रेयस्कर है कि इस रात्रि के व्यतीत हो जाने पर कल प्रात - काल कोमल उत्पलकमलो को विकसित करने वाले, क्रमश पाण्डुरप्रभा से रक्त अशोक के समान प्रकाशमान, टेसू के फूल, तोते की चोच, गु जा के अर्द्ध भाग जैसे लाल, कमलवनों को विकसित करने वाले, सहस्ररश्मि, तथा तेज से जाज्वल्यमान दिनकर सूर्य के उदय होने पर मैं श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार यावत् पर्यु पासना करके श्रमण भगवान् महावीर की आज्ञा प्राप्त करके, स्वयमेव पचमहाव्रतो का आरोपण करके, श्रमण-श्रमणियो के साथ क्षमापना करके कृतादि (प्रतिलेखना आदि धर्म क्रियाओ मे कुशल=‘कृत’ या ‘कृतयोगी’,—‘आदि पद से धर्मप्रिय, धर्मदृढ, सेवासमर्थ आदि) तथारूप स्थविर साधुओ के साथ विपुलगिरि पर शनै शनै चढकर, मेघसमूह के समान काले, देवो के अवतरणस्थानरूप पृथ्वीशिलापट्ट की प्रतिलेखना करके, उस पर डाभ (दर्भ) का सथारा (सस्तारक) बिछाकर, उस दर्भ सस्तारक पर बैठकर आत्मा को सलेखना तथा झोषणा से युक्त करके, आहार-पानी का सर्वथा त्याग (प्रत्याख्यान) करके पादपोपगमन (वृक्ष की कटी हुई डाली के समान स्थिर रहकर) सथारा करके, मृत्यु की आकाक्षा न करता हुआ विचरण करूँ।

इस प्रकार का सम्प्रेक्षण (विचार) किया और रात्रि व्यतीत होने पर प्रात काल यावत् जाज्वल्यमान सूर्य के उदय होने पर स्कन्दक अनगार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की सेवा मे आकर उन्हे वन्दना-नमस्कार करके यावत् पर्यु पासना करने लगे।

४९ ‘खदया!’ इ समणे भगवं महावीरे खदय अणगार एव वयासी—से नूण तव खदया! पुव्वरत्तावरत्त० जाव (सु ४८) जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव (सु. १७) समुप्पज्जित्था—‘एव खलु अह इमेण एयारूवेण ओरालेण विपुलेण तं चेव जाव (सु ४८) काल अणवकखमाणस्स विहरित्तए त्ति कट्टु’ एव सपेहेसि, २ कल्लं पाउप्पभायाए जाव जलते जेणेव मम अतिए तेणेव हव्वमागए। से नूण खदया! अट्ठे समट्ठे?

हता, अत्थि।

अहासुह देवाणुप्पिया! मा पडिबध करेह।

[४९] तत्पश्चात् ‘हे स्कन्दक!’ यो सम्बोधित करके श्रमण भगवान् महावीर ने स्कन्दक अनगार से इस प्रकार कहा—“हे स्कन्दक! रात्रि के पिछले पहर मे धर्म जागरणा करते हुए तुम्हे इस प्रकार का अध्यवसाय यावत् सकल्प उत्पन्न हुआ कि इस उदार यावत् महाप्रभावशाली तपश्चरण से मेरा शरीर अब कृश हो गया है, यावत् अब मैं सलेखना—सथारा करके मृत्यु की आकाक्षा न करके

पादपोपगमन अनशन करूँ। ऐसा विचार करके प्रात काल सूर्योदय होने पर तुम मेरे पास आए हो। हे स्कन्दक! क्या यह सत्य है?"

(स्कन्दक अनगार ने कहा—) हाँ, भगवन्! यह सत्य है।

(भगवान्—) हे देवानुप्रिय! जैसा तुम्हे सुख हो, वैसा करो, इस धर्मकार्य मे विलम्ब मत करो।

५० तए ण से खंदए अणगारे समणेण भगवया महावीरेण अब्भणुण्णाए समाणे हट्ठतुट्ठ० जाव हयहियए उट्ठाए उट्ठेइ, २ समण भगव महावीर तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिण करेइ जाव[1] नमसित्ता सयमेव पच महव्वयाइ आरुहेइ, २ त्ता समणे य समणीओ य खामेइ, २ त्ता तहारूवेहिं थेरेहिं कडाऽऽईहि सद्धि विपुल पव्वय सणिय २ दुरूहेइ, २ मेघघणसन्निगास देवसन्निवाय पुढविसिलावट्टय पडिलेहेइ, २ उच्चारपासवणभूमि पडिलेहेइ, २ दब्भसथारय सथरेइ, २ दब्भसथारय दुरूहेइ, २ दब्भसथारोवगते पुरत्थाभिमुहे सपलियकनिसण्णे करयलपरिग्गहिय दसनह सिरसावत्त मत्थए अजलि कट्टु एव वदासि—नमोऽत्थु ण अरहताण भगवताण जाव[2] सपत्ताण, नमोऽत्थु ण समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव सपाविउकामस्स, वदामि ण भगवत तत्थगय इहगते, पासउ मे भयव तत्थगए इहगय ति कट्टु व दइ नमसति, २ एव वदासी—"पुव्वि पि मए समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए सव्वे पाणातिवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए जाव[3] मिच्छादसणसल्ले पच्चक्खाए जावज्जीवाए, इयाणि पि य ण समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए सव्व पाणाइवाय पच्चक्खामि जावज्जीवाए जाव[3] मिच्छादसणसल्ल पच्चक्खामि। एव सव्व असण पाण खाइम साइम चउव्विह पि आहार पच्चक्खामि जावज्जीवाए। ज पि य इम सरीर इट्ठ कत पिय जाव[4] फुसतु त्ति कट्टु एय पि ण चरिमेहिं उस्सास-नीसासेहि वोसिरामि" त्ति कट्टु सलेहणाझूसणाझूसिए भत्त-पाणपडियाइक्खिए पाओवगए काल अणवकखमाणे विहरति।

[५०] तदनन्तर श्री स्कन्दक अनगार श्रमण भगवान् महावीर की आज्ञा प्राप्त हो जाने पर अत्यन्त हर्षित, सन्तुष्ट यावत् प्रफुल्लहृदय हुए। फिर खडे होकर श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा की और वन्दना-नमस्कार करके स्वयमेव पाच महाव्रतो का आरोपण किया। फिर श्रमण-श्रमणियो से क्षमायाचना की, और तथारूप योग्य कृतादि स्थविरो के साथ शनै-शनै विपुलाचल पर चढे। वहाँ मेघ-समूह के समान काले, देवो के उतरने योग्य स्थानरूप एक पृथ्वी-शिलापट्ट की प्रतिलेखना की तथा उच्चार-प्रस्रवणादि परिष्ठापनभूमि की प्रतिलेखना की।

---

१ यहाँ 'जाव' पद 'वदइ वदित्ता नमसइ' पाठ का सूचक है।

२ यहाँ जाव 'पद' 'आइगराण' से 'सपत्ताण' तक के पाठ का सूचक है।

३ यहाँ जाव शब्द 'मुसावाए' से लेकर 'मिच्छादसणसल्ल' तक १८ पापस्थानवाचक पदो का सूचक है।

४ 'जाव' पद 'मणुन्ने मणामे थेज्जे वेसासिए सम्मए बहुमए अणुमए भडकरडगसमाणे' इत्यादि द्वितीयान्त पाठ का सूचक है।

ऐसा करके उस पृथ्वीशिलापट्ट पर डाभ का सथारा बिछाकर, पूर्वदिशा की ओर मुख करके, पर्यकासन से बैठकर, दसो नख सहित दोनो हाथो को मिलाकर मस्तक पर रखकर, (मस्तक के साथ) दोनो हाथ जोडकर इस प्रकार बोले—'अरिहन्त भगवन्तो को, यावत् जो मोक्ष को प्राप्त हो चुके है, उन्हे नमस्कार हो। तथा अविचल शाश्वत सिद्ध स्थान को प्राप्त करने की इच्छा वाले श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को नमस्कार हो। (अर्थात् 'नमोत्थु ण' के पाठ का दो बार उच्चारण किया।) तत्पश्चात् कहा—'वहाँ रहे हुए भगवान् महावीर स्वामी को यहाँ रहा हुआ (स्थित) मैं वन्दना करता हूँ। वहाँ विराजमान श्रमण भगवान् महावीर स्वामी यहा पर रहे हुए मुझ को देखें।' ऐसा कहकर भगवान् को वन्दना-नमस्कार किया। वन्दना-नमस्कार करके वे इस प्रकार बोले—'मैंने पहले भी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास यावज्जीवन के लिए सर्व प्राणातिपात का त्याग किया था, यावत् मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह ही पापो का त्याग किया था। इस समय भी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास यावज्जीवन के लिए सर्व प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक अठारह ही पापो का त्याग करता हूँ। और यावज्जीवन के लिए अशन, पान, खादिम और स्वादिम, इन चारो प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ। तथा यह मेरा शरीर, जो कि मुझे इष्ट, कान्त, प्रिय है, यावत् जिसकी मैंने बाधा—पीडा, रोग, आतक, परीषह और उपसर्ग आदि से रक्षा की है, ऐसे शरीर का भी अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक व्युत्सर्ग (ममत्व-विसर्जन) करता हूँ, यों कहकर सलेखना सथारा करके, भक्त-पान का सर्वथा त्याग करके पादपोपगमन (वृक्ष की कटी हुई शाखा की तरह स्थिर रहकर) अनशन करके मृत्यु की आकाक्षा न करते हुए विचरण करने लगे।

५१ तए ण से खदए अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाण थेराण अतिए सामाइयमादियाइ एक्कारस्स अगाइ अहिज्जित्ता बहुपडिपुण्णाइ दुवालसवासाइ सामण्णपरियाग पाउणित्ता मासियाए सलेहणाए अत्ताण झूसित्ता सट्ठि भत्ताइ अणसणाए छेदेत्ता आलोइयपडिक्कते समाहिपत्ते आणुपुव्वीए कालगए।

[५१] इसके पश्चात् स्कन्दक अनगार, श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के तथारूप स्थविरो के पास ग्यारह अगो का अध्ययन पूरे बारह वर्ष तक श्रमण-पर्याय का पालन करके, एक मास की सलेखना से अपनी आत्मा को सलिखित (सेवित=युक्त) करके साठ भक्त का त्यागरूप अनशन करके, आलोचना और प्रतिक्रमण करके समाधि प्राप्त करके क्रमश कालधर्म (मरण) को प्राप्त हुए।

५२. तए ण ते थेरा भगवतो खदय अणगार कालगय जाणित्ता परिनिव्वाणवत्तिय काउस्सग्ग करेंति, २ पत्त-चीवराणि गिण्हति, २ विपुलाओ पव्वयाओ सणियं २ पच्चोरुहति, २ जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छति, २ समण भगव महावीर वदंति नमसति, २ एवं वदासी—एव खलु देवाणुप्पियाण अतेवासी खदए नाम अणगारे पगइभद्दए पगतिविणीए पगतिउवसते पगति-पयणुकोह-माण-माया-लोभे मिउ-मद्दवसपन्ने अल्लीणे भद्दए विणीए। से ण देवाणुप्पिएहि अब्भणुण्णाए समाणे सयमेव पच महव्वयाणि आरोवित्ता समणे य समणीओ य खामेत्ता, अम्हेहिं सद्धि विपुल पव्वय त चेव निरवसेस जाव (सु ५०) अहाणुपुव्वीए कालगए। इमे य से आयारभडए।

[५२] तत्पश्चात् उन स्थविर भगवन्तो ने स्कन्दक अनगार को कालधर्म प्राप्त हुआ जानकर

पादपोपगमन अनशन करूँ। ऐसा विचार करके प्रात काल सूर्योदय होने पर तुम मेरे पास आए हो। हे स्कन्दक! क्या यह सत्य है?"

(स्कन्दक अनगार ने कहा—) हाँ, भगवन्! यह सत्य है।

(भगवान्—) हे देवानुप्रिय! जैसा तुम्हे सुख हो, वैसा करो, इस धर्मकार्य मे विलम्ब मत करो।

५० तए ण से खदए अणगारे समणेण भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे हट्ठतुट्ठ० जाव हयहियए उट्ठाए उट्ठेइ, २ समण भगव महावीर तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिण करेइ जाव[1] नमसित्ता सयमेव पच महव्वयाइ आरुहेइ, २ त्ता समणे य समणीओ य खामेइ, २ त्ता तहारूवेहि थेरेहि कडाऽऽईहि सद्धि विपुल पव्वय सणिय २ दुरूहेइ, २ मेघघणसन्निगास देवसन्निवाय पुढविसिलावट्टय पडिलेहेइ, २ उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहेइ, २ दब्भसथारय सथरेइ, २ दब्भसथारय दुरूहेइ, २ दब्भ-सथारोवगते पुरत्थाभिमुहे सपलियकनिसण्णे करयलपरिग्गहिय दसनह सिरसावत्त मत्थए अजलि कट्टु एव वदासि—नमोऽत्थु ण अरहताणं भगवताण जाव[2] सपत्ताण, नमोऽत्थु ण समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव सपाविउकामस्स, वदामि ण भगवत तत्थगय इहगते, पासउ मे भयव तत्थगए इहगय ति कट्टु व दइ नमसति, २ एव वदासी—"पुव्वि पि मए समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए सव्वे पाणातिवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए जाव[3] मिच्छादसणसल्ले पच्चक्खाए जावज्जीवाए, इयाणि पि य ण समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए सव्व पाणाइवाय पच्चक्खामि जावज्जीवाए जाव[3] मिच्छादसणसल्ल पच्चक्खामि। एवं सव्व असण पाण खाइम साइम चउव्विह पि आहार पच्चक्खामि जावज्जीवाए। ज पि य इम सरीर इट्ठ कत पिय जाव[4] फुसतु त्ति कट्टु एय पि ण चरिमेहि उस्सास-नीसासेहि वोसिरामि" त्ति कट्टु सलेहणाभूसणाभूसिए भत्त-पाणपडियाइक्खिए पाओवगए काल अणवकखमाणे विहरति।

[५०] तदनन्तर श्री स्कन्दक अनगार श्रमण भगवान् महावीर की आज्ञा प्राप्त हो जाने पर अत्यन्त हर्षित, सन्तुष्ट यावत् प्रफुल्लहृदय हुए। फिर खडे होकर श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा की और वन्दना-नमस्कार करके स्वयमेव पाच महाव्रतो का आरोपण किया। फिर श्रमण-श्रमणियो से क्षमायाचना की, और तथारूप योग्य कृतादि स्थविरो के साथ शनै-शनै विपुलाचल पर चढे। वहाँ मेघ-समूह के समान काले, देवो के उतरने योग्य स्थानरूप एक पृथ्वी-शिलापट्ट की प्रतिलेखना की तथा उच्चार-प्रस्रवणादि परिष्ठापनभूमि की प्रतिलेखना की।

---

१ यहाँ 'जाव' पद 'वदइ वदित्ता नमसइ' पाठ का सूचक है।

२ यहाँ जाव 'पद' 'आइगराण' से 'सपत्ताण' तक के पाठ का सूचक है।

३ यहाँ जाव शब्द 'मुसावाए' से लेकर 'मिच्छादसणसल्ल' तक १८ पापस्थानवाचक पदो का सूचक है।

४ 'जाव' पद 'मणुन्ने मणामे थेज्जे वेसासिए सम्मए बहुमए अणुमए भडकरडगसमाणे' इत्यादि द्वितीयान्त पाठ का सूचक है।

ऐसा करके उस पृथ्वीशिलापट्ट पर डाभ का सथारा बिछाकर, पूर्वदिशा की ओर मुख करके, पर्यकासन से बैठकर, दसो नख सहित दोनो हाथो को मिलाकर मस्तक पर रखकर, (मस्तक के साथ) दोनो हाथ जोडकर इस प्रकार बोले—'अरिहन्त भगवन्तो को, यावत् जो मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं, उन्हे नमस्कार हो। तथा अविचल शाश्वत सिद्ध स्थान को प्राप्त करने की इच्छा वाले श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को नमस्कार हो। (अर्थात् 'नमोत्थु ण' के पाठ का दो बार उच्चारण किया।) तत्पश्चात् कहा—'वहाँ रहे हुए भगवान् महावीर स्वामी को यहाँ रहा हुआ (स्थित) मैं वन्दना करता हूँ। वहाँ विराजमान श्रमण भगवान् महावीर स्वामी यहा पर रहे हुए मुझ को देखे।' ऐसा कहकर भगवान् को वन्दना-नमस्कार किया। वन्दना-नमस्कार करके वे इस प्रकार बोले—'मैंने पहले भी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास यावज्जीवन के लिए सर्व प्राणातिपात का त्याग किया था, यावत् मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह ही पापो का त्याग किया था। इस समय भी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास यावज्जीवन के लिए सर्व प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक अठारह ही पापो का त्याग करता हूँ। और यावज्जीवन के लिए अशन, पान, खादिम और स्वादिम, इन चारो प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ। तथा यह मेरा शरीर, जो कि मुझे इष्ट, कान्त, प्रिय है, यावत् जिसकी मैने बाधा—पीडा, रोग, आतक, परीषह और उपसर्ग आदि से रक्षा की है, ऐसे शरीर का भी अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक व्युत्सर्ग (ममत्व-विसर्जन) करता हूँ, यो कहकर सलेखना सथारा करके, भक्त-पान का सर्वथा त्याग करके पादपोपगमन (वृक्ष की कटी हुई शाखा की तरह स्थिर रहकर) अनशन करके मृत्यु की आकाक्षा न करते हुए विचरण करने लगे।

५१ तए ण से खदए अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाण थेराण अतिए सामाइयमादियाइ एक्कारस्स अगाइ अहिज्जित्ता बहुपडिपुण्णाइ दुवालसवासाइ सामण्णपरियाग पाउणित्ता मासियाए सलेहणाए अत्ताण झूसित्ता सट्ठि भत्ताइ अणसणाए छेदेत्ता आलोइयपडिक्कते समाहिपत्ते आणुपुव्वीए कालगए।

[५१] इसके पश्चात् स्कन्दक अनगार, श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के तथारूप स्थविरो के पास ग्यारह अगो का अध्ययन पूरे बारह वर्ष तक श्रमण-पर्याय का पालन करके, एक मास की सलेखना से अपनी आत्मा को सलिखित (सेवित=युक्त) करके साठ भक्त का त्यागरूप अनशन करके, आलोचना और प्रतिक्रमण करके समाधि प्राप्त करके क्रमश कालधर्म (मरण) को प्राप्त हुए।

५२. तए ण ते थेरा भगवतो खदय अणगार कालगय जाणित्ता परिनिव्वाणवत्तिय काउस्सग्ग करेंति, २ पत्त-चीवराणि गिण्हति, २ विपुलाओ पव्वयाओ सणिय २ पच्चोरुहति, २ जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छति, २ समण भगव महावीर वदति नमसति, २ एव वदासी—एव खलु देवाणुप्पियाण अतेवासी खदए नाम अणगारे पगइभद्दए पगतिविणीए पगतिउवसते पगति-पयणुकोह-माण-माया-लोभे मिउ-मद्दवसपन्ने अल्लीणे भद्दए विणीए। से ण देवाणुप्पिएहिं अब्भणुण्णाए समाणे सयमेव पच महव्वयाणि आरोवित्ता समणे य समणीओ य खामेत्ता, अम्हेहिं सद्धि विपुल पव्वय त चेव निरवसेस जाव (सु ५०) अहाणुपुव्वीए कालगए। इमे य से आयारभडए।

[५२] तत्पश्चात् उन स्थविर भगवन्तो ने स्कन्दक अनगार को कालधर्म प्राप्त हुआ जानकर

उनके परिनिर्वाण (समाधिमरण) सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया। फिर उनके पात्र, वस्त्र (चीवर) आदि उपकरणो को लेकर वे विपुलगिरि से शनै शनै नीचे उतरे। उतरकर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ आए। भगवान् को वन्दना-नमस्कार करके उन स्थविर मुनियों ने इस प्रकार कहा—हे भगवन्! आप देवानुप्रिय के शिष्य स्कन्दक अनगार, जो कि प्रकृति मे भद्र, प्रकृति के विनीत, स्वभाव से उपशान्त, अल्पक्रोध-मान-माया-लोभ वाले, कोमलता और नम्रता से युक्त, इन्द्रियो को वश मे करने वाले, भद्र और विनीत थे, वे आपकी आज्ञा लेकर स्वयमेव पचमहाव्रतो का आरोपण करके, साधुसाध्वियो से क्षमापना करके, हमारे साथ विपुलगिरि पर गये थे, यावत् वे पादपोपगमन सथारा करके कालधर्म को प्राप्त हो गए हैं। ये उनके धर्मोपकरण हैं।

विवेचन—स्कन्दकमुनि द्वारा सल्लेखनाभावना, अनशन ग्रहण और समाधिमरण—प्रस्तुत पाच सूत्रो (४७ से ५१ तक) मे स्कन्दकमुनि द्वारा सल्लेखनापूर्वक भक्तप्रत्याख्यान अनशन की भावना से लेकर उनके समाधिमरण तक का वर्णन किया गया है। सल्लेखना-सथारा (अनशन) से पूर्वापर सम्वन्धित विषयक्रम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—(१) धर्मजागरणा करते हुए स्कन्दकमुनि के मन मे सल्लेखनापूर्वक पादपोपगमन सथारा करने की भावना, (२) भगवान् से सल्लेखना-सथारा करने की अनुज्ञा प्राप्त की, (३) समस्त साधु-साध्वियो से क्षमायाचना करके योग्य स्थविरो के साथ विपुलाचल पर आरोहण, एक पृथ्वीशिलापट्ट पर दर्भसस्तारक, विधिपूर्वक यावज्जीव सलेखनापूर्वक अनशन ग्रहण किया (४) एक मास तक सल्लेखना-सथारा की आराधना करके समाधिपूर्वक मरण को प्राप्त हुए। (५) तत्पश्चात् उनके साथी स्थविरो ने उनके अवशिष्ट धर्मोपकरण ले जाकर भगवान् को स्कन्दक अनगार की समाधिमरण प्राप्ति की सूचना दी।

कुछ विशिष्ट शब्दो के अर्थ—फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मिलियम्मि=कोमल उत्पलकमलो के विकसित हो जाने पर। **अहापण्डुरे पभाए**=निर्मल प्रभात हो जाने पर। **पाउप्पभायाए**=प्रात काल। **कडाइ**=कृत योगी आदि प्रतिलेखनादि या आलोचन—प्रतिक्रमणादि योगो (क्रियाओ) मे जो कृत=कुशल है, वे कृतयोगी आदि शब्द से प्रियधर्मी या दृढधर्मी। **सपलि अकनिसन्ने**=पद्मासन (पर्यकासन) से बैठे हुए। **सलेहणाभूसणाभूसियस्स**—जिसमे कषायो तथा शरीर को कृश किया जाता है, वह है सल्लेखना तप, उसकी जोषणा—सेवना से जुष्ट—सेवित अथवा जिसने सल्लेखना तप की सेवा से कर्म क्षपित (झूषित) कर दिये हैं। **सट्ठिभत्ताइं अणसणाए छेइत्ता**=अनशन से साठ भक्त (साठ वार—टक भोजन) छोडकर। **परिणिव्वाणवत्तिय**=परिनिर्वाण=मरण अथवा मृतशरीर का परिष्ठापन। वही जिसमे निमित्त है—वह परिनिर्वाणप्रत्ययिक।[1]

स्कन्दक की गति और मुक्ति के विषय मे भगवत्-कथन—

५३. 'भते!' त्ति भगवं गोयमे समणं भगव महावीर वदति नमसति, २ एव वयासी—एव खलु देवाणुप्पियाण अतेवासी खदए नामं अणगारे कालमासे काल किच्चा कहिं गए, कहिं उववण्णे?

---

१ भगवती अ वृत्ति, पत्राक १२८ मे १२९ तक

'गोयमा !' इ समणे भगव महावीरे भगव गोयम एव वयासी—एव खलु गोयमा ! मम अतेवासी खदए नाम अणगारे पगतिभद्दए जाव से ण मए अब्भणुण्णाए समाणे सयमेव पच महव्वयाइ आरोवित्ता त चेव सव्व अविसेसिय नेयव्व जाव (सु ५०-५१) आलोइयपडिक्कते समाहिपत्ते कालमासे काल किच्चा अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववण्णे। तत्थ ण एगइयाण देवाण बावीस सागरोवमाइ ठिती प०। तत्थ ण खदयस्स वि देवस्स बावीस सागरोवमाइ ठिती पण्णत्ता।

[५३] इसके पश्चात् भगवान् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार पूछा—'भगवन् ! आपके शिष्य स्कन्दक अनगार काल के अवसर पर कालधर्म को प्राप्त करके कहाँ गए और कहाँ उत्पन्न हुए ?'

[उ०] गौतम आदि को सम्बोधित करके श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने फरमाया—'हे गौतम ! मेरा शिष्य स्कन्दक अनगार, प्रकृतिभद्र यावत् विनीत मेरी आज्ञा प्राप्त करके, स्वयमेव पचमहाव्रतो का आरोपण करके, यावत् सलेखना-सथारा करके समाधि को प्राप्त होकर काल के अवसर पर काल करके अच्युतकल्प (देवलोक) मे देवरूप मे उत्पन्न हुआ है। वहाँ कतिपय देवो की स्थिति बाईस सागरोपम की है। तदनुसार स्कन्दक देव की स्थिति भी बाईस सागरोपम की हे।

५४ से ण भते ! खदए देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएण भवक्खएण ठितीखएण अणतर चय चइत्ता कहिं गच्छिहिति ? कहिं उववज्जिहिति ?

गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति बुज्झिहिति मुच्चिहिति परिनिव्वाहिति सव्वदुक्खाणमंत करेहिति। खदओ समत्तो ॥

॥ बितीय सए पढमो उद्देसो समत्तो ॥

[५४] तत्पश्चात् श्री गौतमस्वामी ने पूछा—'भगवन् ! स्कन्दकदेव वहाँ की आयु का क्षय, भव का क्षय और स्थिति का क्षय करके उस देवलोक से कहाँ जाएँगे और कहाँ उत्पन्न होगे ?'

[उ०] गौतम ! स्कन्दक देव वहाँ की आयु, भव और स्थिति का क्षय होने पर महाविदेह-वर्ष (क्षेत्र) मे जन्म लेकर सिद्ध होगे, बुद्ध होगे, मुक्त होगे, परिनिर्वाण को प्राप्त करेगे और सभी दु खो का अन्त करेगे।

श्री स्कन्दक का जीवनवृत्त पूर्ण हुआ।

विवेचन—स्कन्दक की गति और मुक्ति के विषय मे भगवत्कथन—प्रस्तुत सूत्रद्वय (५३-५४ सू) मे समाधिमरण प्राप्त स्कन्दकमुनि की भावी गति के सम्बन्ध मे श्री गौतमस्वामी द्वारा पूछे गए प्रश्नो का भगवान् द्वारा प्रदत्त उत्तर अकित है। भगवान् ने समाधिमरण प्राप्त स्कन्दक मुनि की गति (उत्पत्ति) अच्युतकल्प देवलोक मे बताई है तथा वहाँ से महाविदेहक्षेत्र मे जन्म लेकर सिद्धि मुक्ति गति बताई है।

कहि गए ? कहि उववण्णे ? =कहाँ—किस गति मे गए ? कहाँ—किस देवलोक मे उत्पन्न हुए ? **चय चइत्ता**=चय=शरीर को छोडकर।

'**आउक्खएण, भवक्खएण ठिइक्खएण**' की व्याख्या—**आउक्खएण**=आयुष्यकर्म के दलिको की निर्जरा होने से, **भवक्खएण**=देव भव के कारणभूत गत्यादि (नाम) कर्मो की निर्जरा होने से, **ठिइक्खएण**=आयुष्यकर्म भोग लेने से स्थिति का क्षय होने के कारण।[1]

॥ द्वितीय शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक

बिइओ उद्देसो : समुग्घाया

द्वितीय उद्देशक : समुद्घात

समुद्घात : प्रकार तथा तत्सम्बन्धी विश्लेषण—

१—कति ण भते ! समुग्घाया पण्णत्ता ?

गोयमा ! सत्त समुग्घाया पण्णत्ता, त जहा—छाउमत्थियसमुग्घायावज्ज समुग्घायपद णेयव्व।

[त०—वेदणासमुग्घाए० । एव समुग्घायपद छातुमत्थियसमुग्घातवज्ज भाणियव्व जाव वेमाणियाण कसायसमुग्घाया अप्पाबहुय।

अणगारस्स ण भते ! भावियप्पणो केवलीसमुग्घाय जाव सासयमणागयद्ध चिट्ठति।[1]]

॥ त्रितीय सए वितीयो उद्देसो समत्तो ॥

[१ प्र] भगवन् ! कितने समुद्घात कहे गए है ?

[१ उ] गौतम ! समुद्घात सात कहे गए है। वे इस प्रकार है—(१) वेदना-समुद्घात (२) कषाय-समुद्घात, (३) मारणान्तिक-समुद्घात, (४) वैक्रियसमुद्घात, (५) तैजस-समुद्घात, (६) आहारक-समुद्घात और (७) केवलि-समुद्घात। यहाँ प्रज्ञापनासूत्र का छत्तीसवाँ समुद्घात-पद कहना चाहिए, किन्तु उसमे प्रतिपादित छद्मस्थ समुद्घात का वर्णन यहाँ नही कहना चाहिए। और इस प्रकार यावत् वैमानिक तक जानना चाहिए, तथा कषाय-समुद्घात और अल्पबहुत्व कहना चाहिए।

[प्र] हे भगवन् ! भावितात्मा अनगार के क्या केवली-समुद्घात यावत् समग्र भविष्यकाल-पर्यन्त शाश्वत रहता है ?

[उ] हे गौतम ! यहाँ भी उपर्युक्त कथनानुसार समुद्घातपद जान लेना चाहिए। (अर्थात्- यहाँ प्रज्ञापनासूत्र के छत्तीसवें समुद्घातपद के सू २१६८ से सू २१७६ तक मे उल्लिखित सासयमणागयद्ध काल चिट्ठति तक का सारा पाठ (वर्णन) समझ लेना चाहिए।[2]

विवेचन—समुद्घात : प्रकार तथा तत्सम्बन्धी विश्लेषण—प्रस्तुत उद्देशक मे एक ही सूत्र मे समुद्घात के प्रकार, उसके अधिकारी, तथा उसके कारणभूत कर्म एव परिणाम का निरूपण है, किन्तु वह सब प्रज्ञापना सूत्र के ३६वे पद के अनुसार जानने का यहाँ निर्देश किया गया है।

---

१ यह पाठ बहुत-सी प्रतियो मे है। प० बेचरदासजी सम्पादित भगवती टीकानुवाद मे भी यह पाठ है।

२ पण्णवणासुत्त (मूलपाठ) भा १ पृ २३७

समुद्घात—वेदना आदि के साथ एकाकार (लीन या समिश्रित) हुए आत्मा का कालान्तर मे उदय मे आने वाले (आत्मा से सम्बद्ध) वेदनीय आदि कर्मो को उदीरणा के द्वारा उदय मे लाकर प्रबलतापूर्वक घात करना—उनकी निर्जरा करना समुद्घात कहलाता है।

आत्मा समुद्घात क्यो करता है?—जैसे किसी पक्षी की पाँखो पर बहुत धूल चढ गई हो, तब वह पक्षी अपनी पाँखे फैला (फडफडा) कर उस पर चढी हुई धूल झाड देता है, इसी प्रकार यह आत्मा, बद्ध कर्म के अणुओ को झाडने के लिए समुद्घात नाम की क्रिया करता है। आत्मा असख्य-प्रदेशी होकर भी नामकर्म के उदय से प्राप्त शरीर-परिमित होता है। आत्मीय प्रदेशो मे सकोच-विकासशक्ति होने से जीव के शरीर के अनुसार वे व्याप्त होकर रहते हैं। आत्मा अपनी विकास शक्ति के प्रभाव से सम्पूर्ण लोकाकाश मे व्याप्त हो सकता है। कितनी ही बार कुछ कारणो से आत्मा अपने प्रदेशो को शरीर से बाहर भी फैलाता है और वापिस सिकोड (समेट) लेता है। इसी क्रिया को जैन-परिभाषा मे समुद्घात कहते है। ये समुद्घात सात है।

१ **वेदनासमुद्घात**—वेदना को लेकर होने वाले समुद्घात को वेदनासमुद्घात कहते है, यह असातावेदनीय कर्मो को लेकर होता है। तात्पर्य यह है कि वेदना से जब जीव पीडित हो, तब वह अनन्तानन्त (असातावेदनीय) कर्मस्कन्धो से व्याप्त अपने आत्मप्रदेशो को शरीर से बाहर के भाग मे भी फैलाता है। वे प्रदेश मुख, उदर आदि के छिद्रो मे, तथा कर्मस्कन्धादि के अन्तरालो मे भरे रहते हैं। तथा लम्बाई-चौडाई (विस्तार) मे शरीरपरिमित क्षेत्र मे व्याप्त होते है। जीव एक अन्तर्मुहूर्त्त तक इस अवस्था मे ठहरता है। उस अन्तर्मुहूर्त मे वह असातावेदनीय कर्म के प्रचुर पुद्गलो को (उदीरणा से खीचकर उदयावलिका मे प्रविष्ट करके वेदता है, इस प्रकार) अपने पर से झाड देता (निर्जरा कर लेता) है। इसी क्रिया का नाम वेदनासमुद्घात है।

२ **कषायसमुद्घात**—क्रोधादि कपाय के कारण मोहनीयकर्म के आश्रित होने वाले समुद्घात को कषायसमुद्घात कहते हैं। अर्थात् तीव्र कषाय के उदय से ग्रस्त जीव जब क्रोधादियुक्त दशा मे होता है, तब अपने आत्मप्रदेशो को बाहर फैलाकर तथा उनसे मुख, पेट आदि के छिद्रो मे एव कान तथा कर्मस्कन्धादि के अन्तरालो मे भर कर शरीर परिमित लम्बे व विस्तृत क्षेत्र मे व्याप्त होकर जीव अन्तर्मुहूर्त तक रहता है, उतने समय मे प्रचुर कषाय-पुद्गलो को अपने पर से झाड़ देता है—निर्जरा कर लेता है। वही क्रिया कषायसमुद्घात है।

३ **मारणान्तिक-समुद्घात**—मरणकाल मे अन्तर्मुहूर्त अवशिष्ट आयुकर्म के आश्रित होने वाले समुद्घात को मारणान्तिक समुद्घात कहते है। आयुष्य (कर्म) भोगते-भोगते जब अन्तर्मुहूर्त्त भर आयुष्य शेष रहता है, तब अपने आत्मप्रदेशो को बाहर निकालता है। वे प्रदेश मुख और उदर के छिद्रो तथा कर्मस्कन्धादि के अन्तराल मे भर कर विष्कम्भ (घेरा) और मोटाई मे शरीर की अपेक्षा कम से कम अगुल के असख्यात भाग जितनी मोटी और अधिक से अधिक असख्य योजन मोटी जगह मे व्याप्त होकर जीव अन्तर्मुहूर्त्त तक रहता है, उतने समय मे आयुष्यकर्म के प्रभूत पुद्गलो को अपने पर से झाड कर आयुकर्म की निर्जरा कर लेता है, इसी क्रिया को मारणान्तिक-समुद्घात कहते है।

४ **वैक्रिय-समुद्घात**—विक्रियाशक्ति का प्रयोग प्रारम्भ करने पर वैक्रियशरीरनामकर्म के आश्रित होने वाला समुद्घात। वैक्रिय लब्धि वाला जीव अपने जीर्ण प्राय शरीर को पुष्ट एव

सुन्दर बनाने की इच्छा से अपने आत्मप्रदेशो को बाहर एक दड के आकार मे निकालता है। उस दण्ड की चोडाई और मोटाई तो अपने शरीर जितनी ही होने देता है, किन्तु लम्बाई, सख्येय योजन करके वह अन्तर्मुहूर्त तक टिकता है और उतने समय मे पूर्वबद्ध वैक्रियशरीर नामकर्म के स्थूल-पुद्गलो को अपने पर से झाड देता है और अन्य नये तथा सूक्ष्म पुद्गलो को ग्रहण करता है। यही वैक्रिय-समुद्घात है।

५ तैजससमुद्घात—तपस्वियो को प्राप्त होने वाली तेजोलेश्या (नाम की विभूति) का जब विनिर्गम होता है, तब 'तैजस-समुद्घात' होता है, जिसके प्रभाव से तैजस् शरीर नामकर्म के पुद्गल आत्मा से अलग होकर विखर जाते है। अर्थात्—तेजोलेश्या की लब्धि वाला जीव ७-८ कदम पीछे हटकर घेरे और मोटाई मे शरीरपरिमित और लम्बाई मे सख्येय योजन परिमित जीवप्रदेशो के दण्ड को शरीर से बाहर निकालकर क्रोध के वशीभूत होकर जीवादि को जलाता है और प्रभूत तैजस् शरीर नामकर्म के पुद्गलो की निर्जरा करता है।

६ आहारक-समुद्घात—चतुर्दशपूर्वधर साधु का आहारक शरीर होता है। आहारक लब्धिधारी साधु आहारक शरीर की इच्छा करके विष्कम्भ और मोटाई मे शरीरपरिमित और लम्बाई मे सख्येय योजन परिमित अपने आत्मप्रदेशो के दण्ड को शरीर से बाहर निकाल कर पूर्वबद्ध एव अपने पर रहे हुए आहारक-शरीर नामकर्म के पुद्गलो को झाड देता (निर्जरा कर लेता) है।

७ केवलि-समुद्घात—अन्तर्मुहूर्त्त मे मोक्ष प्राप्त करने वाले केवली भगवान् के समुद्घात को केवलिसमुद्घात कहते है। वह वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म को विषय करता है। अन्तर्मुहूर्त मे मोक्ष प्राप्त करने वाले केवलज्ञानी अपने अघाती कर्मो को सम करने के लिए, यानी वेदनीय, नाम, गोत्र, इन तीन कर्मो की स्थिति को आयुकर्म के बराबर करने के लिए यह समुद्घात करते हैं, जिसमे केवल ८ समय लगते हैं।[1]

स्पष्टता के लिए पृष्ठ २०२ की टिप्पणी देखिए—

१ (क) भगवती—मूल टीकानुवाद (प बेचरदास) भा १, पृ २६२ से २६४
(ख) प्रज्ञापना, पृ टीका मलयगिरि ७९३-९४

समुद्घातयंत्र

क्र.	नाम	किसको होते है ?	कितना समय	किस कर्म के कारण से	परिणाम
१	वेदनासमुद्घात	सर्वछद्मस्थ जीवो को	अन्तर्मुहूर्त	असातावेदनीय कर्म से	असातावेदनीय कर्मपुद्गलो का नाश
२	कषायसमुद्घात	"	"	कषाय नामक चारित्र-मोहनीय कर्म के कारण	कषायमोहकर्म के पुद्गलो का नाश
३	मारणान्तिक समुद्घात	"	"	आयुष्यकर्म के कारण	आयुष्यकर्म के पुद्गलो का नाश
४	वैक्रियसमुद्घात	नारको, चारो प्रकार के देवो, तिर्यंचपचेन्द्रियो एव छद्मस्थ मनुष्यो को।	"	वैक्रिय शरीर नामकर्म के कारण से	वैक्रिय शरीर नामकर्म के पुराने पुद्गलो का नाश और नये पुद्गलो का ग्रहण
५	तैजससमुद्घात	व्यन्तर ज्योतिष्क देवो, नारको पचेन्द्रियतिर्यंचो एव छद्मस्थ मनुष्यो को	"	तैजस शरीर नामकर्म के कारण से	तैजस शरीर नामकर्म के पुद्गलो का नाश
६	आहारकसमुद्घात	चतुर्दशपूर्वधर मनुष्यो को	"	आहारक शरीर नाम-कर्म के कारण से	आहारक शरीर नामकर्म के पुद्गलो का नाश
७	केवलिसमुद्घात	केवलज्ञानी मनुष्यो को	आठ समय	आयुष्य के अतिरिक्त तीन अघातीकर्मो के कारण	आयुष्य के सिवाय तीन अघाती कर्म के पुद्गलो का नाश

॥ द्वितीय शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तइओ उद्देसो : पुढवी

तृतीय उद्देशक : पृथ्वी

सप्त नरकपृथ्वियाँ तथा उनसे सम्बन्धित वर्णन—

१—कति ण भंते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ ?

जीवाभिगमे नेरइयाण जो बितिओ उद्देसो सो नेयव्वो ।

पुढविं ओगाहित्ता निरया संठाणमेव बाहल्लं । जाव किं सव्वे पाणा उववन्नपुव्वा ?

हता, गोयमा ! असइं अदुवा अणंतखुत्तो ।

।। बितीय सए तइओ उद्देसो समत्तो ।।

[१ प्र] भगवन् ! पृथ्वियाँ कितनी कही गई है ?

[१ उ] गौतम ! जीवाभिगमसूत्र मे नैरयिको का दूसरा उद्देशक कहा है, उसमे पृथ्वी-सम्बन्धी (नरकभूमि से सम्बन्धित) जो वर्णन है, वह सब यहाँ जान लेना चाहिए। वहाँ (पृथ्वियो के भेद के उपरान्त) उनके संस्थान, मोटाई आदि का तथा यावत्-अन्य जो भी वर्णन है, वह सब यहाँ कहना चाहिए ।

[प्र] भगवन् ! क्या सब जीव उत्पन्नपूर्व है ? अर्थात्—सभी जीव पहले रत्नप्रभा आदि पृथ्वियो मे उत्पन्न हुए हैं ?

[उ] हां, गौतम ! सभी जीव रत्नप्रभा आदि नरकपृथ्वियो मे अनेक बार अथवा अनन्त बार पहले उत्पन्न हो चुके हैं। यावत्-यहाँ जीवाभिगमसूत्र का पृथ्वी-उद्देशक कहना चाहिए ।[1]

विवेचन—सप्त नरक पृथ्वियाँ तथा उनसे सम्बन्धित वर्णन—प्रस्तुत उद्देशक मे एक सूत्र के द्वारा जीवाभिगम सूत्रोक्त नरकपृथ्वियोसम्बन्धी समस्त वर्णन का निर्देश कर दिया गया है ।

संग्रहगाथा—जीवाभिगमसूत्र के द्वितीय उद्देशक मे पृथ्वियो के वर्णनसम्बन्धी संग्रहगाथा इस प्रकार दी गई है—

'पुढवी ओगाहित्ता णिरया, संठाणमेव बाहल्लं ।[2]
विक्खंभ-परिक्खेवो, वण्णो गंधो य फासो य ।।'

---

१ भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्रांक १३० ।

२ यह आधी गाथा मूल पाठ मे भी है ।

समुद्घातयन्त्र

क्रम	नाम	किसको होते हैं ?	कितना समय	किस कर्म के कारण से	परिणाम
१	वेदनासमुद्घात	सर्वछद्मस्थ जीवो को	अन्तर्मुहूर्त	असातावेदनीय कर्म से	असातावेदनीय कर्मपुद्गलो का नाश
२	कषायसमुद्घात	,,	,,	कषाय नामक चारित्र-मोहनीय कर्म के कारण	कषायमोहकर्म के पुद्गलो का नाश
३	मारणान्तिक समुद्घात	,,	,,	आयुष्यकर्म के कारण	आयुष्यकर्म के पुद्गलो का नाश
४	वैक्रियसमुद्घात	नारको, चारो प्रकार के देवो, तिर्यंचपचेन्द्रियो एव छद्मस्थ मनुष्यो को।	,,	वैक्रिय शरीर नामकर्म के कारण से	वैक्रिय शरीर नामकर्म के पुराने पुद्गलो का नाश और नये पुद्गलो का ग्रहण
५	तैजससमुद्घात	व्यन्तर ज्योतिष्क देवो, नारको पचेन्द्रियतिर्यंचो एवं छद्मस्थ मनुष्यो को	,,	तैजस शरीर नामकर्म के कारण से	तैजस शरीर नामकर्म के पुद्गलो का नाश
६	आहारकसमुद्घात	चतुर्दशपूर्वधर मनुष्यो को	,,	आहारक शरीर नाम-कर्म के कारण से	आहारक शरीर नामकर्म के पुद्गलो का नाश
७	केवलिसमुद्घात	केवलज्ञानी मनुष्यो को	आठ समय	आयुष्य के अतिरिक्त तीन अघातीकर्मो के कारण	आयुष्य के सिवाय तीन अघाती कर्म के पुद्गलो का नाश

॥ द्वितीय शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

चउत्थो उद्देसो : इंदिय

चतुर्थ उद्देशक : इन्द्रिय

इन्द्रियाँ और उनके संस्थानादि से सम्बन्धित वर्णन—

१—कति ण भंते ! इंदिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! पच इंदिया पण्णत्ता, त जहा—पढमिल्लो इंदियउद्देसम्रो नेयव्वो, सठाण बाहल्ल पोहत्तं जाव अलोगो।

॥ बितीय सए चउत्थो उद्देसो समत्तो ॥

[१ प्र] भगवन् ! इन्द्रियाँ कितनी कही गई है ?

[१ उ.] गौतम ! पाच इन्द्रियाँ कही गई हैं। वे इस प्रकार है—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय। यहाँ प्रज्ञापनासूत्र के पन्द्रहवें, इन्द्रियपद का प्रथम उद्देशक कहना चाहिए। उसमे कहे अनुसार इन्द्रियो का सस्थान, बाहल्य (मोटाई), चौडाई, यावत् अलोक (द्वार) तक के विवेचन-पर्यन्त समग्र इन्द्रिय-उद्देशक कहना चाहिए।

विवेचन—इन्द्रियाँ और उनके सस्थानादि से सम्बन्धित वर्णन—प्रस्तुत उद्देशक मे एक सूत्र मे इन्द्रियो से सम्बन्धित समग्र वर्णन के लिए प्रज्ञापनासूत्र के पन्द्रहवे इन्द्रिय-पद के प्रथम उद्देशक का निर्देश किया गया है।

इन्द्रियसम्बन्धी द्वारगाथा—प्रज्ञापनासूत्र के पन्द्रहवे इन्द्रियपद के प्रथम उद्देशक मे वर्णित ग्यारह इन्द्रियसम्बन्धित द्वारो की गाथा इस प्रकार है—

'सठाण बाहल्ल पोहत्त कइ-पएस ओगाढे।
अप्पाबहु पुट्ठ-पविट्ठ-विसय-अणगार-आहारे' ॥२०२॥
अद्दाय असी य मणी उडुपाणे तेल्ल फाणिय वसाय।
कबल थूणा थिग्गल दीवोदहि लोगऽलोगे ॥२०३॥

अर्थात्—(१) सस्थान (आकारविशेष)—श्रोत्रेन्द्रिय का सस्थान कदम्बपुष्प के आकार का है, चक्षुरिन्द्रिय का मसूर की दाल या चन्द्रमा के आकार का है, घ्राणेन्द्रिय का सस्थान अतिमुक्तक पुष्पवत् है, रसनेन्द्रिय का सस्थान क्षुरप्र (उस्तरे) के आकार का है और स्पर्शेन्द्रिय का सस्थान नाना प्रकार का है। (२) बाहल्य (मोटाई)—पाँचो इन्द्रियो की मोटाई अगुल के असख्यातवें भाग है। (३) विस्तार-लम्बाई—आदि की तीन इन्द्रियो की लम्बाई अगुल के असख्यातवें भाग है। रसनेन्द्रिय की अगुल-पृथक्त्व (दो से नौ अगुल तक) तथा स्पर्शेन्द्रिय की लम्बाई अपने-अपने शरीर-प्रमाण है।

अर्थात्—(१) पृथ्वियाँ सात हैं, रत्नप्रभा आदि, (२) कितनी दूर जाने पर नरकावास हैं ? रत्नप्रभा पृथ्वी की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन है, उसमे से एक हजार योजन ऊपर और नीचे छोडकर बीच के १,७८,००० योजन मे ३० लाख नरकावास है। शर्कराप्रभा की मोटाई १,३२,००० योजन, बालुकाप्रभा की १,२८,००० योजन, पकप्रभा की १,२०,००० योजन, धूमप्रभा की १,१८,००० योजन, तम प्रभा की १,१६,००० योजन, तमस्तम प्रभा की १,०८,००० योजन है। (३) सस्थान-आवलिका प्रविष्ट नारको का सस्थान गोल, त्रिकोण और चतुष्कोण होता है। शेष नारको का नाना प्रकार का। (४) बाहल्य (मोटाई)—प्रत्येक नरकावास की ३ हजार योजन है। (५) विष्कम्भ परिक्षेप—(लम्बाई-चौडाई और परिधि) कुछ नरकावास सख्येय (योजन) विस्तृत है, कुछ असख्येय योजन विस्तृत हैं। (६) वर्ण—नारको का वर्ण भयकर काला, उत्कट रोमाचयुक्त (७) गन्ध—सर्पादि के मृत कलेवर से भी कई गुनी बुरी गन्ध। (८) स्पर्श—क्षुरधारा, खड्गधारा आदि से भी कई गुना तीक्ष्ण।

॥ द्वितीय शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

—

चउत्थो उद्देसो : इंदिय

चतुर्थ उद्देशक : इन्द्रिय

इन्द्रियाँ और उनके संस्थानादि से सम्बन्धित वर्णन—

१—कति ण भते ! इंदिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! पच इदिया पण्णत्ता, तं जहा—पढमिल्लो इदियउद्देसओ नेयव्वो, सठाण बाहल्ल पोहत्त जाव अलोगो।

॥ बितीय सए चउत्थो उद्देसो समत्तो ॥

[१ प्र] भगवन् ! इन्द्रियाँ कितनी कही गई है ?

[१ उ] गौतम ! पाच इन्द्रियाँ कही गई है। वे इस प्रकार है—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय। यहाँ प्रज्ञापनासूत्र के पन्द्रहवें, इन्द्रियपद का प्रथम उद्देशक कहना चाहिए। उसमे कहे अनुसार इन्द्रियो का सस्थान, बाहल्य (मोटाई), चौडाई, यावत् अलोक (द्वार) तक के विवेचन-पर्यन्त समग्र इन्द्रिय-उद्देशक कहना चाहिए।

विवेचन—इन्द्रियाँ और उनके सस्थानादि से सम्बन्धित वर्णन—प्रस्तुत उद्देशक मे एक सूत्र मे इन्द्रियो से सम्बन्धित समग्र वर्णन के लिए प्रज्ञापनासूत्र के पन्द्रहवे इन्द्रिय-पद के प्रथम उद्देशक का निर्देश किया गया है।

इन्द्रियसम्बन्धी द्वारगाथा—प्रज्ञापनासूत्र के पन्द्रहवे इन्द्रियपद के प्रथम उद्देशक मे वर्णित ग्यारह इन्द्रियसम्बन्धित द्वारो की गाथा इस प्रकार है—

'सठाण बाहल्ल पोहत्त कइ-पएस ओगाढे ।
अप्पाबहु पुट्ठ-पविट्ठ-विसय-अणगार-आहारे' ॥२०२॥

अद्दाय असी य मणी उडुपाणे तेल्ल फाणिय वसाय ।
कबल थूणा थिग्गल दीवोदहि लोगऽलोगे ॥२०३॥

अर्थात्—(१) सस्थान (आकारविशेष)—श्रोत्रेन्द्रिय का सस्थान कदम्बपुष्प के आकार का है, चक्षुरिन्द्रिय का मसूर की दाल या चन्द्रमा के आकार का है, घ्राणेन्द्रिय का सस्थान अतिमुक्तक पुष्पवत् है, रसनेन्द्रिय का सस्थान क्षुरप्र (उस्तरे) के आकार का है और स्पर्शेन्द्रिय का सस्थान नाना प्रकार का है। (२) बाहल्य (मोटाई)—पाँचो इन्द्रियो की मोटाई अगुल के असख्यातवें भाग है। (३) विस्तार-लम्बाई—आदि की तीन इन्द्रियो की लम्बाई अगुल के असख्यातवे भाग है। रसनेन्द्रिय की अगुल-पृथक्त्व (दो से नौ अगुल तक) तथा स्पर्शेन्द्रिय की लम्बाई अपने-अपने शरीर-प्रमाण है।

(४) **कतिप्रदेश**—प्रत्येक इन्द्रिय अनन्त प्रदेशी है। (५) **अवगाढ**—प्रत्येक इन्द्रिय असख्यात प्रदेशो मे अवगाढ है। (६) **अल्पबहुत्व**—सबसे कम अवगाहना चक्षुरिन्द्रिय की, उससे सख्यातगुणी अवगाहना क्रमश श्रोत्रेन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय की है और उससे असख्यातगुणी अवगाहना रसनेन्द्रिय की और उससे भी सख्यातगुणी स्पर्शेन्द्रिय की अवगाहना है। इसी प्रकार का अल्पबहुत्व प्रदेशो के विषय मे समझना चाहिए। (७-८) **स्पृष्ट और प्रविष्ट**—चक्षुरिन्द्रिय को छोडकर शेष चार इन्द्रियाँ स्पृष्ट और प्रविष्ट विषय को ग्रहण करती हैं। अर्थात्—चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी है, शेष चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं। (९) **विषय**—श्रोत्रेन्द्रिय के ५, चक्षुरिन्द्रिय के ५, घ्राणेन्द्रिय के २, रसनेन्द्रिय के ५ और स्पर्शेन्द्रिय के ८ विषय है। पाचो इन्द्रियो का विषय जघन्य अगुल का असख्यातवाँ भाग है, उत्कृष्ट श्रोत्रेन्द्रिय का १२ योजन, चक्षुरिन्द्रिय का साधिक १ लाख योजन, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय का ९-९ योजन है। इतनी दूरी से ये स्वविषय को ग्रहण कर लेती हैं। इसके पश्चात्—(१०) अनगारद्वार, (११) आहारद्वार, (१२) आदर्शद्वार, (१३) असिद्वार, (१४) मणिद्वार, (१५) उदपान (दुग्धपान) द्वार, (१६) तैलद्वार, (१७) फाणितद्वार, (१८) वसाद्वार, (१९) कम्बलद्वार, (२०) स्थूणाद्वार, (२१) थिग्गलद्वार, (२२) द्वीपोदधिद्वार, (२३) लोकद्वार और (२४) अलोकद्वार। यो अलोकद्वार पर्यन्त चौबीस द्वारो के माध्यम से इन्द्रियसम्बन्धी प्ररूपणा की गई है।

इस सम्बन्ध मे विशेष विवेचन प्रज्ञापनासूत्र के पन्द्रहवें इन्द्रियपद के प्रथम-उद्देशक से जान लेना चाहिए।[1]

॥ द्वितीय शतक : चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १३१, (ख) प्रज्ञापनासूत्र मलय० वृत्ति, पत्राक २९५ से ३०८ तक

पंचमो उद्देसो : नियं

पंचम उद्देशक : निर्ग्रन्थ

निर्ग्रन्थदेव-परिचारणासम्बन्धी परमतनिराकरण-स्वमतप्ररूपरण—

१ अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खति भासंति पण्णवेंति परूवेंति—एवं खलु नियठे कालगते समाणे देवब्भूएण अप्पाणेणं से ण तत्थ णो अन्ने देवे, नो अन्नेसि देवाण देवीओ अहिजु जिय २ परियारेइ १, णो अप्पणच्चियाओ देवीओ अभिजु जिय २ परियारेइ २, अप्पणामेव अप्पाणं विउव्विय २ परियारेइ ३, एगे वि य णं जीवे एगेण समएणं दो वेदे वेदेइ, त जहा—इत्थिवेदं च पुरिसवेदं च। एव परउत्थियवत्तव्वया नेयव्वा जाव[1] इत्थिवेद च पुरिसवेद च। से कहमेय भ ते ! एवं ?

गोयमा ! जं णं ते अन्नउत्थिया एवमाइक्खति जाव इत्थिवेद च पुरिसवेद च। जे ते एवमाहंसु मिच्छं ते एवमाहंसु, अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि भा० प० परू०—एव खलु निअठे कालगए समाणे अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति महिड्ढिएसु जाव[2] महाणुभागेसु दूरगतीसु चिरट्ठितीएसु। से णं तत्थ देवे भवति महिड्ढीए जाव[3] दस दिसाओ उज्जोवेमाणे पभासेमाणे जाव पडिरूवे। से ण तत्थ अन्ने देवे, अन्नेसिं देवाण देवीओ अभिजु जिय २ परियारेइ १, अप्पणच्चियाओ देवीओ अभिजु जिय २ परियारेइ २, नो अप्पणामेव अप्पाणं विउव्विय २ परियारेइ ३, एगे वि य णं जीवे एगेण समएण एग वेद वेदेइ, तं जहा—इत्थिवेद वा पुरिसवेदं वा, ज समय इत्थिवेदं वेदेइ णो त समय पुरिसवेयं वेएइ, ज समय पुरिसवेय वेएइ णो त समयं इत्थिवेयं वेदेइ, इत्थिवेयस्स उदएण नो पुरिसवेदं वेएइ, पुरिसवेयस्स उदएण नो इत्थिवेय वेएइ। एव खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एग वेद वेदेइ, त जहा—इत्थिवेयं वा पुरिसवेयं वा। इत्थी इत्थिवेएण उदिण्णेण पुरिसं पत्थेइ, पुरिसो पुरिस-वेएण उदिण्णेण इत्थि पत्थेइ। दो वि ते अन्नमन्नं पत्थेंति, तं जहा—इत्थी वा पुरिसं, पुरिसे वा इत्थि।

---

१ 'जाव' पद निम्नोक्त पाठ का सूचक है—"ज समय इत्थिवेय वेएइ, त समय पुरिसवेय वेएइ, ज समय पुरिसवेय वेएइ, त समय इत्थिवेय वेएइ, इत्थिवेयस्स वेयणाए पुरिसवेय वेएइ, पुरिसवेयस्स वेएणाए इत्थीवेय ।'

२ 'जाव' पद से महज्जुइएसु महाबलेसु महासोक्खेसु इत्यादि पाठ समझना चाहिए।

३. 'जाव' पद यहाँ निम्नोक्त पाठ का सूचक है—'महज्जुइए महाबले महायसे महासोक्खे महाणुभागे हारविराइय-वच्छे (अथवा वत्थे) कडयतुडियथंभियभुए अगयकु डलमट्ठगडकण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणे विचित्तमालामउ-लिमउडे' इत्यादि यावत् रिद्धीए जईये पभाए छायाए अच्चीए तेएण लेसाए ।

[१ प्र] भगवन् ! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते है, भाषण करते है, बताते है और प्ररूपणा करते है कि कोई भी निर्ग्रन्थ (मुनि) मरने पर देव होता है और वह देव, वहाँ (देवलोक मे) दूसरे देवो के साथ, या दूसरे देवो की देवियो के साथ, उन्हे वश मे करके या उनका आलिगन करके, परिचारणा (मैथुन-सेवन) नही करता, तथा अपनी देवियो को वश मे करके या आलिगन करके उनके साथ भी परिचारणा नही करता। परन्तु वह देव वैक्रिय से स्वय अपने ही दो रूप बनाता है। (जिसमे एक रूप देव का और एक रूप देवी का बनाता है।) यो दो रूप बनाकर वह, उस वैक्रिय-कृत (कृत्रिम) देवी के साथ परिचारणा करता है। इस प्रकार एक जीव एक ही समय मे दो वेदो का अनुभव (वेदन) करता है, यथा—स्त्री-वेद का और पुरुषवेद का। इस प्रकार परतीर्थिक की वक्तव्यता कहनी चाहिए, और वह—एक जीव एक ही समय मे स्त्रीवेद और पुरुषवेद का अनुभव करता है,' यहाँ तक कहना चाहिए। भगवन् ! यह इस प्रकार कैसे हो सकता है ? अर्थात् क्या यह अन्यतीर्थिको का कथन सत्य है ?

[१ उ] हे गौतम ! वे अन्यतीर्थिक जो यह कहते यावत् प्ररूपणा करते है कि—यावत् स्त्रीवेद और पुरुषवेद, (अर्थात्—एक ही जीव एक समय मे दो वेदो का अनुभव करता है,) उनका वह कथन मिथ्या है। हे गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूँ, भाषण करता हूँ, बताता हूँ और प्ररूपणा करता हूँ कि कोई एक निर्ग्रन्थ जो मरकर, किन्ही महर्द्धिक यावत् महाप्रभावयुक्त, दूरगमन करने की शक्ति से सम्पन्न, दीर्घकाल की स्थिति (आयु) वाले देवलोको मे से किसी एक मे देवरूप मे उत्पन्न होता है, ऐसे देवलोक मे वह महती ऋद्धि से युक्त यावत् दशो दिशाओ मे उद्योत करता हुआ, विशिष्ट कान्ति से शोभायमान यावत् अतीव रूपवान् देव होता है। और वह देव वहाँ दूसरे देवो के साथ, तथा दूसरे देवो की देवियो के साथ, उन्हे वश मे करके, परिचारणा करता है और अपनी देवियो को वश मे करके उनके साथ भी परिचारणा करता है, किन्तु स्वय वैक्रिय करके अपने दो रूप बनाकर परिचारणा नही करता, (क्योकि) एक जीव एक समय मे स्त्रीवेद और पुरुषवेद, इन दोनो वेदो मे से किसी एक वेद का ही अनुभव करता है। जब स्त्रीवेद को वेदता (अनुभव करता) है, तब पुरुषवेद को नही वेदता, जिस समय पुरुषवेद को वेदता है, उस समय स्त्रीवेद को नही वेदता। स्त्रीवेद के उदय होने से पुरुषवेद को नही वेदता और पुरुषवेद का उदय होने से स्त्रीवेद को नही वेदता। अत. एक जीव एक समय मे स्त्रीवेद और पुरुषवेद, इन दोनो वेदो मे से किसी एक वेद को ही वेदता है। जव स्त्रीवेद का उदय होता है, तब स्त्री, पुरुष की अभिलाषा करती है और जव पुरुष-वेद का उदय होता है, तब पुरुष, स्त्री की अभिलाषा करता है। अर्थात्—(अपने-अपने वेद के उदय से) पुरुष और स्त्री परस्पर एक दूसरे की इच्छा करते हैं। वह इस प्रकार—स्त्री, पुरुष की और पुरुष, स्त्री की अभिलाषा करता है।

विवेचन—देव की परिचारणा-सम्बन्धी चर्चा—प्रस्तुत सूत्र मे अन्यतीर्थिको का परिचारणा के सम्बन्ध मे असगत मत देकर, उसका निराकरण करते हुए भगवान् के मत का प्ररूपण किया गया है।

सिद्धान्त-विरुद्ध मत—भूतपूर्व निर्ग्रन्थ मरकर देव बनता है, तब वह न तो अन्य देव-देवियो के साथ परिचारणा करता है और न निजी देवियो के साथ। वह वैक्रियलब्धि से अपने दो रूप बनाकर परिचारणा करता है और इस प्रकार एक ही समय मे स्त्रीवेद और पुरुषवेद, दोनो का अनुभव करता है।

सिद्धान्तानुकूल मत—वह देव अन्य देव-देवियो तथा निजी देवियो के साथ परिचारणा करता है किन्तु वैक्रिय से अपने ही दो रूप वनाकर परिचारणा नही करता, क्योकि सिद्धान्तत एक जीव एक समय मे एक ही वेद का अनुभव कर सकता है, एक साथ दो वेदो का नही। जैसे परस्पर-निरपेक्ष—विरुद्ध वस्तुएँ एक ही समय मे स्थान पर नही रह सकती, यथा—अन्धकार और प्रकाश, इसी तरह स्त्रीवेद और पुरुषवेद दोनो परस्परविरुद्ध है, अत ये दोनो एक समय मे एक साथ नही वेदे जाते।[1]

उदकगर्भ आदि की कालस्थिति का विचार—

२. उदगगब्भे ण भंते ! 'उदगगब्भे' त्ति कालतो केवच्चिरं होइ ?
गोयमा ! जहन्नेण एक्कं समयं, उक्कोसेणं छम्मासा।

[२ प्र] भगवन् ! उदकगर्भ (पानी का गर्भ) उदकगर्भ के रूप मे कितने समय तक रहता है ?

[२ उ] गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह मास तक उदकगर्भ उदकगर्भरूप मे रहता है।

३ तिरिक्खजोणियगब्भे ण भंते ! 'तिरिक्खजोणियगब्भे' त्ति कालओ केवच्चिरं होति ?
गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अट्ठ संवच्छराइं।

[३ प्र] भगवन् ! तिर्यग्योनिकगर्भ कितने समय तक तिर्यग्योनिकगर्भरूप मे रहता है ?

[३ उ] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट आठ वर्ष तक तिर्यंग्योनिकगर्भ तिर्यंग्यो-निकगर्भ-रूप मे रहता है।

४ मणुस्सीगब्भे णं भंते ! 'मणुस्सीगब्भे' त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?
गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बारस संवच्छराइं।

[४ प्र] भगवन् ! मानुषीगर्भ, कितने समय तक मानुषीगर्भरूप मे रहता है ?

[४ उ] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट बारह वर्ष तक मानुषीगर्भ मानुषीगर्भरूप मे रहता है।

५ काय-भवत्थे ण भंते ! 'काय-भवत्थे' त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?
गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं चउव्वीसं संवच्छराइं।

[५ प्र] भगवन् ! काय-भवस्थ कितने समय तक काय-भवस्थरूप मे रहता है ?

[५ उ] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट चौबीस वर्ष तक काय-भवस्थ काय-भवस्थ के रूप मे रहता है।

---

१ भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्रांक १३२

६ मणुस्स-पचेंदियतिरिक्खजोणियबीए ण भ ते ! जोणिब्भूए केवतियं काल सचिट्ठइ ?

गोयमा ! जहन्नेण अतोमुहुत्त, उक्कोसेण बारस मुहुत्ता ।

[६ प्र] भगवन् ! मानुषी और पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्ची-सम्बन्धी योनिगत बीज (वीर्य) योनिभूतरूप मे कितने समय तक रहता है ?

[६ उ] गौतम ! वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त्त तक 'योनिभूत' रूप मे रहता है।

विवेचन—उदकगर्भ आदि की कालस्थिति का विचार—प्रस्तुत पाच सूत्रो (२ से ६ तक) मे उदकगर्भ, तिर्यग्योनिकगर्भ, मानुषीगर्भ, काय-भवस्थ एव योनिभूत बीज की कालस्थिति का निरूपण किया गया है।

उदकगर्भ कालस्थिति और पहचान—कालान्तर मे पानी बरसने के कारणरूप पुद्गल-परिणाम को 'उदकगर्भ' कहते है। उसका अवस्थान (स्थिति) कम से कम एक समय, उत्कृष्टत छह मास तक होता है। अर्थात्—वह कम से कम एक समय बाद बरस जाता है, अधिक से अधिक छह महीने बाद बरसता है।[१] 'मार्गशीर्ष और पौष मास मे दिखाई देने वाला सन्ध्याराग, मेघ की उत्पत्ति (या कुण्डल से मुक्त मेघ) या मार्गशीर्ष मास मे ठड न पडना और पौष मास मे अत्यन्त हिम-पात होना, ये सब उदकगर्भ के चिह्न है।'[१]

काय-भवस्थ—माता के उदर मे स्थित निजदेह (गर्भ के अपने शरीर) मे जन्म (भव) को 'कायभव' कहते है, उसी निजकाय मे जो पुन जन्म ले, उसे कायभवस्थ कहते है। जैसे—कोई जीव माता के उदर मे गर्भरूप मे आकर उसी शरीर मे बारह वर्ष तक रहकर वही मर जाए, फिर अपने द्वारा निर्मित उसी शरीर मे उत्पन्न होकर पुन बारह वर्ष तक रहे। यो एक जीव अधिक से अधिक २४ वर्ष तक 'काय-भवस्थ' के रूप मे रह सकता है।

योनिभूतरूप मे बीज की कालस्थिति—मनुष्य या तिर्यंचपञ्चेन्द्रिय का मानुषी या तिर्यञ्ची की योनि मे गया हुआ वीर्य बारह मुहूर्त्त तक योनिभूत रहता है। अर्थात्—उस वीर्य मे बारह मुहूर्त्त तक सन्तानोत्पादन की शक्ति रहती है।[२]

मैथुनप्रत्ययिक सन्तानोत्पत्ति संख्या एवं मैथुनसेवन से असंयम का निरूपण—

७ एगजीवे ण भ ते ! एगभवग्गहणेण केवतियाणं पुत्तत्ताए हव्वमागच्छति ?

गोयमा ! जहन्नेण इक्कस्स वा दोण्हं वा तिण्हं वा, उक्कोसेण सयपुहत्तस्स जीवाण पुत्तत्ताए हव्वमागच्छति ।

[७ प्र] भगवन् ! एक जीव, एक भव की अपेक्षा कितने जीवो का पुत्र हो सकता है ?

---

१. पौषे समार्गशीर्षे, सन्ध्यारागोऽम्बुदा सपरिवेषा ।
नात्यर्थं मार्गशिरे शीत, पौषेऽतिहिमपात ॥

२ भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक १३३

[७ उ] गौतम ! एक जीव, एक भव मे जघन्य एक जीव का, दो जीवो का अथवा तीन जीवो का, और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) शतपृथक्त्व (दो सौ से लेकर नौ सौ तक) जीवो का पुत्र हो सकता है।

८. [१] एगजीवस्स ण भंते ! एगभवग्गहणेण केवइया जीवा पुत्तत्ताए हव्वमागच्छंति ?

गोयमा ! जहन्नेण इक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेण सयसहस्सपुहत्तं जीवा ण पुत्तत्ताए हव्वमागच्छंति ।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एव वुच्चइ—जाव हव्वमागच्छंति ?

गोयमा ! इत्थीए य पुरिसस्स य कम्मकडाए जोणीए मेहुणवत्तिए नाम सजोए समुप्पज्जइ । ते दुहओ सिणेहं सचिणंति, २ तत्थ णं जहन्नेण एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं सयसहस्सपुहत्त जीवा णं पुत्तत्ताए हव्वमागच्छंति । से तेणट्ठेण जाव हव्वमागच्छंति ।

[८-१ प्र] भगवन् ! एक जीव के एक भव मे कितने जीव पुत्ररूप मे (उत्पन्न) हो सकते हैं ?

[८-१ उ] गौतम ! जघन्य एक, दो अथवा तीन जीव, और उत्कृष्ट लक्षपृथक्त्व (दो लाख से लेकर नौ लाख तक) जीव पुत्ररूप मे (उत्पन्न) हो सकते हैं।

[८-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि जघन्य एक ·यावत् दो लाख से नौ लाख तक जीव पुत्ररूप मे (उत्पन्न) हो सकते है ?

[८-२ उ] हे गौतम ! कर्मकृत (नामकर्म से निष्पन्न अथवा कामोत्तेजित) योनि मे स्त्री और पुरुष का जब मैथुनवृत्तिक (सम्भोग निमित्तक) सयोग निष्पन्न होता है, तब उन दोनो के स्नेह (पुरुष के वीर्य और स्त्री के रक्त=रज) का सचय (सम्बन्ध) होता है, फिर उसमे से जघन्य एक, दो अथवा तीन और उत्कृष्ट लक्षपृथक्त्व (दो लाख से लेकर नौ लाख तक) जीव पुत्ररूप मे उत्पन्न होते हैं। हे गौतम ! इसीलिए पूर्वोक्त कथन किया गया है।[1]

९. मेहुण भंते ! सेवमाणस्स केरिसिए असजमे कज्जइ ?

गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे रूयनालियं वा बूरनालिय वा तत्तेण कणएण[2] समभिद्ध-सेज्जा । एरिसए ण गोयमा ! मेहुण सेवमाणस्स असंजमे कज्जइ ।

सेव भंते ! सेव भंते ! जाव विहरति ।

[९ प्र] भगवन् ! मैथुनसेवन करते हुए जीव के किस प्रकार का असयम होता है ?

---

१ आधुनिक शरीर विज्ञान के अनुसार पुरुष के शुक्र मे करोडो जीवाणु होते हैं, किन्तु वे धीरे-धीरे समाप्त हो जाते हैं और एक या दो जीवाणु जीवित रहते हैं जो गर्भ रूप मे आते हैं।

२ 'कणएण' कनक लोहमय ज्ञेय । कनक शब्द लोहमयी शलाका अर्थ मे समझ लेना चाहिए । भगवती प्रमेय चन्द्रिका टीका भा २, पृ ८३१ मे 'कनकस्य शलाकार्थो लभ्यते' लिखा है। —भग. मू पा टि पृ ९९

[९ उ] गौतम ! जैसे कोई पुरुष तपी हुई सोने की (या लोहे की) सलाई (डालकर, उस) से बास की रूई से भरी हुई नली या बूर नामक वनस्पति से भरी नली को जला (विध्वस्त कर) डालता है, हे गौतम ! ऐसा ही असयम मैथुन सेवन करते हुए जीव के होता है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', ऐसा कहकर—यावत् गौतम स्वामी विचरण करते है।

विवेचन—मैथुन प्रत्ययिक सन्तानोत्पत्ति सख्या एव मैथुनसेवन से असयम का निरूपण— प्रस्तुत तीन सूत्रो मे से प्रथम दो सूत्रो मे यह बताया गया है कि एक जीव के एक जन्म मे कितने पुत्र (सन्तान) हो सकते है और उसका क्या कारण है ? तीसरे सूत्र मे मैथुन-सेवन से कितना और किस प्रकार का असयम होता है ? यह सोदाहरण बताया गया है।

एक जीव शतपृथक्त्व जीवो का पुत्र कैसे ?—गाय आदि की योनि मे गया हुआ शतपृथक्त्व (दो सौ से लेकर नौ सौ तक) साडो का वीर्य, वीर्य ही गिना जाता है, क्योकि वह वीर्य बारह मुहूर्त्त तक वीर्यरूप पर्याय मे रहता है। उस वीर्य पिण्ड मे उत्पन्न हुआ एक जीव उन सबका (जिनका कि वीर्य गाय की योनि मे गया है) पुत्र (सन्तान) कहलाता है। इस प्रकार एक जीव, एक ही भव मे शतपृथक्त्व (दो सौ से लेकर नौ सौ) जीवो का पुत्र हो सकता है। अर्थात्—एक जीव के, एक ही भव मे उत्कृष्ट नौ सौ पिता हो सकते हैं।

एक जीव के, एक ही भव मे शत-सहस्रपृथक्त्व पुत्र कैसे ?—मत्स्य आदि जब मैथुनसेवन करते है तो एक बार के सयोग से उनके शत-सहस्रपृथक्त्व (दो लाख से लेकर नौ लाख तक) जीव पुत्र रूप से उत्पन्न होते हैं और जन्म लेते है। यह प्रमाण है—एक भव मे एक जीव के उत्कृष्ट शतसहस्र-पृथक्त्व पुत्र होने का। यद्यपि मनुष्यस्त्री की योनि मे भी बहुत-से जीव उत्पन्न होते है किन्तु जितने उत्पन्न होते है, वे सब के सब निष्पन्न नही होते (जन्म नही लेते)।

मैथुन सेवन से असयम—मैथुनसेवन करते हुए पुरुष के मेहन (लिंग) द्वारा स्त्री की योनि मे रहे हुए पचेन्द्रिय जीवो का विनाश होता है, जिसे समझाने के लिए मूलपाठ मे उदाहरण दिया गया है।[1]

तुंगिका नगरी के श्रमणोपासको का जीवन—

१० तए ण समणे भगव महावीरे रायगिहाओ नगराओ गुणसिलाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ, २ बहिया जणवयविहार विहरति।

[१०] इसके पश्चात् (एकदा) श्रमण भगवान् महावीर राजगृह नगर के गुणशील उद्यान से निकालकर बाहर जनपदो मे विहार करने लगे।

११ तेण कालेण २ तु गिया[2] नाम नगरी होत्था। वण्णओ। तीसे ण तु गियाए नगरीए

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १३४

२ बनारस (वाराणसी या काशी) से ८० कोस दूर पाटलीपुत्र (पटना) नगर है, वहाँ से १० कोस दूर 'तु गिया' नाम की नगरी है। —श्रीसम्मेतशिखर रास

बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए पुप्फवतीए नाम चेतिए होत्था। वण्णओ। तत्थ ण तु गियाए नगरीए बहवे समणोवासया परिवसति अड्ढा दित्ता वित्थिण्णविपुलभवण-सयणाऽऽसण-जाण-वाहणाइण्णा बहुधण-बहुजायरूव-रयया आयोग-पयोगसपउत्ता विच्छड्डियविपुलभत्त-पाणा बहुदासी-दास-गो-महिस-गवेलयप्पभूता बहुजणस्स अपरिभूता अभिगतजीवाजीवा उवलद्धपुण्ण-पावा आसव-सवर-निज्जर-किरियाहिकरण-बधमोक्खकुसला असहेज्जदेवासुर-नाग-सुवण्ण-जक्ख-रक्खस-किन्नर-किंपुरिस-गरुल-गधव्व-महोरगादिएहि देवगणेहि निग्गथातो पावयणातो अणतिक्कमणिज्जा, णिग्गथे पावयणे निस्सकिया निक्कखिता निव्वितिगिच्छा लद्धट्ठा गहितट्ठा पुच्छितट्ठा अभिगतट्ठा विणिच्छियट्ठा, अट्ठि-मिजपेम्माणुरागरत्ता—'अयमाउसो ! निग्गथे पावयणे अट्ठे, अय परमट्ठे, सेसे अणट्ठे,' ऊसिय-फलिहा अवगुतदुवारा चियत्ततेउर-घरप्पवेसा, बहूहि सीलव्वत-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहि चाउद्दसऽट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्ण पोसह सम्म अणुपालेमाणा, समणे निग्गथे फासुएउणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेण वत्थ-पडिग्गह-कबल-पादपु छणेण पीढ-फलग-सेज्जा-सथारगेण ओसह-भेसज्जेण य पडिलाभेमाणा,[1] अहापरिग्गहिएहि तवोकम्मेहि अप्पाण भावेमाणा विहरति।

[११] उस काल उस समय मे तु गिया (तु गिका) नाम की नगरी थी। उसका वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार जानना चाहिए। उस तु गिका नगरी के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा भाग (ईशान कोण) मे पुष्पवतिक नाम का चैत्य (उद्यान) था। उसका वर्णन समझ लेना चाहिए।

उस तु गिकानगरी मे बहुत-से श्रमणोपासक रहते थे। वे आढ्य (विपुल धनसम्पत्ति वाले) और दीप्त (प्रसिद्ध या दृप्त—स्वाभिमानी) थे। उनके विस्तीर्ण (विशाल) विपुल (अनेक) भवन थे। तथा वे शयनो (शयन सामग्री), आसनो, यानो (रथ, गाडी आदि), तथा वाहनो (बैल, घोडे आदि) से सम्पन्न थे। उनके पास प्रचुर धन (रुपये आदि सिक्के), बहुत-सा सोना-चाँदी आदि था। वे आयोग (रुपया उधार देकर उसके ब्याज आदि द्वारा दुगुना तिगुना अर्थोपार्जन करने का व्यवसाय) और प्रयोग (अन्य कलाओ का व्यवसाय) करने मे कुशल थे। उनके यहाँ विपुल भात-पानी (खान-पान) तैयार होता था, और वह अनेक लोगो को वितरित किया जाता था। उनके यहाँ बहुत-सी दासियाँ (नौकरानियाँ) और दास (नौकर-चाकर) थे, तथा बहुत-सी गाये, भैसे, भेडे और बकरियाँ आदि थी। वे बहुत-से मनुष्यो द्वारा भी अपरिभूत (पराभव नही पाते=दबते नही) थे। वे जीव (चेतन) और अजीव (जड) के स्वरूप को भलीभाँति जानते थे। उन्होने पुण्य और पाप का तत्त्व उपलब्ध कर लिया था। वे आश्रव, सवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बन्ध और मोक्ष के विषय मे कुशल थे। (अर्थात्—इनमे से हेय, ज्ञेय और उपादेय को सम्यक् रूप से जानते थे।) वे (किसी भी कार्य मे दूसरो से) सहायता की अपेक्षा नही रखते थे। (वे निर्ग्रन्थ प्रवचन मे इतने दृढ थे कि) देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, गरुड, गन्धर्व, महोरग, आदि देवगणो के द्वारा निर्ग्रन्थप्रवचन से अनतिक्रमणीय (विचलित नही किये जा सकते) थे। वे निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति नि शकित थे, निष्कांक्षित थे, तथा विचिकित्सारहित (फलाशकारहित) थे। उन्होने शास्त्रो के अर्थो

---

१ पाठान्तर—'बहूहि सीलव्वय-गुणव्वय-वेरमण-पच्चक्खाण पोसहोववासेहि अप्पाण भावेमाणा चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ-पुण्णिमासिणीसु अधापरिग्गहितेण पोसहोववासेण अप्पाण भावेमाणा विहरति।'

को भलीभाति उपलब्ध कर लिया था, शास्त्रो के अर्थो को (दत्तचित्त होकर) ग्रहण कर लिया था। (शास्त्रो के अर्थों मे जहाँ सन्देह था, वहाँ) पूछकर उन्होने यथार्थ निर्णय कर लिया था। उन्होने शास्त्रो के अर्थों और उनके रहस्यो को निर्णयपूर्वक जान लिया था। उनकी हड्डियाँ और मज्जाएँ (नसें) (निर्ग्रन्थप्रवचन के प्रति) प्रेमानुराग मे रगी हुई (व्याप्त) थी। (इसीलिए वे कहते थे कि—) 'आयुष्मान् बन्धुओ ! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही अर्थ (सार्थक) है, यही परमार्थ है, शेष सब अनर्थ (निरर्थक) हैं।' वे इतने उदार थे कि उनके घरो मे दरवाजो के पीछे रहने वाली अर्गला (आगल-भोगल) सदैव ऊँची रहती थी। उनके घर के द्वार (याचको के लिए) सदा खुले रहते थे। उनका अन्त पुर तथा परगृह मे प्रवेश (अतिधार्मिक होने से) लोकप्रीतिकर (विश्वसनीय) होता था। वे शीलव्रत (शिक्षाव्रत), गुणव्रत, विरमणव्रत (अणुव्रत), प्रत्याख्यान (त्याग-नियम), पोषधोपवास आदि का सम्यक् आचरण करते थे, तथा चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा, इन पर्वतिथियो मे (प्रतिमास छह) प्रतिपूर्ण पोषध का सम्यक् अनुपालन (आचरण) करते थे। वे श्रमण निर्ग्रन्थो को (उनके कल्पानुसार) प्रासुक (अचित्त) और एषणीय (एषणा दोषो से रहित) अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, पीठ (चौकी या बाजोट) फलक (पट्टा या तख्त), शय्या, सस्तारक, औषध और भेषज आदि प्रतिलाभित करते (देते) थे, और यथाप्रतिगृहीत (अपनी शक्ति के अनुसार ग्रहण किये हुए) तप कर्मों से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरते (जीवनयापन करते) थे।

विवेचन—तु गिका नगरी के श्रमणोपासको का जीवन—प्रस्तुत दो सूत्रो (१० और ११) मे से प्रथम मे श्रमण भगवान् महावीर का राजगृह से अन्यत्र विहार का सूचन है, और द्वितीय मे भगवान् महावीर के तु गिकानगरी निवासी श्रमणोपासको का जीवन आर्थिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, धार्मिक आदि विविध पहलुओ से चित्रित किया गया है।

कठिन शब्दो के दूसरे अर्थ—'**वित्थिण्णविपुल भवण-सयणासण-जाण-वाहणाइण्णे**=जिनके घर विशाल और ऊँचे थे, तथा जिनके शयन, आसन, यान और वाहन प्रचुर थे। **विच्छड्डियविउलभत्त-पाणा**=उनके यहाँ बहुत-सा भात-पानी (याचको को देने के लिए) छोडा जाता था। अथवा जिनके यहाँ अनेक लोग भोजन करते थे, इसलिए बहुत-सा भात-पानी बचता था। अथवा जिनके यहाँ विविध प्रकार का प्रचुर खान-पान होता था। **असहेज्ज-देवासुर-नाग-सुवण्ण-जक्ख-रक्खस-किन्नर-किंपुरिस-गरुल-गधव्व-महोरगाईएहिं**—आपत्ति मे भी देवादिगणो की सहायता से निरपेक्ष थे, अर्थात्—'स्वकृत कर्म स्वय ही भोगना होगा', इस तत्त्व पर स्थित होने से वे अदीनमनोवृत्ति वाले थे। अथवा परपाषण्डियो द्वारा आक्षेपादि होने पर वे सम्यक्त्व की रक्षा के लिए दूसरो की सहायता नही लेते थे, क्योकि वे स्वय उनके आक्षेपादि निवारण मे समर्थ थे। **सुवण्ण**=अच्छे वर्ण वाले ज्योतिष्क देव। **गरुल**=गरुड—सुपर्णकुमार। **अट्ठिमिज्जपेमाणु रागरत्ता**=उनकी हड्डियाँ और उनमे रहा हुआ धातु=मिज्जा, ये सर्वज्ञप्रवचनो पर प्रतीतिरूप कसुम्बे के रग से रगे हुए थे। **ऊसिअफलिहा**=अत्यन्त उदारता से अतिशय दान देने के कारण घर मे भिक्षुको के निराबाध प्रवेश के लिए जिन्होने दरवाजे की अर्गला हटा दी थी। **चियत्त-तेउर-घरप्पवेसा**=जिनके अन्त पुर या घर मे कोई सत्पुरुष प्रवेश करे तो उन्हे अप्रीति नही होती थी, क्योकि उन्हे ईर्ष्या नही होती। अथवा जिन्होने दूसरो के अन्त पुर या घर मे प्रवेश करना छोड दिया था। अथवा वे किसी के घर मे या अन्त पुर मे प्रवेश करें तो अतीव

धर्मनिष्ठ होने के कारण उसे प्रसन्नता होती थी, शका नही। उद्दिट्ठा=अमावस्या (उद्दिष्टा)। अहिकरण=क्रिया का साधन।[1]

तुंगिका मे अनेक गुणसम्पन्न पार्श्वापत्यीय स्थविरो का पदार्पण—

१२ तेण कालेण २ पासावच्चिज्जा थेरा भगवतो जातिसपन्ना कुलसपन्ना बलसपन्ना रूवसपन्ना विणयसपन्ना णाणसपन्ना दसणसपन्ना चरित्तसपन्ना लज्जासपन्ना लाघवसपन्ना ओयसी तेयसी वच्चसी जससी जितकोहा जियमाणा जियमाया जियलोभा जियनिद्दा जितिंदिया जितपरीसहा जीवियासा-मरणभयविप्पमुक्का जाव[2] कुत्तियावणभूता बहुस्सुया बहुपरिवारा, पचहिं अणगारसतेहिं सद्धि संपरिवुडा, अहाणुपुव्वि चरमाणा, गामाणुगाम दूइज्जमाणा, सुहसुहेण विहरमाणा जेणेव तु गिया नगरी, जेणेव पुप्फवतीए चेतिए तेणेव उवागच्छति, २ अहापडिरूव उग्गह ओगिण्हित्ताण सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणा विहरति।

[१२] उस काल और उस समय मे पार्श्वापत्यीय (भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यानुशिष्य स्थविर भगवान् पाच सौ अनगारो के साथ यथाक्रम से चर्या करते हुए, ग्रामानुग्राम जाते हुए, सुखपूर्वक विहार करते हुए जहाँ तु गिका नगरी थी और जहाँ (उसके बाहर ईशानकोण मे) पुष्पवतिक चैत्य (उद्यान) था, वहाँ पधारे। वहाँ पधारते ही यथानुरूप अवग्रह (अपने अनुकूल मर्यादित स्थान की याचना करके आज्ञा) लेकर सयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए वहाँ विहरण करने लगे। वे स्थविर भगवन्त जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न, बलसम्पन्न, रूपसम्पन्न, विनयसम्पन्न, ज्ञानसम्पन्न, दर्शनसम्पन्न, चारित्रसम्पन्न, लज्जासम्पन्न, लाघवसम्पन्न, ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी (विशिष्ट प्रभाव युक्त) और यशस्वी थे। उन्होने क्रोध, मान, माया, लोभ, निद्रा, इन्द्रियो और परीषहो को जीत लिया था। वे जीवन (जीने) की आशा और मरण के भय से विमुक्त थे, यावत् (यहाँ तक कि) वे कुत्रिकापण-भूत (जैसे कुत्रिकापण मे तीनो लोको की आवश्यक समस्त वस्तुएँ मिल जाती है, वैसे ही वे समस्त अभीष्ट पदार्थो की प्राप्ति मे समर्थ अथवा समस्त गुणो की उपलब्धि से युक्त) थे। वे बहुश्रुत और बहुपरिवार वाले थे।

विवेचन—तु गिका में अनेक गुणसम्पन्न पार्श्वापत्यीय स्थविरो का पदार्पण—प्रस्तुत सूत्र मे अनेक श्रमणगुणो के धनी पार्श्वनाथ-शिष्यानुशिष्य श्रुतवृद्ध स्थविरो का वर्णन किया गया है। **कुत्रिकापण**=कु=पृथ्वी, त्रिक=तीन, आपण=दूकान। अर्थात्—जिसमे तीनो लोक की वस्तुएँ मिलें, ऐसी देवाधिष्ठित दूकान को कुत्रिकापण कहते है। **वच्चसी**=वर्चस्वी, वचस्वी (वाग्मी), अथवा वृत्तस्वी (वृत्त-चारित्र रूपी धन वाले)।[3]

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १३५-१३६

२ 'जाव' शब्द से यहाँ स्थविरो के ये विशेषण और समझ लेने चाहिए—"तवप्पहाणा गुणप्पहाणा करणप्पहाणा चरणप्पहाणा निग्गहप्पहाणा निच्छयप्पहाणा मद्दवप्पहाणा अज्जवप्पहाणा लाघवप्पहाणा खतिप्पहाणा मुत्तिप्पहाणा एव विज्जा-मत-वेय-बभ-नय-नियम-सच्च-सोयप्पहाणा चारुप्पण्णा सोही अणियाणा अप्पुस्सुया अबहिल्लेसा सुसामण्णरया अच्छिद्दपसिणवागरणा कुत्तियावण०"—भगवती अ वृत्ति, पत्राक १३६

३ भगवतीसूत्र अ वृत्ति पत्राक १३६-१३७

तुंगिकानिवासी श्रमणोपासक पार्श्वापत्यीय स्थविरों की सेवा में—

१३ तए णं तुंगियाए नगरीए सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-महापहपहेसु जाव[1] एगदिसाभिमुहा णिज्जायति।

[१३] तदनन्तर तुंगिकानगरी के शृंगाटक (सिंघाडे के आकार वाले त्रिकोण) मार्ग में, त्रिक (तीन मार्ग मिलते हैं, ऐसे) रास्तों में, चतुष्क पथों (चार मार्ग मिलते हैं, ऐसे चौराहों) में तथा अनेक मार्ग मिलते हैं, ऐसे मार्गों में, राजमार्गों में एवं सामान्य मार्गों में (सर्वत्र उन स्थविर भगवन्तों के पदार्पण की) बात फैल गई। जनता एक ही दिशा में उन्हें वन्दन करने के लिए जाने लगी है।

१४ तए णं ते समणोवासया इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणा हट्ठतुट्ठा जाव[2] सद्दावेंति, २ एवं वदासी—एवं खलु देवाणुप्पिया! पासावच्चेज्जा थेरा भगवंतो जातिसंपन्ना जाव[3] अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ताणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति। तं महाफलं खलु देवाणुप्पिया! तहारूवाणं थेराणं भगवंताणं णाम-गोत्तस्स वि सवणयाए किमंग पुण अभिगमण-वंदण-नमंसण-पडिपुच्छण-पज्जुवासणयाए ? जाव[4] गहणयाए ?, तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया! थेरे भगवंते वंदामो नमंसामो जाव[5] पज्जुवासामो, एयं णं इहभवे वा परभवे वा जाव[6] अणुगामियत्ताए भविस्सतीति कट्टु अन्नमन्नस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणेंति, २ जेणेव सयाइं सयाइं गिहाइं तेणेव उवागच्छंति, २ ण्हाया कयबलिकम्मा कतकोउयमंगलपायच्छित्ता, सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवराइं परिहिया, अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा सएहिं २ गेहेहिंतो पडिनिक्खमंति, २ त्ता एगतओ मेलायंति, २ पायविहारचारेणं तुंगियाए नगरीए मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छंति, २ जेणेव पुप्फवतीए चेतिए तेणेव उवागच्छंति, २ थेरे भगवंते पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छंति, तं जहा—सचित्ताणं दव्वाणं विओसरणताए १ अचित्ताणं दव्वाणं अविओसरणताए २ एगसाडिएणं उत्तरासंगकरणेणं ३ चक्खुप्फासे अंजलिप्पग्गहेणं ४ मणसो एगत्तीकरणेणं ५, जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छंति, २

---

१ 'जाव' शब्द यहाँ निम्नोक्त पाठ का सूचक है—'बहुजणसद्दे इ वा जणबोले इ वा जणकलकले इ वा जणुम्मी इ वा जणसन्निवाए इ वा बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ ४ एवं खलु देवाणुप्पिया! पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो जातिसंपन्ना' इत्यादि पाठ सू. १२ के प्रारम्भ में उक्त पाठ 'विहरंति' तक समझना चाहिए।

२ 'जाव' पद यहाँ निम्नोक्त पाठ-सूचक है—'चित्तमाणंदिआ णंदिआ परमाणंदिआ पीइमणा परमसोमणसिआ हरिसवसविसप्पमाणहिअया धाराहयनीवसुरहिकुसुमचंचुमालइयतणू ऊससियरोमकूवा।'

३ यहाँ 'जाव' पद 'जातिसंपन्ना' (सू. १२) से लेकर 'अहापडिरूवं' तक का बोधक है।

४ 'जाव' पद से यहाँ निम्नोक्त पाठ समझें—'एगस्स वि आरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणताए किमंग पुण विउलस्स अत्थस्स गहणयाए।'

५ 'जाव' पद निम्नोक्त पाठ का सूचक है—'सक्कारेमो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामो।'

६ 'जाव' पद यहाँ निम्नोक्त पाठ का सूचक है—'हियाए सुहाए खमाए निस्सेयसाए।'

तिक्खुत्तो आयाहिण-पयाहिण करेंति, २ जाव[1] तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासेंति,[2] त जहा—काइ० वाइ० माण०। तत्थ काइयाए-सकुचियपाणि-पाए सुस्सूसमाणे णमसमाणे अभिमुहे विणएण पजलिउडे पज्जुवासति। वाइयाए—ज ज भगव वागरेति 'एवमेय भते !, तहमेय भ० !, अवितहमेय भ० !, असदिद्धमेय भ० !, इच्छियमेय भ० !, पडिच्छियमेय भ० !, इच्छियपडिच्छियमेय भ० !, वायाए अपडिकूलेमाणा विणएण पज्जुवासति। माणसियाए—सवेग जणयता तिव्वधम्माणुरागरत्ता विगह-विसोत्तियपरिवज्जियमई अन्नत्थ कत्थइ मण अकुव्वमाणा विणएण पज्जुवासति।

[१४] जब यह बात तु गिकानगरी के श्रमणोपासको को ज्ञात हुई तो वे अत्यन्त हर्षित और सन्तुष्ट हुए, यावत् परस्पर एक दूसरे को बुलाकर इस प्रकार कहने लगे—हे देवानुप्रियो ! (सुना है कि) भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यानुशिष्य स्थविर भगवन्त, जो कि जातिसम्पन्न आदि विशेषण-विशिष्ट है, यावत् (यहाँ पधारे है) और यथाप्रतिरूप अवग्रह ग्रहण करके सयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विहरण करते है। हे देवानुप्रियो ! तथारूप स्थविर भगवन्तो के नाम-गोत्र के श्रवण से भी महाफल होता है, तब फिर उनके सामने जाना, वन्दन-नमस्कार करना, उनका कुशल-मगल (सुख-साता) पूछना और उनकी पर्युपासना (सेवा) करना, यावत् उनसे प्रश्न पूछ कर अर्थ-ग्रहण करना, इत्यादि बातो के (अवश्य कल्याण रूप) फल का तो कहना ही क्या ? अत हे देवानुप्रियो ! हम सब उन स्थविर भगवन्तो के पास चले और उन्हे वन्दन-नमस्कार करे, यावत् उनकी पर्युपासना करे। ऐसा करना अपने लिए इस भव मे तथा परभव मे हित-रूप होगा, यावत् परम्परा से (परलोक मे कल्याण का) अनुगामी होगा।

इस प्रकार बातचीत करके उन्होने उस बात को एक दूसरे के सामने (परस्पर) स्वीकार किया। स्वीकार करके वे सब श्रमणोपासक अपने-अपने घर गए। घर जाकर स्नान किया, फिर बलिकर्म (कौए, कुत्ते, गाय आदि को अन्नादि दिया, अथवा स्नान से सम्बन्धित तिलक, छापा आदि कार्य) किया। (तदनन्तर दु स्वप्न आदि के फलनाश के लिए) कौतुक और मगल-रूप प्रायश्चित्त किया। फिर शुद्ध (स्वच्छ), तथा धर्मसभा आदि मे प्रवेश करने योग्य (अथवा शुद्ध आत्माओ के पहनने योग्य) एव श्रेष्ठ वस्त्र पहने। थोडे-से, (या कम वजन वाले) किन्तु बहुमूल्य आभरणो (आभूषणो) से शरीर को विभूषित किया। फिर वे अपने-अपने घरो से निकले, और एक जगह मिले। (तत्पश्चात्) वे सम्मिलित होकर पैदल चलते हुए तु गिका नगरी के बीचोबीच होकर निकले और जहाँ पुष्पवतिक चैत्य था, वहाँ आए। (वहाँ) स्थविर भगवन्तो (को दूर से देखते ही, उन) के पास पाच प्रकार के

---

१ 'जाव' पद से यह पाठ समझना चाहिए—'वदति णमसति णच्चासन्ने णाइदूरे सुस्सूसमाणा णमसमाणा अभिमुहा विणएण पजलिउडा।'

२ 'त जहा' से लेकर 'पज्जुवासति' तक का पाठ अन्य प्रतियो मे नही है। औपपातिक सूत्र से उद्धृत किया हुआ प्रतीत होता है।—"त जहा—काइयाए वाइयाए माणसियाए। काइयाए ताव सकुइअग्गहत्थ-पाए सुस्सूसमाणे णमसमाणे अभिमुहे विणएण पजलिउडे पज्जुवासइ। वाइयाए जं ज भगव वागरेइ एवमेय भते ! तहमेयं भते ! अवितहमेय भते ! असदिद्धमेय भते ! इच्छिअमेअ भते ! पडिच्छिअमेअ भते ! इच्छियपडिच्छियमेयं भते ! से जहेय तुब्भे वदह अपडिकूलमाणे पज्जुवासति। माणसियाए महया सवेग जणइत्ता तिव्वधम्माणुराग-रत्तो पज्जुवासइ।"

अभिगम करके गए। वे (पाच अभिगम) इस प्रकार है—(१) (अपने पास रहे हुए) सचित्त द्रव्यो (फूल, ताम्बूल आदि) का त्याग करना, (२) अचित्त द्रव्यो (सभाप्रवेश योग्य वस्त्रादि) का त्याग न करना—साथ मे रखना (अथवा मर्यादित करना), (३) एकशाटिक उत्तरासग करना (एक पट के बिना सिले हुए वस्त्र—दुपट्टे को (यतनार्थं मुख पर रखना), (४) स्थविर-भगवन्तो को देखते ही दोनो हाथ जोडना, तथा (५) मन को एकाग्र करना।

यो पाच प्रकार का अभिगम करके वे श्रमणोपासक स्थविर भगवन्तो के निकट पहुँचे। निकट आकर उन्होने दाहिनी ओर से तीन बार उनकी प्रदक्षिणा की, वन्दन-नमस्कार किया यावत् कायिक, वाचिक और मानसिक, इन तीनो प्रकार से उनकी पर्युपासना करने लगे। वे हाथ-पैरो को सिकोड कर शुश्रूषा करते हुए, नमस्कार करते हुए, उनके सम्मुख विनय से हाथ जोडकर काया से पर्युपासना करते है। जो-जो बाते स्थविर भगवान् फरमा रहे थे, उसे सुनकर—'भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह तथ्य है, यही सत्य है, भगवन्! यह असदिग्ध है, भगवन्! यह इष्ट है, यह प्रतीष्ट (अभीष्ट) है, हे भगवन्! यही इष्ट और विशेष इष्ट है,' इस प्रकार वाणी से अप्रतिकूल (अनुकूल) होकर विनयपूर्वक वाणी से पर्युपासना करते है तथा मन से (हृदय मे) सवेगभाव उत्पन्न करते हुए तीव्र धर्मानुराग मे रगे हुए विग्रह (कलह) और प्रतिकूलता (विरोध) से रहित बुद्धि होकर, मन को अन्यत्र कही न लगाते हुए विनयपूर्वक (मानसिक) उपासना करते है।

विवेचन—तु गिकानिवासी श्रमणोपासक पार्श्वापत्यीय स्थविरो की सेवा मे—प्रस्तुत दो सूत्रो मे शास्त्रकार ने तु गिका के श्रमणोपासको द्वारा भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यानुशिष्य स्थविर-मुनियो के दर्शन, प्रवचन-श्रवण, वन्दन-नमन, विनयभक्ति पर्युपासना आदि को महाकल्याणकारक फलदायक समझकर उनके गुणो से आकृष्ट होकर उनके दर्शन, वन्दना, पर्युपासना आदि के लिए पहुँचने का वर्णन किया है। इस वर्णन से भगवान् महावीर के श्रमणोपासको की गुणग्राहकता, उदारता, नम्रता और शिष्टता का परिचय मिलता है। पार्श्वनाथतीर्थं के साधुओ को भी उन्होने स्वतीर्थीय साधुओ की तरह ही वन्दना-नमस्कार, विनयभक्ति एव पर्युपासना की थी। साम्प्रदायिकता को गन्ध तक न आने दी।[1]

कय-कोउय-मगल-पायच्छित्ता—दो विशेष अर्थ—(१) उन्होने दु स्वप्न आदि के दोष निवारणार्थ कौतुक और मगलरूप प्रायश्चित्त किया, (२) उन्होने कौतुक अर्थात् मषी का तिलक[2] और मगल अर्थात्—दही, अक्षत, दूब के अकुर आदि मागलिक पदार्थो से मंगल किया और पायच्छित्त यानी पादच्छुप्त=एक प्रकार के पैरो पर लगाने के नेत्र दोष निवारणार्थं तेल का लेपन किया।

१५ तए ण ते थेरा भगवतो तेसिं समणोवासयाण तीसे य महतिमहालियाए परिसाए चाउज्जाम धम्म परिकहेंति, जहा केसिसामिस्स जाव[3] समणोवासियत्ताए आणाए आराहगे भवति जाव धम्मो कहिओ।

---

१ भगवतीसूत्र टीकाऽनुवाद (प बेचरदासजी) खण्ड १, पृ २८७

२ काजल की टिकी—नजर दोष से बचने के लिए लगाई जाती है।

३ 'जाव' पद से यहाँ निम्नोक्त राजप्रश्नीय सूत्र (पृ १२०) मे उल्लिखित केशीस्वामि-कथित धर्मोपदेशादि का वर्णन समझना चाहिए—'तीसे महतिमहालियाए महच्चपरिसाए चाउज्जाम धम्म परिकहेइ त जहा—सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमण सव्वाओ बहिद्धादाणाओ वेरमण ' इत्यादि—भगवती मू पा टि पृ १०३-१०४

[१५] तत्पश्चात् उन स्थविर भगवन्तो ने उन श्रमणोपासको तथा उस महती परिषद् (धर्मसभा) को केशीश्रमण की तरह चातुर्याम-धर्म (चार याम वाले धर्म) का उपदेश दिया। यावत् वे श्रमणोपासक अपनी श्रमणोपासकता द्वारा (उन स्थविर भगवन्तो की) आज्ञा के आराधक हुए। यावत् धर्म-कथा पूर्ण हुई।

तुंगिका के श्रमणोपासकों के प्रश्न और स्थविरो के उत्तर—

१६ तए णं ते समणोवासया थेराण भगवताण अतिए धम्म सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ जाव हयहिदया तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिण करेंति, २ जाव तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासति, २ एव वदासी—

सजमे ण भ ते ! किंफले ? तवे ण भ ते ! किंफले ?

तए ण ते थेरा भगवतो ते समणोवासए एव वदासी—सजमे ण अज्जो ! अणण्हयफले, तवे वोदाणफले।

[१६] तदनन्तर वे श्रमणोपासक स्थविर भगवन्तो से धर्मोपदेश सुनकर एव हृदयगम करके बडे हर्षित और सन्तुष्ट हुए, यावत् उनका हृदय खिल उठा और उन्होने स्थविर भगवन्तो की दाहिनी ओर से तीन बार प्रदक्षिणा की, यावत् (पूर्वोक्तानुसार) तीन प्रकार की उपासना द्वारा उनकी पर्युपासना की और फिर इस प्रकार पूछा—

[प्र] भगवन् ! सयम का क्या फल है ? भगवन् ! तप का क्या फल है ?

[उ.] इस पर उन स्थविर भगवन्तो ने उन श्रमणोपासको से इस प्रकार कहा—'हे आर्यो ! सयम का फल अनाश्रवता (आश्रवरहितता—सवरसम्पन्नता) है। तप का फल व्यवदान (कर्मो को विशेषरूप से काटना या कर्मपक से मलिन आत्मा को शुद्ध करना) है।

१७ [१] तए ण ते समणोवासया थेरे भगवते एवं वदासी—जइ ण भ ते ! संजमे अणण्हयफले, तवे वोदाणफले किंपत्तिय ण भ ते ! देवा देवलोएसु उववज्जति ?

[१७-१ प्र] (स्थविर भगवन्तो से उत्तर सुनकर) श्रमणोपासको ने उन स्थविर भगवन्तो से (पुन) इस प्रकार पूछा—'भगवन् ! यदि सयम का फल अनाश्रवता है और तप का फल व्यवदान है तो देव देवलोको मे किस कारण से उत्पन्न होते है ?'

[२] तत्थ णं कालियपुत्ते नामं थेरे ते समणोवासए एव वदासी—पुव्वतवेणं अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जति।

[१७-२ उ] (श्रमणोपासको का प्रश्न सुनकर) उन स्थविरो मे से कालिकपुत्र नामक स्थविर ने उन श्रमणोपासको से यो कहा—'आर्यो ! पूर्वतप के कारण देव देवलोको मे उत्पन्न होते हैं।'

[३] तत्थ ण मेहिले नाम थेरे ते समणोवासए एव वदासी—पुव्वसजमेण अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति।

[१७-३ उ] उनमे से मेहिल (मेधिल) नाम के स्थविर ने उन श्रमणोपासको से इस प्रकार कहा—'आर्यो ! पूर्व-सयम के कारण देव देवलोको मे उत्पन्न होते हैं।'

[४] तत्थ ण आणदरक्खिए णाम थेरे ते समणोवासए एव वदासी—कम्मियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जति ।

[१७-४ उ] फिर उनमे से आनन्दरक्षित नामक स्थविर ने उन श्रमणोपासको से इस प्रकार कहा—'आर्यो ! कर्मिता (कर्मो की विद्यमानता या कर्म शेष रहने) के कारण देवता देवलोको मे उत्पन्न होते है ।

[५] तत्थ ण कासवे णाम थेरे ते समणोवासए एव वदासी—सगियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जति, पुव्वतवेण पुव्वसजमेण कम्मियाए सगियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जति । सच्चे ण एस अट्ठे, नो चेव णं आतभाववत्तव्वयाए ।

[१७-५ उ] उनमे से काश्यप नामक स्थविर ने उन श्रमणोपासको से यो कहा—'आर्यो ! सगिता (द्रव्यादि के प्रति रागभाव=आसक्ति) के कारण देव देवलोको मे उत्पन्न होते है । इस प्रकार हे आर्यो ! (वास्तव मे) पूर्व (रागभावयुक्त) तप से, पूर्व (सराग) सयम से, कर्मिता (कर्मक्षय न होने से या कर्मो के रहने) से, तथा सगिता (द्रव्यासक्ति) से, देवता देवलोको मे उत्पन्न होते हैं । यह बात (अर्थ) सत्य है । इसलिए कही है, हमने अपना आत्मभाव (अपना अहभाव या अपना अभिप्राय) बताने की दृष्टि से नही कही है ।'

१८ तए ण ते समणोवासया थेरेहिं भगवतेहिं इमाइ एयारूवाइ वागरणाइ वागरिया समाणा हट्ठतुट्ठा थेरे भगवते वदति नमसति, २ पसिणाइ पुच्छति, २ अट्ठाइं उवादियति, २ उट्ठाए उट्ठेंति, २ थेरे भगवते तिक्खुत्तो वदति णमसति, २ थेराण भगवंताण अतियाओ पुप्फवतियाओ चेइयाओ पडिनिक्खमति, २ जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया ।

[१८] तत्पश्चात् वे श्रमणोपासक, स्थविर भगवन्तो द्वारा (अपने प्रश्नो के) कहे हुए इन और ऐसे उत्तरो को सुनकर बडे हर्षित एव सन्तुष्ट हुए और स्थविर भगवन्तो को वन्दना नमस्कार करके अन्य प्रश्न भी पूछते है, प्रश्न पूछ कर फिर स्थविर भगवन्तो द्वारा दिये गये उत्तरो (अर्थो) को ग्रहण करते हैं । तत्पश्चात् वे वहाँ से उठते है और तीन बार वन्दना-नमस्कार करते है । फिर वे उन स्थविर भगवन्तो के पास से और उस पुष्पवतिक चैत्य से निकलकर जिस दिशा से आए थे, उसी दिशा मे वापस (अपने-अपने स्थान पर) लौट गए ।

१९ तए ण ते थेरा अन्नया कयाइ तुंगियाओ पुप्फवतिचेइयाओ पडिनिग्गच्छति, २ बहिया जणवयविहार विहरति ।

[१९] इधर वे स्थविर भगवन्त भी किसी एक दिन तु गिका नगरी के उस पुष्पवतिक चैत्य से निकले और बाहर (अन्य) जनपदो मे विचरण करने लगे ।

विवेचन—तु गिका के श्रमणोपासको के प्रश्न और स्थविरो के उत्तर—प्रस्तुत पाच सूत्रो (१५ से १९ तक) मे तु गिका के श्रमणोपासको द्वारा स्थविरो का धर्मोपदेश सुनकर उनसे सविनय पूछे गये प्रश्नो तथा उनके द्वारा विभिन्न अपेक्षाओ से दिये गये उत्तरो का निरूपण है ।

देवत्व किसका फल ? सयम और तप का फल श्रमणोपासको द्वारा पूछे जाने पर स्थविरो ने क्रमश अनाश्रवत्व एव व्यवदान बताया। इस पर श्रमणोपासको ने पुन प्रश्न उठाया—सयम और तप का फल यदि सवर और व्यवदान निर्जरा है तो देवत्व की प्राप्ति कैसे होती है ? इस पर विभिन्न स्थविरो ने पूर्वतप, और पूर्वसयम को देवत्व का का कारण बताया। इसका आशय है—वीतरागदशा मे पूर्व किया गया तप और सयम। ये दोनो (पूर्वतप और पूर्वसयम) सरागदशा मे सेवित होने से देवत्व के कारण है। जबकि पश्चिम तप और पश्चिम सयम रागरहित स्थिति मे होते हं। उनका फल अनाश्रवत्व और व्यवदान है। वास्तव मे देवत्व के साक्षात्कारण कम और सग (रागभाव) हैं। शुभ कर्मो का पु ज बढ जाता है, वह क्षीण नही किया जाता, साथ ही सयम आदि से युक्त होते हुए भी व्यक्ति अगर समभाव (सग या आसक्ति) से युक्त है तो वह देवत्व का कारण बनता है।

व्यवदान—'दाप्' धातु काटने और दैप् शोधन करने अर्थ है, इसलिए व्यवदान का अथ—कर्मो को काटना अथवा कार्यो के कचरे को साफ करना है।[1]

राजगृह मे गौतम स्वामी का भिक्षाचर्यार्थ पर्यटन—

२० तेण कालेण २ रायगिहे नाम नगरे जाव परिसा पडिगया।

[२०] उस काल, उस समय मे राजगृह नामक नगर था। वहाँ (श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे। परिषद् वन्दना करने गई) यावत् (धर्मोपदेश सुनकर) परिषद् वापस लौट गई।

२१ तेण कालेण २ समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अतेवासी इदभूती-नाम अणगारे जाव[2] सखित्तविउलतेयलेस्से छट्ठछट्ठेण अनिक्खित्तेण तवोकम्मेण सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे जाव विहरति।

[२१] उस काल, उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी (शिष्य) इन्द्रभूति नामक अनगार थे। वे यावत वे विपुल तेजोलेश्या को अपने शरीर मे सक्षिप्त (समेट) करके रखते थे। वे निरन्तर छट्ठ-छट्ठ (बेले-बेले) के तपश्चरण से तथा सयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए यावत् विचरते थे।

२२ तए णं से भगव गोतमे छट्ठक्खमणपारणगसि पढमाए पोरिसीए सज्झाय करेइ, बीयाए पोरिसीए झाणं झियायइ, ततियाए पोरिसीए अतुरियमचवलमसभ ते मुहपोत्तिय पडिलेहेति, २

---

१ (क) भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक १३८-१३९

(ख) आचार्य ने कहा है—

पुव्व-तव-सजमा होति रागिणो पच्छिमा अरागस्स।
रागो सगो वुत्तो सगा कम्म भवो तेण॥

(ग) तुलना—सरागसयम-सयमासयमाऽकामनिर्जराबालतपासिदैवस्य।'— —तत्त्वार्थ सूत्र अ, ६ सूत्र २०

२ 'जाव' पद सूचक पाठ—"गोयमसगोत्ते सत्तुस्सेहे समचउरससठाणसठिए वइरोसहनारायसघयणे कणगपुलक-निघसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे घोरतवे उराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी उच्छूढसरीरे"—
—औप पृ ८३

भायणाइ वत्थाइ पडिलेहेइ, २ भायणाइ पमज्जति, २ भायणाइ उग्गाहेति, २ जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छति, २ समण भगव महावीर वदति नमसति, २ एव वदासी—इच्छामि ण भते ! तुब्भेहि अब्भणुण्णाए छट्ठक्खमणपारणगसि रायगिहे नगरे उच्च-नीय-मज्झिमाइ कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडित्तए। अहासुह देवाणुप्पिया ! मा पडिबंध करेह।

[२२] इसके पश्चात् छट्ठ (बेले) के पारणे के दिन भगवान् (इन्द्रभूति) गौतमस्वामी ने प्रथम प्रहर (पौरुषी) मे स्वाध्याय किया, द्वितीय प्रहर (पौरुषी) मे ध्यान ध्याया (किया,) और तृतीय प्रहर (पौरुषी) मे शारीरिक शीघ्रता-रहित, मानसिक चपलतारहित, आकुलता (हडबडी) से रहित होकर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना की, फिर पात्रो और वस्त्रो की प्रतिलेखना की, तदनन्तर पात्रो का प्रमार्जन किया और फिर उन पात्रो को लेकर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ आए। वहाँ आकर भगवान् को वन्दन-नमस्कार किया और फिर इस प्रकार निवेदन किया—'भगवन् ! आज मेरे छट्ठ तप (बेले) के पारणे का दिन है। अत आप से आज्ञा प्राप्त होने पर मैं राजगृह नगर मे उच्च, नीच और मध्यम कुलो के गृहसमुदाय मे भिक्षाचर्या की विधि के अनुसार, भिक्षाटन करना (भिक्षा लेने के निमित्त जाना) चाहता हूँ।'

(इस पर भगवान् ने कहा—) हे देवानुप्रिय ! जिस प्रकार तुम्हे सुख हो, वैसे करो, किन्तु विलम्ब मत करो।'

२३ तए ण भगव गोतमे समणेण भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अतियाओ गुणसिलाओ चेतियाओ पडिनिक्खमइ, २ अतुरितमचवलमसभ ते जुगतरपलोयणाए दिट्ठीए पुरतो रिय सोहेमाणे २ जेणेव रायगिहे नगरे तेणेव उवागच्छइ, २ रायगिहे नगरे उच्च-नीय-मज्झिमाइ कुलाइ घरसमुदाणस्स भिक्खायरिय अडति।

[२३] भगवान् की आज्ञा प्राप्त हो जाने के बाद भगवान् गौतमस्वामी श्रमण भगवान् महावीर के पास से तथा गुणशील चैत्य से निकले। फिर वे त्वरा (उतावली), चपलता (चचलता) और सभ्रम (आकुलता-हडबडी) से रहित होकर युगान्तर (गाडी के जुए=धूसर-) प्रमाण दूर (अन्तर) तक की भूमि का अवलोकन करते हुए, अपनी दृष्टि से आगे-आगे के गमन मार्ग का शोधन करते (अर्थात्—ईर्यासमिति-पूर्वक चलते) हुए जहाँ राजगृह नगर था, वहाँ आए। वहाँ (राजगृहनगर मे) ऊँच, नीच और मध्यम कुलो के गृह-समुदाय मे विधिपूर्वक भिक्षाचरी करने के लिए पर्यटन करने लगे।

विवेचन—राजगृह मे श्री गौतमस्वामी का भिक्षाचर्यार्थ पर्यटन—प्रस्तुत चार सूत्रो मे क्रमश भगवान् महावीर के राजगृह मे पदार्पण, श्रीगौतमस्वामी के छट्ठ-छट्ठ तपश्चरण, तप के पारणे के दिन विधिपूर्वक साधुचर्या से निवृत्त होकर भगवान् से भिक्षाटन के लिए अनुज्ञा प्राप्त करने और राजगृह मे ईर्या-शोधनपूर्वक भिक्षा प्राप्ति के लिए पर्यटन का सुन्दर वर्णन दिया गया है।

इस वर्णन पर से निर्ग्रन्थ साधुओ की अप्रमत्ततापूर्वक दैनिक चर्या की झाकी मिल जाती है।

कुछ विशिष्ट शब्दो की व्याख्या—घरसमुदाणस्स=घरो मे समुदान अर्थात् भिक्षा के लिए। **भिक्खाचरियाए**=भिक्षाचर्या की विधिपूर्वक। **जुगतरपलोयणाए दिट्ठीए**=चलते समय अपने शरीर

का भाग तथा दृष्टिगोचर होने वाला (मार्ग का) भाग, इन दोनो के बीच का युग-जूआ-धूसर जितना अन्तर (फासला=व्यवधान) युगान्तर कहलाता है। युगान्तर तक देखने वाली दृष्टि—युगान्तरप्रलोकना दृष्टि, उससे, ईर्या=गमन करना।[1]

स्थविरों की उत्तरप्रदानसमर्थता आदि के विषय मे गौतम की जिज्ञासा और भगवान् द्वारा समाधान—

२४ तए ण से भगव गोतमे रायगिहे नगरे जाव (सु २३) अडमाणे बहुजणसद्द निसामेति—"एव खलु देवाणुप्पिया! तु गियाए नगरीए बहिया पुप्फवतीए चेतिए पासावच्चिज्जा थेरा भगवतो समणोवासएहि इमाइ एतारूवाइ वागरणाइ पुच्छिया—सजमे ण भते! किफले, तवे ण भते! किफले?। तए ण ते थेरा भगवतो ते समणोवासए एव वदासी—सजमे ण अज्जो! अणण्हयफले, तवे वोदाणफले त चेव जाव (सु १७) पुव्वतवेण पुव्वसजमेण कम्मियाए सगियाए अज्जो! देवा देवलोएसु उववज्जति, सच्चे ण एसमट्ठे, णो चेव ण आयभाववत्तव्वयाए" से कहमेत मन्ने एव?।

[२४] उस समय राजगृह नगर मे (पूर्वोक्त विधिपूर्वक) भिक्षाटन करते हुए भगवान् गौतम ने बहुत-से लोगो के मुख से इस प्रकार के उद्गार (शब्द) सुने—हे देवानुप्रिय! तु गिका नगरी के बाहर (स्थित) पुष्पवतिक नामक उद्यान (चैत्य) मे भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यानुशिष्य (पार्श्वापत्यीय) स्थविर भगवन्त पधारे थे, उनसे वहाँ के (श्रमण भगवान् महावीर के) श्रमणोपासको ने इस प्रकार के प्रश्न पूछे थे कि 'भगवन्! सयम का क्या फल है, भगवन्! तप का क्या फल है?' तब (इनके उत्तर मे) उन स्थविर भगवन्तो ने उन श्रमणोपासको से इस प्रकार कहा था—"आर्यो! सयम का फल अनाश्रवत्व (सवर) है, और तप का फल व्यवदान (कर्मो का क्षय) है। यह सारा वर्णन पहले (सू १७) की तरह कहना चाहिए, यावत्—'हे आर्यो! पूर्वतप से, पूर्वसयम से, कर्मिता (कर्म शेष रहने से) और सगिता (रागभाव या आसक्ति) से देवता देवलोको मे उत्पन्न होते है। यह बात सत्य है, इसलिए हमने कही है, हमने अपने अहभाव (आत्मभाव) वश यह बात नही कही है।' तो मै (गौतम) यह (इस जनसमूह की) बात कैसे मान लूँ?'

२५ [१] तए ण से समणे भगव गोयमे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे जायसड्ढे जाव समुप्पन्नकोतुहल्ले अहापज्जत्त समुदाण गेण्हति, २ रायगिहातो नगरातो पडिनिक्खमति, २ अतुरिय जाव सोहेमाणे जेणेव गुणसिलाए चेतिए जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवा०, २ सम० भ० महावीरस्स अदूरसामते गमणागमणाए पडिक्कमति, एसणमणेसण आलोएति, २ भत्तपाणं पडिदसेति, २ समण भ० महावीर जाव एव वदासि—"एव खलु भते! अह तुब्भेहि अब्भणुण्णाते समाणे रायगिहे नगरे उच्च-नीय-मज्झिमाणि कुलाणि घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडमाणे बहुजणसद्द निसामेमि 'एव खलु देवाणुप्पिया! तु गियाए नगरीए बहिया पुप्फवईए चेइए पासावच्चिज्जा थेरा भगवतो समणोवासएहि इमाइ एतारूवाइ वागरणाइ पुच्छिता—सजमे ण भते! किफले? तवे किफले? त चेव जाव (सु १७) सच्चे ण एसमट्ठे, णो चेव ण आयभाववत्तव्वयाए'।

१ भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक १४०

[२५-१] इसके पश्चात् श्रमण भगवान् गौतम ने इस प्रकार की बात लोगो के मुख से सुनी तो उन्हे [उस बात की जिज्ञासा मे] श्रद्धा उत्पन्न हुई, और यावत् (उस बात के लिए) उनके मन मे कुतूहल भी जागा। अत भिक्षाविधिपूर्वक आवश्यकतानुसार भिक्षा लेकर वे राजगृहनगर (की सीमा) से बाहर निकले और अत्वरित गति से यावत् (ईर्यासमितिपूर्वक) ईर्या-शोधन करते हुए जहाँ गुणशीलक चैत्य था, और जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ उनके पास आए। फिर उनके निकट उपस्थित होकर गमनागमन सम्बन्धी प्रतिक्रमण किया, (भिक्षाचर्या मे लगे हुए) एषणादोषो की आलोचना की, फिर (लाया हुआ) आहार-पानी भगवान् को दिखाया। तत्पश्चात् श्रीगौतमस्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से यावत् इस प्रकार निवेदन किया—"भगवन्! मैं आपसे आज्ञा प्राप्त करके राजगृहनगर मे उच्च, नीच और मध्यम कुलो मे भिक्षा-चर्या की विधिपूर्वक भिक्षाटन कर रहा था, उस समय बहुत-से लोगो के मुखें से इस प्रकार के उद्गार सुने कि तु गिका नगरी के बाहर (स्थित) पुष्पवतिक नामक उद्यान मे पार्श्वापत्यीय स्थविर भगवन्त पधारे थे, उनसे वहाँ के श्रमणोपासको ने इस प्रकार के प्रश्न पूछे थे कि 'भगवन्! सयम का क्या फल है? और तप का क्या फल है?' यह सारा वर्णन पहले (सू १७) की तरह कहना चाहिए, यावत् यह बात सत्य है, इसलिए कही है, किन्तु हमने अह (आत्म) भाव के वश होकर नही कही।

[२] "त पभू ण भते! ते थेरा भगव तो तेसिं समणोवासयण इमाइ एतारूवाइं वागरणाइं वागरित्तए? उदाहु अप्पभू?, समिया ण भते! ते थेरा भगवतो तेसिं समणोवासगाण इमाइ एतारूवाइ वागरणाइ वागरित्तए? उदाहु असमिया?, आउज्जिया ण भते! ते थेरा भगवतो तेसिं समणोवासयाण इमाइ एयारूवाइ वागरणाइ वागरित्तए? उदाहु अणाउज्जिया?, पलिउज्जिया ण भते! ते थेरा भगवतो तेसिं समणोवासयाण इमाइ एयारूवाइं वागरणाइ वागरित्तए? उदाहु अपलिउज्जिया?, पुव्वतवेण अज्जो! देवा देवलोएसु उववज्जति, पुव्वसंजमेण०, कम्मियाए०, सगियाए०, पुव्वतवेण पुव्वसजमेण कम्मियाए सगियाए अज्जो! देवा देवलोएसु उववज्जति। सच्चे ण एस मट्ठे णो चेव ण आयभाववत्तव्वयाए?"।

[२५-२ प्र] (यो कहकर श्री गौतम स्वामी ने पूछा—) हे भगवन्! क्या वे स्थविर भगवन्त उन श्रमणोपासको के प्रश्नो के ये और इस प्रवार के उत्तर देने मे समर्थ है, अथवा असमर्थ हैं? भगवन्! क्या वे स्थविर भगवन् उन श्रमणोपासको को ऐसा उत्तर देने मे सम्यक्रूप से ज्ञानप्राप्त (समित या सम्पन्न) (अथवा अमित=शास्त्राभ्यासी या अभ्यस्त) है, अथवा असम्पन्न या अनभ्यस्त है? (और) हे भगवन्! क्या वे स्थविर भगवन्त उन श्रमणोपासको को ऐसा उत्तर देने मे उपयोग वाले हैं या उपयोग वाले नही हैं? भगवन्! क्या वे स्थविर भगवन्त उन श्रमणोपासको को ऐसा उत्तर देने मे परिज्ञानी (विशिष्ट ज्ञानवान्) है, अथवा विशेष ज्ञानी नही हैं कि आर्यो! पूर्वतप से देवता देवलोको मे उत्पन्न होते हैं, तथा पूर्वसयम से, कर्मिता से और सगिता (आसक्ति) के कारण देवता देवलोको मे उत्पन्न होते है। यह बात सत्य है, इसलिए हम कहते हैं, किन्तु अपने अहभाव वश नही कहते है?

[३] पभू ण गोतमा! ते थेरा भगवतो तेसिं समणोवासयाण इमाइ एयारूवाइ वागरणाइ

वागरेत्तए, णो चेव ण अप्पभू, तह चेव नेयव्व अविसेसिय जाव पभू समिया आउज्जिया पलिउज्जिया जाव सच्चे ण एस मट्ठे णो चेव ण आयभाववत्तव्वयाए।

[२५-३ उ](महावीर प्रभु ने उत्तर दिया—) हे गौतम ! वे स्थविर भगवन्त उन श्रमणोपासको को इस प्रकार के उत्तर देने मे समर्थ है, असमर्थ नही, (शेष-सब पूर्ववत् जानना) यावत् वे सम्यक् रूप से सम्पन्न (समित) हैं अथवा अभ्यस्त (श्रमित) है , असम्पन्न या अनभ्यस्त नही, वे उपयोग वाले है, अनुपयोग वाले नही, वे विशिष्ट ज्ञानी है, सामान्य ज्ञानी नही। यह वात सत्य है, इसलिए उन स्थविरो ने कही है, किन्तु अपने अहभाव के वश होकर नही कही।

[४] अह पि ण गोयमा ! एवमाइक्खामि भासेमि पण्णवेमि परूवेमि—पुव्वतवेण देवा देवलोएसु उववज्जति, पुव्वसजमेण देवा देवलोएसु उववज्जति, कम्मियाए देवा देवलोएसु उववज्जति, सगियाए देवा देवलोएसु उववज्जति, पुव्वतवेण पुव्वसजमेण कम्मियाए सगियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जति; सच्चे ण एस मट्ठे, णो चेव ण आयभाववत्तव्वयाए।

[२५-४ उ] हे गौतम ! मै भी इसी प्रकार कहता हूँ, भाषण करता हूँ, वताता हूँ और प्ररूपणा करता हूँ कि पूर्वतप के कारण से देवता देवलोको मे उत्पन्न होते है, पूर्वसयम के कारण देव देवलोको मे उत्पन्न होते हैं, कर्मिता (कर्मक्षय होने बाकी रहने) से देव देवलोको मे उत्पन्न होते है तथा सगिता (आसक्ति या रागभाव) के कारण देवता देवलोको मे उत्पन्न होते है। (निष्कर्ष यह है कि) आर्यो ! पूर्वतप से, पूर्वसयम से, कर्मिता और सगिता से देवता देवलोको मे उत्पन्न होते है। यही वात सत्य है, इसलिए उन्होने कही है, किन्तु अपनी अहता प्रदर्शित करने के लिए नही कही।

विवेचन—स्थविरो की उत्तरप्रदान-समर्थता आदि के विषय मे गौतम के प्रश्न और भगवान् द्वारा समाधान—प्रस्तुत दो सूत्रो (२४ और २५) मे श्री गौतमस्वामी ने राजगृह मे भिक्षाटन करते समय पार्श्वापत्यीय स्थविरो की ज्ञानशक्ति के सम्बन्ध मे जो सुना था, भगवान् महावीर से उन्होने विभिन्न पहलुओ से उनके सम्बन्ध मे जिज्ञासावश पूछकर जो यथार्थ समाधान प्राप्त किया था उसका सागोपाग निरूपण है।

'समिया' आदि पदो को व्याख्या—समिया=सम्यक्, अथवा समित सम्यक् प्रकार से इत अर्थात् ज्ञात, अथवा श्रमित=शास्त्रज्ञान मे श्रम किये हुए=अभ्यस्त। **आउज्जिय**=आयोगिक—उपयोगवान् अर्थात्—ज्ञानी। **पलिउज्जिय**=प्रायोगिक अथवा परियोगिक—परिज्ञानी=सर्वतोमुखी ज्ञानवान्।[1] **एसणमणेसण**=यतना(एषणा) पूर्वक की हुई भिक्षाचरी मे लगे हुए दोष का।

श्रमण-माहनपर्युपासना का अनन्तर और परम्पर फल—

२६ [१] तहारूव ण भते ! समण वा माहण वा पज्जुवासमाणस्स किफला पज्जुवासणा ? गोयमा ! सवणफला।

[२६-१ प्र] भगवन् ! तथारूप (जैसा वेश है, तदनुरूप गुणो वाले) श्रमण या माहन की पर्युपासना करने वाले मनुष्य को उसकी पर्युपासना का क्या फल मिलता है ?

---

१ भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक १४०

[२६-१ उ] गौतम ! तथारूप श्रमण या माहन के पर्युपासक को उसकी पर्युपासना का फल होता है—श्रवण (सत्-शास्त्र श्रवणरूप फल मिलता है)।

[२] से णं भंते ! सवणे किंफले ?

णाणफले।

[२६-२ प्र] भगवन् ! उस श्रवण का क्या फल होता है ?

[२६-२ उ] गौतम ! श्रवण का फल ज्ञान है। (अर्थात्—शास्त्र-श्रवण से ज्ञानलाभ होता है।)

[३] से णं भंते ! नाणे किंफले ?

विण्णाणफले।

[२६-३ प्र] भगवन् ! उस ज्ञान का क्या फल है?

[२६-३ उ] गौतम ! ज्ञान का फल विज्ञान है (अर्थात्—ज्ञान से हेय और उपादेय तत्त्व के विवेक की प्राप्ति होती है।)

[४] से णं भंते ! विण्णाणे किंफले ?

पच्चक्खाणफले।

[२६-४ प्र] भगवन् ! उस विज्ञान का क्या फल होता है ?

[२६-४ उ] गौतम ! विज्ञान का फल प्रत्याख्यान (हेय पदार्थों का त्याग) है।

[५] से णं भंते ! पच्चक्खाणे किंफले ?

संजमफले।

[२६-५ प्र] भगवन् ! प्रत्याख्यान का क्या फल होता है ?

[२६-५ उ] गौतम ! प्रत्याख्यान का फल संयम (सर्वसावद्यत्यागरूप संयम अथवा पृथ्वीकायादि १७ प्रकार का संयम) है।

[६] से णं भंते ! संजमे किंफले ?

अणण्हयफले।

[२६-६ प्र] भगवन् ! संयम का क्या फल होता है ?

[२६-६ उ] गौतम ! संयम का फल अनाश्रवत्व (संवर=नवीन कर्मों का निरोध) है।

[७] एवं अणण्हये तवफले। तवे वोदाणफले। वोदाणे अकिरियाफले।

[२६-७] इसी तरह अनाश्रवत्व का फल तप है, तप का फल व्यवदान (कर्मनाश) है और व्यवदान का फल अक्रिया है।

[८] से ण भते ! अकिरिया किंफला ?

सिद्धिपज्जवसाणफला पण्णत्ता गोयमा ! गाहा—

सवणे णाणे य विण्णाणे पच्चक्खाणे य सजमे ।
अणण्हये तवे चेव वोदाणे अकिरिया सिद्धी ॥१॥

[२६-८ प्र] भगवन् ! उस अक्रिया का क्या फल है ?

[२६-८ उ] गौतम ! अक्रिया का अन्तिम फल सिद्धि है। (अर्थात्—अक्रियता—अयोगी अवस्था प्राप्त होने पर अन्त मे सिद्धि-मुक्ति प्राप्त होती है ।)

गाथा का अर्थ इस प्रकार है—

१ (पर्यु पासना का प्रथम फल) श्रवण, २ (श्रवण का फल) ज्ञान, ३ (ज्ञान का फल) विज्ञान, ४. (विज्ञान का फल) प्रत्याख्यान, ५ (प्रत्याख्यान का फल) सयम, ६ (सयम का फल) अनाश्रवत्व, ७ (अनाश्रवत्व का फल) तप, ८ (तप का फल) व्यवदान, ९ (व्यवदान का फल) अक्रिया, और १० (अक्रिया का फल) सिद्धि है।

विवेचन—श्रमण-माहन-पर्यु पासना का अनन्तर और परम्पर फल—प्रस्तुत सूत्र मे विभिन्न विभागो द्वारा श्रमण और माहन की पर्यु पासना का साक्षात् फल श्रवण और तदनन्तर उत्तरोत्तर ज्ञानादि फलो के सम्बन्ध मे निरूपण किया गया है।

श्रमण—जो श्रम (आत्मगुणो के लिए स्वय श्रम या तप), सम (प्राणिमात्र को आत्मवत् मानने) और शम (विषय-कषायो के उपशमन) से युक्त हो, वह साधु।

माहन—जो स्वय किसी जीव का हनन न करता हो, और दूसरो को 'मत मारो' ऐसा उपदेश देता हो। उपलक्षण से मूलगुणो के पालक को 'माहन' कहा जाता है। अथवा 'माहन' व्रतधारी श्रावक को भी कहते है।

श्रमण-माहन-पर्यु पासना से अन्त मे सिद्धि—श्रमणो की सेवा करने से शास्त्र-श्रवण, उससे श्रुतज्ञान, तदनन्तर श्रुतज्ञान मे विज्ञान—(हेय-ज्ञेय-उपादेय का विवेक) प्राप्त होता है। जिसे ऐसा विशेष ज्ञान होता है, वही पापो का प्रत्याख्यान या हेय का त्याग कर सकता है। प्रत्याख्यान करने से मन, वचन, काय पर या पृथ्वीकायादि पर सयम रख सकता है। सयमी व्यक्ति नये कर्मो को रोक देता है। इस प्रकार का लघुकर्मी व्यक्ति तप करता है। तप से पुराने कर्मो की निर्जरा (व्यवदान) होती है। यो कर्मो की निर्जरा करने से व्यक्ति योगो का निरोध कर लेता है, योग निरोध होने से क्रिया बिलकुल बद हो जाती है, और अयोगी (अक्रिय) अवस्था से अन्त मे मुक्ति (सिद्धि) प्राप्त हो जाती है। यह है—श्रमणसेवा से उत्तरोत्तर १० फलो की प्राप्ति का लेखा-जोखा ![1]

राजगृह का गर्मजल का स्रोत : वैसा है या ऐसा ?

२७ अण्णउत्थिया णं भते ! एवमाइक्खति भासेंति पण्णवेंति परूवेंति—एव खलु

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति पत्राक १४१

रायगिहस्स नगरस्स बहिया वेभारस्स पव्वयस्स अहे एत्थ ण मह एगे हरए अप्पे (अघे)[1] पण्णत्ते, अणेगाइ जोयणाइ आयाम-विक्खभेण नाणादुमसडमडिउद्देसे सस्सिरीए जाव पडिरूवे। तत्थ ण बहवे ओराला बलाहया ससेयति सम्मुच्छति वासति तव्वतिरित्ते य ण सया समिय उसिणे २ आउकाए अभिनिस्सवइ। से कहमेत भते! एव ?

गोयमा! ज ण ते अण्णउत्थिया एयमाइक्खति जाव जे ते एव परूवेंति मिच्छं ते एवमाइक्खति जाव सव्व नेयव्व। अह पुण गोतमा! एवमाइक्खामि भा० प० प०—एव खलु रायगिहस्स नगरस्स बहिया वेभारस्स पव्वतस्स अदूरसामते एत्थ ण महातवोवतीरप्पभवे नाम पासवणे पण्णत्ते, पंच धणुसताणि आयाम-विक्खभेण नाणादुमसडमडिउद्देसे सस्सिरीए पासादीए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे। तत्थ ण बहवे उसिणजोणिया जीवा य पोग्गला य उदगत्ताए वक्कमति विउक्कमति चयति उववज्जति तव्वतिरित्ते वि य ण सया समित उसिणे २ आउयाए अभिनिस्सवति—एस ण गोतमा! महातवोवतीरप्पभवे पासवणे, एस ण गोतमा! महातवोवतीरप्पभवस्स पासवणस्स अट्ठे पण्णत्ते।

सेव भते! २ त्ति भगव गोयमे समण भगव महावीर वदति नमसति।

॥ बितीय सए पचमो उद्देसो समत्तो ॥

[२७ प्र] भगवन्! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते है, भाषण करते है, बतलाते है और प्ररूपणा करते हैं कि 'राजगृह नगर के बाहर वैभारगिरि के नीचे एक महान् (बडा भारी) पानी का ह्रद (कुण्ड) है।[2] उसकी लम्बाई—चौडाई (आयाम-विष्कम्भ) अनेक योजन है। उसका अगला भाग (उद्देश) अनेक प्रकार के वृक्षसमूह से सुशोभित है, वह सुन्दर (श्रीयुक्त) है, यावत् प्रतिरूप (दर्शको की आँखो को सन्तुष्ट करने वाला) है। उस ह्रद मे अनेक उदार मेघ सस्वेदित (उत्पन्न) होते (गिरते) है, सम्मूर्छित होते (बरसते) हैं। इसके अतिरिक्त (कुण्ड भर जाने के उपरान्त) उसमे से सदा परिमित (समित) गर्म-गर्म जल (अप्काय) झरता रहता है।' भगवन्! (अन्यतीर्थिको का) इस प्रकार का कथन कैसा है? क्या यह (कथन) सत्य है?

[२७ उ] हे गौतम! अन्यतीर्थिक जो इस प्रकार कहते है, भाषण करते है, बतलाते हैं, और प्ररूपणा करते है कि राजगृह नगर के बाहर यावत् गर्म-गर्म जल झरता रहता है, यह सब (पूर्वोक्त वर्णन) वे मिथ्या कहते है, किन्तु हे गौतम! मै इस प्रकार कहता हूँ, भाषण करता हूँ, बतलाता हूँ और प्ररूपणा करता हूँ, कि राजगृह नगर के बाहर वैभारगिरि के निकटवर्ती एक महातपोपतीर-प्रभव नामक झरना (प्रस्रवण) (बताया गया) है। वह लम्बाई-चौडाई मे पाच-सौ धनुष है। उसके आगे का भाग (उद्देश) अनेक प्रकार के वृक्ष-समूह से सुशोभित है, सुन्दर है,

---

१ 'अघे' के स्थान मे 'अप्पे' पाठ ही सगत लगता है, अर्थ होता है आप्य=पानी का।

२ वर्तमान मे भी यह गर्म पानी का कुण्ड राजगृह मे वैभारगिरि के निकट प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। वास्तव मे यह पर्वत मे से झर-झर कर झरने के रूप मे ही आकर इस कुण्ड मे गिरता है। कुण्ड स्वाभाविक नहीं है, यह तो सरकार द्वारा बना दिया गया है। बहुतसे यात्री या पर्यटक आकर धर्मबुद्धि से इसमे नहाते हैं, कई चर्मरोगो को मिटाने के लिए इसमे स्नान करने है। इटली के आरमिम्रा के निकट भी एक ऐसा झरना है, जिसमे सर्दियो मे गर्म पानी होता है और गर्मियो मे बर्फ जैसा ठडा पानी रहता है। (देखे—ससार के १५०० अद्भुत आश्चर्य भाग २ पृ १५९)—स

प्रसन्नताजनक है दर्शनीय है, रमणीय (अभिरूप) है और प्रतिरूप (दर्शकों के नेत्रों को सन्तुष्ट करने वाला) है। उस झरने मे बहुत-से उष्णयोनिक जीव और पुद्गल जल के रूप मे उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं, च्यवते (च्युत होते) है और उपचय (वृद्धि) को प्राप्त होते है। इसके अतिरिक्त उस झरने मे से सदा परिमित गर्म-गर्म जल (अप्काय) झरता रहता है। हे गौतम ! यह महातपोपतीर-प्रभव नामक झरना है, और हे गौतम ! यही महातपोपतीरप्रभव नामक झरने का अर्थ (रहस्य) है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कहकर भगवान् गौतम-स्वामी श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करते है।

विवेचन—राजगृह का गर्म जल का स्रोत : वैसा है या ऐसा ? प्रस्तुत सूत्र मे राजगृह मे वैभारगिरि के निकटस्थ उष्णजल के स्रोत के सम्बन्ध मे अन्यतीर्थिकों के मन्तव्य को मिथ्या बताकर भगवान् का यथार्थ मन्तव्य प्ररूपित किया गया है।

॥ द्वितीय शतक पचम उद्देशक सम्पूर्ण ॥

छठो उद्देसो : भा

छठा उद्देशक : भाषा

भाषा का स्वरूप और उससे सम्बन्धित वर्णन—

१. से णूण भंते ! 'मन्नामी' ति ओधारिणी भासा ?

एवं भासापदं भाणियव्वं ।

॥ बितीय सए छट्ठो उद्देसो समत्तो ॥

[१ प्र] भगवन् ! भाषा अवधारिणी है, क्या मैं ऐसा मान लूँ ?

[१ उ] गौतम ! उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर मे प्रज्ञापनासूत्र के ग्यारहवें भाषापद का समग्र वर्णन जान लेना चाहिए ।

विवेचन—भाषा का स्वरूप और उससे सम्बन्धित वर्णन—प्रस्तुत छठे उद्देशक मे एक ही सूत्र द्वारा प्रज्ञापनासूत्र के भाषापद मे वर्णित समग्र वर्णन का निर्देश कर दिया गया है ।

भाषासम्बन्धी विश्लेषण—प्रज्ञापनासूत्र के ११वें भाषापद मे अनेक द्वारो से भाषा का पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है । यथा—(१) **भेद**—भाषा के ४ भेद है—सत्या, असत्या, सत्या-मृषा (मिश्र) और असत्याऽमृषा (व्यवहारभाषा) (२) **भाषा का आदि (मूल) कारण**—जीव है । (३)**भाषा की उत्पत्ति**—(औदारिक, वैक्रिय तथा आहारक) शरीर से होती है । (४)**भाषा का संस्थान**—वज्र के आकार का है । (५) **भाषा के पुद्गल**—लोक के अन्त तक जाते हैं । (६) **भाषारूप मे ग्रहण किये जाने वाले पुद्गल**—अनन्तानन्तप्रदेशी स्कन्ध पुद्गल, असंख्यात आकाशप्रदेशो को अवगाहित पुद्गल, एक समय, दो समय यावत् दस समय संख्यात और असंख्यात समय की स्थिति वाले पुद्गल, पांच वर्ण, दो गंध, पाँच रस और ८ स्पर्शो मे से ४ स्पर्श (स्निग्ध, रूक्ष, ठंडा, गर्म) वाले पुद्गल, तथा नियमत छह दिशा के पुद्गल भाषा के रूप मे गृहीत होते हैं । (७) **सान्तर-निरन्तर**—भाषावर्गणा के पुद्गल निरन्तर गृहीत होते हैं, किन्तु सान्तर त्यागे (छोडे) जाते है । सान्तर का अर्थ यह नही कि बीच मे रुक-रुक कर त्यागे जाते हैं, अपितु सान्तर का वास्तविक अर्थ यह है कि प्रथम समय मे गृहीत भाषा-पुद्गल दूसरे समय मे, तथा दूसरे समय मे गृहीत तीसरे समय मे त्यागे जाते है, इत्यादि । प्रथम समय मे सिर्फ ग्रहण होता है, और अन्तिम समय मे सिर्फ त्याग होता है, बीच के समयो मे निरन्तर दोनो क्रियाएँ होती रहती है । यही सान्तर-निरन्तर का तात्पर्य है । (८) **भाषा की स्थिति**—जघन्य एक समय की उत्कृष्ट असंख्येय समय की । (९) **भाषा का अन्तर (व्यवधान)**—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का, उत्कृष्ट अनन्तकाल का है । (१०) **भाषा के पुद्गलो का ग्रहण और त्याग**—ग्रहण काययोग से और

त्याग वचनयोग से। ग्रहणकाल—जघन्य एक समय, उत्कृष्ट असंख्येय समय, त्यागकाल—जघन्य दो समय, उत्कृष्ट असंख्येय सामयिक अन्तर्मुहूर्त्त। (११) किस योग से, किस निमित्त से, कौन सी भाषा—ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से और मोहनीयकर्म के उदय से, वचनयोग से असत्या और सत्या-मृषा भाषा बोली जाती है, तथा ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय के क्षयोपशम से सत्य और असत्या मृषा-भाषा बोली जाती है, तथा ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय के क्षयोपशम से सत्या और असत्याऽमृषा (व्यवहार) भाषा वचनयोग से बोली जाती है। (१२) भाषक-अभाषक—अपर्याप्त-जीव, एकेन्द्रिय, सिद्ध भगवान् और शैलेशी प्रतिपन्न जीव अभाषक होते हैं। शेष सब जीव भाषक होते हैं। (१३) अल्पबहुत्व—सबसे थोडे सत्य भाषा बोलने वाले, उनसे असंख्यातगुने मिश्र भाषा बोलने वाले, उनसे असंख्यातगुना असत्य भाषा बोलने वाले, उनसे असंख्यातगुने व्यवहार भाषा बोलने वाले हैं तथा उनसे अनन्त गुने अभाषक जीव हैं।[1]

॥ द्वितीय शतक : छठा उद्देशक समाप्त ॥

---

१ (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति पत्रांक १४२ (ख) पण्णवणासुत्त मूलपाठ पृष्ठ २१४-२१५

सत्तमो उद्देसो : देव

सप्तम उद्देशक : देव

देवों के प्रकार, स्थान, उपपात, संस्थान आदि का वर्णन—

१ कइ ण भते ! देवा पण्णत्ता ?

गोयमा ! चउव्विहा देवा पण्णत्ता, त जहा—भवणवति-वाणमतर-जोतिस-वेमाणिया ।

[१ प्र] भगवन् ! देव कितने प्रकार के कहे गए है ?

[१ उ] गौतम ! देव चार प्रकार के कहे गए है । वे इस प्रकार हैं—भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ।

२ कहि ण भते ! भवणवासीण देवाण ठाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए जहा ठाणपदे देवाणं वत्तव्वया सा भाणियव्वा । उववावेण लोयस्स असखेज्जइभागे । एव सव्व भाणियव्व जाव (पण्णवणासुत्त सु १७७ त : २११) सिद्धगडिया समत्ता ।

"कप्पाण पतिट्ठाण बाहल्लुच्चत्तमेव सठाण ।"

जीवाभिगमे जो वेमाणियुद्देसो सो भाणियव्वो सव्वो ।

।। बितीय सए सत्तमो उद्देसो समत्तो ।।

[२ प्र] भगवन् ! भवनवासी देवो के स्थान कहाँ पर कहे गए हैं ?

[२ उ] गौतम ! भवनवासी देवो के स्थान इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे है, इत्यादि देवो की सारी वक्तव्यता प्रज्ञापनासूत्र के दूसरे स्थान-पद मे कहे अनुसार कहनी चाहिए । किन्तु विशेषता इतनी है कि यहाँ भवनवासियो के भवन कहने चाहिए । उनका उपपात लोक के असख्यातवें भाग मे होता है । यह समग्र वर्णन सिद्ध सिद्धगण्डिकापर्यन्त पूरा कहना चाहिए ।

कल्पो का प्रतिष्ठान (आधार) उनकी मोटाई, ऊँचाई और सस्थान आदि का सारा वर्णन जीवाभिगमसूत्र के वैमानिक उद्देशक पर्यन्त कहना चाहिए ।

विवेचन—देवो के प्रकार, स्थान, उपपात, सस्थान आदि का वर्णन—प्रस्तुत सप्तम उद्देशक के दो सूत्रो के द्वारा देवो के प्रकार, स्थान आदि के तथा आधार, सस्थान आदि के वर्णन को प्रज्ञापना सूत्र एव जीवाभिगम सूत्र द्वारा जान लेने का निर्देश किया गया है ।

देवो के स्थान आदि—प्रज्ञापना सूत्र के दूसरे स्थानपद मे भवनवासियो का स्थान इस प्रकार बताया है—रत्नप्रभा पृथ्वी की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन है । उसमे से एक हजार योजन ऊपर और एक हजार योजन नीचे छोडकर बीच मे १ लाख ७८ हजार योजन मे भवनपति देवो के भवन है । **उपपात**—भवनपतियो का उपपात लोक के असख्यातवे भाग मे होता है । मारणान्तिक समुद्घात की अपेक्षा और स्थान की अपेक्षा वे लोक के असख्येय भाग मे ही रहते है, क्योकि उनके ७ करोड ७२ लाख भवन लोक के असख्येय भाग मे ही हैं । इसी तरह असुरकुमार आदि के विषय मे तथा वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक, सभी देवो के स्थानो का कथन करना चाहिए, यावत् सिद्ध भगवान् के स्थानो का वर्णन करने वाले 'सिद्धगण्डिका' नामक प्रकरण तक कहना चाहिए ।[1]

वैमानिक-प्रतिष्ठान आदि का वर्णन—जीवाभिगम सूत्र के वैमानिक उद्देशक मे कथित वर्णन सक्षेप मे इस प्रकार है—(१) **प्रतिष्ठान**—सौधर्म और ईशान कल्प मे विमान की पृथ्वी घनोदधि के आधार पर टिकी हुई है । इससे आगे के तीन घनोदधि और वात पर प्रतिष्ठित है । उससे आगे के सभी ऊपर के विमान आकाश के आधार पर प्रतिष्ठित हैं । (२) **बाहल्य (मोटाई) और उच्चत्व**—सौधर्म और ईशान कल्प मे विमानो की मोटाई २७०० योजन और ऊँचाई ५०० योजन है । सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प मे मोटाई २६०० योजन और ऊँचाई ६०० योजन है । ब्रह्मलोक और लान्तक मे मोटाई २५०० योजन, ऊँचाई ७०० योजन है । महाशुक्र और सहस्रारकल्प मे मोटाई २४०० योजन, ऊँचाई ८०० योजन है । आनत, प्राणत, आरण और अच्युत देवलोको मे मोटाई २३०० योजन, ऊँचाई ९०० योजन है । नवग्रैवेयक के विमानो की मोटाई २२०० योजन और ऊँचाई १००० योजन है । पच अनुत्तर विमानो की मोटाई २१०० योजन और ऊँचाइ ११०० योजन है । (३) **सस्थान**—दो प्रकार के (१) आवलिकाप्रविष्ट और (२) आवलिका बाह्य । वैमानिक देव आवलिका-प्रविष्ट (पक्तिबद्ध) तीन सस्थानो वाले हैं—वृत्त (गोल), त्र्यस (त्रिकोण) और चतुरस्र (चतुष्कोण), आवलिकाबाह्य नाना प्रकार के सस्थानो वाले है । इसी तरह विमानो के प्रमाण, रग, कान्ति, गन्ध आदि का सब वर्णन जीवाभिगम सूत्र से जान लेना चाहिए ।[2]

॥ द्वितीय शतक : सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

---

१ (क) भगवती सूत्र अ वृत्ति पत्राक १४२-१४३

(ख) प्रज्ञापनासूत्र स्थानपद-द्वितीय पद, पृ ९४ से १३० तक

२ जीवाभिगमसूत्र प्रतिपत्ति ४, विमान-उद्देशक २, सू २०९-१२

अट्ठमो उद्देसो : सभा

अष्टम उद्देशक : सभा

असुरकुमार राजा चमरेन्द्र की सुधर्मासभा आदि का वर्णन—

१ कहि ण भते ! चमरस्स असुररण्णो सभा सुहम्मा पण्णत्ता ?

गोयमा ! जबुद्दीवे दीवे मदरस्स पव्वयस्स दाहिणेण तिरियमसखेज्जे दीव-समुद्दे वीईवइत्ता अरुणवरस्स दीवस्स बाहिरिल्लातो वेइयतातो अरुणोदय समुद्द बायालीस जोयणसहस्साइ श्रोगाहित्ता एत्थ ण चमरस्स असुररण्णो तिगिछिकूडे नाम उप्पायपव्वते पण्णत्ते, सत्तरसएक्कवीसे जोयणसते उड्ढ उच्चत्तेण, चत्तारितीसे जोयणसते कोस च उव्वेहेण; गोत्थुभस्स आवासपव्वयस्स पमाणेण नेयव्वं, नवर उवरिल्ल पमाण मज्झे भाणियव्व [मूले दसबावीसे जोयणसते विक्खमेण, मज्झे चत्तारि चउवीसे जोयणसते विक्खमेण, उवरिं सत्ततेवीसे जोयणसते विक्खमेण; मूले तिण्णि जोयणसहस्साइं दोण्णि य बत्तीसुत्तरे जोयणसए किंचिविसेसूणे परिक्खेवेण, मज्झे एग जोयणसहस्स तिण्णि य इगुयाले जोयणसए किंचिविसेसूणे परिक्खेवेण, उवरिं दोण्णि य जोयणसहस्साइ दोण्णि य छलसीए जोयणसए किंचिविसे-साहिए परिक्खेवेण][1], जाव मूले वित्थडे, मज्झे सखित्ते, उप्पिं विसाले। मज्झे वरवइरविग्गहिए महामउदसठाणसठिए सव्वरयणामए अच्छे जाव पडिरूवे।

से ण एगाए पउमवरवेइयाए एगेण वणसडेण य सव्वतो समता सपरिक्खित्ते। पउमवरवेइयाए वणसडस्स य वण्णओ।

तस्स ण तिगिछिकूडस्स उप्पायपव्वयस्स उप्पि बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते। वण्णओ। तस्स ण बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभागे। एत्थ ण महं एगे पासातवडिसए पण्णत्ते अड्ढाइज्जाइ जोयणसयाइ उड्ढ उच्चत्तेण, पणवीस जोयणसय विक्खमेण। पासायवण्णओ। उल्लोय-भूमिवण्णओ। अट्ठ जोयणाइ मणिपेढिया। चमरस्स सीहासण सपरिवार भाणियव्व।

तस्स ण तिगिछिकूडस्स दाहिणेण छक्कोडिसए पणपन्न च कोडीओ पणतीस च सतसहस्साइ पण्णास च सहस्साइ अरुणोदए समुद्दे तिरिय वीइवइत्ता, अहे य रयणप्पभाए पुढवीए चत्तालीस जोयण-सहस्साइ ओगाहित्ता एत्थ ण चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो चमरचचा नाम रायहाणी पण्णत्ता, एग जोयणसतसहस्स आयाम-विक्खमेण जबुद्दीवपमाणा। [1][पागारो दिवड्ढ जोयणसयं उड्ढ उच्चत्तेण, मूले पन्नास जोयणाइ विक्खमेण, उवरिं अद्धतेरसजोयणा कविसीसगा अद्धजोयणआयाम कोस विक्खमेण देसूण अद्धजोयण उड्ढ उच्चत्तेण एगमेगाए बाहाए पच पच दारसया, अड्ढाइज्जाइ जोयणसयाइ—

१ यह पाठ हमारी मूल प्रति मे नही है, अन्य प्रतियो मे है, अत इसे कोष्टक मे दिया गया है। —सम्पादक

२५० उड्ढं उच्चत्तेण, अद्ध—१२५ विक्खंभेण ।] ओवारियलेण सोलस जोयणसहस्साइ आयाम-विक्खभेण, पन्नास जोयणसहस्साइ पच य सत्ताणउए जोयणसए किंचिविसेसूणे परिक्खेवेण, सव्वप्पमाण वेमाणियप्पमाणस्स अद्धं नेयव्व । सभा सुहम्मा उत्तरपुरत्थिमेण, जिणघर, ततो उववायसभा हरओ अभिसेय० अलकारो जहा विजयस्स ।

उववाओ सकप्पो अभिसेय विभूसणा य ववसाओ ।
अच्चणिय सुहगमो वि य चमर परिवार इड्ढत्त ॥१॥

॥ बितीय सए अट्ठमो उद्देसो समत्तो ॥

[१ प्र] भगवन् ! असुरकुमारो के इन्द्र, और उनके राजा चमर की सुधर्मा-सभा कहाँ पर है ?

[१ उ] गौतम ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मध्य मे स्थित मन्दर (मेरु) पर्वत से दक्षिण दिशा मे तिरछे असख्य द्वीपो और समुद्रो को लाघने के बाद अरुणवर द्वीप आता है । उस द्वीप की वेदिका के बाहिरी किनारे से आगे बढने पर अरुणोदय नामक समुद्र आता है । इस अरुणोदय समुद्र मे बयालीस लाख योजन जाने के बाद उस स्थान मे असुरकुमारो के इन्द्र, असुरकुमारो के राजा चमर का तिगिच्छकूट नामक उत्पात पर्वत है । उसकी ऊँचाई १७२१ योजन है । उसका उद्वेध (जमीन मे गहराई) ४३० योजन और एक कोस है । इस पर्वत का नाप गोस्तुभ नामक आवासपर्वत के नाप की तरह जानना चाहिए । विशेष बात यह है कि गोस्तुभ पर्वत के ऊपर के भाग का जो नाप है, वह नाप यहाँ बीच के भाग का समझना चाहिए । (अर्थात्-तिगिच्छकूट पर्वत का विष्कम्भ मूल मे १०२२ योजन है, मध्य मे ४२४ योजन है और ऊपर का विष्कम्भ ७२३ योजन है । उसका परिक्षेप मूल मे ३२३२ योजन से कुछ विशेषोन है, मध्य मे १३४१ योजन तथा कुछ विशेषोन है और ऊपर का परिक्षेप २२८६ योजन तथा कुछ विशेषाधिक है ।) वह मूल मे विस्तृत है, मध्य मे सकीर्ण (सकडा) है और ऊपर फिर विस्तृत है । उसके बीच का भाग उत्तम वज्र जैसा है, बडे मुकुन्द के सस्थान का-सा आकार है । पर्वत पूरा रत्नमय है, सुन्दर है, यावत् प्रतिरूप है ।

वह पर्वत एक पद्मवरवेदिका से और एक वनखण्ड से चारो ओर से घिरा हुआ है । (यहाँ वेदिका और वनखण्ड का वर्णन करना चाहिए) ।

उस तिगिच्छकूट नामक उत्पातपर्वत का ऊपरी भू-भाग बहुत ही सम एव रमणीय है । (उसका भी वर्णन यहाँ जान लेना चाहिए ।) उस अत्यन्त सम एव रमणीय ऊपरी भूमिभाग के ठीक बीचोबीच एक महान् प्रासादावतसक (श्रेष्ठ महल) है । उसकी ऊँचाई २५० योजन है और उसका विष्कम्भ १२५ योजन है । (यहाँ उस प्रासाद का वर्णन करना चाहिए, तथा प्रासाद के सबसे ऊपर की भूमि (अट्टालिका) का वर्णन करना चाहिए ।) आठ योजन की मणिपीठिका है । (यहाँ चमरेन्द्र के सिंहासन का सपरिवार वर्णन करना चाहिए ।)

उस तिगिच्छकूट के दक्षिण की ओर अरुणोदय समुद्र मे छह सौ पचपन करोड, पैंतीस लाख, पचास हजार योजन तिरछा जाने के बाद नीचे रत्नप्रभापृथ्वी का ४० हजार योजन भाग अवगाहन

करने के पश्चात् यहाँ असुरकुमारो के इन्द्र—राजा चमर की चमरचचा नाम की राजधानी है। उस राजधानी का आयाम और विष्कम्भ (लम्बाई-चौडाई) एक लाख योजन है। वह राजधानी जम्बूद्वीप जितनी है। (उसका प्राकार (कोट) १५० योजन ऊँचा है। उसके मूल का विष्कम्भ ५० योजन है। उसके ऊपरी भाग का विष्कम्भ साढे तेरह योजन है। उसके कपिशीर्षको (कगूरो) की लम्बाई आधा योजन और विष्कम्भ एक कोस है। कपिशीर्षको की ऊँचाई आधे योजन से कुछ कम है। उसकी एक-एक भुजा मे पाच-पाच सौ दरवाजे है। उसकी ऊँचाई २५० योजन है। ऊपरी तल (उवारियल ? घर के पीठवन्ध जैसा भाग) का आयाम और विष्कम्भ (लम्बाई-चौडाई) सोलह हजार योजन है। उसका परिक्षेप (घेरा) ५०५६७ योजन से कुछ विशेषोन है। यहां समग्र प्रमाण वैमानिक के प्रमाण से आधा समझना चाहिए। उत्तर पूर्व मे सुधर्मासभा, जिनगृह, उसके पश्चात् उपपातसभा, ह्रद, अभिषेक सभा और अलकारसभा, यह सारा वर्णन विजय की तरह कहना चाहिए। (यह सब भी सौधर्म-वैमानिको से आधे-आधे प्रमाण वाले हैं।)

(गाथार्थ—) उपपात, (तत्काल उत्पन्न देव का) सकल्प, अभिषेक, विभूषणा, व्यवसाय, अर्चनिका और सिद्धायतन-सम्बन्धी गम, तथा चमरेन्द्र का परिवार और उसकी ऋद्धिसम्पन्नता, (आदि का वर्णन यहाँ समझ लेना चाहिए।)

विवेचन—असुरकुमार-राज चमरेन्द्र की सुधर्मासभा आदि का वर्णन—प्रस्तुत अष्टम उद्देशक मे एक सूत्र द्वारा अनेक पर्वत, द्वीप, समुद्रो के अवगाहन के पश्चात् आने वाली चमरेन्द्र की राजधानी चमरचचा का विस्तृत वर्णन किया गया है।

उत्पातपर्वत आदि शब्दो के विशेषार्थ—तिरछालोक मे जाने के लिए इस पर्वत पर आकर चमर उत्पतन करता—उडता है, इससे इसका नाम **उत्पात पर्वत** पडा है। **मुकुन्द**=मुकुन्द एक प्रकार का वाद्य विशेष है। **अभिसेय सभा**=अभिषेक करने का स्थान।

पद्मवरवेदिका का वर्णन—श्रेष्ठ पद्मवेदिका की ऊँचाई आधा योजन, विष्कम्भ पाच सौ धनुष्य है, वह सर्वरत्नमयी है। उसका परिक्षेप तिगिच्छकूट के ऊपर के भाग के परिक्षेप जितना है।

वनखण्ड वर्णन—वनखण्ड का चक्रवाल विष्कम्भ देशोन दो योजन है। उसका परिक्षेप पद्मवरवेदिका के परिक्षेप जितना है। वह काला है, काली कान्ति वाला है, इत्यादि।

उत्पातपर्वत का ऊपरितल—अत्यन्त सम एव रमणीय है। वह भूमिभाग मुरज-मुख, मृदग-पुष्कर या सरोवरतल के समान है, अथवा आदर्श-मण्डल, करतल या चन्द्रमण्डल के समान है।

प्रासादावतसक—वह प्रासादो मे शेखर अर्थात् सर्वोपरि सर्वश्रेष्ठ प्रासाद बादलो की तरह ऊँचा, और अपनी चमक-दमक के कारण हसता हुआ-सा प्रतीत होता है। वह प्रासाद कान्ति से श्वेत और प्रभासित है। मणि, स्वर्ण और रत्नो की कारीगरी से विचित्र है। उसका ऊपरी भाग भी सुन्दर है। उस पर हाथी, घोडे, बैल आदि के चित्र है।

चमरेन्द्र का सिंहासन—यह प्रासाद के बीच मे है। इस सिंहासन के पश्चिमोत्तर मे, उत्तर मे तथा उत्तरपूर्व मे चमरेन्द्र के ६४ हजार सामानिक देवो के ६४ हजार भद्रासन है। पूर्व मे पाँच पटरानियो के ५ भद्रासन सपरिवार है। दक्षिण-पूर्व मे आभ्यन्तर परिषद् के २४ हजार देवो के २४ हजार, दक्षिण मे मध्यमपरिषद् के २८ हजार देवो के २८ हजार और दक्षिण-पश्चिम मे बाह्यपरिषद्

के ३२ हजार देवो के ३२ हजार भद्रासन हे। पश्चिम मे ७ सेनाधिपतियो के सात और चारो दिशाओ मे आत्मरक्षक देवो के ६४-६४ हजार भद्रासन है।

विजयदेवसभावत् चमरेन्द्रसभावर्णन—(१) **उपपात-सभा** मे तत्काल उत्पन्न हुए इन्द्र को यह सकल्प उत्पन्न होता है कि मुझे पहले क्या और पीछे क्या कार्य करना है ? मेरा जीताचार क्या है ?, (२) **अभिषेक**—फिर सामानिक देवो द्वारा बडी ऋद्धि से अभिषेकसभा मे अभिषेक होता है। (३) **अलकार-सभा** मे उसे वस्त्राभूषणो से अलकृत किया जाता है। (४) **व्यवसाय-सभा** मे पुस्तक का वाचन किया जाता है, (५) **सिद्धायतन** मे सिद्ध भगवान् के गुणो का स्मरण तथा भाववन्दन-पूजन किया जाता है। फिर सामानिक देव आदि परिवार सहित सुधर्मासभा (चमरेन्द्र की) मे आते है।[1]

॥ द्वितीय शतक : अष्टम उद्देशक समाप्त ॥

---

१ (क) भगवती अ वृत्ति पत्राक १४५-१४६
(ख) जीवाभिगम ५२१-६३२ क आ

नवमो उद्देसो : दीव (समयखेत्तं)

नवम उद्देशक : द्वीप (समयक्षेत्र)

समयक्षेत्र-सम्बन्धी प्ररूपणा—

१ किमिदं भंते ! 'समयखेत्ते' त्ति पवुच्चति ?

गोयमा ! अड्ढाइज्जा दीवा दो य समुद्दा—एस णं एवतिए 'समयखेत्ते' त्ति पवुच्चति । 'तत्थ णं अयं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीव-समुद्दाणं सव्वब्भतरए' (जीवाजीवाभि० सू १२४ पत्र १७७) एवं जीवाभिगमवत्तव्वया नेयव्वा जाव अब्भितरं पुक्खरद्धं जोइसविहूणं ।

॥ बितीय सए नवमो उद्देसो समत्तो ॥

[१ प्र] भगवन् ! यह समयक्षेत्र किसे कहा जाता है ?

[१ उ] गौतम ! अढाई द्वीप और दो समुद्र इतना यह (प्रदेश) 'समयक्षेत्र' कहलाता है। इनमे जम्बूद्वीप नामक द्वीप समस्त द्वीपो और समुद्रो के बीचोबीच है। इस प्रकार जीवाभिगम सूत्र मे कहा हुआ सारा वर्णन यहाँ यावत् आभ्यन्तर पुष्करार्द्ध तक कहना चाहिए, किन्तु ज्योतिष्को का वर्णन छोड देना चाहिए।

विवेचन—समयक्षेत्र सम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत नौवे उद्देशक मे एक सूत्र द्वारा समयक्षेत्र के स्वरूप, परिमाण आदि का वर्णन जीवाभिगम सूत्र के निर्देशपूर्वक किया गया है।

समयक्षेत्र . स्वरूप और विश्लेषण—समय अर्थात् काल से उपलक्षित क्षेत्र 'समयक्षेत्र' कहलाता है। सूर्य की गति से पहचाना जाने वाला दिवस-मासादिरूप काल समयक्षेत्र-मनुष्यक्षेत्र मे ही है, इससे आगे नही है, क्योकि इससे आगे के सूर्य चर (गतिमान) नही हैं, अचर है।

समयक्षेत्र का स्वरूप—जीवाभिगम सूत्र मे मनुष्यक्षेत्र (मनुष्यलोक) के स्वरूप को बताने वाली एक गाथा दी गई है—

"अरिहंत-समय-बायर-विज्जू-थणिया वलाहगा अगणी ।
आगर-णिहि-णई-उवराग-णिग्गमे वुड्ढिवयण च ॥"

अर्थात्—मानुषोत्तर पर्वत तक मनुष्यक्षेत्र कहलाता है। जहाँ तक अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव,

वासुदेव, प्रतिवासुदेव, साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका और मनुष्य है, वहाँ तक मनुष्यलोक कहलाता है। जहाँ तक समय, आवलिका आदि काल है, स्थूल विद्युत् है, मेघगर्जन है, मेघो की पंक्ति बरसती है, स्थूल अग्नि है, आकर, निधि, नदी, उपराग (चन्द्र-सूर्यग्रहण) है, चन्द्र, सूर्य, तारो का अतिगमन (उत्तरायण) और निर्गमन (दक्षिणायन) है, तथा रात्रि-दिन का बढना-घटना इत्यादि है, वहाँ तक समयक्षेत्र-मनुष्यक्षेत्र है।[1]

॥ द्वितीय शतक नवम उद्देशक समाप्त ॥

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति पत्राक १४७ (ख) जीवाभिगम सूत्र, क आ ७९२-८०३

दसमो उद्देसो : अत्थिकाय

दशम उद्देशक : अस्तिकाय

अस्तिकाय : स्वरूप प्रकार एवं विश्लेषण—

१ कति ण भंते ! अत्थिकाया पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंच अत्थिकाया पण्णत्ता, तं जहा—धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए जीवत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए ।

[१ प्र] भगवन् ! अस्तिकाय कितने कहे गए है ?

[१ उ] गौतम ! अस्तिकाय पाच कहे गए हैं । वे इस प्रकार है—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय ।

२ धम्मत्थिकाए ण भंते ! कतिवण्णे कतिगंधे कतिरसे कतिफासे ?

गोयमा ! अवण्णे अगंधे अरसे अफासे अरूवी अजीवे सासते अवट्ठिते लोगदव्वे । से समासतो पंचविहे पण्णत्ते, त जहा—दव्वतो खेत्ततो कालतो भावतो गुणतो । दव्वतो ण धम्मत्थिकाए एगे दव्वे । खेत्ततो ण लोगप्पमाणमेत्ते । कालतो न कदायि न आसि, न कयाइ नत्थि, जाव निच्चे । भावतो अवण्णे अगंधे अरसे अफासे । गुणतो गमणगुणे ।

[२ प्र] भगवन् ! धर्मास्तिकाय मे कितने वर्ण, कितने गन्ध, कितने रस और कितने स्पर्श है ?

[२ उ] गौतम ! धर्मास्तिकाय वर्णरहित, गन्धरहित, रसरहित, और स्पर्शरहित है, अर्थात्—धर्मास्तिकाय अरूपी है, अजीव है, शाश्वत है, अवस्थित लोक (प्रमाण) द्रव्य है ।

सक्षेप मे, धर्मास्तिकाय पाच प्रकार का कहा गया है—द्रव्य से (धर्मास्तिकाय), क्षेत्र से (धर्मास्तिकाय), काल से (धर्मास्तिकाय), भाव से (धर्मास्तिकाय) और गुण से (धर्मास्तिकाय)। धर्मास्तिकाय द्रव्य से एक द्रव्य है, क्षेत्र से धर्मास्तिकाय लोकप्रमाण है, काल की अपेक्षा धर्मास्तिकाय कभी नही था, ऐसा नही, कभी नहीं है, ऐसा नही, और कभी नही रहेगा, ऐसा भी नही, किन्तु वह था, है और रहेगा, यावत् वह नित्य है । भाव की अपेक्षा धर्मास्तिकाय वर्णरहित, गन्धरहित, रसरहित और स्पर्शरहित है । गुण की अपेक्षा धर्मास्तिकाय गतिगुण वाला (गतिपरिणत जीवो और पुद्गलो के गमन मे सहायक-निमित्त) है ।

३ अधम्मत्थिकाए वि एव चेव । नवर गुणतो ठाणगुणे ।

[३] जिस तरह धर्मास्तिकाय का कथन किया गया है, उसी तरह अधर्मास्तिकाय के विषय

मे भी कहना चाहिए , किन्तु इतना अन्तर है कि अधर्मास्तिकाय गुण की अपेक्षा स्थिति गुण वाला (जीवो-पुद्गलो की स्थिति मे सहायक) है।

४ आगासत्थिकाए वि एव चेव। नवर खेत्तओ ण आगासत्थिकाए लोयालोयप्पमाणमेत्ते अणते चेव जाव (सु २) गुणओ अवगाहणागुणे।

[४] आकाशास्तिकाय के विषय मे भी इसी प्रकार कहना चाहिए, किन्तु इतना अन्तर है कि क्षेत्र की अपेक्षा आकाशास्तिकाय लोकालोक-प्रमाण (अनन्त) है और गुण की अपेक्षा अव-गाहना गुण वाला है।

५ जीवत्थिकाए ण भ ते ! कतिवण्णे कतिगधे कतिरसे कइफासे ?

गोयमा ! अवण्णे जाव (सु २) अरूवी जीवे सासते अवट्ठिते लोगदव्वे। से समासओ पचविहे पण्णत्ते, त जहा—दव्वतो जाव गुणतो। दव्वतो ण जीवत्थिकाए अणताइ जीवदव्वाइ। खत्तओ लोगप्पमाणमेत्ते। कालतो न कयाइ न आसि जाव (सु २) निच्चे। भावतो पुण अवण्णे अगधे अरसे अफासे। गुणतो उवयोगगुणे।

[५ प्र] भगवन् ! जीवास्तिकाय मे कितने वर्ण, कितने गन्ध, कितने रस और कितने स्पर्श है ?

[५ उ] गौतम ! जीवास्तिकाय वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शरहित है वह अरूपी है, जीव (आत्मा) है, शाश्वत है, अवस्थित (और प्रदेशो की अपेक्षा) लोकद्रव्य (—लोकाकाश के बराबर) है। सक्षेप मे, जीवास्तिकाय के पाच प्रकार कहे गए है। वह इस प्रकार—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की अपेक्षा जीवास्तिकाय। द्रव्य की अपेक्षा—जीवास्तिकाय अनन्त जीवद्रव्यरूप है। क्षेत्र की अपेक्षा—लोक-प्रमाण है। काल की अपेक्षा—वह कभी नही था, ऐसा नही, यावत् वह नित्य है। भाव की अपेक्षा—जीवास्तिकाय मे वर्ण नही, गन्ध नही, रस नही और स्पर्श नही है। गुण की अपेक्षा—जीवास्तिकाय उपयोगगुण वाला है।

६ पोग्गलत्थिकाए ण भ ते ! कतिवण्णे कतिगधे० रसे० फासे ?

गोयमा ! पचवण्णे पचरसे दुगधे अट्ठफासे रूवी अजीवे सासते अवट्ठिते लोगदव्वे। से समासओ पचविहे पण्णत्ते, त जहा—दव्वतो खेत्तओ कालतो भावतो गुणतो। दव्वतो ण पोग्गलत्थि-काए अणताइ दव्वाइ। खेत्ततो लोगप्पमाणमेत्ते। कालतो न कयाइ न आसि जाव (सु २) निच्चे। भावतो वण्णमते गध० रस० फासमते। गुणतो गहणगुणे।

[६ प्र] भगवन् ! पुद्गलास्तिकाय मे कितने वर्ण, कितने गन्ध, कितने रस और कितने स्पर्श है ?

[६ उ] गौतम ! पुद्गलास्तिकाय मे पाच वर्ण, पाच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श हैं। वह रूपी है, अजीव है, शाश्वत और अवस्थित लोकद्रव्य है। सक्षेप मे उसके पाच प्रकार कहे गए हैं;

यथा—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से और गुण से। द्रव्य की अपेक्षा—पुद्गलास्तिकाय अनन्त-द्रव्यरूप है, क्षेत्र की अपेक्षा—पुद्गलास्तिकाय लोक-प्रमाण है, काल की अपेक्षा—वह कभी नही था ऐसा नही, यावत् नित्य है। भाव की अपेक्षा—वह वर्ण वाला, गन्ध वाला, रस वाला और स्पर्श वाला है। गुण की अपेक्षा—वह ग्रहण गुण वाला है।

विवेचन—अस्तिकाय स्वरूप, प्रकार एव विश्लेषण—प्रस्तुत ६ सूत्रो मे अस्तिकाय के पाच भेद एव उनमे से धर्मास्तिकाय आदि प्रत्येक के स्वरूप एव प्रकार का निरूपण किया गया है।

'अस्तिकाय' का निर्वचन—'अस्ति' का अर्थ है—प्रदेश और 'काय' का अर्थ है—समूह। अत अस्तिकाय का अर्थ हुआ—'प्रदेशो का समूह' अथवा 'अस्ति' शब्द त्रिकालसूचक निपात (अव्यय) है। इस दृष्टि से अस्तिकाय का अर्थ हुआ—जो प्रदेशो का समूह भूतकाल मे था, वर्तमानकाल मे है और भविष्यकाल मे रहेगा।

पाचो का यह क्रम क्यो?—धर्म शब्द मगल सूचक होने से द्रव्यो मे सर्वप्रथम धर्मास्तिकाय बताया है। धर्मास्तिकाय से विपरीत अधर्मास्तिकाय होने से उसे धर्मास्तिकाय के बाद रखा गया। इन दोनो के लिए आकाशास्तिकाय आधाररूप होने से इन दोनो के बाद उसे रखा गया। आकाश की तरह जीव भी अनन्त और अमूर्त्त होने से इन दोनो तत्त्वो मे समानता की दृष्टि से आकाशास्तिकाय के बाद जीवास्तिकाय को रखा गया। पुद्गल द्रव्य जीव के उपयोग मे आता है, इसलिए जीवास्तिकाय के बाद पुद्गलास्तिकाय कहा गया।

पचास्तिकाय का स्वरूप-विश्लेषण—धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्य वर्णादि रहित होने से अरूपी-अमूर्त्त है, किन्तु वे धर्म (स्वभाव) रहित नही है। धर्मास्तिकायादि द्रव्य की अपेक्षा शाश्वत है, प्रदेशो की अपेक्षा अवस्थित है, धर्मास्तिकायादि प्रत्येक लोकद्रव्य (पचास्तिकायरूप लोक के अशरूप द्रव्य) है। गुण की अपेक्षा धर्मास्तिकाय गति-गुण वाला है, जैसे मछली आदि के गमन करने मे पानी सहायक होता है, वैसे ही धर्मास्तिकाय गतिक्रिया मे परिणत हुए जीवो और पुद्गलो को सहायता देता है। किन्तु स्वय गतिस्वभाव से रहित है—सदा स्थिर ही रहता है, फिर भी वह गति मे निमित्त होता है। अधर्मास्तिकाय स्थिति क्रिया मे परिणत हुए जीवो और पुद्गलो को सहायता देता है, जैसे विश्राम चाहने वाले थके हुए पथिक को छायादार वृक्ष सहायक होता है। अवगाहन गुण वाला आकाशास्तिकाय जीवादि द्रव्यो को अवकाश देता है, जैसे बेरो को रखने मे कुण्डा आधारभूत होता है। जीवास्तिकाय उपयोगगुण (चैतन्य या चित्-शक्ति) वाला है। पुद्गलास्तिकाय ग्रहण-गुण वाला है, क्योकि औदारिकादि अनेक पुद्गलो के साथ जीव का ग्रहण (परस्पर सम्बन्ध) होता है। अथवा पुद्गलो का परस्पर मे ग्रहण-बन्ध होता है।[1]

धर्मास्तिकायादि के स्वरूप का निश्चय—

७ [१] एगे भते! धम्मत्थिकायपदेसे 'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्व सिया?

गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे।

[७-१ प्र] भगवन्! क्या धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को 'धर्मास्तिकाय' कहा जा सकता है?

---

१ भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक १४८

[७-१ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है। अर्थात्—धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को धर्मास्तिकाय नही कहा जा सकता।

[२] एव दोण्णि तिण्णि चत्तारि पच छ सत्त अट्ठ नव दस सखेज्जा असखेज्जा भते ! धम्मत्थिकायप्पदेसा 'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्व सिया ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

[७-२ प्र] भगवन् ! क्या धर्मास्तिकाय के दो प्रदेशो, तीन प्रदेशो, चार प्रदेशो, पाच प्रदेशो, छह प्रदेशो, सात प्रदेशो, आठ प्रदेशो, नौ प्रदेशो, दस प्रदेशो, सख्यात प्रदेशो तथा असख्येय प्रदेशो को 'धर्मास्तिकाय' कहा जा सकता है ?

[७-२ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है। अर्थात्—धर्मास्तिकाय के असख्यात-प्रदेशो को भी धर्मास्तिकाय नही कहा जा सकता।

[३] एगपदेसूणे वि य ण भते ! धम्मत्थिकाए 'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्व सिया ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[७-३ प्र] भगवन् ! एक प्रदेश से कम धर्मास्तिकाय को क्या 'धर्मास्तिकाय' कहा जा सकता है ?

[७-३ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही, अर्थात्—एक प्रदेश कम धर्मास्तिकाय को भी धर्मास्तिकाय नही कहा जा सकता।

[४] से केणट्ठेण भते ! एव वुच्चइ 'एगे धम्मत्थिकायपदेसे नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया जाव (सु. ७ [२]) एगपदेसूणे वि य ण धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्व सिया ?'

से नूण गोयमा ! खडे चक्के ? सगले चक्के ?

भगव ! नो खडे चक्के, सगले चक्के।

एव छत्ते चम्मे दडे दूसे आयुहे मोयए। से तेणट्ठेण गोयमा ! एव वुच्चइ—'एगे धम्मत्थिकायपदेसे नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्व सिया जाव एगपदेसूणे वि य ण धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्व सिया'।

[७-४ प्र] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को यावत् एक प्रदेश कम हो, वहाँ तक उसे धर्मास्तिकाय नही कहा जा सकता ?

[७-४ उ] गौतम ! (यह बतलाओ कि) चक्र का खण्ड (भाग या टुकडा) चक्र कहलाता है या सम्पूर्ण चक्र चक्र कहलाता है ?

(गौतम—) भगवन् ! चक्र का खण्ड चक्र नही कहलाता, किन्तु सम्पूर्ण चक्र, चक्र कहलाता है।

(भगवान्—) इस प्रकार छत्र, चर्म, दण्ड, वस्त्र, शस्त्र और मोदक के विषय मे भी जानना चाहिए। अर्थात्—समग्र हो, तभी छत्र आदि कहे जाते है, इनके खण्ड को छत्र आदि नही कहा जाता। इसी कारण से, हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को, यावत् जब तक उसमे एक प्रदेश भी कम हो, तब तक उसे, धर्मास्तिकाय नही कहा जा सकता।

८ [१] से किं खाइ ण भ ते ! 'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्व सिया ?

गोयमा ! असखेज्जा धम्मत्थिकायपदेसा ते सव्वे कसिणा पडिपुण्णा निरवसेसा एगग्गहण-गहिया, एस ण गोयमा ! 'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्व सिया।

[८-१ प्र] भगवन् ! तब फिर यह कहिए कि धर्मास्तिकाय किसे कहा जा सकता है ?

[८-१ उ] हे गौतम ! धर्मास्तिकाय मे असख्येय प्रदेश है, जब वे सब कृत्स्न (पूरे), परिपूर्ण, निरवशेष (एक भी बाकी न रहे) तथा एकग्रहणगृहीत अर्थात्—एक शब्द से कहने योग्य हो जाएँ, तब उस (असख्येयप्रदेशात्मक सम्पूर्ण द्रव्य) को 'धर्मास्तिकाय' कहा जा सकता है।

[२] एवं अहम्मत्थिकाए वि।

[८-२] इसी प्रकार 'अधर्मास्तिकाय' के विषय मे जानना चाहिए।

[३] आगासत्थिकाय-जीवत्थिकाय-पोग्गलत्थिकाया वि एव चेव। नवर पदेसा अणता भाणियव्वा। सेस त चेव।

[८-३] इसी तरह आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय के विषय मे भी जानना चाहिए। विशेष बात यह है कि इन तीनो द्रव्यो के अनन्त प्रदेश कहना चाहिए। बाकी सारा वर्णन पूर्ववत् समझना।

विवेचन—धर्मास्तिकायादि के स्वरूप का निश्चय—प्रस्तुत दो सूत्रो मे उल्लिखित प्रश्नोत्तरो से यह स्वरूप निर्धारित कर दिया गया है कि धर्मास्तिकायादि के एक खण्ड या एक प्रदेश न्यून को धर्मास्तिकायादि नही कहा जा सकता, समग्रप्रदेशात्मक रूप को ही धर्मास्तिकायादि कहा जा सकता है।

निश्चयनय का मन्तव्य—प्रस्तुत मे जो यह बताया गया है कि जब तक एक भी प्रदेश कम हो, तब तक वे धर्मास्तिकाय आदि नही कहे जा सकते, किन्तु जब सभी प्रदेश परिपूर्ण हो, तभी वे धर्मास्तिकाय आदि कहे जा सकते है। अर्थात् जब वस्तु पूरी हो, तभी वह वस्तु कहलाती है, अधूरी वस्तु, वस्तु नही कहलाती, यह निश्चयनय का मन्तव्य है। व्यवहारनय की दृष्टि से तो थोडी-सी अधूरी या विकृत वस्तु को भी पूरी वस्तु कहा जाता है, उसी नाम से पुकारा जाता है। व्यवहारनय मोदक के टुकडे या कुछ न्यून अश को भी मोदक ही कहता है। जिस कुत्ते के कान कट गए हो, उसे भी कुत्ता ही कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु का एक भाग विकृत या न्यून हो गया हो, वह वस्तु अन्य वस्तु नही हो जाती, अपितु वह वही मूल वस्तु कहलाती है, क्योकि उसमे उत्पन्न विकृति या न्यूनता मूल वस्तु की पहचान मे बाधक नही होती। यह व्यवहारनय का मन्तव्य है। जीवास्तिकाय के अनन्तप्रदेशो का कथन समस्त जीवो की अपेक्षा से समझना चाहिए। एक जीव-

द्रव्य के प्रदेश असख्यात ही होते है। एक पुद्गल के सख्यात, असख्यात अथवा अनन्तप्रदेश होते है। समस्त पुद्गलास्तिकाय के मिलकर अनन्त (अनन्तानन्त) प्रदेश होते हे।[1]

उत्थानादियुक्त जीव द्वारा आत्मभाव से जीवभाव का प्रकटीकरण—

९ [१] जीवे ण भते ! सउट्ठाणे सकम्मे सबले सवीरिए सपुरिसक्कारपरक्कमे आयभावेण जीवभाव उवदसेतीति वत्तव्व सिया ?

हता, गोयमा ! जीवे ण सउट्ठाणे जाव उवदसेतीति वत्तव्व सिया।

[९-१ प्र] भगवन् ! उत्थान, कर्म, वल, वीर्य और पुरुषकार—पराक्रम वाला जीव आत्मभाव (अपने उत्थानादि परिणामो) से जीवभाव (चैतन्य) को प्रदर्शित—प्रकट करता है, क्या ऐसा कहा जा सकता है ?

[९-१ उ] हाँ, गौतम ! उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार—पराक्रम से युक्त जीव आत्मभाव से जीवभाव को उपदर्शित—प्रकट करता है, ऐसा कहा जा सकता है।

[२] से केणट्ठेण जाव वत्तव्व सिया ?

गोयमा ! जीवे णं अणताण आभिणिबोहियनाणपज्जवाण एव सुतनाणपज्जवाण ओहिनाणपज्जवाण मणपज्जवनाणपज्जवाण केवलनाणपज्जवाण मतिअण्णाणपज्जवाण सुतअण्णाणपज्जवाण विभगणाणपज्जवाण चक्खुदसणपज्जवाण अचक्खुदसणपज्जवाण ओहिदसणपज्जवाण केवलदसणपज्जवाण उवओग गच्छति, उवयोगलक्खणे ण जीवे। से तेणट्ठेण एव वुच्चइ—गोयमा ! जीवे ण सउट्ठाणे जाव वत्तव्व सिया।

[९-२ प्र] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा है कि तथारूप जीव आत्मभाव से जीवभाव को प्रदर्शित करता है, ऐसा कहा जा सकता है ?

[९-२ उ] गौतम ! जीव आभिनिवोधिक ज्ञान के अनन्त पर्यायो, श्रुतज्ञान के अनन्त पर्यायो, अवधिज्ञान के अनन्त पर्यायो, मन पर्यवज्ञान के अनन्त पर्यायो एव केवलज्ञान के अनन्त पर्यायो के तथा मतिअज्ञान, श्रुत-अज्ञान विभग (अवधि) अज्ञान के अनन्तपर्यायो के, एव चक्षु-दर्शन, अचक्षु-दर्शन, अवधि-दर्शन और केवलदर्शन के अनन्तपर्यायो के उपयोग को प्राप्त करता है, क्योकि जीव का लक्षण उपयोग है। इसी कारण से, हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम वाला जीव, आत्मभाव से जीवभाव (चैतन्य स्वरूप) को प्रदर्शित (प्रकट) करता है।

विवेचन—जीव द्वारा आत्मभाव से जीवभाव का प्रकटीकरण—प्रस्तुत सूत्र मे उत्थानादि युक्त ससारी जीवो द्वारा किस प्रकार आत्मभाव (शयन-गमनादि रूप आत्मपरिणाम) से चैतन्य (जीवत्व-चेतनाशक्ति) प्रकट (प्रदर्शित) की जाती है ? इस शका का युक्तियुक्त समाधान अकित किया गया है।

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १४९

(भगवान्—) इस प्रकार छत्र, चर्म, दण्ड, वस्त्र, शस्त्र और मोदक के विषय मे भी जानना चाहिए। अर्थात्—समग्र हो, तभी छत्र आदि कहे जाते है, इनके खण्ड को छत्र आदि नही कहा जाता। इसी कारण से, हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को, यावत् जब तक उसमे एक प्रदेश भी कम हो, तब तक उसे, धर्मास्तिकाय नही कहा जा सकता।

८ [१] से किं खाइ ण भ ते ! 'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्व सिया ?

गोयमा ! असखेज्जा धम्मत्थिकायपदेसा ते सव्वे कसिणा पडिपुण्णा निरवसेसा एगग्गहण-गहिया, एस ण गोयमा ! 'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्व सिया।

[८-१ प्र] भगवन् ! तब फिर यह कहिए कि धर्मास्तिकाय किसे कहा जा सकता है ?

[८-१ उ] हे गौतम ! धर्मास्तिकाय मे असख्येय प्रदेश है, जब वे सब कृत्स्न (पूरे), परिपूर्ण, निरवशेष (एक भी बाकी न रहे) तथा एकग्रहणगृहीत अर्थात्—एक शब्द से कहने योग्य हो जाएँ, तब उस (असख्येयप्रदेशात्मक सम्पूर्ण द्रव्य) को 'धर्मास्तिकाय' कहा जा सकता है।

[२] एव अहम्मत्थिकाए वि।

[८-२] इसी प्रकार 'अधर्मास्तिकाय' के विषय मे जानना चाहिए।

[३] आगासत्थिकाय-जीवत्थिकाय-पोग्गलत्थिकाया वि एव चेव। नवर पदेसा अणता भाणियव्वा। सेस त चेव।

[८-३] इसी तरह आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय के विषय मे भी जानना चाहिए। विशेष बात यह है कि इन तीनो द्रव्यो के अनन्त प्रदेश कहना चाहिए। बाकी सारा वर्णन पूर्ववत् समझना।

विवेचन—धर्मास्तिकायादि के स्वरूप का निश्चय—प्रस्तुत दो सूत्रो मे उल्लिखित प्रश्नोत्तरो से यह स्वरूप निर्धारित कर दिया गया है कि धर्मास्तिकायादि के एक खण्ड या एक प्रदेश न्यून को धर्मास्तिकायादि नही कहा जा सकता, समग्रप्रदेशात्मक रूप को ही धर्मास्तिकायादि कहा जा सकता है।

निश्चयनय का मन्तव्य—प्रस्तुत मे जो यह बताया गया है कि जब तक एक भी प्रदेश कम हो, तब तक वे धर्मास्तिकाय आदि नही कहे जा सकते, किन्तु जब सभी प्रदेश परिपूर्ण हो, तभी वे धर्मास्तिकाय आदि कहे जा सकते हैं। अर्थात् जब वस्तु पूरी हो, तभी वह वस्तु कहलाती है, अधूरी वस्तु, वस्तु नही कहलाती, यह निश्चयनय का मन्तव्य है। व्यवहारनय की दृष्टि से तो थोडी-सी अधूरी या विकृत वस्तु को भी पूरी वस्तु कहा जाता है, उसी नाम से पुकारा जाता है। व्यवहारनय मोदक के टुकडे या कुछ न्यून अश को भी मोदक ही कहता है। जिस कुत्ते के कान कट गए हो, उसे भी कुत्ता ही कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु का एक भाग विकृत या न्यून हो गया हो, वह वस्तु अन्य वस्तु नही हो जाती, अपितु वह वही मूल वस्तु कहलाती है, क्योकि उसमे उत्पन्न विकृति या न्यूनता मूल वस्तु की पहचान मे बाधक नही होती। यह व्यवहारनय का मन्तव्य है। जीवास्तिकाय के अनन्तप्रदेशो का कथन समस्त जीवो की अपेक्षा से समझना चाहिए। एक जीव-

द्रव्य के प्रदेश असख्यात ही होते है। एक पुद्गल के सख्यात, असख्यात अथवा अनन्तप्रदेश होते है। समस्त पुद्गलास्तिकाय के मिलकर अनन्त (अनन्तानन्त) प्रदेश होते है।[1]

उत्थानादियुक्त जीव द्वारा आत्मभाव से जीवभाव का प्रकटीकरण—

९ [१] जीवे ण भ ते ! सउट्ठाणे सकम्मे सबले सवीरिए सपुरिसक्कारपरक्कमे आयभावेण जीवभाव उवदसेतीति वत्तव्व सिया ?

हता, गोयमा ! जीवे ण सउट्ठाणे जाव उवदसेतीति वत्तव्व सिया।

[९-१ प्र] भगवन् ! उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार—पराक्रम वाला जीव आत्मभाव (अपने उत्थानादि परिणामो) से जीवभाव (चैतन्य) को प्रदर्शित—प्रकट करता है, क्या ऐसा कहा जा सकता है ?

[९-१ उ] हाँ, गौतम ! उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार—पराक्रम से युक्त जीव आत्मभाव से जीवभाव को उपदर्शित—प्रकट करता है, ऐसा कहा जा सकता है।

[२] से केणट्ठेण जाव वत्तव्व सिया ?

गोयमा ! जीवे ण अणताण आभिणिबोहियनाणपज्जवाण एव सुतनाणपज्जवाण ओहिनाणपज्जवाण मणपज्जवनाणपज्जवाण केवलनाणपज्जवाण मतिअण्णाणपज्जवाण सुतअण्णाणपज्जवाण विभगणाणपज्जवाण चक्खुदंसणपज्जवाण अचक्खुदसणपज्जवाण ओहिदसणपज्जवाण केवलदसणपज्जवाण उवओग गच्छति, उवयोगलक्खणे ण जीवे। से तेणट्ठेण एव वुच्चइ—गोयमा ! जीवे ण सउट्ठाणे जाव वत्तव्व सिया।

[९-२ प्र] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा है कि तथारूप जीव आत्मभाव से जीवभाव को प्रदर्शित करता है, ऐसा कहा जा सकता है ?

[९-२ उ] गौतम ! जीव आभिनिबोधिक ज्ञान के अनन्त पर्यायो, श्रुतज्ञान के अनन्त पर्यायो, अवधिज्ञान के अनन्त पर्यायो, मन पर्यवज्ञान के अनन्त पर्यायो एव केवलज्ञान के अनन्त पर्यायो के तथा मतिअज्ञान, श्रुत-अज्ञान विभग (अवधि) अज्ञान के अनन्तपर्यायो के, एव चक्षु-दर्शन, अचक्षु-दर्शन, अवधि-दर्शन और केवलदर्शन के अनन्तपर्यायो के उपयोग को प्राप्त करता है, क्योकि जीव का लक्षण उपयोग है। इसी कारण से, हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम वाला जीव, आत्मभाव से जीवभाव (चैतन्य स्वरूप) को प्रदर्शित (प्रकट) करता है।

विवेचन—जीव द्वारा आत्मभाव से जीवभाव का प्रकटीकरण—प्रस्तुत सूत्र मे उत्थानादि युक्त ससारी जीवो द्वारा किस प्रकार आत्मभाव (शयन-गमनादि रूप आत्मपरिणाम) से चैतन्य (जीवत्व-चेतनाशक्ति) प्रकट (प्रदर्शित) की जाती है ? इस शका का युक्तियुक्त समाधान अकित किया गया है।

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १८९

उत्थानादि विशेषण ससारी जीव के हैं—मूलपाठ मे 'सउट्ठाणे' आदि जो जीव के विशेषण दिए गए है, वे ससारी जीवो की अपेक्षा से दिये गए है, क्योकि मुक्त जीवो मे उत्थानादि नही होते।

'आत्मभाव' का अर्थ है—उत्थान (उठना) शयन, गमन, भोजन, भाषण आदि रूप आत्मपरिणाम। इस प्रकार के आत्मपरिणाम द्वारा जीव का जीवत्व (चैतन्य—चेतनाशक्ति) प्रकाशित होता है, क्योकि जब विशिष्ट चेतनाशक्ति होती है, तभी विशिष्ट उत्थानादि होते है।

पर्यव-पर्याय—प्रज्ञाकृत विभाग या परिच्छेद को पर्यव या पर्याय कहते है, प्रत्येक ज्ञान, अज्ञान एव दर्शन के ऐसे अनन्त-अनन्तपर्याय होते हैं। उत्थान-शयनादि भावो मे प्रवर्तमान जीव आभिनिबोधिक आदि ज्ञानसम्बन्धी अनन्तपर्यायरूप एक प्रकार के चैतन्य (उपयोग) को प्राप्त करता है। यही जीवत्व (चैतन्यशक्तिमत्ता) को प्रदर्शित करता है।[1]

आकाशास्तिकाय के भेद-प्रभेद एवं स्वरूप का निरूपण—

१० कतिविहे ण भ ते ! आकासे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे आगासे पण्णत्ते, त जहा—लोयाकासे य अलोयागासे य।

[१० प्र] भगवन् ! आकाश कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१० उ] गौतम ! आकाश दो प्रकार का कहा गया है। यथा—लोकाकाश और अलोकाकाश।

११ लोयाकासे ण भते ! किं जीवा जीवदेसा जीवपदेसा, अजीवा अजीवदेसा अजीवपएसा ?

गोयमा ! जीवा वि जीवदेसा वि जीवपदेसा वि, अजीवा वि अजीवदेसा वि अजीवपदेसा वि। जे जीवा ते नियमा एगिंदिया बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पचेंदिया अणिंदिया। जे जीवदेसा ते नियमा एगिंदियदेसा जाव अणिंदियदेसा। जे जीवपदेसा ते नियमा एगिंदियपदेसा जाव अणिंदियपदेसा। जे अजीवा ते दुविहा पण्णत्ता, त जहा—रूवी य अरूवी य। जे रूवी ते चउव्विहा पण्णत्ता, त जहा—खधा खधदेसा खधपदेसा परमाणु पोग्गला। जे अरूवी ते पचविहा पण्णत्ता, त जहा—धम्मत्थिकाए, नोधम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकायस्स पदेसा, अधम्मत्थिकाए, नोअधम्मत्थिकायस्स देसे, अधम्मत्थिकायस्स पदेसा, अद्धासमए।

[११ प्र] भगवन् ! क्या लोकाकाश मे जीव हैं ? जीव के देश है ? जीव के प्रदेश हैं ? क्या अजीव है ? अजीव के देश हैं ? अजीव के प्रदेश हैं ?

[११ उ] गौतम ! लोकाकाश मे जीव भी है, जीव के देश भी हैं, जीव के प्रदेश भी है, अजीव भी हैं, अजीव के देश भी हैं और अजीव के प्रदेश भी हैं। जो जीव हैं, वे नियमत (निश्चित रूप से) एकेन्द्रिय है, द्वीन्द्रिय हैं, त्रीन्द्रिय है, चतुरिन्द्रिय हैं, पचेन्द्रिय है और अनिन्द्रिय हैं। जो जीव के देश हैं, वे नियमत एकेन्द्रिय के देश है, यावत् अनिन्द्रिय के देश हैं। जो जीव के प्रदेश हैं, वे

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १४९

नियमत एकेन्द्रिय के प्रदेश है, यावत् अनिन्द्रिय के प्रदेश है। जो अजीव हैं, वे दो प्रकार के कहे गए हैं यथा—रूपी और अरूपी। जो रूपी है, वे चार प्रकार के कहे गए है—स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्ध प्रदेश और परमाणुपुद्गल। जो अरूपी है, उनके पाच भेद कहे गए है। वे इस प्रकार—धर्मास्तिकाय, नोधर्मास्तिकाय का देश, धर्मास्तिकाय के प्रदेश, अधर्मास्तिकाय, नोअधर्मास्तिकाय का देश, अधर्मास्तिकाय के प्रदेश और अद्धासमय है।

१२ अलोगागासे ण भते ! किं जीवा ? पुच्छा तह चेव (सु ११)।

गोयमा ! नो जीवा जाव नो अजीवप्पएसा। एगे अजीवदव्वदेसे अगुरुयलहुए अणतेहिं अगुरुयलहुयगुणेहिं सजुत्ते सव्वागासे अणतभागूणे।

[१२ प्र] भगवन् ! क्या अलोकाकाश मे जीव है, यावत् अजीवप्रदेश है ? इत्यादि पूर्ववत् पृच्छा।

[१२ उ] गौतम ! अलोकाकाश मे न जीव है, यावत् न ही अजीवप्रदेश है। वह एक अजीवद्रव्य देश है, अगुरुलघु है तथा अनन्त अगुरुलघु-गुणो से सयुक्त है, (क्योकि लोकाकाश सर्वाकाश का अनन्तवाँ भाग है, अत) वह अनन्तभाग-कम सर्वाकाशरूप है।

विवेचन—आकाशास्तिकाय भेद-प्रभेद एव स्वरूप का निरूपण—प्रस्तुत तीन सूत्रो द्वारा आकाशास्तिकाय के भेद-प्रभेद एव उनमे जीव-अजीव आदि के अस्तित्व के सम्बन्ध मे निरूपण किया गया है।

देश, प्रदेश—प्रस्तुत प्रसग मे देश का अर्थ है—जीव या अजीव के बुद्धिकल्पित दो, तीन आदि विभाग, तथा प्रदेश का अर्थ है—जीवदेश या अजीवदेश के बुद्धिकल्पित ऐसे सूक्ष्मतम विभाग, जिनके फिर दो विभाग न हो सके।

जीव-अजीव के देश-प्रदेशो का पृथक् कथन क्यो ?—यद्यपि जीव या अजीव कहने से ही क्रमश जीव तथा अजीव के देश तथा प्रदेशो का ग्रहण हो जाता है, क्योकि जीव या अजीव के देश व प्रदेश जीव या अजीव से भिन्न नही हैं, तथापि इन दोनो (देश और प्रदेश) का पृथक् कथन 'जीवादि पदार्थ प्रदेश-रहित हैं', इस मान्यता का निराकरण करने एव जीवादि पदार्थ सप्रदेश है, इस मान्यता को सूचित करने के लिए किया गया है।

स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश, परमाणुपुद्गल—परमाणुओ का समूह 'स्कन्ध' कहलाता है। स्कन्ध के दो, तीन आदि भागो को स्कन्ध-देश कहते है, तथा स्कन्ध के ऐसे सूक्ष्म अश, जिनके फिर विभाग न हो सके, उन्हे स्कन्धप्रदेश कहते हैं। 'परमाणु' ऐसे सूक्ष्मतम अशो को कहते है, जो स्कन्धभाव को प्राप्त नही हुए—किसी से मिले हुए नही—स्वतत्र है।

अरूपी के दस भेद के बदले पांच भेद ही क्यो ?—अरूपी अजीव के अन्यत्र दस भेद (धर्म, अधर्म, आकाश, इन तीनो के देश और प्रदेश तथा अद्धासमय) कहे गए है, किन्तु यहाँ पाच ही भेद कहने का कारण यह है कि—तीन भेद वाले आकाश को यहाँ आधाररूप माना गया है, इस कारण उसके तीन भेद यहाँ नही गिने गए है। इन तीन भेदो को निकाल देने पर शेष रहे सात भेद। उनमे भी धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय के देश का ग्रहण नही किया गया है, क्योकि सम्पूर्ण लोक की

पृच्छा होने से यहाँ धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के स्कन्ध के रूप मे पूर्ण का ही ग्रहण किया गया है। इसलिए इन दो भेदो को निकाल देने पर पाच भेद ही शेष रहते है।

अद्धा-समय—अद्धा अर्थात् काल, तद्रूप जो समय, वह अद्धासमय है।

अलोकाकाश—मे जीवादि कोई पदार्थ नही है किन्तु उसे अजीवद्रव्य का एक भाग-रूप कहा गया है, उसका कारण है—आकाश के लोकाकाश और अलोकाकाश, ये दो भाग है। इस दृष्टि से अलोकाकाश, आकाश (अजीवद्रव्य) का एक भाग सिद्ध हुआ। अलोकाकाश अगुरुलघु है, गुरुलघु नही। वह स्व-पर-पर्यायरूप अगुरुलघु स्वभाव वाले अनन्तगुणो से युक्त है। अलोकाकाश से लोकाकाश अनन्तभागरूप है। दोनो आकाशो मे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नही होते।

लोकाकाश—जहाँ धर्मास्तिकायादि द्रव्यो की वृत्ति-प्रवृत्ति हो वह क्षेत्र लोकाकाश है।[1]

धर्मास्तिकाय आदि का प्रमाण—

१३ [१] धम्मत्थिकाए ण भते ! केमहालए पण्णत्ते ?

गोयमा ! लोए लोयमेत्ते लोयप्पमाणे लोयफुडे लोय चेव फुसित्ताण चिट्ठइ।

[१३-१ प्र] भगवन् ! धर्मास्तिकाय कितना बडा कहा गया है ?

[१३-१ उ) गौतम ! धर्मास्तिकाय लोकरूप है, लोकमात्र है, लोक-प्रमाण है, लोकस्पृष्ट है और लोक को ही स्पर्श करके रहा हुआ है।

[२] एव अधम्मत्थिकाए, लोयाकासे, जीवत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए। पच वि एक्काभिलावा।

[१३-२] इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय के सम्बन्ध मे भी समझ लेना चाहिए। इन पाचो के सम्बन्ध मे एक समान अभिलाप (पाठ) है।

विवेचन—धर्मास्तिकाय आदि का प्रमाण—प्रस्तुत सूत्र मे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय, इन पाचो को लोक-प्रमाण, लोकमात्र, लोकस्पृष्ट एव लोकरूप आदि बताया गया है। लोक के जितने प्रदेश है, उतने ही धर्मास्तिकाय के प्रदेश हैं। धर्मास्तिकायादि के सब प्रदेश लोकाकाश के साथ स्पृष्ट है और धर्मास्तिकायादि अपने समस्त प्रदेशो द्वारा लोक को स्पर्श करके रहे हुए है।[2]

धर्मास्तिकाय आदि को स्पर्शना—

१४ अहोलोए ण भते ! धम्मत्थिकायस्स केवतिय फुसति ?

गोयमा ! सातिरेग अद्ध फुसति।

[१४ प्र] भगवन् ! धर्मास्तिकाय के कितने भाग को अधोलोक स्पर्श करता है ?

---

१ भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक १५०-१५१

२ भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक, १५१

[१४ उ] गौतम! अधोलोक धर्मास्तिकाय के आधे से कुछ अधिक भाग को स्पर्श करता है।

१५. तिरियलोए ण भते! ० पुच्छा।

गोयमा! असखेज्जइभाग फुसइ।

[१५ प्र] भगवन्! धर्मास्तिकाय के कितने भाग को तिर्यग्लोक स्पर्श करता है? पृच्छा०।

[१५ उ] गौतम! तिर्यग्लोक धर्मास्तिकाय के असख्येय भाग को स्पर्श करता है।

१६ उड्ढलोए ण भंते! ० पुच्छा।

गोयमा! देसोण अद्ध फुसइ।

[१६ प्र] भगवन्! धर्मास्तिकाय के कितने भाग को ऊर्ध्वलोक स्पर्श करता है?

[१६ उ] गौतम! ऊर्ध्वलोक धर्मास्तिकाय के देशोन (कुछ कम) अर्धभाग को स्पर्श करता है।

१७. इमा ण भते! रयणप्पभा पुढवी धम्मत्थिकायस्स किं सखेज्जइभाग फुसति? असखेज्जइभाग फुसइ? सखिज्जे भागे फुसति? असखेज्जे भागे फुसति? सव्व फुसति?

गोयमा! णो सखेज्जइभाग फुसति, असखेज्जइभाग फुसइ, णो सखेज्जे०, णो असखेज्जे०, नो सव्व फुसति।

[१७ प्र] भगवन्! यह रत्नप्रभा पृथ्वी, क्या धर्मास्तिकाय के सख्यात भाग को स्पर्श करती है या असख्यात भाग को स्पर्श करती है, अथवा सख्यात भागो को स्पर्श करती है या असख्यात भागो को स्पर्श करती है अथवा समग्र को स्पर्श करती है?

[१७ उ] गौतम! यह रत्नप्रभा पृथ्वी, धर्मास्तिकाय के सख्यात भाग को स्पर्श नही करती, अपितु असख्यात भाग को स्पर्श करती है। इसी प्रकार सख्यात भागो को, असख्यात भागो को या समग्र धर्मास्तिकाय को स्पर्श नही करती।

१८ इमीसे ण भते! रयणप्पभाए पुढवीए घणोदही धम्मत्थिकायस्स किं सखेज्जइभागं फुसति? ०।

जहा रयणप्पभा (सु १७) तहा घणोदहि-घणवात-तणुवाया वि।

[१८ प्र] भगवन्! रत्नप्रभापृथ्वी का घनोदधि, धर्मास्तिकाय के सख्येय भाग को स्पर्श करता है, यावत् समग्र धर्मास्तिकाय को स्पर्श करता है? इत्यादि पृच्छा।

[१८ उ] हे गौतम! जिस प्रकार रत्नप्रभापृथ्वी के लिए कहा गया है, उसी प्रकार रत्नप्रभा पृथ्वी के घनोदधि के विषय मे कहना चाहिये। और उसी तरह घनवात और तनुवात के विषय मे भी कहना चाहिए।

१९ [१] इमीसे ण भते ! रयणप्पभाए पुढवीए ओवासतरे धम्मत्थिकायस्स किं सखेज्जइ-भाग फुसति, असखेज्जइभाग फुसइ जाव (सु १७) सव्व फुसइ ।

गोयमा ! सखेज्जइभाग फुसइ, णो असखेज्जेइभाग फुसइ, नोसखेज्जे०, नो असखेज्जे०, नो सव्व फुसइ ।

[१९-१ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी का अवकाशान्तर क्या धर्मास्तिकाय के सख्येय भाग को स्पर्श करता है, अथवा असख्येय भाग को स्पर्श करता है ?, यावत् सम्पूर्ण धर्मास्तिकाय को स्पर्श करता है ?

[१९-१ उ] गौतम ! इस रत्नप्रभापृथ्वी का अवकाशान्तर, धर्मास्तिकाय के सख्येय भाग को स्पर्श करता है, किन्तु असख्येय भाग को, सख्येय भागो को, असख्येय भागो को तथा सम्पूर्ण धर्मास्ति-काय को स्पर्श नही करता ।

[२] ओवासतराइ सव्वाइं जहा रयणप्पभाए ।

[१९-२] इसी तरह समस्त अवकाशान्तरो के सम्बन्ध मे कहना चाहिए ।

२० जहा रयणप्पभाए पुढवीए वत्तव्वया भणिया एव जाव[1] अहेसत्तमाए ।

[२०] जैसे रत्नप्रभा पृथ्वी के विपय मे कहा, वैसे ही यावत् नीचे सातवी पृथ्वी तक कहना चाहिए ।

२१. [जबुदीवाइया दीवा, लवणसमुद्दाइया समुद्दा][2] एव सोहम्मे कप्पे जाव[3] ईसिपब्भारा-पुढवीए । एते सव्वे वि असखेज्जइभाग फुसति, सेसा पडिसेहेतव्वा ।

[२१] [तथा जम्बूद्वीप आदि द्वीप और लवणसमुद्र आदि समुद्र,] सौधर्मकल्प से ले कर (यावत्) ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी तक, ये सभी धर्मास्तिकाय के असख्येय भाग को स्पर्श करते है । शेष भागो की स्पर्शना का निषेध करना चाहिए ।

२२. एव अधम्मत्थिकाए । एव लोयागासे वि । गाहा—

पुढवोदही घण तणू कप्पा गेवेज्जऽणुत्तरा सिद्धी ।
सखेज्जइभाग अतरेसु सेसा असखेज्जा ॥१॥

॥ बितीय-सए दसमो उद्देसो समत्तो ॥

॥ बिइय सय समत्त ॥

---

१ 'जाव' पद से शर्कराप्रभा आदि सातो नरकपृथ्वियो के नाम समझ लेने चाहिए ।

२ वृत्तिकार द्वारा ५२ सूत्रो की सूचना के अनुसार यहाँ 'जबुद्दीवाइया समुद्दा' यह पाठ सगत नही लगता, इसलिए ब्राकेट मे दिया गया है ।

३ 'जाव' पद से 'ईशान' से लेकर 'ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी' तक समझ लेना चाहिए ।

[२२] जिस तरह धर्मास्तिकाय की स्पर्शना कही, उसी तरह अधर्मास्तिकाय और लोकाकाशास्तिकाय की स्पर्शना के विषय मे भी कहना चाहिए।

गाथा का अर्थ इस प्रकार है—

पृथ्वी, घनोदधि, घनवात, तनुवात, कल्प, ग्रैवेयक, अनुत्तर, सिद्धि (ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी) तथा सात अवकाशान्तर, इनमे से अवकाशान्तर तो धर्मास्तिकाय के सख्येय भाग का स्पर्श करते है और शेष सब धर्मास्तिकाय के असख्येय भाग का स्पर्श करते है।

विवेचन—धर्मास्तिकायादि की स्पर्शना—प्रस्तुत नौ सूत्रो (१४ से २२ तक) मे तीनो लोक, रत्नप्रभादि सात पृथ्वियाँ, उन सातो के घनोदधि, घनवात, तनुवात, अवकाशान्तर, सौधर्मकल्प से ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी तक धर्मास्तिकायादि के सख्येय, या असख्येय तथा समग्र आदि भाग के स्पर्श का विचार किया गया है।

तीनो लोको द्वारा धर्मास्तिकाय का स्पर्श कितना और क्यो ?—धर्मास्तिकाय चतुर्दश-रज्जुप्रमाण समग्र लोकव्यापी है और अधोलोक का परिमाण सात रज्जु से कुछ अधिक है। इसलिए अधोलोक धर्मास्तिकाय के आधे से कुछ अधिक भाग का स्पर्श करता है। तिर्यग्लोक का परिमाण १८०० योजन है और धर्मास्तिकाय का परिमाण असख्येय योजन का है। इसलिए तिर्यग्लोक धर्मास्तिकाय के असख्येय भाग का स्पर्श करता है। ऊर्ध्वलोक देशोन सात रज्जुपरिमाण है और धर्मास्तिकाय चौदह रज्जु-परिमाण है। इसलिए ऊर्ध्वलोक धर्मास्तिकाय के देशोन अर्धभाग का स्पर्श करता है।

वृत्तिकार के अनुसार ५२ सूत्र—यहाँ रत्नप्रभा आदि प्रत्येक पृथ्वी के विषय मे पाँच-पाँच सूत्र होते है (यथा—रत्नप्रभा, उसका घनोदधि, घनवात, तनुवात और अवकाशान्तर)। इस दृष्टि से सातो पृथ्वियो के कुल ३५ सूत्र हुए। बारह देवलोक के विषय मे बारह सूत्र, ग्रैवेयकत्रिक के विषय मे तीन सूत्र, अनुत्तरविमान और ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के विषय मे दो सूत्र, इस प्रकार सब मिलाकर ३५+१२+३+२=५२ सूत्र होते हैं। इन सभी सूत्रो मे—'क्या धर्मास्तिकाय के सख्येय भाग को स्पर्श करता है ? यावत् सम्पूर्ण धर्मास्तिकाय को स्पर्श करता है ?' इस प्रकार कहना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर यह है—'सभी अवकाशान्तर धर्मास्तिकाय के सख्येय भाग को और शेष सभी असख्येय भाग को स्पर्श करते है।'

अधर्मास्तिकाय और लोकाकाशास्तिकाय के विषय मे भी इसी तरह सूत्र (आलापक) कहने चाहिए।[1]

॥ द्वितीय शतक दशम उद्देशक समाप्त ॥

॥ द्वितीय शतक सम्पूर्ण ॥

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १५२

तृ ीय शतक

प्राथमिक

* व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र का यह तृतीय शतक है।

* इसमे मुख्यतया तपस्या आदि क्रियाओ से होने वाली दिव्य उपलब्धियो का वर्णन है। इसमे दस उद्देशक है।

* प्रथम उद्देशक मे मोका नगरी मे भगवान् के पदार्पण का उल्लेख करके उसमे उद्देशक-प्रतिपादित विषयो के प्रश्नोत्तर का सकेत किया गया है। तदनन्तर अग्निभूति अनगार द्वारा पूछी गई चमरेन्द्र और उसके अधीनस्थ समस्त प्रमुख देव-देवियो की ऋद्धि, कान्ति, प्रभाव, बल, यश, सुख और वैक्रियशक्ति का, फिर वायुभूति अनगार द्वारा पूछी गई बलीन्द्र एव उसके अधीनस्थ समस्त प्रमुख देववर्ग की ऋद्धि आदि एव वैक्रियशक्ति का, तत्पश्चात् पुन अग्निभूति द्वारा पूछे गए नागकुमारराज धरणेन्द्र तथा अन्य भवनपतिदेवो के इन्द्रो, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क के इन्द्रो, शक्रेन्द्र, तिष्यक सामानिक देव तथा ईशानेन्द्र से अच्युतेन्द्र तक के वैमानिक इन्द्रो की ऋद्धि आदि एव वैक्रियशक्ति की प्ररूपणा की गई है। तत्पश्चात् राजगृह मे इन्द्रभूति गौतम गणधर द्वारा ईशानेन्द्र की दिव्य ऋद्धि वैक्रियशक्ति आदि के सम्बन्ध मे पूछे जाने पर भगवान् द्वारा तामली बालतपस्वी का गृहस्थ-जीवन तथा प्राणामा प्रवज्याग्रहण से लेकर ईशानेन्द्र बनने तक विस्तृत वर्णन किया गया है। फिर तामली तापस द्वारा बलिचचावासी असुरो द्वारा बलीन्द्र बनने के निदान का अस्वीकार करने से प्रकुपित होकर शव की बिडम्बना करने पर ईशानेन्द्र के रूप मे भू पू तामली का प्रकोप, उससे भयभीत होकर असुरो द्वारा क्षमायाचना आदि वृत्तान्त प्रस्तुत किया गया है। अन्त मे, ईशानेन्द्र की स्थिति, मुक्ति तथा शक्रेन्द्र-ईशानेन्द्र की वैभवसम्बन्धी तुलना, सनत्कुमारेन्द्र की भवसिद्धिकता आदि का निरूपण किया गया है।

* द्वितीय उद्देशक मे असुरकुमार देवो के स्थान, उनके द्वारा ऊर्ध्व-अधो-तिर्यग्गमन–सामर्थ्य, तत्पश्चात् पूर्वभव मे पूरण तापस द्वारा दानामा प्रव्रज्या से लेकर असुरराज-चमरेन्द्रत्व की प्राप्ति तक का समग्र वर्णन है। उसके बाद भगवदाश्रय लेकर चमरेन्द्र द्वारा शक्रेन्द्र को छेडे जाने पर शक्रेन्द्रकृत वज्रपात से मुक्ति का वृत्तान्त प्रस्तुत है। तत्पश्चात् फेंकी हुई वस्तु को पकडने तथा शक्रेन्द्र तथा चमरेन्द्र के ऊर्ध्व-अध , तिर्यग्गमन-सामर्थ्य-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर है। अन्त मे, वज्रभयमुक्त चमरेन्द्र द्वारा भगवान् के प्रति कृतज्ञता, क्षमायाचना तथा नाट्यविधि-प्रदर्शन का और असुरकुमार देवो द्वारा सौधर्मकल्पगमन का कारणान्तर बताया गया है।

* तृतीय उद्देशक मे पाच क्रियाओ, उनके अवान्तर भेदो, सक्रिय अक्रिय जीवो की अन्तक्रिया के नास्तित्व-अस्तित्व के कारणो का वर्णन है, तथा प्रमत्त-अप्रमत्त सयम के सर्वकाल एव लवणसमुद्रीय हानि-वृद्धि के कारण का प्ररूपण है।

* चतुर्थ उद्देशक मे भावितात्मा अनगार की जानने, देखने एव विकुर्वणा करने की शक्ति की वायुकाय, मेघ आदि द्वारा रूपपरिणमन व गमनसम्बन्धी चर्चा है। चौवीस दण्डकों की लेश्यासम्बन्धी प्ररूपणा है।

* पचम उद्देशक मे भावितात्मा अनगार द्वारा स्त्री आदि रूपो की वैक्रिय एव अभियोगसम्बन्धी चर्चा है।

* छठे उद्देशक मे मायी मिथ्यादृष्टि एवं अमायी सम्यग्दृष्टि अनगार द्वारा विकुर्वणा और दर्शन तथा चमरेन्द्रादि के आत्म-रक्षक देवो की सख्या का प्ररूपण है।

* सातवे उद्देशक मे शक्रेन्द्र के चारो लोकपालो के विमानस्थान आदि से सम्वन्धित वर्णन है।

* आठवे उद्देशक मे भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो के अधिपतियो का वर्णन है।

* नौवे उद्देशक मे पचेन्द्रिय-विषयो से सम्वन्धित अतिदेशात्मक वर्णन है।

* दसवें उद्देशक मे चमरेन्द्र से लेकर अच्युतेन्द्र तक की परिषदा-सम्बन्धी प्ररूपणा है।[1]

□□

---

१ (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूल पाठ-टिप्पणयुक्त), भा १, पृ ३४ से ३६ तक।
(ख) श्रीमद्भगवतीसूत्रम् (टीकानुवाद टिप्पणयुक्त), खण्ड—२, पृ १–२

तइयं सयं—तृतीय शतक

संग्रहणी गाथा

तृतीय शतक की संग्रहणी गाथा—

१ केरिस विउव्वणा १ चमर २ किरिय ३ जाणित्थि ४-५ नगर ६ पाला य ७ ।
अहिवति ८ इंदिय ९ परिसा १० ततियम्मि सते दसुद्देसा ॥१॥

[१] तृतीय शतक मे दस उद्देशक है । उनमे से प्रथम उद्देशक मे चमरेन्द्र की विकुर्वणा-शक्ति (विविध रूप करने—बनाने की शक्ति) कैसी है ? इत्यादि प्रश्नोत्तर है, दूसरे उद्देशक मे चमरेन्द्र के उत्पात का कथन है । तृतीय उद्देशक मे क्रियाओ की प्ररूपणा है । चतुर्थ मे देव द्वारा विकुर्वित यान को साधु जानता है ? इत्यादि प्रश्नो का निर्णय है । पाँचवे उद्देशक मे साधु द्वारा (बाह्य पुद्गलो को ग्रहण करके) स्त्री आदि के रूपो की विकुर्वणा-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर है । छठे मे नगर-सम्बन्धी वर्णन है । सातवे मे लोकपाल-विषयक वर्णन है । आठवे मे अधिपति-सम्बन्धी वर्णन है । नौवे उद्देशक मे इन्द्रियो के सम्बन्ध मे निरूपण है और दसवे उद्देशक मे चमरेन्द्र की परिषद् (सभा) का वर्णन है ।

पढमो उद्देसओ : विउव्वणा

[पढमो उद्देसो 'मोया—केरिस विउव्वणा']

प्रथम उद्देशक : विकुर्वणा

प्रथम उद्देशक का उपोद्घात—

२ तेण कालेण तेण समएण मोया नाम नगरी होत्था । वण्णओ । तीसे ण मोयाए नगरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभागे ण नदणे नाम चेतिए होत्था । वण्णओ । तेण कालेणं २ सामी समोसढे । परिसा निग्गच्छति । पडिगता परिसा ।

[२] उस काल उस समय मे 'मोका' नाम की नगरी थी । उसका वर्णन करना चाहिए । उस मोका नगरी के बाहर उत्तरपूर्व के दिशाभाग मे, अर्थात्—ईशानकोण मे नन्दन नाम का चैत्य (उद्यान) था । उसका वर्णन करना चाहिए । उस काल उस समय मे (एकदा) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी वहाँ पधारे । (श्रमण भगवान् महावीर का आगमन जान कर) परिषद् (जनता) (उनके दर्शनार्थ) निकली । (भगवान् का धर्मोपदेश सुनकर) परिषद् वापस चली गई ।

विवेचन—प्रथम उद्देशक का उपोद्घात—प्रथम उद्देशक कब, कहाँ (किस नगरी मे, किस

जगह), किसके द्वारा कहा गया है ? इसे बताने हेतु भूमिका के रूप मे यह उपोद्घात[1] प्रस्तुत किया गया है।

चमरेन्द्र और उसके अधीनस्थ देववर्ग की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणा शक्ति—

३ तेण कालेणं तेण समएणं समणस्स भगवतो महावीरस्स दोच्चे अतेवासी अग्गिभूती नाम अणगारे गोतमे गोत्तेण सत्तुस्सेहे जाव[2] पज्जुवासमाणे एव वदासी—चमरे ण भते ! असुरिंदे असुरराया केमहिड्ढीए ? केमहज्जुतीए ? केमहाबले ? केमहायसे ? केमहासोक्खे ? केमहाणुभागे ? केवतिय च ण पभू विकुव्वित्तए ?

गोयमा ! चमरे णं असुरिंदे असुरराया महिड्ढीए जाव महाणुभागे। से ण तत्थ चोत्तीसाए भवणावाससतसहस्साणं, चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीण, तायत्तीसाए तायत्तीसगाण जाव[3] विहरति। एमहिड्ढीए जाव एमहाणुभागे। एवतिय च ण पभू विकुव्वित्तए—से जहानामए जुवती जुवाणे हत्थेण हत्थे गेण्हेज्जा, चक्कस्स वा नाभी अरगाउत्ता सिता, एवामेव गोयमा ! चमरे असुरिंदे असुरराया वेउव्वियसमुग्घातेण समोहण्णति, २ सखेज्जाइ जोअणाइ दड निसिरति, तं जहा—रतणाण जाव[4] रिट्ठाण अहाबायरे पोग्गले परिसाडेति, २ अहासुहुमे पोग्गले परियाइयति, २ दोच्च पि वेउव्वियस-समुग्घाएण समोहण्णति, २ पभू ण गोतमा ! चमरे असुरिंदे असुरराया केवलकप्प जबुद्दीवं दीव बहूहि असुरकुमारेहि देवेहि देवीहि य आइण्ण वितिकिण्ण उवत्थड संथड फुडं अवगाढावगाढ करेत्तए। अदुत्तर च ण गोतमा ! पभू चमरे असुरिंदे असुरराया तिरियमसखेज्जे दीव-समुद्दे बहूहि असुर-कुमारेहि देवेहि देवीहि य आइण्णे वितिकिण्णे उवत्थडे सथडे फुडे अवगाढावगाढे करेत्तए। एस ण गोतमा ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो अयमेतारूवे विसए विसयमेत्ते वुइए, णो चेव ण सपत्तीए विकुव्विसु वा, विकुव्वति वा, विकुव्विस्सति वा।

---

१. 'चिन्ता प्रकृतसिद्ध्यर्थमुपोद्घात विदुर्बुधा'—साहित्यकारो द्वारा की गई इस परिभाषा के अनुसार प्रस्तुत (वक्ष्यमाण) अर्थ (बात) को सिद्ध-प्रमाणित करने हेतु किये गये चिन्तन या कथन को विद्वान् उपोद्घात कहते हैं।

२ 'जाव' पद से औपपातिक सूत्र के उत्तरार्द्ध मे प्रथम और द्वितीय सूत्र मे उक्त इन्द्रभूति गौतम स्वामी के विशेषणो से युक्त पाठ समझना चाहिए।

३ 'जाव' पद से 'चउण्ह लोगपालाण पचण्ह अग्गमहिसीण सपरिवाराण, तिण्ह परिसाण, सत्तण्ह अणियाण, सत्तण्ह अणियाहिवईण, चउण्ह चउसट्ठीण आयरक्खदेवसाहस्सीण, अन्नेसिं च बहूण चमरचचारायहाणिवत्थ-व्वाण देवाण य देवीण य आहेवच्च पोरेवच्च सामित्त भट्टित्त आणाईसर-सेणावच्च कारेमाणे पालेमाणे महयाऽऽहयनट्ट-गीय-वाइय-तती-तल-ताल-तुडिय-घणमुइगपडुप्प-वाइयरवेण दिव्वाइ भोगभोगाइ भुजमाणे,' यह पाठ समझना चाहिए।

४ 'जाव' पद से 'वइराण वेरुलियाण लोहियक्खाण मसारगल्लाण हसगब्भाण पुलयाण सोगधियाण जोतीरसाण अकाण अजणाण रयणाण जायरूवाण अजणपुलयाण फलिहाण' यह पाठ समझना चाहिए।

[३ प्र] उस काल उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर के द्वितीय अन्तेवासी (शिष्य) अग्निभूति नामक अनगार (गणधर) जिनका गोत्र गौतम था, तथा जो सात हाथ ऊँचे (लम्बे) थे, यावत् (पूर्वोक्त विशेषणो से युक्त) (भगवान् की) पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले (पूछने लगे)—"भगवन् ! असुरो का इन्द्र असुरराज चमरेन्द्र कितनी बडी ऋद्धि वाला है ? कितनी बडी द्युति-कान्ति वाला है ? कितने महान् बल से सम्पन्न है ? कितना महान् यशस्वी है ? कितने महान् सुखो से सम्पन्न है ? कितने महान् प्रभाव वाला है ? और वह कितनी विकुर्वणा करने मे समर्थ है ?"

[३ उ] गौतम ! असुरो का इन्द्र असुरराज चमर महान् ऋद्धि वाला है यावत् महाप्रभावशाली है। वह वहाँ चौतीस लाख भवनावासो पर, चौसठ हजार सामानिक देवो पर और तैतीस त्रायस्त्रिशक देवो पर आधिपत्य (सत्ताधीशत्व=स्वामित्व) करता हुआ यावत् विचरण करता है। (अर्थात्—) वह चमरेन्द्र इतनी बडी ऋद्धि वाला है, यावत् ऐसे महाप्रभाव वाला है, तथा उसकी विक्रिया करने की शक्ति इस प्रकार है—हे गौतम ! जैसे—कोई युवा पुरुष (अपने) हाथ से युवती स्त्री के हाथ को (दृढतापूर्वक) पकडता (पकड कर चलता) है, अथवा जैसे—गाडी के पहिये (चक्र) की धुरी (नाभि) आरो से अच्छी तरह जुडी हुई (आयुक्त=सलग्न) एव सुसम्बद्ध होती है, इसी प्रकार असुरेन्द्र असुरराज चमर, वैक्रिय-समुद्घात द्वारा समवहत होता है, समवहत होकर सख्यात योजन तक लम्बा दण्ड (बनाकर) निकालता है। तथा उसके द्वारा रत्नो के, यावत् रिष्ट रत्नो के स्थूल पुद्गलो को झाड (गिरा) देता है और सूक्ष्म पुद्गलो को ग्रहण करता है। फिर दूसरी बार वैक्रिय समुद्घात द्वारा समवहत होता है। (ऐसी प्रक्रिया से) हे गौतम ! वह असुरेन्द्र असुरराज चमर, बहुत-से (स्वशरीर प्रतिबद्ध) असुरकुमार देवो और (असुरकुमार-) देवियो द्वारा (इस तिर्यग्लोक मे) परिपूर्ण (केवलकल्प) जम्बूद्वीप नामक द्वीप को आकीर्ण (व्याप्त), व्यतिकीर्ण, उपस्तीर्ण, सस्तीर्ण, स्पृष्ट और गाढावगाढ करने मे समर्थ है (ठसाठस भर सकता है)। हे गौतम ! इसके उपरान्त वह असुरेन्द्र असुरराज चमर, अनेक असुरकुमार-देव-देवियो द्वारा इस तिर्यग्लोक मे भी असख्यात द्वीपो और समुद्रो तक के स्थल को आकीर्ण, व्यतिकीर्ण, उपस्तीर्ण, सस्तीर्ण, स्पृष्ट और गाढावगाढ कर सकता है। (अर्थात्—चमरेन्द्र अपनी वैक्रिय शक्ति से दूसरे रूप इतने अधिक विकुर्वित कर सकता है, जिनसे असख्य द्वीप-समुद्रो तक का स्थल भर जाता है।) हे गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर की (ही सिर्फ) ऐसी (पूर्वोक्त प्रकार की) शक्ति है, विषय है, विषयमात्र है, परन्तु चमरेन्द्र ने इस (शक्ति की) सम्प्राप्ति से कभी (इतने रूपो का) विकुर्वण किया नही, न ही करता है, और न ही करेगा।

४ जति ण भते ! चमरे असुरिंदे असुरराया एमहिड्ढीए जाव एवइय च ण पभू विकुव्वित्तए, चमरस्स ण भते ! असुरिंदस्स असुररण्णो सामाणिया देवा केमहिड्ढीया जाव केवतिय च ण पभू विकुव्वित्तए ?

गोयमा ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो सामाणिया देवा महिड्ढीया जाव महाणुभागा। ते ण तत्थ साण साण भवणाण, साण साणं सामाणियाण, साण साण अग्गमहिसीण, जाव[1] दिव्वाइ भोगभोगाइ भु जमाणा विहरति। एमहिड्ढीया जाव एवतिय च ण पभू विकुव्वित्तए—से जहानामए जुवति जुवाणे हत्थेणं हत्थे गेण्हेज्जा, चक्कस्स वा नाभी अरयाउत्ता सिया, एवामेव गोतमा ! चमरस्स

१ 'जाव' पद से यहाँ भी सू ३ की तरह 'अन्नेसि च बहूण दिव्वाइ' तक का पाठ समझना।

असुरिंदस्स असुररण्णो एगमेगे सामाणिए देवे वेउव्वियसमुग्घातेण समोहण्णइ, २ जाव दोच्च पि वेउव्वियसमुग्घाएण समोहण्णइ, २ पभू ण गोतमा ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो एगमेगे सामाणिए देवे केवलकप्प जबुद्दीव दीव बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं देवीहि य आइण्ण वितिकिण्णं उवत्थड सथड फुड अवगाढावगाढ करेत्तए। अदुत्तर च ण गोतमा ! पभू चमरस्स असुरिंदस्स असुर-रण्णो एगमेगे सामाणियदेवे तिरियमसखेज्जे दीव-समुद्दे बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं देवीहि य आइण्णे वितिकिण्णे उवत्थडे सथडे फुडे अवगाढावगाढे करेत्तए। एस ण गोतमा ! चमरस्स असुरिंदस्स असुर-रण्णो एगमेगस्स सामाणियदेवस्स अयमेतारूवे विसए विसयमेत्ते वुइए, णो चेव ण सपत्तीए विकुव्विसु वा विकुव्वति वा विकुव्विस्सति वा।

[४ प्र] भगवन् ! असुरेन्द्र असुरराज चमर जब (इतनी) ऐसी बडी ऋद्धि वाला है, यावत् इतनी विकुर्वणा करने मे समर्थ है, तब, हे भगवन् ! उस असुरराज असुरेन्द्र चमर के सामानिक देवो की कितनी बडी ऋद्धि है, यावत् वे कितना विकुर्वण करने मे समर्थ है ?

[४ उ] हे गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर के सामानिक देव, महती ऋद्धि वाले है, यावत् महाप्रभावशाली हैं। वे वहाँ अपने-अपने भवनो पर, अपने-अपने सामानिक देवो पर तथा अपनी-अपनी अग्रमहिषियो (पटरानियो) पर आधिपत्य (सत्ताधीशत्व-स्वामित्व) करते हुए, यावत् दिव्य (देवलोक सम्बन्धी) भोगो का उपभोग करते हुए विचरते है। ये इस प्रकार की बडी ऋद्धि वाले हैं, यावत् इतना विकुर्वण करने मे समर्थ है—

'हे गौतम ! विकुर्वण करने के लिए असुरेन्द्र असुरराज चमर का एक-एक सामानिक देव, वैक्रिय समुद्घात द्वारा समवहत होता है और यावत् दूसरी बार भी वैक्रिय समुद्घात द्वारा समवहत होता है। जैसे कोई युवा पुरुष अपने हाथ से युवती स्त्री के हाथ को (कसकर) पकडता (हुआ चलता) है, तो वे दोनो दृढता से सलग्न मालूम होते है, अथवा जैसे गाडी के पहिये की धुरी (नाभि) आरो से सुसम्बद्ध (आयुक्त=सलग्न) होती है, इसी प्रकार असुरेन्द्र असुरराज चमर का प्रत्येक सामानिक देव इस सम्पूर्ण (या पूर्ण शक्तिमान्) जम्बूद्वीप नामक द्वीप को बहुत-से असुरकुमार देवो और देवियो द्वारा आकीर्ण, व्यतिकीर्ण, उपस्तीर्ण, सस्तीर्ण, स्पृष्ट और गाढावगाढ कर सकता है। इसके उपरान्त हे गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर का एक-एक सामानिक देव, इस तिर्यग्लोक के असख्य द्वीपो और समुद्रो तक के स्थल को बहुत-से असुरकुमार देवो और देवियो से आकीर्ण, व्यतिकीर्ण, उपस्तीर्ण, सस्तीर्ण, स्पृष्ट और गाढावगाढ कर सकता है। (अर्थात्—वह इतने रूपो की विकुर्वणा करने मे समर्थ है कि असख्य द्वीप-समुद्रो तक का स्थल उन विकुर्वित देव-देवियो से ठसाठस भर जाए।) हे गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर के प्रत्येक सामानिक देव मे (पूर्वोक्त कथनानुसार) विकुर्वण करने की शक्ति है, वह विषयरूप है, विषयमात्र—शक्तिमात्र है, परन्तु (उक्त शक्ति का) प्रयोग करके उसने न तो कभी विकुर्वण किया है, न ही करता है और न ही करेगा।

५ [१] जइ ण भते ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो सामाणिया देवा एमहिड्ढीया जाव एवतिय च ण पभू विकुव्वित्तए चमरस्स णं भते ! असुरिंदस्स असुररण्णो तायत्तीसिया देवा केमहिड्ढीया ?

तायत्तीसिया देवा जहा सामाणिया तहा नेयव्वा।

[५-१ प्र] भगवन् ! असुरेन्द्र असुरराज चमर के सामानिक देव यदि इस प्रकार की महती ऋद्धि से सम्पन्न है, यावत् इतना विकुर्वण करने मे समर्थ है, तो हे भगवन् ! उस असुरेन्द्र असुरराज चमर के त्रायस्त्रिंशक देव कितनी बडी ऋद्धि वाले है ? (यावत् वे कितना विकुर्वण करने मे समर्थ है ?)

[५-१ उ] (हे गौतम !) जैसा सामानिक देवो (की ऋद्धि एव विकुर्वणा शक्ति) के विषय मे कहा था, वैसा ही त्रायस्त्रिंशक देवो के विषय मे कहना चाहिए ।

[२] **लोयपाला तहेव । नवरं सखेज्जा दीव-समुद्दा भाणियव्वा ।**

[५-२] लोकपालो के विषय मे भी इसी तरह कहना चाहिए । किन्तु इतना विशेष कहना चाहिए कि लोकपाल (अपने द्वारा वैक्रिय किये हुए असुरकुमार देव-देवियो के रूपो से) सख्येय द्वीप समुद्रो को व्याप्त कर सकते है । (किन्तु यह सिर्फ उनकी विकुर्वणाशक्ति का विषय है, विषयमात्र है । उन्होने कदापि इस विकुर्वणाशक्ति का प्रयोग न तो किया है, न करते हैं और न ही करेंगे ।)

६ जति ण भते ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो लोगपाला देवा एमहिड्ढीया जाव एवतिय च ण पभू विकुव्वित्तए, चमरस्स ण भते ! असुरिंदस्स असुररण्णो अग्गमहिसीओ देवीओ केमहिड्ढीयाओ जाव[1] केवतिय च ण पभू विकुव्वित्तए ?

गोयमा ! चमरस्स ण असुरिंदस्स असुररण्णो अग्गमहिसीओ देवीओ महिड्ढीयाओ जाव महाणुभागाओ । ताओ ण तत्थ साण साणं भवणाण, साण साण सामाणियसाहस्सीण, साणं साण महत्तरियाण, साणं साण परिसाण जाव एमहिड्ढीयाओ, अन्न जहा लोगपालाण (सु ५ [२]) अपरिसेस ।

[६ प्र] भगवन् ! जब असुरेन्द्र असुरराज चमर के लोकपाल ऐसी महाऋद्धि वाले है, यावत् वे इतना विकुर्वण करने मे समर्थ है, तब असुरेन्द्र असुरराज चमर की अग्रमहिषियाँ (पटरानी देवियाँ) कितनी बडी ऋद्धि वाली है, यावत् वे कितना विकुर्वण करने मे समर्थ है ?

[६ उ] गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर की अग्रमहिषी-देवियाँ महाऋद्धिसम्पन्न है, यावत् महाप्रभावशालिनी है । वे अपने-अपने भवनो पर, अपने-अपने एक हजार सामानिक देवो (देवीगण) पर, अपनी-अपनी (सखी) महत्तरिका देवियो पर और अपनी-अपनी परिषदाओ पर आधिपत्य (स्वामित्व) करती हुई विचरती है, यावत् वे अग्रमहिषियाँ ऐसी महाऋद्धिवाली है । इस सम्बन्ध मे शेष सब वर्णन लोकपालो के समान कहना चाहिए ।

७ सेव भते ! २ त्ति भगव दोच्चे गोतमे समण भगव महावीर वदइ नमसइ, २ जेणेव तच्चे गोयमे वायुभूती अणगारे तेणेव उवागच्छति, २ तच्च गोयम वायुभूति अणगार एव वदासि—एव खलु गोतमा ! चमरे असुरिंदे असुरराया एमहिड्ढीए त चेव एव सव्व अपुट्ठवागरण नेयव्व अपरिसेसिय जाव अग्गमहिसीण वत्तव्वया समत्ता ।

---

१ यहाँ 'जाव' पद से 'केमहज्जुतीयाओ' इत्यादि पाठ स्त्रीलिंग पद सहित समझना ।

[७] 'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है' (यो कहकर) द्वितीय गौतम (गोत्रीय) अग्निभूति अनगार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार करते है, वन्दन-नमस्कार करके जहाँ तृतीय गौतम (-गोत्रीय) वायुभूति अनगार थे, वहाँ आए। उनके निकट पहुँचकर वे, तृतीय गौतम वायुभूति अनगार से यो बोले—हे गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर ऐसी महाऋद्धि वाला है, इत्यादि समग्र वर्णन (चमरेन्द्र, उसके सामानिक, त्रायस्त्रिशक लोकपाल, और अग्रमहिषी देवियो तक का सारा वर्णन) अपृष्ट व्याकरण (प्रश्न पूछे विना ही उत्तर) के रूप मे यहाँ कहना चाहिए।

८ तए ण से तच्चे गोयमे वायुभूती अणगारे दोच्चस्स गोतमस्स अग्गिभूतिस्स अणगारस्स एवमाइक्खमाणस्स भा० प० परू० एतमट्ठ नो सद्दहति, नो पत्तियति, नो रोयति, एयमट्ठ असद्दहमाणे अपत्तियमाणे अरोएमाणे उट्ठाए उट्ठेति, २ जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छइ जाव पज्जुवासमाणे एव वयासी—एव खलु भते ! मम दोच्चे गोतमे अग्गिभूती अणगारे एवमाइक्खति भासइ पण्णवेइ परूवेइ—एव खलु गोतमा ! चमरे असुरिंदे असुरराया महिड्ढीए जाव महाणुभावे से ण तत्थ चोत्तीसाए भवणावाससयसहस्साणं एव त चेव सव्व अपरिसेस भाणियव्व जाव (सु. ३—६) अग्गमहिसीण वत्तव्वता समत्ता। से कहमेतं भते ! एव ?

'गोतमा' दि समणे भगव महावीरे तच्च गोतम वायुभूति अणगार एव वदासि—ज णं गोतमा ! तव दोच्चे गोयमे अग्गिभूती अणगारे एवमाइक्खइ ४—"एव खलु गोयमा ! चमरे ३ महिड्ढीए एव त चेव सव्व जाव अग्गमहिसीण वत्तव्वया समत्ता", सच्चे ण एस मट्ठे, अह पि ण गोयमा ! एवमाइक्खामि भा० प० परू०। एव खलु गोयमा ! चमरे ३ जाव महिड्ढीए सो चेव बितिओ गमो भाणियव्वो जाव अग्गमहिसीओ, सच्चे ण एस मट्ठे।

[८ प्र] तदनन्तर अग्निभूति अनगार द्वारा कथित, भाषित, प्रज्ञापित (निवेदित) और प्ररूपित उपर्युक्त बात (अर्थ) पर तृतीय गौतम वायुभूति अनगार को श्रद्धा नही हुई, प्रतीति न हुई, न ही उन्हे रुचिकर लगी। अत उक्त बात पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि न करते हुए वे तृतीय गौतम वायुभूति अनगार उत्थान—(शक्ति) द्वारा उठे और जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ (उनके पास) आए और यावत् उनकी पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—भगवन् ! द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार ने मुझ से इस प्रकार कहा, इस प्रकार भाषण किया, इस प्रकार बतलाया और प्ररूपित किया कि—'असुरेन्द्र असुरराज चमर ऐसी बडी ऋद्धिवाला है, यावत् ऐसा महान् प्रभावशाली है कि वह चौतीस लाख भवनावासो आदि पर आधिपत्य—स्वामित्व करता हुआ विचरता है।' (यहाँ उसकी अग्रमहिषियो तक का शेष सब वर्णन पूर्ववत् कहना चाहिए,), तो हे भगवन् ! यह बात कैसे है ?'

[८ उ] 'हे गौतम !' इस प्रकार सम्बोधन करके श्रमण भगवान् महावीर ने तृतीय गौतम वायुभूति अनगार से इस प्रकार कहा—'हे गौतम ! द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार ने तुम से जो इस प्रकार कहा, भाषित किया, वतलाया और प्ररूपित किया कि 'हे गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर ऐसी महा-

ऋद्धि वाला है, इत्यादि उसकी अग्रमहिषियो तक का समग्र वर्णन (यहाँ कहना चाहिए) । हे गौतम !) यह कथन सत्य है । हे गौतम ! मै भी इसी तरह कहता हूँ, भाषण करता हूँ, बतलाता हूँ और प्ररूपित करता हूँ कि असुरेन्द्र असुरराज चमर महाऋद्धिशाली है, इत्यादि उसकी अग्रमहिषियो तक का समग्र वर्णनरूप द्वितीय गम (आलापक) यहाँ कहना चाहिए । (इसलिए हे गौतम ! द्वितीय गौतम अग्निभूति द्वारा कथित) यह बात सत्य है ।'

९. सेव भते २ ० तच्चे गोयमे वायुभूती अणगारे समण भगव महावीर वदइ नमसइ, २ जेणेव दोच्चे गोयमे अग्गिभूती अणगारे तेणेव उवागच्छइ, २ दोच्च गोयम अग्गिभूति अणगार वदइ नमसति, २ एयमट्ठ सम्म विणएण भुज्जो २ खामेति ।

[९] 'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, (जैसा आप फरमाते है) भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कहकर तृतीय गौतम वायुभूति अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया, और फिर जहाँ द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार थे, वहाँ उनके निकट आए । वहाँ आकर द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार को वन्दन-नमस्कार किया और पूर्वोक्त बात के लिए (उनकी कही हुई बात नही मानी थी, इसके लिए) उनसे सम्यक् विनयपूर्वक बार-बार क्षमायाचना की ।

१० तए ण से दोच्चे गोयमे अग्गिभूई अण० तच्चेणं गो० वायुभूइणा अण० एयमट्ठ सम्म विणएण भुज्जो २ खामिए समाणे उट्ठाए उट्ठेइ, २ तच्चेण गो० वायुभूइणा अण० सद्धि जेणेव समणे भगव० महावीरे तेणेव उवागच्छइ, २ समण भगव०, वदइ० २ जाव पज्जुवासए ।

[१०] तदनन्तर द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार उस पूर्वोक्त बात के लिए तृतीय गौतम वायुभूति के साथ सम्यक् प्रकार से विनयपूर्वक क्षमायाचना कर लेने पर अपने उत्थान से उठे और तृतीय गौतम वायुभूति अनगार के साथ वहाँ आए, जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे । वहाँ उनके निकट आकर उन्हे (श्रमण भगवान् महावीर को) वन्दन-नमस्कार किया, यावत् उनकी पर्युपासना करने लगे ।

विवेचन—चमरेन्द्र और उसके अधीनस्थ देवो की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणाशक्ति—प्रस्तुत आठ सूत्रो (३ से १० तक) मे चमरेन्द्र और उसके अधीनस्थ सामानिक, त्रायस्त्रिशक, लोकपाल एव अग्रमहिषियो की ऋद्धि, द्युति, बल, यश, सौख्य, प्रभाव एव विकुर्वणाशक्ति के विषय मे अग्निभूति गौतम की शकाओ का समाधान अकित है, साथ ही वायुभूति गौतम की इस समाधान के प्रति अश्रद्धा, अप्रतीति एव अरुचि होने पर श्रमण भगवान् महावीर द्वारा पुन समाधान और वायुभूति द्वारा क्षमायाचना का निरूपण है ।

'गौतम'-सम्बोधन—यहाँ 'इन्द्रभूति गौतम' की तरह अग्निभूति और वायुभूतिगणधर को भी भगवान् महावीर ने 'गौतम' शब्द से सम्बोधित किया है, उसका कारण यह है कि भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर अन्तेवासी (पट्टशिष्य) थे, उनमे से प्रथम इन्द्रभूति, द्वितीय अग्निभूति और तृतीय वायुभूति थे । ये तीनो ही अनगार सहोदर भ्राता थे । ये गुब्बर (गोबर) ग्राम मे गौतम गोत्रीय विप्र श्रीवसुभूति और पृथिवीदेवी के पुत्र थे । तीनो ने भगवान् का शिष्यत्व स्वीकार लिया था । तीनो के गौतमगोत्रीय होने के कारण ही इन्हे 'गौतम' शब्द से सम्बोधित किया है, किन्तु

उनका पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व दिखलाने के लिए 'द्वितीय' और 'तृतीय' विशेपण उनके नाम से पूर्व लगा दिया गया है ।[1]

दो दृष्टान्तो द्वारा स्पष्टीकरण—चमरेन्द्र वैक्रियकृत वहुत-से असुरकुमार देव-देवियो मे इस सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को किस प्रकार ठसाठस भर देता है ? इसे स्पष्ट करने के लिए यहाँ दो दृष्टान्त दिये गये हैं—(१) युवक और युवती का परस्पर सलग्न होकर गमन, (२) गाडी के चक्र की नाभि (धुरी) का आरो से युक्त होना । वृत्तिकार ने इनकी व्याख्या यो की है—(१) जैसे कोई युवापुरुष काम के वशवर्ती होकर युवती स्त्री का हाथ दृढता से पकडता है, (२) जैसे गाडी के पहिये की धुरी चारो ओर आरो से युक्त हो, अथवा 'जिस धुरी मे आरे दृढतापूर्वक जुडे हुए हो । वृद्ध आचार्यो ने इस प्रकार व्याख्या की है—जैसे—यात्रा (मेले) आदि मे जहाँ वहुत भीड होती है, वहाँ युवती स्त्री युवापुरुष के हाथ को दृढता से पकडकर उसके साथ सलग्न होकर चलती है । जैसे वह स्त्री उस पुरुष से सलग्न होकर चलती हुई भी उस पुरुष से पृथक् दिखाई देती है, वैसे ही वैक्रिय-कृत अनेकरूप वैक्रियकर्त्ता मूलपुरुष के साथ सलग्न होते हुए भी उससे पृथक् दिखाई देते है । अथवा अनेक आरो से प्रतिबद्ध पहिये की धुरी सघन (पोलाररहित) और छिद्ररहित दिखाई देती है, इसी तरह से वह असुरेन्द्र असुरराज चमर अपने शरीर के साथ प्रतिवद्ध (सलग्न) वैक्रियकृत अनेक असुरकुमार देव-देवियो से पृथक् दिखाई देता हुआ इस सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को ठसाठस भर देता है । इसी प्रकार अन्य देवो की विकुर्वणाशक्ति के विषय मे समझ लेना चाहिए ।[2]

विक्रिया-विकुर्वणा—यह जैन पारिभाषिक शब्द है । नारक, देव, वायु, विक्रियालब्धि-सम्पन्न कतिपय मनुष्य और पचेन्द्रिय तिर्यञ्च अपने शरीर को लम्बा, छोटा, पतला, मोटा, ऊँचा, नीचा, सुन्दर और विकृत अथवा एकरूप से अनेकरूप धारण करने हेतु जो क्रिया करते हैं, उसे 'विक्रिया' या 'विकुर्वणा' कहते हैं । उससे तैयार होने वाले शरीर को '**वैक्रिय शरीर**' कहते है । वैक्रिय-समुद्घात द्वारा यह विक्रिया होती है ।[3]

वैक्रियसमुद्घात मे रत्नादि औदारिक पुद्गलों का ग्रहण क्यो ? इसका समाधान यह है कि वैक्रिय-समुद्घात मे ग्रहण किये जाने वाले रत्न आदि पुद्गल औदारिक नही होते, वे रत्न-सदृश सारयुक्त होते है, इस कारण यहाँ रत्न आदि का ग्रहण किया गया है । कुछ आचार्यो के मतानुसार रत्नादि औदारिक पुद्गल भी वैक्रिय-समुद्घात द्वारा ग्रहण करते समय वैक्रिय पुद्गल बन जाते है ।[4]

आइण्णे वितिकिण्णे आदि शब्दो के अर्थ—मूलपाठ मे प्रयुक्त 'आइण्णे' आदि ६ शब्द प्राय एकार्थक है, और अत्यन्तरूप से व्याप्त कर (भर) देता है, इस अर्थ को सूचित करने के लिए है, फिर भी इनके अर्थ मे थोडा-थोडा अन्तर इस प्रकार है—आइण्ण=आकीर्ण-व्याप्त, वितिकिण्ण=

---

१ (क) भगवतीसूत्र के थोकडे, द्वितीय भाग पृ १
(ख) भगवतीसूत्र (टीकानुवादसहित प वेचरदासजी), खण्ड २, पृ ३
(ग) समवायाग—११वाँ समवाय ।

२ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १५४

३ भगवतीसूत्र (टीकानुवादसहित प वेचरदासजी), खण्ड २, पृ १०

४ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १५४

विशेषरूप से व्याप्त, उवत्थड=उपस्तीर्ण=आसपास फैला हुआ, सथड=सस्तीर्ण—सम्यक् प्रकार से फैला हुआ, फुड =स्पृष्ट—एक दूसरे से सटा हुआ, अवगाढावगाढ=अत्यन्त ठोस—दृढतापूर्वक जकडे हुए।[1]

चमरेन्द्र आदि की विकुर्वणाशक्ति प्रयोग रहित—यहाँ चमरेन्द्र आदि की जो विकुर्वणाशक्ति बताई गई है, वह केवल शक्तिमात्र है, क्रियारहित विषयमात्र है। चमरेन्द्र आदि सम्प्राप्ति (क्रियारूप) से इतने रूपो की विकुर्वणा किसी काल मे नही करते।[2]

देवनिकाय मे दस कोटि के देव—इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिश, पारिषद्य, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक, ये दस भेद प्रत्येक देवनिकाय मे होते है, किन्तु व्यन्तर और ज्योतिष्क देवो मे त्रायस्त्रिश और लोकपाल नही होते। दसो मे से यहाँ पाँच का उल्लेख है, उनके अर्थ इस प्रकार है—इन्द्र=अन्य देवो से असाधारण अणिमादिगुणो से सुशोभित, तथा सामानिक आदि सभी प्रकार के देवो का स्वामी। सामानिक—आज्ञा और ऐश्वर्य (इन्द्रत्व) के सिवाय आयु, वीर्य, परिवार, भोग-उपभोग आदि मे इन्द्र के समान ऋद्धि वाले। त्रायस्त्रिश—जो देव मत्री और पुरोहित का काम करते है, ये सख्या मे ३३ ही होते है। लोकपाल=आरक्षक के समान अर्थचर, लोक (जनता) का पालन-रक्षण करने वाले। आत्मरक्ष=जो अगरक्षक के समान है।[3]

अग्रमहिषियाँ—चमरेन्द्र की अग्रमहिषी (पटरानी) देविया पाच है—काली, रात्रि, रत्नी, विद्युत् और मेघा।[4] महत्तरिया=महत्तरिका—मित्ररूपा देवी।

वैरोचनेन्द्र बलि और उसके अधीनस्थ देववर्ग की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणाशक्ति—

११ तए ण से तच्चे गो० वायुभूती अण० समण भगव० वदइ नमसइ, २ एव वदासी[5]—जति ण भते! चमरे असुरिंदे असुरराया एमहिड्ढीए जाव (सु ३) एवतिय च ण पभू विकुव्वित्तए, बली ण भते! वइरोयणिंदे वइरोयणराया केमहिड्ढीए जाव (सु ३) केवइय च ण पभू विकुव्वित्तए?

गोयमा! बली ण वइरोयणिंदे वइरोयणराया महिड्ढीए जाव (सु ३) महाणुभागे। से ण तत्थ तीसाए भवणावाससयसहस्साण, सट्ठीए सामाणियसाहस्सीण सेस जहा चमरस्स,[6] नवर चउण्ह सट्ठीण आयरक्खदेवसाहस्सीण अन्नेसि च जाव भुजमाणे विहरति। से जहानामए एव जहा चमरस्स; णवर सातिरेग केवलकप्प जबुद्दीवे दीव ति भाणियव्व।[7] सेस तहेव जाव विउव्विस्सति वा (सु ३)।

---

१ (क) भगवतीसूत्र विवेचन (प घेवरचन्दजी), भा २, पृ ५३५ (ख) भगवती अ वृ, पत्र १५५
२ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १५५
३ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १५४ (ख) तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि टीका, पृ १७५
४ ज्ञाताधर्मकथाग, प्रथम वर्ग, १ से ५ अध्ययन।
५ पाठान्तर—"तते ण से तच्चे गोतमे वायुभूती अणगारे दोच्चेण गोयमेण अग्गिभूतिणा अणगारेण सद्धि जेणेव समणे भगव महावीरे जाव पज्जुवासमाणे एव वयासी"—
६ पाठान्तर—"स्स तहा बलिस्स वि नेयव्व, नवर सातिरेग केवल"।
७ पाठान्तर—"सेस त चेव णिरवसेस णेयव्व, णवर णाणत्त जाणियव्व भवणेहिं सामाणिएहिं, सेव भते २ त्ति तच्चे गोयमे वायुभूति जाव विहरति।"

[११ प्र] इसके पश्चात् तीसरे गौतम (-गोत्रीय) वायुभूति अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार किया, और फिर यो बोले—'भगवन् ! यदि असुरेन्द्र असुरराज चमर इतनी बडी ऋद्धि वाला है, यावत् इतनी विकुर्वणाशक्ति से सम्पन्न है, तब हे भगवन् ! वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि कितनी बडी ऋद्धि वाला है ? यावत् वह कितनी विकुर्वणा करने मे समर्थ है ?'

(११ उ] गौतम ! वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि महाऋद्धिसम्पन्न है, यावत् महानुभाग (महाप्रभावशाली) है। वह वहाँ तीस लाख भवनावासो का तथा साठ हजार सामानिक देवो का अधिपति है। जैसे चमरेन्द्र के सम्बन्ध मे वर्णन किया गया है, वैसे बलि के विषय मे भी शेष वर्णन जान लेना चाहिए। अन्तर इतना ही है कि बलि वैरोचनेन्द्र दो लाख चालीस हजार आत्मरक्ष देवो का तथा अन्य बहुत-से (उत्तरदिशावासी असुरकुमार देव-देवियो का) आधिपत्य यावत् उपभोग करता हुआ विचरता है। चमरेन्द्र की विकुर्वणाशक्ति की तरह बलीन्द्र के विषय मे भी युवक युवती का हाथ दृढता से पकड कर चलता है, तब वे जैसे सलग्न होते है, अथवा जैसे गाडी के पहिये की धुरी मे आरे सलग्न होते है, ये दोनो दृष्टान्त जानने चाहिए। विशेषता यह है कि बलि अपनी विकुर्वणा-शक्ति से सातिरेक सम्पूर्ण जम्बूद्वीप (जम्बूद्वीप से कुछ अधिक स्थल) को भर देता है। शेष सारा वर्णन यावत् 'विकुर्वणा करेगे भी नही', यहाँ तक पूर्ववत् (उसी तरह) समझ लेना चाहिए।

[१]१२ जइ ण भते ! बली वइरोयणिंदे वैरोयणराया एमहिड्ढीए जाव (सु ३) एवइय च ण पभू विउव्वित्तए बलिस्स ण वइरोयणस्स सामाणियदेवा केमहिड्ढीया ?

एव सामाणियदेवा तावत्तीसा लोकपालऽग्गमहिसीओ य जहा चमरस्स (सु ४-६), नवर साइरेग जबुद्दीव जाव एगमेगाए अग्गमहिसीए देवीए, इमे वुइए विसए जाव विउव्विस्सति वा। सेव भते ! २ तच्चे गो० वायुभूती अण० समण भगव महा० वदइ ण०, २ नऽच्चासन्ने जाव पज्जुवासइ।

[१२ प्र] भगवन् ! यदि वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि इतनी महाऋद्धि वाला है, यावत् उसकी इतनी विकुर्वणाशक्ति है तो उस वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि के सामानिक देव कितनी बडी ऋद्धि वाले हैं, यावत् उनकी विकुर्वणाशक्ति कितनी है ?

[१२ उ] (गौतम !) बलि के सामानिक देव, त्रायस्त्रिंशक एव लोकपाल तथा अग्रमहिषियो की ऋद्धि एव विकुर्वणाशक्ति का वर्णन चमरेन्द्र के सामानिक देवो की तरह समझना चाहिए। विशेषता यह है कि इनकी विकुर्वणाशक्ति सातिरेक जम्बूद्वीप के स्थल तक को भर देने की है, यावत् प्रत्येक अग्रमहिषी की इतनी विकुर्वणाशक्ति विषयमात्र कही है, यावत् वे विकुर्वणा करेगी भी नही, यहाँ तक पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

'हे भगवन् ! जैसा आप कहते है, वह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह उसी प्रकार है,' यो कह कर तृतीय गौतम वायुभूति अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार किया और फिर न अतिदूर, और न अतिनिकट रहकर वे यावत् पर्युपासना करने लगे।

विवेचन—वैरोचनेन्द्र बलि और उसके अधीनस्थ देववर्ग की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणा-

---

१ यह सूत्र (सू १२) अन्य प्रतियो मे नही मिलता।

शक्ति—प्रस्तुत दो सूत्रो (११-१२ सू.) मे वैरोचनेन्द्र बलि तथा उसके अधीनस्थ देववर्ग सामानिक, त्रायस्त्रिश, लोकपाल एव अग्रमहिषियो की ऋद्धि एव विकुर्वणाशक्ति के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर का निरूपण किया गया है। ये प्रश्न वायुभूति अनगार के है और उत्तर श्रमण भगवान् महावीर ने दिये है।

'वैरोचनेन्द्र का परिचय—दाक्षिणात्य असुरकुमारो की अपेक्षा जिनका रोचन (दीपन-कान्ति) अधिक (विशिष्ट) है, वे देव वैरोचन कहलाते है। वैरोचनो का इन्द्र वैरोचनेन्द्र है। ये उत्तरदिशावर्ती (औदीच्य) असुरकुमारो के इन्द्र है। इन देवो के निवास, उपपातपर्वत, इनके इन्द्र, तथा अधीनस्थ देववर्ग, वैरोचनेन्द्र की पाच अग्रमहिषियो आदि का सब वर्णन स्थानागसूत्र के दशम स्थान मे है। बलि वैरोचनेन्द्र की पाच अग्रमहिषियाँ है—शुम्भा, निशुम्भा, रभा, निरभा और मदना। इन का सब वर्णन प्राय चमरेन्द्र की तरह है। इसकी विकुर्वणा शक्ति सातिरेक जम्बूद्वीप तक की है, क्योकि औदीच्य इन्द्र होने से चमरेन्द्र की अपेक्षा वैरोचनेन्द्र बलि की लब्धि विशिष्टतर होती है।[1]

नागकुमारेन्द्र धरण और उसके अधीनस्थ देववर्ग की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणाशक्ति—

१३ तए ण से दोच्चे गो० अग्गिभूती अण० समण भगव वदइ०, २ एव वदासि—जति ण भते ! बली वइरोयणिंदे वइरोयणराया एमहिड्ढीए जाव एवइय च ण पभू विकुव्वित्तए धरणे ण भते ! नागकुमारिंदे नागकुमारराया केमहिड्ढीए जाव केवतियं च ण पभू विकुव्वित्तए ?

गोयमा ! धरणे णं नागकुमारिंदे नागकुमारराया एमहिड्ढीए जाव से ण तत्थ चोयालीसाए भवणावाससयसहस्साण, छण्ह सामाणियसाहस्सीण, तायत्तीसाए तायत्तीसगाण, चउण्ह लोगपालाण, छण्ह अग्गमहिसीण सपरिवाराण, तिण्ह परिसाण, सत्तण्ह अणियाणं, सत्तण्ह अणियाहिवतीण, चउवीसाए आयरक्खदेवसाहस्सीण, अन्नेसिं च जाव विहरइ। एवतियं च णं पभू विउव्वित्तए—से जहानामए जुवति जुवाणे जाव (सु ३) पभू केवलकप्प जबुद्दीव दीवं जाव तिरियमसखेज्जे दीव-समुद्दे बहूहिं नागकुमारेहि नागकुमारीहिं जाव विउव्विस्सति वा। सामाणिय-तायत्तीस-लोगपालऽग्गम-हिसीओ य तहेव जहा चमरस्स (सु ४-६)। नवर सखिज्जे दीव-समुद्दे भाणियव्व।

[१३ प्र] तत्पश्चात् द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—'भगवन् ! यदि वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि इस प्रकार की महाऋद्धि वाला है यावत् इतनी विकुर्वणा करने मे समर्थ है, तो भगवन् ! नागकुमारेन्द्र नागकुमारराज धरण कितनी बडी ऋद्धि वाला है ? यावत् कितनी विकुर्वणा करने मे समर्थ है ?'

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १५७
(ख) स्थानाग, स्था १०
(ग) ज्ञातासूत्र, वर्ग २, अ १ से ५ तक
(घ) 'विशिष्ट रोचन—दीपन (कान्ति) येषामस्ति ते वैराचना औदीच्या असुरा, तेषु मध्ये इन्द्र परमेश्वरो वैरोचनेन्द्र।' —भगवती, अ वृत्ति १५७ प, स्था वृत्ति

[१३ उ] गौतम ! वह नागकुमारेन्द्र नागकुमारराज धरणेन्द्र महाऋद्धि वाला है, यावत् वह चवालीस लाख भवनावासो पर, छह हजार सामानिक देवो पर, तेतीस त्रायस्त्रिशक देवो पर, चार लोकपालो पर, परिवार सहित छह अग्रमहिषियो पर, तीन सभाओ (परिषदो) पर, सात सेनाओ पर, सात सेनाधिपतियो पर, और चौबीस हजार आत्मरक्षक देवो पर तथा अन्य अनेक दाक्षिणात्य कुमार देवो और देवियो पर आधिपत्य, नेतृत्व, स्वामित्व यावत् करता हुआ रहता है। उसकी विकुर्वणाशक्ति इतनी है कि जैसे युवापुरुष युवती स्त्री के करग्रहण के अथवा गाडी के पहिये की धुरी मे सलग्न आरो के दृष्टान्त से (जैसे वे दोनो सलग्न दिखाई देते है, उसी तरह से) यावत् वह अपने द्वारा वैक्रियकृत बहुत-से नागकुमार देवो और नागकुमारदेवियो से सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को भरने मे समर्थ है और तिर्यग्लोक के सख्येय द्वीप-समुद्रो जितने स्थल को भरने की शक्ति वाला है। परन्तु यावत् (जम्बूद्वीप को या सख्यात द्वीप-समुद्रो जितने स्थल को उक्त रूपो से भरने की उनकी शक्ति-मात्र है, क्रियारहित विषय है) किन्तु ऐसा उसने कभी किया नही, करता नही और भविष्य मे करेगा भी नही। धरणेन्द्र के सामानिक देव, त्रायस्त्रिशक देव, लोकपाल और अग्रमहिषियो की ऋद्धि आदि तथा वैक्रिय शक्ति का वर्णन चमरेन्द्र के वर्णन की तरह कह लेना चाहिए। विशेषता इतनी ही है कि इन सबकी विकुर्वणाशक्ति सख्यात द्वीप-समुद्रो तक के स्थल को भरने की समझनी चाहिए।

विवेचन—नागकुमारेन्द्र धरण और उसके अधीनस्थ देववर्ग की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणा-शक्ति—प्रस्तुत सूत्र मे नागकुमारेन्द्र धरण और उनके अधीनस्थ देववर्ग सामानिक, त्रायस्त्रिश, लोक-पाल और अग्रमहिषियो की ऋद्धि आदि का तथा विकुर्वणाशक्ति का वर्णन किया गया है।

नागकुमारो के इन्द्र—धरणेन्द्र का परिचय—दाक्षिणात्य नागकुमारो के ये इन्द्र है। इनके निवास, लोकपालो का उपपात पर्वत, पाँच युद्ध सैन्य, पाच सेनापति एव छह अग्रमहिषियो का वर्णन स्थानाग एव प्रज्ञापना सूत्र मे है। नागकुमारेन्द्र धरण की छह अग्रमहिषियो के नाम इस प्रकार हैं—अल्ला, शक्रा, सतेरा, सौदामिनी, इन्द्रा और घनविद्युता।[1]

शेष भवनपति, वाणव्यन्तर एवं ज्योतिष्क देवो के इन्द्रो और उनके अधीनस्थ देववर्ग की ऋद्धि, विकुर्वणाशक्ति आदि का निरूपण—

१४ एव जाव थणियकुमारा, वाणमतर-जोतिसिया वि। नवरं दाहिणिल्ले सव्वे अग्गीभूती पुच्छति, उत्तरिल्ले सव्वे वाउभूती पुच्छइ।

[१४] इसी तरह यावत् 'स्तनितकुमारो तक सभी भवनपतिदेवो (के इन्द्र और उनके अधीनस्थ देववर्ग की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणा-शक्ति) के सम्बन्ध मे कहना चाहिए।

इसी तरह समस्त वाणव्यन्तर और ज्योतिष्क देवो (के इन्द्र एव उनके अधीनस्थ देवो की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणाशक्ति) के विषय मे कहना चाहिए।

विशेष यह है कि दक्षिण दिशा के सभी इन्द्रो के विषय मे द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार पूछते है और उत्तरदिशा के सभी इन्द्रो के विषय मे तृतीय गौतम वायुभूति अनगार पूछते हैं।

---

१ (क) प्रज्ञापनासूत्र क आ, पृ १०५-१०६

(ख) स्थानाग क आ, पृ ५५०, ३५७, ४१८

विवेचन—शेष भवनपति, वाणव्यन्तर एव ज्योतिष्क देवो के इन्द्रो और उनके अधीनस्थ देववर्ग की ऋद्धि, विकुर्वणा-शक्ति आदि—प्रस्तुत सूत्र मे असुरकुमार एव नागकुमार को छोडकर स्तनितकुमार पर्यन्त शेष समस्त भवनपति, वाणव्यन्तर एव ज्योतिष्क देवो के इन्द्रो तथा उनके अधीनस्थ सामानिक, त्रायस्त्रिश एव लोकपाल तथा अग्रमहिषियो की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणा-शक्ति का निरूपण पूर्ववत् बताया है।

भवनपति देवो के बीस इन्द्र—भवनपतिदेवो के दो निकाय है—दक्षिण निकाय (दाक्षिणात्य) और उत्तरी निकाय (औदीच्य)। वैसे भवनपतिदेवो के दस भेद है—असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्-कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, पवनकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार, दिशाकुमार और स्तनित कुमार। इसी जाति के इसी नाम के दस-दस प्रकार के भवनपति दोनो निकायो मे होने से बीस भेद हुए। इन बीस प्रकार के भवनपति देवो के इन्द्रो के नाम इस प्रकार है—चमर, धरण, वेणुदेव, हरिकान्त, अग्निशिख, पूर्ण, जलकान्त, अमित, विलम्ब (विलेव) और घोष (सुघोष)। ये दस दक्षिण निकाय के इन्द्र है। बलि, भूतानन्द, वेणुदालि (री), हरिस्सह, अग्निमाणव, (अ) वशिष्ट, जलप्रभ, अमितवाहन, प्रभजन और महाघोष, ये दस उत्तर-निकाय के इन्द्र है।

प्रस्तुत मे चमरेन्द्र, बलीन्द्र, एव धरणेन्द्र को छोड कर अधीनस्थ देववर्ग सहित शेष, १७ इन्द्रो की ऋद्धि-विकुर्वणाशक्ति इत्यादि का वर्णन जान लेना चाहिए।

भवन-सख्या—इनके भवनो की सख्या—'चउत्तीसा चउचत्ता' इत्यादि पहले कही हुई दो गाथाओ मे बतला दी गई है।

सामानिकदेव-सख्या—चमरेन्द्र के ६४ हजार और बलीन्द्र के ६० हजार सामानिक है, इस प्रकार असुरकुमारेन्द्रद्वय के सिवाय शेष सब इन्द्रो के प्रत्येक के ६-६ हजार सामानिक हैं।

आत्मरक्षक देव सख्या—जिसके जितने सामानिक देव होते है, उससे चौगुने आत्मरक्षक देव होते है।

अग्रमहिषियो की सख्या—चमरेन्द्र और बलीन्द्र के पांच-पांच अग्रमहिषियां है, आगे धरणेन्द्र आदि प्रत्येक इन्द्र के छह-छह अग्रमहिषियाँ है।

त्रायस्त्रिश और लोकपालो की सख्या नियत है।

व्यन्तरदेवो के सोलह इन्द्र—व्यन्तरदेवो के ८ प्रकार है—पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गन्धर्व। इनमे से प्रत्येक प्रकार के व्यन्तरदेवो के दो-दो इन्द्र होते है—एक दक्षिण दिशा का, दूसरा उत्तरदिशा का। उनके नाम इस प्रकार हैं—काल और महाकाल, सुरूप (अतिरूप) और प्रतिरूप, पूर्णभद्र और मणिभद्र, भीम और महाभीम, किन्नर और किम्पुरुष, सत्पुरुष और महापुरुष, अतिकाय और महाकाय, गीतरति और गीतयश।

व्यन्तर इन्द्रो का परिवार—वाणव्यन्तर देवो मे प्रत्येक इन्द्र के चार-चार हजार सामानिक देव और इनसे चार गुने अर्थात् प्रत्येक के १६-१६ हजार आत्मरक्षक देव होते है। इनमे त्रायस्त्रिश और लोकपाल नही होते। प्रत्येक इन्द्र के चार-चार अग्रमहिषिया होती हैं।

ज्योतिष्केन्द्र परिवार—ज्योतिष्क निकाय के ५ प्रकार के देव है—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा। इनमे सूर्य और चन्द्र दो मुख्य एव अनेक इन्द्र है। इनके भी प्रत्येक इन्द्र के चार-चार हजार

सामानिक देव, १६-१६ हजार आत्मरक्षक और चार-चार अग्रमहिषियां होती हैं। ज्योतिष्क देवेन्द्रों के त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते।

वैक्रियशक्ति—इनमें से दक्षिण के देव और सूर्यदेव अपने वैक्रियकृत रूपों से सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को ठसाठस भरने में समर्थ हैं, और उत्तरदिशा के देव और चन्द्रदेव अपने वैक्रियकृत रूपों से सम्पूर्ण जम्बूद्वीप से कुछ अधिक स्थल को भरने में समर्थ हैं।

दो गणधरों की पृच्छा—इन सब में दक्षिण के इन्द्रों और सूर्य के विषय में द्वितीय गणधर श्री अग्निभूति द्वारा पृच्छा की गई है, जबकि उत्तर के इन्द्रों और चन्द्र के विषय में तृतीय गणधर श्री वायुभूति द्वारा पृच्छा की गई है।[1]

शक्रेन्द्र, तिष्यक देव तथा शक्र के सामानिक देवों की ऋद्धि, विकुर्वणाशक्ति आदि का निरूपण—

१५ 'भंते!' त्ति भगवं दोच्चे गोयमे अग्गिभूती अणगारे समणं भगवं म० वंदति नमंसति, २ एवं वयासी—जति णं भंते! जोतिसिंदे जोतिसराया एमहिड्ढीए जाव एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए सक्के णं भंते! देविंदे देवराया केमहिड्ढीए जाव केवतियं च णं पभू विउव्वित्तए?

गोयमा! सक्के णं देविंदे देवराया महिड्ढीए जाव महाणुभागे। से णं तत्थ बत्तीसाए विमाणावाससयसहस्साणं चउरासीए सामाणियसाहस्सीणं जाव[2] चउण्हं चउरासीणं आयरक्खदेव-साहस्सीणं अन्नेसिं च जाव विहरइ। एमहिड्ढीए जाव एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए। एवं जहेव चमरस्स तहेव भाणियव्वं, नवरं दो केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे, अवसेसं तं चेव। एस णं गोयमा!

---

१ (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १५७-१५८ (ख) तत्त्वार्थसूत्र अ. ४, सू. ६ व ११ का भाष्य पृ. ९२
(ग) प्रज्ञापनासूत्र में अंकित गाथाएँ—

चमरे धरणे तह वेणुदेव-हरिकंत-अग्गिसीहे य।
पुण्णे जलकंते वि य अमिय-विलंबे य घोसे य ॥६॥
बलि-भूयाणंदे वेणुदालि-हरिस्सहे अग्गिमाणव-वसिट्ठे।
जलप्पभे अमियवाहणे पहंजणे महाघोसे ॥७॥
चउसट्ठी सट्ठी खलु छच्च सहस्साओ असुरवज्जाणं।
सामाणियाओ एए चउगुणा आयरक्खा उ ॥५॥
काले य महाकाले, सुरूव-पडिरूव-पुण्णभद्दे य।
अमरवइमाणिभद्दे भीमे य तहा महाभीमे ॥१॥
किण्णर-किंपुरिसे खलु सप्पुरिसे चेव तह महापुरिसे।
अइकाय-महाकाय, गीयरई चेव गीयजसे ॥२॥

—प्रज्ञापना, क. आ. पृ. १०८, ९१ तथा ११२

२ यहाँ जाव शब्द से "ताय त्तीसाए से अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं चउण्हं लोकपालाणं, तिण्हं परिसाणं, सत्तण्हं अणियाणं, सत्तण्हं अणियाहिवईणं" तक का पाठ जानना चाहिए।

सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो इमेयारूवे विसए विसयमेत्ते ण वुइए, नो चेव ण सपत्तीए विकुव्विसु वा विकुव्वति वा विकुव्विस्सति वा ।

[१५ प्र] 'भगवन् !' यो सबोधन करके द्वितीय गणधर भगवान् गौतमगोत्रीय अग्निभूति अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा (पूछा—) 'भगवन् ! यदि ज्योतिष्केन्द्र ज्योतिष्कराज ऐसी महाऋद्धि वाला है, यावत् इतनी विकुर्वणा करने मे समर्थ है, तो हे भगवन् ! देवेन्द्र देवराज शक्र कितनी महाऋद्धि वाला है और कितनी विकुर्वणा करने मे समर्थ है ?'

[१५ उ] गौतम ! देवेन्द्र देवराज शक्र महान् ऋद्धिवाला है यावत् महाप्रभावशाली है। वह वहाँ बत्तीस लाख विमानावासो पर तथा चौरासी हजार सामानिक देवो पर यावत् (त्रायस्त्रिशक देवो एव लोकपालो पर) तीन लाख छत्तीस हजार आत्मरक्षक देवो पर एव दूसरे बहुत-से देवो पर आधिपत्य—स्वामित्व करता हुआ विचरण करता है। (अर्थात्—) शक्रेन्द्र ऐसी बडी ऋद्धि वाला है, यावत् इतनी विक्रिया करने मे समर्थ है। उसकी वैक्रिय शक्ति के विषय मे चमरेन्द्र की तरह सब कथन करना चाहिये, विशेष यह है कि (वह अपने वैक्रियकृत रूपो से) दो सम्पूर्ण जम्बूद्वीप जितने स्थल को भरने मे समर्थ है, और शेष सब पूर्ववत् है। (अर्थात्—तिरछे असख्यात द्वीप-समुद्रो जितने स्थल को भरने मे समर्थ है।) हे गौतम ! देवेन्द्र देवराज शक्र की यह इस रूप की वैक्रियशक्ति तो केवल शक्तिरूप (क्रियारहित शक्ति) है। किन्तु सम्प्राप्ति (साक्षात् क्रिया) द्वारा उसने ऐसी विक्रिया की नही, करता नही और न भविष्य मे करेगा।

१६ जइ ण भते ! सक्के देविंदे देवराया एमहिड्ढीए जाव एवतिय च ण पभू विकुव्वित्तए एव खलु देवाणुप्पियाण अतेवासी तीसए णाम अणगारे पगतिभद्दए जाव विणीए छट्ठछट्ठेण अणिक्खित्तेण तवोकम्मेण अप्पाण भावेमाणे बहुपडिपुण्णाइ अट्ठ सवच्छराइ सामण्णपरियाग पाउणित्ता मासियाए सलेहणाए अत्ताण झूसेत्ता सट्ठि भत्ताइ अणसणाए छेदेत्ता आलोइय-पडिक्कते समाहिपत्ते कालमासे काल किच्चा सोहम्मे कप्पे सयसि विमाणसि उववायसभाए देवसयणिज्जसि देवदूसतरिए अगुलस्स असखेज्जइभागमेत्तीए ओगाहणाए सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सामाणियदेवत्ताए उववन्ने। तए ण तीसए देवे अहुणोववन्नमेत्ते समाणे पचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभाव गच्छइ, त जहा—आहार-पज्जत्तीए सरीर० इदिय० आणापाणुपज्जत्तीए भासा-मणपज्जत्तीए। तए ण त तीसय देव पचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभाव गय समाण सामाणियपरिसोववन्नया देवा करयलपरिग्गहिय दसनह सिरसावत्त मत्थए अजलि कट्टु जएण विजएण वद्धावेंति, २ एव वदासि—अहो ! ण देवाणुप्पिएहिं दिव्वा देविड्ढी, दिव्वा देवजुती, दिव्वे देवाणुभावे लद्धे पत्ते अभिसमन्नागते, जारिसिया ण देवाणुप्पिएहिं दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवज्जुती दिव्वे देवाणुभावे लद्धे पत्ते अभिसमन्नागते तारिसिया ण सक्केण देविंदेण देवरण्णा दिव्वा देविड्ढी जाव अभिसमन्नागता, जारिसिया णं सक्केण देविंदेण देवरण्णा दिव्वा देविड्ढी जाव अभिसमन्नागता तारिसिया ण देवाणुप्पिएहिं दिव्वा देविड्ढी जाव अभिसमन्ना-गता।

से ण भते ! तीसए देवे केमहिड्ढीए जाव केवतिय च णं पभू विकुव्वित्तए ?

गोयमा ! महिड्ढीए जाव महाणुभागे, से ण तत्थ सयस्स विमाणस्स, चउण्ह सामाणिय-साहस्सीण, चउण्ह अग्गमहिसीण सपरिवाराण, तिण्ह परिसाण, सत्तण्ह अणियाण, सत्तण्ह अणियाहिवतीण, सोलसण्ह आयरक्खदेवसाहस्सीण अन्नेसि च बहूण वेमाणियाण देवाण य देवीण य जाव विहरति । एमहिड्ढीए जाव एवइय च ण पभू विकुव्वित्तए—से जहाणामए जुवति जुवाणे हत्थेण हत्थे गेण्हेज्जा जहेव सक्कस्स तहेव जाव एस ण गोयमा ! तीसयस्स देवस्स अयमेयारूवे विसए विसयमेत्ते वुइए, नो चेव ण सपत्तीए विउव्विसु वा ३ ।

[१६ प्र] भगवन् ! यदि देवेन्द्र देवराज शक्र ऐसी महान् ऋद्धि वाला है, यावत् इतनी विकुर्वणा करने से समर्थ है, तो आप देवानुप्रिय का शिष्य 'तिष्यक' नामक अनगार, जो प्रकृति से भद्र, यावत् विनीत था निरन्तर छठ-छठ (बेले-बेले) की तपस्या से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ, पूरे आठ वर्ष तक श्रामण्यपर्याय (साधु-दीक्षा) का पालन करके, एक मास की सल्लेखना से अपनी आत्मा को सयुक्त (जुष्ट-सेवित) करके, तथा साठ भक्त (टक) अनशन का छेदन (पालन) कर, आलोचना और प्रतिक्रमण करके, मृत्यु (काल) के अवसर पर मृत्यु प्राप्त करके सौधर्मदेवलोक मे गया है । वह वहाँ अपने विमान मे, उपपातसभा मे, देव-शयनीय (देवो की शय्या) मे देवदूष्य (देवो के वस्त्र) से ढँके हुए अगुल के असख्यात भाग जितनी अवगाहना मे देवेन्द्र देवराज शक्र के सामानिक देव के रूप मे उत्पन्न हुआ है ।

फिर तत्काल उत्पन्न हुआ वह तिष्यक देव पाच प्रकार की पर्याप्तियो (अर्थात्—आहार पर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, आनापान-पर्याप्ति (श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति) और भाषा-मन पर्याप्ति से पर्याप्तिभाव को प्राप्त हुआ । तदनन्तर जब वह तिष्यकदेव पाच प्रकार की पर्याप्तियो से पर्याप्त हो चुका, तब सामानिक परिषद् के देवो ने दोनो हाथो को जोडकर एव दसो अगुलियो के दसो नखो को इकट्ठे करके मस्तक पर अजलि करके जय-विजय-शब्दो से बधाई दी । इसके बाद वे इस प्रकार बोले—अहो ! आप देवानुप्रिय ने यह दिव्य देव-ऋद्धि, दिव्य देव-द्युति (कान्ति) उपलब्ध की है, प्राप्त की है, और दिव्य देव-प्रभाव उपलब्ध किया है, सम्मुख किया है । जैसी दिव्य देव-ऋद्धि, दिव्य देव-कान्ति और दिव्य देवप्रभाव आप देवानुप्रिय ने उपलब्ध, प्राप्त और अभिमुख किया है, वैसी ही दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवकान्ति और दिव्य देवप्रभाव देवेन्द्र देवराज शक्र ने उपलब्ध, प्राप्त और अभिमुख किया है, जैसी दिव्य ऋद्धि दिव्य देवकान्ति और दिव्यप्रभाव देवेन्द्र देवराज शक्र ने लब्ध, प्राप्त एव अभिमुख किया है, वैसी ही दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवकान्ति और दिव्य देवप्रभाव आप देवानुप्रिय ने उपलब्ध, प्राप्त और अभिमुख किया है । (अत अग्निभूति अनगार भगवान् से पूछते है–) भगवन् ! वह तिष्यक देव कितनी महा ऋद्धि वाला है, यावत् कितनी विकुर्वणा करने मे समर्थ है ?

[१६ उ] गौतम ! वह तिष्यक देव महाऋद्धि वाला है, यावत् महाप्रभाव वाला है । वह वहाँ अपने विमान पर, चार हजार सामानिक देवो पर, सपरिवार चार अग्रमहिषियो पर, तीन परिषदो (सभाओ) पर, सात सैन्यो पर, सात सेनाधिपतियो पर एव सोलह हजार आत्मरक्षक देवो पर, तथा अन्य बहुत-से वैमानिक देवो और देवियो पर आधिपत्य, स्वामित्व एव नेतृत्व करता हुआ विचरण करता है । यह तिष्यकदेव ऐसी महाऋद्धि वाला है, यावत् इतनी विकुर्वणा करने मे समर्थ

है, जैसे कि कोई युवती (भय अथवा भीड के समय) युवा पुरुष का हाथ दृढता से पकड कर चलती है, अथवा गाडी के पहिये की धुरी आरो से गाढ सलग्न (आयुक्त) होती है, इन्ही दो दृष्टान्तो के अनुसार वह शक्रेन्द्र जितनी विकुर्वणा करने मे समर्थ है। हे गौतम! यह जो तिष्यकदेव की इस प्रकार की विकुर्वणाशक्ति कही है वह उसका सिर्फ विषय है, विषयमात्र (क्रियारहित वैक्रियशक्ति) है, किन्तु सम्प्राप्ति (क्रिया) द्वारा कभी उसने इतनी विकुर्वणा की नही, करता भी नही और भविष्य मे करेगा भी नही।

१७ जति ण भते! तीसए देवे एमहिड्ढीए जाव ऐवइय च ण पभू विकुव्वित्तए, सक्कस्स ण भते! देविंदस्स देवरण्णो अवसेसा सामाणिया देवा केमहिड्ढीया?

तहेव सव्व जाव एस ण गोयमा! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो एगमेगस्स सामाणियस्स देवस्स इमेयारूवे विसए विसयमेत्ते वुइए, नो चेव ण सपत्तीए विकुव्विसु वा विकुव्वति वा विकुव्विस्सति वा।

[१७ प्र] भगवन्! यदि तिष्यक देव इतनी महाऋद्धि वाला है यावत् इतनी विकुर्वणा करने की शक्ति रखता है, तो हे भगवन्! देवेन्द्र देवराज शक्र के दूसरे सब सामानिक देव कितनी महाऋद्धि वाले है यावत् उनकी विकुर्वणाशक्ति कितनी है?

[१७ उ] हे गौतम! (जिस प्रकार तिष्यकदेव की ऋद्धि एव विकुर्वणाशक्ति आदि के विषय मे कहा), उसी प्रकार शक्रेन्द्र के समस्त सामानिक देवो की ऋद्धि एव विकुर्वणा शक्ति आदि के विषय मे जानना चाहिए, किन्तु हे गौतम! यह विकुर्वणाशक्ति देवेन्द्र देवराज शक्र के प्रत्येक सामानिक देव का विषय है, विषयमात्र है, सम्प्राप्ति द्वारा उन्होने कभी इतनी विकुर्वणा की नही, करते नही, और भविष्य मे करेगे भी नही।

१८ तायत्तीसय लोगपाल-अग्गमहिसीण जहेव चमरस्स। नवर दो केवलकप्पे जबुद्दीवे दीवे, अन्न त चेव। सेव भते! सेव भते! त्ति दोच्चे गोयमे जाव विहरति।

[१८] शक्रेन्द्र के त्रायस्त्रिंशक, लोकपाल और अग्रमहिषियो (की ऋद्धि, विकुर्वणा शक्ति आदि) के विषय मे चमरेन्द्र (के त्रायस्त्रिंशक आदि की ऋद्धि आदि) की तरह कहना चाहिए। किन्तु इतना विशेष है कि वे अपने वैक्रियकृत रूपो से दो सम्पूर्ण जम्बूद्वीपो को भरने मे समर्थ हैं। शेष समग्र वर्णन चमरेन्द्र की तरह कहना चाहिए।

हे 'भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है,' यो कहकर द्वितीय गौतम अग्निभूत अनगार यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—शक्रेन्द्र तथा तिष्यक देव एवं शक्र के सामानिक देवो आदि की ऋद्धि, विकुर्वणा शक्ति आदि का निरूपण—प्रस्तुत चार सूत्रो (१५ से १८ सू तक) मे सौधर्मदेवलोक के इन्द्र—देवराज शक्रेन्द्र तथा सामानिक रूप मे उत्पन्न तिष्यकदेव एव शक्रेन्द्र के सामानिक आदि देववर्ग की ऋद्धि आदि और विकुर्वणाशक्ति के विषय मे निरूपण किया गया है।

शक्रेन्द्र का परिचय—देवेन्द्र देवराज शक्र प्रथम सौधर्म देवलोक के वैमानिक देवो का इन्द्र है। प्रज्ञापनासूत्र मे इसके अन्य विशेषण भी मिलते हैं, जैसे—वज्रपाणि, पुरन्दर, शतक्रतु, सहस्राक्ष (पाच सौ मत्री होने से), मघवा, पाकशासन, दक्षिणार्धलोकाधिपति, बत्तीस लाख विमानो का अधिपति, ऐरावतवाहन, सुरेन्द्र, आदि। शक्रेन्द्र के आवासस्थान, विमान, विमानो का आकार—वर्णगन्धादि, उसको प्राप्त शरीर, श्वासोच्छ्वास, आहार, लेश्या, ज्ञान अज्ञान, दर्शन-कुदर्शन, उपयोग,

वेदना, कषाय, समुद्घात, सुख, समृद्धि, वैक्रियशक्ति आदि का समस्त वर्णन प्रज्ञापनासूत्र मे किया गया है।[1]

तिष्यक अनगार की सामानिक देवरूप मे उत्पत्ति-प्रक्रिया—शक्रेन्द्र की ऋद्धि आदि के विषय मे प्रश्नोत्तर के पश्चात् शक्रेन्द्र के सामानिक देव के रूप मे उत्पन्न हुए अपने पूर्वपरिचित भगवत् शिष्य तिष्यक अनगार के समग्र चरितानुवादपूर्वक प्रश्न करते है—द्वितीय गौतम श्री अग्निभूति अनगार। तिष्यक अनगार का मनुष्यलोक से देहावसान होने पर देवलोक मे देवशरीर की रचना की प्रक्रिया का वर्णन यहाँ शास्त्रकार करते है। कर्मबद्ध आत्मा (जीव) के तथारूप पुद्गलो से आहार, शरीर, इन्द्रिय आदि रूप शरीर बनता है। पर्याप्तियाँ छह होते हुए भी यहाँ पाँच पर्याप्तियो का उल्लेख बहुश्रुत पुरुषो के द्वारा भाषापर्याप्ति और मन पर्याप्ति को एक मान लेने से किया गया है।[2]

'लद्धे पत्ते अभिसमन्नागते' का विशेषार्थ—लद्धे=दूसरे (पूर्व) जन्म मे इसका उपार्जन किया था, इस कारण लब्ध (मिला, लाभ प्राप्त) हुआ, पत्ते=देवभव की अपेक्षा से प्राप्त हुआ है, इसलिए 'पत्ते' शब्द प्रयुक्त है, अभिसमन्नागते=प्राप्त किये हुए भोगादि साधनो के उपभोग (अनुभव) की अपेक्षा से अभिमुख लाया हुआ है।

'जहेव चमरस्स' का आशय—इस पक्ति से यह सूचित किया गया है कि लोकपाल और अग्रमहिषियो की विकुर्वणाशक्ति 'तिरछे सख्यात द्वीप-समुद्रो जितने स्थल को भरने तक की' कहनी चाहिए।[3]

कठिन शब्दो के अर्थ—अणिक्खित्तेण—निरन्तर (अनिक्षिप्त)। झूसित्ता=सेवन करके। जारिसिया=जैसी, तारिसिया=वैसी।[4]

ईशानेन्द्र, कुरुदत्तपुत्रदेव तथा सनत्कुमारेन्द्र से लेकर अच्युतेन्द्र तक के इन्द्रो एवं उनके सामानिकादि देववर्ग की ऋद्धि-विकुर्वणाशक्ति आदि का प्ररूपण—

१९ 'भ ते !' त्ति भगव तच्चे गोयमे वाउभूती अणगारे भगव जाव एव वदासी—जति ण भते ! सक्के देविंदे देवराया एमहिड्ढीए जाव एवइय च ण पभू विउव्वित्तए, ईसाणे ण भ ते ! देविंदे देवराया केमहिड्ढीए ?

एव तहेव, नवर साहिए दो केवलकप्पे जबुद्दीव दीवे, अवसेस तहेव।

---

१ (क) प्रज्ञापनासूत्र (उ ४ क आ पृ १२०-१)—"सक्के इत्थ देविंदे देवराया परिवसइ, वज्जपाणी पुरदरे सयक्कउ सहस्सक्खे मघव पागसासणे दाहिण(ड्ढ) लोगाहिवई बत्तीस विमाणावाससयसहस्साहिवई एरावणवाहणे सुरिंदे आहेवच्च पोरेवच्च कुव्वेमाणे जाव विहरइ।"

(ख) जीवाभिगमसूत्र क आ पृ ९२६

२ (क) भगवती सूत्र अ वृत्ति पत्राक १५९

(ख) भगवतीसूत्र टीका—गुजराती अनुवाद (प बेचरदासजी), खण्ड २, पृ १९

३ भगवती सूत्र अ वृत्ति पत्राक १५९

४ भगवती सूत्र हिन्दी विवेचनयुक्त (प घेवरचन्द जी), भाग २, पृ ५५७

[१६ प्र] 'भगवन् !' यो सबोधन कर तृतीय गौतम भगवान् वायुभूति अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करके यावत् इस प्रकार कहा—(पूछा—) भगवन् ! यदि देवेन्द्र देवराज शक्र इतनी महाऋद्धि वाला है, यावत् इतनी विकुर्वणा करने मे समर्थ है, तो हे भगवन् ! देवेन्द्र देवराज ईशान कितनी महाऋद्धि वाला है यावत् कितनी विकुर्वणा करने की शक्ति वाला है ?'

[१९ उ०] (गौतम ! जैसा शक्रेन्द्र के विषय मे कहा था,) वैसा ही सारा वर्णन ईशानेन्द्र के विषय मे जानना चाहिए। विशेषता यह है कि वह (अपने वैक्रियकृत रूपो से) सम्पूर्ण दो जम्बूद्वीप से कुछ अधिक स्थल को भर देता है। शेष सारा वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए।

२० जति ण भते ! ईसाणे देविंदे देवराया एमहिड्ढीए जाव एवतिय च ण पभू विउव्वित्तए, एव खलु देवाणुप्पियाण अतेवासी कुरुदत्तपुत्ते नामं पगतिभद्दए जाव विणीए अट्ठमअट्ठमेण अणिक्खित्तेण पारणए आयबिलपरिग्गहिएण तवोकम्मेण उड्ढ बाहाओ पगिज्झिय २ सूराभिमुहे आयावणभूमीए आतावेमाणे बहुपडिपुण्णे छम्मासे सामण्णपरियाग पाउणित्ता अद्धमासियाए सलेहणाए अत्ताण झोसित्ता तीस भत्ताइ अणसणाए छेदित्ता आलोइयपडिक्कते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा ईसाणे कप्पे सयसि विमाणसि जा चेव तीसए वत्तव्वया स च्चेव अपरिसेसा कुरुदत्तपुत्ते वि।

नवर सातिरेगे दो केवलकप्पे जबुद्दीवे दीवे, अवसेस त चेव।

[२० प्र] भगवन् ! यदि देवेन्द्र देवराज ईशानेन्द्र इतनी बडी ऋद्धि से युक्त है, यावत् वह इतनी विकुर्वणाशक्ति रखता है, तो प्रकृति से भद्र यावत् विनीत, तथा निरन्तर अट्ठम (तेले-तेले) की तपस्या और पारणे मे आयम्बिल, ऐसी कठोर तपश्चर्या से आत्मा को भावित करता हुआ, दोनो हाथ ऊँचे रखकर सूर्य की ओर मुख करके आतापना-भूमि मे आतापना लेने वाला (सख्त धूप को सहने वाला) आप देवानुप्रिय का अन्तेवासी (शिष्य) कुरुदत्तपुत्र अनगार, पूरे छह महीने तक श्रामण्य-पर्याय का पालन करके, अर्द्धमासिक (१५ दिन की) सलेखना से अपनी आत्मा को ससेवित (सयुक्त) करके, तीस भक्त (३० टक) अनशन (सथारे) का छेदन (पालन) करके, आलोचना एव प्रतिक्रमण करके समाधि प्राप्त करके (समभावसमाधिपूर्वक) काल (मरण) का अवसर आने पर काल करके, ईशानकल्प मे, अपने विमान मे, ईशानेन्द्र के सामानिक देव के रूप मे उत्पन्न हुआ है, इत्यादि जो वक्तव्यता, तिष्यक देव के सम्बन्ध मे पहले कही है, वही समग्र वक्तव्यता कुरुदत्तपुत्र देव के विषय मे भी कहनी चाहिए। (अत प्रश्न यह है कि वह सामानिक देवरूप मे उत्पन्न कुरुदत्तपुत्र देव कितनी महाऋद्धि वाला है, यावत् कितनी विकुर्वणा करने मे समर्थ है ?)

[२० उ] (हे गौतम ! इस सम्बन्ध मे सब वक्तव्य पूर्ववत् जानना चाहिए।) विशेषता यह है कि कुरुदत्तपुत्रदेव की (अपने वैक्रियकृत रूपो से) सम्पूर्ण दो जम्बूद्वीपो से कुछ अधिक स्थल को भरने की विकुर्वणाशक्ति है। शेष समस्त वर्णन उसी तरह ही समझना चाहिए।

२१ एव सामाणिय-तायत्तीस-लोगपाल-अग्गमहिसीण जाव एस ण गोयमा ! ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो एवं एगमेगाए अग्गमहिसीए देवीए अयमेयारूवे विसए विसयमेत्ते बुइए, नो चेव णं सपत्तीए विकुव्विसु वा विकुव्वति वा विकुव्विस्सति वा।

[२१] इसी तरह (ईशानेन्द्र के अन्य) सामानिक देव, त्रायस्त्रिशक देव एव लोकपाल तथा अग्रमहिषियो (की ऋद्धि, विकुर्वणाशक्ति आदि) के विषय मे जानना चाहिए। यावत्—हे गौतम! देवेन्द्र देवराज ईशान की अग्रमहिषियो की इतनी यह विकुर्वणाशक्ति केवल विषय है, विषयमात्र है, परन्तु सम्प्राप्ति द्वारा कभी इतना वैक्रिय किया नही, करती नही, और भविष्य मे करेगी भी नही, (यहाँ तक सारा आलापक कह देना चाहिए)।

२२. [१] एव सणंकुमारे वि, नवर चत्तारि केवलकप्पे जबुद्दीवे दीवे, अदुत्तर च ण तिरियम-सखेज्जे।

[२२-१] इसी प्रकार सनत्कुमार देवलोक के देवेन्द्र (की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणाशक्ति) के विषय मे भी समझना चाहिए। विशेषता यह है कि (सनत्कुमारेन्द्र की विकुर्वणाशक्ति) सम्पूर्ण चार जम्बूद्वीपो जितने स्थल को भरने की है और तिरछे उसकी विकुर्वणाशक्ति असख्यात (द्वीप समुद्रो जितने स्थल को भरने की) है।

[२] एवं सामाणिय-तायत्तीस-लोगपाल-अग्गमहिसीण असखेज्जे दीव-समुद्दे सव्वे विउव्वति।

[२२-२] इसी तरह (सनत्कुमारेन्द्र के) सामानिक देव, त्रायस्त्रिशक, लोकपाल एव अग्रमहिषियो की विकुर्वणाशक्ति असख्यात द्वीप समुद्रो जितने स्थल को भरने की है। (शेष सब बाते पूर्ववत् समझनी चाहिए)।

२३ सणकुमाराओ आरद्धा उवरिल्ला लोगपाला सव्वे वि असखेज्जे दीव-समुद्दे विउव्वति।

[२३] सनत्कुमार से लेकर ऊपर के (देवलोको के) सब लोकपाल असख्येय द्वीप-समुद्रो (जितने स्थल) को भरने की वैक्रियशक्ति वाले है।

२४ एव माहिंदे वि। नवरं साइरेगे चत्तारि केवलकप्पे जबुद्दीवे दीवे।

[२४] इसी तरह माहेन्द्र (नामक चतुर्थ देवलोक के इन्द्र तथा उसके सामानिक आदि देवो की ऋद्धि आदि) के विषय मे भी समझ लेना चाहिए। किन्तु इतनी विशेषता है कि ये सम्पूर्ण चार जम्बूद्वीपो (जितने स्थल को भरने) की विकुर्वणाशक्ति वाले हैं।

२५ एव बभलोए वि, नवरं अट्ठ केवलकप्पे०।

[२५] इसी प्रकार ब्रह्मलोक (नामक पचम देवलोक के इन्द्र तथा तदधीन देववर्ग की ऋद्धि आदि) के विषय मे भी जानना चाहिए। विशेषता इतनी है कि वे सम्पूर्ण आठ जम्बूद्वीपो (को भरने) की वैक्रियशक्ति (रखते हैं) वाले हैं।

२६ एव लतए वि, नवर सातिरेगे अट्ठ केवलकप्पे०।

[२६] इसी प्रकार लान्तक नामक छठे देवलोक के इन्द्रादि की ऋद्धि आदि के विषय मे समझना चाहिए किन्तु इतना विशेष है कि वे सम्पूर्ण आठ जम्बूद्वीपो से कुछ अधिक स्थल को भरने की विकुर्वणाशक्ति रखते हैं।

२७. महासुक्के सोलस केवलकप्पे० ।

[२७] महाशुक्र (नामक सप्तम देवलोक के इन्द्रादि) के विषय मे इसी प्रकार समझना चाहिए, किन्तु विशेषता इतनी है कि वे सम्पूर्ण सोलह जम्बूद्वीपो (जितने स्थल) को भरने की वैक्रियशक्ति रखते है ।

२८ सहस्सारे सातिरेगे सोलस० ।

[२८] सहस्रार (नामक अष्टम देवलोक के इन्द्रादि) के विषय मे भी यही बात है । किन्तु विशेषता इतनी है कि वे सम्पूर्ण सोलह जम्बूद्वीपो से कुछ अधिक स्थल को भरने का वैक्रिय-सामर्थ्य रखते हैं ।

२९ एव पाणए वि, नवरं बत्तीस केवल० ।

[२९] इसी प्रकार प्राणत (देवलोक के इन्द्र तथा उसके देववर्ग की ऋद्धि आदि) के विषय मे भी जानना चाहिए, किन्तु इतनी विशेषता है कि वे सम्पूर्ण बत्तीस जम्बूद्वीपो (जितने क्षेत्र को भरने) की वैक्रियशक्ति वाले हैं ।

३० एव अच्चुए वि, नवरं सातिरेगे बत्तीस केवलकप्पे जबुद्दीवे दीवे । अन्न त चेव ।

सेव भते ! सेव भते ! त्ति तच्चे गोयमे वायुभूती अणगारे समण भगव महावीर वंदइ नमसति जाव विहरति ।

[३०] इसी तरह अच्युत (नामक बारहवें देवलोक के इन्द्र तथा उसके देववर्ग की ऋद्धि आदि) के विषय मे भी जानना चाहिए । किन्तु विशेषता इतनी है कि वे सम्पूर्ण बत्तीस जम्बूद्वीपो से कुछ अधिक क्षेत्र को भरने का वैक्रिय-सामर्थ्य रखते है । शेष सब वर्णन पूर्ववत् समझना चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कहकर तृतीय गौतम वायुभूति अनगार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार कर यावत् विचरण करने लगे ।

विवेचन—ईशानेन्द्र, कुरुदत्तपुत्र देव तथा सनत्कुमारेन्द्र से लेकर अच्युतेन्द्र तक के इन्द्रो तथा उनके सामानिक आदि देववर्ग की ऋद्धि-विकुर्वणाशक्ति आदि का निरूपण—प्रस्तुत १२ सूत्रो (१९ से ३० सू० तक) मे ईशानेन्द्र, ईशानदेवलोकोत्पन्न कुरुदत्तपुत्रदेव, ईशानेन्द्र के सामानिकादि तथा सनत्कुमार से अच्युत देवलोक तक के इन्द्रो तथा उनके सामानिकादि देवो की ऋद्धि आदि एव विकुर्वणाशक्ति के विषय मे प्ररूपण किया गया है ।

कुरुदत्तपुत्र अनगार के ईशान-सामानिक होने की प्रक्रिया—ईशानेन्द्र की ऋद्धि, विकुर्वणाशक्ति आदि के विषय मे प्रश्नोत्तर के पश्चात् ईशानेन्द्र के सामानिकदेव के रूप मे उत्पन्न हुए प्रश्नकर्ता के पूर्व परिचित कुरुदत्तपुत्र अनगार की ऋद्धि, विकुर्वणाशक्ति आदि के विषय मे प्रश्न करना प्रसगप्राप्त ही है । प्रश्नकर्त्ता ने अपने परिचित कुरुदत्तपुत्र अनगार की कठोर तपश्चर्या से सामानिक देव पद तथा उससे सम्बन्धित ऋद्धि, विकुर्वणाशक्ति आदि का वर्णन करके सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक की गई तपश्चर्या का महत्त्व भी प्रकारान्तर से प्रतिपादित कर दिया है ।

ईशानेन्द्र एवं शक्रेन्द्र में समानता और विशेषता—यद्यपि शक्रेन्द्र के प्रकरण मे कही हुई बहुत-सी बातो के साथ ईशानेन्द्र के प्रकरण मे कही गई बहुत-सी बातो की समानता होने से ईशानेन्द्र-प्रकरण को शक्रेन्द्र-प्रकरण के समान बताया गया है, तथापि कुछ बातों मे विशेषता है। वह इस प्रकार—ईशानेन्द्र के २८ लाख विमान, ८० हजार सामानिक देव और ३ लाख २० हजार आत्मरक्षक देव है, तथा ईशानेन्द्र की वैक्रियशक्ति सम्पूर्ण दो जम्बूद्वीपो से कुछ अधिक स्थल को भरने की है, जो शक्रेन्द्र की वैक्रियशक्ति से अधिक है।[1]

सनत्कुमार से लेकर अच्युत तक के इन्द्रादि की वैक्रियशक्ति—सनत्कुमार देवेन्द्रादि की वैक्रियशक्ति सम्पूर्ण चार जम्बूद्वीपो तथा तिरछे असंख्येय द्वीप-समुद्रो जितने स्थल को भरने की है, माहेन्द्र की सम्पूर्ण चार जम्बूद्वीपो से कुछ अधिक की, ब्रह्मलोक की सम्पूर्ण आठ जम्बूद्वीपो को भरने की, लान्तक की सम्पूर्ण आठ जम्बूद्वीपो से कुछ अधिक की, महाशुक्र की १६ पूरे जम्बूद्वीपो को भरने की, सहस्रार की १६ जम्बूद्वीपो से कुछ अधिक की, प्राणत की ३२ पूरे जम्बूद्वीपो के भरने की और अच्युत की ३२ पूरे जम्बूद्वीपो से कुछ अधिक की है।[2]

सनत्कुमार देवलोक मे देवी कहाँ से?—यद्यपि सनत्कुमार देवलोक मे देवी उत्पन्न नही होती, तथापि सौधर्म देवलोक मे जो अपरिगृहीता देवियाँ उत्पन्न होती है, जिनकी स्थिति समयाधिक पल्योपम से लेकर दस पल्योपम तक की होती है। वे अपरिगृहीता देवियाँ सनत्कुमारदेवो की भोग्या होती हैं, इसी कारण सनत्कुमार-प्रकरण के मूलपाठ मे 'अग्गमहिसीण' कहकर अग्रमहिषियो का उल्लेख किया गया है।[3]

देवलोको के विमानो की सख्या—सौधर्म मे ३२ लाख, ईशान मे २८ लाख, सनत्कुमार मे १२ लाख, माहेन्द्र मे ८ लाख, ब्रह्मलोक मे ४ लाख, लान्तक मे ५० हजार, महाशुक्र मे ४० हजार, सहस्रार मे ६ हजार, आनत और प्राणत मे ४०० तथा आरण और अच्युत मे ३०० विमान हैं।

सामानिक देवो की सख्या—पहले देवलोक मे ८४ हजार, दूसरे मे ८० हजार, तीसरे मे ७२ हजार, चौथे मे ७० हजार, पाचवे मे ६० हजार, छठे मे ५० हजार, सातवे मे ४० हजार, आठवं मे ३० हजार, नौवे और दसवे मे २० हजार तथा ग्यारहवे और बारहवे देवलोक मे १० हजार सामानिक देव हैं।[4]

---

१ (क) भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक १६० (ख) भगवती० टीकानुवादसहित, ख० २, पृ २२

२ व्याख्याप्रज्ञप्ति (वियाहपन्नत्तीसुत्त) (मूलपाठ टिप्पण) भा० १, पृ० १२७-१२८

३ भगवती सूत्र अ० वृत्ति, पत्राक १६०

४ (क) भगवती सूत्र अ० वृत्ति, पत्राक १६०

(ख) प्रज्ञापनासूत्र (क० आ० पृ० १२८) मे निम्नोक्त गाथाओ से मिलती जुलती गाथाएँ—

बत्तीस अट्ठावीसा बारस अट्ठ चउरो सयसहस्सा।
आरणे बभलोया विमाणसखा भवे एसा ॥ १ ॥
पण्णास चत्त छच्चेव सहस्सा लतक-सुक्क-सहस्सारे।
सय चउरो आणय-पाणएसु, तिण्णि आरणऽच्चुयओ ॥ २ ॥
चउरासीई असीई बावत्तरी सत्तरी य सट्ठी य।
पण्णा चत्तालीसा तीसा वीसा दससहस्सा ॥ ३ ॥

'पगिज्झिय' आदि कठिन शब्दों के अर्थ—पगिज्झिय=ग्रहण करके—करके। आरद्धा उवरिल्ला—से लेकर ऊपर के।[1]

मोकानगरी से विहार और ईशानेन्द्र द्वारा भगवद्वन्दन—

३१. तए ण समणे भगव महावीरे अन्नया कयाई मोयाओ नगरीओ नदणाओ चेतियाओ पडिनिक्खमइ, २ बहिया जणवयविहार विहरइ।

[३१] इसके पश्चात् किसी एक दिन श्रमण भगवान् महावीर स्वामी 'मोका' नगरी के 'नन्दन' नामक उद्यान से बाहर निकलकर (अन्य) जनपद मे विचरण करने लगे।

३२ तेण कालेण तेण समएण रायगिहे नामं नगरे होत्था। वण्णओ। जाव परिसा पज्जुवासइ।

[३२] उस काल उस समय मे राजगृह नामक नगर था। उसका वर्णन औपपातिकसूत्र के नगरी वर्णन के समान जानना चाहिए। (भगवान् वहाँ पधारे) यावत् परिषद् भगवान् की पर्युपासना करने लगी।

३३ तेण कालेण तेण समएण ईसाणे देविंदे देवराया सूलपाणी वसभवाहणे उत्तरड्ढलोगाहिवई अट्ठावीसविमाणावाससयसहस्साहिवई अरयबरवत्थधरे आलइयमालमउडे नवहेमचारुचित्तचचलकु डलविलिहिज्जमाणगडे जाव दस दिसाओ उज्जोवेमाणे पभासेमाणे ईसाणे कप्पे ईसाणवडिंसए विमाणे जहेव रायप्पसेणइज्जे जाव (राज० पत्र ४४-५४) दिव्व देविड्ढि जाव जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए।

[३३] उस काल उस समय मे देवेन्द्र देवराज, शूलपाणि (हाथ मे शूल-त्रिशूल धारक) वृषभ-वाहन (बैल पर सवारी करने वाला) लोक के उत्तरार्द्ध का स्वामी, अट्ठाईस लाख विमानो का अधिपति, आकाश के समान रजरहित निर्मल वस्त्रधारक, सिर पर माला से सुशोभित मुकुटधारी, नवीनस्वर्ण निर्मित सुन्दर, विचित्र एव चचल कुण्डलो से कपोल को जगमगाता हुआ यावत् दसो दिशाओ को उद्योतित एव प्रभासित करता हुआ ईशानेन्द्र, ईशानकल्प मे ईशानावतसक विमान मे (रायपसेणीय-राजप्रश्नीय उपाग मे कहे अनुसार) यावत् दिव्य देवऋद्धि का अनुभव करता हुआ (भगवान् के दर्शन-वन्दन करने आया) और यावत् जिस दिशा से आया था उसी दिशा मे वापस चला गया।

विवेचन—मोका नगरी से विहार और ईशानेन्द्र द्वारा भगवद्वन्दन—प्रस्तुत तीन सूत्रो (३१ से ३३ तक) मे शास्त्रकार ने तीन बातो का सकेत किया है—

१—मोकानगरी से भगवान् का बाह्य जनपद मे विहार।
२—राजगृह ने भगवान् का पदार्पण और परिषद् द्वारा पर्युपासना।

---

१ भगवतीसूत्र अ० वृत्ति, पत्राक १६०

३—ईशानेन्द्र का भगवान् के दर्शन-वदन के लिए आगमन ।[1]

राजप्रश्नीय मे सूर्याभदेव के भगवत्सेवा मे आगमन-वृत्तान्त का अतिदेश—सक्षेप मे ईशानेन्द्र के आगमन वृत्तान्त के मुद्दे इस प्रकार है—

(१) सामानिक आदि परिवार से परिवृत ईशानेन्द्र ने अवधिज्ञान द्वारा श्रमण भगवान् महावीर को राजगृह मे विराजे हुए देख, वही से वदन किया ।

(२) आभियोगिक देवो को राजगृह मे एक योजन क्षेत्र साफ करने का आदेश ।

(३) सेनाधिपति द्वारा सभी देव-देवियो को ईशानेन्द्र की सेवा मे उपस्थित होने की घटारव द्वारा घोषणा ।

(४) समस्त देव-देवियो से परिवृत होकर एक लाख योजन विस्तृत विमान मे बैठकर ईशानेन्द्र भगवद् वदनार्थ निकला । नन्दीश्वर द्वीप मे विश्राम । विमान को छोटा बनाकर राजगृह मे विमान से उतर कर भगवान् के समवसरण मे प्रवेश । भगवान् को वदन-नमस्कार कर पर्युपासना मे लीन हुआ ।

(५) सर्वज्ञ प्रभु की सेवा मे गौतमादि महर्षियो को दिव्य नाटकादि विधि दिखाने की इच्छा प्रगट की । उत्तर की अपेक्षा न रखकर वैक्रियप्रयोग से दिव्यमण्डप, मणिपीठिका और सिंहासन बनाए । सिंहासन पर बैठ कर दाए और बाए हाथ से १०८-१०८ देवकुमार-देवकुमारियाँ निकाली । फिर वाद्यो और गीतो के साथ बत्तीस प्रकार का नाटक बतलाया । इसके पश्चात् अपनी दिव्य ऋद्धि-वैभव-प्रभाव-कान्ति आदि समेट कर पूर्ववत् अकेला हो गया ।

(६) फिर अपने परिवार सहित ईशानेन्द्र भगवान् को वदन-नमस्कार करके वापस अपने स्थान को लौट गया ।[2]

कूटाकारशालादृष्टान्तपूर्वक ईशानेन्द्रऋद्धि की तत्शरीरानुप्रविष्ट-प्ररूपणा—

३४ [१] 'भते !' त्ति भगव गोयमे समणं भगव महावीरं वदति णमसति, २ एव वदासी—अहो णं भते ! ईसाणे देविंदे देवराया महिड्ढीए । ईसाणस्स णं भते ! सा दिव्वा देविड्ढी कहिं गता ? कहिं अणुपविट्ठा ?

गोयमा ! सरीरं गता, सरीर अणुपविट्ठा ।

[३४-१ प्र०] 'हे भगवन् !' इस प्रकार सम्बोधित करके भगवान् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया । वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—(पूछा—) 'अहो, भगवन् ! देवेन्द्र देवराज ईशान इतनी महाऋद्धि वाला है ! भगवन् ! ईशानेन्द्र की वह (नाट्य-प्रदर्शनकालिक) दिव्य देवऋद्धि (अब) कहाँ चली गई ? कहाँ प्रविष्ट हो गई ?'

---

१ वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ टिप्पणी युक्त) पृ० १२९

२ (क) रायपसेणीयसुत्त पत्र० ४४ से ५४ तक का सार ।

(ख) भगवतीसूत्र अ० वृत्ति, पत्राक १६२-१६३

[३४-१ उ०] गौतम ! (ईशानेन्द्र द्वारा पूर्वप्रदर्शित) वह दिव्य देवऋद्धि (उसके) शरीर मे चली गई, शरीर मे प्रविष्ट हो गई है।

[२] से केणट्ठेण भते ! एव वुच्चति सरीर गता, सरीर अणुपविट्ठा ?

गोयमा ! से जहानामए कूडागारसाला सिया दुहओ लित्ता गुत्ता गुत्तदुवारा णिवाया णिवायगभीरा, तीसे ण कूडागार० जाव (राज० पत्र ५६) कूडागारसालादिट्ठतो भाणियव्वो।

[३४-२ प्र०] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि वह दिव्य देवऋद्धि शरीर मे चली गई और शरीर मे प्रविष्ट हो गई ?

[३४-२ उ०] गौतम ! जैसे कोई कूटाकार (शिखर के आकार की) शाला हो, जो दोनो तरफ से लीपी हुई हो, गुप्त हो, गुप्त-द्वारवाली हो, निर्वात हो, वायुप्रवेश से रहित गम्भीर हो, यावत् ऐसी कूटाकारशाला का दृष्टान्त (यहा) कहना चाहिए।

विवेचन—कूटाकारशाला के दृष्टान्तपूर्वक ईशानेन्द्र की ऋद्धि की प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र मे ईशानेन्द्र की पुन अदृश्य हुई ऋद्धि, प्रभाव एव दिव्यकान्ति के सम्बन्ध मे श्री गौतमस्वामी द्वारा किये गए प्रश्न का भगवान् द्वारा कूटाकारशाला के दृष्टान्तपूर्वक किया गया समाधान है।

कूटाकारशाला दृष्टान्त—जैसे (पूर्वोक्त) शिखराकार कोई शाला (घर) हो और उसके पास बहुत-से मनुष्य खडे हो, इसी बीच आकाश मे बादल उमड घुमडकर आ गए हो और बरसने की तैयारी हो, ऐसी स्थिति मे वे तमाम मनुष्य वर्षा से रक्षा के लिए उस शाला मे प्रविष्ट हो जाते है, इसी प्रकार ईशानेन्द्र की वह दिव्यऋद्धि, देव-प्रभाव एव दिव्य काति ईशानेन्द्र के शरीर मे प्रविष्ट हो गई।[1]

ईशानेन्द्र का पूर्वभव : तामली का संकल्प और प्राणामाप्रव्रज्या ग्रहण—

३५ ईसाणेण भ ते ! देविंदेण देवरण्णा सा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुती दिव्वे देवाणुभागे किण्णालद्धे ? किण्णापत्ते ? किण्णा अभिसमन्नागए ? के वा एस आसि पुव्वभवे ? किंणामए वा ? किंगोत्ते वा ? कतरंसि वा गामसि वा नगरसि वा जाव सन्निवेससि वा ? किं वा सोच्चा ? किं वा दच्चा ? किं वा भोच्चा ? किं वा किच्चा ? किं वा समायरित्ता ? कस्स वा तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अतिए एगमवि आरिय धम्मिय सुवयण सोच्चा निसम्म ज ण ईसाणेण देविंदेणं देवरण्णा सा दिव्वा देविड्ढी जाव अभिसमन्नागया ?

एव खलु गोयमा ! तेण कालेण तेण समएण इहेव जबुद्दीवे दीवे भारहे वासे तामलित्ती नामं नगरी होत्था। वण्णओ। तत्थ ण तामलित्तीए नगरीए तामली नाम मोरियपुत्ते गाहावती होत्था। अड्ढे दित्ते जाव बहुजणस्स अपरिभूए यावि होत्था।

[३५ प्र०] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज ईशान ने वह दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवद्युति (कान्ति) और दिव्य देवप्रभाव किस कारण से उपलब्ध किया, किस कारण से प्राप्त किया और किस हेतु से

---

१ भगवती अ वृत्ति, पत्राक १६३

अभिमुख किया ? यह ईशानेन्द्र पूर्वभव मे कौन था ? इसका क्या नाम था, क्या गोत्र था ? यह किस ग्राम, नगर अथवा यावत् किस सन्निवेश मे रहता था ? इसने क्या सुनकर, क्या (आहार-पानी आदि) देकर, क्या (रूखा-सूखा) खाकर, क्या (तप एव शुभ ध्यानादि) करके, क्या (शीलव्रतादि या प्रतिलेखन-प्रमार्जन आदि धर्मक्रिया का) सम्यक् आचरण करके, अथवा किस तथारूप श्रमण या माहन के पास से एक भी आर्य (तीर्थंकरोक्त) एव धार्मिक सुवचन सुनकर तथा हृदय मे धारण करके (पुण्यपु ज का उपार्जन किया,) जिस (पुण्य-प्रताप) से देवेन्द्र देवराज ईशानेन्द्र ने वह दिव्य देव ऋद्धि यावत् उपलब्ध की है, प्राप्त की है और अभिमुख की है ?

[३५ उ०] हे गौतम ! उस काल उस समय मे इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप मे भारतवर्ष मे ताम्रलिप्ती नाम की नगरी थी। उसका वर्णन समझ लेना चाहिए। उस ताम्रलिप्ती नगरी मे तामली नाम का मौर्यपुत्र (मौर्यवश मे उत्पन्न) गृहपति (गृहस्थ) रहता था। वह धनाढ्य था, दीप्तिमान (तेजस्वी) था, और बहुत-से मनुष्यो द्वारा अपराभवनीय (नही दवने वाला = दवग) था।

३६ तए ण तस्स मोरियपुत्तस्स तामलिस्स गाहावतिस्स अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकाल-समयसि कुडु बजागरिय जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—"अत्थि ता मे पुरा पोराणाण सुचिण्णाणं सुपरक्कताण सुभाण कल्लाणाण कडाण कम्माणं कल्लाणे फलवित्तिविसेसे जेणाहं हिरण्णेणं वड्ढामि, सुवण्णेणं वड्ढामि, धणेणं वड्ढामि, धन्नेणं वड्ढामि, पुत्तेहिं वड्ढामि, पसूहिं वड्ढामि, विउलधण-कणग-रयण-मणि-मोत्तिय-सख-सिल-प्पवाल-रत्तरयण-संतसारसावतेज्जेण अतीव २ अभिवड्ढामि, तं किं ण अहं पुरा पोराणाण सुचिण्णाण जाव कडाण कम्माण एगंतसोक्खय उवेहेमाणे विहरामि ?, तं जाव च ण मे मित्त-नाति-नियग-सबधिपरियणो आढाति परियाणइ सक्कारेइ सम्माणेइ कल्लाण मगल देवय चेइय विणएण पज्जुवासइ तावता मे सेय कल्ल पाउप्पभाताए रयणीए जाव जलते सयमेव दारुमय पडिग्गहय करेत्ता विउलं असण-पाण-खातिम-सातिम उवक्खडा-वेत्ता मित्त-नाति-नियग-संबंधिपरियणं आमतेत्ता त मित्त-नाइ-नियग-सबंधिपरयण विउलेणं असण-पाण-खातिम-सातिमेण वत्थ-गध-मल्ला-ऽलकारेण य सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता तस्सेव मित्त-नाइ-नियग-सबधिपरियणस्स पुरतो जेट्ठ पुत्त कुडु बे ठावेत्ता त मित्त-नाति-णियग-सबधिपरियण जेट्ठपुत्त च आपुच्छित्ता सयमेव दारुमय पडिग्गह गहाय मु डे भवित्ता पाणामाए पव्वज्जाए पव्वइत्तए। पव्वइते वि य ण समाणे इम एयारूव अभिग्गह अभिगिण्हिस्सामि—'कप्पइ मे जावज्जीवाए छट्ठछट्ठेण अणिक्खित्तेण तवोकम्मेण उड्ढ बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सूराभिमुहस्स आतावणभूमीए आया-वेमाणस्स विहरित्तए, छट्ठस्स वि य ण पारणयसि आयावणभूमीतो पच्चोरुभित्ता सयमेव दारुमय पडिग्गहय गहाय तामलित्तीए नगरीए उच्च-नीय-मज्झिमाइ कुलाइ घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडित्ता सुद्धोदण पडिग्गाहेत्ता, त तिसत्तखुतो उदएण पक्खालेत्ता, तओ पच्छा आहार आहारित्तए' त्ति कट्टु" एव सपेहेइ, २ कल्लं पाउप्पभायाए जाव जलते सयमेव दारुमय पडिग्गहय करेइ, २ विउल असण-पाण-खाइम-साइम उवक्खडावेइ, २ तओ पच्छा ण्हाए कयबलिकम्मे कयकोउमंगलपायच्छित्ते सुद्धप्पावेसाइ मगल्लाइ वत्थाइं पवर परिहिए अप्पमहग्घाऽऽभरणालकियसरीरे भोयणवेलाए भोयण-

मडवसि सुहासणवरगते। तए णं मित्त-नाइ-नियग-सबधिपरिजणेण सद्धि त विउल असण-पाण-खातिम-साइमं आसादेमाणे वीसादेमाणे परिभाएमाणे परिभु जेमाणे विहरइ।

[३६] तत्पश्चात् किसी एक दिन पूर्वरात्रि व्यतीत होने पर अपर (पश्चिम=पिछली) रात्रि-काल के समय कुटुम्ब जागरिका जागते हुए उस मौर्यपुत्र तामली गाथापति (गृहस्थ) को इस प्रकार का यह अध्यवसाय यावत् मन मे सकल्प उत्पन्न हुआ कि—"मेरे द्वारा पूर्वकृत, पुरातन (दानादि रूप मे) सम्यक् आचरित, (तप आदि मे) सुपराक्रमयुक्त, शुभ और कल्याणरूप कृतकर्मो का कल्याणफलरूप प्रभाव अभी तक तो विद्यमान है, जिसके कारण मैं हिरण्य (चादी) से बढ रहा हूँ, सुवर्ण (सोने) से बढ रहा हूँ, धन से बढ रहा हूँ, धान्य से बढ रहा हूँ, पुत्रो से बढ रहा हूँ, पशुओ से बढ रहा हूँ, तथा विपुल धन, कनक, रत्न, मणि, मोती, शख, चन्द्रकान्त वगैर शैलज मणिरूप पत्थर, प्रवाल (मू गा) रक्तरत्न तथा माणिक्यरूप सारभूत धन से अधिकाधिक बढ रहा हूँ, (अर्थात्—मेरे घर मे पूर्वकृत पुण्यप्रभाव से पूर्वोक्तरूप मे सारभूत धनवैभव आदि बढ रहे है,) तो क्या मैं पूर्वकृत, पुरातन, (दानादिरूप मे) समाचरित यावत् पूर्वकृतकर्मो का (शुभकर्मो का फल भोगने से उनका) एकान्तरूप से क्षय हो रहा है, इसे अपने सामने देखता रहूँ—इस (क्षय=नाश) की उपेक्षा करता रहूँ ? (अर्थात्—मुझे इतना सुख-साधनो का लाभ है, इतना ही बस मान कर क्या भविष्य-कालीन लाभ के प्रति उदासीन बना रहूँ ? यह मेरे लिए ठीक नही है।) अत जब तक मैं चादी-सोने यावत् माणिक्य आदि सारभूत पदार्थों के रूप मे सुखसामग्री द्वारा दिनानुदिन अतीत-अतीव अभिवृद्धि पा रहा हूँ और जब तक मेरे मित्र, ज्ञातिजन, स्वगोत्रीय कुटुम्बीजन, मातृपक्षीय (ननिहाल के) या श्वसुरपक्षीय सम्बन्धी एव परिजन (दास-दासी आदि), मेरा आदर करते है, मुझे स्वामी रूप मे मानते है, मेरा सत्कार-सम्मान करते हैं, मुझे कल्याणरूप, मगलरूप, देवरूप, और चैत्य (सज्ञानवान्=समझदार=अनुभवी) रूप मानकर विनयपूर्वक मेरी पर्यु पासना=सेवा करते हैं, तब तक (मुझे अपना कल्याण कर लेना चाहिए।) यही मेरे लिए श्रेयस्कर है। अत रात्रि के व्यतीत होने पर प्रभात का प्रादुर्भाव होते ही (अर्थात् प्रात काल का प्रकाश होने पर) यावत् जाज्वल्यमान सूर्य के उदय होने पर मैं स्वय अपने हाथ से काष्ठपात्र बनाऊँ और पर्याप्त अशन, पान, खादिम और स्वादिमरूप चारो प्रकार का आहार तैयार करा कर, अपने मित्र, ज्ञातिजन, स्वजन-सम्बन्धी तथा दास-दासी आदि परिजनो को आमन्त्रित करके उन्हे सम्मानपूर्वक अशनादि चारो प्रकार के आहार का भोजन कराऊँ, फिर वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ, माला और आभूषण आदि द्वारा उनका सत्कार-सम्मान करके उन्ही मित्र, ज्ञातिजन, स्वजन-सम्बन्धी और परिजनो के समक्ष अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब मे स्थापित करके (उसे कुटुम्ब का सारा दायित्व सौप कर), उन मित्र-ज्ञातिजन-स्वजन-परिजनादि तथा अपने ज्येष्ठपुत्र से पूछकर, मैं स्वयमेव काष्ठपात्र लेकर एव मुण्डित होकर 'प्राणामा' नाम की प्रव्रज्या अगीकार करू और प्रव्रजित होते ही मैं इस प्रकार का अभिग्रह (सकल्प=प्रतिज्ञा) धारण करू कि मैं जीवनभर निरन्तर छट्ठ-छट्ठ (बेले-बेले) तपश्चरण करू गा और सूर्य के सम्मुख दोनो भुजाए ऊँची करके आतापना भूमि मे आतापना लेता (कठोर ताप सहता) हुआ रहूँगा और छट्ठ (बेले) के पारणे के दिन आतापनाभूमि से नीचे उतर कर स्वय काष्ठपात्र हाथ मे लेकर ताम्र-लिप्ती नगरी के ऊँच, नीच और मध्यम कुलो के गृहसमुदाय मे भिक्षाचरी के लिए पर्यटन करके भिक्षाविधि द्वारा शुद्ध ओदन (अर्थात्—केवल भात) लाऊंगा और उसे २१ बार धोकर खाऊँगा।" इस प्रकार तामली गृहपति ने शुभ विचार किया।

इस प्रकार का विचार करके रात्रि व्यतीत होते ही प्रभात का प्रादुर्भाव होने पर यावत् तेज से जाज्वल्यमान सूर्य के उदय होने पर स्वयमेव लकडी का पात्र बनाया। फिर अशन, पान, खादिम, स्वादिमरूप चारो प्रकार का आहार तैयार करवाया। तत्पश्चात् उसने स्नान किया, बलिकर्म किया, कौतुक मगल और प्रायश्चित्त किया, शुद्ध और उत्तम वस्त्रो को ठीक-से पहने, और अल्पभार तथा बहुमूल्य आभूषणो से अपने शरीर को अलकृत किया। तत्पश्चात् भोजन के समय वह तामली गृहपति भोजनमण्डप मे आकर शुभासन पर सुखपूर्वक बैठा। इसके बाद (आमन्त्रित) मित्र, ज्ञातिजन, स्वजन सम्बन्धी एव परिजन आदि के साथ उस (तैयार कराए हुए) विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम रूप चतुर्विध आहार का आस्वादन करता (चखता) हुआ, विशेष स्वाद लेता हुआ, दूसरो को परोसता हुआ भोजन कराता हुआ—और स्वय भोजन करता हुआ तामली गृहपति विहरण कर रहा था।

३७ जिमियभुत्तुत्तरागए वि य ण समाणे आयते चोक्खे परमसुइभूए त मित्त जाव परियण विउलेण असणपाण० ४ पुप्फ-वत्थ-गध-मल्लाऽलकारेण य सक्कारेइ, २ तस्सेव मित्त-नाइ जाव परियणस्स पुरओ जेट्ठ पुत्त कुटुम्बे ठावेइ, २ त्ता त मित्त-नाइ-णियग-सबधिपरिजण जेट्ठपुत्त च आपुच्छइ, २ मुण्डे भवित्ता पाणामाए पव्वज्जाए पव्वइए। पव्वइए वि य ण समाणे इम एयारूव अभिग्गहं अभिगिण्हइ—'कप्पइ मे जावज्जीवाए छट्ठछट्ठेण जाव आहारित्तए' त्ति कट्टु इम एयारूव अभिग्गह अभिगिण्हइ, २ त्ता जावज्जीवाए छट्ठछट्ठेण अनिक्खित्तेण तवोकम्मेण उड्ढ बाहाओ पगिज्झिय २ सूराभिमुहे आतावणभूमीए आतावेमाणे विहरइ। छट्ठस्स वि य ण पारणयसि आतावणभूमीओ पच्चोरुभइ, २ सयमेव दारुमय पडिग्गहं गहाय तामलित्तीए नगरीए उच्च-नीय-मज्झिमाइं कुलाइ घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडइ, २ सुद्धोयण पडिग्गाहेइ, २ तिसत्तखुत्तो उदएण पक्खालेइ, तओ पच्छा आहार आहारेइ।

[३७] भोजन करने के बाद उसने पानी से हाथ धोये, और चुल्लू मे पानी लेकर शीघ्र आचमन (कुल्ला) किया, मुख साफ करके स्वच्छ हुआ। फिर उन सब मित्र-ज्ञाति-स्वजन-परिजनादि का विपुल अशन, पान, खादिम, स्वादिम, पुष्प, वस्त्र, सुगन्धित द्रव्य, माला, अलकार आदि से सत्कार-सम्मान किया। फिर उन्ही मित्रस्वजन आदि के समक्ष अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब मे स्थापित किया—(अर्थात्—उसे कुटुम्ब का भार सौंपा)। तत्पश्चात् उन्ही मित्र-स्वजन आदि तथा अपने ज्येष्ठ पुत्र को पूछकर और मुण्डित हो कर 'प्राणामा' नाम की प्रव्रज्या अगीकार की।

प्राणामा-प्रव्रज्या मे प्रव्रजित होते ही तामली ने इस प्रकार का अभिग्रह ग्रहण किया—"आज से मेरा कल्प यह होगा कि मैं आजीवन निरन्तर छट्ठ-छट्ठ (बेले-बेले) तप करूंगा, यावत् पूर्वकथितानुसार भिक्षाविधि से केवल भात (पके हुए चावल) लाकर उन्हे २१ बार पानी से धोकर उनका आहार करूगा।" इस प्रकार अभिग्रह धारण करके वह तामली तापस यावज्जीवन निरन्तर बेले-बेले तप करके दोनो भुजाएँ ऊँची करके आतापनाभूमि मे सूर्य के सम्मुख आतापना लेता हुआ विचरण करने लगा। बेले के पारणे के दिन आतापना भूमि से नीचे उतर कर स्वय काष्ठपात्र लेकर ताम्रलिप्ती नगरी मे ऊँच, नीच और मध्यम कुलो के गृह-समुदाय से विधिपूर्वक भिक्षा के लिए

घूमता था। भिक्षा मे वह केवल भात लाता और उन्हे २१ बार पानी से धोता था, तत्पश्चात् आहार करता था।

विवेचन—ईशानेन्द्र का पूर्वभव तामली का सकल्प और प्राणामा प्रव्रज्या ग्रहण—प्रस्तुत तीन सूत्रो मे तीन तथ्यात्मक वृत्तान्त प्रस्तुत किये गये है—

१—ईशानेन्द्र के पूर्वभव के विषय मे गौतमस्वामी का प्रश्न।

२—तामली गृहपति और उसका प्राणामा प्रव्रज्याग्रहण का सकल्प।

३—सकल्पानुसार विधिपूर्वक प्राणामा प्रव्रज्याग्रहण और पालन।

तामलित्ती—ताम्रलिप्ती—भगवान् महावीर से पूर्व भी यह नगरी वगदेश की राजधानी के रूप मे प्रसिद्ध थी। तामली गृहपति के प्रकरण से भी यह बात सिद्ध होती है कि वगदेश ताम्रलिप्ती के कारण गौरवपूर्ण अवस्था मे पहुँचा हुआ था। अनेक नदियाँ होने के कारण जलमार्ग और स्थलमार्ग दोनो से माल का आयात-निर्यात होने के कारण व्यापार की दृष्टि से तथा सरसब्ज होने से उत्पादन की दृष्टि से भी यह समृद्ध था। वर्तमान 'ताम्रलिप्ती' का नाम अपभ्रष्ट होकर 'तामलूक' हो गया है, यह कलकत्ता के पास मिदनापुर जिले मे है।

मौर्यपुत्र-तामली—तामली गृहपति का नाम ताम्रलिप्ती नगरी के आधार पर तामली (ताम्रलिप्त) रखा गया मालूम होता है। मौर्यपुत्र उसका विशेषण है। 'मुर' नाम की कोई प्रसिद्ध जाति थी, जिस के कारण यह वश 'मौर्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ। जो भी हो, ताम्रलिप्ती के गृहपतियो मे मौर्यवश ख्यातिप्राप्त था।[1]

कठिन शब्दो के विशेष अर्थ—पुव्वरत्तावरत्तकालसमयसि=पूर्वरात्र (रात्रि का पहला भाग) और अपररात्र (रात्रि के पिछले भाग के बीच मे—मध्यरात्रिकाल के समय (शब्दश अर्थ), अथवा पूर्वरात्रि व्यतीत होने के बाद अपररात्रि (रात्रि के पश्चिम भाग) काल के समय (परम्परागत अर्थ)। **अज्झत्थिए**=आध्यात्मिक (आत्मगत अध्यवसाय)—सकल्प। **कल्लाणफलवित्तिविसेसो**=कल्याणकारी फलविशेष। **वड्ढामि**=(शब्दश) बढ रहा हूँ, (भावार्थ) घर मे बढ रहा है। **किण्णा**=किस हेतु (कारण) से। **जिमिय भुत्तुत्तरागए**=जीम (भोजन) करके, भोजनोत्तरकाल मे अपने उपवेशन—बैठने के—स्थान मे आ गया। **आयते**=शुद्ध जल से आचमन करके, तथा **चोक्खे**—भोजन के कण, लेप, छींटे आदि दूर करके मुँह साफ किया, और **परमसूइब्भूए**=अत्यन्त (बिलकुल) शुचिभूत (साफ-सुथरा) हुआ।[2]

प्रव्रज्या का नाम 'प्राणामा' रखने का कारण—

३८ से केणट्ठेण भते ! एवं वुच्चइ—पाणामा पव्वज्जा ?

गोयमा ! पाणामाए ण पव्वज्जाए पव्वइए समाणे ज जत्थ पासइ इद वा खद वा रुद्द वा

---

१ (क) व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) (टीकानुवाद टिप्पण सहित) (प बेचरदासजी) खण्ड २, पृ २४

(ख) इससे लगता है चन्द्रगुप्त मौर्य से पूर्व भी मौर्यवश विद्यमान था —सम्पादक

२ (क) भगवती सूत्र अ वृत्ति पत्राक १६३

(ख) भगवती सूत्र विवेचन युक्त (प घेवरचन्दजी) भा २, पृ ५७६

(ग) व्याख्याप्रज्ञप्ति टीकानुवाद (प बेचरदास जी) खण्ड २, पृ ४१

सिव वा वेसमण वा अज्ज वा कोट्टकिरियं वा राज वा जाव सत्थवाह वा काग वा साण वा पाण वा उच्च पासइ उच्च पणाम करेति, नीय पासइ नीय पणामं करेइ, ज जहा पासति तस्स तहा पणाम करेइ। से तेणट्ठेण जाव पव्वज्जा।

[३८ प्र] भगवन्! तामली द्वारा ग्रहण की हुई प्रव्रज्या 'प्राणामा' कहलाती है, इसका क्या कारण है?

[३८ उ] हे गौतम! प्राणामा प्रव्रज्या मे प्रव्रजित होने पर वह (प्रव्रजित) व्यक्ति जिसे जहाँ देखता है, (उसे वही प्रणाम करता है।) (अर्थात्—) इन्द्र को, स्कन्द (कार्तिकेय) को, रुद्र (महादेव) को, शिव (शकर या किसी व्यन्तरविशेष) को, वैश्रमण (कुबेर) को, आर्या (प्रशान्तरूपा पार्वती) को, रौद्ररूपा चण्डिका (महिषासुरमर्दिनी चण्डी) को, राजा को, यावत् सार्थवाह को, (अर्थात्—राजा, युवराज, तलवर, माडम्बिक, कौटुम्बिक, श्रेष्ठी एव सार्थवाह—वनजारे को) अथवा कौआ, कुत्ता और श्वपाक=चाण्डाल (आदि सबको प्रणाम करता है।) इनमे से उच्च व्यक्ति को देखता है, उच्च-रीति से प्रणाम करता है, नीच को देखकर नीची रीति से प्रणाम करता है। (अर्थात्—) जिसे जिस रूप मे देखता है, उसे उसी रूप मे प्रणाम करता है। इस कारण हे गौतम! इस प्रव्रज्या का नाम 'प्राणामा' प्रव्रज्या है।

विवेचन—प्रव्रज्या का नाम 'प्राणामा' रखने का कारण—प्रस्तुत सूत्र मे तामली गृहपति द्वारा गृहीत प्रव्रज्या को प्राणामा कहने का आशय व्यक्त किया गया है।

'प्राणामा का शब्दश अर्थ—भी यह होता है—जिसमे प्रत्येक प्राणी को यथायोग्य प्रणाम करने की क्रिया विहित हो।[1]

कठिन शब्दो के अर्थ—**वेसमण**=उत्तरदिग्पाल—कुबेरदेव। **कोट्टकिरिय**=महिषासुर को पीटने (कूटने) की क्रिया वाली चण्डिका। **उच्च**=पूज्य को, **नीय**=अपूज्य को, **उच्च पणाम**=अतिशय प्रणाम, **नीय पणाम**=अत्यधिक प्रणाम नही करता।[2]

---

१ वर्तमान मे भी वैदिक सम्प्रदाय मे 'प्राणामा' प्रव्रज्या प्रचलित है। इस प्रकार की प्रव्रज्या मे दीक्षित हुए एक सज्जन के सम्बन्ध मे 'सरस्वती' (मासिक पत्रिका भाग १३, अक १, पृष्ठ १८०) मे इस प्रकार के समाचार प्रकाशित हुए हैं—

" इसके बाद सब प्राणियो मे भगवान् की भावना दृढ करने और अहकार छोडने के इरादे से प्राणिमात्र को ईश्वर समझकर आपने साष्टाग प्रणाम करना शुरू किया। जिस प्राणी को आप आगे देखते, उसी के सामने अपने पैरो पर आप जमीन पर लेट जाते। इस प्रकार ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक और गौ से लेकर गधे तक को आप साष्टाग नमस्कार करने लगे।"

प्रस्तुत शास्त्र मे उल्लिखित 'प्राणामा' प्रव्रज्या और 'सरस्वती' मे प्रकाशित उपर्युक्त घटना, दोनो की प्रवृत्ति समान प्रतीत होती है। किन्तु ऐसी प्रवृत्ति सम्यग्ज्ञान के अभाव की सूचक है।

—भगवती विवेचन (प घेवरचन्दजी) भा २, पृ ५९४ से

२ भगवती अ वृत्ति, पत्राक १६४

बालतपस्वी तामली द्वारा पादपोपगमन-अनशन ग्रहण—

३९. तए ण से तामली मोरियपुत्ते तेण ओरालेण विपुलेण पयत्तेण पग्गहिएण बालतवोकम्मेण सुक्के लुक्खे जाव[1] धमणिसतते जाए यावि होत्था।

[३९] तत्पश्चात् वह मौर्यपुत्र तामली तापस उस उदार, विपुल, प्रदत्त और प्रगृहीत बाल (अज्ञान) तप द्वारा (अत्यन्त) सूख (शुष्क हो) गया, रूक्ष हो गया, यावत् (इतना दुर्बल हो गया कि) उसके समस्त नाडियो का जाल बाहर दिखाई देने लगा।

४०. तए ण तस्स तामलिस्स बालतवस्सिस्स अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयसि अणिच्चजागरिय जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए जाव समुप्पज्जित्था—'एवं खलु अह इमेण ओरालेण विपुलेण जाव[2] उदग्गेण उदत्तेण उत्तमेण महाणुभागेण तवोकम्मेण सुक्के लुक्खे जाव धमणिसंतते जाते, त अत्थि जा मे उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे तावता मे सेय कल्ल जाव जलते तामलित्तीए नगरीए दिट्ठाभट्ठे य पासडत्थे य गिहत्थे य पुव्वसगतिए य परियायसगतिए य आपुच्छित्ता तामलित्तीए नगरीए मज्झमज्झेण निग्गच्छित्ता पाउग्ग कुण्डियमादीयं उवकरण दारुमय च पडिग्गहय एगते एडित्ता तामलित्तीए नगरीए उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए णियत्तणियमडल आलिहित्ता सलेहणाझूसणाझूसियस्स भत्त-पाणपडियाइक्खियस्स पाओवगयस्स काल अणवकखमाणस्स विहरित्तए त्ति कट्टु एव सपेहेइ। एव सपेहेत्ता कल्ल जाव जलते जाव आपुच्छइ, २ तामलित्तीए एगते एडेइ जाव भत्त-पाणपडियाइक्खिए पाओवगमण निवन्ने।

[४०] तदनन्तर किसी एक दिन पूर्वरात्रि व्यतीत होने के बाद अपररात्रिकाल के समय अनित्य जागरिका अर्थात् ससार, शरीर आदि की क्षणभगुरता का विचार करते हुए उस बालतपस्वी तामली को इस प्रकार का आध्यात्मिक चिन्तन यावत् मनोगत सकल्प उत्पन्न हुआ कि 'मैं इस उदार, विपुल यावत् उदग्र, उदात्त, उत्तम और महाप्रभावशाली तप कर्म करने से शुष्क और रूक्ष हो गया हूँ, यावत् मेरा शरीर इतना कृश हो गया है कि नाडियो का जाल बाहर दिखाई देने लग गया है। इसलिए जब तक मुझ मे उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम है, तब तक मेरे लिए (यही) श्रेयस्कर है कि कल प्रात काल यावत् जाज्वल्यमान सूर्योदय होने पर मैं ताम्रलिप्ती नगरी मे जाऊँ। वहाँ जो दृष्टभाषित (जिनको पहले गृहस्थावस्था मे देखा है, जिनके साथ भाषण किया है) व्यक्ति हैं, जो पाषण्ड (व्रतो मे) स्थित हैं, या जो गृहस्थ हैं, जो पूर्वपरिचित (गृहस्थावस्था के परिचित) है, या जो पश्चात्परिचित (तापसजीवन मे परिचय मे आए हुए) हैं, तथा जो समकालीन प्रव्रज्या— (दीक्षा) पर्याय से युक्त पुरुष हैं, उनसे पूछकर (विचार-विनिमय करके), ताम्रलिप्ती नगरी के बीचोबीच से निकलकर पादुका (खडाऊ), कुण्डी आदि उपकरणो तथा काष्ठ-पात्र को एकान्त मे

---

१ यहाँ 'जाव' शब्द से 'भुक्खे, निम्मसे निस्सोणिए किडिकिडियाभूए अट्ठि चम्मावणद्धे किसे' यह पाठ जानना चाहिए।

२ 'जाव' पद से 'सस्सिरीएण पयत्तेण पग्गहिएण, कल्लाणेण सिवेण धन्नेण मगलेण' इस पाठ का ग्रहण करना चाहिए।

रखकर, ताम्रलिप्ती नगरी के उत्तर-पूर्व दिशा भाग (ईशान कोण) मे निवर्तनिक (एक परिमित क्षेत्र विशेष, अथवा निजतनुप्रमाण स्थान) मडल का आलेखन (निरीक्षण, सम्मार्जन, या रेखा खीच कर क्षेत्रमर्यादा) करके, सल्लेखना तप से आत्मा को सेवित कर आहार-पानी का सर्वथा त्याग (यावज्जीव अनशन) करके पादपोपगमन सथारा करू और मृत्यु की आकाक्षा नही करता हुआ (शान्तचित्त से समभाव मे) विचरण करू , मेरे लिए यही उचित है।' यो विचार करके प्रभातकाल होते ही यावत् जाज्वल्यमान सूर्योदय होने पर यावत् (पूर्वोक्त—पूर्वचिन्तित सकल्पानुसार सबमे यथायोग्य) पूछा। (विचार विनिमय करके) उस (तामली तापस) ने (ताम्रलिप्ती नगरी के बीचो-बीच से निकलकर अपने उपकरण) एकान्त स्थान मे छोड दिये। फिर यावत् आहार-पानी का सर्वथा प्रत्याख्यान (त्याग) किया और पादपोपगमन नामक अनशन (सथारा) अगीकार किया।

विवेचन—बालतपस्वी तामली द्वारा पादपोपगमन-अनशन-ग्रहण—प्रस्तुत सूत्रद्वय मे तामली तापस के बालतपस्वी जीवन के तीन वृत्तान्त प्रतिपादित किये गए हैं—(१) उक्त घोर बालतप के कारण शरीर शुष्क, रूक्ष एव अत्यन्त कृश हो गया।

(२) एक रात्रि के पिछले पहर मे क्रमश विधिवत् सलेखना-सथारा करने का सकल्प किया।

(३) सकल्पानुसार तामली तापस अपने परिचितो से पूछकर—उनकी अनुमति लेकर ताम्रलिप्ती के ईशानकोण मे सल्लेखनापूर्वक पादपोपगमन अनशन की आराधना मे सलग्न हुआ।

सलेखना तप—चतुर्विध आहार के सर्वथा प्रत्याख्यान (यावज्जीव अनशन) करने से पूर्व साधक काय और कषाय को कृश करने वाला सल्लेखना तप स्वीकार करता है।

पादपोपगमन-अनशन—इस अनशन का धारक साधक गिरे हुए पादप (वृक्ष) की तरह निश्चेष्ट होकर आत्मध्यान मे मग्न रहता है।[1]

बलिचंचावासी देवगण द्वारा इन्द्र बनने की विनति : तामली तापस द्वारा अस्वीकार—

४१. तेण कालेण तेण समएण बलिचचा रायहाणी अणिदा अपुरोहिया यावि होत्था। तए ण ते बलिचचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलिं बालतवस्सि ओहिणा आभोयंति, २ अन्नमन्न सद्दावेंति, २ एव वयासी—"एव खलु देवाणुप्पिया! बलिचचा रायहाणी अणिदा अपुरोहिया, अम्हे य णं देवाणुप्पिया! इंदाधीणा इंदाधिट्ठिया इंदाहीणकज्जा। अय च ण देवाणुप्पिया! तामली बालतवस्सी तामलित्तीए नगरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए नियत्तणिय-मंडलं आलिहित्ता सलेहणाझूसणाझूसिए भत्त पाणपडियाइक्खिए पाओवगमण निवन्ने। त सेयं खलु देवाणुप्पिया! अम्ह तामलिं बालतवस्सिं बलिचंचाए रायहाणीए ठितिपकप्पं पकरावेत्तए" त्ति कट्टु अन्नमन्नस्स अतिए एयमट्ठ पडिसुणेंति, २ बलिचचाए रायहाणीए मज्झमज्झेण निग्गच्छति, २ जेणेव रुयगिदे उप्पायपव्वए तेणेव उवागच्छति, २ वेउव्वियसमुग्घाएण समोहण्णति जाव उत्तरवेउव्वियाइं रूवाइ विकुव्वति, २ ताए उक्किट्ठाए तुरियाए चवलाए चंडाए जइणाए छेयाए सीहाए सिग्घाए दिव्वाए उद्धुयाए देवगतीए तिरियमसखेज्जाण दीव-समुद्दाण मज्झमज्झेण जेणेव जबुद्दीवे दीवे जेणेव भारहे वासे

[1] भगवतीसूत्र प्रमेयचन्द्रिका टीका भा ३ (पू घासीलालजी म) पृ २१५

जेणेव तामलित्ती नगरी जेणेव तामली मोरियपुत्ते तेणेव उवागच्छति, २ त्ता तामलिस्स बालतवस्सिस्स उप्पि सपक्खि सपडिदिसिं ठिच्चा दिव्वं देविड्ढि दिव्वं देवज्जुतिं दिव्वं देवाणुभागं दिव्वं बत्तीसतिविहं नट्टविहिं उवदसेंति, २ तामलिं बालतवस्सि तिक्खुत्तो आदाहिणं पदाहिणं करेंति वदति नमसति, २ एव वदासी—"एव खलु देवाणुप्पिया! अम्हे बलिचचारायहाणीवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य देवाणुप्पियं वदामो नमसामो जाव पज्जुवासामो। अम्हं णं देवाणुप्पिया! बलिचचारायहाणी अणिदा अपुरोहिया, अम्हे य णं देवाणुप्पिया! इंदाहीणा इंदाहिट्ठिया इंदाहीणकज्जा, तं तुब्भे णं देवाणुप्पिया! बलिचचं रायहाणिं आढाह परियाणह सुमरह, अट्ठं बंधह, णिदाणं पकरेह, ठितिपकप्पं पकरेह। तए णं तुब्भे कालमासे कालं किच्चा बलिचचारायहाणीए उववज्जिस्सह, तए णं तुब्भे अम्हं इंदा भविस्सह, तए णं तुब्भे अम्हेहिं सद्धि दिव्वाइं भोगभोगाइं भुजमाणा विहरिस्सह।"

[४१] उस काल उस समय मे बलिचचा (उत्तरदिशा के असुरेन्द्र असुरकुमारराज की) राजधानी इन्द्रविहीन और (इन्द्र के अभाव मे) पुरोहित से विहीन थी। उन बलिचचा राजधानी निवासी बहुत-से असुरकुमार देवो और देवियो ने तामली बालतपस्वी को अवधिज्ञान से देखा। देखकर उन्होने एक दूसरे को बुलाया, और बुलाकर इस प्रकार कहा—'देवानुप्रियो! (आपको मालूम ही है कि) बलिचचा राजधानी (इस समय) इन्द्र से विहीन और पुरोहित से भी रहित है। हे देवानुप्रियो! हम सब (अब तक) इन्द्राधीन और इन्द्राधिष्ठित (रहे) हैं, अपना सब कार्य इन्द्र की अधीनता मे होता है। हे देवानुप्रियो! (भारतवर्ष मे ताम्रलिप्ती नगरी मे) यह तामली बालतपस्वी ताम्रलिप्ती नगरी के बाहर उत्तरपूर्वदिशाभाग (ईशान कोण) मे निवर्तनिक (निवर्तनपरिमित या अपने शरीरपरिमित) मडल (स्थान) का आलेखन करके, सलेखना तप की आराधना से अपनी आत्मा को सेवित करके, आहार-पानी का सर्वथा प्रत्याख्यान कर, पादपोपगमन अनशन को स्वीकार करके रहा हुआ है। अत देवानुप्रियो! हमारे लिए यही श्रेयस्कर है कि तामली बालतपस्वी को बलिचचा राजधानी मे (इन्द्र रूप मे) स्थिति करने (आकर रहने) का सकल्प (प्रकल्प) कराएँ।' ऐसा (विचार) करके परस्पर एक-दूसरे के पास (इस बात के लिए) वचनबद्ध हुए। फिर (वे सब अपने वचनानुसार) बलिचचा राजधानी के बीचोबीच होकर निकले और जहाँ रुचकेन्द्र उत्पातपर्वत था, वहाँ आए। वहाँ आकर उन्होने वैक्रिय समुद्घात से अपने आपको समवहत (युक्त) किया, यावत् उत्तरवैक्रिय रूपो की विकुर्वणा की। फिर उस उत्कृष्ट, त्वरित, चपल, चण्ड, जयिनी, छेक (निपुण) सिंहसदृश, शीघ्र, दिव्य और उद्धूत देवगति से (वे सब) तिरछे असख्येय द्वीप-समुद्रो के मध्य मे होते हुए जहाँ जम्बूद्वीप नामक द्वीप था, जहाँ भारतवर्ष था, जहाँ ताम्रलिप्ती नगरी थी, जहाँ मौर्यपुत्र तामली तापस था, वहाँ आए, और तामली बालतपस्वी के (ठीक) ऊपर (आकाश मे) चारो दिशाओ और चारो कोनो (विदिशाओ) मे सामने खडे (स्थित) होकर दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवद्युति, दिव्य देवप्रभाव और बत्तीस प्रकार की दिव्य नाटकविधि बतलाई।

इसके पश्चात् तामली बालतपस्वी की दाहिनी ओर से तीन बार प्रदक्षिणा की, उसे वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके वे इस प्रकार बोले—हे देवानुप्रिय! हम बलिचचा राजधानी के निवासी बहुत-से असुरकुमार देव और देवीवृन्द आप देवानुप्रिय को वन्दन-नमस्कार करते है यावत् आपकी पर्युपासना करते है। हे देवानुप्रिय! (इस समय) हमारी बलिचचा राजधानी

इन्द्र और पुरोहित से विहीन है। और हे देवानुप्रिय ! हम सब इन्द्राधीन और इन्द्राधिष्ठित रहने वाले हैं। और हमारे सब कार्य इन्द्राधीन होते है। इसलिए हे देवानुप्रिय ! आप बलिचचा राजधानी (के अधिपतिपद) का आदर करें (अपनावें)। उसके स्वामित्व को स्वीकार करें, उसका मन मे भली-भाँति स्मरण (चिन्तन) करे, उसके लिए (मन मे) निश्चय करे, उसका (बलिचचा राजधानी के इन्द्र-पद की प्राप्ति का) निदान करे, बलिचचा मे उत्पन्न होकर स्थिति (इन्द्ररूप मे निवास) करने का सकल्प (निश्चय) करे। तभी (बलिचचा राजधानी के अधिपतिपदप्राप्ति का आपका विचार स्थिर हो जाएगा, तब ही) आप काल (मृत्यु) के अवसर पर मृत्यु प्राप्त करके बलिचचा राजधानी मे उत्पन्न होगे। फिर आप हमारे इन्द्र बन जाएँगे और हमारे साथ दिव्य कामभोगो को भोगते हुए विहरण करेंगे।

४२. तए णं से तामली बालतवस्सी तेहिं बलिचचारायहाणिवत्थव्वएहिं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहि य देवीहि य एव वुत्ते समाणे एयमट्ठं नो आढाइ नो परियाणेइ, तुसिणीए सचिट्ठइ।

[४२] जब बलिचचा राजधानी मे रहने वाले बहुत-से असुरकुमार देवो और देवियो ने उस तामली बालतपस्वी को इस (पूर्वोक्त) प्रकार से कहा तो उसने उनकी बात का आदर नही किया, स्वीकार भी नही किया, किन्तु मौन रहा।

४३ तए ण ते बलिचचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलि मोरियपुत्तं दोच्च पि तच्चं पि तिक्खुत्तो आदाहिणप्पदाहिण करेंति, २ जाव अम्हं च ण देवाणुप्पिया ! बलिचचा रायहाणी अणिदा जाव ठितिपकप्प पकरेह, जाव दोच्च पि तच्च पि एव वुत्ते समाणे जाव तुसिणीए सचिट्ठइ।

[४३] तदनन्तर बलिचचा-राजधानी-निवासी उन बहुत-से देवो और देवियो ने उस तामली बालतपस्वी की फिर दाहिनी ओर से तीन बार प्रदक्षिणा करके दूसरी बार, तीसरी बार पूर्वोक्त बात कही कि हे देवानुप्रिय ! हमारी बलिचचा राजधानी इन्द्रविहीन और पुरोहितरहित है, यावत् आप उसके स्वामी बनकर वहाँ स्थिति करने का सकल्प करिये।' उन असुरकुमार देव-देवियो द्वारा पूर्वोक्त बात दो-तीन बार यावत् दोहराई जाने पर भी तामली मौर्यपुत्र ने कुछ भी जवाब न दिया यावत् वह मौन धारण करके बैठा रहा।

४४ तए ण ते बलिचचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलिणा बालतवस्सिणा अणाढाइज्जमाणा अपरियाणिज्जमाणा जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया।

[४४] तत्पश्चात् अन्त मे जब तामली बालतपस्वी के द्वारा बलिचचा राजधानी-निवासी उन बहुत-से असुरकुमार देवो और देवियो का अनादर हुआ, और उनकी बात नही मानी गई, तब वे (देव-देवीवृन्द) जिस दिशा से आए थे, उसी दिशा मे वापस चले गए।

विवेचन—बलिचचानिवासी देवगण द्वारा इन्द्र बनने की विनति और तामली [illegible]

अस्वीकार—प्रस्तुत चार सूत्रो (४१ से ४४ सू तक) मे तामली तापस से सम्बन्धित चार वृत्तान्त प्रतिपादित किये गए है—

(१) बलिचचा राजधानी निवासी असुरकुमार देव-देवीगण द्वारा अनशन लीन तामली तापस को वहाँ के इन्द्रपद की प्राप्ति का सकल्प एव निदान करने के लिए विनति करने का विचार।

(२) तामली तापस की सेवा मे पहुचकर उससे बलिचचा के इन्द्रपद प्राप्ति का सकल्प और निदान का साग्रह अनुरोध।

(३) उनके अनुरोध का तामली तापस द्वारा अनादर और अस्वीकार।

(४) तामली तापस द्वारा अनादृत होने तथा स्वकीय प्रार्थना अमान्य होने से उक्त देवगण का निराश होकर अपने स्थान को लौट जाना।

पुरोहित बनने की विनति नहीं—तामली तापस का उक्त देवगण ने पुरोहित बनने की विनति इसलिए नही की कि इन्द्र के अभाव मे शान्तिकर्मकर्ता पुरोहित हो नही सकता था।

देवो की गति के विशेषण—**उक्किट्ठा**=उत्कर्षवती, **तुरिया**=त्वरावाली गति, **चवला**—शारीरिक चपलतायुक्त, **चडा**=रौद्ररूपा, **जइणा**=दूसरो की गति को जीतने वाली, **छेया**=उपाय-पूर्वकप्रवृत्ति होने से निपुण, **सीहा**=सिह की गति के समान अनायास होने वाली, **सिग्घा**=शीघ्र-गामिनी, **दिव्वा**=दिव्य-देवो की, **उद्धुया**=गमन करते समय वस्त्रादि उडा देने वाली, अथवा उद्धत-सदर्प गति। ये सब देवो की गति (चाल) के विशेषण है।

सपक्खि सपडिदिसिं की व्याख्या—**सपक्खि**=सपक्ष अर्थात्—जिस स्थल मे उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम, के सभी पक्ष-पार्श्व (पूर्व आदि दिशाएँ विदिशाए।) एकसरीखे हो, वह सपक्ष। **सपडिदिसिं**=जिस स्थान से सभी प्रतिदिशाए (विदिशाएँ) एक समान हो,[1] वह सप्रतिदिक् है।

तामली बालतपस्वी की ईशानेन्द्र के रूप मे उत्पत्ति—

४५ तेण कालेण तेण समएण ईसाणे कप्पे अणिदे अपुरोहिते यावि होत्था। तए ण से तामली बालतवस्सी रिसी बहुपडिपुण्णाइ सट्ठि वाससहस्साइ परियाग पाउणित्ता दोमासियाए सलेहणाए अत्ताण झूसित्ता सवीस भत्तसय अणसणाए छेदित्ता कालमासे काल किच्चा ईसाणे कप्पे ईसाणवडिसए विमाणे उववातसभाए देवसयणिज्जसि देवदूसतरिते अगुलस्स असखेज्जभागमेत्तीए ओगाहणाए ईसाण-देविंदविरहकालसमयसि ईसाणदेविंदत्ताए उववन्ने। तए ण से ईसाणे देविंदे देवराया अहुणोववन्ने पचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभाव गच्छति, त जहा—आहारपज्जत्तीए जाव भासा-मणपज्जत्तीए।

[४५] उस काल और उस समय मे ईशान देवलोक (कल्प) इन्द्रविहीन और पुरोहितरहित भी था। उस समय ऋषि तामली बालतपस्वी, पूरे साठ हजार वर्ष तक तापस पर्याय का पालन करके, दो महीने की सलेखना से अपनी आत्मा को सेवित करके, एक सौ बीस भक्त (टक) अनशन मे काट कर (अर्थात्—१२० बार का भोजन छोड कर=दो मास तक अनशन का पालन कर) काल के

---

१ भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक १६७

अवसर पर काल करके ईशान देवलोक के ईशावतसक विमान मे उपपातसभा की देवदूष्य-वस्त्र से आच्छादित देवशय्या मे अगुल के असख्येय भाग जितनी अवगाहना मे, ईशान-देवलोक के इन्द्र के विरहकाल (अनुपस्थितिकाल) मे ईशानदेवेन्द्र के रूप मे उत्पन्न हुआ। तत्काल उत्पन्न वह देवेन्द्र देवराज ईशान, आहारपर्याप्ति से लेकर यावत् भाषा-मन पर्याप्ति तक, पचविध पर्याप्तियो से पर्याप्ति भाव को प्राप्त हुआ—पर्याप्त हो गया।

विवेचन—तामली बालतपस्वी की ईशानेन्द्र के रूप मे उत्पत्ति—प्रस्तुत सूत्र मे तामली तापस द्वारा स्वीकृत सलेखना एव अनशन पूर्ण होने की तथा आयुष्य पूर्ण होने की अवधि वता कर ईशान देवलोक मे ईशान-देवेन्द्र के रूप मे उत्पन्न होने का वर्णन है।

तामली तापस की कठोर बाल-तपस्या एव सलेखनापूर्वक अनशन का सुफल—यहाँ शास्त्रकार ने तामली तापस की साधना के फलस्वरूप उपार्जित पुण्य का फल बताकर यह ध्वनित कर दिया है कि इतना कठोर तपश्चरण अज्ञानपूर्वक होने से कर्मक्षय का कारण न बनकर शुभकर्मोपार्जन का कारण बना।

देवो मे पाँच ही पर्याप्तियो का उल्लेख—इसलिए किया गया है, कि देवो के भाषा और मन पर्याप्ति एक साथ सम्मिलित बधती है।[३१]

बलिचंचावासी असुरों द्वारा तामली तापस के शव की विडम्बना—

४६ तए ण बलिचचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलिं बालतवस्सिं कालगयं जाणित्ता ईसाणे य कप्पे देविंदत्ताए उववन्नं पासित्ता आसुरुत्ता कुविया चडिक्किया मिसिमिसेमाणा बलिचचाए रायहाणीए मज्झमज्झेणं निग्गच्छति, २ ताए उक्किट्ठाए जाव जेणेव भारहे वासे जेणेव तामलित्ती नयरी जेणेव तामलिस्स बालतवस्सिस्स सरीरए तेणेव उवागच्छति, २ वामे पाए सु बेण बधति, २ तिक्खुत्तो मुहे उट्ठुहति, २ तामलित्तीए नगरीए सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहेसु आकड्ढविकड्ढिं करेमाणा महया २ सद्देणं उग्घोसेमाणा २ एव वदासि—'केस ण भो ! से तामली बालतवस्सी सयगहियलिंगे पाणामाए पव्वज्जाए पव्वइए ! केस ण से ईसाणे कप्पे ईसाणे देविंदे देवराया' इति कट्टु तामलिस्स बालतवस्सिस्स सरीरयं हीलति निंदति खिसति गरिहति अवमन्नति तज्जति तालेंति परिवहेति पव्वहेति आकड्ढविकड्ढिं करेंति, हीलेत्ता जाव आकड्ढविकड्ढिं करेत्ता एगते एडेंति, २ जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया।

[४६] उस समय बलिचचा-राजधानी के निवासी बहुत-से असुरकुमार देवो और देवियो ने जब यह जाना कि तामली बालतपस्वी कालधर्म को प्राप्त हो गया है और ईशानकल्प (देवलोक) मे वहाँ के देवेन्द्र के रूप मे उत्पन्न हुआ है, तो यह जानकर वे एकदम क्रोध से मूढमति हो गए, अथवा शीघ्र क्रोध से भडक उठे, वे अत्यन्त कुपित हो गए, उनके चेहरे क्रोध से भयकर उग्र हो गए वे क्रोध की आग से तिलमिला उठे और तत्काल वे सब बलिचचा राजधानी के बीचोबीच होकर निकले, यावत् उत्कृष्ट देवगति से इस जम्बूद्वीप मे स्थित भरतक्षेत्र की ताम्रलिप्ती नगरी के बाहर, जहाँ तामली

---

३१ भगवती विवेचन (प घेवरचन्दजी) भाग २, पृ ५८७

बालतपस्वी का शव (मृतशरीर) (पडा) था वहाँ आए। उन्होने (तामली बालतपस्वी के मृत शरीर के) बाएँ पैर को रस्सी से बाधा, फिर तीन बार उसके मुख मे थूका। तत्पश्चात् ताम्रलिप्ती नगरी के शृ गाटको—त्रिकोण मार्गो (तिराहो) मे, चौको मे, प्रागण मे, चतुर्मु ख मार्ग मे तथा महामार्गो मे, अर्थात् ताम्रलिप्ती नगरी के सभी प्रकार के मार्गो मे उसके शव (मृतशरीर) को घसीटा, अथवा इधर-उधर खीचतान की और जोर-जोर से चिल्लाकर उद्घोषणा करते हुए इस प्रकार कहने लगे—'स्वयमेव तापस का वेष पहन (ग्रहण) कर 'प्राणामा' प्रव्रज्या अगीकार करने वाला यह तामली बालतपस्वी हमारे सामने क्या है ? तथा ईशानकल्प मे उत्पन्न हुआ देवेन्द्र देवराज ईशान भी हमारे सामने कौन होता है ?' यो कहकर वे उस तामली बालतपस्वी के मृत शरीर की हीलना, (अवहेलना), निन्दा करते है, उसे कोसते (खिसा करते) है, उसकी गर्हा करते है, उसकी अवमानना, तर्जना और ताडना करते है (उसे मारते-पीटते है)। उसकी कदर्थना (विडम्बना) और भर्त्सना करते हैं, (उसकी बहुत बुरी हालत करते है, उसे उठा-उठाकर खूब पटकते है।) अपनी इच्छानुसार उसे इधर-उधर घसीटते (खीचते) है। इस प्रकार उस शव की हीलना यावत् मनमानी खीचतान करके फिर उसे एकान्त स्थान मे डाल देते है। फिर वे जिस दिशा से आये थे, उसी दिशा मे वापस लौट गए।

विवेचन—बलिचचावासी असुरो द्वारा तामली तापस के शव की विडम्बना—प्रस्तुत सूत्र मे बालतपस्वी तामली तापस का अनशनपूर्वक मरण हो जाने और ईशान देवलोक के इन्द्र के रूप मे उत्पन्न होने पर क्रुद्ध बलिचचावासी असुरो द्वारा उसके मृतशरीर की की गई विडम्बना का वर्णन है। क्रोध मे असुरो को कुछ भी भान न रहा कि इसकी प्रतिक्रिया क्या होगी ?

प्रकुपित ईशानेन्द्र द्वारा भस्मीभूत बलिचंचा देख, भयभीत असुरो द्वारा अपराधक्षमा-याचना—

४७ तए ण ईसाणकप्पवासी बहवे वेमाणिया देवा य देवीओ य बलिचचारायहाणिवत्थव्वएहिं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं देवीहि य तामलिस्स बालतवस्सिस्स सरीरय हीलिज्जमाण निंदिज्जमाण जाव आकड्ढविकड्ढि कीरमाण पासति, २ आसुरुत्ता जाव मिसिमिसेमाणा जेणेव ईसाणे देविंदे देवराया तेणेव उवागच्छति, २ करयलपरिग्गहिय दसनह सिरसावत्त मत्थए अजलि कट्टु जएण विजएण वद्धावेंति, २ एव वदासी—एव खलु देवाणुप्पिया ! बलिचचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य देवाणुप्पिए कालगए जाणित्ता ईसाणे य कप्पे इदत्ताए उववन्ने पासेत्ता आसुरुत्ता जाव एगते एडेंति, २ जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया।

[४७] तत्पश्चात् ईशानकल्पवासी बहुत-से वैमानिक देवो और देवियो ने (इस प्रकार) देखा कि बलिचचा-राजधानी-निवासी बहुत-से असुरकुमार देवो और देवियो द्वारा तामली बालतपस्वी के मृत शरीर की हीलना, निन्दा और आक्रोशना की जा रही है, यावत् उस शव को मनचाहे ढग से इधर-उधर घसीटा या खीचा जा रहा है। अत इस प्रकार (तामली तापस के मृत शरीर की दुर्दशा होती) देखकर वे वैमानिक देव-देवीगण शीघ्र ही क्रोध से भडक उठे यावत् क्रोधानल से तिलमिलाते (दात पीसते) हुए, जहाँ देवेन्द्र देवराज ईशान था, वहाँ पहुँचे। ईशानेन्द्र के पास पहुँचकर दोनो हाथ जोड कर मस्तक पर अजलि करके 'जय हो, विजय हो' इत्यादि शब्दो से उस (तामली के जीव

ईशानेन्द्र) को बधाया। फिर वे इस प्रकार बोले—'हे देवानुप्रिय! बलिचचा राजधानी निवासी बहुत से असुरकुमार देव और देवीगण आप देवानुप्रिय को कालधर्म प्राप्त हुए एव ईशानकल्प मे इन्द्ररूप मे उत्पन्न हुए देखकर अत्यन्त कोपायमान हुए यावत् आपके मृतशरीर को उन्होने मनचाहा आडा-टेढा खीच-घसीटकर एकान्त मे डाल दिया। तत्पश्चात् वे जिस दिशा से आए थे, उसी दिशा मे वापस लौट गए।'

४८. तए ण से ईसाणे देविंदे देवराया तेसि ईसाणकप्पवासीण बहूणं वेमाणियाण देवाण य देवीण य अतिए एयमट्ठ सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते जाव मिसिमिसेमाणे तत्थेव सयणिज्जवरगए तिवलिय भिउडिं निडाले साहट्टु बलिचंच रायहाणिं अहे सपक्खि सपडिदिसिं समभिलोएइ, तए ण सा बलिचचा रायहाणी ईसाणेण देविंदेण देवरण्णा अहे सपक्खि सपडिदिसिं समभिलोइया समाणी तेण दिव्वप्पभावेण इगालब्भूया मुम्मुरब्भूया छारिब्भूया तत्तकवेल्लकब्भूया तत्ता समजोइब्भूया जाया यावि होत्था।

[४८] उस समय देवेन्द्र देवराज ईशान ईशानकल्पवासी बहुत-से वैमानिक देवो और देवियो से यह बात सुनकर और मन मे विचार कर शीघ्र ही क्रोध से आगबबूला हो उठा, यावत् क्रोधाग्नि से तिलमिलाता (मिसमिसाहट करता) हुआ, वही देवशय्या स्थित ईशानेन्द्र ने ललाट पर तीन सल (रेखाएँ) डालकर एव भ्रुकुटि तान कर बलिचचा राजधानी को, नीचे ठीक सामने, (सपक्ष—चारो दिशाओ से बराबर सम्मुख, और सप्रतिदिक् (चारो विदिशाओ से भी एकदम सम्मुख) होकर एकटक दृष्टि से देखा। इस प्रकार कुपित दृष्टि से बलिचचा राजधानी को देखने से वह उस दिव्यप्रभाव से जलते हुए अगारो के समान, अग्नि-कणो के समान, तपी हुई राख के समान, तपतपाती बालू जैसी या तपे हुए गर्म तवे सरीखी, और साक्षात् अग्नि की राशि जैसी हो गई—जलने लगी।

४९ तए ण ते बलिचचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य त बलिचच रायहाणिं इगालब्भूय जाव समजोतिब्भूय पासति, २ भीया उत्तत्था सुसिया उव्विग्गा सजायभया सव्वओ समता आधावेंति परिधावेंति, २ अन्नमन्नस्स काय समतुरगेमाणा २ चिट्ठति।

[४९] जब बलिचचा राजधानी मे रहने वाले बहुत-से असुरकुमार देवो और देवियो ने उस बलिचचा राजधानी को अगारो सरीखी यावत् साक्षात् अग्नि की लपटो जैसी देखी तो वे उसे देखकर अत्यन्त भयभीत हुए, भयत्रस्त होकर कापने लगे, उनका आनन्दरस सूख गया (अथवा उनके चेहरे सूख गए), वे उद्विग्न हो गए, और भय के मारे चारो ओर इधर-उधर भाग-दौड करने लगे। (इस भगदड मे) वे एक दूसरे के शरीर से चिपटने लगे अथवा एक दूसरे के शरीर की ओट मे छिपने लगे।

५० तए ण ते बलिचचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य ईसाणं देविंद देवराय परिकुविय जाणित्ता ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो त दिव्व देविड्ढिं दिव्व देवज्जुतिं दिव्व देवाणुभाग दिव्व तेयलेस्स असहमाणा सव्वे सपक्खि सपडिदिसिं ठिच्चा करयलपरिग्गहिय दसनह सिरसावत्त मत्थए अजलिं कट्टु जएण विजयेण वद्धावेंति, २ एव वयासी—अहो ण देवाणुप्पिएहिं दिव्वा देविड्ढी जाव अभिसमन्नागता, त दिट्ठा ण देवाणुप्पियाण दिव्वा देविड्ढी जाव लद्धा पत्ता

अभिसमन्नागया। त खामेमो ण देवाणुप्पिया !, खमतु ण देवाणुप्पिया !, खतुमरिहृति ण देवाणुप्पिया !, णाइ भुज्जो एवकरणयाए त्ति कट्टु एयमट्ठ सम्म विणयेण भुज्जो २ खामेति।

[५०] ऐसी दु स्थिति हो गई, तब बलिचचा-राजधानी के बहुत-से असुरकुमार देवो और देवियो ने यह जानकर कि देवेन्द्र देवराज ईशान के परिकुपित होने से (हमारी राजधानी इस प्रकार आग-सी तप्त हो गई है), वे सब असुरकुमार देवगण, ईशानेन्द्र (देवेन्द्र देवराज) की उस दिव्य देव-ऋद्धि, दिव्य देवद्युति, दिव्य देवप्रभाव, और दिव्य तेजोलेश्या को सहन न करते हुए देवेन्द्र देवराज ईशान के चारो दिशाओ मे और चारो विदिशाओ मे ठीक सामने खडे होकर (ऊपर की ओर मुख करके दसो नख इकट्ठे हो, इस तरह से दोनो हाथ जोडकर शिरसावर्तयुक्त मस्तक पर अजलि करके ईशानेन्द्र को जय-विजय-शब्दो (के उच्चारणपूर्वक) बधाने लगे—अभिनन्दन करने लगे। अभिनन्दन करके वे इस प्रकार बोले—'अहो ! (धन्य है !) आप देवानुप्रिय ने दिव्य देव-ऋद्धि यावत् उपलब्ध की है, प्राप्त की है, और अभिमुख कर ली है ! हमने आपके द्वारा उपलब्ध, प्राप्त और अभिसमन्वागत (सम्मुख की हुई) दिव्य देवऋद्धि को, यावत् देवप्रभाव को प्रत्यक्ष देख लिया है। अत हे देवानुप्रिय ! (अपने अपराध के लिए) हम आप से क्षमा मागते है। आप देवानुप्रिय हमे क्षमा करे। आप देवानुप्रिय हमे क्षमा करने योग्य है। (भविष्य मे) फिर कभी इस प्रकार नही करेगे।' इस प्रकार निवेदन करके उन्होने ईशानेन्द्र से अपने अपराध के लिए विनयपूर्वक अच्छी तरह बार-बार क्षमा मागी।

५१ तते णं से ईसाणे देविंदे देवराया तेहिं बलिचंचारायहाणीवत्थव्वएहिं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं देवीहि य एयमट्ठ सम्म विणएण भुज्जो २ खामिए समाणे त दिव्व देविड्ढि जाव तेयलेस्स पडिसाहरइ। तप्पभिति च ण गोयमा ! ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य ईसाण देविंद देवराय आढति जाव पज्जुवासति, ईसाणस्स य देविंदस्स देवरण्णो आणा-उववाय-वयण-निद्देसे चिट्ठति।

[५१] अब जबकि बलिचचा-राजधानी-निवासी उन बहुत-से असुरकुमार देवो और देवियो ने देवेन्द्र देवराज ईशान से अपने अपराध के लिए सम्यक् विनयपूर्वक बार-बार क्षमायाचना कर ली, तब ईशानेन्द्र ने उस दिव्य देव ऋद्धि यावत् छोडी हुई तेजोलेश्या को वापस खीच (समेट) ली।

हे गौतम ! तब से बलिचचा-राजधानी-निवासी वे बहुत-से असुरकुमार देव और देवीवृन्द देवेन्द्र देवराज ईशान का आदर करते हैं यावत् उसकी पर्युपासना (सेवा) करते है। (और तभी से वे) देवेन्द्र देवराज ईशान की आज्ञा और सेवा मे, तथा आदेश और निर्देश मे रहते हैं।

५२ एव खलु गोयमा ! ईसाणेणं देविंदेण देवरण्णा सा दिव्वा देविड्ढी जाव अभिसमन्नागया।

[५२] हे गौतम ! देवेन्द्र देवराज ईशान ने वह दिव्य देवऋद्धि यावत् इस प्रकार लब्ध, प्राप्त और अभिसमन्वागत की है।

विवेचन—ईशानेन्द्र के प्रकोप से उत्तप्त एव भयभीत असुरो द्वारा क्षमायाचना—इन छह सूत्रो (४७ से ५२ सू तक) मे ईशानेन्द्र से सम्बन्धित सात मुख्य वृत्तान्त शास्त्रकार ने प्रस्तुत किये है—

१ असुरकुमार देवगण द्वारा तामली तापस (वर्तमान मे ईशानेन्द्र) के शव की होती हुई दुर्दशा देख ईशानकल्पवासी वैमानिकदेवगण ने अत्यन्त कुपित होकर अपने सद्य जात ईशानेन्द्र को वस्तु-स्थिति से अवगत कराया।

२ सुनकर देवशय्या स्थित कुपित ईशानेन्द्र ने बलिचचाराजधानी को तेजोलेश्यापूर्ण दृष्टि से देखा। बलिचचा जाज्वल्यमान अग्निसम तप्त हो गई।

३ बलिचचा-निवासी असुर अपनी निवासभूमि को अत्यन्त तप्त देख भयत्रस्त होकर कापने तथा इधर-उधर भागने लगे।

४ ईशानेन्द्र की तेजोलेश्या का प्रभाव असह्य होने से वे मिलकर उससे अनुनय-विनय करने तथा अपने अपराध के लिए क्षमायाचना करने लगे।

५ इस प्रकार असुरो द्वारा की गई क्षमायाचना से ईशानेन्द्र ने करुणार्द्र होकर अपनी तेजो-लेश्या वापस खीच ली। बलिचचाराजधानी मे शान्ति हो गई।

६ तब से बलिचचा के असुरगण ईशानेन्द्र का आदर-सत्कार एव विनयभक्ति करने लगे, और उनकी आज्ञा, सेवा एव आदेश मे तत्पर रहने लगे।

७ भ महावीर ने गौतम द्वारा ईशानेन्द्र की देवऋद्धि आदि से सम्बन्धित प्रश्न के उत्तर का उपसहार किया।[1]

कठिन शब्दो के विशिष्ट अर्थ—'तिवलिय भिउडिनिडालेसाहट्टु=ललाट मे तीन रेखाए (सल) पड जाए, इस प्रकार से भ्रुकुटि चढा कर। **तत्तकवेलगभूया**=तपे हुए कवेलू (कडाही या तवा) या रेत जैसी। **तत्तसमजोइयभूया**=अत्यन्त तपी हुई लाय, अग्नि की लपट या साक्षात् अग्नि-राशि या ज्योति के समान। **आकड्ढ-विकड्ढि करेंति**=मनचाहा आडा-टेढा या इधर-उधर खीचते या घसीटते है। **समतुरगेमाणा**=एक दूसरे से चिपटते या एक दूसरे की ओट मे छिपते हुए। **आणा**=तुम्हे यह कार्य करना ही है, इस प्रकार का आदेश, **उववाय**=पास मे रहकर सेवा करना, **वयूण**=आज्ञा-पूर्वक आदेश, **निद्देस**=पूछे हुए कार्य के सम्बन्ध मे नियत उत्तर।[2]

ईशानेन्द्र की स्थिति तथा परम्परा से मुक्त हो जाने की प्ररूपणा—

५३ ईसाणस्स ण भते ! देविदस्स देवरण्णो केवतिय काल ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! सातिरेगाइ दो सागरोवमाइ ठिती पन्नत्ता।

[५३ प्र] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज ईशान की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[५३ उ] गौतम ! ईशानेन्द्र की स्थिति दो सागरोपम से कुछ अधिक की कही गई है।

१ (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) (ख) (प बेचरदासजी) भा १, पृ १३६-१३७

२ (क) भगवती अ वृत्ति, पत्राक १६७

(ख) भगवती विवेचन (प घेवरचन्दजी) भा २, पृ ५८८ से ५९२ तक

(ग) श्रीमद्भगवती सूत्र (टीका-अनुवाद सहित) (प बेचरदासजी) खण्ड २, पृ ४५

(घ) भगवती सूत्र प्रमेयचन्द्रिका टीका (पू घासीलालजी म) भा ३, पृ २६५ से २७२

५४ ईसाणे ण भते ! देविंदे देवराया ताओ देवलोगाओ आउक्खएण जाव कहिं गच्छिहिति ? कहिं उववज्जिहिति ?

गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति जाव अत काहिति ।

[५४ प्र] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज ईशान देव आयुष्य का क्षय होने पर, वहाँ का स्थिति-काल पूर्ण होने पर उस देवलोक से च्युत होकर कहाँ जाएगा, कहाँ उत्पन्न होगा ?

[५४ उ] गौतम ! वह (देवलोक से च्यव कर) महाविदेह वर्ष (क्षेत्र) मे जन्म लेकर सिद्ध होगा यावत् समस्त दु खो का अन्त करेगा ।

विवेचन—ईशानेन्द्र की स्थिति और परम्परा से मुक्त हो जाने की प्ररूपणा—प्रस्तुत दो सूत्रो मे से प्रथम मे ईशानेन्द्र की स्थिति और दूसरे मे स्थिति आयुष्य और भव पूर्ण होने पर भविष्य मे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाने की प्ररूपणा है ।

बालतपस्वी को इन्द्रपद प्राप्ति के बाद भविष्य मे मोक्ष कैसे ?—यद्यपि बालतपस्वी होने से तामली मिथ्यात्वी था, किन्तु इन्द्रपद प्राप्ति के बाद सम्यग्दृष्टि (सिद्धान्तत) हो गया । इस कारण उसका मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान हो गया । इसलिए महाविदेह मे जन्म लेकर भविष्य मे सिद्ध-बुद्ध होने मे कोई सन्देह नही ।

शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र के विमानो की ऊँचाई-नीचाई मे अन्तर—

५५ [१] सक्कस्स ण भते ! देविंदस्स देवरण्णो विमाणेहिंतो ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो विमाणा ईसिं उच्चयरा चेव ईसिं उन्नयतरा चेव ? ईसाणस्स वा देविंदस्स देवरण्णो विमाणेहिंतो सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो विमाणा ईसिं नीययरा चेव ईसिं निण्णयरा चेव ?

हता, गोतमा ! सक्कस्स त चेव सव्व नेयव्व ।

[५५-१ प्र] भगवन् ! क्या देवेन्द्र देवराज शक्र के विमानो से देवेन्द्र देवराज ईशान के विमान कुछ (थोडे-से) उच्चतर—ऊचे हैं, कुछ उन्नततर है ? अथवा देवेन्द्र देवराज ईशान के विमानो से देवेन्द्र देवराज शक्र के विमान कुछ नीचे हैं, कुछ निम्नतर है ?

[५५-१ उ] हाँ, गौतम ! यह इसी प्रकार है । यहाँ ऊपर का सारा सूत्रपाठ (उत्तर के रूप मे) समझ लेना चाहिए । अर्थात्—देवेन्द्र देवराज शक्र के विमानो से देवेन्द्र देवराज ईशान के विमान कुछ ऊचे है, कुछ उन्नततर हैं, अथवा देवेन्द्र देवराज ईशान के विमानो से देवेन्द्र देवराज शक्र के विमान कुछ नीचे हैं, कुछ निम्नतर हैं ।

[२] से केणट्ठेण ?

गोयमा ! से जहानामए करतले सिया देसे उच्चे देसे उन्नये, देसे णीए देसे निण्णे, से तेणट्ठेण०

[५५-२ प्र] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है ?

[५५-२ उ] गौतम ! जैसे किसी हथेली का एक भाग (देश) कुछ ऊचा और उन्नततर

होता है, तथा एक भाग कुछ नीचा और निम्नतर होता है, इसी तरह शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र के विमानो के सम्बन्ध मे समझना चाहिए। इसी कारण से पूर्वोक्त रूप से कहा जाता है।

विवेचन—शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र के विमानो की ऊँचाई-नीचाई मे अन्तर—प्रस्तुत सूत्र मे करतल के दृष्टान्त द्वारा शक्रेन्द्र से ईशानेन्द्र के विमानो को किञ्चित् उच्चतर तथा उन्नततर और ईशानेन्द्र से शक्रेन्द्र के विमानो को कुछ नीचा एव निम्नतर प्रतिपादन किया गया है।

उच्चता-नीचता या उन्नतता-निम्नता किस अपेक्षा से?—उच्चता और उन्नतता के यहाँ दो अर्थ किये गये है—(१) प्रमाण की अपेक्षा से, अथवा प्रासाद की अपेक्षा से विमानो की उच्चता तथा (२) शोभाधिक आदि गुणो की अपेक्षा से अथवा प्रासाद के पीठ की अपेक्षा से उन्नतता समझना चाहिए। तथा इन दोनो के विपरीत नीचत्व और निम्नत्व समझ लेना चाहिए।[1]

यो तो शास्त्रान्तर मे दोनो इन्द्रो के विमानो की ऊचाई ५०० योजन कही है, वह सामान्यापेक्षा से समझना चाहिए।[2]

दोनो इन्द्रो का शिष्टाचार तथा विवाद मे सनत्कुमारेन्द्र की मध्यस्थता—

५६ [१] पभू ण भते! सक्के देविंदे देवराया ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो अंतियं पाउब्भवित्तए?

हंता, पभू।

[५६-१ प्र] भगवन्! क्या देवेन्द्र देवराज शक्र देवेन्द्र देवराज ईशान के पास प्रकट होने (जाने) मे समर्थ है?

[५६-१ उ] हाँ गौतम! शक्रेन्द्र, ईशानेन्द्र के पास जाने मे समर्थ है।

[२] से णं भंते! किं आढायमाणे पभू, अणाढायमाणे पभू?

गोयमा! आढायमाणे पभू, नो अणाढायमाणे पभू।

[५६-२ प्र] भगवन्! (जब शक्रेन्द्र, ईशानेन्द्र के पास जाता है तो) क्या वह आदर करता हुआ जाता है, या अनादर करता हुआ जाता है?

[५६-२ उ] हे गौतम! वह उसका (ईशानेन्द्र का) आदर करता हुआ जाता है, किन्तु अनादर करता हुआ नही।

५७ [१] पभू णं भंते! ईसाणे देविंदे देवराया सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो अंतियं पाउब्भवित्तए?

हंता, पभू।

---

१ (क) भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक १६९

(ख) भगवती सूत्र, प्रमेयचन्द्रिका टीका (हिन्दीगुजर भाषानुवादसहित) भा ३, पृ २८३-२८४

२ (क) जीवाभिगम सूत्र वृत्ति (स पृ ३९७)

(ख) भगवती (टीकानुवाद) प्रथम खण्ड, पृ २९६, भगवती अ वृत्ति, पृ १६९

[५७-१ प्र] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज ईशान, क्या देवेन्द्र देवराज शक्र के पास प्रकट होने (जाने) मे समर्थ है ?

[५७-१ उ] हाँ गौतम ! ईशानेन्द्र, शक्रेन्द्र के पास जाने मे समर्थ है ।

[२] से भंते ! किं आढायमाणे पभू अणाढायमाणे पभू ?

गोयमा ! आढायमाणे वि पभू, अणाढायमाणे वि पभू ।

[५७-२ प्र] भगवन् ! (जब ईशानेन्द्र, शक्रेन्द्र के पास जाता है तो), क्या वह आदर करता हुआ जाता है, या अनादर करता हुआ जाता है ?

[५७-२ उ] गौतम ! (जब ईशानेन्द्र, शक्रेन्द्र के पास जाता है, तब) वह आदर करता हुआ भी जा सकता है, और अनादर करता हुआ भी जा सकता है ।

५८ पभू णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया ईसाणं देविंदं देवरायं सपक्खि सपडिदिसिं समभिलोएत्तए ?

जहा पादुब्भवणा तहा दो वि आलावगा नेयव्वा ।

[५८ प्र] भगवन् ! क्या देवेन्द्र देवराज शक्र, देवेन्द्र देवराज ईशान के समक्ष (चारो दिशाओ मे) तथा सप्रतिदिश (चारो कोनो मे=सब ओर) देखने मे समर्थ है ?

[५८ उ] गौतम ! जिस तरह से पास प्रादुर्भूत होने (जाने) (के सम्बन्ध मे दो आलापक कहे हैं, उसी) तरह से देखने के सम्बन्ध मे भी दो आलापक कहने चाहिए ।'

५९ पभू णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया ईसाणेण देविंदेण देवरण्णा सद्धिं आलावं वा सलावं वा करेत्तए ?

हंता, पभू । जहा पादुब्भवणा ।

[५९ प्र] भगवन् ! क्या देवेन्द्र देवराज शक्र, देवेन्द्र देवराज ईशान के साथ आलाप या सलाप (भाषण-सभाषण या बातचीत) करने मे समर्थ है ?

[५९ उ] हाँ, गौतम ! वह आलाप-सलाप करने मे समर्थ है । जिस तरह पास जाने के सम्बन्ध मे दो आलापक कहे हैं, (उसी तरह आलाप-सलाप के विषय मे भी दो आलापक कहने चाहिए ।)

६० [१] अत्थि णं भंते ! तेसिं सक्कीसाणाणं देविंदाणं देवराईणं किच्चाइं करणिज्जाइं समुप्पज्जंति ?

हंता, अत्थि ।

[६०-१ प्र] भगवन् ! उन देवेन्द्र देवराज शक्र और देवेन्द्र देवराज ईशान के बीच मे परस्पर कोई कृत्य (प्रयोजन) और करणीय (विधेय—करने योग्य) समुत्पन्न होते है ?

[६०-१ उ] हाँ, गौतम ! समुत्पन्न होते है ।

[२] से कहमिदाणिं पकरेंति ? गोयमा ! ताहे चेव ण से सक्के देविंदे देवराया ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो अंतियं पाउब्भवति, ईसाणे ण देविंदे देवराया सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो अंतियं पाउब्भवइ—'इति भो ! सक्का ! देविंदा ! देवराया ! दाहिणड्ढलोगाहिवती !', 'इति भो ! ईसाणा ! देविंदा ! देवराया ! उत्तरड्ढलोगाहिवती !'। 'इति भो इति भो' त्ति ते अन्नमन्नस्स किच्चाइं करणिज्जाइं पच्चणुभवमाणा विहरंति ।

[६०-२ प्र] भगवन् ! जब इन दोनो के कोई कृत्य (प्रयोजन) या करणीय होते है, तब वे कैसे व्यवहार (कार्य) करते है ?

[६०-२ उ] गौतम ! जब देवेन्द्र देवराज शक्र को कार्य होता है, तब वह (स्वय) देवेन्द्र देवराज ईशान के समीप प्रकट होता है, और जब देवेन्द्र देवराज ईशान को कार्य होता है, तब वह (स्वय) देवेन्द्र देवराज शक्र के निकट जाता है । उनके परस्पर सम्बोधित करने का तरीका यह है—'ऐसा है, हे दक्षिणार्द्ध लोकाधिपति देवेन्द्र देवराज शक्र !' (शक्रेन्द्र पुकारता है—) 'ऐसा है, हे उत्तरार्द्ध लोकाधिपति देवेन्द्र देवराज ईशान ! (यहाँ), दोनो ओर से 'इति भो-इति भो !' (इस प्रकार के शब्दो से परस्पर) सम्बोधित करके वे एक दूसरे के कृत्यो (प्रयोजनो) और करणीयो (कार्यो) को अनुभव करते हुए विचरते है, (अर्थात्—दोनो अपना-अपना कार्यानुभव करते रहते है ।)

६१ [१] अत्थि ण भंते ! तेसिं सक्कीसाणाणं देविंदाणं देवराईणं विवादा समुप्पज्जंति ? हंता, अत्थि ।

[६१-१ प्र] भगवन् ! क्या देवेन्द्र शक्र और देवेन्द्र देवराज ईशान, इन दोनो मे विवाद भी समुत्पन्न होता है ?

[६१-१ उ] 'हाँ, गौतम ! (इन दोनो इन्द्रो के बीच विवाद भी समुत्पन्न) होता है ।

[२] से कहमिदाणिं पकरेंति ?

गोयमा ! ताहे चेव ण ते सक्कीसाणा देविंदा देवरायाणो सणंकुमारं देविंदं देवरायं मणसीकरेंति । तए ण से सणंकुमारे देविंदे देवराया तेहिं सक्कीसाणेहिं देविंदेहिं देवराईहिं मणसीकए समाणे खिप्पामेव सक्कीसाणाणं देविंदाणं देवराईणं अंतियं पाउब्भवति । जं से वदइ तस्स आणा-उववाय-वयण-निद्देसे चिट्ठंति ।

[६१-२ प्र] (भगवन् ! जब उन दोनो इन्द्रो मे परस्पर विवाद उत्पन्न हो जाता है,) तब वे क्या करते हैं ?

[६१-२ उ] गौतम ! जब शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र मे परस्पर विवाद उत्पन्न हो जाता है, तब वे दोनो, देवेन्द्र देवराज सनत्कुमारेन्द्र का मन मे स्मरण करते है । देवेन्द्र देवराज शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र द्वारा स्मरण करने पर शीघ्र ही सनत्कुमारेन्द्र देवराज, शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र के निकट प्रकट होता (आता) है । वह जो भी कहता है, (उसे ये दोनो इन्द्र मान्य करते है ।) ये दोनो इन्द्र उसकी आज्ञा, सेवा, आदेश और निर्देश मे रहते है ।

विवेचन—दोनो इन्द्रो का शिष्टाचार तथा विवाद मे सनत्कुमारेन्द्र की मध्यस्थता—प्रस्तुत छह सूत्रो (५६ से ६१ सू० तक) मे शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र के परस्पर मिलने-जुलने, एक दूसरे को आदर देने, एक दूसरे को भलीभाति देखने (प्रेमपूर्वक साक्षात्कार करने), परस्पर वार्तालाप करने तथा पारस्परिक विवाद उत्पन्न होने पर सनत्कुमारेन्द्र को मध्यस्थ बनाकर उसकी बात मान्य करने आदि द्वारा दोनो इन्द्रो के पारस्परिक शिष्टाचार एव व्यवहार का निरूपण किया गया है।

कठिन शब्दो के विशेषार्थ—पाउब्भवित्तए=प्रादुर्भूत—प्रकट होने-आने के लिए। आलाव=आलाप—एक बार सभाषण, सलाव—बार-बार सभाषण, किच्चाइ=कृत्य अर्थात्—प्रयोजन, करणिज्जाइ=करणीय=करने योग्य कार्य। कहमिदाणि पकरेंति=जब कार्य करने का प्रसग हो, तब वे किस प्रकार से करते है? पच्चणुभवमाणा=प्रत्यनुभव करते हुए=अपने-अपने करणीय कार्य का अनुभव करते हुए। इति भो! ऐसी बात है, जी! या यह कार्य है, अजी![1] 'आढायमाणे-अणाढायमाणे' इन दोनो शब्दो का तात्पर्य—यह भी है कि शक्रेन्द्र की अपेक्षा ईशानेन्द्र का दर्जा ऊँचा है, इसलिए शक्रेन्द्र, ईशानेन्द्र के पास तभी जा सकता है जबकि ईशानेन्द्र शक्रेन्द्र को आदरपूर्वक बुलाए। अगर आदरपूर्वक न बुलाए तो वह ईशानेन्द्र के पास नही जाता, किन्तु ईशानेन्द्र शक्रेन्द्र के पास विना बुलाए भी जा सकता है क्योकि उसका दर्जा ऊचा है।[2]

सनत्कुमारेन्द्र की भवसिद्धिकता आदि तथा स्थिति एव सिद्धि के विषय मे प्रश्नोत्तर—

६२ [१] सणकुमारे ण भते! देविंदे देवराया किं भवसिद्धिए, अभवसिद्धिए? सम्मद्दिट्ठी, मिच्छद्दिट्ठी? परित्तससारए, अणतससारए? सुलभबोहिए, दुल्लभबोहिए? आराहए, विराहए? चरिमे अचरिमे?

गोयमा! सणकुमारे ण देविंदे देवराया भवसिद्धिए नो अभवसिद्धिए, एव सम्मद्दिट्ठी परित्तससारए सुलभबोहिए आराहए चरिमे, पसत्थ नेयव्व।

[६२-१ प्र] हे भगवन्! देवेन्द्र देवराज सनत्कुमार क्या भवसिद्धिक है या अभवसिद्धिक है?, सम्यग्दृष्टि है, या मिथ्यादृष्टि है? परित्त (परिमित) ससारी है या अनन्त (अपरिमित) ससारी?, सुलभबोधि है, या दुर्लभबोधि?, आराधक है, अथवा विराधक? चरम है अथवा अचरम?

[६२-१ उ] गौतम! देवेन्द्र देवराज सनत्कुमार, भवसिद्धिक है, अभवसिद्धिक नही, इसी तरह वह सम्यग्दृष्टि है, (मिथ्यादृष्टि नही,) परित्तससारी है, (अनन्तससारी नही,) सुलभबोधि है, (दुर्लभबोधि नही,) आराधक है, (विराधक नही,) चरम है, (अचरम नही।) (अर्थात्—इस सम्बन्ध मे सभी) प्रशस्त पद ग्रहण करने चाहिए।

[२] से केणट्ठेण भते!? गोयमा! सणकुमारे देविंदे देवराया बहूण समणाणं बहूण

---

१ (क) भगवती सूत्र अ-वृत्ति, पत्राक १६९

(ख) भगवती-विवेचन (प घेवरचदजी), भा २, पृ ५९८ से ६०० तक

२ भगवती सूत्र प्रमेयचन्द्रिका टीका (हिन्दी-गुर्जर भावानुवादयुक्त) भाग ३, पृ २८६

समणीण बहूण सावगाण बहूण साविगाण हियकामए सुहकामए पत्थकामए आणुकंपिए निस्सेयसिए हिय-सुह-निस्सेसकामए, से तेणट्ठेण गोयमा ! सणकुमारे ण भवसिद्धिए जाव नो अचरिमे।

[६२-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से (ऐसा कहा जाता है) ?

[६२-२ उ] गौतम ! देवेन्द्र देवराज सनत्कुमार बहुत-से श्रमणो, बहुत-सी श्रमणियो, बहुत-से श्रावको और बहुत-सी श्राविकाओ का हितकामी (हितैषी), सुखकामी (सुखेच्छु), पथ्यकामी (पथ्याभिलाषी), अनुकम्पिक (अनुकम्पा करने वाला), निश्रेयसिक (निःश्रेयस=कल्याण या मोक्ष का इच्छुक) है। वह उनका हित, सुख और निःश्रेयस् का कामी (चाहने वाला) है। इसी कारण, गौतम ! सनत्कुमारेन्द्र भवसिद्धिक है, यावत् (चरम है, किन्तु) अचरम नही।

६३. सणकुमारस्स ण भंते ! देविंदस्स देवरण्णो केवतिय काल ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! सत्त[1] सागरोवमाणि ठिती पण्णत्ता।

[६३ प्र] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज सनत्कुमार की स्थिति (आयु) कितने काल की कही गई है ?

[६३ उ] गौतम ! सनत्कुमारेन्द्र की स्थिति (उत्कृष्ट) सात सागरोपम की कही गई है।

६४. से ण भंते ! ताओ देवलोगातो आउक्खएण जाव कहिं उववज्जिहिति ?

गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति जाव अंत करेहिति। सेवं भंते ! सेवं भंते ! ०॥

[६४ प्र] भगवन् ! वह (सनत्कुमारेन्द्र) उस देवलोक से आयु क्षय (पूर्ण) होने के बाद, यावत् कहाँ उत्पन्न होगा ?

[६४ उ] हे गौतम ! सनत्कुमारेन्द्र उस देवलोक से च्यवकर (आयुष्य पूर्ण कर) महाविदेह वर्ष (क्षेत्र) मे, (जन्म लेकर वही से) सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा, यावत् सर्वदुःखो का अन्त करेगा।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है !' (यो कहकर गौतमस्वामी यावत् विचरण करने लगे।)

विवेचन—सनत्कुमारेन्द्र की भवसिद्धिकता आदि, तथा स्थिति एव सिद्धि के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत तीन सूत्रो (सू ६२ से ६४ तक) मे सनत्कुमारेन्द्र की भवसिद्धिकता-अभवसिद्धिकता, सम्यग्दृष्टित्व-मिथ्यादृष्टित्व, परित्तससारित्व अनन्तससारित्व, सुलभबोधिता-दुर्लभ-बोधिता, विराधकता-आराधकता, एव चरमता-अचरमता आदि प्रश्न उठा कर, इनमे से उसके प्रशस्तपदभागी होने के कारण की तथा उसकी स्थिति एव भविष्य मे सिद्धि-प्राप्ति से सम्बन्धित सैद्धान्तिक दृष्टि से प्ररूपणा की गई है।

कठिन शब्दो के विशेषार्थ—'भवसिद्धिए'=जो भविष्य मे सिद्धि=मुक्ति प्राप्त कर लेगा वह भवसिद्धिक होता है। 'सम्मद्दिट्ठी'=सम्यग्दृष्टि—जीवादि नौ तत्त्वो पर निर्दोष श्रद्धावान्।

---

१ तुलना—'सप्त सनत्कुमारे'—तत्त्वार्थसूत्र, अ ४, सू ३६

परित्तससारए—जिसका ससारपरिभ्रमण परिमित—सीमित हो गया हो, **आराहए**=ज्ञानादि का आराधक। **चरिमे**=जिसका अब अन्तिम एक ही भव शेप रहा हो, अथवा जिसका यह चरम—अन्तिम देव भव हो, **पत्थकामए**=पथ्यकामी, पथ्य का अर्थ है—दु ख से वचना, उसका इच्छुक। **हियकामए**=हितकामी। हित का अर्थ है—सुख की कारणरूप वस्तु।[1]

तृतीय शतक के प्रथम उद्देशक की संग्रहणीगाथाएँ—

६५. गाहाओ—छट्ठऽट्ठम मासो अद्धमासो वासाइ अट्ठ छम्मासा।
तीसग-कुरुदत्ताण तव भत्तपरिण्ण परियाओ॥ १॥
उच्चत्त विमाणाण पादुब्भव पेच्छणा य संलावे।
किच्च विवादुप्पत्ती सणकुमारे य भवियत्त॥ २॥

[2]मोया समत्ता

॥ तइय सए पढमो उद्देसो समत्तो॥

गाथाओ का अर्थ—(भावार्थ—इस प्रकार है—) तिष्यक श्रमण का तप छट्ठ-छट्ठ (निरन्तर बेला-बेला) था और उसका अनशन एक मास का था। कुरुदत्तपुत्र श्रमण का तप अट्ठम-अट्ठम (निरन्तर तेले-तेले) का था और उसका अनशन था—अर्द्ध मासिक (१५ दिन का)। तिष्यक श्रमण की दीक्षापर्याय आठ वर्ष की थी, और कुरुदत्तपुत्रश्रमण की थी—छह मास की। (इन दोनो से सम्बन्धित विषय इस उद्देशक मे आया है।) इसके अतिरिक्त (दूसरे विषय आए है, जैसे कि) दो इन्द्रो के विमानो की ऊँचाई, एक इन्द्र का दूसरे के पास आगमन (प्रादुर्भाव) परस्पर प्रेक्षण (अवलोकन), उनका आलाप-सलाप, उनका कार्य, उनमे विवादोत्पत्ति तथा उनका निपटारा, तथा सनत्कुमारेन्द्र की भवसिद्धिकता आदि विषयो का निरूपण इस उद्देशक मे किया गया है।[3]

॥ मोका समाप्त॥

विवेचन—तृतीय शतक के प्रथम उद्देशक की दो सग्रहणी गाथाएँ—यहाँ प्रथम उद्देशक मे प्रतिपादित विषयो का सक्षेप मे सकेत दो गाथाओ द्वारा दिया गया है।

॥ तृतीय शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त॥

---

१ (क) भगवतीसूत्र प्रमेयचन्द्रिका टीका, हिन्दीगुर्जरभाषानुवादयुक्त भा ३, पृ २९९
(ख) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १६९

२ इस उद्देशक मे वर्णित विपयो का निरूपण भगवान् ने 'मोका नगरी' मे किया था, इसलिए इस उद्देशक का एक नाम 'मोका' भी रखा गया है। वर्तमान मे पटना के निकट 'मोकामा घाट' नामक स्थान है, सम्भव है, वही प्राचीन मोका नगरी हो।—स

३ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १६९

बिइओ उद्देसओ : 'चमरो'

द्वितीय उद्देशक : चमर

द्वितीय उद्देशक का उपोद्घात

१ तेण कालेण तेण समएण रायगिहे नगरे होत्था जाव परिसा पज्जुवासइ ।

[१] उस काल, उस समय मे राजगृह नाम का नगर था । यावत् भगवान् वहाँ पधारे और परिषद् पर्युपासना करने लगी ।

२ तेण कालेण तेण समएण चमरे असुरिंदे असुरराया चमरचचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए चमरसि सीहासणसि चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीहिं जाव नट्टविहिं उवद सेत्ता जामेव दिसि पाउब्भूए तामेव दिसि पडिगए ।

[२] उस काल, उस समय मे चौसठ हजार सामानिक देवो से परिवृत और चमरचचा नामक राजधानी मे, सुधर्मासभा मे चमरनामक सिंहासन पर बैठे असुरेन्द्र असुरराज चमर ने (राजगृह मे विराजमान भगवान् को अवधिज्ञान से देखा), यावत् नाट्यविधि दिखला कर जिस दिशा से आया था, उसी दिशा मे वापस लौट गया ।

विवेचन—द्वितीय उद्देशक का उपोद्घात—द्वितीय उद्देशक की उद्देशना कहाँ से और कैसे प्रारम्भ हुई ? इसका यह उपोद्घात है । इसमे बताया गया है कि राजगृह मे भगवान् महावीर विराजमान थे । अपनी सुधर्मा सभा मे चमरसिंहासन-स्थित चमरेन्द्र ने वही से भगवान् को देखा और अपने समस्त देव परिवार को बुलाकर ईशानेन्द्र की तरह विविध नाट्यविधि भगवान् महावीर और गौतमादि श्रमणवर्ग को दिखलाई और वापस लौट गया । चमरेन्द्र के इस आगमन से और उसकी दिव्य ऋद्धि आदि पर से कैसे प्रश्नो और उत्तरो का सिलसिला प्रारम्भ होता है ? इसे अगले सूत्रो मे बताएँगे ।

असुरकुमार देवो का स्थान—

३ [१] भंते ! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमसति, २ एवं वदासी—अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे असुरकुमारा देवा परिवसंति ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे ।

[३-१ प्र] 'हे भगवन् !' यो कह कर भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया । वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार पूछा—'भगवन् ! क्या असुरकुमार देव इस रत्नप्रभापृथ्वी के नीचे रहते हैं ?'

[३-१ उ] हे गौतम! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नही है। (अर्थात्—असुरकुमार देव रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे निवास नही करते।)

[२] एव जाव अहेसत्तमाए पुढवीए, सोहम्मस्स कप्पस्स अहे जाव अत्थि ण भंते! ईसिपब्भाराए पुढवीए अहे असुरकमारा देवा परिवसंति? णो इणट्ठे समट्ठे।

[३-२ प्र] इसी प्रकार यावत् सप्तम (तमस्तम प्रभा) पृथ्वी के नीचे भी वे (असुरकुमार देव) नही रहते, और न सौधर्मकल्प-देवलोक के नीचे, यावत् अन्य सभी कल्पो (देवलोको) के नीचे वे रहते है। (तब फिर प्रश्न होता है—) भगवन्! क्या वे असुरकुमार देव ईषत्प्राग्भारा (सिद्धशिला) पृथ्वी के नीचे रहते है?

[३-२ उ] (हे गौतम!) यह अर्थ (बात) भी समर्थ (शक्य) नही। (अर्थात्—ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के नीचे भी असुरकुमार देव नही रहते।)

४ से कहि खाइ ण भंते! असुरकुमारा देवा परिवसंति?

गोयमा! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसतसहस्सबाहल्लाए, एवं[1] असुर-कुमारदेववत्तव्वया जाव दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरंति।

[४ प्र] भगवन्! तब ऐसा वह कौन-सा स्थान है, जहाँ असुरकुमार देव निवास करते हैं?

[४ उ] गौतम! एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी इस रत्नप्रभा पृथ्वी के बीच मे (असुरकुमार देव रहते है।) यहाँ असुरकुमारसम्बन्धी समस्त वक्तव्यता कहनी चाहिए, यावत् वे (वहाँ) दिव्य भोगो का उपभोग करते हुए विचरण (आनन्द से जीवनयापन) करते है।

विवेचन—असुरकुमार देवो का आवासस्थान—प्रस्तुत सूत्रद्वय मे असुरकुमार देवो के आवासस्थान के विषय मे पूछा गया है और अन्त मे भगवान् रत्नप्रभा पृथ्वी के अन्तराल मे उनके आवासस्थान होने का प्रतिपादन करते हैं।

असुरकुमारदेवो का यथार्थ आवासस्थान—प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार रत्नप्रभा का पृथ्वी-पिण्ड एक लाख अस्सी हजार योजन है। उसमे से ऊपर एक हजार योजन छोडकर और नीचे एक हजार योजन छोड कर, बीच मे एक लाख अठहत्तर हजार योजन के भाग मे असुरकुमार देवो के ३४ लाख भवनावास हैं।[2]

असुरकुमार देवो के अधो-तिर्यक्-ऊर्ध्वगमन से सम्बन्धित प्ररूपणा—

५ अत्थि ण भंते! असुरकुमाराण देवाण अहे गतिविसए प०?

हंता, अत्थि।

---

१ असुरकुमार देव सम्बन्धी वक्तव्यता इस प्रकार समझनी चाहिए—"**उवरिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहेत्ता, हेट्ठा च एगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठहत्तरे जोयणसयसहस्से, एत्थ णं असुरकुमाराणं देवाणं चोसट्ठिं भवणा-वाससयसहस्सा भवतीति अक्खायं**" इसका भावार्थ विवेचन मे किया जा चुका है। —सं

२ (क) प्रज्ञापनासूत्र (आ. स.) पृ. ८९-९१

(ख) श्रीमद्भगवतीसूत्रम् (टीकानुवाद) (प. बेचरदासजी) खण्ड २, पृ. ४९

[५ प्र.] भगवन्! क्या असुरकुमार देवो का (अपने स्थान से) अधोगमन-विषयक (सामर्थ्य) है?

[५ उ] हाँ, गौतम! (उनमे अपने स्थान से नीचे जाने का सामर्थ्य) है।

६ केवतिए च ण भंते! पभू ते असुरकुमाराण देवाण अहेगतिविसए पण्णत्ते?
गोयमा! जाव अहेसत्तमाए पुढवीए, तच्च पुण पुढविं गता य गमिस्सति य।

[६ प्र] भगवन्! असुरकुमार देवो का (अपने स्थान से) अधोगमन-विषयक सामर्थ्य कितना (कितने भाग तक) है?

[६ उ] गौतम! सप्तमपृथ्वी तक नीचे जाने की शक्ति उनमे है। (किन्तु वे वहाँ तक कभी गए नही, जाते नही और जाएँगे भी नही) वे तीसरी पृथ्वी (वालुकाप्रभा) तक गये हैं, जाते है और जायेंगे।

७ किंपत्तिय ण भंते! असुरकुमारा देवा तच्च पुढविं गता य, गमिस्सति य? गोयमा! पुव्ववेरियस्स वा वेदणउदीरणयाए, पुव्वसंगतियस्स वा वेदणउवसामणयाए। एव खलु असुरकुमारा देवा तच्च पुढविं गता य, गमिस्संति य।

[७ प्र] भगवन्! किस प्रयोजन (निमित्त या कारण) से असुरकुमार देव तीसरी पृथ्वी तक गये है, (जाते है,) और भविष्य मे जायेंगे?

[७ उ] हे गौतम! अपने पूर्व शत्रु को (असाता वेदन भडकाने)—दु ख देने अथवा अपने पूर्व साथी (मित्रजन) की वेदना का उपशमन करके (दु ख-निवारण कर सुखी बनाने) के लिए असुरकुमार देव तृतीय पृथ्वी तक गये है, (जाते हैं,) और जायेंगे।

८ अत्थि ण भंते! असुरकुमाराण देवाण तिरिय गतिविसए पण्णत्ते?
हता, अत्थि।

[८ प्र] भगवन्! क्या असुरकुमारदेवो मे तिर्यग् (तिरछे) गमन करने का (सामर्थ्य) कहा गया है?

[८ उ] हाँ, गौतम! (असुरकुमार देवो मे अपने स्थान से तिर्यग्गमन-विषयक सामर्थ्य) है।

९ केवतियं च ण भंते! असुरकुमाराण देवाण तिरिय गतिविसए पण्णत्ते?
गोयमा! जाव असखेज्जा दीव-समुद्दा, नदिस्सरवर पुण दीव गता य, गमिस्सति य।

[९ प्र] भगवन्! असुरकुमार देवो मे (अपने स्थान से) तिरछा जाने की कितनी (कहाँ तक) शक्ति है?

[९ उ] गौतम! असुरकुमार देवो मे (अपने स्थान से), यावत् असख्येय द्वीप-समुद्रो तक (तिरछा गमन करने का सिर्फ सामर्थ्य है,) किन्तु वे नन्दीश्वर द्वीप तक गए है, (जाते हैं,) और भविष्य मे जायेंगे।

[३-१ उ] हे गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नही है। (अर्थात्—असुरकुमार देव रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे निवास नही करते।)

[२] एव जाव अहेसत्तमाए पुढवीए, सोहम्मस्स कप्पस्स अहे जाव अत्थि ण भते ! ईसिपब्भाराए पुढवीए अहे असुरकमारा देवा परिवसति ? णो इणट्ठे समट्ठे।

[३-२ प्र] इसी प्रकार यावत् सप्तम (तमस्तम प्रभा) पृथ्वी के नीचे भी वे (असुरकुमार देव) नही रहते, और न सौधर्मकल्प-देवलोक के नीचे, यावत् अन्य सभी कल्पो (देवलोको) के नीचे वे रहते है। (तब फिर प्रश्न होता है—) भगवन् ! क्या वे असुरकुमार देव ईषत्प्राग्भारा (सिद्धशिला) पृथ्वी के नीचे रहते हैं ?

[३-२ उ] (हे गौतम !) यह अर्थ (बात) भी समर्थ (शक्य) नही। (अर्थात्—ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के नीचे भी असुरकुमार देव नही रहते।)

४ से कहिं खाइ ण भते ! असुरकुमारा देवा परिवसति ?

गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसतसहस्सबाहल्लाए, एव[1] असुरकुमारदेववत्तव्वया जाव दिव्वाइ भोगभोगाइ भुजमाणा विहरति।

[४ प्र] भगवन् ! तब ऐसा वह कौन-सा स्थान है, जहाँ असुरकुमार देव निवास करते है ?

[४ उ] गौतम ! एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी इस रत्नप्रभा पृथ्वी के बीच मे (असुरकुमार देव रहते है।) यहाँ असुरकुमारसम्बन्धी समस्त वक्तव्यता कहनी चाहिए, यावत् वे (वहाँ) दिव्य भोगो का उपभोग करते हुए विचरण (आनन्द से जीवनयापन) करते है।

विवेचन—असुरकुमार देवो का आवासस्थान—प्रस्तुत सूत्रद्वय मे असुरकुमार देवो के आवासस्थान के विषय मे पूछा गया है और अन्त मे भगवान् रत्नप्रभा पृथ्वी के अन्तराल मे उनके आवासस्थान होने का प्रतिपादन करते है।

असुरकुमारदेवों का यथार्थ आवासस्थान—प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार रत्नप्रभा का पृथ्वी-पिण्ड एक लाख अस्सी हजार योजन है। उसमे से ऊपर एक हजार योजन छोडकर और नीचे एक हजार योजन छोड कर, बीच मे एक लाख अठहत्तर हजार योजन के भाग मे असुरकुमार देवो के ३४ लाख भवनावास है।[2]

असुरकुमार देवो के अधो-तिर्यक्-ऊर्ध्वगमन से सम्बन्धित प्ररूपणा—

५ अत्थि ण भते ! असुरकुमाराण देवाण अहे गतिविसए प० ?

हता, अत्थि।

---

१ असुरकुमार देव सम्बन्धी वक्तव्यता इस प्रकार समझनी चाहिए—"**उवरिं एग जोयणसहस्स ओगाहेत्ता, हेट्ठा च एग जोयणसहस्स वज्जेत्ता मज्झे अट्ठहत्तरे जोयणसयसहस्से, एत्थ ण असुरकुमाराण देवाण चोसट्ठि भवणावा सहस्सा भवतीति**" इसका भावार्थ विवेचन मे किया जा चुका है। —स

२ (क) प्रज्ञापनासूत्र (आ स) पृ ८९—९१

(ख) श्रीमद्भगवतीसूत्रम् (टीकानुवाद) (प वेचरदासजी) खण्ड २, पृ ४९

[५ प्र.] भगवन् ! क्या असुरकुमार देवो का (अपने स्थान में) अधोगमन-विषयक (सामर्थ्य) है ?

[५ उ] हाँ, गौतम ! (उनमे अपने स्थान से नीचे जाने का सामर्थ्य) है।

६ केवतिए च ण भ ते ! पभू ते असुरकुमाराण देवाण अहेगतिविसए पण्णत्ते ?
गोयमा ! जाव अहेसत्तमाए पुढवीए, तच्च पुण पुढविं गता य गमिस्सति य ।

[६ प्र] भगवन् ! असुरकुमार देवो का (अपने स्थान से) अधोगमन-विषयक सामर्थ्य कितना (कितने भाग तक) है ?

[६ उ] गौतम ! सप्तमपृथ्वी तक नीचे जाने की शक्ति उनमे है। (किन्तु वे वहाँ तक कभी गए नही, जाते नही और जाएँगे भी नही) वे तीसरी पृथ्वी (वालुकाप्रभा) तक गये हैं, जाते है और जायेंगे।

७ किंपत्तिय ण भ ते ! असुरकुमारा देवा तच्च पुढविं गता य, गमिस्सति य ? गोयमा ! पुव्ववेरियस्स वा वेदणउदीरणयाए, पुव्वसगतियस्स वा वेदणउवसामणयाए । एव खलु असुरकुमारा देवा तच्च पुढविं गता य, गमिस्सति य ।

[७ प्र] भगवन् ! किस प्रयोजन (निमित्त या कारण) से असुरकुमार देव तीसरी पृथ्वी तक गये है, (जाते हैं,) और भविष्य मे जायेंगे ?

[७ उ] हे गौतम ! अपने पूर्व शत्रु को (असाता वेदन भडकाने)—दु ख देने अथवा अपने पूर्व साथी (मित्रजन) की वेदना का उपशमन करके (दु ख-निवारण कर सुखी वनाने) के लिए असुरकुमार देव तृतीय पृथ्वी तक गये है, (जाते है,) और जायेंगे।

८ अत्थि ण भ ते ! असुरकुमाराण देवाण तिरिय गतिविसए पण्णत्ते ?
हता, अत्थि ।

[८ प्र] भगवन् ! क्या असुरकुमारदेवो मे तिर्यग् (तिरछे) गमन करने का (सामर्थ्य) कहा गया है ?

[८ उ] हाँ, गौतम ! (असुरकुमार देवो मे अपने स्थान से तिर्यग्गमन-विषयक सामर्थ्य) है।

९ केवतिय च ण भ ते ! असुरकुमाराण देवाण तिरिय गतिविसए पण्णत्ते ?
गोयमा ! जाव असखेज्जा दीव-समुद्दा, नदिस्सरवर पुण दीव गता य, गमिस्सति य ।

[९ प्र] भगवन् ! असुरकुमार देवो मे (अपने स्थान से) तिरछा जाने की कितनी (कहाँ तक) शक्ति है ?

[९ उ] गौतम ! असुरकुमार देवो मे (अपने स्थान से), यावत् असख्येय द्वीप-समुद्रो तक (तिरछा गमन करने का सिर्फ सामर्थ्य है,) किन्तु वे नन्दीश्वर द्वीप तक गए है, (जाते हैं,) और भविष्य मे जायेंगे।

१०. किंपत्तिय ण भंते ! असुरकुमारा देवा नंदीसरवरदीवं गता य, गमिस्संति य ?

गोयमा ! जे इमे अरिहंता भगवंता एतेसि णं जम्मणमहेसु वा निक्खमणमहेसु वा णाणुप्पत्ति-महिमासु वा परिनिव्वाणमहिमासु वा एवं खलु असुरकुमारा देवा नंदीसरवरं दीवं गता य, गमिस्संति य।

[१० प्र] भगवन् ! असुरकुमार देव, नन्दीश्वरवरद्वीप किस प्रयोजन (निमित्त या कारण) से गए हैं, (जाते हैं) और जाएँगे ?

[१० उ] हे गौतम ! जो ये अरिहन्त भगवान् (तीर्थंकर) हैं, इनके जन्म-महोत्सव मे, निष्क्रमण (दीक्षा) महोत्सव मे, ज्ञानोत्पत्ति (केवलज्ञान उत्पन्न) होने पर महिमा (उत्सव) करने, तथा परिनिर्वाण (मोक्षगमन) पर महिमा (महोत्सव) करने के लिए असुरकुमार देव, नन्दीश्वरवरद्वीप गए है, जाते है और जाएँगे।

११ अत्थि णं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं उड्ढं गतिविसए प० ?

हंता, अत्थि।

[११ प्र] भगवन् ! क्या असुरकुमार देवो मे (अपने स्थान से) ऊर्ध्व (ऊपर) गमन-विषयक सामर्थ्य है ?

[११ उ] हाँ गौतम ! (उनमे अपने स्थान से ऊँचे जाने की शक्ति) है।

१२ केवतियं च णं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं उड्ढं गतिविसए ?

गोयमा ! जाव अच्चुतो कप्पो। सोहम्मं पुण कप्पं गता य, गमिस्संति य।

[१२ प्र] भगवन् ! असुरकुमारदेवो की ऊर्ध्वगमनविषयक शक्ति कितनी है ?

[१२ उ] गौतम ! असुरकुमारदेव अपने स्थान से यावत् अच्युतकल्प (बारहवे देवलोक) तक ऊपर जाने मे समर्थ है। (ऊर्ध्वगमन-विषयक उनकी यह शक्तिमात्र है, किन्तु वे वहाँ तक कभी गए नही, जाते नही और न जाएँगे।) अपितु वे सौधर्मकल्प (प्रथम देवलोक) तक गए है, (जाते है) और जाएँगे।

१३ [१] किंपत्तियं णं भंते ! असुरकुमारा देवा सोहम्मं कप्पं गता य, गमिस्संति य ?

गोयमा ! तेसि णं देवाणं भवपच्चइयवेराणुबंधे। ते णं देवा विकुव्वेमाणा परियारेमाणा वा आयरक्खे देवे वित्तासेंति। अहालहुस्सगाइं रयणाइं गहाय आयाए एगंतमंतं अवक्कमंति।

[१३-१ प्र] भगवन् ! असुरकुमारदेव किस प्रयोजन (निमित्त=कारण) से सौधर्मकल्प तक गए हैं, (जाते हैं) और जाएँगे ?

[१३-१ उ] हे गौतम ! उन (असुरकुमार) देवो का वैमानिक देवो के साथ भवप्रत्ययिक (जन्मजात) वैरानुबन्ध होता है। इस कारण वे देव क्रोधवश वैक्रिय शक्ति द्वारा नानारूप बनाते

हुए तथा परकीय देवियो के साथ (परिचार) सभोग करते हुए (वैमानिक) आत्मरक्षक देवो को त्रास पहुचाते है, तथा यथोचित छोटे-मोटे रत्नो को ले (चुरा) कर स्वय एकान्त भाग मे चले जाते है।

[२] अत्थि ण भते ! तेसिं देवाण अहालहुस्सगाइ रयणाइ ?

हता, अत्थि।

[१३-२ प्र] भगवन् ! क्या उन (वैमानिक) देवो के पास यथोचित छोटे-मोटे रत्न होते हैं ?

[१३-२ उ] हाँ गौतम ! (उन वैमानिक देवो के पास यथोचित छोटे-मोटे रत्न) होते है।

[३] से कहमिदाणि पकरेंति ?

तओ से पच्छा काय पव्वहति।

[१३-३ प्र] भगवन् ! (जब वे (असुरकुमार देव) वैमानिक देवो के यथोचित रत्न चुरा कर, भाग जाते है, तब वैमानिक देव) उनका क्या करते है ?

[१३-३ उ] (गौतम ! वैमानिको के रत्नो का अपहरण करने के) पश्चात् वैमानिक देव उनके शरीर को अत्यन्त व्यथा (पीडा) पहुँचाते है।

[४] पभू ण भते ! ते असुरकुमारा देवा तत्थगया चेव समाणा ताहि अच्छराहि सद्धि दिव्वाइ भोगभोगाइ भु जमाणा विहरित्तए ?

णो इणट्ठे समट्ठे, ते ण तओ पडिनियत्तति, तओ पडिनियत्तित्ता इहमागच्छति, २ जति ण ताओ अच्छराओ आढायति परियाणति, पभू ण ते असुरकुमारा देवा ताहि अच्छराहि सद्धि दिव्वाइ भोगभोगाइ भु जमाणा विहरित्तए, अह ण ताओ अच्छराओ नो आढायति नो परियाणति णो ण पभू ते असुरकुमारा देवा ताहि अच्छराहि सद्धि दिव्वाइ भोगभोगाइ भु जमाणा विहरित्तए।

[१३-४ प्र] भगवन् ! क्या वहाँ (सौधर्मकल्प मे) गए हुए वे असुरकुमार देव उन (देवलोक की) अप्सराओ के साथ दिव्य भोगने योग्य भोगो को भोगने मे समर्थ है ? (अर्थात्—वे वहाँ उनके साथ भोग भोगते हुए विहरण कर सकते है ?)

[१३-४ उ] (हे गौतम !) यह अर्थ (—ऐसा करने मे वे) समर्थ नही। वे (असुरकुमार देव) वहाँ से वापस लौट जाते है। वहाँ से लौट कर वे यहाँ (अपने स्थान मे) आते हैं। यदि वे (वैमानिक) अप्सराएँ उनका (असुरकुमार देवो का) आदर करे, उन्हे स्वामीरूप मे स्वीकारें तो, वे असुरकुमार देव उन (उर्ध्वदेवलोकगत) अप्सराओ के साथ दिव्य भोग भोग सकते है,—यदि वे (ऊपर की) अप्सराएँ उनका आदर न करें, उनका स्वामी-रूप मे स्वीकार न करे तो, असुरकुमार देव उन अप्सराओ के साथ दिव्य एव भोग्य भोगो को नही भोग सकते, भोगते हुए विचरण नही कर सकते।

[५] एव खलु गोयमा ! असुरकुमारा देवा सोहम्म कप्प गया य, गमिस्सति य।

[१३-५] हे गौतम ! इस कारण से असुरकुमार देव सौधर्मकल्प तक गए है, (जाते हैं) और जाएँगे।

१४ केवतिकालस्स ण भंते ! असुरकुमारा देवा उड्ढ उप्पयति जाव सोहम्म कप्प गया य, गमिस्सति य ?

गोयमा ! अणतार्हि ओसप्पिणीर्हि अणतार्हि उस्सप्पिणीर्हि समतिक्कतार्हि, अत्थि ण एस भावे लोयच्छेरयभूए समुप्पज्जइ—ज ण असुरकुमारा देवा उड्ढ उप्पयति जाव सोहम्मो कप्पो।

[१४ प्र] भगवन् ! कितने काल मे (कितना समय व्यतीत होने पर) असुरकुमार देव ऊर्ध्व-गमन करते हैं, तथा सौधर्मकल्प तक ऊपर गये है, जाते हैं और जाएँगे ?

[१४ उ] गौतम ! अनन्त उत्सर्पिणी-काल और अनन्त अवसर्पिणीकाल व्यतीत होने के पश्चात् लोक मे आश्चर्यभूत (आश्चर्यजनक) यह भाव समुत्पन्न होता है कि असुरकुमार देव ऊर्ध्व-उत्पतन (गमन) करते है, यावत् सौधर्मकल्प तक जाते हैं।

१५ किंनिस्साए ण भंते ! असुरकुमारा देवा उड्ढ उप्पयति जाव सोहम्मो कप्पो ?

से जहानामए इह सबरा इ वा बब्बरा इ वा टकणा इ वा चुच्चुया इ वा पल्हया इ वा पुलिंदा इ वा एग मह रण्ण वा, गड्ड वा दुग्ग वा दरि वा विसम वा पव्वत वा णीसाए सुमहल्लमवि आसबल वा हत्थिबल वा जोहबल वा धणुबल वा आगलेंति, एवामेव असुरकुमारा वि देवा, णऽन्नत्थ अरहते वा, अरहतचेइयाणि वा, अणगारे वा भावियप्पणो निस्साए उड्ढ उप्पयति जाव सोहम्मो कप्पो।

[१५ प्र] भगवन् ! किसका आश्रय (निश्राय) लेकर असुरकुमार देव ऊर्ध्व-गमन करते है, यावत् ऊपर सौधर्मकल्प तक जाते है ?

[१५ उ] हे गौतम ! जिस प्रकार यहाँ (इस मनुष्यलोक मे) शबर, बर्बर, टकण (जातीय म्लेच्छ) या चुर्चुक (अथवा भुत्तुय), प्रश्नक अथवा पुलिन्द जाति के लोग किसी बडे अरण्य (जगल) का, गड्ढे का, दुर्ग (किले) का, गुफा का, किसी विषम (ऊबड-खाबड प्रदेश या बीहड या वृक्षो से सघन) स्थान का, अथवा पर्वत का आश्रय ले कर एक महान् एव व्यवस्थित अश्ववाहिनी को, गजवाहिनी को, पैदल (पदाति) सेना को अथवा धनुर्धारियो की सेना को आकुल-व्याकुल कर देते (अर्थात्—साहसहीन करके जीत लेते) है, इसी प्रकार असुरकुमार देव भी एकमात्र अरिहन्तो का या अरिहन्तदेव के चैत्यो का, अथवा भावितात्मा अनगारो का आश्रय (निश्राय) ले कर ऊर्ध्वगमन करते (उडते) है, यावत सौधर्मकल्प तक ऊपर जाते हैं।

१६ सव्वे वि ण भंते ! असुरकुमारा देवा उड्ढ उप्पयति जाव सोहम्मो कप्पो ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, महिड्ढिया ण असुरकुमारा देवा उड्ढ उप्पयति जाव सोहम्मो कप्पो।

[१६ प्र] भगवन् क्या सभी असुरकुमार देव सौधर्मकल्प तक यावत् ऊर्ध्वगमन करते है ?

[१६ उ] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नही है। अर्थात सभी असुरकुमार देव ऊपर सौधर्मकल्प तक नही जा सकते, किन्तु महती ऋद्धिवाले असुरकुमार देव ही यावत् सौधर्म-देवलोक तक ऊपर जाते है।

१७ एस वि य णं भंते ! चमरे असुरिंदे असुरकुमारराया उड्ढं उप्पतियपुव्वे जाव सोहम्मो कप्पो ?

हंता, गोयमा ! एस वि य ण चमरे असुरिंदे असुरराया उड्ढं उप्पतियपुव्वे जाव सोहम्मो कप्पो।

[१७ प्र] हे भगवन् ! क्या असुरेन्द्र असुरराज चमर भी पहले कभी ऊपर—यावत् सौधर्मकल्प तक ऊर्ध्वगमन कर चुका है ?

[१७ उ] हाँ, गौतम ! यह असुरेन्द्र असुरराज चमर भी पहले ऊपर—यावत् सौधर्मकल्प तक ऊर्ध्वगमन कर चुका है।

विवेचन—असुरकुमार देवो के अधो-तिर्यक्-ऊर्ध्व-गमन-सामर्थ्य से सम्बन्धित प्ररूपणा— प्रस्तुत १४ सूत्रो (सू ५ से १८ तक) मे असुरकुमारदेवो के गमन-सामर्थ्य-सम्बन्धी चर्चा निम्नोक्त क्रम से की गई है—

(१) क्या असुरकुमारदेवो का अधोगमनसामर्थ्य है ? यदि है तो वे नीचे कहाँ तक जा सकते हैं और किस कारण से जाते है ?

(२) क्या असुरकुमार देवो का तिर्यग्गमन-सामर्थ्य है ? यदि है तो वे तिरछे कहाँ तक और किस कारण से जाते हैं ?

(३) क्या असुरकुमार देव ऊर्ध्वगमन कर सकते है ? कर सकते है तो कहाँ तक कर सकते हैं तथा कहाँ तक करते हैं ? तथा वे किन कारणो से सौधर्मकल्प तक ऊपर जाते हैं ? क्या वहाँ वे वहाँ की अप्सराओं के साथ दिव्यभोगो का उपभोग कर सकते हैं ? कितना काल बीत जाने पर वे सौधर्मकल्प मे गए है, जाते है, या जाएँगे ? तथा वे किसका आश्रय लेकर सौधर्मकल्प तक जाते है ? क्या चमरेन्द्र पहले कभी सौधर्मकल्प मे गया है ?[1]

'असुर' शब्द पर भारतीय धर्मों की दृष्टि से चर्चा—असुर शब्द का प्रयोग वैदिक पुराणो मे 'दानव' अर्थ मे हुआ है। यहाँ भी उल्लिखित वर्णन पर से 'असुर' शब्द इसी अर्थ को सूचित करता है। पौराणिक साहित्य मे प्रसिद्ध 'सुराऽसुरसग्राम' (देव-दानवयुद्ध) भगवती सूत्र मे उल्लिखित असुरकुमारदेवो की चर्चा से मिलता जुलता परिलक्षित होता है। यहाँ बताया गया है कि असुर-कुमारो और सौधर्मादि सुरो मे परस्पर अहिनकुलवत् जन्मजातवैर (भवप्रत्ययिक वैरानुबन्ध) होता हैं। इसी कारण वे ऊपर सौधर्मदेवलोक तक जाकर उपद्रव करते हैं, चोरी करते है और वहाँ की सुर-प्रजा को त्रास देते हैं।[2]

---

१ वियाहपण्णत्ति सुत्त (मूलपाठ टिप्पण) (प बेचरदासजी) भा १, पृ १४१ से १४३ तक

२ श्रीमद्-भगवती सूत्र (टीकानुवादसहित) (प बेचरराम जी) खण्ड २, पृ ४८

कठिन शब्दो की व्याख्या—'अहेगतिविसए' = नीचे जाने का विषय = शक्ति। 'पुव्वसगइयस्स' = पूर्वपरिचित साथियो या मित्रो का। 'वेदणउदीरणयाए = दु ख की उदीरणा करने के लिए। वेदणउवसामणयाए = दु ख का उपशमन करने के लिए। णाणुप्पायमहिमासु = केवलज्ञान कल्याणक की महिमा (महोत्सव) करने के लिए। वित्तासेंति = त्राम पहुँचाते है। अहालहुसगाइ = यथोचित लघुरूप—छोटे-छोटे अथवा अलघु = वरिष्ठ महान्। काय पव्वहंति = शरीर को व्यथित पीडित करते है। उप्पयति = ऊपर उडते है – जाते है। समइक्कतांहि = व्यतीत होने के पश्चात्। लोयच्छेरभूए = लोक मे आश्चर्यभूत = आश्चर्यजनक। णिस्साए = निश्राय = आश्रय से। सुमहल्लमवि = अत्यन्त विशाल। जोहबल = योद्धाओ के बल = सैन्य को। आगलेंति = अकुलाते = थकाते है। णण्णत्थ = अथवा नान्यत्र = उनके निश्राय के बिना एगत = एकान्त, निर्जन। अत = प्रदेश।[1] उप्पइयपुव्वि = पहले ऊपर गया था।

१८ अहो ण भते! चमरे असुरिंदे असुरकुमारराया महिड्ढीए महज्जुतीए जाव कहि पविट्ठा?

कूडागारसालाविट्ठतो भाणियव्वो।

[१८ प्र] 'अहो, भगवन्! (आश्चर्य है,) असुरेन्द्र असुरराज चमर ऐसी महाऋद्धि एव महाद्युति वाला है! तो हे भगवन्! (नाटचविधि दिखाने के पश्चात्) उसकी वह दिव्य देवऋद्धि यावत् दिव्य देवप्रभाव कहाँ गया, कहाँ प्रविष्ट हुआ?'

[१८ उ] (गौतम! पूर्वकथितानुसार) यहाँ भी कूटाकारशाला का दृष्टान्त कहना चाहिए। (अर्थात्—कूटाकारशाला के दृष्टान्तानुसार असुरेन्द्र की वह दिव्य देवऋद्धि यावत् दिव्य देवप्रभाव, उसी के शरीर मे समा गया, शरीर मे ही प्रविष्ट हो गया।)

चमरेन्द्र के पूर्वभव से लेकर इन्द्रत्वप्राप्ति तक का वृत्तान्त—

१९ चमरेण भते! असुरिंदेण असुररण्णा सा दिव्वा देविड्ढी त चेव किणा लद्धा पत्ता अभिसमन्नागया?[2]

एव खलु गोयमा!

तेण कालेण तेण समएण इहेव जबुद्दीवे २ भारहे वासे विंझगिरिपायमूले बेभेले नामं सन्निवेसे होत्था। वण्णओ। तत्थ ण बेभेले सन्निवेसे पूरणे नाम गाहावती परिवसति अड्ढे दित्ते जहा तामलिस्स (उ १ सु. ३५ ३७) वत्तव्वया तहा नेतव्वा, नवर चउप्पुडय दारुमय पडिग्गह करेत्ता जाव विपुल असण-पाण-खाइम-साइम जाव सयमेव चउप्पुडय दारुमयं पडिग्गहयं गहाय मु डे भवित्ता दाणामाए पव्वज्जाए पव्वइत्तए।

[१९ प्र] भगवन्! असुरेन्द्र असुरराज चमर को वह दिव्य देवऋद्धि और यावत् वह सब, किस प्रकार उपलब्ध हुई, प्राप्त हुई और अभिसमन्वागत हुई (अभिमुख आई)?

---

१ भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक १७४

२ इस प्रश्न के उत्तर की परिसमाप्ति ४४ सूत्र मे होती है।

[१९ उ] हे गौतम ! उस काल और उस समय मे इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप मे, भारतवर्ष (क्षेत्र) मे, विन्ध्याचल की तलहटी (पादमूल) मे 'वेभेल' नामक सन्निवेश था। वहाँ 'पूरण' नामक एक गृहपति रहता था। वह आढ्य और दीप्त था। यहाँ तामली की तरह 'पूरण' गृहपति की सारी वक्तव्यता जान लेनी चाहिए। (उसने भी समय आने पर किसी समय तामली की तरह विचार करके अपने ज्येष्ठपुत्र को कुटुम्ब का सारा भार सौप दिया) विशेष यह है कि चार खानो (पुटको) वाला काष्ठमय पात्र (अपने हाथ से) बना कर यावत् विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम रूप चतुर्विध आहार बनवा कर ज्ञातिजनो आदि को भोजन करा कर तथा उनके समक्ष ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौप कर यावत् स्वयमेव चार खानो वाले काष्ठपात्र को लेकर मुण्डित होकर 'दानामा' नामक प्रव्रज्या अगीकार करने का (मनोगत सकल्प किया) यावत् तदनुसार प्रव्रज्या अगीकार की।)

२० पव्वइए वि य ण समाणे त चेव, जाव आयावणभूमीओ पच्चोरुभइ पच्चोरुभित्ता सयमेव चउप्पुडय दारुमय पडिग्गहय गहाय बेभेले सन्निवेसे उच्च-नीय-मज्झिमाइ कुलाइ घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडेत्ता 'ज मे पढमे पुडए पडइ कप्पइ मे त पथियपहियाण दलइत्तए, ज मे दोच्चे पुडए पडइ कप्पइ मे त काक-सुणयाण दलइत्तए, ज मे तच्चे पुडए पडइ कप्पइ मे त मच्छ-कच्छभाण दलइत्तए, ज मे चउत्थे पुडए पडइ कप्पइ मे त अप्पणा आहार आहारित्तए' त्ति कट्टु एव सपेहेइ, २ कल्ल पाउप्पभायाए रयणीए त चेव निरवसेस जाव ज से चउत्थे पुडए पडइ त अप्पणा आहार आहारेइ।

[२०] प्रव्रजित हो जाने पर उसने पूर्ववर्णित तामली तापस की तरह सब प्रकार से तपश्चर्या की, आतापना भूमि मे आतापना लेने लगा, इत्यादि सब कथन पूर्ववत् जानना, यावत् [छट्ठ (बेले के तप) के पारणे के दिन] वह (पूरण तापस) आतापना भूमि से नीचे उतरा। फिर स्वयमेव चार खानो वाला काष्ठमय पात्र लेकर 'वेभेल' सन्निवेश मे ऊँच, नीच और मध्यम कुलो के गृहसमुदाय से भिक्षा-विधि से भिक्षाचरी करने के लिए घूमा। भिक्षाटन करते हुए उसने इस प्रकार का विचार किया—मेरे भिक्षापात्र के पहले खाने मे जो कुछ भिक्षा पडेगी उसे मार्ग मे मिलने वाले पथिको को दे देना है, मेरे (पात्र के) दूसरे खाने मे जो कुछ (खाद्यवस्तु) प्राप्त होगी, वह मुझे कौओ और कुत्तो को दे देनी है, जो (भोज्यपदार्थ) मेरे तीसरे खाने मे आएगा, वह मछलियो और कछुओ को दे देना है और चौथे खाने मे जो भिक्षा प्राप्त होगी, वह स्वय आहार करना है।

[इस] प्रकार भलीभाति विचार करके कल (दूसरे दिन) रात्रि व्यतीत होने पर प्रभातकालीन प्रकाश होते ही—यहाँ सब वर्णन पूर्ववत् कहना चाहिए—यावत् वह दीक्षित हो गया, काष्ठपात्र के चौथे खाने मे जो भोजन पडता है, उसका आहार स्वय करता है।

२१. तए ण से पूरणे बालतवस्सी तेण ओरालेण विउलेण पयत्तेणं पग्गहिएण बालतवोकम्मेण त चेव जाव बेभेलस्स सन्निवेसस्स मज्झमज्झेण निग्गच्छति, २ पाउय-कु डियमादीय उवकरण चउप्पुडय च दारुमय पडिग्गहय एगतमते एडेइ, २ बेभेलस्स सन्निवेसस्स दाहिणपुरत्थिमे दिसीभागे अद्धनियत्तणियमडल आलिहित्ता सलेहणाभूसणाभूसिए भत्त-पाणपडियाइक्खिए पाओवगमण निवण्णे।

[२१] तदनन्तर पूरण बालतपस्वी उस उदार, विपुल, प्रदत्त और प्रगृहीत बालतपश्चरण के कारण शुष्क एव रूक्ष हो गया। यहाँ बीच का सारा वर्णन तामलीतापस की तरह (पूर्ववत्)

जानना चाहिए, यावत् वह (पूरण बालतपस्वी) भी 'वेभेल' सन्निवेश के बीचोबीच होकर निकला। निकल कर उसने पादुका (खडाऊँ) और कुण्डी आदि उपकरणो को तथा चार खानो वाले काष्ठपात्र को एकान्त प्रदेश मे छोड दिया। फिर वेभेल सन्निवेश के अग्निकोण (दक्षिणपूर्वदिशा-विभाग) मे अर्द्धनिर्वर्तनिक मण्डल रेखा खीच कर वनाया अथवा प्रतिलेखित—प्रमार्जित किया। यो मण्डल बना कर उसने सलेखना की जूषणा (आराधना) से अपनी आत्मा को सेवित (युक्त) किया। फिर यावज्जीवन आहार-पानी का प्रत्याख्यान करके उस पूरण बालतपस्वी ने पादपोपगमन अनशन (सथारा) स्वीकार किया।

२२. तेण कालेण तेण समएण अह गोयमा! छउमत्थकालियाए एक्कारसवासपरियाए छट्ठछट्ठेण अनिक्खित्तेण तवोकम्मेण सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे पुव्वाणुपुव्वि चरमाणे गामाणुगाम दूइज्जमाणे जेणेव सु सुमारपुरे नगरे जेणेव असोगवणसडे उज्जाणे जेणेव असोगवरपायवे जेणेव पुढविसिलावट्टए तेणेव उवागच्छामि, २ असोगवरपायवस्स हेट्ठा पुढविसिलावट्टयसि अट्ठमभत्त पगिण्हामि दो वि पाए साहट्टु वग्घारियपाणी एगपोग्गलनिविट्ठदिट्ठी अणिमिसनयणे ईसिपब्भार-गएण काएण अहापणिहिएहि गत्तेहि सव्विदिएहि गुत्तेहि एगरातिय महापडिम उवसपज्जित्ताण विहरामि।

[२२] (अब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी अपना वृत्तान्त कहते है—) हे गौतम! उस काल और उस समय मे मै छद्मस्थ अवस्था मे था, मेरा दीक्षापर्याय ग्यारह वर्ष का था। उस समय मैं निरन्तर छट्ठ-छट्ठ (बेले-बेले) तप करता हुआ, सयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ, पूर्वानुपूर्वी (क्रम) से विचरण करता हुआ, ग्रामानुग्राम घूमता हुआ, जहाँ सु सुमारपुर नगर था, और जहाँ अशोकवनषण्ड नामक उद्यान था, वहाँ श्रेष्ठ अशोक के नीचे पृथ्वीशिलापट्टक के पास आया। मैंने उस समय अशोकतरु के नीचे स्थित पृथ्वीशिलापट्टक पर (खडे होकर) अट्ठमभक्त (तेले का) तप ग्रहण किया। (उस समय) मैंने दोनो पैरो को परस्पर सटा (इकट्ठा कर) लिया। दोनो हाथो को नीचे की ओर लटकाए (लम्बे किये) हुए सिर्फ एक पुद्गल पर दृष्टि स्थिर (टिका) कर, निर्निमेषनेत्र (आँखो की पलको को न झपकाते हुए) शरीर के अग्रभाग को कुछ झुका कर, यथावस्थित गात्रो (शरीर के अगो) से एव समस्त इन्द्रियो को गुप्त (सुरक्षित) करके एकरात्रिकी महा (भिक्षु) प्रतिमा को अगीकार करके कायोत्सर्ग किया।

२३ तेण कालेण तेण समएण चमरचचा रायहाणी अणिदा अपुरोहिया याऽवि होत्था। तए ण से पूरणे बालतवस्सी बहुपडिपुण्णाइ दुवालस वासाइ परियाग पाउणित्ता मासियाए सलेहणाए अत्ताण झूसेत्ता सट्ठि भत्ताइ अणसणाए छेदेत्ता कालमासे काल किच्चा चमरचचाए रायहाणीए उववायसभाए जाव इदत्ताए उववन्ने।

[२३] उस काल और उस समय मे चमरचचा राजधानी इन्द्रविहीन और पुरोहितरहित थी। (इधर) पूरण नामक बालतपस्वी पूरे बारह वर्ष तक (दानामा) प्रव्रज्या पर्याय का पालन करके, एकमासिक सल्लेखना की आराधना से अपनी आत्मा को सेवित करके, साठ भक्त (साठ टक तक)

अनशन रख कर (आहारपानी का विच्छेद करके), मृत्यु के अवसर पर मृत्यु प्राप्त करके चमरचचा राजधानी की उपपातसभा मे यावत् इन्द्र के रूप मे उत्पन्न हुआ ।

२४ तए ण से चमरे असुरिंदे असुरराया अहुणोववन्ने पचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभाव गच्छइ, त जहा—आहारपज्जत्तीए जाव भास-मणपज्जत्तीए ।

[२४] उस समय तत्काल उत्पन्न हुआ असुरेन्द्र असुरराज चमर पाच प्रकार की पर्याप्तियो से पर्याप्ति भाव को प्राप्त (पर्याप्त) हुआ । वे पाच पर्याप्तियाँ इस प्रकार है—आहारपर्याप्ति मे यावत् भाषामन पर्याप्ति तक ।

विवेचन—चमरेन्द्र के पूर्वभव से लेकर इन्द्रत्वप्राप्ति तक का वृत्तान्त—प्रस्तुत सात सूत्रो मे चमरेन्द्र को प्राप्त हुई ऋद्धि आदि के सम्बन्ध मे श्री गौतम स्वामी द्वारा पूछे गए प्रश्न का भगवान् द्वारा चमरेन्द्र के पूर्वभव से लेकर इन्द्रत्व प्राप्ति तक वृत्तान्त रूप मे कथित समाधान प्रतिपादित है । इस वृत्तान्त का क्रम इस प्रकार है—

१ श्री गौतमस्वामी की चमरेन्द्र की ऋद्धि आदि के तिरोहित हो जाने के सम्बन्ध मे जिज्ञासा ।

२ श्री गौतमस्वामी द्वारा चमरेन्द्र को ऋद्धि आदि की प्राप्ति विषयक प्रश्न ।

३ भगवान् द्वारा पूरण गृहपति का गृहस्थावस्था से दानामा-प्रव्रज्यावस्था तक का प्राय तमाली तापस से मिलता जुलता वर्णन ।

४ पूरण बालतपस्वी द्वारा प्रव्रज्यापालन, और सलेखना की आराधना ।

५ उस समय भगवान् का सुसुमारपुर मे एकरात्रिकी महाभिक्षुप्रतिमा ग्रहण करके अवस्थान ।

६ इन्द्रविहीन चमरचचा राजधानी मे सल्लेखना-अनशनपूर्वक मृत्यु-प्राप्त पूरण बालतपस्वी की इन्द्र के रूप मे उत्पत्ति और पाच पर्याप्तियो से पर्याप्तता ।

दाणामा पव्वज्जा—दानामा या दानमय्या प्रव्रज्या वह कहलाती है, जिसमे दान देने की क्रिया मुख्य हो । इसका रूपान्तर दानमयी अथवा दानिमा (दान से निर्वृत्त-निष्पन्न) । पूरण तापस की प्रवृत्ति मे दान की ही वृत्ति मुख्य है ।[1]

पूरण तापस और पूरण काश्यप—बौद्धग्रन्थ 'मज्झिमनिकाय' मे 'चुल्लसारोपमसुत्त' और 'महासच्चकसुत्त' मे उस समय बुद्धदेव के समकालीन छह धर्मोपदेशको (तीर्थंकरो) का उल्लेख है—पूरणकाश्यप, मस्करी गोशालक, अजितकेशकम्बल, पकुद्धकात्यायन, सजय वेलट्ठिपुत्त, निर्ग्रन्थ नातपुत्त (ज्ञातपुत्र) । उनमे से 'पूरण काश्यप' सम्भवत तथागत बुद्ध और भगवान् महावीर का समसमयिक यही 'पूरण तापस' हो । 'बौद्ध पर्व' मे भी 'पूरणकाश्यप' नामक प्रतिष्ठित गृहस्थ का

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ० वृत्ति, पत्राक १७४

(ख) श्रीमद् भगवतीसूत्र (टीकानुवाद, प वेचरदासजी) खण्ड २ पृ-६१

उल्लेख मिलता है जो अरण्य मे चोरो द्वारा वस्त्रादि लूटे जाने से नग्न होकर विरक्त रहने लगा था। उसकी विरक्ति और नि स्पृहता देखकर कहते है, उसके ८० हजार अनुयायी हो गए थे।[1]

सु सुमारपुर—सु सुमारगिरि— बौद्धो के पिटक ग्रन्थो मे सु सुमारपुर के बदले सु सुमारगिरि का उल्लेख मिलता है, जिसे वहाँ 'भग्ग' देशवर्ती बताया गया है। सम्भव है, सु सुमारगिरि के पास ही कोई भग्गदेशवर्ती सु सुमारपुर हो।[2]

कठिन शब्दो की व्याख्या—'दो वि पाए साहट्टु'—दोनो पैरो को इकट्ठे-सकुचित करके-जिनमुद्रापूर्वक स्थित होकर। **वग्घारियपाणी**—दोनो भुजाओ को नीचे की ओर लम्बी करके। **ईसिपब्भारगएण**—ईषत्=थोडा सा, प्राग्भार=आगे मुख करके अवनत होना।[3]

चमरेन्द्र द्वारा सौधर्मकल्प मे उत्पात एवं भगवदाश्रय से शक्रेन्द्रकृत वज्रपात से मुक्ति—

२५ तए ण से चमरे असुरिंदे असुरराया पचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभाव गए समाणे उड्ढ वीससाए ओहिणा आभोएइ जाव सोहम्मो कप्पो। पासइ य तत्थ सक्क देविंद देवराय मघव पागसासण सतक्कतु सहस्सक्ख वज्जपाणि पुरदर जाव[4] दस दिसाओ उज्जोवेमाण पभासेमाण। सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडेंसए विमाणे सभाए सुहम्माए सक्कसि सीहासणसि जाव दिव्वाइ भोगभोगाइ भु जमाण पासइ, २ इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए सकप्पे समुप्पज्जित्था—केस ण एस अपत्थियपत्थए दुरतपतलक्खणे हिरि-सिरिपरिवज्जिए हीणपुण्णचाउद्दसे जे ण मम इमाए एयारूवाए दिव्वाए देविड्ढीए जाव दिव्वे देवाणुभावे लद्धे पत्ते जाव अभिसमन्नागए उप्पि अप्पुस्सुए दिव्वाइ भोगभोगाइ भु जमाणे विहरइ? एव सपेहेइ, २ सामाणियपरिसोववन्नए देवे सद्दावेइ, २ एव वयासी—केस ण एस देवाणुप्पिया! अपत्थियपत्थए जाव भु जमाणे विहरइ।

[२५] जब असुरेन्द्र असुरराज चमर (उपर्युक्त) पाच पर्याप्तियो से पर्याप्त हो गया, तब उसने स्वाभाविक (विस्रसा) रूप से ऊपर सौधर्मकल्प तक अवधिज्ञान का उपयोग किया। वहाँ उसने देवेन्द्र देवराज, मघवा, पाकशासन, शतक्रतु, सहस्राक्ष, वज्रपाणि, पुरन्दर शक्र को यावत् दसो दिशाओ को उद्योतित एव प्रकाशित करते हुए देखा। (साथ ही उसने शक्रेन्द्र को) सौधर्मकल्प मे सौधर्मावतसक विमान मे शक्र नामक सिंहासन पर बैठकर, यावत् दिव्य एव भोग्य भोगो का

१ (क) श्रीमद् भगवतीसूत्र (टीकानुवादसहित) (प बेचरदास जी) खण्ड २ पृ-५५-५६
(ख) मज्झिमनिकाय मे चुल्लसारोपमसुत्त ३०, पृ १३९, महासच्चकसुत्त ३६, पृ १७२, बौद्धपर्व प्र १० पृ-१२७

२ (क) वही, खण्ड २, पृ-५६
(ख) मज्झिमनिकाय मे अनुमानसुत्त १५ पृ-७०, और मारतज्जनियसुत्त ५०, पृ-२२४

३ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १७४

४ 'जाव' शब्द से यह पाठ ग्रहण करना चाहिए—"दाहिणड्ढलोगाहिवइ बत्तीसविमाणसयसहस्साहिवइ एरावणवाहण सुरिंद अरयवरवत्थधर आलइयमालमउड नवहेमचारुचित्तचचलकु डलविलिहिज्जमाणगड।"
—भगवती अ वृत्ति, पत्राक १७४

उपभोग करते हुए देखा। इसे देखकर चमरेन्द्र के मन में इस प्रकार का आध्यात्मिक (आन्तरिक) चिन्तित, प्रार्थित एव मनोगत सकल्प समुत्पन्न हुआ कि—अरे ! कौन यह अप्रार्थित-प्रार्थक (अनिष्ट वस्तु की प्रार्थना-अभिलाषा करने वाला, मृत्यु का इच्छुक), दूर तक निकृष्ट लक्षण वाला तथा लज्जा (ह्री) और शोभा (श्री) से रहित, हीनपुण्या (अपूर्ण) चतुर्दशी को जन्मा हुआ है, जो मुझे इस प्रकार की इस दिव्य देव-ऋद्धि यावत् दिव्य देवप्रभाव लब्ध, प्राप्त और अभिसमन्वागत (अभिमुख समानीत) होने पर भी मेरे ऊपर (सिर पर) उत्सुकता से रहित (लापरवाह) हो कर दिव्य एव भोग्य भोगो का उपभोग करता हुआ विचर रहा है ? इस प्रकार का सम्प्रेक्षण (आत्मस्फुरण) करके चमरेन्द्र ने अपनी सामानिकपरिषद् मे उत्पन्न देवो को बुलाया और बुला कर उनसे इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रियो ! यह बताओ कि यह कौन अनिष्ट—मृत्यु का इच्छुक है, यावत् दिव्य एव भोग्य भोगो का उपभोग करता हुआ विचरता है ?

२६ तए णं ते सामाणियपरिसोववन्नगा देवा चमरेण असुरिंदेण असुररण्णा एव वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा० जाव हयहियया करयलपरिग्गहिय दसनह सिरसावत्त मत्थए अजलिं कट्टु जयेण विजयेण वद्धावेंति, २ एव वयासी—एस ण देवाणुप्पिया ! सक्के देविंदे देवराया जाव विहरइ।

[२६] असुरेन्द्र असुरराज चमर द्वारा सामानिक परिषद् मे उत्पन्न देवो से इस प्रकार कहे (पूछे) जाने पर (आदेश प्राप्त होने के कारण) वे चित्त मे अत्यन्त हर्षित और सन्तुष्ट हुए। यावत् हृदय से हृत-प्रभावित (आकर्षित) होकर उनका हृदय खिल उठा। दोनो हाथ जोडकर दसो नखो को एकत्रित करके शिरसावर्तसहित मस्तक पर अजलि करके उन्होने चमरेन्द्र को जय-विजय शब्दो से बधाई दी। फिर वे इस प्रकार बोले—'हे देवानुप्रिय ! यह तो देवेन्द्र देवराज शक्र है, जो यावत् दिव्य भोग्य भोगो का उपभोग करता हुआ विचरता है।'

२७ तए ण से चमरे असुरिंदे असुरराया तेसिं सामाणियपरिसोववन्नगाण देवाण अतिए एयमट्ठ सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते रुट्ठे कुविए चडिक्किए मिसिमिसेमाणे ते सामाणियपरिसोववन्नए देवे एव वयासी—'अन्ने खलु भो ! से सक्के देविंदे देवराया, अन्ने खलु भो ! से चमरे असुरिंदे असुरराया, महिड्ढीए खलु से सक्के देविंदे देवराया, अप्पिड्ढीए खलु भो ! से चमरे असुरिंदे असुरराया। त इच्छामि ण देवाणुप्पिया ! सक्क देविंद देवराय सयमेव अच्चासादेत्तए' त्ति कट्टु उसिणे उसिणब्भूए याऽवि होत्था।

[२७] तत्पश्चात् उन सामानिक परिषद् मे उत्पन्न देवो से इस बात (उत्तर) को सुनकर मन मे अवधारण करके वह असुरेन्द्र असुरराज चमर शीघ्र ही क्रुद्ध (लालपीला), रुष्ट, कुपित एवं चण्ड—रौद्र आकृतियुक्त हुआ, और क्रोधावेश मे आकर बडबडाने लगा। फिर उसने सामानिकपरिषद् मे उत्पन्न देवो से इस प्रकार कहा—"अरे ! वह देवेन्द्र देवराज शक्र कोई दूसरा है, और यह असुरेन्द्र असुरराज चमर कोई दूसरा है ! देवेन्द्र देवराज शक्र तो महाऋद्धि वाला है, जबकि असुरेन्द्र असुरराज चमर अल्पऋद्धि वाला ही है, (यह सब मैं जानता हूँ, फिर भी मैं इसे कैसे सहन कर सकता हूँ ?) अत हे देवानुप्रियो ! मैं चाहता हूँ कि मै स्वयमेव (अकेला ही) उस देवेन्द्र देवराज शक्र को उसके स्वरूप (पद या शोभा) से भ्रष्ट कर दूँ।' यो कह कर वह चमरेन्द्र (कोपवश) गर्म (उत्तप्त) हो गया, (अस्वाभाविक रूप से) गर्मागर्म (उत्तेजित) हो उठा।

२८ तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया ओहिं पउंजइ, २ ममं ओहिणा आभोएइ, २ इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—'एवं खलु समणे भगवं महावीरे जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे सुंसुमारपुरे नगरे असोगवणसंडे उज्जाणे असोगवरपायवस्स अहे पुढविसिलावट्टयंसि अट्ठमभत्तं पगिण्हित्ता एगराइयं महापडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरति। तं सेयं खलु मे समणं भगवं महावीरं नीसाए सक्कं देविंदं देवरायं सयमेव अच्चासादेत्तए' त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, २ सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेइ, २ त्ता देवदूसं परिहेइ, २ उववायसभाए पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं णिग्गच्छइ, २ जेणेव सभा सुहम्मा, जेणेव चोप्पाले पहरणकोसे तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता फलिहरयणं परामुसइ, २ एगे अबिइए फलिहरयणमायाए महया अमरिसं वहमाणे चमरचंचाए रायहाणीए मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, २ जेणेव तिगिंछिकूडे उप्पायपव्वए तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णइ, २ त्ता संखेज्जाइं जोयणाइं जाव उत्तरवेउव्वियं रूवं विकुव्वइ, २ त्ता ताए उक्किट्ठाए जाव जेणेव पुढविसिलावट्टए जेणेव ममं अंतिए तेणेव उवागच्छति, २ ममं तिक्खुत्तो आदाहिणपदाहिणं करेति, २ जाव नमंसित्ता एवं वयासी—'इच्छामि णं भंते ! तुब्भं नीसाए सक्कं देविंदं देवरायं सयमेव अच्चासादित्तए' त्ति कट्टु उत्तरपुरत्थिमं दिसिभागं अवक्कमइ, २ वेउव्वियसमुग्घातेणं समोहण्णइ, २ जाव दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घातेणं समोहण्णइ, २ एगं महं घोरं घोरागारं भीमं भीमागारं भासरं भयाणीयं गंभीरं उत्तासणयं कालड्ढरत्त-मासरासिसंकासं जोयणसयसाहस्सीयं महाबोंदिं विउव्वइ, २ अप्फोडेइ, २ वग्गइ, २ गज्जइ, २ हयहेसियं करेइ, २ हत्थिगुलुगुलाइयं करेइ, २ रहघणघणाइयं करेइ, २ पायदद्दरगं करेइ, २ भूमिचवेडयं दलयइ, २ सीहणादं नदइ, २ उच्छोलेति, २ पच्छोलेति, २ तिवइं छिंदइ, २ वामं भुयं ऊसवेइ, २ दाहिणहत्थपदेसिणीए य अंगुट्ठनहेण य वितिरिच्छं मुहं विडंबेइ, २ महया महया सद्देणं कलकलरवं करेइ, एगे अबिइए फलिहरयणमायाए उड्ढं वेहासं उप्पतिए, खोभंते चेव अहेलोयं, कंपेमाणे व मेइणितलं, साकड्ढंते व तिरियलोयं, फोडेमाणे व अंबरतलं, कत्थइ गज्जंते, कत्थइ विज्जुयायंते, कत्थइ वासं वासमाणे, कत्थइ रयुग्घायं पकरेमाणे, कत्थइ तमुक्कायं पकरेमाणे, वाणमंतरे देवे वित्तासेमाणे २, जोइसिए देवे दुहा विभयमाणे २, आयरक्खे देवे विपलायमाणे २, फलिहरयणं अंबरतलंसि वियड्ढमाणे २, विउब्भावेमाणे २ ताए उक्किट्ठाए जाव तिरियमसंखेज्जाणं दीव-समुद्दाणं मज्झंमज्झेणं वीयीवयमाणे २, जेणेव सोहम्मे कप्पे, जेणेव सोहम्मवडेंसए विमाणे, जेणेव सभा सुधम्मा तेणेव उवागच्छइ, २ एगं पायं पउमवरवेइयाए करेइ, एगं पायं सभाए सुहम्माए करेइ, फलिहरयणेणं महया २ सद्देणं तिक्खुत्तो इंदकीलं आउडेति, २ एवं वयासी—'कहिं णं भो ! सक्के देविंदे देवराया ? कहिं णं ताओ चउरासीइ सामाणियसाहस्सीओ ? जाव कहिं णं ताओ चत्तारि चउरासीईओ आयरक्खदेवसाहस्सीओ ? कहिं णं ताओ अणेगाओ अच्छराकोडीओ ? अज्ज हणामि, अज्ज महेमि, अज्ज वहेमि, अज्ज ममं अवसाओ अच्छराओ वसमुवणमंतु' त्ति कट्टु तं अणिट्ठं अकंतं अप्पियं असुभं अमणुण्णं अमणामं फरुसं गिरं निसिरइ।

[२८] इसके पश्चात् उस असुरेन्द्र असुरराज चमर ने (अपने उत्कट क्रोध को सफल

करने के लिए) अवधिज्ञान का प्रयोग किया। अवधिज्ञान के प्रयोग से उसने मुझे (श्री महावीर स्वामी को) देखा। मुझे देख कर चमरेन्द्र को इस प्रकार आध्यात्मिक (आन्तरिक स्फुरणा) यावत् मनोगत सकल्प उत्पन्न हुआ कि श्रमण भगवान् महावीर जम्बूद्वीप नामक द्वीप मे, भारतवर्ष मे, सुसुमारपुर नगर मे, अशोकवनषण्ड नामक उद्यान मे, श्रेष्ठ अशोकवृक्ष के नीचे पृथ्वीशिलापट्टक पर अट्ठमभक्त (तेले का) तप स्वीकार कर एकरात्रिकी महाप्रतिमा अगीकार करके स्थित हैं। अत मेरे लिए यह श्रेयस्कर होगा कि मैं श्रमण भगवान् महावीर के निश्राय—आश्रय से देवेन्द्र देवराज शक्र को स्वयमेव (एकाकी ही) अत्याशादित (श्रीभ्रष्ट) करू।' इस प्रकार (भलीभाति योजनाबद्ध) विचार करके वह चमरेन्द्र अपनी शय्या से उठा और उठकर उसने देवदूष्य वस्त्र पहना। फिर, उपपातसभा के पूर्वीद्वार से होकर निकला। और जहाँ सुधर्मासभा थी, तथा जहाँ चतुष्पाल (चौप्पाल) नामक शस्त्रभण्डार (प्रहरणकोष) था, वहाँ आया। शस्त्रभण्डार मे से उसने एक परिघरत्न उठाया। फिर वह किसी को साथ लिये विना अकेला ही उस परिघरत्न को लेकर अत्यन्त रोषाविष्ट होता हुआ चमरचचा राजधानी के बीचोबीच होकर निकला और तिगिच्छकूट नामक उत्पातपर्वत के निकट आया। वहाँ उसने वैक्रिय समुद्घात द्वारा समवहत होकर सख्येय योजनपर्यन्त का उत्तरवैक्रियरूप बनाया। फिर वह उस उत्कृष्ट यावत् दिव्य देवगति से यावत् जहाँ पृथ्वीशिला-पट्टक था, वहाँ मेरे (भगवान् श्रीमहावीर स्वामी के) पास आया। मेरे पास उसने दाहिनी ओर से मेरी तीन बार प्रदक्षिणा की, मुझे वन्दन-नमस्कार किया और तब यो बोला—"भगवन्! मैं आपके निश्राय (आश्रय) से स्वयमेव (अकेला ही) देवेन्द्र देवराज शक्र को उसकी शोभा से भ्रष्ट करना चाहता हूँ।"

इस प्रकार कह कर (मेरे उत्तर की अपेक्षा रखे बिना ही) वह वहाँ से (सीधा) उत्तरपूर्वदिशा-विभाग (ईशानकोण) मे चला गया। फिर उसने वैक्रियसमुद्घात किया, यावत् वह दूसरी बार भी वैक्रियसमुद्घात से समवहत हुआ। (इस बार) वैक्रिय समुद्घात से समवहत होकर उसने एक महाघोर, घोराकृतियुक्त, भयकर, भयकर आकार वाला, भास्वर, भयानक, गम्भीर, त्रासदायक, काली कृष्णपक्षीय अर्धरात्रि एव काले उडदो की राशि के समान काला, एक लाख योजन का ऊँचा, महाकाय शरीर बनाया। ऐसा करके वह (चमरेन्द्र) अपने हाथो को पछाडने लगा, पैर पछाडने लगा, (मेघ की तरह) गर्जना करने लगा, घोडे की तरह हिनहिनाने (हेषारव करने) लगा, हाथी की तरह किलकिलाहट (चीत्कार) करने लगा, रथ की तरह घनघनाहट करने लगा, पैरो को जमीन पर जोर से पटकने लगा, भूमि पर जोर से (हथेली से) थप्पड मारने लगा, सिंहनाद करने लगा, उछलने लगा, पछाड मारने लगा, (मल्ल की तरह मैदान मे) त्रिपदी को छेदने लगा, बाई भुजा ऊँची करने लगा, फिर दाहिने हाथ की तर्जनी अँगुली और अगूठे के नख द्वारा अपने मुख को तिरछा फाड कर विडम्बित (टेढामेढा) करने लगा और बडे जोर-जोर से कलकल शब्द करने लगा। यो करता हुआ वह चमरेन्द्र स्वय अकेला, किसी को साथ मे न ले कर परिघरत्न ले कर ऊपर आकाश मे उडा। (उडते समय अपनी उडान से) वह मानो अधोलोक क्षुब्ध करता हुआ, पृथ्वीतल को मानो कपाता हुआ, तिरछे लोक को खीचता हुआ-सा, गगनतल को मानो फोडता हुआ, कही गर्जना करता हुआ, कही विद्युत् की तरह चमकता हुआ, कही वर्षा के समान बरसता हुआ, कही धूल का ढेर उडाता (उछालता) हुआ, कही गाढान्धकार का दृश्य उपस्थित करता हुआ, तथा (जाते-जाते) वाणव्यन्तर देवो को त्रास पहुँचाता हुआ, ज्योतिषीदेवो को दो भागो मे विभक्त करता हुआ एव आत्मरक्षक देवो

को भगाता हुआ, परिघरत्न को आकाश में घुमाता हुआ, उसे विशेष रूप से चमकाता हुआ, उस उत्कृष्ट दिव्य देवगति से यावत् तिरछे असंख्येय द्वीपसमुद्रों के बीचोबीच हो कर निकला। यों निकल कर जिस ओर सौधर्मकल्प (देवलोक) था, सौधर्मावतंसक विमान था, और जहाँ सुधर्मासभा थी, उसके निकट पहुँचा। वहाँ पहुँच कर उसने एक पैर पद्मवरवेदिका पर रखा, और दूसरा पैर सुधर्मा सभा मे रखा। फिर बड़े जोर से हुंकार (आवाज) करके उसने परिघरत्न से तीन बार इन्द्रकील (शक्रध्वज अथवा मुख्य द्वार के दोनो कपाटो के अर्गलास्थान) को पीटा (प्रताडित किया)। तत्पश्चात् उसने (जोर से चिल्ला कर) इस प्रकार कहा—'अरे ! वह देवेन्द्र देवराज शक्र कहाँ है ? कहाँ है उसके वे चौरासी हजार सामानिक देव ? यावत् कहाँ है उसके वे तीन लाख छत्तीस हजार आत्म-रक्षक देव ? कहाँ गई वे अनेक करोड़ अप्सराएँ ? आज ही मैं उन सबको मार डालता हूँ, आज ही उनका मैं वध कर डालता हूँ। जो अप्सराएँ मेरे अधीन नही है, वे अभी मेरी वशवर्तिनी हो जाएँ।' ऐसा करके चमरेन्द्र ने वे अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, अमनोहर और कठोर उद्गार निकाले।

२९. तए णं से सक्के देविंदे देवराया तं अणिट्ठं जाव अमणामं अस्सुयपुव्वं फरुसं गिरं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते जाव मिसिमिसेमाणे तिवलियं भिउडिं निडाले साहट्टु चमरं असुरिंदं असुररायं एवं वदासी—'हं भो ! चमरा ! असुरिंदा ! असुरराया ! अपत्थियपत्थया ! जाव हीणपुण्णचाउद्दसा ! अज्ज न भवसि, नहि ते सुहमत्थि' त्ति कट्टु तत्थेव सीहासणवरगते वज्जं परामुसइ, २ तं जलंतं फुडंतं तडतडतं उक्कासहस्साइं विणिम्मुयमाणं २, जालासहस्साइं पमुंचमाणं २, इंगालसहस्साइं पविक्खिरमाणं २, फुलिंगजालामालासहस्सेहिं चक्खुविक्खेव-दिट्ठिपडिघातं पि पकरेमाणं हुतवहअतिरेगतेयदिप्पंतं जइणवेगं फुल्लकिंसुयसमाणं महब्भयं भयंकरं चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो वहाए वज्जं निसिरइ।

[२९] तदनन्तर (चमरेन्द्र द्वारा पूर्वोक्तरूप से उत्पात मचाये जाने पर) देवेन्द्र देवराज शक्र (चमरेन्द्र के) इस (उपर्युक्त) अनिष्ट, यावत् अमनोज्ञ और अश्रुतपूर्व (पहले कभी न सुने हुए) कर्णकटु वचन सुन-समझ करके एकदम (तत्काल) कोपायमान हो गया। यावत् क्रोध से (होठों को चबाता हुआ) बड़बड़ाने लगा तथा ललाट पर तीन सल (रेखाएँ) पड़े, इस प्रकार से भृकुटि चढा कर शक्रेन्द्र असुरेन्द्र असुरराज चमर से यों बोला—हे ! भो (अरे !) अप्रार्थित (अनिष्ट-मरण) के प्रार्थक (इच्छुक) ! यावत् हीनपुण्या (अपूर्ण) चतुर्दशी के जन्मे हुए असुरेन्द्र ! असुरराज ! चमर ! आज तू नही रहेगा, (तेरा अस्तित्व समाप्त हो जाएगा) आज तेरी खैर (सुख) नही है। (यह समझ ले) यों कह कर अपने श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठे-बैठे ही शक्रेन्द्र ने अपना वज्र उठाया और उस जाज्वल्यमान, विस्फोट करते हुए, तड-तड शब्द करते हुए हजारो उल्काएँ छोड़ते हुए, हजारो अग्निज्वालाओं को छोड़ते हुए, हजारो अंगारो को बिखेरते हुए, हजारो स्फुलिंगो (चिनगारियों) की ज्वालाओं से उस पर दृष्टि फैंकते ही आँखो के आगे चकाचौंध के कारण रुकावट डालने वाले, अग्नि से अधिक तेज से देदीप्यमान, अत्यन्त वेगवान् खिले हुए टेसू (किंशुक) के फूल के समान लाल-लाल, महाभयावह एवं भयंकर वज्र को असुरेन्द्र असुरराज चमरेन्द्र के वध के लिए छोड़ा।

३० तते ण से चमरे असुरिंदे असुरराया त जलत जाव भयकर वज्जमभिमुह आवयमाण पासइ, पासित्ता झियाति पिहाइ, पिहाइ झियाइ, झियायित्ता पिहायित्ता तहेव सभग्गमउडविडवे सालबहत्थाभरणे उड्ढपाए अहोसिरे कक्खागयसेय पिव विणिम्मुयमाणे २ ताए उक्किट्ठाए जाव तिरियमसखेज्जाण दीव-समुद्दाण मज्झमज्झेण वीतीवयमाणे २ जेणेव जबुद्दीवे दीवे जाव जेणेव असोगवरपायवे जेणेव मम अतिए तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता भीए भयगग्गरसरे 'भगव सरण' इति बुयमाणे मम दोण्ह वि पायाण अतरसि झत्ति वेगेण समोवतिते ।

[३०] तत्पश्चात् उस असुरेन्द्र असुरराज चमर ने जब उस जाज्वल्यमान, यावत् भयकर वज्र को अपने सामने आता हुआ देखा, तब उसे देख कर ('यह क्या है ?' इस प्रकार मन मे) चिन्तन करने लगा, फिर (अपने स्थान पर चले जाने की) इच्छा करने लगा, अथवा (वज्र को देखते ही उसने) अपनी दोनो आँखे मूद ली और (वहाँ से चले जाने का पुन) पुन विचार करने लगा। (कुछ क्षणो तक) चिन्तन करके वह ज्यो ही स्पृहा करने लगा (कि ऐसा अस्त्र मेरे पास होता तो कितना अच्छा होता।) त्यो ही उसके मुकुट का तुर्रा (छोगा) टूट गया, हाथो के आभूषण (भय के मारे शरीर सूख जाने से) नीचे लटक गए, तथा पैर ऊपर और सिर नीचा करके एव काखो मे पसीना-सा टपकाता हुआ, वह असुरेन्द चमर उस उत्कृष्ट यावत् दिव्य देवगति से तिरछे असख्य द्वीप समुद्रो के बीचोबीच होता हुआ, जहाँ जम्बूद्वीप नामक द्वीप था, जहाँ भारतवर्ष था, यावत् जहाँ श्रेष्ठ अशोकवृक्ष था, वहाँ पृथ्वीशिलापट्टक पर जहाँ मै (श्री महावीरस्वामी) था, वहाँ आया। मेरे निकट आकर भयभीत एव भय से गद्गद स्वरयुक्त चमरेन्द्र—"भगवन् ! आप ही (अब) मेरे लिए शरण है" इस प्रकार बोलता हुआ मेरे दोनो पैरो के बीच मे शीघ्रता से वेगपूर्वक (फुर्ती से) गिर पडा।

३१ तए ण तस्स सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था 'नो खलु पभू चमरे असुरिंदे असुरराया, नो खलु समत्थे चमरे असुरिंदे असुरराया, नो खलु विसए चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो अप्पणो निस्साए उड्ढ उप्पतित्ता जाव सोहम्मो कप्पो, णऽन्नत्थ अरहते वा, अरहतचेइयाणि वा, अणगारे वा भावियप्पाणो नीसाए उड्ढ उप्पयति जाव सोहम्मो कप्पो। त महादुक्ख खलु तहारूवाण अरहताणं भगवताण अणगाराण य अच्चासायणाए' त्ति कट्टु ओहिं पउजति, २ मम ओहिणा आभोएति, २ 'हा ! हा ! अहो ! हतो अहमसि' त्ति कट्टु ताए उक्किट्ठाए जाव दिव्वाए देवगतीए वज्जस्स वीहिं अणुगच्छमाणे २ तिरियमसखेज्जाण दीव-समुद्दाण मज्झमज्झेण जाव जेणेव असोगवरपादवे जेणेव मम अतिए तेणेव उवागच्छइ, २ मम चउरगुलमसपत्तं वज्ज पडिसाहरइ। अवियाऽऽइ मे गोतमा ! मुट्ठिवातेण केसग्गे वीइत्था।

[३१] उसी समय देवेन्द्र शक्र को इस प्रकार का आध्यात्मिक (आन्तरिक अध्यवसाय) यावत् मनोगत सकल्प उत्पन्न हुआ कि असुरेन्द्र असुरराज चमर इतनी शक्तिवाला नही है, न असुरेन्द्र असुरराज चमर इतना समर्थ है, और न ही असुरेन्द्र असुरराज चमर का इतना विषय है कि वह अरिहन्त भगवन्तो, अर्हन्त भगवान् के चैत्यो अथवा भावितात्मा अनगार का आश्रय (निश्राय) लिये बिना स्वय अपने आश्रय (निश्राय) से इतना ऊँचा (उठ) कर यावत् सौधर्मकल्प तक आ सके। अत

वह असुरेन्द्र अवश्य अरहिन्त भगवन्तो यावत् अथवा किसी भावितात्मा अनगार के आश्रय (निश्राय) से ही इतना ऊपर यावत् सौधर्मकल्प तक आया है। यदि ऐसा है तो उन तथारूप अर्हन्त भगवन्तो एव अनगारो की (मेरे द्वारा फैंके हुए वज्र से) अत्यन्त आशातना होने से मुझे महा दुख होगा। ऐसा विचार करके शक्रेन्द्र ने अवधिज्ञान का प्रयोग किया और उस अवधिज्ञान के प्रयोग से उसने मुझे (श्री महावीर स्वामी को) देखा। मुझे देखते ही (उसके मुख से बरबस ये उद्गार निकल पडे—) "हा! हा! अरे रे! मैं मारा गया!" इस प्रकार (पश्चात्ताप) करके (वह शक्रेन्द्र अपने वज्र को पकड लेने के लिए) उत्कृष्ट यावत् दिव्य देवगति से वज्र के पीछे-पीछे दौडा। वज्र का पीछा करता हुआ वह शक्रेन्द्र तिरछे असख्यात द्वीप-समुद्रो के बीचोबीच होता हुआ यावत् उस श्रेष्ठ अशोकवृक्ष के नीचे जहाँ मैं था, वहाँ आया) और वहाँ मुझ से सिर्फ चार अगुल दूर रहे हुए (असम्प्राप्त) उस वज्र को उसने पकड लिया (वापिस ले लिया)।

हे गौतम! (जिस समय शक्रेन्द्र ने वज्र को पकडा, उस समय उसने अपनी मुट्ठी इतनी जोर से बन्द की कि) उस मुट्ठी की हवा से मेरे केशाग्र हिलने लगे।

३२ तए ण से सक्के देविंदे देवराया वज्ज पडिसाहरति, पडिसाहरित्ता मम तिक्खुत्तो आदाहिणपदाहिण करेइ, २ वदइ नमसइ, २ एव वयासी—'एव खलु भते! अह तुब्भ नीसाए चमरेण असुरिंदेण असुररण्णा सयमेव अच्चासाइए। तए ण मए परिकुविएण समाणेण चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो वहाए वज्जे निसट्ठे। तए ण मे इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—नो खलु पभू चमरे असुरिंदे असुरराया तहेव जाव ओहिं पउजामि, देवाणुप्पिए ओहिणा आभोएमि, 'हा! हा! अहो! हतो मी' ति कट्टु ताए उक्किट्ठाए जाव जेणेव देवाणुप्पिए तेणेव उवागच्छामि, देवाणुप्पियाण चउरंगुलमसंपत्त वज्ज पडिसाहरामि, वज्जपडिसाहरणट्ठताए ण इहमागए, इह समोसढे, इह सपत्ते, इहेव अज्ज उवसपज्जित्ताण विहरामि। त खामेमि ण देवाणुप्पिया!, खमतु ण देवाणुप्पिया!, खमितुमरहति ण देवाणुप्पिया!, णाइ भुज्जो एव पकरणताए" त्ति कट्टु मम वदइ नमसइ, २ उत्तरपुरत्थिम दिसीभागं अवक्कमइ, २ वामेण पादेण तिक्खुत्तो भूमिं दलेइ, २ चमर असुरिंद असुरराय एव वदासी—'मुक्को सि ण भो! चमरा! असुरिंदा! असुरराया! समणस्स भगवओ महावीरस्स पभावेणं, नहि ते दाणिं ममाओ भयमत्थि' त्ति कट्टु जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए।

[३२] तदनन्तर देवेन्द्र देवराज शक्र ने वज्र को ले कर दाहिनी ओर से मेरी तीन बार प्रदक्षिणा की और मुझे वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके कहा—भगवन्! आपका ही आश्रय ले कर स्वय असुरेन्द्र असुरराज चमर मुझे अपनी श्री से भ्रष्ट करने आया था। तब मैंने परिकुपित हो कर उस असुरेन्द्र असुरराज चमर के वध के लिए वज्र फैका था। इसके पश्चात् मुझे तत्काल इस प्रकार का आन्तरिक यावत् मनोगत विचार उत्पन्न हुआ कि असुरेन्द्र असुरराज चमर स्वय इतना समर्थ नही है कि अपने ही आश्रय से इतना ऊँचा-सौधर्मकल्प तक आ सके, इत्यादि पूर्वोक्त सब बाते शक्रेन्द्र ने कह सुनाई यावत् शक्रेन्द्र ने आगे कहा—भगवन्! फिर मैंने अवधिज्ञान का प्रयोग किया। अवधिज्ञान के द्वारा आपको देखा। आपको देखते ही—'हा हा! अरे रे! मैं मारा

गया ।' ये उद्गार मेरे मुख से निकल पड़े ! फिर मैं उत्कृष्ट यावत् दिव्य देवगति मे जहां आप देवानुप्रिय विराजमान है, वहाँ आया, और आप देवानुप्रिय से सिर्फ चार अगुल दूर रहे हुए वज्र को मैंने पकड लिया । (अन्यथा, घोर अनथ हो जाता !) मैं वज्र को वापस लेने के लिए ही यहां सुसुमारपुर मे और इस उद्यान मे आया हूँ और अभी यहाँ हूँ । अत भगवन् ! मैं (अपने अपराध के लिए) आप देवानुप्रिय से क्षमा मागता हूँ । आप देवानुप्रिय मुझे क्षमा करें । आप देवानुप्रिय क्षमा करने योग्य (क्षमाशील) हैं । मैं ऐसा (अपराध) पुन नही करूगा ।' यो कह कर शक्रेन्द्र मुझे वन्दन-नमस्कार करके उत्तरपूर्वदिशाविभाग (ईशानकोण) मे चला गया । वहाँ जा कर शक्रेन्द्र ने अपने बाये पैर को तीन बार भूमि पर पछाडा (पटका) । यो करके फिर उसने असुरेन्द्र असुरराज चमर मे इस प्रकार कहा—'हे असुरेन्द्र असुरराज चमर ! आज तो तू श्रमण भगवान् महावीर के ही प्रभाव मे बच (मुक्त हो) गया है, (जा) अब तुझे मुझ से (किंचित् भी) भय नही है, यो कह कर वह शक्रेन्द्र जिस दिशा से आया था, उसी दिशा मे वापस चला गया ।

विवेचन—चमरेन्द्र द्वारा सौधर्म मे उत्पात एव भगवदाश्रय के कारण शक्रेन्द्रकृत वज्रपात से मुक्ति—प्रस्तुत आठ सूत्रो (सू २५ से ३२ तक) मे चमरेन्द्र द्वारा सौधर्मदेवलोक मे जा कर उपद्रव मचाने के विचार से लेकर, भगवान् की शरण स्वीकारने से शक्रेन्द्र द्वारा उस के वध के लिए किये गए वज्रपात से मुक्त होने तक का वृत्तान्त दिया गया है । इस वृत्तान्त का क्रम इस प्रकार है—

(१) पचपर्याप्तियुक्त होते ही चमरेन्द्र द्वारा अवधिज्ञान से सौधर्मदेवलोक के शक्रेन्द्र की ऋद्धि सम्पदा आदि देख कर जातिगत द्वेष एव ईर्ष्या के वश सामानिक देवो से पूछताछ ।

(२) सामानिक देवो द्वारा करबद्ध हो कर देवेन्द्र शक्र का सामान्य परिचय प्रदान ।

(३) चमरेन्द्र द्वारा कुपित एव उत्तेजित होकर स्वयमेव शक्रेन्द्र को शोभाभ्रष्ट करने का विचार ।

(४) अवधिज्ञान से भगवान् का पता लगा कर परिघरत्न के साथ अकेले सुसुमारपुर के अशोकवनखड मे पहुँच कर वहाँ अशोकवृक्ष के नीचे विराजित भगवान् की शरण स्वीकार करके चमरेन्द्र ने उनके समक्ष शक्रेन्द्र को शोभाभ्रष्ट करने का दु सकल्प दोहराया ।

(५) फिर उत्तरवैक्रिय से विकराल रूपवाला महाकाय शरीर बनाकर भयकर गर्जन-तर्जन, पादप्रहार आदि करते हुए सुधर्मासभा मे चमरेन्द्र का सकोप प्रवेश । वहाँ शक्रेन्द्र और उनके परिवार को धमकीभरे अनिष्ट एव अशुभ वचन कहे ।

(६) शक्रेन्द्र का चमरेन्द्र पर भयकर कोप, और उसे मारने के लिए शक्रेन्द्र द्वारा अग्नि-ज्वालातुल्य वज्र-निक्षेप ।

(७) भयकर जाज्वल्यमान वज्र को अपनी ओर आते देख भयभीत चमरेन्द्र द्वारा वज्र से रक्षा के लिए शीघ्रगति से आ कर भगवत् शरण-स्वीकार ।

(८) शक्रेन्द्र द्वारा चमरेन्द्र के ऊर्ध्वगमनसामर्थ्य का विचार । भगवदाश्रय लेकर किये गए चमरेन्द्रकृत उत्पात के कारण अपने द्वारा उस पर छोडे गए वज्र से होने वाले अनर्थ का विचार करके पश्चात्ताप सहित तीव्रगति से वज्र का अनुगमन । (भगवान्) से ४ अगुल दूर रहा, तभी वज्र को शक्रेन्द्र ने पकड लिया ।

(६) शक्रेन्द्र द्वारा भगवान् के समक्ष अपना अपराध निवेदन, क्षमायाचना एव चमरेन्द्र को भगवदाश्रय के कारण प्राप्त अभयदान। शक्रेन्द्र द्वारा स्वगन्तव्यप्रस्थान।[1]

शक्रेन्द्र के विभिन्न विशेषणो की व्याख्या—मघव (मघवा) = बडे-बडे मेघो को वश मे रखने वाला। पागसासण (पाकशासन) = पाक नाम बलवान् शत्रु पर शासन (दमन) करने वाला। सयक्कउ (शतक्रतु) = सौ क्रतुओ—अभिग्रहरूप सौ प्रतिमाओ अथवा श्रावक की पचमप्रतिमारूप सौ प्रतिमाओ (क्रतुओ) का कार्तिक सेठ के भव मे धारण करने वाला। सहस्सक्ख (सहस्राक्ष) सौ नेत्रो वाला—इन्द्र के ५०० मत्री होते है, उनके १००० नेत्र इन्द्र के कार्य मे प्रयुक्त होते है, इस अपेक्षा से सहस्राक्ष कहते हैं। वज्जपाणि (वज्रपाणि) = इन्द्र के हाथ मे वज्र नामक विशिष्ट शस्त्र होता है, इसलिए वज्रपाणि। पुरदर (पुरन्दर) = असुरादि के पुरो = नगरो का विदारक = नाशक।[2]

कठिन शब्दो की व्याख्या—वीससाए = स्वाभाविक रूप से। आभोइए = उपयोग लगाकर देखा। दुरतपतलक्खणे = दुष्परिणाम वाले अमनोज्ञ लक्षणो वाला। हीणपुण्णचाउद्दसे हीनपुण्या—अपूर्णा (टूटती-रिक्ता) चतुर्दशी का जन्मा हुआ। अप्पुस्सुए = उत्सुकता-चिन्ता से रहित-लापरवाह। महाबोंदि = महान् शरीर को। अच्चासादेत्तए = अत्यन्त आशानता = श्रीविहीन करने के लिए। 'पायदद्दरग करेइ'—भूमि पर पैर पछाडता है। उच्छोलेति = अगले भाग मे लात मारता है अथवा उछलता है। पच्छोलेति = पिछले भाग मे लात मारता है, या पछाड खाता है। रयुग्घाय करेमाणे—धूल को उछालता बरसाता हुआ। वेहासं = आकाश को। वियड्ढमाणे = घुमाता हुआ। विउब्भावेमाणे = चमकाता हुआ। परामुसइ = स्पर्श किया—उठाया। झत्ति वेगेण = शीघ्रता से—झटपट, वेग से। केसग्गे वीइत्था = केशो के आगे का भाग हवा से हिलने लगा।[3]

फैंके हुए पुद्गल को पकड़ने की देवशक्ति और गमन-सामर्थ्य मे अन्तर—

३३ भते ! त्ति भगव गोयमे समण भगव महावीर वदति०, २ एव वदासि-देवे ण भते ! महिड्ढीए महज्जुतीए जाव महाणुभागे पुव्वामेव पोग्गल खिवित्ता पभू तमेव अणुपरियट्टित्ताण गिण्हित्तए ?

३३ [१] हता, पभू।

[३३-१ प्र] 'हे भगवन् !' यो कह कर भगवान् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन—नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा (पूछा) 'भगवन् ! महाऋद्धिसम्पन्न, महाद्युतियुक्त यावत् महाप्रभावशाली देव क्या पहले पुद्गल को फेंक कर, फिर उसके पीछे जा कर उसे पकड लेने मे समर्थ है ?

[३३-१ उ] हाँ, गौतम ! वह (ऐसा करने मे) समर्थ है।

१ वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) (प० बेचरदास जी) भा १, पृ १४६ से १५०

२ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १७४

३ वही, पत्राक १७४, १७५

[२] से केणट्ठेणं भंते ! जाव गिण्हित्तए ?

गोयमा ! पोग्गले णं खित्ते समाणे पुव्वामेव सिग्घगती भवित्ता ततो पच्छा मंदगती भवति, देवे णं महिड्ढीए पुव्विं पि य पच्छा वि सीहे सीहगती चेव, तुरिते तुरितगती चेव । से तेणट्ठेणं जाव पभू गेण्हित्तए ।

[३३-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से देव, पहले फेंके हुए पुद्गल को, उसका पीछा करके यावत् ग्रहण करने मे समर्थ है ?

[३३-२ उ] गौतम ! जब पुद्गल फेंका जाता है, तब पहले उसकी गति शीघ्र (तीव्र) होती है, पश्चात् उसकी गति मन्द हो जाती है, जबकि महर्द्धिक देव तो पहले भी और पीछे (बाद मे) भी शीघ्र और शीघ्रगति वाला तथा त्वरित और त्वरितगति वाला होता है । अत इसी कारण से देव, फेंके हुए पुद्गल का पीछा करके यावत् उसे पकड सकता है ।

३४. जति णं भंते ! देवे महिड्ढीए जाव अणुपरियट्टित्ताणं गेण्हित्तए । कम्हा णं भंते ! सक्केणं देविंदेणं देवरण्णा चमरे असुरिंदे असुरराया नो संचाइए साहत्थिं गेण्हित्तए ?

गोयमा ! असुरकुमाराणं देवाणं अहेगतिविसए सीहे सीहे चेव, तुरिते तुरिते चेव । उड्ढगतिविसए अप्पे अप्पे चेव, मंदे मंदे चेव । वेमाणियाणं देवाणं उड्ढगतिविसए सीहे सीहे चेव, तुरिते तुरिते चेव । अहेगतिविसए अप्पे अप्पे चेव, मंदे मंदे चेव ।

जावतियं खेत्तं सक्के देविंदे देवराया उड्ढं उप्पतति एक्केणं समएणं तं वज्जे दोहिं, जं वज्जे दोहिं तं चमरे तीहिं, सव्वत्थोवे सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो उड्ढलोयकंडए, अहेलोयकंडए संखेज्जगुणे ।

जावतियं खेत्तं चमरे असुरिंदे असुरराया अहे ओवयति एक्केणं समएणं तं सक्के दोहिं, जं सक्के दोहिं तं वज्जे तीहिं, सव्वत्थोवे चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो अहेलोयकंडए, उड्ढलोयकंडए संखेज्जगुणे ।

एवं खलु गोयमा ! सक्केणं देविंदेणं देवरण्णा चमरे असुरिंदे असुरराया नो संचाइए साहत्थिं गेण्हित्तए ।

[३४-प्र] भगवन् ! महर्द्धिक देव यावत् पीछा करके फेंके हुए पुद्गल को पकडने मे समर्थ है, तो देवेन्द्र देवराज शक्र अपने हाथ से असुरेन्द्र असुरराज चमर को क्यो नही पकड सका ?

[३४ उ] गौतम ! असुरकुमार देवो का नीचे गमन का विषय (शक्ति-सामर्थ्य) शीघ्र-शीघ्र और त्वरित-त्वरित होता है, और ऊर्ध्वगमन विषय अल्प-अल्प तथा मन्द-मन्द होता है, जबकि वैमानिक देवो का ऊँचे जाने का विषय शीघ्र-शीघ्र तथा त्वरित-त्वरित होता है और नीचे जाने का विषय अल्प-अल्प तथा मन्द-मन्द होता है ।

एक समय मे देवेन्द्र देवराज शक्र, जितना क्षेत्र (जितनी दूर) ऊपर जा सकता है, उतना क्षेत्र—उतनी दूर ऊपर जाने मे वज्र को दो समय लगते हैं और उतना ही क्षेत्र ऊपर जाने मे चमरेन्द्र

को तीन समय लगते है। (अर्थात्—) देवेन्द्र देवराज शक्र का ऊर्ध्व-लोककण्डक (ऊपर जाने मे लगने वाला कालमान) सबसे थोडा है, और अधोलोककडक उसकी अपेक्षा सख्येयगुणा है।

एक समय मे असुरेन्द्र असुरराज चमर जितना क्षेत्र नीचा जा सकता है, उतना ही क्षेत्र नीचा जाने मे शक्रेन्द्र को दो समय लगते है और उतना ही क्षेत्र नीचा जाने मे वज्र को तीन समय लगते हैं। (अर्थात्—) असुरेन्द्र असुरराज चमर का अधोलोककण्डक (नीचे गमन का कालमान) सबसे थोडा है और ऊर्ध्वलोककण्डक (ऊँचा जाने का कालमान) उससे सख्येयगुणा है।

इस कारण से हे गौतम! देवेन्द्र देवराज शक्र, अपने हाथ से असुरेन्द्र असुरराज चमर को पकडने मे समर्थ न हो सका।

विवेचन—फेंकी हुई वस्तु को पकड़ने की देवशक्ति और गमनसामर्थ्य मे अन्तर—प्रस्तुत दो सूत्रो (सू ३३-३४) मे क्रमश दो तथ्यो का निरूपण किया गया है—(१) फेंके हुए पुद्गल को पकडने की शक्ति महर्द्धिकदेव मे है या नही? है तो कैसे है?, (२) यदि महर्द्धिक देवो मे प्रक्षिप्त पुद्गल को पकडने की शक्ति है तो शक्रेन्द्र चमरेन्द्र को क्यो नही पकड सका?'

निष्कर्ष—(१) मनुष्य की शक्ति नही है कि पत्थर, गेंद आदि को फेंक कर उसका पीछा करके उसे गन्तव्य स्थल तक पहुँचने से पहले ही पकड सके, किन्तु महर्द्धिक देवो मे यह शक्ति इसलिए है कि क्षिप्त पुद्गल की गति पहले तीव्र होती है, फिर मन्द हो जाती है, जबकि महर्द्धिक देवो मे पहले और बाद मे एक-सी तीव्रगति होती है। (२) असुरकुमार देवो की नीचे जाने मे तीव्र गति है, ऊपर जाने मे मन्द, जबकि वैमानिक देवो की नीचे जाने मे मन्दगति है ऊपर जाने मे तीव्र, इस कारण से शक्रेन्द्र नीचे जाते हुए चमरेन्द्र को पकड नही सका।[1]

इन्द्रद्वय एवं वज्र की ऊर्ध्वादिगति का क्षेत्रकाल की दृष्टि से अल्पबहुत्व—

३५ सक्कस्स णं भंते! देविंदस्स देवरण्णो उड्ढ अहे तिरियं च गतिविसयस्स कतरे कतरेहिंतो अप्पे वा, बहुए वा, तुल्ले वा, विसेसाहिए वा?

गोयमा! सव्वत्थोवं खेत्तं सक्के देविंदे देवराया अहे ओवयइ एक्केण समएणं, तिरियं सखेज्जे भागे गच्छइ, उड्ढ सखेज्जे भागे गच्छइ।

[३५ प्र] हे भगवन्! देवेन्द्र देवराज शक्र का ऊर्ध्वगमन-विषय, अधोगमन विषय और तिर्यग्गमन विषय, इन तीनो मे कौन-सा विषय किन-किन से अल्प है, बहुत (अधिक) है और तुल्य (समान) है, अथवा विशेषाधिक है?

[३५ उ] गौतम! देवेन्द्र देवराज शक्र एक समय मे सबसे कम क्षेत्र नीचे जाता है, तिरछा उससे सख्येय भाग जाता है और ऊपर भी सख्येय भाग जाता है।

३६. चमरस्स ण भंते! असुरिंदस्स असुररण्णो उड्ढं अहे तिरियं च गतिविसयस्स कतरे कतरेहिंतो अप्पे वा, बहुए वा, तुल्ले वा, विसेसाहिए वा?

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति,

गोयमा ! सव्वत्थोव खेत्त चमरे असुरिंदे असुरराया उड्ढ उप्पयति एक्केण समएण, तिरिय सखेज्जे भागे गच्छइ, अहे सखेज्जे भागे गच्छइ ।

[३६ प्र] भगवन् ! असुरेन्द्र असुरराज चमर के ऊर्ध्वगमन-विषय, अधोगमन विषय और तिर्यग्गमनविषय मे से कौन-सा विषय किन-किन से अल्प, बहुत (अधिक), तुल्य या विशेषाधिक है ?

[३६ उ] गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर, एक समय मे सबसे कम क्षेत्र ऊपर जाता है, तिरछा, उससे सख्येय भाग अधिक (क्षेत्र) और नीचे उससे भी सख्येय भाग अधिक जाता है ।

३७ वज्ज जहा सक्कस्स देविंदस्स तहेव, नवर विसेसाहिय कायव्व ।

[३७] वज्र-सम्बन्धी गमन का विषय (क्षेत्र), जैसे देवेन्द्र शक्र का कहा है, उसी तरह जानना चाहिए । परन्तु विशेषता यह है कि गति का विषय (क्षेत्र) विशेषाधिक कहना चाहिए ।

३८. सक्कस्स ण भते ! देविंदस्स देवरण्णो ओवयणकालस्स य उप्पयणकालस्स य कतरे कतरेहिंतो अप्पे वा, बहुए वा, तुल्ले वा, विसेसाहिए वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवे सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो उप्पयणकाले, ओवयणकाले सखेज्जगुणे ।

[३८ प्र] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज शक्र का नीचे जाने का (अवपतन-) काल और ऊपर जाने का (उत्पतन-)काल, इन दोनो कालो मे कौन-सा काल, किस काल से अल्प है, बहुत है, तुल्य है अथवा विशेषाधिक है ?

[३८ उ] गौतम ! देवेन्द्र देवराज शक्र का ऊपर जाने का काल सबसे थोडा है, और नीचे जाने का काल उससे सख्येयगुणा अधिक है ।

३९ चमरस्स वि जहा सक्कस्स, णवर सव्वत्थोवे ओवयणकाले, उप्पयणकाले सखेज्जगुणे ।

[३९] चमरेन्द्र का गमनविषयक कथन भी शक्रेन्द्र के समान ही जानना चाहिए, किन्तु इतनी विशेषता है कि चमरेन्द्र का नीचे जाने का काल सबसे थोडा है, ऊपर जाने का काल उससे सख्येयगुणा अधिक है ।

४० वज्जस्स पुच्छा ।

गोयमा ! सव्वत्थोवे उप्पयणकाले, ओवयणकाले विसेसाहिए ।

[४०] वज्र (के गमन के विषय मे) पृच्छा की (तो भगवान् ने कहा—) गौतम ! वज्र का ऊपर जाने का काल सबसे थोडा है, नीचे जाने का काल उससे विशेषाधिक है ।

४१. एयस्स णं भते ! वज्जस्स, वज्जाहिवतिस्स, चमरस्स य असुरिंदस्स असुररण्णो ओवयण-कालस्स य उप्पयणकालस्स य कयरे कयरेहिंतो अप्पे वा ४ ? गोयमा ! सक्कस्स य उप्पयणकाले चमरस्स य ओवयणकाले, एते ण दिण्णि वि तुल्ला सव्वत्थोवा । सक्कस्स य ओवयणकाले वज्जस्स य उप्पयणकाले, एस णं दोण्ह वि तुल्ले सखेज्जगुणे । चमरस्स य उप्पयणकाले वज्जस्स य ओवयणकाले, एस ण दोण्ण वि तुल्ले विसेसाहिए ।

[४१ प्र] भगवन् ! यह वज्र, वज्राधिपति—इन्द्र, और असुरेन्द्र असुरराज चमर, इन सब का नीचे जाने का काल और ऊपर जाने का काल, इन दोनो कालो मे से कौन-सा काल किससे अल्प, बहुत (अधिक), तुल्य अथवा विशेषाधिक है ?

[४१ उ] गौतम ! शक्रेन्द्र का ऊपर जाने का काल और चमरेन्द्र का नीचे जाने का काल, ये दोनो तुल्य है और सबसे कम है। शक्रेन्द्र का नीचे जाने का काल और वज्र का ऊपर जाने का काल, ये दोनो काल तुल्य है और (पूर्वोक्त काल से) सख्येयगुणा अधिक है। (इसी तरह) चमरेन्द्र का ऊपर जाने का काल और वज्र का नीचे जाने का काल, ये दोनो काल तुल्य है और (पूर्वोक्त काल से) विशेषाधिक है।

विवेचन—इन्द्रद्वय एव वज्र की ऊर्ध्वादिगति का क्षेत्र-काल की दृष्टि से अल्प-बहुत्व—प्रस्तुत ७ सूत्रो (सू ३५ से ४१ तक) मे से प्रथम तीन सूत्रो मे इन्द्रादि के ऊपर और नीचे गमन के क्षेत्र-विषयक अल्पत्व, बहुत्व, तुल्यत्व और विशेषाधिकत्व का, तथा इनसे आगे के तीन सूत्रो मे इन्द्रादि के ऊपर-नीचे गमन के कालविषयक अल्पत्व, बहुत्व, तुल्यत्व और विशेषाधिकत्व का पृथक्-पृथक् एव इन्द्रद्वय एव वज्र इन तीनो के नीचे और ऊपर जाने के कालो मे से एक काल से दूसरे के काल के विशेषाधिकत्व, अल्पत्व एव बहुत्व का सूक्ष्मता से निरूपण किया गया है।

सख्येय, तुल्य और विशेषाधिक का स्पष्टीकरण—शक्रेन्द्र के नीचे जाने का और ऊपर जाने का क्षेत्र-काल विषयक स्पष्टीकरण इस प्रकार है—शक्रेन्द्र जितना नीचा क्षेत्र दो समय मे जाता है, उतना ही ऊँचा क्षेत्र एक समय मे जाता है। अर्थात्—नीचे के क्षेत्र की अपेक्षा ऊपर का क्षेत्र दुगना ही चूर्णिकार ने स्पष्ट किया है कि शक्रेन्द्र एक समय मे नीचे एक योजन तिरछा डेढ योजन और ऊपर दो योजन जाता है।

इसी प्रकार शक्रेन्द्र की ऊर्ध्वगति और चमरेन्द्र की अधोगति बराबर बतलाई गई है, उसका तात्पर्य यह है कि शक्रेन्द्र एक समय मे दो योजन ऊपर जाता है तो चमरेन्द्र भी एक समय मे दो योजन नीचे जाता है। किन्तु शक्रेन्द्र, चमरेन्द्र और वज्र के केवल ऊर्ध्वगति क्षेत्र-काल मे तारतम्य है, वह इस प्रकार समझना चाहिए—शक्रेन्द्र एक समय मे जितना क्षेत्र ऊपर जाता है, उतना क्षेत्र ऊपर जाने मे वज्र को दो समय और चमरेन्द्र को तीन समय लगता है। अर्थात्—शक्रेन्द्र का जितना ऊर्ध्वगमन क्षेत्र है, उसका त्रिभाग जितना ऊर्ध्वगमन क्षेत्र चमरेन्द्र का है। इसीलिए नियत ऊर्ध्व-गमनक्षेत्र त्रिभाग न्यून तीन गाऊ बतलाया गया है।

वज्र की नीचे जाने मे गति मन्द होती है, तिरछे जाने मे शीघ्रतर और ऊपर जाने मे शीघ्रतम होती है। इसलिए वज्र का अधोगमनक्षेत्र त्रिभागन्यून योजन, तिर्यग्गमन क्षेत्र विशेषाधिक दो भाग=त्रिभागसहित तीन गाऊ, और ऊर्ध्वगमनक्षेत्र विशेषाधिक दो भाग—तिर्यक्क्षेत्रकथित विशेषाधिक दो भाग—से कुछ विशेषाधिक होता है।

चमरेन्द्र एक समय मे जितना नीचे जाता है, उतना ही नीचा जाने मे शक्रेन्द्र को दो समय और वज्र को तीन समय लगते हैं। इस कथनानुसार शक्रेन्द्र के अधोगमन की अपेक्षा वज्र का अधोगमन त्रिभागन्यून है। शक्रेन्द्र का अधोगमन का समय और वज्र का ऊर्ध्वगमन का समय दोनो

समान कहे गये है, इसका अर्थ है—शक्रेन्द्र एक समय मे नीचे एक योजन जाता है, तथैव वज्र एक समय मे ऊपर एक योजन जाता है।[1]

वज्रभयमुक्त चिन्तित चमरेन्द्र द्वारा भगवत्सेवा मे जाकर कृतज्ञताप्रदर्शन, क्षमायाचन और नाट्यप्रदर्शन—

४२ तए ण से चमरे असुरिंदे असुरराया वज्जभयविप्पमुक्के सक्केण देविदेण देवरण्णा महया अवमाणेण अवमाणिते समाणे चमरचचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए चमरसि सीहासणसि ओहतमणसकप्पे चितासोकसागरसपविट्ठे करतलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवगते भूमिगतदिट्ठीए झियाति।

[४२] इसके पश्चात् वज्र-(प्रहार) के भय से विमुक्त बना हुआ, देवेन्द्र देवराज शक्र के द्वारा महान् अपमान से अपमानित हुआ, चिन्ता और शोक के समुद्र मे प्रविष्ट असुरेन्द्र असुरराज चमर, मानसिक सकल्प नष्ट हो जाने से मुख को हथेली पर रखे, दृष्टि को भूमि मे गडाए हुए आर्तध्यान करता हुआ, चमरचचा नामक राजधानी मे सुधर्मासभा मे, चमर नामक सिहासन पर (चिन्तितमुद्रा मे बैठा-बैठा) विचार करने लगा।

४३. तते णं तं चमर असुरिंद असुरराय सामाणियपरिसोववन्नया देवा ओहयमणसकप्पं जाव झियायमाण पासति, २ करतल जाव एव वयासि—कि ण देवाणुप्पिया! ओहयमणसकप्पा जाव झियायति? तए ण से चमरे असुरिंदे असुरराया ते सामाणियपरिसोववन्नए देवे एव वयासी—'एव खलु देवाणुप्पिया! मए समण भगव महावीर नीसाए कट्टु सक्के देविंदे देवराया सयमेव अच्चासादिए। तए णं तेण परिकुवितेण समाणेण मम वहाए वज्जे निसिट्ठे। त भद्द ण भवतु देवाणुप्पिया! समणस्स भगवओ महावीरस्स जस्सम्हि पभावेण अकिट्ठे अव्वहिए अपरितावित इहमागते, इह समोसढे, इह सपत्ते, इहेव अज्ज उवसपज्जित्ताण विहरामि। त गच्छामो ण देवाणुप्पिा! समण भगव महावीर वंदामो णमंसामो जाव पज्जुवासामो' त्ति कट्टु चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीहिं जाव सव्विड्ढीए जाव जेणेव असोगवरपावदे जेणेव मम अंतिए तेणेव उवागच्छइ, २ मम तिक्खुत्तो आदाहिणपदाहिणं जाव

---

१ (क) एगेण समएण उवयइ अहे ण जोयण, एगेणेव समएण तिरिय दिवड्ढ गच्छइ, उड्ढ दो जोयणाणि सक्को। —चूर्णिकार, भगवती अ वृत्ति, प १७८

(ख) भगवती सूत्र अ वृत्ति पत्राक १७८–१७९

इन्द्रादि के गमन का यत्र—

गमनकर्त्ता	गमनकाल	ऊर्ध्व	तिर्यक्	अध
शक्रेन्द्र	१ समय	८ कोश (दो योजन)	६ कोश = १॥ योजन	४ कोश (१ योजन)
चमरेन्द्र	१ समय	त्रिभागन्यून ३ कोश	त्रिभागन्यून ६ कोश=१॥ योजन	८ कोश (२ योजन)
वज्र	१ समय	४ कोश (१ योजन)	त्रिभागसहित ३ कोश	त्रिभागन्यून ४ कोश=१ योजन

नमसित्ता एव वदासि—'एव खलु भते ! मए तुब्भ नीसाए सक्के देविंदे देवराया सयमेव अच्चासादिए जाव त भद्द ण भवतु देवाणुप्पियाण जस्स म्हि पभावेण अक्किट्ठे जाव विहरामि । तं खामेमि ण देवाणुप्पिया !' जाव उत्तरपुरत्थिम दिसीभाग अवक्कमइ, २ त्ता जाव बत्तीसइबद्ध नट्टविहिं उवद सेइ, २ जामेव दिसिं पादुब्भूए तामेव दिसिं पडिगते ।

[४३] उस समय नष्ट मानसिक सकल्प वाले यावत् आर्तध्यान करते हुए असुरेन्द्र असुरराज चमर को, सामानिक परिषद् मे उत्पन्न देवो ने देखा तो वे हाथ जोड कर यावत् इस प्रकार बोले—'हे देवानुप्रिय ! आज आपका मानसिक सकल्प नष्ट हो गया हो, (इस तरह) यावत् क्यो चिन्ता मे डूबे है ?' इस पर असुरेन्द्र असुरराज चमर ने, उन सामानिक परिपद् मे उत्पन्न देवो से इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रियो ! मैने स्वयमेव (अकेले ही) श्रमण भगवान् महावीर का आश्रय (निश्राय) ले कर, देवेन्द्र देवराज शक्र को उसकी शोभा से नष्टभ्रष्ट करने का मनोगत सकल्प किया था। (तदनुसार मैंने सुधर्मा सभा मे जा कर उपद्रव किया था ।) उससे अत्यन्त कुपित हो कर मुझे मारने के लिए शक्रेन्द्र ने मुझ पर वज्र फेका था । परन्तु देवानुप्रियो ! भला हो, श्रमण भगवान् महावीर का, जिनके प्रभाव से मैं अक्लिष्ट (क्लेशरहित), अव्यथित (व्यथा—पीडा से रहित) तथा अपरितापित (परिताप-रहित) रहा, और असतप्त (सुखशान्ति से युक्त) हो कर यहाँ आ पाया हूँ, यहाँ समवसृत हुआ हूँ, यहाँ पहुँचा (सम्प्राप्त हुआ) हूँ और आज यहाँ मौजूद हूँ ।'

'अत हे देवानुप्रियो ! हम सब चले और श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करे, यावत् उनकी पर्युपासना करे ।' (भगवान् महावीर स्वामी ने कहा—हे गौतम !) यो विचार करके वह चमरेन्द्र अपने चौसठ हजार सामानिक देवो के साथ, यावत् सर्व-ऋद्धि-पूर्वक यावत् उस श्रेष्ठ अशोक वृक्ष के नीचे, जहाँ मैं था, वहाँ मेरे समीप आया । मेरे निकट आकर तीन वार दाहिनी ओर से मेरी प्रदक्षिणा की । यावत् वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार बोला—'हे भगवन् ! आपका आश्रय ले कर मै स्वयमेव (अकेला ही) देवेन्द्र देवराज शक्र को, उसकी शोभा से नष्टभ्रष्ट करने के लिए गया था, यावत् (पूर्वोक्त सारा वर्णन कहना) आप देवानुप्रिय का भला हो, कि जिनके प्रभाव से मैं क्लेशरहित होकर यावत् विचरण कर रहा हूँ । अत हे देवानुप्रिय ! मैं (इसके लिए) आपसे क्षमा मागता हूँ ।' यावत् (यो कह कर वह) उत्तरपूर्वदिशाभाग (ईशानकोण) मे चला गया । फिर यावत् उसने बत्तीस-विधा से सम्बद्ध नाट्यविधि (नाटक की कला) दिखलाई । फिर वह जिस दिशा से आया था, उसी दिशा मे वापस लौट गया ।

४४ एव खलु गोयमा ! चमरेण असुरिंदेण असुररण्णा सा दिव्वा देविड्ढी लद्धा पत्ता जाव अभिसमन्नागया । ठिती सागरोवम । महाविदेहे वासे सिज्झिहिति जाव अतं काहिति ।

[४४] हे गौतम ! इस प्रकार से असुरेन्द्र असुरराज चमर को वह दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवद्युति एव दिव्य देवप्रभाव उपलब्ध हुआ है, प्राप्त हुआ है और अभिसमन्वागत हुआ है । चमरेन्द्र की स्थिति एक सागरोपम की है और वह वहाँ से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेकर सिद्ध होगा, यावत् समस्त दु खो का अन्त करेगा ।

विवेचन—चिन्तित चमरेन्द्र द्वारा भगवान् की सेवा मे जाकर कृतज्ञता-प्रदर्शन, क्षमायाचन और नाट्यप्रदर्शन—प्रस्तुत सूत्रत्रय में शास्त्रकार ने चार तथ्यो का निरूपण किया है—

(१) वज्रभयमुक्त, किन्तु अपमानित हतप्रभ चमरेन्द्र की चिन्तित दशा ।

(२) चिन्ता का कारण पूछे जाने पर चमरेन्द्र द्वारा सामानिको को आपबीती कहना ।

(३) भगवान् महावीर की सेवा मे सदलबल पहुँचकर चमरेन्द्र द्वारा कृतज्ञताप्रदर्शन, क्षमायाचन एव अन्त मे नाट्य-प्रदर्शन करके पुन गमन ।

(४) चमरेन्द्र की दिव्यऋद्धि आदि से सम्बन्धित कथन का भगवान् द्वारा उपसहार, अन्त मे, मोक्षप्राप्तिरूप उज्ज्वल भविष्यकथन ।[1]

असुरकुमारो के सौधर्मकल्प पर्यन्त गमन का कारणान्तर निरूपण—

४५ कि पत्तिय ण भ ते ! असुरकुमारा दे वा उड्ढ उप्पयति जाव सोहम्मो कप्पो ?

गोयमा ! तेसि ण दे वाण अहुणोववन्नगाण वा चरिमभवत्थाण वा इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जति—अहो ! ण अम्हेहि दिव्वा दे विड्ढी लद्धा पत्ता जाव अभिसमन्नागया । जारिसिया ण अम्हेहि दिव्वा दे विड्ढी जाव अभिसमन्नागया तारिसिया ण सक्केण दे विदे ण दे वरण्णा दिव्वा दे विड्ढी जाव अभिसमन्नागया, जारिसिया ण सक्केण दे विदे ण दे वरण्णा जाव अभिसमन्नागया तारिसिया ण अम्हेहि वि जाव अभिसमन्नागया । त गच्छामो ण सक्कस्स दे विदस्स दे वरण्णो अतिय पाउब्भवामो, पासामो ता सक्कस्स दे विदस्स दे वरण्णो दिव्व दे विड्ढि जाव अभिसमन्नागय । पासतु ताव अम्ह वि सक्के दे विदे देवराया दिव्व देविड्ढि जाव अभिसमण्णागय, त जाणामो ताव सक्कस्स देविदस्स देवरण्णो दिव्व देविड्ढि जाव अभिसमन्नागय, जाणउ ताव अम्ह वि सक्के दे विदे दे वराया दिव्व दे विड्ढि जाव अभिसमण्णागय । एव खलु गोयमा ! असुरकुमारा देवा उड्ढ उप्पयति जाव सोहम्मो कप्पो ।

सेव भते ! सेव भते ! त्ति० ।

॥ चमरो समत्तो ॥

॥ तइए सए बिइओ उद्देसओ समत्तो ॥

[४५ प्र] भगवन् ! असुरकुमार देव यावत् सौधर्मकल्प तक ऊपर किस कारण से जाते है ?

[४५ उ] गौतम ! (देवलोक मे) अधुनोत्पन्न (तत्काल उत्पन्न) तथा चरमभवस्थ (च्यवन के लिए तैयार) उन देवो को इस प्रकार का, इस रूप का आध्यात्मिक (आन्तरिक अध्यवसाय) यावत् मनोगत सकल्प उत्पन्न होता है—अहो ! हमने दिव्य देवऋद्धि यावत् उपलब्ध की है, प्राप्त की है, अभिसमन्वागत की है । जैसी दिव्य देवऋद्धि हमने यावत् उपलब्ध की है, यावत् अभिसमन्वागत की है, वैसी ही दिव्य देव-ऋद्धि यावत् देवेन्द्र देवराज शक्र ने उपलब्ध की है यावत् अभिसमन्वागत की है, (इसी प्रकार) जैसी दिव्य देवऋद्धि यावत् देवेन्द्र देवराज शक्र ने उपलब्ध की है यावत्

---

१ वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) (प बेचरदासजी) भा १ पृ १५३–१५४

अभिसमन्वागत की है, वैसी ही दिव्य देवऋद्धि यावत् हमने भी उपलब्ध यावत् अभिसमन्वागत की है। अत हम जाएँ और देवेन्द्र देवराज शक्र के निकट (सम्मुख) प्रकट हो एव देवेन्द्र देवराज शक्र द्वारा प्राप्त यावत् अभिसमन्वागत उस दिव्य देवऋद्धि यावत् दिव्य देवप्रभाव को देखे, तथा हमारे द्वारा लब्ध, प्राप्त एव अभिसमन्वागत उस दिव्य देवऋद्धि यावत् दिव्य देवप्रभाव को देवेन्द्र देवराज शक्र देखे। देवेन्द्र देवराज शक्र द्वारा लब्ध यावत् अभिसमन्वागत दिव्य देवऋद्धि यावत् दिव्य देवप्रभाव को हम जानें, और हमारे द्वारा उपलब्ध यावत् अभिसमन्वागत उस दिव्य देवऋद्धि यावत् देवप्रभाव को देवेन्द्र देवराज शक्र जाने। हे गौतम ! इस कारण (प्रयोजन) से असुरकुमार देव यावत् सौधर्मकल्प तक ऊपर जाते है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन ! यह इसी प्रकार है,' ऐसा कह कर यावत् गौतम-स्वामी विचरण करने लगे।

चमरेन्द्र-सम्बन्धी वृत्तान्त पूर्ण हुआ।

विवेचन— असुरकुमार देवो के सौधर्मकल्पपर्यन्त गमन का प्रयोजन—प्रस्तुत सूत्र मे असुर-कुमार देवो द्वारा ऊपर सौधर्म देवलोक तक जाने का कारण प्रस्तुत किया गया है। वे शक्रेन्द्र की देवऋद्धि आदि से चकित होकर उसकी देवऋद्धि आदि देखने-जानने और अपनी देवऋद्धि दिखाने-बताने हेतु सौधर्मकल्पपर्यन्त जाते हैं।

तब और अब के ऊर्ध्वगमन और गमनकर्त्ता मे अन्तर—पूर्वप्रकरण मे असुरकुमार देवो के ऊर्ध्वगमन का कारण भव-प्रत्ययिक वैरानुबन्ध (जन्मजात शत्रुता) बताया गया था, जबकि इस प्रकरण मे ऊर्ध्वगमन का कारण बताया गया है—शक्रेन्द्र की देवऋद्धि आदि को देखना-जानना तथा अपनी दिव्यऋद्धि आदि को दिखाना-बताना। इसके अतिरिक्त ऊर्ध्वगमनकर्त्ता भी यहाँ दो प्रकार के असुरकुमार देव बताये गए है—या तो वे अधुना (तत्काल) उत्पन्न होते हैं, या वे देवभव से च्यवन करने की तैयारी वाले होते हैं।[1]

॥ तृतीयशतक द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

१. (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १८१
(ख) भगवतीसूत्र विवेचनयुक्त (प घेवरचन्दजी), भा २, पृ ६५०

तइओ उद्देसओ : 'किरिया'

तृतीय उद्देशक : 'क्रिया'

क्रियाएँ : प्रकार और तत्सम्बन्धित चर्चा—

१. तेण कालेण तेण समएण रायगिहे नाम नगरे होत्था जाव परिसा पडिगया। तेण कालेण तेण समएण जाव अतेवासी मडियपुत्ते णाम अणगारे पगतिभद्दए जाव पज्जुवासमाणे एव वदासी—

[१] उस काल और उस समय मे 'राजगृह' नामक नगर था, यावत् परिषद् (धर्मकथा सुन) वापस चली गई।

उस काल और उस समय मे भगवान् के अन्तेवासी (शिष्य—भगवान् महावीर स्वामी के छठे गणधर) प्रकृति (स्वभाव) से भद्र मण्डितपुत्र नामक अनगार यावत् पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—

२ कति ण भते ! किरियाओ पण्णत्ताओ ?

मडियपुत्ता ! पच किरियाओ पण्णत्ताओ, त जहा—काइया अहिगरणिया पाओसिया पारियावणिया पाणातिवातकिरिया।

[२ प्र] भगवन् ! क्रियाएँ कितनी कही गई है ?

[२ उ] हे मण्डितपुत्र ! क्रियाएँ पाच कही गई है। वे इस प्रकार है—कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी क्रिया।

३ काइया ण भते ! किरिया कतिविहा पण्णत्ता ?

मडियपुत्ता ! दुविहा पण्णत्ता, त जहा—अणुवरयकायकिरिया य दुप्पउत्तकायकिरिया य।

[३ प्र] भगवन् ! कायिकी क्रिया कितने प्रकार की कही गई है ?

[३ उ.] मण्डितपुत्र ! कायिकी क्रिया दो प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार—अनुपरतकाय-क्रिया और दुष्प्रयुक्तकाय-क्रिया।

४ अधिगरणिया ण भते ! किरिया कतिविहा पण्णत्ता ?

मडियपुत्ता ! दुविहा पण्णत्ता, त जहा—सजोयणाहिगरणकिरिया य निव्वत्तणाहिगरणकिरिया य।

[४ प्र] भगवन् ! आधिकरणिकी क्रिया कितने प्रकार की कही गई है ?

[४ उ] मण्डितपुत्र ! आधिकरणिकी क्रिया दो प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार—सयोजनाधिकरण-क्रिया और निर्वर्तनाधिकरण-क्रिया।

[१० प्र] भगवन्! श्रमण निर्ग्रन्थो के क्रिया कैसे (किस निमित्त से) हो (लग) जाती है?

[१० उ] मण्डितपुत्र! प्रमाद के कारण और योग (मन-वचन-काया के व्यापार=प्रवृत्ति) के निमित्त से (उनके क्रिया होती है)। इन्ही दो कारणो से श्रमण-निर्ग्रन्थो को क्रिया होती (लगती) है।

विवेचन—क्रियाएँ : प्रकार और तत्सम्बन्धित चर्चा—प्रस्तुत १० सूत्रो (१ से १० सू तक) मे भगवान् और मण्डितपुत्र गणधर के बीच हुआ क्रिया-विषयक सवाद प्रस्तुत किया गया है। इसमे क्रमश निम्नोक्त तथ्यो का निरूपण किया गया है—

(१) क्रियाएँ मूलत पाच है।

(२) पाचो क्रियाओ के प्रत्येक के अवान्तर भेद दो-दो है।

(३) पहले क्रिया होती है और तत्पश्चात् वेदना, यह जैनसिद्धान्त है।

(४) श्रमणनिर्ग्रन्थो के भी क्रिया होती है और वह दो कारणो से होती है—प्रमाद से और योग के निमित्त से।

क्रिया—क्रिया के सम्बन्ध मे भगवती, प्रज्ञापना, और स्थानाग आदि कई शास्त्रो मे यत्र-तत्र प्रचुर चर्चाएँ है। भगवतीसूत्र के प्रथमशतक मे भी दो जगह इसके सम्बन्ध मे विविध पहलुओ से चर्चा की गई है। और वहाँ प्रज्ञापनासूत्र का अतिदेश भी किया गया है[1], तथापि यहाँ क्रियासम्बन्धी मौलिक चर्चाएँ हैं। क्रिया का अर्थ जैनदृष्टि से केवल करना ही नही है, अपितु उसका अर्थ है—कर्मबन्ध होने मे कारणरूप चेष्टा, फिर वह चेष्टा चाहे कायिक हो, वाचिक हो या मानसिक हो, जब तक जीव क्रियारहित नही हो जाता, तब तक कुछ न कुछ[2] कर्मबन्धनकारिणी है ही।

पांच क्रियाओ का अर्थ—**कायिकी**=काया मे या काया से होने वाली। **आधिकरणिकी**=जिससे आत्मा नरकादिदुर्गतियो मे जाने का अधिकारी बनता है, ऐसा कोई अनुष्ठान-कार्य, अथवा तलवार, चक्रादि शस्त्र वगैरह अधिकरण कहलाता है। ऐसे अधिकरण मे या अधिकरण से होनेवाली क्रिया। **प्राद्वेषिकी**—प्रद्वेष (या मत्सर) मे या प्रद्वेष के निमित्त से हुई अथवा प्रद्वेषरूप क्रिया। **पारितापनिकी**—परिताप—पीडा पहुँचाने से होने वाली क्रिया। **प्राणातिपातिकी**=प्राणियो के प्राणो के अतिपात (वियोग या नाश) से हुई क्रिया।[3]

क्रियाओ के प्रकार की व्याख्या—**अनुपरतकायक्रिया**—प्राणातिपात आदि से सर्वथा अविरत—त्यागवृत्तिरहित प्राणी की शारीरिकक्रिया। यह क्रिया अविरत जीवो को लगती है। **दुष्प्रयुक्तकाय-क्रिया**—दुष्टरूप (बुरी तरह) से प्रयुक्त शरीर द्वारा अथवा दुष्टप्रयोग वाले मनुष्यशरीर द्वारा हुई क्रिया।

---

१. (क) इसी से मिलता जुलता पाठ—प्रज्ञापनासूत्र २२ एव ३१वें क्रियापद मे देखिये।
—प्रज्ञापना म वृत्ति, आगमोदय० पृ ४३५-४५३

(ख) भगवतीसूत्र शतक १, उद्देशक ८

(ग) स्थानागसूत्र, स्थान ३

२ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १८१

३ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १८१

यह क्रिया प्रमत्त सयत को भी प्रमादवश शरीर दुष्प्रयुक्त होने से लगती है। सयोजनाधिकरणक्रिया= सयोजन का अर्थ है—जोडना। जैसे—पक्षियो और मृगादि पशुओ को पकडने के लिए पृथक्-पृथक् अवयवो को जोडकर एक यन्त्र तैयार करना, अथवा किसी भी पदार्थ मे विष मिलाकर एक मिश्रित पदार्थ तैयार करना सयोजन है। ऐसी सयोजनरूप अधिकरणक्रिया। निर्वर्तनाधिकरणक्रिया= तलवार, बर्छी, भाला आदि शस्त्रो का निर्माण निर्वर्तन है। ऐसी निर्वर्तनरूप अधिकरण क्रिया। जीवप्राद्वेषिकी—अपने या दूसरे के जीव पर द्वेष करना या द्वेष करने से लगने वाली क्रिया। अजीव प्राद्वेषिकी—अजीव (चेतनारहित) पदार्थ पर द्वेष करना अथवा द्वेष करने से होने वाली क्रिया। स्वहस्तपारितापनिकी= अपने हाथ से अपने को, दूसरे को अथवा दोनो को परिताप देना—पीडा पहुँचाना। परहस्तपारितापनिकी—दूसरे को प्रेरणा देकर या दूसरे के निमित्त से परिताप—पीडा पहुँचाना। स्वहस्तप्राणातिपातिकी—अपने हाथ से—स्वय अपने प्राणो का, दूसरे के प्राणो का अथवा दोनो के प्राणो का अतिपात—विनाश करना। परहस्तप्राणातिपातिकी=दूसरे के द्वारा या दूसरे के प्राणो का अथवा दोनो के प्राणो का अतिपात करना।[1]

क्रिया और वेदना मे क्रिया प्रथम क्यो?—क्रिया कर्म की जननी है, क्योकि कर्म क्रिया से ही बद्ध होते है, अथवा जन्य और जनक मे अभेद की कल्पना करने से क्रिया ही कर्म है, या जो की जाती है, वह क्रिया—एक प्रकार का कर्म ही है। तथा वेदना का अर्थ होता है—कर्म का अनुभव करना। पहले कर्म होगा, तभी उसकी वेदना—अनुभव (कर्मफल भोग) होगा। अत वेदन कर्म (क्रिया) पूर्वक होने से न्यायत क्रिया ही पहले होती है, वेदना उसके वाद।[2]

श्रमणनिर्ग्रन्थ की क्रिया : प्रमाद और योग से—सर्वथा विरत श्रमणो को भी प्रमाद और योग के निमित्त से क्रिया लगती है, इसका तात्पर्य यह है कि श्रमण जब उपयोगरहित (यतनारहित अथवा दूसरे शब्दो मे, मद, विषयासक्ति, कषाय, निद्रा, विकथा आदि के वश) हो कर गमनादि क्रिया करता है, तब वह क्रिया प्रमादजन्य कहलाती है। तथा जब कोई श्रमण उपयोगयुक्त हो कर गमनादि क्रिया मन-वचन-काय (योग) से करता है तब वह ऐर्यापथिकी क्रिया योगजन्य कहलाती है।[3]

सक्रिय-अक्रिय जीवो की अन्तक्रिया के नास्तित्व-अस्तित्व का दृष्टान्तपूर्वक निरूपण—

११. जीवे ण भते ! सया समिय एयति वेयति चलति फदइ घट्टइ खुब्भइ उदीरति तं त भाव परिणमति ?

हंता, मडियपुत्ता ! जीवे णं सया समितं एयति जाव तं तं भावं परिणमति ।

[११ प्र] भगवन् ! क्या जीव सदा समित (मर्यादित) रूप मे कापता है, विविध रूप मे कापता है, चलता है (एक स्थान से दूसरे स्थान जाता है), स्पन्दन क्रिया करता (थोडा या धीमा चलता) है, घट्टित होता (सर्व दिशाओ मे जाता—घूमता) है, क्षुब्ध (चचल) होता है, उदीरित (प्रवलरूप से प्रेरित) होता या करता है, और उन-उन भावो मे परिणत होता है ?

---

१ भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्राक १८१-१८२

२ वही, अ वृत्ति, पत्राक १८२

३ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १८२

(ख) भगवती० विवेचन (प० घेवरचन्दजी) भा २, पृ ६५६

[११ उ] हाँ, मण्डितपुत्र ! जीव सदा समित—(परिमित) रूप मे कापता है, यावत् उन-उन भावो मे परिणत होता है ।

१२ [१] जाव च ण भते ! से जीवे सया समित जाव परिणमति ताव च ण तस्स जीवस्स अते अतकिरिया भवति ?

णो इणट्ठे समट्ठे ।

[२] से केणट्ठेण भते ! एव वुच्चइ—जाव च ण से जीवे सदा समित जाव अते अतकिरिया न भवति ?

मडियपुत्ता ! जाव च ण से जीवे सया समित जाव परिणमति ताव च ण से जीवे आरभति सारभति समारभति, आरभे वट्टति, सारभे वट्टति, समारभे वट्टति, आरभमाणे सारभमाणे समारभमाणे, आरभे वट्टमाणे, सारभे वट्टमाणे, समारभे वट्टमाणे बहूण पाणाण भूताण जीवाण सत्ताण दुक्खावणताए सोयावणताए जूरावणताए तिप्पावणताए पिट्टावणताए परितावणताए[1] वट्टति, से तेणट्ठेण मडियपुत्ता ! एव वुच्चति—जाव च ण से जीवे सया समित एयति जाव परिणमति ताव च ण तस्स जीवस्स अते अतकिरिया न भवति ।

[१२-प्र] भगवन् ! जब तक जीव समित—परिमत रूप से कापता है, यावत् उन-उन भावो मे परिणत (परिवर्तित) होता है, तब तक क्या उस जीव की अन्तिम-(मरण) समय मे अन्तक्रिया (मुक्ति) होती है ?

[१२-१ उ] मण्डितपुत्र ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नही है, (क्योकि जीव जब तक क्रियायुक्त है, तब तक अन्तक्रिया (क्रिया का अन्तरूप मुक्ति नही हो सकती ।)

[१२-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि जब तक जीव समितरूप से सदा कापता है, यावत् उन-उन भावो मे परिणत होता है, तब तक उसकी अन्तिम समय मे अन्तक्रिया नही होती ?

[१२-२ उ] हे मण्डितपुत्र ! जीव जब तक सदा समित रूप से कापता है, यावत् उन-उन भावो मे परिणत होता है, तब तक वह (जीव) आरम्भ करता है, सरम्भ मे रहता है, समारम्भ करता है, आरम्भ मे रहता (वर्तता) है, सरम्भ मे रहता (वर्तता) है, और समारम्भ मे रहता (वर्तता) है । आरम्भ, सरम्भ और समारम्भ करता हुआ तथा आरम्भ मे, सरम्भ मे, और समारम्भ मे, प्रवर्त्तमान जीव, बहुत-से प्राणो, भूतो, जीवो और सत्त्वो को दु ख पहुँचाने मे, शोक कराने मे, झूराने (विलाप कराने) मे, रुलाने अथवा आँसू गिरवाने मे, पिटवाने मे, (थकाने-हैरान करने मे, डराने-धमकाने या त्रास पहुँचाने मे) और परिताप (पीडा) देने (सतप्त करने) मे प्रवृत्त होता (निमित्त बनता) है । इसलिए हे मण्डितपुत्र ! इसी कारण से ऐसा कहा जाता है कि जब तक जीव सदा

---

१ यहाँ 'किलामणयाए उद्दवणयाए' इस प्रकार का अधिक पाठ मिलता है । इनका अर्थ मूलार्थ मे कोष्ठक मे दे दिया है ।—स०

समितरूप से कम्पित होता है, यावत् उन-उन भावो मे परिणत होता है, तब तक वह जीव, अन्तिम समय (मरणकाल) मे अन्तक्रिया नही कर सकता ।

१३ जीवे ण भते ! सया समिय नो एयति जाव नो त त भाव परिणमति ?

हता, मडियपुत्ता ! जीवे ण सया समिय जाव नो परिणमति ।

[१३-प्र] भगवन् ! जीव, सदैव (शाश्वतरूप से) समितरूप से ही कम्पित नही होता, यावत् उन-उन भावो मे परिणत नही होता ?

[१३-उ] हाँ, मण्डितपुत्र ! जीव सदा के लिए समितरूप से ही कम्पित नही होता, यावत् उन-उन भावो मे परिणत नही होता । (अर्थात्—जीव एकदिन क्रियारहित हो सकता है ।)

१४ [१] जाव च ण भते ! से जीवे नो एयति जाव नो त त भाव परिणमति ताव च ण तस्स जीवस्स अते अतकिरिया भवति ?

हता, जाव भवति ।

[१४-१ प्र] भगवन् ! जब वह जीव सदा के लिए समितरूप से कम्पित नही होता, यावत् उन-उन भावो मे परिणत नही होता, तब क्या उस जीव की अन्तिम समय मे अन्तक्रिया (मुक्ति) नही हो जाती ?

[१४-१ उ] हाँ, (मण्डितपुत्र !) ऐसे यावत् जीव की अन्तिम समय में अन्तक्रिया (मुक्ति) हो जाती है ।

[२] से केणट्ठेण भते ! जाव भवति ?

मडियपुत्ता ! जाव च ण से जीवे सया समियं णो एयति जाव णो परिणमइ ताव च ण से जीवे नो आरभति, नो सारभति, नो समारभति, नो आरभे वट्टइ, णो सारभे वट्टइ, णो समारभे वट्टइ, अणारभमाणे असारभमाणे असमारभमाणे, आरभे अवट्टमाणे, सारभे अवट्टमाणे, समारभे अवट्टमाणे वहूण पाणाण ४ अदुक्खावणयाए जाव अपरियावणयाए वट्टइ ।

[१४-२ प्र] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा है कि ऐसे जीव की यावत् अन्तक्रिया—मुक्ति हो जाती है ?

[१४-२ उ] मण्डितपुत्र ! जब वह जीव सदा (के लिए) समितरूप से (भी) कम्पित नही होता, यावत् उन-उन भावो मे परिणत नही होता, तब वह जीव आरम्भ नही करता, सरम्भ नही करता एव समारम्भ भी नही करता, और न ही वह जीव आरम्भ मे, सरम्भ मे एव समारम्भ मे प्रवृत्त होता है । आरम्भ, सरम्भ और समारम्भ नही करता हुआ तथा आरम्भ, सरम्भ और समारम्भ मे प्रवृत्त न होता हुआ जीव, वहुत-से प्राणो, भूतो, जीवो और सत्त्वो को दु ख पहुँचाने मे यावत् परिताप उत्पन्न करने मे प्रवृत्त (या निमित्त) नही होता ।

[३] से जहानामए केइ पुरिसे सुक्क तणहत्थय जाततेयसि पक्खिवेज्जा, से नूण मंडियपुत्ता ! से सुक्के तणहत्थए जायतेयसि पक्खित्ते समाणे खिप्पामेव मसमसाविज्जइ ? हता, मसमसाविज्जइ ।

[१४-३] (भगवान्—) 'जैसे, (कल्पना करो,) कोई पुरुष सूखे घास के पूले (तृण के मुट्ठे) को अग्नि मे डाले तो क्या मण्डितपुत्र ! वह सूखे घास का पूला अग्नि मे डालते ही शीघ्र जल जाता है ? (मण्डितपुत्र—) हाँ, भगवन् ! वह शीघ्र ही जल जाता है ।

[४] से जहानामए केइ पुरिसे तत्तसि अयकवल्लसि उदयबिंदु पक्खिवेज्जा, से नूण मडियपुत्ता ! से उदयबिंदू तत्तसि अयकवल्ल सि पक्खित्ते समाणे खिप्पामेव विद्ध समागच्छइ ? हता, विद्ध समागच्छइ ।

[१४-४] (भगवान्—) (कल्पना करो) जैसे कोई पुरुष तपे हुए लोहे के कडाह पर पानी की बूद डाले तो क्या मण्डितपुत्र ! तपे हुए लोहे के कडाह पर डाली हुई वह जलबिन्दु अवश्य ही शीघ्र नष्ट हो जाती है ? (मण्डितपुत्र—) हाँ, भगवन् ! वह जलविन्दु शीघ्र नष्ट हो जाती है ।

[५] से जहानामए हरए सिया पुण्णे पुण्णप्पमाणे वोलट्टमाणे वोसट्टमाणे समभरघडत्ताए चिट्ठति ? हता चिट्ठति । अहे ण केइ पुरिसे तसि हरयसि एग मह नाव सतासव सयच्छिद्द ओगाहेज्जा, से नूणं मंडियपुत्ता ! सा नावा तेहिं आसवद्दारेहिं आपूरेमाणी २ पुण्णा पुण्णप्पमाणा वोलट्टमाणा वोसट्टमाणा समभरघडत्ताए चिट्ठति ? हता, चिट्ठति । अहे ण केइ पुरिसे तीसे नावाए सव्वतो समता आसवद्दाराइ पिहेइ, २ नावाउस्सिचणएण उदय उस्सिचिज्जा, से नूण मडियपुत्ता ! सा नावा तसि उदयसि उस्सित्तसि समाणसि खिप्पामेव उड्ढ उद्दाति ? हता, उद्दाति । एवामेव मडियपुत्ता ! अत्तत्तासवुडस्स अणगारस्स इरियासमियस्स जाव गुत्तबभयारिस्स, आउत्त गच्छमाणस्स चिट्ठमाणस्स निसीयमाणस्स तुयट्टमाणस्स, आउत्त वत्थ-पडिग्गह-कबल-पादपुछण गेण्हमाणस्स, निक्खिवमाणस्स जाव चक्खुपम्हनिवायमवि वेमाया[1] सुहुमा इरियावहिया किरिया कज्जइ । सा पढमसमयबद्धपुट्ठा बितियसमयवेतिता ततियसमयनिज्जरिया, सा बद्धा पुट्ठा उदीरिया वेदिया निज्जिण्णा सेयकाले अकम्म चावि भवति । से तेणट्ठेण मडियपुत्ता ! एव वुच्चति—जाव च ण से जीवे सया समितं नो एयति जाव अते अतकिरिया भवति ।

[१४-५] (भगवान्—) (मान लो,) 'कोई एक सरोवर है, जो जल से पूर्ण हो, पूर्णमात्रा मे पानी से भरा हो, पानी से लबालब भरा हो, बढते हुए पानी के कारण उसमे से पानी छलक रहा हो, पानी से भरे हुए घडे के समान क्या उसमे पानी व्याप्त हो कर रहता है ?'

(मण्डितपुत्र—) हाँ, भगवन् ! उसमे पानी व्याप्त हो कर रहता है ।

(भगवान्—) अब उस सरोवर मे कोई पुरुष, सैकडो छोटे छिद्रो वाली तथा सैकडो बडे छिद्रो वाली एक बडी नौका को उतार दे, तो क्या मण्डितपुत्र ! वह नौका उन छिद्रो (पानी आने के

१ पाठान्तर—वेमाया के स्थान मे कही 'सपेहाए' पाठ है । जिसका अर्थ है—स्वेच्छा से ।

द्वारो) द्वारा पानी से भरती-भरती जल से परिपूर्ण हो जाती है ? पूर्णमात्रा मे उसमे पानी भर जाता है ? पानी से वह लबालब भर जाती है ? उसमे पानी बढने से छलकने लगता है ? (और अन्त मे) वह (नौका) पानी से भरे घडे की तरह सर्वत्र पानी से व्याप्त हो कर रहती है ?

(मण्डितपुत्र—) हाँ, भगवन् ! वह पूर्वोक्त प्रकार से जल से व्याप्त होकर रहती है। यदि कोई पुरुष उस नौका के समस्त छिद्रो को चारो ओर से बन्द कर (ढक) दे, और वैसा करके नौका की उलीचनी (पानी उलीचने के उपकरणविशेष) से पानी को उलीच दे (जल के उदय—ऊपर उठने को रोक दे,) तो हे मण्डितपुत्र ! नौका के पानी को उलीच कर खाली करते ही क्या वह शीघ्र ही पानी के ऊपर आ जाती है ?

(मण्डितपुत्र—) हाँ भगवन् ! (वैसा करने से, वह तुरन्त) पानी के ऊपर आ जाती है।

(भगवान्—) हे मण्डितपुत्र ! इसी तरह अपनी आत्मा द्वारा आत्मा मे सवृत हुए, ईर्यासमिति आदि पाच समितियो से समित तथा मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियो से गुप्त, ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियो से गुप्त (सुरक्षित), उपयोगपूर्वक गमन करने वाले, ठहरने वाले, बैठने वाले, करवट बदलने वाले तथा वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोञ्छन रजोहरण (आदि धर्मोपकरणो को सावधानी (उपयोग) के साथ उठाने और रखने वाले अनगार को भी अक्षिनिमेष-(आँख की पलक झपकाने) मात्र समय मे विमात्रापूर्वक सूक्ष्म ईर्यापथिकी क्रिया लगती है। वह (क्रिया) प्रथम समय मे बद्ध-स्पष्ट द्वितीय समय मे वेदित और तृतीय समय मे निर्जीर्ण (क्षीण) हो जाती है। (अर्थात्—) वह बद्ध-स्पृष्ट, उदीरित, वेदित और निर्जीर्ण क्रिया भविष्यत्काल मे अकर्मरूप भी हो जाती है। इसी कारण से, हे मण्डितपुत्र ! ऐसा कहा जाता है कि जब वह जीव सदा (के लिए) समितरूप से भी कम्पित नही होता, यावत् उन-उन भावो मे परिणत नही होता, तब अन्तिम समय मे (जीवन के अन्त मे) उसकी अन्तक्रिया (मुक्ति) हो जाती है।

विवेचन—सक्रिय-अक्रिय जीवो की अन्तक्रिया के नास्तित्व-अस्तित्व का दृष्टान्तपूर्वक निरूपण—प्रस्तुत चार सूत्रो (सू ११ से १४ तक) मे प्रतिपादित किया गया है, कि जब तक जीव मे किसी न किसी प्रकार की सूक्ष्म या स्थूल क्रिया है, तब तक उसकी अन्तक्रिया नही हो सकती। सूक्ष्म-क्रिया से भी रहित होने पर जीव की अन्तिम समय मे अन्तक्रिया (मुक्ति) होती है। अन्तक्रिया के सम्बन्ध मे शास्त्रकार ने क्रमश निम्नोक्त तथ्यो का प्ररूपण किया है—(१) जब तक जीव कम्पन, चलन, स्पन्दन, भ्रमण, क्षोभन, उदीरण आदि विविध क्रियाएँ करता है, तब तक उस जीव को अन्त-क्रिया नही हो सकती, क्योकि इन क्रियाओ के कारण जीव आरम्भ, सरम्भ, समारम्भ मे प्रवर्तमान होकर नाना जीवो को दु ख पहुँचाता एव पीडित करता है। अत क्रिया से कर्मबन्ध होते रहने के कारण वह अकर्मरूप (क्रियारहित) नही हो सकता।

(२) जीव सदा के लिए क्रिया न करे, ऐसी स्थिति आ सकती है, और जब ऐसी स्थिति आती है, तब वह सर्वथा क्रियारहित होकर अन्तक्रिया (मुक्ति) प्राप्त कर सकता है।

(३) जब क्रिया नही होगी तब क्रियाजनित आरभादि नही होगा, और न ही उसके फल-स्वरूप कर्मबन्ध होगा, ऐसी अकर्मस्थिति मे अन्तक्रिया होगी ही।

(४) इसे स्पष्टता से समझाने के लिए दो दृष्टान्त दिये गये हैं—(१) सूखे घास के पूले को अग्नि मे डालते ही वह जल कर भस्म हो जाता है (२) तपे हुए लोहे के कडाह पर डाली गई जल की बूंद

तुरन्त सूख कर नष्ट हो जाती है, इसी प्रकार कम्पनादिक्रियारहित मनुष्य के कर्मरूप ईन्धन शुक्ल-ध्यान के चतुर्थभेदरूप अग्नि मे जल कर भस्म हो जाते हैं, सूखकर नष्ट हो जाते हैं।

(५) **तीसरा दृष्टान्त**—जैसे सैंकडो छिद्रो वाली नौका छिद्रो द्वारा पानी से लबालब भर जाती है, किन्तु कोई व्यक्ति नौका के समस्त छिद्रो को बन्द करके नौका मे भरे हुए सारे पानी को उलीच कर बाहर निकाल दे तो वह नौका तुरन्त पानी के ऊपर आ जाती है, इसी प्रकार आश्रवरूप छिद्रो द्वारा कर्मरूपी पानी से भरी हुई जीवरूपी नौका को, कोई आत्म-सवृत एव उपयोग-पूर्वक समस्त क्रिया करने वाला अनगार आश्रवद्वारो (छिद्रो) को बन्द कर देता है और निर्जरा द्वारा सचित कर्मो को रिक्त कर देता है, ऐसी स्थिति मे केवल ऐर्यापथिकी क्रिया उसे लगती है, वह भी प्रथम समय मे बद्ध-स्पृष्ट होती है, द्वितीय समय मे उदीरित एव वेदित हो जाती है और तृतीय समय मे वह जीव-प्रदेशो से पृथक् होकर निर्जीर्ण हो जाती है। इस प्रकार की अक्रिय—आश्रवरहित अकर्म-रूप स्थिति मे जीवरूपी नौका ऊपर आकर तैरती है। वह क्रियारहित व्यक्ति ससारसमुद्र से तिर कर अन्तक्रियारूप मुक्ति पा लेता है।[1]

विविध क्रियाओ का अर्थ—एयति—कम्पित होता है। **वेयति**=विविध प्रकार मे कापता है। **चलति**=स्थानान्तर करता है, गमनागमन करता है। **फदइ**=थोडी-सी, धीमी-सी हल-चल करता है। **घट्टइ**=सब दिशाओ मे चलता है। **खुब्भइ**=क्षुब्ध—चचल होता है या पृथ्वी को क्षुब्ध कर देता है अथवा दूसरे पदार्थ को स्पर्श करता है, डरता है। **उदीरति**=प्रबलता से प्रेरित करता है, दूसरे पदार्थों को हिलाता है। त त भाव **परिणमति**=उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुचन, प्रसारण आदि उस-उस भाव=क्रिया-पर्याय (परिणाम) को प्राप्त होता है। एजन (कम्पन) आदि क्रियाएँ क्रमपूर्वक और सामान्य रूप से सदैव होती है।

आरम्भ, सरम्भ और समारम्भ—क्रम यो है—**सरम्भ**=पृथ्वीकायादि जीवो की हिंसा करने का सकल्प करना, **समारम्भ**=उन्हे परिताप-सताप देना, तथा **आरम्भ**=उन जीवो की हिंसा करना।

'दुक्खावणताए' आदि पदो की व्याख्या—**दुक्खावणयाए**=मरणरूप या इष्टवियोगादिरूप दु ख पहुँचाने मे। **सोयावणताए**=शोक, चिन्ता या दैन्य मे डाल देने मे। **जूरावणताए**=झूराने, अत्यन्त शोक के बढ जाने से शरीर को जीर्णता-क्षीणता मे पहुँचा देने मे। **तिप्पावणताए**=रुलाने या आँसू गिरवाने मे। **पिट्टावणताए**=पिटवाने मे। **अतकिरिया**=समस्त कर्मध्वसरूप स्थिति, मुक्ति। **तणहत्थय**=घास का पूला। **मसमसाविज्जइ**=जल जाता है। **जायतेयसि**=अग्नि मे। **तत्तसि अयक-वल्लसि**=तपे हुए लोहे के कडाह मे। **वोलट्टमाणा**=लबालब भरी हो। **वोसट्टमाणा**=पानी छलक रहा हो। **उड्ढ उद्दाति**=ऊपर आ जाती है। **अत्तत्तासवुडस्स**=आत्मा द्वारा आत्मा मे सवृत हुए।

आउत्त=उपयोगयुक्त। **तुयट्टमाणस्स**=करवट बदलते हुए। **वेमाया**=विमात्रा से—थोडी-सी मात्रा से भी। **सपेहाय**=स्वेच्छा से। **सुहुमा**=सूक्ष्मबधादिरूप काल वाली। **ईरियावहिया**=केवल योगो से जनित ईर्यापथिकी क्रिया। उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगिकेवली गुणस्थानवर्ती

---

१ (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) (प वेचरदासजी) भा १, पृ १५६ से १५८ तक
(ख) भगवतीसूत्र (टीकानुवादसहित) प वेचरदासजी खण्ड २, पृ ७६ से ८० तक

वीतरागो मे जब तक ऐसी सूक्ष्म ईर्यापथिकी क्रिया रहती है, तव तक उनके सातावेदनीय कर्मबन्ध होता है।[1]

प्रमत्तसंयमी और अप्रमत्तसंयमी के प्रमत्तसंयम और अप्रमत्तसंयम के सर्वकाल का प्ररूपण—

१५ पमत्तसजयस्स ण भते ! पमत्तसजमे वट्टमाणस्स सव्वा वि य ण पमत्तद्धा कालतो केवच्चिर होति ?

मडियपुत्ता ! एगजीव पडुच्च जहन्नेण एक्क समय उक्कोसेण देसूणा पुव्वकोडी। णाणाजीवे पडुच्च सव्वद्धा।

[१५ प्र] भगवन् ! प्रमत्त-सयम मे प्रवर्त्तमान प्रमत्तसयत का सब मिला कर प्रमत्तसयम-काल कितना होता है ?

[१५ उ] मण्डितपुत्र ! एक जीव की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि-(काल प्रमत्तसयम का काल) होता है। अनेक जीवो की अपेक्षा सर्वकाल (सर्वाद्धा) (प्रमत्तसयम का काल) होता है।

१६ अप्पमत्तसजयस्स ण भते ! अप्पमत्तसजमे वट्टमाणस्स सव्वा वि य ण अप्पमत्तद्धा कालतो केवच्चिर[2] होति ?

मडियपुत्ता ! एगजीव पडुच्च जहन्नेण अतोमुहुत्त, उक्कोसेण पुव्वकोडी देसूणा। णाणाजीवे पडुच्च सव्वद्ध ।

सेव भते ! २ त्ति भगवं मडियपुत्ते अणगारे समण भगव महावीर वदइ नमसइ, २ सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे विहरइ।

[१६ प्र] भगवन् ! अप्रमत्तसयम मे प्रवर्त्तमान अप्रमत्तसयम का सब मिला कर अप्रमत्त-सयमकाल कितना होता है ?

[१६ उ] मण्डितपुत्र ! एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि-(काल अप्रमत्तसयम का काल) होता है। अनेक जीवो की अपेक्षा सर्वकाल होता है।

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १८३ से १८५ तक

(ख) भगवती विवेचन (प घेवरचन्दजी) भा २, पृ ६५९ से ६६५ तक

(ग) सकप्पो सरभो, परितावकरो भवे समारभो।
आरभो उद्दवओ, सव्वनयाण विसुद्धाण ॥

२ 'कालओ' और 'केवच्चिर' ये दो एकार्थक पद देने का तात्पर्य है—कालओ = काल की अपेक्षा, केवच्चिर = कितने काल तक।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है !' यों कह कर भगवान् मण्डितपुत्र अनगार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार करते हैं। वन्दन-नमस्कार करके वे सयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करने लगे।

विवेचन—प्रमत्तसयमी और अप्रमत्तसयमी के प्रमत्तसयम एव अप्रमत्तसयम के सर्वकाल का प्ररूपण—प्रस्तुत दो सूत्रो मे क्रमश प्रमत्तसयमी के प्रमत्तसयम के समग्रकाल का, तथा अप्रमत्तसयमी के अप्रमत्तसयम के समग्र काल का, एक जीव और अनेक जीवो की अपेक्षा मे कथन किया गया है।[1]

प्रमत्तसंयम का काल एक समय कैसे ?—प्रमत्तसयम प्राप्त करने के पश्चात् यदि तुरन्त एक समय बीतने पर ही प्रमत्तसयमी की मृत्यु हो जाए, इस अपेक्षा से प्रमत्तसयमी का जघन्यकाल एक समय कहा है।

अप्रमत्तसयम का काल एक अन्तर्मुहूर्त्त क्यो ?—अप्रमत्तसयम का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त्त इसलिए बताया गया है कि अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती जीव अन्तर्मुहूर्त्त के बीच मे मरता नही है। उपशम श्रेणी करता हुआ जीव बीच मे ही काल कर जाए इसके लिए जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त्त का बताया है। इसका उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि-काल केवलज्ञानी की अपेक्षा से बताया गया है।[2] क्योकि केवली भी अप्रमत्तसयत की गणना मे आते है। छठे गुणस्थान से ऊपर के सभी गुणस्थान अप्रमत्त है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयतगुणस्थान का अलग-अलग काल अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण ही है, अर्थात् प्रमत्तसयत अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् अप्रमत्तदशा मे अवश्य आता है और सप्तम गुणस्थानवर्त्ती अप्रमत्तसयत प्रमत्त-अवस्था मे अवश्य आता है। किन्तु दोनो गुणस्थानो का मिलाकर देशोनपूर्व कोटि काल बतलाया गया है। इसका कारण यह है कि सयमी का उत्कृष्ट आयुष्य देशोनपूर्वकोटि का ही है।

चतुर्दशी आदि तिथियो को लवणसमुद्रीय वृद्धि-हानि के कारण का प्ररूपण—

१७ 'भंते !' त्ति भगव गोतमे समण भगव महावीर वदइ नमसइ, २ त्ता एव वदासि—कम्हा ण भते ! लवणसमुद्दे चाउद्दस-ऽट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु अतिरेय वड्ढति वा हायति वा ?

लवणसमुद्दवत्तव्वया नेयव्वा जाव[3] लोयट्ठिती। जाव लोयाणुभावे।

सेव भते ! सेव भते ! त्ति जाव विहरति।

॥ ततिए सए तइओ उद्देसो समत्तो ॥

[१७ प्र] 'हे भगवन् !' यो कह कर भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—(पूछा—) 'भगवन् ! लवणसमुद्र, चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी, इन चार तिथियो मे क्यो अधिक बढता या घटता है ?

१ वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा १, पृ १५८

२ भगवतीसूत्र अ वृ, पत्राक १८३

३ 'जाव' शब्द सूचक पाठ—लोयट्ठिती। ज ण लवणसमुद्दे जबुद्दीव दीव णो उप्पीलेति। णो चेव ण एगोदग करेइ। लोयाणुभावे। सेव भते !

[१७ उ] हे गौतम ! जीवाभिगमसूत्र मे लवणसमुद्र के सम्बन्ध मे जैसा कहा है, वैसा यहाँ भी जान लेना चाहिए, यावत् 'लोकस्थिति' से 'लोकानुभाव' शब्द तक कहना चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कह कर यावत् गौतमस्वामी विचरण करते हैं ।

विवेचन—चतुर्दशी आदि तिथियो मे लवणसमुद्र की वृद्धि-हानि के कारण—प्रस्तुत सूत्र मे गौतम स्वामी द्वारा पूछे गए लवणसमुद्रीय वृद्धि-हानि के कारण-विषयक प्रश्नोत्तर अकित है ।

वृद्धि-हानि का कारण—जीवाभिगम सूत्रानुसार चतुर्दशी आदि तिथियो मे वायु के विक्षोभ से लवणसमुद्रीय जल मे वृद्धि-हानि होती है, क्योकि लवणसमुद्र के बीच मे चारो दिशाओ मे चार महापातालकलश है, जिनका प्रत्येक का परिमाण १ लाख योजन है । उसके नीचे के विभाग मे वायु है, बीच के विभाग मे जल और वायु है और ऊपर के भाग मे केवल जल है । इन चार महापाताल-कलशो के अतिरिक्त और भी ७८८४ छोटे-छोटे पातालकलश है, जिनका परिमाण एक-एक हजार योजन का है, और उनमे भी क्रमश वायु, जल-वायु और जल है । इनमे वायु-विक्षोभ के कारण इन तिथियो मे जल मे बढ-घट होती है । दश हजार योजन चौडी लवणसमुद्र की शिखा है, तथा उसकी ऊँचाई १६ हजार योजन है, उसके ऊपर आधे योजन मे जल की वृद्धि-हानि होती है । अरिहन्त आदि महापुरुषो के प्रभाव से लवणसमुद्र, जम्बूद्वीप को नही डुबा पाता । तथा लोकस्थिति या लोकप्रभाव ही ऐसा है ।[1]

॥ तृतीय शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक

(ख) जीवाभिगम सू ३२४-३२५, पत्राक ३०४-३०५

चउत्थो उद्देसओ : जाणं

चतुर्थ उद्देशक : यान

भावितात्मा अनगार की, वैक्रियकृत देवी-देव-यानादि-गमन तथा वृक्ष-मूलादि को जानने-देखने की शक्ति का प्ररूपण—

१ अणगारे ण भते ! भावियप्पा देव वेउव्वियसमुग्घाएण समोहय जाणरूवेण जायमाण जाणइ पासइ ?

गोयमा ! अत्थेगइए देव पासइ, णो जाण पासइ १, अत्थेगइए जाण पासइ, नो देव पासइ २; अत्थेगइए देव पि पासइ, जाण पि पासइ ३, अत्थेगइए नो देव पासइ, नो जाण पासइ ४।

[१ प्र] भगवन् ! क्या भावितात्मा अनगार, वैक्रिय समुद्घात से समवहत हुए और यानरूप से जाते हुए देव को जानता देखता है ?

[१ उ] गौतम ! (१) कोई (भावितात्मा अनगार) देव को तो देखता है, किन्तु यान को नही देखता, (२) कोई यान को देखता है, किन्तु देव को नही देखता, (३) कोई देव को भी देखता है और यान को भी देखता है, (४) कोई न देव को देखता हे और न यान को देखता है।

२ अणगारे ण भते ! भावियप्पा देविं वेउव्वियसमुग्घाएण समोहय जाणरूवेण जायमाणिं जाणइ पासइ ?

गोयमा ! एव चेव।

[२ प्र] भगवन् ! क्या भावितात्मा अनगार, वैक्रिय समुद्घात से समवहत हुई और यानरूप से जाती हुई देवी को जानता-देखता है ?

[२ उ] गौतम ! जैसा देव के विषय मे कहा, वैसा ही देवी के विषय मे भी जानना चाहिए।

३ अणगारे ण भते ! भावियप्पा देव सदेवीय वेउव्वियसमुग्घाएण समोहयं जाणरूवेण जायमाणं जाणइ पासइ ?

गोयमा ! अत्थेगइए देव सदेवीय पासइ, नो जाण पासइ। एएण अभिलावेण चत्तारि भगा।

[३ प्र.] भगवन् ! भावितात्मा अनगार, वैक्रिय समुद्घात से समवहत तथा यानरूप से जाते हुए, देवीसहित देव को जानता-देखता है ?

[३ उ] गौतम ! कोई (भावितात्मा अनगार)देवीसहित देव को तो देखता है, किन्तु यान को नही देखता, इत्यादि चार भग पूर्ववत् कहने चाहिए।

४ [१] अणगारे ण भंते ! भावियप्पा रुक्खस्स किं अतो पासइ, बाहिं पासइ ?

चउभंगो ।

[४-१ प्र] भगवन् ! भावितात्मा अनगार क्या वृक्ष के आन्तरिक भाग को (भी) देखता है अथवा (केवल) बाह्य भाग को देखता है ?

[४ १ उ] (हे गौतम !) यहाँ भी पूर्वोक्त प्रकार से चार भग कहने चाहिए ।

[२] एव किं मूल पासइ, कद पा० ?

चउभंगो । मूल पा० खध पा० ? चउभंगो ।

[४-२ प्र] इसी तरह पृच्छा की—क्या वह (केवल) मूल को देखता है, (अथवा) कन्द को (भी) देखता है ? तथा क्या वह (केवल) मूल को देखता है, अथवा स्कन्ध को (भी) देखता है ?

[४-२ उ] हे गौतम ! (दोनो पृच्छाओ के उत्तर मे) चार-चार भग पूर्ववत् कहने चाहिए ।

[३] एव मूलेण बीज सजोएयव्व । एव कदेण वि सम सजोएयव्व जाव बीय । एव जाव पुप्फेण सम बीय सजोएयव्व ।

[४-३] इसी प्रकार मूल के साथ बीज का सयोजन करके (पूर्ववत् पृच्छा करके उत्तर के रूप मे) चार भग कहने चाहिए । तथा कन्द के साथ यावत् बीज तक (के सयोगी चतुर्भंग) का सयोजन कर लेना चाहिए । इसी तरह यावत् पुष्प के साथ बीज (के सयोगी-असयोगी चतुर्भंग) का सयोजन कर लेना चाहिए ।

५ अणगारे ण भंते ! भावियप्पा रुक्खस्स किं फल पा० बीय पा० ?

चउभंगो ।

[५ प्र] भगवन् ! क्या भावितात्मा अनगार वृक्ष के (केवल) फल को देखता है, अथवा बीज को (भी) देखता है ?

[५ उ] गौतम ! (यहाँ भी पूर्वोक्त प्रकार से) चार भग कहने चाहिए ।

विवेचन—भावितात्मा अनगार की जानने-देखने की शक्ति का प्ररूपण—प्रस्तुत ५ सूत्रो (१ मे ५ सू तक) मे भावितात्मा अनगार की देवादि तथा वृक्षादि विविध पदार्थो को जानने-देखने की शक्ति का चतुर्भंगी के रूप मे निरूपण किया है ।

प्रश्नो का क्रम—इस प्रकार है—(१) वैक्रियकृत एव यानरूप से जाते हुए देव को देखता है ? (२) वैक्रियकृत एव यानरूप से जाती हुए देवी को देखता है ? (३) वैक्रियकृत एव यानरूप से जाते हुए देवीसहित देव को देखता है ? (४) वृक्ष के आन्तरिक भाग को देखता है या बाह्य को भी ? (६) मूल को देखता है या कन्द को भी, (६) मूल को देखता है या स्कन्ध को भी ? (७) इसी तरह क्रमश मूल के साथ वीज तक का एव यावत् कन्द के साथ वीज तक का तथा यावत् पुष्प के

साथ बीज को देखता है ? इत्यादि प्रश्न है। सभी के उत्तर मे दो-दो पदार्थो के सयोगी चार-चार भग का सयोजन कर लेना चाहिए।[1]

मूल आदि दस पदो के द्विकसयोगी ४५ भग—मूल आदि १० पद इस प्रकार है—मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा (छाल), शाखा, प्रवाल (अकुर), पत्र, पुष्प, फल और बीज। इन दस ही पदो के द्विकसयोगी ४५ भग इस प्रकार होते है—मूल के साथ शेष ९ का सयोजन करने से ९ भग फिर कन्द के साथ शेष (आगे के) ८ का सयोजन करने से ८ भग, फिर स्कन्ध के साथ आगे के त्वचा आदि ७ का सयोग करने से ७ भग, त्वचा के साथ शाखादि ६ का सयोग करने से ६ भग, शाखा के साथ प्रवाल आदि ५ का सयोग करने से ५ भग, प्रवाल के साथ पुष्पादि ४ का सयोग करने से ४ भग, पत्र के साथ पुष्पादि तीन के सयोग मे ३ भग, पुष्प के साथ फलादि दो के सयोग मे दो भग और फल एव बीज के सयोग से १ भग, यो कुल ४५ भग हुए। इन ४५ ही भगो का उत्तर चौभगी के रूप मे दिया गया है।[2]

भावितात्मा अनगार—सयम और तप से जिसकी आत्मा भावित (वासित) है, प्राय ऐसे अनगार को अवधिज्ञान आदि लब्धियाँ प्राप्त होती है।

'जाणइ-पासइ' का रहस्य—यहाँ प्रत्येक सूत्रपाठ के प्रश्न मे दोनो क्रियाओ—(जानता है देखता है) का प्रयोग किया गया है, जबकि उत्तर मे 'पासइ' (देखता है) क्रिया का ही प्रयोग है, इसका रहस्य यह है, कि पासइ पद का अर्थ यहाँ सामान्य निराकार ज्ञान (दर्शन) से है, और जाणइ का अर्थ—विशेष साकार ज्ञान से है। सामान्यत 'जानना' दोनो मे उपयोग रूप से समान है अत उत्तर मे दोनो का 'पासइ' क्रिया से ग्रहण कर लेना चाहिए।

चौभगी क्यो?—क्षयोपशम की विचित्रता के कारण अवधिज्ञान विचित्र प्रकार का होता है। अत —कोई अवधिज्ञानी सिर्फ विमान (यान) को और कोई सिर्फ देव को, कोई दोनो को और कोई दोनो को नही जानता-देखता। इसी कारण सर्वत्र चौभगी द्वारा प्रस्तुत प्रश्नो का समाधान किया गया है।[3]

वायुकाय द्वारा वैक्रियकृत रूप-परिणमन एवं गमन सम्बन्धी प्ररूपणा—

६. पभू ण भते! वाउकाए एग मह इत्थिरूव वा पुरिसरूवं वा हत्थिरूव वा जाणरूव वा एव जुग्ग[4]-गिल्लि-थिल्लि[5]-सीय-सदमाणियरूव वा विउव्वित्तए?

गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे। वाउक्काए ण विकुव्वमाणे एग मह पडागासठिय रूव विकुव्वइ।

---

१ (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पण युक्त) भा १ पृ १५९

(ख) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १८६

२ भगवतीसूत्र (टीकानुवादसहित) (प बेचरदासजी (खण्ड २), पृ ८६

३ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १८६

४ वर्तमान मे सिंहल द्वीप (सिलोन-कोलम्बो) मे 'गोल' (गोल्ल) नामक एक तालुका (तहसील है, जहाँ इस जुग्ग (युग्य-रिक्शा गाडी) का ही विशेष प्रचलन है। —स०

५ लाट देश प्रसिद्ध अश्व के पलान को अन्य प्रदेशो मे 'थिल्लि' कहते है। —स०

४ [१] अणगारे ण भते ! भावियप्पा रुक्खस्स किं अतो पासइ, बाहिं पासइ ?

चउभगो ।

[४-१ प्र] भगवन् ! भावितात्मा अनगार क्या वृक्ष के आन्तरिक भाग को (भी) देखता है अथवा (केवल) बाह्य भाग को देखता है ?

[४ १ उ] (हे गौतम !) यहाँ भी पूर्वोक्त प्रकार से चार भग कहने चाहिए ।

[२] एव किं मूल पासइ, कद पा० ?

चउभगो । मूल पा० खध पा० ? चउभगो ।

[४-२ प्र] इसी तरह पृच्छा की—क्या वह (केवल) मूल को देखता है, (अथवा) कन्द को (भी) देखता है ? तथा क्या वह (केवल) मूल को देखता है, अथवा स्कन्ध को (भी) देखता है ?

[४-२ उ] हे गौतम ! (दोनो पृच्छाओ के उत्तर मे) चार-चार भग पूर्ववत् कहने चाहिए ।

[३] एव मूलेण बीज सजोएयव्व । एव कदेण वि सम सजोएयव्व जाव बीय । एव जाव पुप्फेण सम बीय सजोएयव्व ।

[४-३] इसी प्रकार मूल के साथ बीज का सयोजन करके (पूर्ववत् पृच्छा करके उत्तर के रूप मे) चार भग कहने चाहिए । तथा कन्द के साथ यावत् बीज तक (के सयोगी चतुर्भंग) का सयोजन कर लेना चाहिए । इसी तरह यावत् पुष्प के साथ बीज (के सयोगी-असयोगी चतुर्भंग) का सयोजन कर लेना चाहिए ।

५ अणगारे ण भते ! भावियप्पा रुक्खस्स किं फल पा० बीय पा० ?

चउभगो ।

[५ प्र] भगवन् ! क्या भावितात्मा अनगार वृक्ष के (केवल) फल को देखता है, अथवा बीज को (भी) देखता है ?

[५ उ] गौतम ! (यहाँ भी पूर्वोक्त प्रकार से) चार भग कहने चाहिए ।

विवेचन—भावितात्मा अनगार की जानने-देखने की शक्ति का प्ररूपण—प्रस्तुत ५ सूत्रो (१ मे ५ सू तक) मे भावितात्मा अनगार की देवादि तथा वृक्षादि विविध पदार्थो को जानने-देखने की शक्ति का चतुर्भंगी के रूप मे निरूपण किया है ।

प्रश्नो का क्रम—इस प्रकार है—(१) वैक्रियकृत एव यानरूप से जाते हुए देव को देखता है ? (२) वैक्रियकृत एव यानरूप से जाती हुए देवी को देखता है ? (३) वैक्रियकृत एव यानरूप से जाते हुए देवीसहित देव को देखता है ? (४) वृक्ष के आन्तरिक भाग को देखता है या बाह्य को भी ? (६) मूल को देखता है या कन्द को भी, (६) मूल को देखता है या स्कन्ध को भी ? (७) इसी तरह क्रमश मूल के साथ वीज तक का एव यावत् कन्द के साथ वीज तक का तथा यावत् पुष्प के

साथ बीज को देखता है ? इत्यादि प्रश्न है। सभी के उत्तर मे दो-दो पदार्थों के सयोगी चार-चार भग का सयोजन कर लेना चाहिए।[1]

मूल आदि दस पदो के द्विकसयोगी ४५ भग—मूल आदि १० पद इस प्रकार हैं—मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा (छाल), शाखा, प्रवाल (अकुर), पत्र, पुष्प, फल और बीज। इन दस ही पदो के द्विकसयोगी ४५ भग इस प्रकार होते है—मूल के साथ शेष ९ का सयोजन करने से ९ भग, फिर कन्द के साथ शेष (आगे के) ८ का सयोजन करने से ८ भग, फिर स्कन्ध के साथ आगे के त्वचा आदि ७ का सयोग करने से ७ भग, त्वचा के साथ शाखादि ६ का सयोग करने से ६ भग, शाखा के साथ प्रवाल आदि ५ का सयोग करने से ५ भग, प्रवाल के साथ पुष्पादि ४ का सयोग करने से ४ भग, पत्र के साथ पुष्पादि तीन के सयोग से ३ भग, पुष्प के साथ फलादि दो के सयोग से दो भग और फल एव बीज के सयोग से १ भग, यो कुल ४५ भग हुए। इन ४५ ही भगो का उत्तर चौभगी के रूप मे दिया गया है।[2]

भावितात्मा अनगार—सयम और तप से जिसकी आत्मा भावित (वासित) है, प्राय ऐसे अनगार को अवधिज्ञान आदि लब्धियाँ प्राप्त होती है।

'जाणइ-पासइ' का रहस्य—यहाँ प्रत्येक सूत्रपाठ के प्रश्न मे दोनो क्रियाओ—(जानता है, देखता है) का प्रयोग किया गया है, जबकि उत्तर मे 'पासइ' (देखता है) क्रिया का ही प्रयोग है, इसका रहस्य यह है, कि पासइ पद का अर्थ यहाँ सामान्य निराकार ज्ञान (दर्शन) से है, और जाणइ का अर्थ—विशेष साकार ज्ञान से है। सामान्यत 'जानना' दोनो मे उपयोग रूप से समान है अत उत्तर मे दोनो का 'पासइ' क्रिया से ग्रहण कर लेना चाहिए।

चौभगी क्यो ?—क्षयोपशम की विचित्रता के कारण अवधिज्ञान विचित्र प्रकार का होता है। अत —कोई अवधिज्ञानी सिर्फ विमान (यान) को और कोई सिर्फ देव को, कोई दोनो को और कोई दोनो को नही जानता-देखता। इसी कारण सर्वत्र चौभगी द्वारा प्रस्तुत प्रश्नो का समाधान किया गया है।[3]

वायुकाय द्वारा वैक्रियकृत रूप-परिणमन एवं गमन सम्बन्धी प्ररूपणा—

६ पभू ण भंते ! वाउकाए एग मह इत्थिरूव वा पुरिसरूव वा हत्थिरूव वा जाणरूव वा एव जुग्ग[4]-गिल्लि-थिल्लि[5]-सीय-सदमाणियरूव वा विउव्वित्तए ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। वाउक्काए ण विकुव्वमाणे एग मह पडागासठिय रूवं विकुव्वइ।

---

१ (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पण युक्त) भा १ पृ १५९

(ख) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १८६

२ भगवतीसूत्र (टीकानुवादसहित) (प बेचरदासजी (खण्ड २), पृ ८६

३ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १८६

४ वर्तमान मे सिंहल द्वीप (सिलोन-कोलम्बो) मे 'गोल' (गोल्ल) नामक एक तालुका (तहसील है, जहाँ इस जुग्ग (युग्य-रिक्सा गाडी) का ही विशेष प्रचलन है। —स०

५ लाट देश प्रसिद्ध अश्व के पलान को अन्य प्रदेशो मे 'थिल्लि' कहते है। —स०

[६ प्र] भगवन् ! क्या वायुकाय एक बडा स्त्रीरूप या पुरुषरूप, हस्तिरूप अथवा यानरूप, तथा युग्य (रिक्शागाडी, अथवा तागा जैसो सवारी), गिल्ली (हाथी की अम्बाडी), थिल्ली (घोडे का पलान), शिविका (डोली), स्यन्दमानिका (म्याना), इन सबके रूपो की विकुर्वणा कर सकता है ?

[६ उ] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नही है। (अर्थात्—वायुकाय उपर्युक्त रूपो की विकुर्वणा नही कर सकता), किन्तु वायुकाय यदि विकुर्वणा करे तो एक बडी पताका के आकार के रूप की विकुर्वणा कर सकता है।

७ [१] पभू ण भते ! वाउकाए एग मह पडागासठिय रूव विउव्वित्ता अणेगाइ जोयणाइ गमित्तए ?

हता, पभू।

[७-१ प्र] *भगवन् ! क्या वायुकाय एक बडी पताका के आकार (सस्थान)* जैसे रूप की विकुर्वणा करके अनेक योजन तक गमन करने मे समर्थ है ?

[७-१ उ] हाँ (गौतम ! वायुकाय ऐसा करने मे) समर्थ है।

[२] से भते ! किं आयड्ढीए गच्छइ, परिड्ढीए गच्छइ ?

गोयमा ! आतड्ढीए गच्छइ, णो परिड्ढीए गच्छइ।

[७-२ प्र] भगवन् ! क्या वह (वायुकाय) अपनी ही ऋद्धि से गति करता है अथवा पर की ऋद्धि से गति करता है ?

[७-२ उ] गौतम ! वह अपनी ऋद्धि से गति करता है, पर की ऋद्धि से गति नही करता।

[३] जहा आयड्ढीए एव चेव आयकम्मुणा वि, आयप्पओगेण वि भाणियव्वं।

[७-३] जैसे वायुकाय आत्मऋद्धि से गति करता है, वैसे वह आत्मकर्म से एव आत्मप्रयोग से भी गति करता है, यह कहना चाहिए।

[४] से भते ! किं ऊसिओदय गच्छइ, पतोदय गच्छइ ?

गोयमा ! ऊसिओदय पि गच्छइ, पतोदय पि गच्छइ।

[७-४ प्र] भगवन् ! क्या वह वायुकाय उच्छ्रितपताका (ऊँची—उठी हुई ध्वजा) के आकार से गति करता है, या पतित—(पडी हुई) पताका के आकार से गति करता है ?

[७-४ उ] गौतम ! वह उच्छ्रितपताका और पतित-पताका, इन दोनो के आकार से गति करता है।

[५] से भते ! किं एगओपडाग गच्छइ, दुहओपडाग गच्छइ ?

गोयमा ! एगओपडाग गच्छइ, नो दुहओपडाग गच्छइ।

[७-५ प्र] भगवन् ! क्या वायुकाय एक दिशा मे एक पताका के समान रूप वना कर गति करता है अथवा दो दिशाओ मे (एक साथ) दो पताकाओ के समान रूप वना कर गति करता है ?

[७-५ उ] गौतम ! वह (वायुकाय), एक पताका समान रूप वना कर गति करता है, किन्तु दो दिशाओ मे (एक साथ) दो पताकाओ के समान रूप वना कर गति नही करता ।

[६] से ण भते ! किं वाउकाए, पडागा ?

गोयमा ! वाउकाए ण से, नो खलु सा पडागा ।

[७-६ प्र] भगवन् ! उस समय क्या वह वायुकाय, पताका है ?

[७-६ उ] गौतम ! वह वायुकाय है, किन्तु पताका नही है ।

विवेचन—वायुकाय द्वारा वैक्रियकृत रूप—परिणमन एव गमन सम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत दो सूत्रो (सू ६-७) मे विविध प्रश्नो द्वारा वायुकाय के वैक्रियकृत रूप तथा उस रूप मे गमन करने के सम्बन्ध मे निश्चय किया गया है ।

निष्कर्ष—वायुकाय, एक दिशा मे, उच्छ्रितपताका या पतितपताका इन दोनो मे से एक बडी पताका की आकृति-सा रूप वैक्रिय-शक्ति से बना कर आत्मऋद्धि से आत्मकर्म से तथा आत्म-प्रयोग से अनेक योजन तक गति करता है । वह वास्तव मे वायुकाय होता है, पताका नही ।[1]

कठिन शब्दो की व्याख्या—आयड्ढीए=अपनी ऋद्धि—लब्धि—शक्ति से । **आयकम्मुणा**—अपने कर्म या अपनी क्रिया से । **ऊसिओदय**=ऊँची ध्वजा के आकार की-सी गति । **पततोदयं**=नीचे गिरी (पडी) हुई ध्वजा के आकार की-सी गति । **एगओ पडाग**=एक दिशा मे एक पताका के समान । **दुहओ पडाग**=दो दिशाओ मे (एकसाथ) दो पताकाओ के समान ।[2]

बलाहक के रूप-परिणमन एवं गमन की प्ररूपणा—

८ पभू ण भते ! बलाहगे एग महं इत्थिरूवं वा जाव सदमाणियरूव वा परिणामेत्तए ?

हता, पभू ।

[८ प्र] भगवन् ! क्या बलाहक (मेघ) एक बडा स्त्रीरूप यावत् स्यन्दमानिका (म्याने) रूप मे परिणत होने मे समर्थ है ?

[८ उ] हाँ गौतम ! (बलाहक ऐसा होने मे) समर्थ है ।

९ [१] पभू ण भते ! बलाहए एग महं इत्थिरूव परिणामेत्ता अणेगाइ जोयणाइ गमित्तए ?

हता, पभू ।

[९-१ प्र] भगवन् ! क्या बलाहक एक बडे स्त्रीरूप मे परिणत हो कर अनेक योजन तक जाने मे समर्थ है ?

[९-१ उ] हाँ, गौतम ! वह वैसा करने मे समर्थ है ।

---

१ वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) भाग १, पृ १५९-१६०

२ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १८७

[२] से भंते ! किं आयड्ढीए गच्छइ, परिड्ढीए गच्छइ ?

गोयमा ! नो आतिड्ढीए गच्छति, परिड्ढीए गच्छइ ।

[९-२ प्र] भगवन् ! क्या वह बलाहक आत्मऋद्धि से गति करता है या परऋद्धि से गति करता है ?

[९-२ उ] गौतम ! वह आत्मऋद्धि से गति नही करता, परऋद्धि से गति करता है ।

[३] एवं नो आयकम्मुणा, परकम्मुणा । नो आयपयोगेण, परप्पयोगेण ।

[९-३] उसी तरह वह आत्मकर्म (स्वक्रिया) से और आत्मप्रयोग से गति नही करता, किन्तु परकर्म से और परप्रयोग से गति करता है ।

[४] ऊसितोदयं वा गच्छइ पतोदयं वा गच्छइ ।

[९-४] वह उच्छ्रितपताका अथवा पतित-पताका दोनो मे से किसी एक के आकार रूप से गति करता है ।

१० से भंते किं बलाहए, इत्थी ?

गोयमा ! बलाहए ण से, णो खलु सा इत्थी । एवं पुरिसे, आसे हत्थी ।

[१० प्र] भगवन् ! उस समय क्या वह बलाहक स्त्री है ?

[१० उ] हे गौतम ! वह बलाहक (मेघ) है, वह स्त्री नही है । इसी तरह बलाहक पुरुष, अश्व या हाथी नही है, (किन्तु बलाहक है ।)

११ [१] पभू ण भंते ! बलाहए एगं महं जाणरूवं परिणामेत्ता अणेगाइ जोयणाइ गमित्तए ? जहा इत्थिरूवं तहा भाणियव्वं । णवरं एगओचक्कवालं पि, दुहओचक्कवालं पि भाणियव्वं ।

[११-१ प्र] भगवन् ! क्या वह बलाहक, एक बडे यान (शकट—गाडी) के रूप मे परिणत होकर अनेक योजन तक जा सकता है ?

[११-१ उ.] हे गौतम ! जैसे स्त्री के सम्बन्ध मे कहा, उसी तरह यान के सम्बन्ध मे भी कहना चाहिए । परन्तु इतनी विशेषता है कि वह, यान के एक ओर चक्र (पहिया) वाला होकर भी चल सकता है और दोनो ओर चक्र वाला होकर भी चल सकता है ।

[२] जुग्ग-गिल्लि-थिल्लि-सीया-संदमाणियाणं तहेव ।

[११-२ प्र] इसी तरह युग्य, गिल्ली, थिल्लि, शिविका और स्यन्दमानिका के रूपो के सम्बन्ध मे भी जानना चाहिए ।

विवेचन—बलाहक के रूप-परिणमन एवं गमन की प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रो (सू ८ से ११ तक) मे आकाश मे अनेक रूपो मे दृश्यमान मेघो के रूपपरिणमन तथा गमन के सम्बन्ध मे चर्चा की गई है ।

निष्कर्ष—मेघ (बलाहक) अजीव होने से उनमे विकुर्वणाशक्ति नही है, किन्तु स्वभावत. (विस्रसा) रूप-परिणमन मेघो मे भी होता है, इसीलिए यहाँ 'विउव्वित्तए' शब्द के बदले 'परिणामेत्तए' शब्द दिया है। मेघ स्त्री आदि अनेक रूपो मे परिणत होकर, अचेतन होने से आत्म-ऋद्धि आत्मकर्म और आत्मप्रयोग से गति न करके, वायु, देव आदि से प्रेरित होकर (परऋद्धि, परकर्म और परप्रयोग से) अनेक योजन तक गति कर सकता है। विशेष बात यह है कि बलाहक जब यान के रूप मे परिणत होकर गति करता है, तब उसके एक ओर भी चक्र रह सकता है, दोनों ओर भी।[१]

चौबीसदण्डकवर्ती जीवों मे उत्पन्न होने योग्य जीवो की लेश्या-सम्बन्धी प्ररूपणा—

१२. जीवे ण भ ते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से णं भ ते ! किंलेसेसु उववज्जति ?

गोयमा ! जल्लेसाइ दव्वाइ परियाइत्ता काल करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ, त०-कण्हलेसेसु वा नीललेसेसु वा काउलेसेसु वा।

[१२ प्र] भगवन् ! जो जीव, नैरयिको मे उत्पन्न होने वाला है, वह कौन-सी लेश्या वालो मे उत्पन्न होता है ?

[१२ उ] गौतम ! वह जीव जिस लेश्या के द्रव्यो को ग्रहण करके काल करता है, उसी लेश्या वाले नारको मे उत्पन्न होता है। यथा—कृष्णलेश्यावालो मे, नीललेश्या वालो मे, अथवा कापोतलेश्यावालो मे।

१३ एव जस्स जा लेस्सा सा तस्स भाणियव्वा जाव जीवे ण भ ते ! जे भविए जोतिसिएसु उववज्जित्तए० पुच्छा।

गोयमा ! जल्लेसाइं दव्वाइ परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ, त०-तेउलेस्सेसु।

[१३] इस प्रकार जो जिसकी लेश्या हो, उसकी वह लेश्या कहनी चाहिए। यावत् व्यन्तर-देवो तक कहना चाहिए।

[प्र] भगवन् ! जो जीव ज्योतिष्को मे उत्पन्न होने योग्य है, वह किन लेश्याओ मे उत्पन्न होता है ?

[उ] गौतम ! जिस लेश्या के द्रव्यो को ग्रहण करके जीव काल करता है, वैसी लेश्यावालो मे वह उत्पन्न होता है। जैसे कि—तेजोलेश्यावालो मे।

१४ जीवे ण भ ते ! जे भविए वेमाणिएसु उववज्जित्तए से ण भ ते ! किंलेस्सेसु उववज्जइ ?

गोयमा ! जल्लेसाइ दव्वाइ परियाइत्ता काल करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ, त०-तेउलेस्सेसु वा पम्हलेसेसु वा सुक्कलेसेसु वा।

---

१ (क) भगवती-सूत्र अ वृत्ति पत्राक १८६-१८७

(ख) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा १, पृ १६०-१६१

[१४ प्र] भगवन् ! जो जीव वैमानिक देवो मे उत्पन्न होने योग्य है, वह किस लेश्या वालो मे उत्पन्न होता है ?

[१४ उ] गौतम ! जिस लेश्या के द्रव्यो को ग्रहण करके जीव काल करता है, उसी लेश्या वालो मे वह उत्पन्न होता है। जैसे कि—तेजोलेश्या, पद्मलेश्या अथवा शुक्ललेश्या वालो मे।

विवेचन—नारको से लेकर वैमानिक देवो तक मे उत्पन्न होने योग्य जीवो की लेश्या का प्ररूपण—प्रस्तुत सूत्र-त्रय मे नैरयिको से लेकर वैमानिक देवो तक (२४ दण्डको) मे से कही भी-उत्पन्न होने वाले जीव की लेश्या के सम्बन्ध मे चर्चा की गई है।

एक निश्चित सिद्धान्त—जैन दर्शन का एक निश्चित सिद्धान्त है कि अन्तिम समय मे जिस लेश्या मे जीव मरता है, उसी लेश्या वाले जीवो मे वह उत्पन्न होता है। इसी दृष्टिकोण को लेकर तीनो सूत्रो मे नारक, ज्योतिष्क एव वैमानिक पर्याय मे उत्पन्न होने वाले जीवो की लेश्या के सम्बन्ध मे प्रश्न किया गया तो शास्त्रकार ने उसी सिद्धान्तवाक्य को पुन पुन दोहराया है—**"जल्लेसाइ दव्वाइ परिआइत्ता काल करेइ, तल्लेसेसु उववज्जइ"**—जिस लेश्या से सम्बद्ध द्रव्यो को, ग्रहण करके जीव मृत्यु प्राप्त करता है, उसी लेश्या वाले जीवो मे उत्पन्न होता है।

तीन सूत्र क्यो ?—इस दृष्टि से पूर्वोक्त सिद्धान्त सिर्फ एक (१२ वे) सूत्र मे बतलाने से ही काम चल जाता, शेष दो सूत्रो की आवश्यकता नही थी, किन्तु इतना बतलाने मात्र से काम नही चलता, यह भी बतलाना आवश्यक था कि किन जीवो मे कौन-कौन-सी लेश्याएँ होती है ? यथा—नैरयिको मे कृष्ण, नील और कापोत, ये तीन अशुभ लेश्याएँ ही होती है, ज्योतिष्को मे एकमात्र तेजोलेश्या और वैमानिको मे तेजो, पद्म एव शुक्ल, ये तीन शुभ लेश्याएँ होती है।[1]

अन्तिम समय की लेश्या कौन-सी ?—जो देहधारी मरणोन्मुख (म्रियमाण) है, उसका मरण बिलकुल अन्तिम उसी लेश्या मे हो सकता है, जिस लेश्या के साथ उसका सम्बन्ध कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त तक रहा हो। इसका अर्थ है—कोई भी मरणोन्मुख प्राणी लेश्या के साथ सम्पर्क के प्रथम पल मे ही मर नही सकता, अपितु जब इसकी कोई अमुक लेश्या निश्चित हो जाती है, तभी वह पुराने शरीर को छोडकर नया शरीर धारण करने जा सकता है। और लेश्या के निश्चित होने मे कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त लगता है। निम्नोक्त तीन गाथाओ द्वारा आचार्य ने इस तथ्य का समर्थन किया है—[2]'समस्त लेश्याओ के परिणत होने के प्रथम समय मे किसी भी जीव का परभव मे उपपात (जन्म) नही होता,

---

१ (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पण युक्त) भा १, पृ १६१

(ख) भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक १८८

२ सव्वाहि लेस्साहि पढमे समयमि परिणयाहि तु।
नो कस्स वि उववाओ, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥१॥
सव्वाहि लेस्साहि चरमे समयमि परिणयाहि तु।
नो कस्स वि उववाओ, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥२॥
अतमुहुत्तमि गए, अतमुहुत्तमि सेसए चेव।
लेस्साहि परिणयाहि, जीवा गच्छति परलोय ॥३॥

—भगवती अ वृत्ति, पत्राक १८८ मे उद्धृत

इसी प्रकार सर्वलेश्याओके परिणत होने के अन्तिम समय मे भी किसी भी जीव का परभव मे उपपात (जन्म) नही होता, अपितु लेश्याओ के परिणाम को अन्तर्मुहूर्त्त वीत जाने पर और अन्तर्मुहूर्त्त शेप रहने पर जीव परलोक मे जाते है।' उपर्युक्त तथ्य मनुष्यो और तिर्यञ्चो के लिए समझना चाहिए क्योकि उनकी लेश्याएँ वदलती रहती है। देवो और नारको की लेश्या जीवन-पर्यन्त वदलती नही, वह एक सी रहती है। अत कोई भी देव या नारक अपनी लेश्या का अन्त आने मे अन्तर्मुहूर्त शेप रहता है, तभी वह काल करता है, उससे पहले नही।[1]

लेश्या और उसके द्रव्य—जिसके द्वारा आत्मा कर्म के साथ श्लिष्ट होती है, उसे लेश्या कहते हैं। प्रज्ञापना सूत्र (१७वे लेश्यापद) तथा उत्तराध्ययन सूत्र (३४वे लेश्याध्ययन) मे लेश्याओ के प्रकार, अधिकारी, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, परिणाम, स्थान, लक्षण, स्थिति, गति आदि तथ्यो का विस्तृत वर्णन मिलता है। प्रज्ञापना (मलयगिरि) वृत्ति के अनुसार लेश्या परमाणुपुद्गलसमूह—(वर्गणा) रूप है। ये लेश्या के परमाणु जीव मे उद्भूत हुए कपाय को उत्तेजित करते हैं। कपाय वृत्ति का समूल नाश होते ही ये लेश्या के अणु अकिंचित्कर हो जाते है।[2] कपाय के प्रादुर्भाव के अनुसार लेश्या प्रशस्त हो जाती है। इसीलिए लेश्या को द्रव्य कहा है।

भावितात्मा अनगार द्वारा अशक्य एवं शक्य विकुर्वणाशक्ति—

१५ अणगारे ण भते! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू वेभार पव्वय उल्लघेत्तए वा पलघेत्तए वा ?

गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे।

[१५ प्र] भगवन्! क्या भावितात्मा अनगार, बाहर के पुद्गलो को ग्रहण किये विना वैभारगिरि को उल्लघ (लाघ) सकता है, अथवा प्रलघ (विशेपरूप से या बार-बार लाघ) सकता है ?

[१५ उ] गौतम! यह अर्थ समर्थ (शक्य) नही है।

१६ अणगारे ण भते! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू वेभार पव्वय उल्लघेत्तए वा पलंघेत्तए वा ?

हता, पभू।

[१६ प्र] भगवन्! भावितात्मा अनगार बाह्य पुद्गलो को ग्रहण करके क्या वैभारगिरि को उल्लघन या प्रलघन करने मे समर्थ है ?

[१६ उ] हाँ गौतम! वह वैसा करने मे समर्थ है।

---

१ (क) भगवती (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, (प बेचरदासजी), पृ ९२
(ख) भगवती अ वृत्ति, पत्राक १८८

२ (क) भगवती (टीकानुवाद टिप्पणयुक्त) ख २, (प बेचर), पृ ९० (ख) भगवती अ वृत्ति, पत्राक १८८

१७. अणगारे ण भंते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता जावइयाइं रायगिहे नगरे रूवाइं एवइयाइं विकुव्वित्ता वेभारं पव्वयं अंतो अणुप्पविसित्ता पभू समं वा विसमं करेत्तए, विसमं वा समं करेत्तए ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

[१७ प्र] भगवन् ! भावितात्मा अनगार, बाहर के पुद्गलों को ग्रहण किये बिना राजगृह नगर में जितने भी (पशु पुरुषादि) रूप हैं, उतने रूपों की विकुर्वणा करके तथा वैभारपर्वत में प्रवेश करके क्या सम पर्वत को विषम कर सकता है ? अथवा विषमपर्वत को सम कर सकता है ?

[१७ उ] हे गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं है। (अर्थात्-बाह्य पुद्गलों को ग्रहण किये बिना भावितात्मा अनगार वैसा नहीं कर सकता।)

१८. एवं चेव बितिओ वि आलावगो, णवरं परियातित्ता पभू ।

[१८] इसी तरह दूसरा (इससे विपरीत) आलापक भी कहना चाहिए। किन्तु इतनी विशेषता है कि वह (भावितात्मा अनगार) बाहर के पुद्गलों को ग्रहण करके पूर्वोक्त प्रकार से (रूपों की विकुर्वणा आदि) करने में समर्थ है।

विवेचन—भावितात्मा अनगार द्वारा अशक्य एवं शक्य विकुर्वणा शक्ति—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. १५ से १८ तक) द्वारा शास्त्रकार ने भावितात्मा अनगार की विक्रियाशक्ति के चमत्कार के सम्बन्ध में निषेध-विधिपूर्वक दो तथ्यों का प्रतिपादन किया है। वह क्रमशः इस प्रकार है—

(१) वह बाह्य पुद्गलों को ग्रहण किये बिना वैभारगिरि का उल्लंघन-प्रलंघन करने में समर्थ नहीं है।

(२) वह बाह्य पुद्गलों (औदारिक शरीर से भिन्न वैक्रिय पुद्गलों) को ग्रहण करके वैभारगिरि (राजगृहस्थित क्रीडापर्वत) का (वैक्रिय प्रयोग से) उल्लंघन-प्रलंघन कर सकता है।

(३) वह बाह्य पुद्गलों (वैक्रिय-पुद्गलों) को ग्रहण किये बिना राजगृह स्थित जितने भी पशु-पुरुषादि रूप हैं, उन की विकुर्वणा करके वैभारगिरि में प्रविष्ट होकर उसे, सम को विषम या विषम को सम नहीं कर सकता।

(४) बाह्यपुद्गलों को ग्रहण करके वह वैसा करने में समर्थ है।[1]

बाह्यपुद्गलों का ग्रहण आवश्यक क्यों ?—निष्कर्ष यह है कि वैक्रिय—(बाह्य) पुद्गलों के ग्रहण किये बिना वैक्रिय शरीर की रचना हो नहीं सकती और पर्वत का उल्लंघन करने वाला मनुष्य ऐसे विशाल एवं पर्वतातिक्रामी वैक्रियशरीर के बिना पर्वत को लांघ नहीं सकता। और वैक्रियशरीर बाहर के वैक्रिय पुद्गलों को ग्रहण किये बिना बन नहीं सकता। इसीलिए कहा गया है कि बाहर के पुद्गलों को ग्रहण करके ही वैभारपर्वतोल्लंघन, विविधरूपों की विकुर्वणा, तथा वैक्रिय करके पर्वत में प्रविष्ट होकर समपर्वत को विषम और विषम को सम करने में वह समर्थ हो सकता है।[2]

---

१ वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), भा. १, पृ. १६२

२ भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक १८९

विकुर्वणा से मायी की विराधना और अमायी की आराधना—

१९ [१] से भंते ! किं मायी विकुव्वति, अमायी विकुव्वइ ?

गोयमा ! मायी विकुव्वइ, नो अमाई विकुव्वति ।

[१९-१ प्र] भगवन् ! क्या मायी (सकषाय प्रमत्त) मनुष्य विकुर्वणा करता है, अथवा अमायी (अप्रमत्त—कषायहीन) मनुष्य विकुर्वणा करता है ?

[१९-१ उ] गौतम ! मायी (प्रमत्त) मनुष्य विकुर्वणा करता है, अमायी (अप्रमत्त) मनुष्य विकुर्वणा नहीं करता ।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव नो अमायी विकुव्वइ ?

गोयमा ! मायी णं पणीयं पाण-भोयणं भोच्चा भोच्चा वामेति, तस्स णं तेणं पणीएणं पाण-भोयणेणं अट्ठि-अट्ठिमिंजा बहलीभवंति, पयणुए मंस-सोणिए भवति, जे वि य से अहाबादरा पोग्गला ते वि य से परिणमंति, तं जहा—सोतिंदियत्ताए जाव फासिंदियत्ताए, अट्ठि-अट्ठिमिंज-केस-मंसु-रोम-नहत्ताए सुक्कत्ताए सोणियत्ताए । अमायी णं लूहं पाण-भोयणं भोच्चा भोच्चा णो वामेइ, तस्स णं तेणं लूहेणं पाण-भोयणेणं अट्ठि-अट्ठिमिंजा० पतणूभवंति, बहले मंस-सोणिए, जे वि य से अहाबादरा पोग्गला ते वि य से परिणमंति, तं जहा—उच्चारत्ताए पासवणत्ताए जाव[1] सोणियत्ताए । से तेणट्ठेणं जाव नो अमायी विकुव्वइ ।

[१९-२ प्र] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि मायी अनगार विकुर्वणा करता है, अमायी विकुर्वणा नहीं करता ?

[१९-२ उ] गौतम ! मायी (प्रमत्त) अनगार प्रणीत (घृतादि रस से सरस-स्निग्ध) पान और भोजन करता है। इस प्रकार बार-बार प्रणीत पान-भोजन करके वह वमन करता है। उस प्रणीत पान-भोजन से उसकी हड्डियाँ और हड्डियों में रही हुई मज्जा सघन (ठोस या गाढ) हो जाती है, उसका रक्त और मांस प्रतनु (पतला—अगाढ) हो जाता है। उस भोजन के जो यथाबादर (यथोचित स्थूल) पुद्गल होते है, उनका उस-उस रूप में परिणमन होता है। यथा—श्रोत्रेन्द्रिय रूप में यावत् स्पर्शेन्द्रियरूप में (उनका परिणमन होता है।), तथा हड्डियों, हड्डियों की मज्जा, केश, श्मश्रु (दाढी-मूंछ), रोम, नख, वीर्य और रक्त के रूप में वे परिणत होते हैं।

अमायी (अप्रमत्त) मनुष्य तो रूक्ष (रूखा-सूखा) पान-भोजन का सेवन करता है और ऐसे रूक्ष पान-भोजन का उपभोग करके वह वमन नहीं करता। उस रूक्ष पान-भोजन (के सेवन) से उसकी हड्डियाँ तथा हड्डियों की मज्जा प्रतनु (पतली—अगाढ) होती है और उसका मांस और रक्त गाढा (घन) हो जाता है। उस पान-भोजन के जो यथाबादर (यथोचित स्थूल) पुद्गल होते हैं, उनका परिणमन उस-उस रूप में होता है। यथा—उच्चार (मल), प्रस्रवण (मूत्र), यावत् रक्तरूप में (उनका परिणमन हो जाता है।) अतः इस कारण से अमायी मनुष्य, विकुर्वणा नहीं करता, (मायी मनुष्य ही करता है।)

१ 'जाव' शब्द सूचक पाठ इस प्रकार है—' खेलत्ताए, सिंघाणत्ताए, वंतत्ताए, पित्तत्ताए, पूयत्ताए' ।

[३] मायी ण तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कते कालं करेइ नत्थि तस्स आराहणा ।

[१९-३] मायी मनुष्य उस स्थान (अपने द्वारा किये गए वैक्रियकरणरूप प्रवृत्तिप्रयोग) की आलोचना और प्रतिक्रमण किये बिना (यदि) काल करता है, तो उसके आराधना नही होती ।

(४) अमायी ण तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कते काल करेइ अत्थि तस्स आराहणा ।
सेव भंते ! सेव भंते ! त्ति"० ।

।। तइय सए चउत्थो उद्देसो समत्तो ।।

[१९-४] (किन्तु पूर्व मायी जीवन मे अपने द्वारा किये गए वैक्रियकरणरूप) उस (विराधना-) स्थान के विषय मे पश्चात्ताप (आत्मनिन्दा) करके अमायी (बना हुआ) मनुष्य (यदि) आलोचना और प्रतिक्रमण करके काल करता है, तो उसके आराधना होती है ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरण करते है ।

विवेचन—विकुर्वणा से मायी की विराधना और अमायी की आराधना—प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि मायी अर्थात् कषाययुक्त प्रमादी विकुर्वणा करके और उक्त वैक्रियकरणरूप दोष की आलोचना-प्रतिक्रमण न करके विराधक होता है, इसके विपरीत वर्तमान मे विकुर्वणा न करके पूर्वविकुर्वित स्थान का आलोचन-प्रतिक्रमण करके आराधक हो जाता है ।

मायी द्वारा विक्रिया—जो मनुष्य सरस-स्निग्ध आहार-पानी करके बार-बार वमन-विरेचन करता है, वह मायी—प्रमादी है, क्योकि वह वर्ण (रूपरग) तथा बल आदि के लिए प्रणीत भोजन-पान तथा वमन करता है । आशय यह है कि इस प्रकार इसके द्वारा वैक्रियकरण भी होता है ।

अमायी विक्रिया नहीं करता—अमायी अकषायित्व के कारण विक्रिया का इच्छुक नही होता, इसलिए वह प्रथम तो रूखा सूखा आहार करता है, तथा वह वमन नही करता । यदि उसने पूर्व जीवन मे मायी होने से वैक्रियरूप किया था तो उसका आलोचन-प्रतिक्रमण करके अमायी बन गया । इसलिए वह आराधक हो जाता है ।[1]

।। तृतीय शतक चतुर्थ उद्देशक समाप्त ।।

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १८९

पंच ।ो उद्देसओ : 'इत्थी' अहवा अणगारवि ुव्वणा'

पंचम उद्देशक : 'स्त्री' अथवा 'अनगार-विकुर्वणा'

१ अणगारे ण भ ते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू एग महं इत्थिरूव वा जाव सदमाणियरूवं वा विकुव्वित्तए ?

णो इणट्ठे समट्ठे ।

[१प्र] भगवन् ! क्या भावितात्मा अनगार, बाहर के पुद्गलो को ग्रहण किये विना एक बडे स्त्रीरूप यावत् स्यन्दमानिका रूप की विकुर्वणा करने मे समर्थ है ?

[१ उ] हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है । (अर्थात्-वह ऐसा नही कर सकता ।)

२ अणगारे ण भ ते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू एग महं इत्थिरूव वा जाव सदमाणियरूवं वा विकुव्वित्तए ?

हता, पभू ।

[२ प्र] भगवन् ! भावितात्मा अनगार, बाहर के पुद्गलो को ग्रहण करके क्या एक वडे स्त्रीरूप की यावत् स्यन्दमानिका (डोली) रूप की विकुर्वणा कर सकता है ?

[२ उ] हाँ, गौतम ! (बाह्य पुद्गलो को ग्रहण करके) वह वैसा कर सकता है ।

३ [१] अणगारे ण भ ते ! भावियप्पा केवतियाइ पभू इत्थिरूवाइ विकुव्वित्तए ?

गोयमा ! से जहानामए जुवई जुवाणे हत्थेण हत्थसि गेण्हेज्जा, चक्कस्स वा नाभी अरगाउत्ता सिया एवामेव अणगारे वि भावियप्पा वेउव्वियसमुग्घाएण समोहण्णइ जाव पभू ण गोयमा ! अणगारे ण भावियप्पा केवलकप्प जबुद्दीव दीव बहूहि इत्थीरूवेहि आइण्ण वितिकिण्ण जाव एस ण गोयमा ! अणगारस्स भावियप्पणो अयमेयारूवे विसए विसयमेत्ते बुइए, नो चेव ण संपत्तीए विकुव्विसु वा ३ ।

[३-१ प्र] भगवन् ! भावितात्मा अनगार, कितने स्त्रीरूपो की विकुर्वणा करने मे समर्थ है ?

[३-१ उ] हे गौतम ! जैसे कोई युवक, अपने हाथ से युवती के हाथ को (भय या काम की विह्वलता के समय दृढतापूर्वक) पकड लेता है, अथवा जैसे चक्र (पहिये) की धुरी (नाभि) आरो से व्याप्त होती है, इसी प्रकार भावितात्मा अनगार भी वैक्रिय समुद्घात से समवहत होकर सम्पूर्ण जम्बूद्वीप नामक द्वीप को, बहुत-से स्त्रीरूपो से आकीर्ण (व्याप्त), व्यतिकीर्ण (विशेषरूप से परिपूर्ण) यावत् कर सकता है, (अर्थात्-ठसाठस भर सकता है।) हे गौतम ! भावितात्मा अनगार का यह विषय है, विषयमात्र कहा गया है, उसने इतनी वैक्रिय शक्ति सम्प्राप्त होने पर भी कभी इतनी विक्रिया की नही, करता नही और करेगा भी नही ।

[२] एव परिवाडीए नेयव्व जाव सदमाणिया ।

[३-२] इस प्रकार परिपाटी से (क्रमश) यावत् स्यन्दमानिका-सम्बन्धी रूपविकुर्वणा करने तक कहना चाहिए ।

४ से जहानामए केइ पुरिसे असिचम्मपाय गहाय गच्छेज्जा एवामेव अणगारे ण भावियप्पा असिचम्मपायहत्थकिच्चगएणं अप्पाणेण उड्ढ वेहास उप्पइज्जा ? हता, उप्पइज्जा ।

[४ प्र] (हे भगवन् !) जैसे कोई पुरुष (किसी कार्यवश) तलवार और चर्मपात्र (ढाल अथवा म्यान) (हाथ मे) ले कर जाता है, क्या उसी प्रकार कोई भावितात्मा अनगार भी तलवार और ढाल (अथवा म्यान) हाथ मे लिये हुए किसी कार्यवश (सघ आदि के प्रयोजन से) स्वय आकाश मे ऊपर उड सकता है ?

[४ उ] हाँ, (गौतम !) वह ऊपर उड सकता है ।

५ अणगारे ण भते ! भावियप्पा केवतियाइं पभू असिचम्मपायहत्थकिच्चगयाइ रूवाइ विउव्वित्तए ?

गोयमा ! से जहानामए जुवती जुवाणे हत्थेण हत्थे गेण्हेज्जा त चेव जाव विउव्विसु वा ३ ।

[५ प्र] भगवन् ! भावितात्मा अनगार (सघादि) कार्यवश तलवार एव ढाल हाथ मे लिये हुए पुरुष के जैसे कितने रूपो की विकुर्वणा कर सकता है ?

[५ उ] गौतम ! जैसे कोई युवक अपने हाथ से युवती के हाथ को (दृढतापूर्वक) पकड लेता है, यावत् (यहाँ सब पूर्ववत् कहना) (वैक्रियकृत रूपो से सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को ठसाठस भर सकता है,) किन्तु कभी इतने वैक्रियकृत रूप बनाये नही, बनाता नही और बनायेगा भी नही ।

६ से जहानामए केइ पुरिसे एगओपडाग काउ गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि भावियप्पा एगओपडागहत्थकिच्चगएण अप्पाणेण उड्ढ वेहास उप्पतेज्जा ?

हता, गोयमा ! उप्पतेज्जा ।

[६ प्र] जैसे कोई पुरुष (हाथ मे) एक (एक ओर ध्वजा वाली) पताका लेकर गमन करता है, इसी प्रकार क्या भावितात्मा अनगार भी (सघादि) कार्यवश हाथ मे एक (एक ओर ध्वजा वाली) पताका लेकर स्वय ऊपर आकाश मे उड सकता है ?

[६ उ] हाँ, गौतम ! वह आकाश मे उड सकता है ।

७ [१] अणगारे ण भते ! भावियप्पा केवतियाइं पभू एगओपडागहत्थकिच्चगयाइ रूवाइ विकुव्वित्तए ?

एव चेव जाव विकुव्विसु वा ३ ।

[७-१ प्र] भगवन् ! भावितात्मा अनगार, [सघादि) कार्यवश हाथ मे एक (एक तरफ ध्वजा वाली) पताका लेकर चलने वाले पुरुष के जैसे कितने रूपो की विकुर्वणा कर सकता है ?

[७-१ उ] गौतम ! यहाँ सब पहले की तरह कहना चाहिए, (अर्थात्—वह ऐसे वैक्रियकृत रूपो से समग्र जम्बूद्वीप को ठसाठस भर सकता है) परन्तु कदापि इतने रूपो की विकुर्वणा की नही, करता नही और करेगा भी नही ।

[२] एव दुहओपडागं पि ।

[७-२] इसी तरह दोनो ओर पताका लिये हुए पुरुष के जैसे रूपो की विकुर्वणा के सम्बन्ध मे कहना चाहिए ।

८ से जहानामए केइ पुरिसे एगओजण्णोवइतं काउ गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि भा० एगओजण्णोवइतकिच्चगएणं अप्पाणेण उड्ढ वेहास उप्पतेज्जा ?

हंता, उप्पतेज्जा ।

[८ प्र] भगवन् ! जैसे कोई पुरुष एक तरफ यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण करके चलता है, उसी तरह क्या भावितात्मा अनगार भी कार्यवश एक तरफ यज्ञोपवीत धारण किये हुए पुरुष की तरह स्वय ऊपर आकाश मे उड सकता है ?

[८ उ] हाँ, गौतम ! उड सकता है ।

९ [१] अणगारे ण भते ! भावियप्पा केवतियाइ पभू एगतोजण्णोवतितकिच्चगयाइ रूवाइं विकुव्वित्तए ?

त चेव जाव विकुव्विसु वा ३ ।

[९-१ प्र] भगवन् ! भावितात्मा अनगार कार्यवश एक तरफ यज्ञोपवीत धारण किये हुए पुरुष के जैसे कितने रूपो की विकुर्वणा कर सकता है ?

[९-१ उ.] गौतम ! पहले कहे अनुसार जान लेना चाहिए । (अर्थात् ऐसे वैक्रियकृत रूपों से वह सारे जम्बूद्वीप को ठसाठस भर सकता है ।) परन्तु इतने रूपो की विकुर्वणा कभी की नही, करता नही और करेगा भी नही ।

[२] एव दुहओजण्णोवइय पि ।

[९-२] इसी तरह दोनो ओर यज्ञोपवीत धारण किये हुए पुरुष की तरह रूपो की विकुर्वणा करने के सम्बन्ध मे भी जान लेना चाहिए ।

१० [१] से जहानामए केइ पुरिसे एगओपल्हत्थियं काउ चिट्ठेज्जा एवामेव अणगारे वि भावियप्पा ?

त चेव जाव विकुव्विसु वा ३ ।

[१०-१ प्र] भगवन् ! जैसे कोई पुरुष, एक तरफ पल्हथी (पालथी) मार कर बैठे, इसी तरह क्या भावितात्मा अनगार भी (पल्हथी मार कर बैठे हुए पुरुष के समान) रूप बना कर स्वयं आकाश मे उड सकता है ?

[१०-१ उ.] हे गौतम ! पहले कहे अनुसार जानना चाहिए, यावत्—इतने विकुर्वितरूप कभी बनाए नही, बनाता नही और बनायेगा भी नही ।

[२] एव दुहओपल्हत्थिय पि ।

[१०-२] इसी तरह दोनो तरफ पल्हथी लगाने वाले पुरुष के समान रूपविकुर्वणा के सम्बन्ध मे जान लेना चाहिए ।

११ [१] से जहानामए केइ पुरिसे एगओपलियक काउ चिट्ठेज्जा० ?
त चेव जाव विकुव्विसु वा ३ ।

[११-१ प्र] भगवन् ! जैसे कोई पुरुष एक तरफ पर्यंकासन करके बैठे, उसी तरह क्या भावितात्मा अनगार भी उस पुरुष के समान रूप-विकुर्वणा करके आकाश मे उड सकता है ?

[११-१ उ] (गौतम !) पहले कहे अनुसार जानना चाहिए । यावत्—इतने रूप कभी विकुर्वित किये नही, करता नही, और करेगा भी नही ।

[२] एव दुहओपलियकं पि ।

[११-२] इसी तरह दोनो तरफ पर्यकासन करके बैठे हुए पुरुष के समान रूप-विकुर्वणा करने के सम्बन्ध मे जान लेना चाहिए ।

विवेचन—भावितात्मा अनगार के द्वारा स्त्री आदि के रूपो की विकुर्वणा—प्रस्तुत ११ सूत्रो (सू १ से ११ तक) मे विविध पहलुओ से भावितात्मा अनगार द्वारा स्त्री आदि विविधरूपो की विकुर्वणा करने के सम्बन्ध मे निरूपण किया गया है । इन ग्यारह सूत्रो मे निम्नोक्त तथ्यो का क्रमश. प्रतिपादन किया गया है—

१ भावितात्मा अनगार बाह्य पुद्गलो को ग्रहण किये बिना स्त्री आदि के रूपो की विकुर्वणा नही कर सकता ।

२ वह बाह्यपुद्गलो को ग्रहण करके ऐसा कर सकता है ।

३ वह इतने स्त्रीरूपो की विकुर्वणा कर सकता है, जिनसे सारा जम्बूद्वीप ठसाठस भर जाए, किन्तु वह ऐसा कभी करता नही, किया नही, करेगा भी नही ।

४ इसी प्रकार स्त्री के अतिरिक्त स्यन्दमानिका तक के रूपो की विकुर्वणा के सम्बन्ध मे समझ लेना चाहिए ।

५ भावितात्मा अनगार (वैक्रियशक्ति से) सघादिकार्यवश तलवार एव ढाल लेकर स्वय आकाश मे ऊँचा उड सकता है ।

६ वह वैक्रियशक्ति से तलवार एव ढाल हाथ मे लिए पुरुष जैसे इतने रूप बना सकता है कि सारा जम्बूद्वीप उनसे ठसाठस भर जाए, किन्तु वह त्रिकाल मे ऐसा करता नही ।

७ वह एक तरफ पताका लेकर चलने वाले पुरुष की तरह एक तरफ पताका हाथ मे लेकर

स्वय आकाश मे उड सकता है, दो तरफ पताका लेकर भी इसी तरह उड सकता है, तथा एक तरफ या दो तरफ पताका लिये हुए पुरुष के जैसे इतने रूप बना सकता है, कि जिनसे सम्पूर्ण जम्बूद्वीप ठसाठस भर जाए, किन्तु वह ऐसा तीन काल मे भी करता नही।

८ एक या दोनो तरफ यज्ञोपवीत धारण किये हुए पुरुप की तरह यज्ञोपवीत धारण करके वह वैक्रियशक्ति से ऊँचे आकाश मे उड सकता है। ऐसे एक तरफ या दोनो तरफ यज्ञोपवीतधारी पुरुष के जैसे इतने रूप बना सकता है कि सारा जम्बूद्वीप ठसाठस भर जाए, किन्तु वह कदापि ऐसा करता नही, किया नही, करेगा भी नही।

९. एक ओर या दोनो ओर पल्हथी मार कर बैठे हुए पुरुप की तरह वह कार्यवश पल्हथी मार कर बैठा-बैठा वैक्रियशक्ति से ऊपर आकाश मे उड सकता है, वह ऐसे इतने रूप वैक्रियशक्ति से बना सकता है कि पूरा जम्बूद्वीप उनसे ठसाठस भर जाए।[1]

कठिन शब्दों की व्याख्या—'असिचम्मपाय हत्थकिच्चगएण'=जिसके हाथ मे असि (तलवार) और चर्मपात्र (ढाल या म्यान) हो, वह असिचर्मपात्रहस्त है, तथा **किच्चगय**—सघ आदि के किसी कार्य=प्रयोजनवश गया हुआ—कृत्यगत है। **पलिअक**=पर्यकासन। **जण्णोवइयं**= यज्ञोपवीत।[2]

भावितात्मा अनगार द्वारा अश्वादि रूपो के अभियोग-सम्बन्धी प्ररूपणा—

१२ अणगारे ण भते! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू एग महं आसरूव वा हत्थिरूव वा सीह-वग्घ-वग-दीविय-अच्छ-तरच्छ-परासररूव[3] वा अभिजु जित्तए ?

णो इणट्ठे समट्ठे, अणगारे ण एव बाहिरए पोग्गले परियादित्ता पभू।

[१२ प्र] भगवन्! भावितात्मा अनगार, बाहर के पुद्गलो को ग्रहण किये बिना एक बडे अश्व के रूप को, हाथी के रूप को, सिंह, बाघ, भेडिये (वृक), चीते (द्वीपिक), रीछ (भालू), छोटे व्याघ्र (तरक्ष) अथवा पराशर (शरभ=अष्टापद) के रूप का अभियोग (अश्वादि के रूप मे प्रविष्ट होकर उसके द्वारा क्रिया) करने मे समर्थ है ?

[१२ उ] गौतम! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नही है। (अर्थात्—विद्या, मन्त्र आदि के बल से ग्रहण किये हुए बाह्य पुद्गलो के बिना वह पूर्वोक्त रूपो का अभियोग नही कर सकता।) वह भावितात्मा अनगार बाहर के पुद्गलो को ग्रहण करके (पूर्वोक्त रूपो का अभियोग करने मे) समर्थ है।

---

१ वियाहपण्णत्तिसुत्त, (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा १, पृ १६३-१६४
२ भगवती-सूत्र अ वृत्ति, पत्राक
३ दीविय=चीता (पाइअसद्दमहण्णवो पृ ४६५)
अच्छ=रीछ-भालू (पाइअसद्दमहण्णवो पृ २१)
तरच्छ=व्याघ्र विशेष (पाइअसद्दमहण्णवो पृ ४२९)
परासर=सरभ या अष्टापद (भगवती, टीकानुवाद ख २ पृ ९९)

१३ [१] अणगारे ण भंते ! भावियप्पा एगं महं आसरूवं वा अभिजुंजित्ता [? पभू] अणेगाइं जोयणाइं गमित्तए ?

हंता, पभू ।

[१३-१ प्र] भगवन् ! भावितात्मा अनगार, एक बडे अश्व के रूप का अभियोजन करके अनेक योजन तक जा सकता है ?

[१३-१ उ] हां, गौतम ! वह वैसा करने मे समर्थ है।

[२] से भंते ! किं आयड्ढीए गच्छति, परिड्ढीए गच्छति ?

गोयमा ! आयड्ढीए गच्छइ, नो परिड्ढीए गच्छइ ।

[१३-२ प्र] भगवन् ! क्या वह (इतने योजन तक) आत्मऋद्धि से जाता है या पर-ऋद्धि से जाता है ?

[१३-२ उ] गौतम ! वह आत्म-ऋद्धि से जाता है, परऋद्धि से नही जाता ।

[३] एव आयकम्मुणा, नो परकम्मुणा । आयप्पयोगेण, नो परप्पयोगेण ।

[१३-३] इसी प्रकार वह अपनी क्रिया (स्वकर्म) से जाता है, परकर्म से नही, आत्मप्रयोग से जाता है, किन्तु परप्रयोग से नही ।

[४] उस्सिओदग वा गच्छइ पतोदग वा गच्छइ ।

[१३-४] वह उच्छ्रितोदय (सीधे खडे) रूप भी जा सकता है और पतितोदय (पडे हुए) रूप मे भी जा सकता है ।

१४ [१] से ण भंते ! किं अणगारे आसे ?

गोयमा ! अणगारे णं से, नो खलु से आसे ।

[१४-१ प्र] वह अश्वरूपधारी भावितात्मा अनगार, क्या (अश्व की विक्रिया के समय) अश्व है ?

[१४-१ उ] गौतम ! (वास्तव मे) वह अनगार है, अश्व नही ।

[२] एवं जाव परासररूव वा ।

[१४-२] इसी प्रकार पराशर (शरभ या अष्टापद) तक के रूपो के सम्बन्ध मे भी कहना चाहिए ।

विवेचन—भावितात्मा अनगार द्वारा अश्वादिरूपो के अभियोगीकरण से सम्बन्धित प्ररूपणा—प्रस्तुत तीन सूत्रो (सू १२ से १४ तक) मे भावितात्मा अनगार द्वारा विविध रूपो के अभियोजन के सम्बन्ध मे निम्नोक्त तथ्य प्रकट किये गए है—

(१) भावितात्मा अनगार विद्या आदि के बल से बाह्य पुद्गलो को ग्रहण किये बिना अश्वादिरूपो का अभियोजन नही कर सकता ।

(२) अश्वादिरूपो का अभियोजन करके वह अनेको योजन जा सकता है, पर वह जाता है अपनी लब्धि, अपनी क्रिया या अपने प्रयोग से । वह सीधा खडा भी जा सकता है, पडा हुआ भी जा सकता है ।

(३) अश्वादि का रूप बनाया हुआ वह अनगार अश्व आदि नही होता, वह वास्तव मे अनगार ही होता है । क्योकि अश्वादि के रूप मे वह साधु ही प्रविष्ट है, इसलिए वह साधु है ।

अभियोग और वैक्रिय मे अन्तर—वैक्रिय रूप किया जाता है—वैक्रिय लब्धि वा वैक्रियसमुद्घात द्वारा, जबकि अभियोग किया जाता है—विद्या,मन्त्र,तन्त्र आदि के बल से । अभियोग मे मन्त्रादि के जोर से अश्वादि के रूप मे प्रवेश करके उसके द्वारा क्रिया कराई जाती है । दोनो के द्वारा रूप-परिवर्तन या विविधरूप निर्माण मे समानता दिखलाई देती है, परन्तु दोनो की प्रक्रिया मे अन्तर है ।[1]

मायी द्वारा विकुर्वणा और अमायी द्वारा अविकुर्वणा का फल—

१५ [१] से भंते ! किं मायी विकुव्वति ? अमायी विकुव्वति ?
गोयमा ! मायी विकुव्वति, नो अमायी विकुव्वति ।

[१५-१ प्र] भगवन् ! क्या मायी अनगार, विकुर्वणा करता है, या अमायी अनगार करता है ?

[१५-१ उ] गौतम ! मायी अनगार विकुर्वणा करता है, अमायी अनगार विकुर्वणा नही करता ।

[२] माई णं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ अन्नयरेसु आभिओगिएसु देवलोगेसु देवत्ताए उववज्जइ ।

[१५-२] मायी अनगार उस-उस प्रकार का विकुर्वण करने के पश्चात् उस (प्रमादरूप दोष) स्थान की आलोचना एव प्रतिक्रमण किये बिना ही काल करता है, इस प्रकार वह मृत्यु पाकर आभियोगिक देवलोको मे से किसी एक देवलोक मे देवरूप मे उत्पन्न होता है ।

[३] अमाई णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेइ अन्नयरेसु अणाभिओगिएसु देवलोगेसु देवत्ताए उववज्जइ । सेवं भंते २ त्ति० ।

[१५-३] किन्तु अमायी (अप्रमत्त) अनगार उस प्रकार की विकुर्वणाक्रिया करने के पश्चात् पश्चात्तापपूर्वक उक्त प्रमादरूप दोष—स्थान का आलोचन-प्रतिक्रमण करके काल करता है, और वह मर कर अनाभियोगिकदेवलोको मे से किसी देवलोक मे देवरूप से उत्पन्न होता है ।

---

१ (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठटिप्पणयुक्त), भा १, पृ १६४-१६५
(ख) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १९१

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है ।

विवेचन—मायी अनगार द्वारा कृत विकुर्वणा का और अमायी द्वारा कृत अविकुर्वणा का फल—प्रस्तुत पन्द्रहवे सूत्र मे मायी अनगार द्वारा कृत विकुर्वणारूप दोष का कुफल और अमायी अनगार द्वारा विकुर्वणा न करने का सुफल प्रतिपादित किया है ।

विकुर्वणा और अभियोग दोनो के प्रयोक्ता मायी—यद्यपि इससे पूर्वसूत्रो मे '**विकुव्वइ**' के बदले '**अभिजुजइ**' का प्रयोग किया गया है, और इन दोनो क्रियापदो का अर्थ भिन्न है, किन्तु यहाँ मूलपाठ मे विकुर्वणा के सम्बन्ध मे प्रश्न करके उत्तर मे जो 'फल' बताया गया है, वह अभियोग क्रिया का भी समझना चाहिए, क्योकि अभियोग भी एक प्रकार की विक्रिया ही है । दोनो के कर्ता मायी (प्रमादी एव कषायवान्) साधु होते हैं ।[1]

आभियोगिक अनगार का लक्षण—उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार "जो साधक केवल वैषयिक सुख (साता), स्वादिष्ट भोजन (रस) एव ऋद्धि को प्राप्त करने हेतु मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र साधना या विद्या आदि की सिद्धि से उपजीविका करता है, जो औषधिसयोग (योग) करता है, तथा भूति (भस्म) डोरा, धागा, धूल आदि मन्त्रित करके प्रयोग करता है, वह आभियोगिकी भावना करता है ।" ऐसी आभियोगिकी भावना वाला साधु आभियोगिक (देवलोक मे महर्द्धिक देवो की आज्ञा एव अधीनता मे रहने वाले दास या भृत्यवर्ग के समान) देवो मे उत्पन्न होता है । ये आभियोगिक देव अच्युत देवलोक तक होते है । इसलिए यहाँ '**अण्णयरेसु**' (आभियोगिक देवलोको मे से किसी एक मे) शब्द प्रयोग किया गया है ।[2]

---

१ भगवती सूत्र अ वृत्ति पत्राक १९१

२ (क) भगवतीसूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ ९९

(ख) मताजोग काउ, भूइकम्म च जे पउजति ।
साय-रस-इड्ढिहेउ अभिओग भावण कुणइ ॥
—उत्तराध्ययन अ २६, गा २६२, क आ पृ ११०३
—प्रज्ञापनासूत्र पद २०, पृ ४००-४०६

(ग) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १९१

(क) गच्छाचारपइन्ना और वृहत्कल्प वृत्ति मे भी इसी प्रकार की गाथा मिलती है ।

(ङ) "एआणि गारवट्ठा कुणमाणो आभियोगिअ बधइ ।
बीअ गारवरहिओ कुव्व आराहगत्त च ॥"
इन मन्त्र, आयोग और कौतुक आदि का उपयोग, जो गौरव (साता-रस-ऋद्धि) के लिए करता है, वह आभियोगिक देवायुरूप कर्म बाध लेता है । दूसरा—अपवादपद भी है, कि जो नि स्पृह, अतिशय ज्ञानी गौरवहेतु से रहित सिर्फ प्रवचन-प्रभावना के लिए इन कौतुकादि का प्रयोग करता है, वह आराधकभाव को प्राप्त होता है, उच्चगोत्र कर्म बाधता है ।
—अभिधानराजेन्द्रकोष, भा १

पंचम उद्देशक की संग्रहणी गाथाएँ—

१६. गाहा—इत्थी असी पडागा जण्णोवइते य होइ बोद्धव्वे ।
पल्हत्थिय पलियंके अभियोगविकुव्वणा मायी ॥१॥

॥ तइए सए : पंचमो उद्देसो समत्तो ॥

(१६) संग्रहणीगाथा का अर्थ—स्त्री, असि (तलवार), पताका, यज्ञोपवीत (जनेऊ), पल्हथी, पर्यंकासन, इन सब रूपों के अभियोग और विकुर्वणा-सम्बन्धी वर्णन इस (पंचम) उद्देशक में है। तथा ऐसा कार्य (अभियोग तथा विकुर्वणा का प्रयोग) मायी करता है, यह भी बताया गया है।

॥ तृतीय शतक : पंचम उद्देशक समाप्त ॥

छट्ठो उद्देसओ : 'नगरं' अह । 'अणगार ोरियलद्धी'

छठा उद्देशक : 'नगर' अथवा 'अनगारवीर्यलब्धि'

वीर्यलब्धि आदि के प्रभाव से मिथ्यादृष्टि अनगार का नगरान्तर के रूपो को जानने-देखने की प्ररूपणा—

१ अणगारे ण भते ! भावियप्पा मायी मिच्छद्दिट्ठी वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए विभंगनाणलद्धीए वाणारसिं नगरिं समोहए, समोहण्णित्ता रायगिहे नगरे रूवाइं जाणति पासति ?

हंता, जाणइ पासइ ।

[१ प्र०] भगवन् ! राजगृह नगर मे रहा हुआ मिथ्यादृष्टि और मायी (कषायवान्) भावितात्मा अनगार वीर्यलब्धि से, वैक्रियलब्धि से और विभगज्ञानलब्धि से वाराणसी नगरी की विकुर्वणा करके क्या तद्गत रूपो को जानता-देखता है ?

[१ उ०] हाँ, गौतम ! वह (पूर्वोक्त अनगार) उन पूर्वोक्त रूपो को जानता और देखता है ।

२ [२] से भते ! किं तहाभावं जाणइ पासइ ? अन्नहाभाव जाणइ पासइ ?

गोयमा ! णो तहाभाव जाणइ पासइ, अण्णहाभाव जाणइ पासइ ।

[२-१ प्र०] भगवन् ! क्या वह (उन रूपो को) तथाभाव (यथार्थरूप) से जानता-देखता है, अथवा अन्यथाभाव (अयथार्थ रूप) से जानता-देखता है ?

[२-१ उ०] गौतम ! वह तथाभाव से नही जानता-देखता, किन्तु अन्यथाभाव से जानता-देखता है ।

[२] से केणट्ठेणं भते ! एवं वुच्चइ 'नो तहाभाव जाणइ पासइ, अन्नहाभाव जाणइ पासइ ?'

गोयमा ! तस्स ण एव भवति—एव खलु अहं रायगिहे नगरे समोहए, समोहण्णित्ता वाणारसीए नगरीए रूवाइं जाणामि पासामि, से से दसणे विवच्चासे भवति, से तेणट्ठेण जाव पासति ।

[२-२ प्र०] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि वह तथाभाव से नही जानता देखता, किन्तु अन्यथाभाव से जानता-देखता है ?

[२-२ उ०] गौतम ! उस (तथाकथित अनगार) के मन मे इस प्रकार का विचार होता है कि वाराणसी नगरी मे रहे हुए मैने राजगृहनगर की विकुर्वणा की है और विकुर्वणा करके मै तद्गत (वाराणसी के) रूपो को जानता-देखता हूँ । इस प्रकार उसका दर्शन विपरीत होता है । इस कारण से ऐसा कहा जाता है कि वह तथाभाव से नही जानता-देखता, किन्तु अन्यथा भाव से जानता-देखता है ।'

३ अणगारे ण भंते ! भावियप्पा मायी मिच्छद्दिट्ठी जाव रायगिहे नगरे समोहए, समोहणित्ता वाणारसीए नगरीए रूवाइं जाणइ पासइ ?

हंता, जाणइ पासइ । तं चेव जाव तस्स ण एवं होइ—एवं खलु अहं वाणारसीए नगरीए समोहए, २ रायगिहे नगरे रूवाइं जाणामि पासामि, से से दंसणे विवच्चासे भवति, से तेणट्ठेणं जाव अन्नहाभावं जाणइ पासइ ।

[३ प्र०] भगवन् ! वाराणसी मे रहा हुआ मायी मिथ्यादृष्टि भावितात्मा अनगार, यावत् राजगृहनगर की विकुर्वणा करके वाराणसी के रूपो को जानता और देखता है ?

[३ उ०] हाँ, गौतम ! वह उन रूपो को जानता और देखता है । यावत्—उस साधु के मन मे इस प्रकार का विचार होता है कि राजगृह नगर मे रहा हुआ मै वाराणसी नगरी की विकुर्वणा करके तद्गत (राजगृह नगर के) रूपो को जानता और देखता हूँ । इस प्रकार उसका दर्शन विपरीत होता है । इस कारण से, यावत्—वह अन्यथाभाव से जानता-देखता है ।

४. अणगारे ण भंते ! भावियप्पा मायी मिच्छद्दिट्ठी वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए विभंगणाणलद्धीए वाणारसिं नगरिं रायगिहं च नगरं अंतरा य एगं महं जणवयवग्गं समोहए, २ वाणारसिं नगरिं रायगिहं च नगरं तं च अंतरा एगं महं जणवयवग्गं जाणति पासति ?

हंता, जाणति पासति ।

[४ प्र] भगवन् ! मायी, मिथ्यादृष्टि भावितात्मा अनगार अपनी वीर्यलब्धि से, वैक्रियलब्धि से और विभंगज्ञानलब्धि से वाराणसी नगरी और राजगृह नगर के बीच मे एक बडे जनपद-वर्ग (देश-समूह) की विकुर्वणा करे और वैसा करके क्या उस (वाराणसी और राजगृह के बीच विकुर्वित) बडे जनपद वर्ग को जानता और देखता है ?

[४ उ] हाँ, गौतम ! वह (उस विकुर्वित बडे जनपद-वर्ग को) जानता और देखता है ।

५ [१] से भंते ! किं तहाभावं जाणइ पासइ ? अन्नहाभावं जाणइ पासइ ?

गोयमा ! णो तहाभावं जाणति पासइ, अन्नहाभावं जाणइ पासइ ।

[५-१ प्र] भगवन् ! क्या वह उस जनपदवर्ग को तथाभाव से जानता-देखता है, अथवा अन्यथाभाव से जानता-देखता है ?

[५-१ उ] गौतम ! वह उस जनपदवर्ग को तथाभाव से नही जानता-देखता, किन्तु अन्यथाभाव से जानता-देखता है ।

[२] से केणट्ठेणं जाव पासइ ?

गोयमा ! तस्स खलु एवं भवति—एस खलु वाणारसी नगरी, एस खलु रायगिहे नगरे, एस खलु अंतरा एगे महं जणवयवग्गे, नो खलु एस महं वीरियलद्धी वेउव्वियलद्धी विभंगनाणलद्धी इड्ढी जुती जसे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे लद्धे पत्ते अभिसमन्नागए, से से दंसणे विवच्चासे भवति, से तेणट्ठेणं जाव पासति ।

[५-२ प्र] भगवन् ! वह उस जनपदवर्ग को अन्यथाभाव से यावत् जानता-देखता है, इसका क्या कारण है ?

[५-२ उ] गौतम ! उस अनगार के मन मे ऐसा विचार होता है कि यह वाराणसी नगरी है, यह राजगृह नगर है। तथा इन दोनो के बीच मे यह एक बडा जनपदवर्ग है। परन्तु यह मेरी वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि या विभगज्ञानलब्धि नही है, और न ही मेरे द्वारा उपलब्ध, प्राप्त और अभिसमन्वागत (सम्मुख लायी हुई) यह ऋद्धि, द्युति, यश, बल और पुरुषकार पराक्रम है। इस प्रकार का उक्त अनगार का दर्शन विपरीत होता है। इस कारण से, यावत् वह अन्यथाभाव से जानता-देखता है।

विवेचन—मायी मिथ्यादृष्टि अनगार द्वारा विकुर्वणा और उसका दर्शन—प्रस्तुत पाच सूत्रो (सू १ से ५ तक) मे मायी, मिथ्यादृष्टि, भावितात्मा अनगार द्वारा वीर्य आदि तीन लब्धियो से एक स्थान मे रह कर दूसरे स्थान की विकुर्वणा करने और तद्‌गतरूपो को जानने-देखने के सम्बन्ध मे चर्चा की गई है।

निष्कर्ष—राजगृह नगर मे स्थित मायी मिथ्यादृष्टि अनगार, वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि और विभगज्ञानलब्धि से वाराणसी नगरी की विकुर्वणा, अथवा वाराणसीस्थित तथाकथित अनगार राजगृह नगर की विकुर्वणा या वाराणसी और राजगृह के बीच मे विशाल जनपदवर्ग की विकुर्वणा करके, तद्‌गतरूपो को जान-देख सकता है, किन्तु वह जानता-देखता है—अन्यथाभाव से, यथार्थभाव से नही, क्योकि उसके मन मे ऐसा विपरीत दर्शन होता है कि (१) वाराणसी मे रहे हुए मैंने राजगृह की विकुर्वणा की है और मैं तद्‌गतरूपो को जान देख रहा हूँ, (२) अथवा राजगृह मे रहा हुआ मै वाराणसी की विकुर्वणा करके तद्‌गतरूपो को जान-देख रहा हूँ, (३) अथवा यह वाराणसी है, यह राजगृह है, इन दोनो के बीच मे यह एक बड़ा जनपदवर्ग है, यह मेरी वीर्यादिलब्धि नही, न ऋद्धि आदि है।[1]

मायी, मिथ्यादृष्टि, भावितात्मा अनगार की व्याख्या—अनगार=गृहवासत्यागी, भावितात्मा =स्वसिद्धान्त (शास्त्र) मे उक्त शम, दम आदि नियमो का धारक। मायी का अर्थ यहाँ उपलक्षण से क्रोधादि कषायोवाला है। इस विशेषण वाला सम्यग्दृष्टि भी हो सकता है, इसलिए यहाँ 'मिथ्यादृष्टि' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ है—अन्यतीर्थिक मिथ्यात्वी साधु। यही कारण है कि मिथ्यात्वी होने से उसका दर्शन विपरीत होता है, और वह अपने द्वारा विकुर्वित रूपो को विपरीत रूप मे देखता है। उसका दर्शन विपरीत यो भी है कि वह वैक्रियकृत रूपो को स्वाभाविक रूप मान लेता है, तथा जैसे दिङ्मूढ मनुष्य पूर्व दिशा को भी पश्चिम दिशा मान लेता है, उसी तरह मिथ्यादृष्टि अनगार भी दूसरे रूपो की अन्यथा कल्पना कर लेता है। इसलिए उसका अनुभव, दर्शन और क्षेत्र सम्बन्धी विचार विपरीत होता है।[2]

लब्धित्रय का स्वरूप—यहाँ जो तीन लब्धियाँ बताई गई हैं, वे इस प्रकार हैं—वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि और विभगज्ञानलब्धि। वीर्यादि तीनो लब्धियाँ विकुर्वणा करने की मुख्य साधन हैं। इनसे

१ वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा १ पृ १६५ से १६७ तक

२ (क) भगवतीसूत्र (टीकानुवादसहित) खण्ड-2, पृ १०४

(ख) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १९३

तथाकथित मिथ्यादृष्टि अनगार विकुर्वणा करता है। वीर्यलब्धि से शक्तिस्फुरण करता है, वैक्रियलब्धि से वैक्रिय समुद्घात करके विविधरूपो की विकुर्वणा करता है और विभगज्ञानलब्धि से राजगृहादिक पशु, पुरुष, प्रासाद आदि विविध रूपो को जानता-देखता है। मिथ्यादृष्टि होने के कारण इसका दर्शन और ज्ञान मिथ्या होता है।

कठिन शब्दो की व्याख्या—समोहए=विकुर्वणा की। विवच्चासे=विपरीत। जणवयवग्ग=जनपद=देश का समूह। तहाभाव—जिस प्रकार वस्तु है, उसकी उसी रूप मे ज्ञान मे अभिसन्धि—प्रतीति होना तथाभाव है, अथवा जैसा सवेदन प्रतीत होता है, वैसे ही भाव (बाह्य अनुभव) वाला ज्ञान तथाभाव है।[1]

अमायी सम्यग्दृष्टि अनगार द्वारा विकुर्वणा और उसका दर्शन—

६ अणगारे ण भते! भावियप्पा अमायी सम्मद्दिट्ठी वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए ओहिनाणलद्धीए रायगिहे नगरे समोहए, २ वाणारसीए नगरीए रूवाइ जाणइ पासइ ?

हता, जाणति पासति।

[६ प्र] भगवन्! वाराणसी नगरी मे रहा हुआ अमायी सम्यग्दृष्टि भावितात्मा अनगार, अपनी वीर्यलब्धि से, वैक्रियलब्धि से और अवधिज्ञानलब्धि से राजगृह नगर की विकुर्वणा करके (तद्गत) रूपो को जानता-देखता है ?

[६] हाँ (गौतम! वह उन रूपो को) जानता-देखता है।

७ [१] से भते! किं तहाभाव जाणइ पासइ ? अन्नहाभाव जाणति पासति ?

गोयमा! तहाभाव जाणति पासति, नो अन्नहाभाव जाणति पासति।

[७-१ प्र] भगवन्! वह उन रूपो को तथाभाव से जानता-देखता है, अथवा अन्यथाभाव से जानता-देखता है।

[७-१ उ] गौतम! वह उन रूपो को तथाभाव से जानता-देखता है, किन्तु अन्यथाभाव से नही जानता-देखता।

[२] से केणट्ठेण भते! एव वुच्चइ ?

गोयमा! तस्स ण एव भवति—एव खलु अह रायगिहे नगरे समोहए, समोहण्णित्ता वाणारसीए नगरीए रूवाइ जाणामि पासामि, से से दसणे अविवच्चासे भवति, से तेणट्ठेण गोयमा! एव वुच्चति।

[७-२ प्र] भगवन्! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि वह तथाभाव से उन रूपो को जानता-देखता है, अन्यथाभाव से नही।

[७-२ उ] गौतम! उस अनगार के मन मे इस प्रकार का विचार होता है कि 'वाराणसी

---

१ भगवतीसूत्र अभय वृत्ति, पत्राक १९३

नगरी मे रहा हुआ मैं राजगृहनगर की विकुर्वणा करके वाराणसी के रूपो को जानता-देखता हूँ ।' इस प्रकार उसका दर्शन अविपरीत (सम्यक्) होता है । हे गौतम ! इस कारण से ऐसा कहा जाता है (कि वह तथाभाव से जानता-देखता है ।)

८ बीओ वि आलावगो एव चेव, नवर वाणारसीए नगरीए समोहणावेयव्वो, रायगिहे नगरे रूवाइ जाणइ पासइ ।

[८] दूसरा आलापक भी इसी तरह कहना चाहिए । किन्तु विशेष यह है कि विकुर्वणा वाराणसी नगरी की समझनी चाहिए, और राजगृह नगर मे रहकर रूपो को जानता-देखता है, (ऐसा जानना चाहिए ।)

९ अणगारे ण भ ते ! भावियप्पा अमायी सम्मद्दिट्ठी वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए ओहिणाणलद्धीए रायगिह नगर वाणारसिं च नगरिं अतरा य एग मह जणवयवग्ग समोहए, २ रायगिह नगर वाणारसिं च नगरिं त च अतरा एग मह जणवयवग्ग जाणइ पासइ ?

हता, जाणइ पासइ ।

[९ प्र] भगवन् ! अमायी सम्यग्दृष्टि भावितात्मा अनगार, अपनी वीयलब्धि, वैक्रियलब्धि और अवधिज्ञानलब्धि से, राजगृहनगर और वाराणसी नगरी के बीच मे एक बडे जनपदवर्ग को जानता-देखता है ?

[९ उ] हाँ (गौतम ! वह उस जनपदवर्ग को) जानता-देखता है ।

१०. [१] से भते ! किं तहाभाव जाणइ पासइ ? अन्नहाभाव जाणइ पासइ ?

गोयमा ! तहाभाव जाणइ पासइ, णो अन्नहाभाव जाणइ पासइ ।

[१०-१ प्र] भगवन् ! क्या वह उस जनपदवर्ग को तथाभाव से जानता और देखता है, अथवा अन्यथाभाव से जानता-देखता है ?

[१०-१ उ] गौतम ! वह उस जनपदवर्ग को तथाभाव से जानता और देखता है, परन्तु अन्यथा भाव से जानता-देखता ।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोयमा ! तस्स ण एव भवति—नो खलु एस रायगिहे णगरे, णो खलु एस वाणारसी नगरी, नो खलु एस अतरा एगे जणवयवग्गे, एस खलु मम वीरियलद्धी वेउव्वियलद्धी ओहिणाणलद्धी इड्ढी जुती जसे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे लद्धे पत्ते अभिसमन्नागए, से से दसणे अविवच्चासे भवति, से तेणट्ठेण गोयमा ! एव वुच्चति—तहाभावं जाणति पासति, नो अन्नहाभाव जाणति पासति ।

[१०-२ प्र] भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

[१०-२ उ] गौतम ! उस अमायी सम्यग्दृष्टि भावितात्मा अनगार के मन मे ऐसा विचार

होता है कि न तो यह राजगृह नगर है, और न यह वाराणसी नगरी है, तथा न ही इन दोनो के बीच मे यह एक बडा जनपदवर्ग है, किन्तु यह मेरी ही वीर्यलब्धि है, वैक्रियलब्धि है और अवधिज्ञान-लब्धि है, तथा यह मेरे द्वारा उपलब्ध, प्राप्त एव अभिमुखसमागत ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य और पुरुषकार पराक्रम है। उसका वह दर्शन अविपरीत होता है। इसी कारण से, हे गौतम! ऐसा कहा जाता है कि वह अमायी सम्यग्दृष्टि अनगार तथाभाव से जानता-देखता है, किन्तु अन्यथाभाव से नही जानता-देखता।

विवेचन—अमायी सम्यग्दृष्टि अनगार द्वारा विकुर्वणा और उसका दर्शन—प्रस्तुत पाच सूत्रो (सू ६ से १० तक) मे मायी मिथ्यादृष्टि अनगार द्वारा कृत विकुर्वणा सम्बन्धी सूत्रो की तरह अमायी सम्यग्दृष्टि अनगार द्वारा कृत विकुर्वणा और उसके द्वारा कृत रूपो को जानने-देखने के सम्बन्ध मे प्ररूपण किया गया है।

निष्कर्ष—वाराणसी नगरी मे स्थित अमायी सम्यग्दृष्टि भावितात्मा अनगार, अपनी वीर्य-लब्धि, वैक्रियलब्धि और अवधिज्ञानलब्धि से राजगृहनगर की विकुर्वणा, अथवा राजगृहस्थित तथा-रूप अनगार वाराणसी नगरी की विकुर्वणा, या राजगृह और वाराणसी के बीच मे एक महान् जनपदसमूह की विकुर्वणा करके तद्गत रूपो को तथाभाव (यथार्थभाव) से जान-देख सकता है, क्योकि उसके मन मे ऐसा अविपरीत (सम्यग्) ज्ञान होता है कि—(१) वाराणसी मे रहा हुआ मैं राजगृह की विकुर्वणा करके तद्गतरूपो को जान-देख रहा हूँ, (२) राजगृह मे रहा हुआ मैं वाराणसी नगरी की विकुर्वणा करके तद्गतरूपो को देख रहा हूँ, (३) तथा न तो यह राजगृह है, और न यह वाराणसी है, और न ही इन दोनो के बीच मे यह एक बडा जनपदवर्ग है, अपितु मेरी ही वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि और अवधिज्ञानलब्धि है। और हैं—मेरे ही द्वारा अर्जित, प्राप्त, सम्मुख-समानीत ऋद्धि[1] आदि।

भावितात्मा अनगार द्वारा ग्रामादि के रूपो का विकुर्वण-सामर्थ्य—

११ अणगारे ण भते! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू एग महं गामरूव वा नगररूव वा जाव[2] सन्निवेसरूव वा विकुव्वित्तए?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[११ प्र] भगवन्! भावितात्मा अनगार बाहर के पुद्गलो को ग्रहण किये बिना, एक बडे ग्रामरूप की, नगररूप की, यावत्-सन्निवेश के रूप की विकुर्वणा कर सकता है?

[११ उ] गौतम! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नही है।

१२. एव बितिओ वि आलावगो, णवर बाहिरए पोग्गले परियादित्ता पभू।

[१२] इसी प्रकार दूसरा आलापक भी कहना चाहिए, किन्तु इसमे विशेष यह है कि बाहर के (वैक्रियक) पुद्गलो को ग्रहण करके वह अनगार, उस प्रकार के रूपो की विकुर्वणा कर सकता है।

---

१ (क) 'वियाह पण्णत्तिसुत्त (मूल-पाठ-टिप्पण युक्त) भा १ पृ १६७-१६८
(ख) भगवतीसूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणसहित) खण्ड-२ पृ १०३ से १०६ तक

२ 'जाव' शब्द यहाँ निम्नोक्त पाठ का सूचक है—
"निगमरूव वा, रायहाणिरूव वा, खेडरूव वा, कब्बडरूव वा, मडबरूव वा, दोणमुहरूव वा पट्टणरूव वा, आगररूव वा, आसमरूव वा, सवाहरूव वा" —भगवती अ वृत्ति, पत्राक १९३।

१३ अणगारे ण भंते ! भावियप्पा केवतियाइं पभू गामरूवाइं विकुव्वित्तए ?

गोयमा ! से जहानामए जुवीत जुवाणे हत्थेण हत्थे गेण्हेज्जा त चेव जाव विकुव्विसु वा ३ । एव जाव सन्निवेसरूव वा ।

[१३ प्र] 'भगवन् ! भावितात्मा अनगार, कितने ग्रामरूपो की विकुर्वणा करने मे समर्थ है ?'

[१३ उ] गौतम ! जैसे युवक युवती का हाथ अपने हाथ मे दृढतापूर्वक पकड कर चलता है, इस पूर्वोक्त दृष्टान्तपूर्वक समग्र वर्णन को कहना चाहिए, (अर्थात्—वह इस प्रकार के रूपो से सारे जम्बूद्वीप को ठसाठस भर सकता है) यावत्—यह उसका केवल विकुर्वण-सामर्थ्य है, मात्र विपय-सामर्थ्य है, किन्तु इतने रूपो की विकुर्वणा कभी की नही, (करता नही और करेगा भी नही ।) इसी तरह से यावत् सन्निवेशरूपो (की विकुर्वणा) पर्यन्त कहना चाहिए ।

विवेचन—भावितात्मा अनगार द्वारा ग्रामादि के रूपो का विकुर्वणसामर्थ्य—प्रस्तुत तीनो सूत्रो मे भावितात्मा अनगार द्वारा ग्राम, नगर आदि से लेकर सन्निवेश तक के रूपो की विकुर्वणा करने के सामर्थ्य के सम्बन्ध मे प्ररूपण है ।

चमरेन्द्र आदि इन्द्रो के आत्मरक्षक देवो की संख्या का निरूपण—

१४ चमरस्स ण भंते ! असुरिंदस्स असुररण्णो कति आयरक्खदेवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! चत्तारि चउसट्ठीओ आयरक्खदेवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ । ते ण आयरक्खा० वण्णओ[1] जहा रायप्पसेणइज्जे ।

[१४ प्र] भगवन् ! असुरेन्द्र असुरराज चमरेन्द्र के कितने हजार आत्मरक्षक देव है ?

[१४ उ] गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमरेन्द्र के चौसठ हजार के चार गुने अर्थात्—दो लाख छप्पन हजार आत्मरक्षक देव है । यहाँ आत्मरक्षक देवो का वर्णन राजप्रश्नीय सूत्र के अनुसार समझ लेना चाहिए ।

१५ एव सव्वेसिं इदाण जस्स जत्तिया आयरक्खा ते भाणियव्वा । सेव भंते ! सेव भंते ! त्ति० ।

॥ तइयसए छट्ठो उद्देसो समत्तो ॥

---

१ चमरेन्द्र आदि इन्द्रो के आत्मरक्षक देवो का वर्णन इस प्रकार है—"सन्नद्धबद्धवम्मियकवया उप्पीलियस-रासणपट्टिया पिणद्धगेवेज्जा बद्धआविद्धविमलवरचिंधपट्टा गहियाउहपहरणा तिणयाइं तिसंधियाइं वयरामयकोडीणि धणूइं अभिगिज्झ पयओ परिमाइयकंडकलावा नीलपाणिणो पीयपाणिणो रत्तपाणिणो एव चारुचाव-चम्म-दंड-खग्ग-पासपाणिणो नील पीय-रत्त-चारुचाव-चम्म-दंड-खग्ग-पासवरधरा आयरक्खा रक्खोवगया गुत्ता गुत्तपालिया जुत्ता जुत्तपालिया पत्तेयं पत्तेयं समयओ विणयओ किंकरभूया इव चिट्ठंति ।"

—भगवती सूत्र अ वृत्ति—पत्राक १९३ मे समुद्धृत ।

[१५] सभी इन्द्रो मे से जिस इन्द्र के जितने आत्मरक्षक देव हैं, उन सबका वर्णन यहाँ करना चाहिए।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है', यो कह कर यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—चमरेन्द्र आदि इन्द्रो के आत्मरक्षक देवो की सख्या का निरूपण—प्रस्तुत सूत्र मे चमरेन्द्र एव अन्य सभी इन्द्रो के आत्मरक्षक देवो का निरूपण किया गया है।

आत्मरक्षक और उनकी सख्या—स्वामी की रक्षा के लिए सेवक की तरह, इन्द्र की रक्षा मे, उसके पीछे, जो शस्त्रादि से सुसज्ज होकर तत्पर रहते है, वे 'आत्मरक्षक देव' कहलाते हैं। प्रत्येक इन्द्र के सामानिक देवो से आत्मरक्षक देवो की सख्या चौगुनी होती है। सामानिक देवो की सख्या इस प्रकार है—चमरेन्द्र के ६४ हजार, बलीन्द्र के ६० हजार तथा शेष नागकुमार आदि भवनपति-देवो के प्रत्येक इन्द्र के ६-६ हजार सामानिकदेव, शक्रेन्द्र के ८४ हजार, ईशानेन्द्र के ८० हजार सनत्कुमारेन्द्र के ७२ हजार, माहेन्द्र के ७० हजार, ब्रह्मेन्द्र के ६० हजार, लान्तकेन्द्र के ५० हजार, शक्रेन्द्र के ४० हजार, सहस्रारेन्द्र के ३० हजार, प्राणतेन्द्र के २० हजार और अच्युतेन्द्र के १० हजार सामानिक देव होते है।[1]

॥ तृतीय शतक : छठा उद्देशक समाप्त ॥

---

१ "चउसट्ठी सट्ठी खलु छच्च सहस्साओ असुरवज्जाण।
सामाणिया उ एए चउग्गुणा आयरक्खाओ ॥ १ ॥
चउरासीई असीई बावत्तरि सत्तरि य सट्ठी य।
पण्णा चत्तालीसा तीसा वीसा दस सहस्सेत्ति ॥ २ ॥　—भगवती अ वृत्ति, पत्राक १९४

सत्तमो उद्देसओ : 'लोगपाला'

सप्तम उद्देशक : लोकपाल

शक्रेन्द्र के लोकपाल और उनके विमानो के नाम—

१. रायगिहे नगरे जाव पज्जुवासमाणे एव वयासी—

[१] राजगृह नगर मे यावत् पर्युपासना करते हुए गौतम स्वामी ने इस प्रकार कहा (पूछा—)

२ सक्कस्स ण भते ! देविंदस्स देवरण्णो कति लोगपाला पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि लोगपाला पण्णत्ता, त जहा—सोमे जमे वरुणे वेसमणे।

[२ प्र] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज शक्र के कितने लोकपाल कहे गए हैं ?

[२ उ] गौतम ! चार लोकपाल कहे गए है, वे इस प्रकार हैं—सोम, यम वरुण और वैश्रमण।

३. एतेसि ण भते ! चउण्ह लोगपालाण कति विमाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि विमाणा पण्णत्ता, त जहा—सझप्पभे वरसिट्ठे सतजले वग्गू।

[३ प्र] भगवन् ! इन चारो लोकपालो के कितने विमान कहे गए हैं ?

[३ उ] 'गौतम ! इन चार लोकपालो के चार विमान कहे गए है, जैसे कि—सन्ध्याप्रभ, वरशिष्ट, स्वयज्वल और वल्गु।'

विवेचन—शक्रेन्द्र के लोकपाल एव उनके विमानो के नाम—प्रस्तुत तीन सूत्रो मे से प्रथम सूत्र मे राजगृह नगर मे गौतम स्वामी द्वारा पूछा गया प्रश्न है। उसके उत्तर मे शक्रेन्द्र के चार लोकपालो तथा उनके चार विमानो का नामोल्लेख किया गया है।

सोम-लोकपाल के विमानस्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन—

४ [१] कहि ण भते ! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सझप्पभे णाम महाविमाणे पण्णत्ते ?

गोयमा ! जबुद्दीवे २ मदरस्स पव्वयस्स दाहिणेण इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढ चदिम-सूरिय-गहगण-नक्खत्त-तारारूवाण बहूइ जोयणाइ जाव पच वडिसया पण्णत्ता, त जहा—असोयवडेंसए सत्तवण्णवडिसए चपयवडिसए चूयवडिसए मज्झे सोहम्मवडिसए। तस्स ण सोहम्मवडेंसयस्स महाविमाणस्स पुरत्थिमेण सोहम्मे कप्पे असखेज्जाइ जोयणाइ वीतीवइत्ता एत्थ ण सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सझप्पभे नाम महाविमाणे पण्णत्ते

अद्धतेरस जोयणसयसहस्साइ आयाम-विक्खभेण ऊयालीय जोयणसयसहस्साइ बावण्ण च सहस्साइ अट्ठ य अडयाले जोयणसए किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेण प० । जा सूरियाभविमाणस्स वत्तव्वया सा अपरिसेसा भाणियव्वा जाव अभिसेयो नवर सोमे देवे ।

[४-१ प्र] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल सोम नामक महाराज का सन्ध्याप्रभ नामक महाविमान कहाँ है ?

[४-१ उ] गौतम ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मन्दर (मेरु) पर्वत से दक्षिण दिशा मे इस रत्नप्रभा पृथ्वी के बहु सम भूमि भाग से ऊपर चन्द्र, सूर्य, ग्रहगण, नक्षत्र और तारारूप (तारे) आते है । उनसे बहुत योजन ऊपर यावत् पाच अवतसक कहे गए है, वे इस प्रकार है—अशोकावतसक, सप्तपर्णावतसक, चम्पकावतसक, चूतावतसक और मध्य मे सौधर्मावतसक है । उस सौधर्मावतसक महाविमान से पूर्व मे, सौधर्मकल्प से असख्य योजन दूर जाने के बाद, वहाँ पर देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—सोम नामक महाराज का सन्ध्याप्रभ नामक महाविमान आता है, जिसकी लम्बाई-चौडाई साढे बारह लाख योजन है । उसका परिक्षेप (परिधि) उनचालीस लाख बावन हजार आठ सौ अडतालीस (३९५२८४८) योजन से कुछ अधिक है । इस विषय मे सूर्याभदेव के विमान की जो वक्तव्यता है, वह सारी वक्तव्यता (राजप्रश्नीयसूत्र मे वर्णित) 'अभिषेक' तक कह लेनी चाहिए । इतना विशेष है कि यहाँ सूर्याभदेव के स्थान मे 'सोमदेव' कहना चाहिए ।

[२] सझप्पभस्स ण महाविमाणस्स अहे सपक्खि सपडिदिसि असखेज्जाइ जोयणसयसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ ण सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सोमा नाम रायहाणी पण्णत्ता, एग जोयणसयसहस्स आयाम-विक्खभेण जबुद्दीवपमाणा ।

[४-२] सन्ध्याप्रभ महाविमान के सपक्ष-सप्रतिदेश, अर्थात्—ठीक नीचे, असख्य लाख योजन आगे (दूर) जाने पर देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल सोम महाराज की सोमा नाम की राजधानी है, जो एक लाख योजन लम्बी-चौडी है, और जम्बूद्वीप जितनी है ।

[३] वेमाणियाण पमाणस्स अद्ध नेयव्व जाव उवरियलेण सोलस जोयणसहस्साइ आयाम-विक्खभेण, पण्णास जोयणसहस्साइ पच य सत्ताणउए जोयणसते किंचिविसेसूणे परिक्खेवेण पण्णत्ते । पासायाण चत्तारि परिवाडीओ नेयव्वाओ सेसा नत्थि ।

[४-३] इस राजधानी मे जो किले आदि हैं, उनका परिमाण वैमानिक देवो के किले आदि के परिमाण से आधा कहना चाहिए । इस तरह यावत् घर के ऊपर के पीठबन्ध तक कहना चाहिए । घर के पीठबन्ध का आयाम (लम्बाई) और विष्कम्भ (चौडाई) सोलह हजार योजन है । उसका परिक्षेप (परिधि) पचास हजार पाच सौ सत्तानवे योजन से कुछ अधिक कहा गया है । प्रासादो की चार परिपाटियाँ कहनी चाहिए, शेष नही ।

[४] सक्कस्स ण देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो इमे देवा आणा-उववाय-वयण-निद्देसे चिट्ठ ति, त जहा—सोमकाइया ति वा, सोमदेवयकाइया ति वा, विज्जुकुमारा विज्जुकुमारीओ, अग्गिकुमारा अग्गिकुमारीओ, वाउकुमारा वाउकुमारीओ, चदा सूरा गहा नक्खत्ता तारारूवा, जे

यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते तब्भत्तिया तप्पक्खिया तब्भारिया सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो आणा-उववाय वयण-निद्देसे चिट्ठ ति ।

[४-४] देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—सोम महाराज की आज्ञा मे, सेवा (उपपात=समीप) मे, वचन-पालन मे, और निर्देश मे ये देव रहते है, यथा—सोमकायिक, अथवा सोमदेवकायिक, विद्युत्कुमार-विद्युत्कुमारियाँ, अग्निकुमार-अग्निकुमारिया, वायुकुमार-वायुकुमारिया चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारारूप, ये तथा इसी प्रकार के दूसरे सब उसकी भक्ति वाले, उसके पक्ष वाले, उससे भरण-पोषण पाने वाले (भृत्य या उसकी अधीनता मे रहने वाले) देव उसकी आज्ञा, सेवा, वचनपालन और निर्देश मे रहते है ।

[५] जबुद्दीवे २ मदरस्स पव्वयस्स दाहिणेण जाइ इमाइ समुप्पज्जति, त जहा—गहदडा ति वा, गहमुसला ति वा, गहगज्जिया ति वा, एव गहजुद्धा ति वा, गहसिंघाडगा ति वा, गहावसव्वा इ वा, अब्भा ति वा, अब्भरुक्खा ति वा, सझा इ वा, गधव्वनगरा ति वा, उक्कापाया ति वा, दिसीदाहा ति वा, गज्जिया ति वा, विज्जुया ति वा, पसुवुट्ठी ति वा, जूवेति वा, जक्खालित्ते त्ति वा, धूमिया इ वा, महिया इ वा, रयुग्घाया इ वा, चदोवरागा ति वा, सूरोवरागा ति वा, चदपरिवेसा ति वा, सूरपरिवेसा ति वा, पडिचदा इ वा, पडिसूरा ति वा, इदधणू ति वा, उदगमच्छ-कपिहसिय-अमोह-पाईणवाया ति वा, पडीणवाता ति वा, जाव सवट्टयवाता ति वा, गामदाहा इ वा, जाव सन्निवेसदाहा ति वा पाणक्खया जणक्खया धणक्खया कुलक्खया वसणब्भूया अणारिया जे यावन्ने तहप्पगारा ण ते सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो अण्णाया अदिट्ठा असुया अमुया अविण्णाया, तेंसि वा सोमकाइयाण देवाण ।

[४-५] इस जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मेरुपर्वत के दक्षिण मे जो ये कार्य होते है यथा—ग्रहदण्ड, ग्रहमूसल, ग्रहगर्जित, ग्रहयुद्ध, ग्रह-शृ गाटक, ग्रहापसव्य, अभ्र, अभ्रवृक्ष, सन्ध्या, गन्धर्वनगर, उल्कापात, दिग्दाह, गर्जित, विद्युत् (बिजली चमकना), धूल की वृष्टि, यूप, यक्षादीप्त, धूमिका, महिका, रज-उद्घात, चन्द्रग्रहण (चन्द्रोपराग), सूर्योपराग (सूर्यग्रहण), चन्द्रपरिवेष, सूर्यपरिवेष, (सूर्य मण्डल), प्रतिचन्द्र, प्रतिसूर्य, इन्द्रधनुष, अथवा उदकमत्स्य, कपिहसित, अमोघ, पूर्वदिशा का वात और पश्चिम-दिशा का वात, यावत् सवर्त्तक वात, ग्रामदाह यावत् सन्निवेशदाह, प्राणक्षय, जनक्षय, धनक्षय, कुलक्षय यावत् व्यसनभूत अनार्य (पापरूप) तथा उस प्रकार के दूसरे सभी कार्य देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—सोम महाराज से (अनुमान की अपेक्षा) अज्ञात (न जाने हुए), अदृष्ट (न देखे हुए), अश्रुत (न सुने हुए), अस्मृत (स्मरण न किये हुए) तथा अविज्ञात (विशेषरूप से न जाने हुए) नही होते । अथवा ये सब कार्य सोमकायिक देवो से भी अज्ञात नही होते । अर्थात् उनकी जानकारी मे ही होते हैं ।

[६] सक्कस्स ण देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो इमे अहावच्चा अभिण्णाया होत्था, त जहा—इगालए वियालए लोहियक्खे सणिच्छरे चदे सूरे सुक्के बुहे बहस्सती राहू ।

(४-६) देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—सोम महाराज के ये देव अपत्यरूप से अभिज्ञात

(जाने-माने) होते है जैसे—अगारक (मगल), विकालिक, लोहिताक्ष, शनैश्चर, चन्द्र, सूर्य, शुक्र, बुध, बृहस्पति और, राहु।

[७] सक्कस्स ण देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सत्तिभाग पलिओवम ठिती पण्णत्ता। अहावच्चाभिण्णायाण देवाण एगं पलिओवम ठिई पण्णत्ता। एमहिड्ढीए णाव एमहाणुभागे सोमे महाराया।

[४-७] देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—सोम महाराज की स्थिति तीन भाग सहित एक पल्योपम की होती है, और उसके द्वारा अपत्यरूप से अभिमत देवो की स्थिति एक पल्योपम की होती है।

इस प्रकार सोम महाराज, महाऋद्धि और यावत् महाप्रभाव वाला है।

विवेचन—सोम लोकपाल के विमानस्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन—प्रस्तुत चतुर्थ सूत्र मे शक्रेन्द्र के लोकपाल सोम महाराज के विमान का स्थान, उसके आयाम, विष्कम्भ, परिक्षेप तथा उसकी राजधानी, दुर्ग, पीठबन्ध, प्रासाद आदि का वर्णन किया गया है। साथ ही उसके आज्ञानुवर्ती देववर्ग, जम्बूद्वीपवर्ती मेरुगिरि के दक्षिण मे होने वाले कार्यो से सुपरिचित, एव उसके अपत्य रूप से अभिमत अगारक आदि देवो, तथा सोम महाराज की स्थिति, ऋद्धि आदि का निरूपण भी अकित है।

कठिन शब्दो के अर्थ—**वडेंसिया**=अवतसक—श्रेष्ठ। **वेमाणियाण पमाणस्स०**=वैमानिको के सौधर्म विमान मे रहे हुए किले, महल और द्वार आदि के प्रमाण (माप) से सोम लोकपाल की नगरी के किलो आदि का प्रमाण आधा जानना। **सोमकाइया**=सोम लोकपाल के निकाय के परिवार-रूप देव। **तारारूवा**=तारक रूपदेव। **तब्भत्तिय**=सोम की भक्ति—बहुमान करने वाले। **तपक्खिय**=कार्य आ पडने पर सोम के पक्ष मे सहायक। **तब्भारिय**=सोम से भरण-पोषण पाने वाले अथवा सोमदेव का कार्यभार वहन करने वाले तद्भारिक देव। **गहदडा**=दण्ड की तरह सीधी पक्ति-बद्ध ग्रहमाला। **गह मूसला**=मूसल की तरह आकृति मे बद्ध ग्रह। **गहगज्जिया**—ग्रह के गति (गमन) करते समय होने वाली गर्जना। **गहयुद्धा**=ग्रहो का आमने-सामने (उत्तर-दक्षिण मे) पक्तिबद्ध रहना। **गहसिंघाडगा**=सिंघाडे के आकार मे ग्रहो का रहना। **गहावसव्वा**=ग्रहो की बाईं=प्रतिकूल वक्र चाल। **अब्भ**=बादल। **अब्भरुक्खा**=आकाश मे बादलो की वृक्ष रूप बनी आकृतियाँ। **धूमिका**=धुम्मस। **महिका**=ओस। **चदोवरागा**=चन्द्रग्रहण। **सूरोवरागा**=सूर्यग्रहण। **उदगमच्छा**=उदक-मत्स्य—इन्द्रधनुष के खण्ड-भाग। **कपिहसिय**=बिना बादलो के सहसा बिजली चमकना अथवा वानर जैसी विकृत मुखाकृति का हास्य। **अमोह**=सूर्य के उदयास्त के समय आकाश मे खिच जाने वाली लाल-काली लकीरे अथवा ऊँचे किये हुए गाडे के आकार जैसी आकाशस्थ सूर्य किरण के विकार से हुई बडी-बडी लकीरें। **पाइणवाया**=पूर्वदिशा की हवाएँ, **पडीण-वायाइ**=पश्चिमादि अन्य दिशाओ की हवाएँ। **पाणक्खया**=बल का क्षय। **जणक्खया**—लोक-मरण। **वसणब्भूया**=आपदारूप, (व्यसनभूत) आफतें। **अणारिया**=पापमय। **अहावच्चा अभिण्णाया**=पुत्र के जैसे देव, जो अभिमत वस्तु करने वाले होने से अभिज्ञात होते है। अथवा पुत्र की तरह माने हुए

सोमदेव=सोम लोकपाल के सामानिक देव। सोमदेवकायिक=सोमदेवो के पारिवाररूप देव।[1]

सूर्य और चन्द्र की स्थिति—यद्यपि अपत्यरूप से अभिमत सूर्य की स्थिति एक हजार वर्ष अधिक एक पल्योपम और चन्द्र की स्थिति एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम हे, तथापि यहाँ ऊपर की बढी हुई स्थिति की विवक्षा न करके एक पल्योपम कही गई है।[2]

यम लोकपाल के विमानस्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन—

५ [१] कहि ण भते ! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो वरसिट्ठे णाम महाविमाणे पण्णत्ते।

गोयमा ! सोहम्मवडिंयस्स महाविमाणस्स दाहिणेण सोहम्मे कप्पे असखेज्जाइ जोयणसहस्साइ वीईवइत्ता एत्थ ण सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो वरसिट्ठे णाम महाविमाणे पण्णत्ते अद्धतेरस जोयणसयसहस्साइ जहा सोमस्स विमाण तहा जाव अभिसेओ। रायहाणी तहेव जाव पासायपतीओ।

[५-१ प्र] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—यम महाराज का वरशिष्ट नामक महाविमान कहाँ है ?

[५-१ उ] 'गौतम ! सौधर्मावतसक नाम के महाविमान से दक्षिण मे, सौधर्मकल्प से असख्य हजार योजन आगे चलने पर, देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल यम महाराज का वरशिष्ट नामक महाविमान बताया गया है, जो साढे बारह लाख योजन लम्बा-चौडा है, इत्यादि सारा वर्णन सोम महाराज के (सन्ध्याप्रभ) विमान की तरह, यावत् (रायपसेणिय मे वर्णित) 'अभिषेक' तक कहना चाहिए। इसी प्रकार राजधानी और यावत् प्रासादो की पक्तियो के विषय मे कहना चाहिए।

[२] सक्कस्स ण देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो इमे देवा आणा० जाव चिट्ठ ति, त जहा—जमकाइया ति वा, जमदेवयकाइया इ वा, पेयकाइया इ वा, पेयदेवयकाइया ति वा, असुरकुमारा असुरकुमारीओ, कदप्पा निरयवाला आभिओगा जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते तब्भत्तिगा, तप्पक्खिता तब्भारिया सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो आणा जाव चिट्ठ ति।

[५-२] देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल यम महाराज की आज्ञा, सेवा (उपपात), वचन-पालन और निर्देश मे रहते है, यथा—यमकायिक, यमदेवकायिक, प्रेतकायिक प्रेतदेवकायिक, असुरकुमार-असुरकुमारियाँ, कन्दर्प, निरयपाल (नरकपाल), आभियोग, ये और इसी प्रकार के वे सब देव, जो उस (यम) की भक्ति मे तत्पर है, उसके पक्ष के तथा उससे भरण-पोषण पाने वाले तदधीन भृत्य (भार्य) या उसके कार्यभारवाहक (भारिक) है। ये सब यम महाराज की आज्ञा मे यावत् रहते है।

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १९६-१९७

२ (क) भगवतीसूत्र (विवेचनयुक्त) भा २ (प घेवरचदजी), पृ ७१४

(ख) भगवती अ वृत्ति, पत्राक १९७

[३] जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं जाइं इमाइं समुप्पज्जंति, तं जहा—डिंवा ति वा, डमरा ति वा, कलहा ति वा, बोला ति वा, खारा ति वा, महाजुद्धा ति वा, महासंगामा ति वा, महासत्थनिवडणा ति वा, एवं महापुरिसनिवडणा ति वा, महारुधिरनिवडणा इ वा, दुब्भूया ति वा, कुलरोगा ति वा, गामरोगा ति वा, मंडलरोगा ति वा, नगररोगा ति वा, सीसवेयणा इ वा, अच्छिवेयणा इ वा, कण्ण-नह-दंतवेयणा इ वा, इंदग्गहा इ वा, खंदग्गहा इ वा, कुमारग्गहा०, जक्खग्ग०, भूयग्ग०, एगाहिया ति वा, बेहिया ति वा, तेहिया ति वा, चाउत्थया ति वा, उव्वेयगा ति वा, कासा०, खासा इ वा, सासा ति वा, सोसा ति वा, जरा इ वा, दाहा० कच्छकोहा ति वा, अजीरया, पंडुरोया, अरिसा इ वा, भगंदला इ वा, हितयसूला ति वा मत्थयसू०, जोणिसू०, पाससू०, कुच्छिसू०, गाममारीति वा, नगर०, खेड०, कब्बड०, दोणमुह०, मडंब०, पट्टण०, आसम०, संवाह० सन्निवेसमारीति वा, पाणक्खया, धणक्खया, जणक्खया, कुलक्खया, वसणब्भूया अणारिया जे यावन्ने तहप्पगारा न ते सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो अण्णाया० ५, तेसिं वा जमकाइयाणं देवाणं।

[५-३] जम्बूद्वीप नामक द्वीप मे मेरुपर्वत से दक्षिण मे जो ये कार्य समुत्पन्न होते है। यथा—डिम्ब (विघ्न), डमर (राज्य मे राजकुमारादि द्वारा कृत उपद्रव), कलह (जोर से चिल्ला-चिल्लाकर झगडा करना), बोल (अव्यक्त अक्षरो की ध्वनियाँ), खार (परस्पर मत्सर), महायुद्ध, (अव्यवस्थित महारण), महासग्राम (चक्रव्यूहादि से युक्त व्यवस्थित युद्ध), महाशस्त्रनिपात अथवा इसी प्रकार महापुरुषो की मृत्यु, महारक्तपात, दुर्भूत (मनुष्यो और अनाज आदि को हानि पहुँचाने वाले दुष्ट जीव), कुलरोग (वश-परम्परागत पैतृक रोग), ग्राम-रोग, मण्डलरोग (एक मण्डल मे फैलने वाली बीमारी), नगररोग, शिरोवेदना (सिरदर्द), नेत्रपीडा, कान, नख और दात की पीडा, इन्द्रग्रह स्कन्दग्रह, कुमारग्रह, यक्षग्रह, भूतग्रह, एकान्तर ज्वर (एकाहिक), द्वि-अन्तर (दूसरे दिन आने वाला बुखार) तिजारा (तीसरे दिन आने वाला ज्वर), चौथिया (चौथे दिन आने वाला ज्वर), उद्वेजक (इष्टवियोगादि जन्य उद्वेग दिलाने वाले काण्ड, अथवा लोकोद्वेगकारी चोरी आदि काण्ड), कास (खासी), श्वास, दमा, बलनाशक ज्वर, (शोष), जरा (बुढापा), दाहज्वर, कच्छ-कोह (शरीर के कक्षादि भागो मे सडाँध), अजीर्ण, पाण्डुरोग (पीलिया), अर्शरोग (मस्सा-बवासीर), भगदर, हृदयशूल (हृदय-गति-अवरोधक पीडा), मस्तकपीडा, योनिशूल, पार्श्वशूल (काख या बगल की पीडा), कुक्षि (उदर) शूल, ग्राममारी, नगरमारी, खेट, कर्बट, द्रोणमुख, मडम्ब, पट्टण, आश्रम सम्बाध और सन्निवेश, इन सबकी मारी (मृगीरोग-महामारी), प्राणक्षय, धनक्षय, जनक्षय, कुलक्षय, व्यसनभूत (विपत्तिरूप) अनार्य (पापरूप), ये और इसी प्रकार के दूसरे सब कार्य देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—यम महाराज से अथवा उसके यमकायिक देवो से अज्ञात (अनुमान से अज्ञात), अदृष्ट, अश्रुत, अविस्मृत, (या अचिन्त्य) और अविज्ञात (अवधि आदि की अपेक्षा) नही है।

[४] सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो इमे देवा अहावच्चा अभिण्णाया होत्था, तं जहा—

अबे १ अबरिसे चेव २ सामे ३ सबले त्ति यावरे ४ ।
रुद्दोवरुद्दे ५-६ काले य ७ महाकाले त्ति यावरे ८ ॥ १ ॥
असी य ९ असिपत्ते १० कुंभे ११ वालू १२ वेतरणी ति य १३ ।
खरस्सरे १४ महाघोसे १५ एए पन्नरसाऽऽहिया ॥ २ ॥

[५-४] देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—यम महाराज के देव अपत्यरूप से अभिमत (पुत्रस्थानीय) हे—'अम्व, अम्वरिप, श्याम, शवल, रुद्र, उपरुद्र, काल, महाकाल, असिपत्र, धनुप, कुम्भ, बालू, वैतरणी, खरस्वर, और महाघोप, ये पन्द्रह विख्यात है ।

[५] सक्कस्स ण देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो सत्तिभाग पलिओवम ठिती पण्णत्ता । अहावच्चाभिण्णायाण देवाण एग पलिओवम ठिती पण्णत्ता । एमहिड्ढिए जाव जमे महाराया ।

[५-५] देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—यम महाराज की स्थिति तीन भाग सहित एक पल्योपम की है और उसके अपत्यरूप से अभिमत देवो की स्थिति एक पल्योपम की है। ऐसी महाऋद्धि वाला यावत् यममहाराज है ।

विवेचन—यम लोकपाल के विमानस्थान आदि से सम्वन्धित वर्णन—प्रस्तुत पाँचवे सूत्र द्वारा शक्रेन्द्र के द्वितीय लोकपाल यम महाराज के विमान-स्थान, उसका परिमाण, आज्ञानुवर्ती देव, उसके द्वारा ज्ञात, श्रुत आदि कार्य, उसके अपत्य रूप से अभिमत देव तथा यम महाराज एव उसके अपत्य रूप से अभिमत देवो की स्थिति का निरूपण किया गया है।

यमकायिक आदि की व्याख्या—यमलोकपाल के परिवाररूप देव **'यमकायिक'**, यमलोकपाल के सामानिक देव **'यमदेव'** तथा यमदेवो के परिवाररूप देव **'यमदेवकायिक'** कहलाते है । **प्रेतकायिक**= व्यन्तरविशेष । **प्रेतदेवकायिक**=प्रेतदेवो के सम्बन्धी देव । **कदप्प**=अतिक्रीडाशील देव (कन्दर्प) **आभियोगा**=अभियोग—आदेशवर्ती अथवा आभियोगिक भावनाओ के कारण आभियोगिक देवो मे उत्पन्न ।[1]

अपत्यरूप से अभिमत पन्द्रह देवो की व्याख्या—पूर्वजन्म मे क्रूर क्रिया करने वाले, क्रूर परिणामो वाले, सतत पापरत कुछ जीव पचाग्नि तप आदि अज्ञानतप से किये गए निरर्थक देहदमन से आसुरीगति को प्राप्त, ये पन्द्रह परमाधार्मिक असुर कहलाते है । ये तीसरी नरकभूमि तक जा कर नारकी जीवो को कष्ट देकर प्रसन्न होते है, यातना पाते हुए नारको को देखकर ये आनन्द मानते है । (१) **अम्ब**=जो नारको को ऊपर आकाश मे ले जा कर छोडते है, (२) **अम्बरीष**='जो छुरी आदि से नारको के छोटे-छोटे, भाड मे पकने योग्य टुकडे करते हैं, (३) **श्याम**=ये काले रग के व भयकर स्थानो मे नारको को पटकते एव पीटते है, (४) **शबल**=जो चितकबरे रग के व नारको की आते-नसें एव कलेजे को बाहर खीच लेते हैं। (५) **रुद्र**=नारको को भाला, बर्छी आदि शस्त्रो मे पिरो देने वाले रौद्र—भयकर असुर (६) **उपरुद्र**=नारको के अगोपागो को फाडने वाले अतिभयकर असुर । (७) **काल**=नारको को कडाही मे पकाने वाले, काले रग के असुर, (८) **महाकाल**=

१ (क) भगवती, (टीकानुवाद प वेचरदासजी) खण्ड-२, पृ ११६-११७
(ख) भगवती अ वृत्ति, पत्राक १९८

नारको के चिकने मास के टुकडे-टुकडे करके उन्हे खिलाने वाले, अत्यन्त काले रग के असुर, (९) असिपत्र=जो तलवार के आकार के पत्ते वैक्रिय से बना कर नारको पर गिराते है। (१०) धनुष=जो धनुष द्वारा अर्धचन्द्रादि वाण फैक कर नारको के नाक कान आदि वीध डालते हे, (११) कुम्भ-जो नारको को कुम्भ या कुम्भी मे पकाते है, (१२) वालू=वैक्रिय द्वारा निर्मित वज्राकार या कदम्ब पुष्पाकार रेत मे नारको को डाल कर चने की तरह भूनते है। (१३) वैतरणी=जो रक्त, मास, मवाद, ताम्बा, शीशा आदि गर्म पदार्थो से उबलती हुई नदी मे नारको को फैक कर तैरने के लिए वाध्य करते हैं, (१४) खरस्वर=जो वज्रकण्टको के भरे शालमलि वृक्ष पर नारको को चढाकर, करुणक्रन्दन करते हुए नारको को कठोरस्वरपूर्वक खीचते है, (१५) महाघोष=डर से भागते हुए नारको को पकड कर बाडे मे बन्द कर देते है, जोर से चिल्लाते है।[1]

वरुणलोकपाल के विमान-स्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन—

६ [१] कहि णं भते ! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो वरुणस्स महारण्णो सयजले नाम महाविमाणे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तस्स णं सोहम्मवडिंसयस्स महाविमाणस्स पच्चत्थिमेण सोहम्मे कप्पे असंखेज्जाइं जहा सोमस्स तहा विमाण-रायहाणीओ भाणियव्वा जाव पासायवडिंसया नवर नामनाणत्त।

[६-१ प्र] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल-वरुण महाराज का स्वयज्वल नामक महाविमान कहाँ है ?

[६-१ उ] गौतम ! उस सौधर्मावतसक महाविमान से पश्चिम मे सौधर्मकल्प से असख्येय हजार योजन पार करने के बाद, वही वरुणमहाराज का स्वयज्वल नाम का महाविमान आता है, इससे सम्बन्धित सारा वर्णन सोममहाराज के महाविमान की तरह जान लेना चाहिए, राजधानी यावत् प्रासादावतसको के सम्बन्ध मे भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए। केवल नामो मे अन्तर है।

[२] सक्कस्स ण० वरुणस्स महारण्णो इमे देवा आणा० जाव चिट्ठंति, त०—वरुणकाइया ति वा, वरुणदेवयकाइया इ वा, नागकुमारा नागकुमारीओ, उदहिकुमारा उदहिकुमारीओ, थणियकुमारा थणियकुमारीओ, जे यावण्णे तहप्पगारा सव्वे ते तब्भत्तिया जाव चिट्ठति।

[६-२] देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल वरुण महाराज के ये देव आज्ञा मे यावत् रहते हैं—वरुणकायिक, वरुणदेवकायिक, नागकुमार-नागकुमारियाँ, उदधिकुमार-उदधिकुमारियाँ स्तनित-कुमार-स्तनितकुमारियाँ, ये और दूसरे सब इस प्रकार के देव, उनकी भक्तिवाले यावत् रहते हैं।

[३] जंबुद्दीवे २ मदरस्स पव्वयस्स दाहिणेण जाइ इमाइ समुप्पज्जति त जहा—अतिवासा ति वा, मदवासा ति वा, सुवुट्ठी ति वा, दुव्वुट्ठी ति वा, उदब्भेया ति वा, उदप्पीला इ वा, उदवाहा ति वा, पवाहा ति वा, गामवाहा ति वा, जाव सन्निवेसवाहा ति वा, पाणक्खया जाव तेसिं वा वरुणकाइयाण देवाण।

---

१ (क) भगवती अ वृत्ति पत्राक १९८ (ख) भगवती, (विवेचनयुक्त) (प-घेवरचन्दजी) भा-२, पृ-७२०

[६-३] जम्बूद्वीप नामक द्वीप मे मन्दरपर्वत से दक्षिण दिशा मे जो कार्य समुत्पन्न होते है, वे इस प्रकार है—अतिवर्षा, मन्दवर्षा, सुवृष्टि, दुर्वृष्टि, उदकोद्भेद (पर्वत आदि से निकलने वाला झरना), उदकोत्पील (सरोवर आदि मे जमा हुई जलराशि), उदवाह (पानी का अल्प प्रवाह), प्रवाह ग्रामवाह (ग्राम का बह जाना) यावत् सन्निवेशवाह, प्राणक्षय यावत् इसी प्रकार के दूसरे सभी कार्य वरुणमहाराज से अथवा वरुणकायिक देवो से अज्ञात आदि नही है।

[४] सक्कस्स ण देविदस्स देवरण्णो वरुणस्स महारण्णो जाव अहावच्चाभिण्णाया होत्था, त जहा—कक्कोडए कद्दमए अजणे सखवालए पु डे पलासे मोएज्जए दहिमुहे अयपुले कायरिए।

[६-४] देवेन्द्र देवराज शक्र के (तृतीय) लोकपाल—वरुण महाराज के ये देव अपत्यरूप से अभिमत हैं। यथा—कर्कोटक (कर्कोटक नामक पर्वत निवासी नागराज), कर्दमक (अग्निकोण मे विद्युत्प्रभ नामक पर्वतवासी नागराज), अजन (वेलम्ब नामक वायुकुमारेन्द्र का लोकपाल), शखपाल (धरणेन्द्र नामक नागराज का लोकपाल), पुण्ड्र, पलाश, मोद, जय, दधि-मुख अयपुल और कातरिक।

[५] सक्कस्स ण देविदस्स देवरण्णो वरुणस्स महारण्णो देसूणाइ दो पलिओवमाइ ठिती पण्णत्ता। अहावच्चाभिण्णायाण देवाण एग पलिओवम ठिती पण्णत्ता। एमहिड्ढीए जाव वरुणे महाराया।

[६-५] देवेन्द्र देवराज शक्र के तृतीय लोकपाल वरुण महाराज की स्थिति देशोन दो पल्योपम की कही गई है और वरुण महाराज के अपत्यरूप से अभिमत देवो की स्थिति एक पल्योपम की कही गई है।

वरुण महाराज ऐसी महाऋद्धि यावत् महाप्रभाव वाला है।

विवेचन—वरुण लोकपाल के विमान-स्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन—प्रस्तुत छठे सूत्र मे वरुणलोकपाल के विमान के स्थान, उसके परिमाण, राजधानी, प्रासादावतसक, वरुण के आज्ञानुवर्ती देव अपत्यरूप से अभिमत देव, उसके द्वारा ज्ञात आदि कार्यकलाप एव उसकी स्थिति आदि का वर्णन किया गया है।

वैश्रमण लोकपाल के विमानस्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन—

७ [१] कहि ण भते! सक्कस्स देविदस्स देवरण्णो वेसमणस्स महारण्णो वग्गू णाम महाविमाणे पण्णत्ते।

गोयमा! तस्स ण सोहम्मवडिसयस्स महाविमाणस्स उत्तरेणं जहा सोमस्स विमाण-रायहाणि-वत्तव्वया तहा नेयव्वा जाव पासायवडिसया।

[७-१ प्र] भगवन्! देवेन्द्र देवराज शक्र के (चतुर्थ) लोकपाल—वैश्रमण महाराज का वल्गु नामक महाविमान कहा है?

[७-१ उ] गौतम! वैश्रमण महाराज का विमान, सौधर्मावतसक नामक महाविमान के

उत्तर मे है। इस सम्बन्ध मे सारा वर्णन सोम महाराज के महाविमान की तरह जानना चाहिए, और वह यावत् राजधानी यावत् प्रासादावतसक तक का वर्णन भी उसी तरह जान लेना चाहिए।

[२] सक्कस्स ण देविंदस्स देवरण्णो वेसमणस्स महारण्णो इमे देवा आणा-उववाय-वयण-निद्देसे चिट्ठ ति, त जहा—वेसमणकाइया ति वा, वेसमण-देवयकाइया ति वा, सुवण्णकुमारा सुवण्ण-कुमारीओ, दीवकुमारा दीवकुमारीओ, दिसाकुमारा दिसाकुमारीओ, वाणमतरा वाणमंतरीओ, जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते तब्भत्तिया जाव चिट्ठ ति।

[७-२] देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल वैश्रमण महाराज की आज्ञा, सेवा (उपपात-निकट) वचन और निर्देश मे ये देव रहते है। यथा—वैश्रमणकायिक, वैश्रमणदेवकायिक, सुवर्णकुमार-सुवर्ण-कुमारियाँ, द्वीपकुमार-द्वीपकुमारियाँ, दिक्कुमार-दिक्कुमारियाँ, वाणव्यन्तर देव-वाणव्यन्तर देवियाँ, ये और इसी प्रकार के अन्य सभी देव, जो उसकी भक्ति, पक्ष और भृत्यता (या भारवहन) करते है, उसकी आज्ञा आदि मे रहते है।

[३] जबुद्दीवे २ मदरस्स पव्वयस्स दाहिणेण जाइ इमाइ समुप्पज्जति, त जहा—अयागरा इ वा, तउयागरा इ वा, तबयागरा इ वा, एव सीसागरा इ वा, हिरण्ण०, सुवण्ण०, रयण०, वयरागरा इ वा, वसुधारा ति वा, हिरण्णवासा ति वा, सुवण्णवासा ति वा, रयण०, वइर०, आभरण०, पत्त०, पुप्फ०, फल०, बीय०, मल्ल०, वण्ण०, चुण्ण०, गध०, वत्थवासा इ वा, हिरण्णवुट्ठी इ वा, सु०, र०, व०, आ०, प०, पु०, फ०, बी०, म०, व०, चुण्ण०, गधवुट्ठी०, वत्थवुट्ठी ति वा, भायणवुट्ठी ति वा, खीरवुट्ठी ति वा, सुकाला ति वा, दुक्काला ति वा, अप्पग्घा ति वा, महग्घा ति वा, सुभिक्खा ति वा, दुभिक्खा ति वा, कयविक्कया ति वा, सन्निहि त्ति वा, सन्निचया ति वा, निही ति वा, णिहाणा ति वा, चिरपोराणाइ वा, पहीणसामियाति वा, पहीणसेतुयाति वा, पहीणमग्गाणि वा, पहीणगोत्तागाराइ वा उच्छन्नसामियाति वा उच्छन्नसेतुयाति वा, उच्छन्नगोत्तागाराति वा सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहेसु नगर-निद्धमणेसु सुसाण-गिरि-कदर-सति-सेलोवट्ठाण-भवणगिहेसु सन्निक्खित्ताइं चिट्ठ ति, ण ताइ सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो वेसमणस्स महारण्णो अण्णायाइ अदिट्ठाइ असुयाइ अविन्नायाइ, तेसिं वा वेसमणकाइयाण देवाण।

[७-३] जम्बूद्वीप नामक द्वीप मे मन्दरपर्वत से दक्षिण मे जो ये कार्य उत्पन्न होते है, जैसे कि—लोहे की खाने, रागे की खानें, ताम्बे की खाने, तथा शीशे की खाने, हिरण्य (चादी) की, सुवर्ण की, रत्न की और वज्र की खाने, वसुधारा, हिरण्य की, सुवर्ण की, रत्न की, आभरण की, पत्र की, पुष्प की, फल की, बीज की, माला की, वर्ण की, चूर्ण की, गन्ध की और वस्त्र की वर्षा, भाजन (वर्तन) और क्षीर की वृष्टि, सुकाल, दुष्काल, अल्पमूल्य (सस्ता), महामूल्य (महगा), सुभिक्ष (भिक्षा की सुलभता), दुर्भिक्ष (भिक्षा की दुर्लभता), क्रय-विक्रय (खरीदना-बेचना) सन्निधि (घी, गुड आदि का सचय), सन्निचय (अन्न आदि का सचय), निधियाँ (खजाने—कोष), निधान (जमीन मे गडा हुआ धन), चिर-पुरातन (बहुत पुराने), जिनके स्वामी समाप्त हो गए, जिनकी सारसभाल करने वाले नही रहे, जिनकी कोई खोजखबर (मार्ग) नही है, जिनके स्वामियो के गोत्र और आगार (घर) नष्ट

हो गए, जिनके स्वामी उच्छिन्न (छिन्नभिन्न) हो गए, जिनकी सारसभाल करने वाले छिन्न-भिन्न हो गए, जिनके स्वामियो के गोत्र, और घर तक छिन्नभिन्न हो गए, ऐसे खजाने शृगाटक (सिंगाडे के आकार वाले) मार्गो मे, त्रिक (तिकोने मार्ग), चतुष्क (चौक), चत्वर, चतुर्मुख एव महापथो, सामान्य मार्गो, नगर के गन्दे नालो मे श्मशान, पर्वतगृह गुफा (कन्दरा), शान्तिगृह, शैलोपस्थान (पर्वत को खोद कर बनाए गए सभा-स्थान), भवनगृह (निवास-गृह) इत्यादि स्थानो मे गाड कर रखा हुआ धन, ये सब पदाथ देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल वैश्रमण महाराज से अथवा उसके वैश्रमण-कायिक देवो से अज्ञात, अदृष्ट (परोक्ष), अश्रुत, अविस्मृत और अविज्ञात नहीं हैं।

[४] सक्कस्स ण देविंदस्स देवरण्णो वेसमणस्स महारण्णो इमे देवा अहावच्चाभिण्णाया होत्था, त जहा—पुण्णभद्दे माणिभद्दे सालिभद्दे सुमणभद्दे चक्करक्खे पुण्णरक्खे सव्वाणे सव्वजसे सव्वकामसमिद्धे अमोहे असगे।

[७-४] देवेन्द्र देवराज शक्र के (चतुर्थ) लोकपाल वैश्रमण महाराज के ये देव अपत्यरूप से अभीष्ट है, वे इस प्रकार है—पूर्णभद्र, मणिभद्र, शालिभद्र, सुमनोभद्र, चक्र-रक्ष, पूर्णरक्ष, सद्वान, सर्वयश, सर्वकामसमृद्ध, अमोघ और असग।

[५] सक्कस्स ण देविंदस्स देवरण्णो वेसमणस्स महारण्णो दो पलिओवमाणि ठिती पण्णत्ता। अहावच्चाभिण्णायाण देवाण एग पलिओवम ठिती पण्णत्ता। एमहिड्डीए जाव वेसमणे महाराया।

सेव भते! सेव भते! त्ति०।

॥ तइयसते सत्तमो उद्देसओ समत्तो ॥

[७-५] देवेन्द्र देवराज शक्र के (चतुर्थ) लोकपाल—वैश्रमण महाराज की स्थिति दो पल्योपम की है, और उनके अपत्यरूप से अभिमत देवो की स्थिति एक पल्योपम की है।

इस प्रकार वैश्रमण महाराज बडी ऋद्धि वाला यावत् महाप्रभाव वाला है।

'हे भगवन् यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है', यो कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरण करने लगे।

विवेचन—वैश्रमण लोकपाल के विमानस्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन—प्रस्तुत ७ वे सूत्र मे शास्त्रकार ने वैश्रमण लोकपालदेव के विमानो की अवस्थिति, उसकी लम्बाई-चौडाई-ऊँचाई आदि परिमाण, वैश्रमण लोकपाल की राजधानी, प्रासाद आदि का, तथा वैश्रमण महाराज के आज्ञानुवर्ती भक्ति-सेवा-कार्यभारवहनादि कर्ता देवो का, मेरु पर्वत के दक्षिण मे होने वाले धनादि से सम्बन्धित कार्यो की समस्त जानकारी का एव वैश्रमण महाराज के अपत्यरूप से माने हुए देवो का तथा उसकी तथा उसके अपत्यदेवो की स्थिति आदि का समस्त निरूपण किया गया है।

वैश्रमणदेव को लोक मे कुबेर, धनद एव धन का देवता कहते है। धन, धान्य, निधि, भण्डार आदि सब इसी लोकपाल के अधीन रहते है।

कठिन शब्दो की व्याख्या—हिरण्णवासा=झरमर झरमर वरसती हुई घटे हुए सोने की या चादी की वर्षा तथा हिरण्णवुट्ठी—तेजी से वरसती हुई घडे हुए सोने या चादी की वर्षा वृष्टि कहलाती है। यही वर्षा और वृष्टि मे अन्तर है। सुभिक्खा-दुभिक्खा=सुकाल हो या दुष्काल। 'निहीति वा निहाणाति वा'=लाख रुपये अथवा उस से भी अधिक धन का एक जगह सग्रह करना निधि है, और जमीन मे गाडे हुए लाखो रुपयो के भण्डार या खजाने निधान कहलाते हं। पहीणसेउयाइं=जिसमे धन को सीचने (या बढाने) वाला मौजूद नही रहा। पहीणमग्गाणि=इतने पुराने हो गए हं, कि जिनकी तरफ जाने-आने का मार्ग भी नष्ट हो गया है, अथवा उस मार्ग की ओर कोई जाता-आता नही। पहीणगोत्तागाराइ=जिस व्यक्ति ने ये धन-भडार भरे हैं, उसका कोई गोत्रीय सम्वन्धी तथा उसके सम्बन्धी का घर तक अब रहा नही।[1]

।। तृतीय शतक : सप्तम उद्देशक समाप्त ।।

---

१ (क) भगवती अ वृत्ति, पत्राक २००

(ख) भगवती टीकानुवादयुक्त, खण्ड २, पृ १२०

अट्ठमो उद्देसओ : 'अहिवइ'

अष्टम उद्देशक अधिपति

भवनपति देवो के अधिपति के विषय मे प्ररूपण—

१ रायगिहे नगरे जाव पज्जुवासमाणे एव वदासी—असुरकुमाराण भते ! देवाण कति देवा आहेवच्च जाव विहरति ?

गोयमा ! दस देवा आहेवच्च जाव विहरति, त जहा—चमरे असुरिंदे असुरराया, सोमे, जमे, वरुणे, वेसमणे, बली वइरोयणिंदे वइरोयणराया, सोमे, जमे, वरुणे, वेसमणे ।

[१ प्र] राजगृह नगर मे, यावत् पर्युपासना करते हुए गौतम स्वामी ने इस प्रकार पूछा—'भगवन् ! असुरकुमार देवो पर कितने देव आधिपत्य करते रहते है ?'

[१ उ] गौतम ! असुरकुमार देवो पर दस देव आधिपत्य करते हुए यावत् रहते हैं । वे इस प्रकार है—असुरेन्द्र असुरराज चमर, सोम, यम, वरुण, वैश्रमण तथा वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि, सोम, यम, वरुण और वैश्रमण ।

२. नागकुमाराण भते ! पुच्छा ।

गोयमा ! दस देवा आहेवच्च जाव विहरति, त जहा—धरणे नागकुमारिंदे नागकुमारराया, कालवाले, कोलवाले सेलवाले, सखवाले, भूयाणदे नागकुमारिंदे नागकुमारराया, कालवाले, कोलवाले, सखवाले, सेलवाले ।

[२ प्र] भगवन् ! नागकुमार देवो पर कितने देव आधिपत्य करते हुए, यावत् विचरते है ?

[२ उ] हे गौतम ! नागकुमार देवो पर दस देव आधिपत्य करते हुए, यावत् विचरते है । वे इस प्रकार है—नागकुमारेन्द्र नागकुमारराज धरण, कालपाल, कोलपाल, शखपाल और शैलपाल । तथा नागकुमारेन्द्र नागकुमारराज भूतानन्द, कालपाल, कोलपाल, शखपाल और शैलपाल ।

३ जहा नागकुमारिंदाण एताए वत्तव्वताए णीय एव इमाण नेयव्व—सुवण्णकुमाराण वेणुदेवे, वेणुदाली, चित्ते, विचित्ते, चित्तपक्खे, विचित्तपक्खे । विज्जुकुमाराण हरिक्कत, हरिस्सह, पभ, सुप्पभ, पभकंत, सुप्पभकत । अग्गिकुमाराण अग्गिसीहे, अग्गिमाणव, तेउ, तेउसीहे, तेउकते, तेउप्पभे । दीवकुमाराण पुण्ण, विसिट्ठ, रूय, सुरूय, रूयकत, रूयप्पभ । उदहिकुमाराण जलकते, जलप्पभ, जल, जलरूय, जलकत, जलप्पभ । दिसाकुमाराण अमियगति, अमियवाहण, तुरियगति, खिप्पगति, सीहगति, सीहविक्कमगति । वाउकुमाराण वेलब, पभजण, काल महाकाला अजण रिट्ठा । थणियकुमाराण घोस,

महाघोस, आवत्त, वियावत्त, नदियावत्त, महानदियावत्त । एव भाणियव्वं जहा असुरकुमारा । सो० १ का० २ चि० ३ प० ४ ते० ५ रू० ६ ज० ७ तु० ८ का० ९ आ० १० ।

[३] जिस प्रकार नागकुमारो के इन्द्रो के विषय मे यह (पूर्वोक्त) वक्तव्यता कही गई है, उसी प्रकार इन (देवो) के विषय मे भी समझ लेना चाहिए । सुवर्णकुमार देवो पर—वेणुदेव, वेणुदालि, चित्र, विचित्र, चित्रपक्ष और विचित्रपक्ष (का आधिपत्य रहता है ।), विद्युत्कुमार देवो पर—हरिकान्त, हरिसिंह, प्रभ, सुप्रभ, प्रभाकान्त और सुप्रभाकान्त (का आधिपत्य रहता है ।), अग्निकुमार देवो पर—अग्निसिंह, अग्निमाणव, तेजस् तेजसिंह तेजस्कान्त और तेजप्रभ (आधिपत्य करते हैं ।), 'द्वीपकुमार'-देवो पर—पूर्ण, विशिष्ट, रूप, रूपाश, रूपकान्त और रूपप्रभ (आधिपत्य करते है ।), उदधिकुमार देवो पर—जलकान्त (इन्द्र), जलप्रभ (इन्द्र) जल, जलरूप, जलकान्त और जलप्रभ (का आधिपत्य है ।), दिक्कुमार देवो पर—अमितगति, अमितवाहन, तूर्य-गति, क्षिप्रगति, सिंहगति और सिंहविक्रमगति (आधिपत्य करते है ।), वायुकुमारदेवो पर—वेलम्ब, प्रभञ्जन, काल, महाकाल, अजन और रिष्ट (का आधिपत्य रहता है ।), तथा स्तनितकुमारदेवो पर—घोष, महाघोष, आवर्त, व्यावर्त, नन्दिकावर्त और महानन्दिकावर्त (का आधिपत्य रहता है) । इन सबका कथन असुरकुमारो की तरह कहना चाहिए । दक्षिण भवनपतिदेवो के अधिपति इन्द्रो के प्रथम लोकपालो के नाम इस प्रकार है—सोम, कालपाल, चित्र, प्रभ, तेजस् रूप, जल, त्वरितगति, काल और आयुक्त ।

विवेचन—भवनपतिदेवो के अधिपति के विषय मे प्ररूपण—प्रस्तुत तीन सूत्रो मे भवनपतिदेवो के असुरकुमार से ले कर स्तनितकुमार तक के भेदो तथा दक्षिण भवनपति देवो के अधिपतियो के विषय मे निरूपण किया गया है ।

आधिपत्य मे तारतम्य—जिस प्रकार मनुष्यो मे भी पदो और अधिकारो के सम्बन्ध मे तारतम्य होता है, वैसे ही यहाँ दशविध भवनपतिदेवो के आधिपत्य मे तारतम्य समझना चाहिए । जैसे कि असुरकुमार आदि दसो प्रकार के भवनपतियो मे प्रत्येक के दो-दो इन्द्र होते हैं, यथा—असुर-कुमार देवो के दो इन्द्र हैं—(१) चमरेन्द्र और (२) बलीन्द्र, नागकुमारदेवो के दो इन्द्र है—(१) धरणेन्द्र और भूतानन्देन्द्र । इसी प्रकार प्रत्येक के दो-दो इन्द्रो का आधिपत्य अपने अधीनस्थ लोकपालो तथा अन्य देवो पर होता है, और लोकपालो का अपने अधीनस्थ देवो पर आधिपत्य होता है । इस प्रकार आधिपत्य, अधिकार, ऋद्धि, वर्चस्व एव प्रभाव आदि मे तारतम्य समझ लेना चाहिए ।[1]

दक्षिण भवनपति देवो के इन्द्र और उनके प्रथम लोकपाल—मूल मे भवनपति देव दो प्रकार के है—उत्तर दिशावर्ती और दाक्षिणात्य । उत्तरदिशा के दशविध भवनपति देवो के जो जो अधीनस्थ देव होते है, इन्द्र से लेकर लोकपाल आदि तक, उनका उल्लेख इससे पूर्व किया जा चुका है । इसके पश्चात् दाक्षिणात्य भवनपति देवो के सर्वोपरि अधिपति इन्द्रो के प्रथम लोकपालो के नाम सूचित किये हैं । इस सम्बन्ध मे एक गाथा भी मिलती है—

'सोमे य कालवाले य चित्तप्पभ-तेउ तह रुए चेव ।
जल तह तुरियगई य काले आउत्त पढमा उ ।।'

इसका अर्थ पहले आ चुका है ।

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २००
(ख) तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय ४, सू ६—'पूर्वयोर्द्वीन्द्रा' का भाष्य देखिये ।

दूसरे ग्रन्थ मे यह बताया गया है कि दक्षिण दिशावर्ती लोकपालो के प्रत्येक सूत्र मे जो तीसरा और चौथा कहा गया है, वही उत्तरदिशावर्ती लोकपालो मे चौथा और तीसरा कहना चाहिए ।[1]

सोमादि लोकपाल वैदिक ग्रन्थो मे—यहाँ जैसे सोम, यम, वरुण और वैश्रमण, एक प्रकार के लोकपाल देव कहे गए है, वैसे ही यास्क-रचित वैदिकधर्म के प्राचीन ग्रन्थ निरुक्त मे भी इनकी व्याख्या प्राकृतिक देवो के रूप मे मिलती है। सोम की व्याख्या की गई है—सोम एक प्रकार की औषधि है। यथा—'हे सोम ! अभिषव (रस) युक्त बना हुआ तू स्वादिष्ट और मदिष्टधारा से इन्द्र के पीने के लिए टपक पड।' 'इस सोम का उपभोग कोई अदेव नही कर सकता।' 'सर्प और ज्वरादिरूप होकर जो प्राणिमात्र का नाश करता है, यह 'यम' है।' 'अग्नि को भी यम कहा गया है।' जो आवृत करता—ढकता है, (मेघसमूह द्वारा आकाश को), वह 'वरुण' कहलाता है।[2]

वाणव्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिक देवो पर आधिपत्य की प्ररूपणा—

४ पिसायकुमाराण पुच्छा।

गोयमा ! दो देवा आहेवच्च जाव विहरति, त जहा—

काले य महाकाले सुरूव पडिरूव पुन्नभद्दे य।
अमरवइ माणिभद्दे भीमे य तहा महाभीमे ॥१॥
किन्नर किंपुरिसे खलु सप्पुरिसे खलु तहा महापुरिसे।
अतिकाय महाकाए गीतरती चेव गीयजसे ॥२॥

एते वाणमंतराणं देवाण।

[४ प्र] भगवन् ! पिशाचकुमारो (वाणव्यन्तर देवो) पर कितने देव आधिपत्य करते हुए विचरण करते है ?

[४ उ] गौतम ! उन पर दो-दो देव (इन्द्र) आधिपत्य करते हुए यावत् विचरते है। वे इस प्रकार हैं—(१) काल और महाकाल, (२) सुरूप और प्रतिरूप, (३) पूर्णभद्र और मणिभद्र, (४) भीम और महाभीम, (५) किन्नर और किम्पुरुष, (६) सत्पुरुष और महापुरुष, (७) अतिकाय और महाकाय, तथा (८) गीतरति और गीतयश। ये सब वाणव्यन्तर देवो के अधिपति-इन्द्र हैं।

५ जोतिसियाण देवाण दो देवा आहेवच्च जाव विहरति, त जहा—चदे य सूरे य।

[५] ज्योतिष्क देवो पर आधिपत्य करते हुए दो देव यावत् विचरण करते हैं। यथा—चन्द्र और सूर्य।

---

१ भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक २०१

२ (क) 'औषधि सोम सुनोते यद् एनमभिषुण्वन्ति।' 'स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम ! धारया इन्द्राय पातवे सुत ' 'न तस्य अश्नाति कश्चिददेव ।—यास्क निरुक्त पृ ७६९-७७१

(ख) 'यमो यच्छतीति सत ' ''यच्छति—उपरमयति जीवितात् (तस्कर, इ० सर्पज्वरादिरूपो भूत्वा) 'सर्व भूतग्रामम्—यम ।' 'अग्निरपि यम उच्यते'—यास्क निरुक्त पृ ७३२-७३३

(ग) 'वरुण —वृणोति इति, स हि वियद् वृणोति मेघजालेन ।'—यास्क निरुक्त पृ ७१२-७१३

६. सोहम्मीसाणेसु ण भंते ! कप्पेसु कति देवा आहेवच्च जाव विहरंति ?

गोयमा ! दस देवा जाव विहरंति, तं जहा—सक्के देविंदे देवराया, सोमे, जमे, वरुणे, वेसमणे। ईसाणे देविंदे देवराया, सोमे, जमे, वरुणे, वेसमणे। एसा वत्तव्वया सव्वेसु वि कप्पेसु, एते चेव भाणियव्वा। जे य इंदा ते य भाणियव्वा।

सेवं भंते ! सेवं ! भंते त्ति०।

॥ तइयसते : अट्ठमो उद्देसओ समत्तो ॥

[६ प्र] भगवन् ! सौधर्म और ईशानकल्प मे आधिपत्य करते हुए कितने देव विचरण करते हैं ?

[६ उ] गौतम ! उन पर आधिपत्य करते हुए यावत् दस देव विचरण करते हैं। यथा—देवेन्द्र देवराज शक्र, सोम, यम, वरुण और वैश्रमण, देवेन्द्र देवराज ईशान, सोम, यम, वरुण, और वैश्रमण।

यह सारी वक्तव्यता सभी कल्पो (देवलोको) के विषय मे कहनी चाहिए और जिस देवलोक का जो इन्द्र है, वह कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरण करने लगे।

विवेचन—वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो पर आधिपत्य की प्ररूपणा—प्रस्तुत तीन सूत्रो मे क्रमश वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो पर आधिपत्य की प्ररूपणा की गई है।

वाणव्यन्तर देव और उनके अधिपति दो-दो इन्द्र—चतुर्थ सूत्र मे प्रश्न पूछा गया है पिशाच-कुमारो के सम्बन्ध मे, किन्तु उत्तर दिया गया है—वाणव्यन्तर देवो के सम्बन्ध मे। इसलिए यहाँ पिशाचकुमार का अर्थ वाणव्यन्तर देव ही समझना चाहिए। वाणव्यन्तर देवो के ८ भेद है—किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच। इन प्रत्येक पर दो-दो अधिपति—इन्द्र इस प्रकार है—किन्नर देवो के दो इन्द्र—किन्नरेन्द्र, किम्पुरुषेन्द्र, किम्पुरुष देवो के दो इन्द्र—सत्पुरुषेन्द्र और महापुरुषेन्द्र, महोरगदेवो के दो इन्द्र—अतिकायेन्द्र और महाकायेन्द्र, गन्धर्वदेवो के दो इन्द्र—गीतरतीन्द्र और गीतयशेन्द्र, यक्षो के दो इन्द्र—पूर्णभद्रेन्द्र और मणिभद्रेन्द्र, राक्षसो के दो इन्द्र—भीमेन्द्र और महाभीमेन्द्र, भूतो के दो इन्द्र—सुरूपेन्द्र (अतिरूपेन्द्र) और प्रतिरूपेन्द्र, पिशाचो के दो इन्द्र—कालेन्द्र और महाकालेन्द्र।[1]

---

१ (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) भा १, पृ १७७

(ख) 'व्यन्तरा किन्नर-किम्पुरुष-महोरग-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचा।'—तत्त्वार्थसूत्र भाष्य अ ४, सू १२, पृ ९७ से ९९

(ग) 'पूर्वयोर्द्वीन्द्रा '—तत्त्वार्थसूत्र-भाष्य अ ४ सू ६, पृ ९२

ज्योतिष्क देवो के अधिपति इन्द्र—ज्योतिष्क देवो मे अनेक सूर्य एव चन्द्रमा इन्द्र हैं। वाणव्यन्तर और ज्योतिष्क देवो मे लोकपाल नही होते।[1]

वैमानिक देवो के अधिपति—इन्द्र एव लोकपाल—वैमानिक देवो मे सौधर्म से लेकर अच्युत-कल्प तक प्रत्येक अपने-अपने कल्प के नाम का एक-एक इन्द्र है। यथा—सौधर्मेन्द्र=शक्रेन्द्र, ईशानेन्द्र, सनत्कुमारेन्द्र आदि। किन्तु ऊपर के चार देवलोको मे दो-दो देवलोको का एक-एक इन्द्र है, यथा—नौवें और दसवे देवलोक—(आणत और प्राणत) का एक ही प्राणतेन्द्र है। इसी प्रकार ग्यारहवें और बारहवे देवलोक—(आरण और अच्युत) का भी एक ही अच्युतेन्द्र है। इस प्रकार बारह देवलोको मे कुल १० इन्द्र है। नौ ग्रैवेयको और पाच अनुत्तर विमानो मे कोई इन्द्र नही होते। वहाँ सभी 'अहमिन्द्र' (सर्वतन्त्रस्वतत्र) होते हैं। सौधर्म आदि कल्पो के प्रत्येक इन्द्र के आधिपत्य मे सोम, यम आदि चार-चार लोकपाल होते है, जिनके आधिपत्य मे अन्य देव होते हैं।[2]

॥ तृतीय शतक अष्टम उद्देशक समाप्त ॥

---

१ (क) तत्त्वार्थसूत्र अ ४ सू ६ का भाष्य, पृ ९२

(ख) 'त्रायस्त्रिश-लोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्का'—तत्त्वार्थसूत्र अ ४ सू ५, भाष्य पृ ९२

२ (क) तत्त्वार्थ भाष्य अ ४ सू ६, पृ ९३, (ख) भगवती अ वृत्ति, पत्राक २०१

नवमो उद्देसओ : इंदिय

नवम उद्देशक : इन्द्रिय

पंचेन्द्रिय-विषयो का अतिदेशात्मक निरूपण—

१ रायगिहे जाव एवं वदासी—कतिविहे ण भते ! इंदियविसए पण्णत्ते ?

गोयमा ! पचविहे इंदियविसए पण्णत्ते, त०—सोतिंदियविसए, जीवाभिगमे[1] जोतिसियउद्देसो नेयव्वो अपरिसेसो ।

।। तइयसए : नवमो उद्देसओ समत्तो ।।

[१ प्र] राजगृह नगर मे यावत् श्रीगौतमस्वामी ने इस प्रकार पूछा—भगवन् ! इन्द्रियो के विषय कितने प्रकार के कहे गए है ?

[१ उ] गौतम ! इन्द्रियो के विषय पाँच प्रकार के कहे गए है। वे इस प्रकार है—श्रोत्रेन्द्रिय-विषय इत्यादि। इस सम्बन्ध मे जीवाभिगमसूत्र मे कहा हुआ ज्योतिष्क उद्देशक सम्पूर्ण कहना चाहिए।

विवेचन—पांच इन्द्रियो के विषयो का अतिदेशात्मक वर्णन—प्रस्तुत सूत्र मे जीवाभिगम सूत्र के ज्योतिष्क उद्देशक का अतिदेश करके शास्त्रकार ने पचेन्द्रिय विषयो का निरूपण किया है।

जीवाभिगम सूत्र के अनुसार इन्द्रिय विषय-सम्बन्धी विवरण—पाच इन्द्रियो के पाच विषय है, यथा—श्रोत्रेन्द्रिय-विषय, चक्षुरिन्द्रिय-विषय, घ्राणेन्द्रिय-विषय, रसेन्द्रिय-विषय और स्पर्शेन्द्रिय-विषय।

[प्र] भगवन् ! श्रोत्रेन्द्रियविषय-सम्बन्धी पुद्गल-परिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ] गौतम ! दो प्रकार का कहा गया है। यथा—शुभशब्द परिणाम और अशुभशब्द परिणाम।

[प्र] भगवन् ! चक्षुरिन्द्रिय-विषय-सम्बन्धी पुद्गल-परिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ] गौतम ! दो प्रकार का कहा गया है। यथा—सुरूप-परिणाम और दुरूपपरिणाम।

[प्र.] भगवन् ! घ्राणेन्द्रिय-विषय-सन्बन्धी पुद्गल-परिणाम कितने प्रकार का कहा गया है।

[उ] गौतम ! दो प्रकार का कहा गया है। यथा—सुरभिगन्ध परिणाम और दुरभिगन्ध परिणाम।

---

१ जीवाभिगम सूत्र प्रतिपत्ति ३, उद्देशक २ सू १९१, पृ ३७३-३७४ मे इसका वर्णन देखिए।

[प्र] भगवन् ! रसनेन्द्रिय-विषय-सम्बन्धी पुद्गलपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ] गौतम ! दो प्रकार का कहा गया है । यथा—सुरस-परिणाम और दुरसपरिणाम ।

[प्र] भगवन् ! स्पर्शेन्द्रिय-विषय-सम्बन्धी पुद्गल—परिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?'

[उ] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है । यथा—सुखस्पर्श परिणाम और दुःख स्पर्श-परिणाम । दूसरी वाचना मे इन्द्रिय-सम्बन्धी सूत्रो के अतिरिक्त 'उच्चावचसूत्र' और 'सुरभिसूत्र' ये दो सूत्र और कहे गए है । यथा—

[प्र] 'भगवन् ! क्या उच्चावच (ऊँचे-नीचे) शब्द-परिणामो मे परिणत होते हुए पुद्गल 'परिणत होते है', ऐसा कहा जा सकता है ?

[उ] हाँ, गौतम, ऐसा कहा जा सकता है', इत्यादि सब कथन करना चाहिए ।

[प्र] भगवन् ! क्या शुभशब्दो के पुद्गल अशुभशब्द रूप मे परिणत होते है ?

]उ] हा, गौतम ! परिणत होते है, इत्यादि सब वर्णन यहाँ समझना चाहिए ।

॥ तृतीयशतक नवम उद्देशक समाप्त ॥

---

१ (क) जीवाभिगम सूत्र प्रतिपत्ति ३, उद्देशक २, सू १९१, पृ ३७३-३७४

(ख) भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक २०१-२०२—'सोइंदियविसए हंता गोयमा !' इत्यादि ।

दसमो उद्देसओ : परिसा

दशम उद्देशक : परिषद्

चमरेन्द्र से लेकर अच्युतेन्द्र तक की परिषद् सम्बन्धी प्ररूपणा—

१. [१] रायगिहे जाव एव वयासी—चमरस्स ण भते ! असुरिंदस्स असुररण्णो कति परिसाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! तओ परिसाओ पण्णत्ताओ. त जहा—समिता चडा जाता ।

[१-१ प्र] राजगृह नगर मे यावत् श्री गौतम ने इस प्रकार पूछा—भगवन् ! असुरेन्द्र असुरराज चमर की कितनी परिषदाएँ (सभाएँ) कही गई है ?

[१-१ उ] हे गौतम ! उसकी तीन परिषदाएँ कही गई है । यथा—समिका (या शमिका या शमिता), चण्डा और जाता ।

[२] एव जहाणुपुव्वीए जाव अच्चुओ कप्पो ।

सेव भते ! सेव भते ! त्ति० ।

॥ तइयसए : दसमोद्देसो ॥

॥ ततिय सय समत्त ॥

[१-२] इसी प्रकार क्रमपूर्वक यावत् अच्युतकल्प तक कहना चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कहकर यावत् गौतम स्वामी विचरते है ।

विवेचन—असुरराज चमरेन्द्र से लेकर अच्युतेन्द्र तक की परिषदा-प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र मे भवनपति देवो के असुरेन्द्र से लेकर अच्युत देवलोक के इन्द्र तक की परिषदो का निरूपण किया गया है ।

तीन परिषदें नाम और स्वरूप—प्रस्तुत सूत्र मे सर्वप्रथम असुरेन्द्र असुरराज चमर की तीन परिषदें बताई गई है—समिका या शमिका, चण्डा और जाता । जीवाभिगम सूत्र के अनुसार—स्थिर स्वभाव और समता के कारण इसे 'समिका' कहते हैं, स्वामी द्वारा किये गए कोप एव उतावल को शान्त करने की क्षमता होने से इसे 'शमिका' भी कहते हैं, तथा उद्धततारहित एव शान्त स्वभाव वाली होने से इसे 'शमिता' भी कहते है । शमिका के समान महत्त्वपूर्ण न होने से तथा साधारण कोपादि के प्रसग पर कुपित हो जाने के कारण दूसरी परिषद् को 'चण्डा' कहते है । गम्भीर स्वभाव न

होने से निष्प्रयोजन कोप उत्पन्न हो जाने के कारण तीसरी परिषद् का नाम 'जाता' है। इन्ही तीनो परिषदो को क्रमश आभ्यन्तरा, मध्यमा और बाह्या भी कहते है। जब इन्द्र को कोई प्रयोजन होता है, तब वह आदरपूर्वक आभ्यन्तर परिषद् बुलाता और उसके समक्ष अपना प्रयोजन प्रस्तुत करता है। मध्यम परिषद् बुलाने या न बुलाने पर भी आती है। इन्द्र, आभ्यन्तर परिषद् मे विचारित बाते उसके समक्ष प्रकट कर निर्णय करता है। बाह्य परिषद् बिना बुलाये आती है। इन्द्र उसके समक्ष स्वनिर्णीत कार्य प्रस्तुत करके उसे सम्पादित करने की आज्ञा देता है। असुरकुमारेन्द्र की परिषद् के समान ही शेष नौ निकायो की परिषदो के नाम और काम है। व्यन्तर देवो की तीन परिषद् है—इसा, तुडिया और दृढरथा। ज्योतिष्क देवो की तीन परिषदो के नाम—तुम्बा, तुडिया और पर्वा। वैमानिक देवो की तीन परिषदे—शमिका, चण्डा और जाता। इसके अतिरिक्त भवनपति से लेकर अच्युत देवलोक तक के तीनो इन्द्रो की तीनो परिषदो के देव-देवियो की सख्या, उनकी स्थिति आदि का विस्तृत वर्णन जीवाभिगम सूत्र से जान लेना चाहिए।[1]

॥ तृतीय शतक : दशम उद्देशक समाप्त ॥

तृतीय शतक सम्पूर्ण

---

१ (क) जीवाभिगम प्रतिपत्ति ३, उद्देशक २, पृ १६४-१७४ तथा ३८८-३९०

(ख) भगवती सूत्र, अ वृत्ति, पत्राक २०२

चतुर्थशतक

प्राथमिक

* व्याख्याप्रज्ञप्ति का यह चतुर्थ शतक है। इस शतक मे अत्यन्त सक्षेप मे, विशेषत अतिदेश द्वारा विषयो का निरूपण किया गया है।

* इस शतक के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ उद्देशक मे से प्रथम उद्देशक मे ईशानेन्द्र के सोम, यम, वैश्रमण और वरुण लोकपालो के क्रमश चार विमानो का नामोल्लेख करके प्रथम लोकपाल सोम महाराज के 'सुमन' नामक महाविमान की अवस्थिति एव तत्सम्बन्धी समग्र वक्तव्यता अतिदेश द्वारा कही गई है। शेष द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ उद्देशक मे ईशानेन्द्र के यम, वैश्रमण और वरुण नामक द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ लोकपाल के सर्वतोभद्र, वल्गु और सुवल्गु नामक महाविमान की अवस्थिति, परिमाण आदि का समग्र वर्णन पूर्ववत् अतिदेशपूर्वक किया गया है।

* पाचवे, छठे, सातवे और आठवे उद्देशक मे ईशानेन्द्र के चार लोकपालो की चार राजधानियो का पूर्ववत् अतिदेशपूर्वक वर्णन है।

* नौवे उद्देशक मे नैरयिको की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे प्रज्ञापना-सूत्र के[2] लेश्यापद की अतिदेशपूर्वक प्ररूपणा की गई है।

* दसवे उद्देशक मे लेश्याओ के प्रकार, परिणाम, वर्ण, रस, गन्ध, शुद्ध, अप्रशस्त-सक्लिष्ट, उष्ण, गति, परिणाम, प्रदेश, अवगाहना, वर्गणा, स्थान और अल्पबहुत्व आदि द्वारो के माध्यम से प्रज्ञापनासूत्र के लेश्यापद के[3] अतिदेशपूर्वक प्ररूपणा की गई है।

□□

---

१ (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) भाग-१, पृ-३६
(ख) श्रीमद्भगवतीसूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ-२

२ प्रज्ञापनासूत्र के १७ वें लेश्यापद का तृतीय उद्देशक देखिये।

३ प्रज्ञापनासूत्र के १७ वें लेश्यापद का चतुर्थ उद्देशक देखिए।

चउत्थं सयं : चतुर्थशतक

चतुर्थ शतक की संग्रहणी गाथा—

१ चत्तारि विमाणेहिं १-४, चत्तारि य होंति रायहाणीहिं ५-८ ।
नेरइए ९ लेस्साहिं १० य दस उद्देसा चउत्थसते ॥१॥

[१] गाथा का अर्थ—इस चौथे शतक मे दस उद्देशक है । इनमें से प्रथम चार उद्देशको मे विमान-सम्बन्धी कथन किया गया है । पाँचवे मे लेकर आठवे उद्देशक तक चार उद्देशको मे राजधानियो का वर्णन है । नौवे उद्देशक मे नैरयिको का वर्णन है और दसवे उद्देशक मे लेश्या के सम्बन्ध मे निरूपण है ।

पढम-बिइय-तइय-चउत्था उद्देसा :ईसाणलोगपालविमाणाणि

प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ उद्देशक : ईशानलोकपाल-विमान

ईशानेन्द्र के चार लोकपालो के विमान एवं उनके स्थान का निरूपण—

२ रायगिहे नगरे जाव एव वयासी—ईसाणस्स ण भते ! देविंदस्स देवरण्णो कति लोगपाला पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि लोगपाला पण्णत्ता, त जहा—सोमे जमे वेसमणे वरुणे ।

[२ प्र] राजगृह नगर मे, यावत् गौतम स्वामी ने इस प्रकार कहा—'भगवन् ! देवेन्द्र देवराज ईशान के कितने लोकपाल कहे गए हैं ?

[२ उ] हे गौतम ! उसके चार लोकपाल कहे गए हैं । वे इस प्रकार है—सोम, यम, वैश्रमण और वरुण ।

३ एतेसि ण भते ! लोगपालाण कति विमाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि विमाणा पण्णत्ता, त जहा—सुमणे सव्वतोभद्दे वग्गू सुवग्गू ।

[३ प्र] भगवन् ! इन लोकपालो के कितने विमान कहे गए है ?'

[३ उ] गौतम ! इनके चार विमान है, वे इस प्रकार है—सुमन, सर्वतोभद, वल्गु और सुवल्गु ।

४ कहि ण भते ! ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सुमणे नाम महाविमाणे पण्णत्ते ?

गोयमा ! जबुद्दीवे दीवे मदरस्स पव्वयस्स उत्तरेण इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए जाव ईसाणे णाम कप्पे पण्णत्ते । तत्थ ण जाव पच वडेंसया पण्णत्ता, त जहा—अकवडेंसए फलिहवडिंसए रयणवडेंसए जायरूववडिंसए, मज्झे यऽत्थ ईसाणवडेंसए । तस्स ण ईसाणवडेंसयस्स महाविमाणस्स पुरत्थिमेण

तिरियमसखेज्जाइं जोयणसहस्साइ वीतिवतित्ता तत्थ ण ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सुमणे नाम महाविमाणे पण्णत्ते, अद्धतेरसजोयण० जहा सक्कस्स वत्तव्वता ततियसते[1] तहा ईसाणस्स वि जाव अच्चणिया समत्ता।

[४ प्र.] भगवन्! देवेन्द्र देवराज ईशान के लोकपाल सोम महाराज का 'सुमन' नामक महाविमान कहाँ है?

[४ उ] गौतम! जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मन्दर-पर्वत के उत्तर मे इस रत्नप्रभा पृथ्वी के समतल से, यावत् ईशान नामक कल्प (देवलोक) कहा है। उसमे यावत् पाच अवतसक कहे है, वे इस प्रकार हैं—अकावतसक, स्फटिकावतंसक, रत्नावतसक, और जातरूपावतसक, इन चारो अवतसको के मध्य मे ईशानावतसक है। उस ईशानावतसक नामक महाविमान से पूर्व मे तिरछे असख्येय हजार योजन आगे जाने पर देवेन्द्र देवराज ईशान के लोकपाल सोम महाराज का 'सुमन' नामक महाविमान है। उसकी लम्बाई और चौडाई साढे बारह लाख योजन है। इत्यादि सारी वक्तव्यता तृतीय शतक (सप्तम उद्देशक) मे कथित शक्रेन्द्र (के लोकपाल सोम के महाविमान) की वक्तव्यता के समान यहाँ भी ईशानेन्द्र (के लोकपाल सोम के महाविमान) के सम्वन्ध मे यावत्-अर्चनिका समाप्तिपर्यन्त कहनी चाहिए।

५ चउण्ह वि लोगपालाण विमाणे विमाणे उद्देसओ। चउसु विमाणेसु चत्तारि उद्देसा अपरिसेसा। नवर ठितीए नाणत्तं—

आदि दुय तिभागूणा पलिया धणयस्स होंति दो चेव।
दो सतिभागा वरुणे पलियमहावच्चदेवाण ॥१॥

॥ चउत्थे सए पढम-बिइय-तइय-चउत्था उद्देसा समत्ता ॥

[५] (एक लोकपाल के विमान की वक्तव्यता जहाँ पूर्ण होती है, वहाँ एक उद्देशक समाप्त होता है।) इस प्रकार चारो लोकपालो मे से प्रत्येक के विमान की वक्तव्यता पूरी हो वहाँ एक-एक उद्देशक समझना। चारो (लोकपालो के चारो) विमानो की वक्तव्यता मे चार उद्देशक पूर्ण हुए समझना। विशेष यह है कि इनकी स्थिति मे अन्तर है। वह इस प्रकार है—आदि के दो—सोम और यम लोकपाल की स्थिति (आयु) त्रिभगन्यून दो-दो पल्योपम की है, वैश्रमण की स्थिति दो पल्योपम की है और वरुण की स्थिति त्रिभागसहित दो पल्योपम की है। अपत्यरूप देवो की स्थिति एक पल्योपम की है।

विवेचन—ईशानेन्द्र के चार लोकपालो के विमानो का निरूपण—प्रस्तुत चार उद्देशको मे चार सूत्रो द्वारा ईशानेन्द्र के सोम, यम, वैश्रमण और वरुण लोकपालो के चार विमान, उन चारों का स्थान, तथा चारो लोकपालो की स्थिति का निरूपण किया है। सू ४ मे सोम लोकपाल के सुमन नामक महाविमान के सम्बन्ध मे बतला कर प्रथम उद्देशक पूर्ण किया है, शेष तीन उद्देशकों मे दूसरे, तीसरे और चौथे लोकपाल के विमान की वक्तव्यता शक्रेन्द्र के इसी नाम के लोकपालो के विमानो की वक्तव्यता के समान अतिदेश (भलामण) करके एक एक उद्देशक पूर्ण किया।

॥ चतुर्थ शतक : प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१ तीसरे शतक का सातवाँ उद्देशक देखना चाहिए।

चउत्थं सयं : चतुर्थशतक

चतुर्थ शतक की संग्रहणी गाथा—

१ चत्तारि विमाणेहिं १-४, चत्तारि य होंति रायहाणीहिं ५-८ ।
नेरइए ९ लेस्साहि १० य दस उद्देसा चउत्थसते ॥१॥

[१] गाथा का अर्थ—इस चौथे शतक मे दस उद्देशक हैं । इनमे से प्रथम चार उद्देशको मे विमान-सम्बन्धी कथन किया गया है । पाँचवे मे लेकर आठवे उद्देशक तक चार उद्देशको मे राजधानियो का वर्णन है । नौवे उद्देशक मे नैरयिको का वर्णन है और दसवे उद्देशक मे लेश्या के सम्बन्ध मे निरूपण है ।

पढम-बिइय-तइय-चउत्था उद्देसा :ईसाणलोगपालविमाणाणि

प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ उद्देशक : ईशानलोकपाल-विमान

ईशानेन्द्र के चार लोकपालो के विमान एवं उनके स्थान का निरूपण—

२ रायगिहे नगरे जाव एव वयासी—ईसाणस्स ण भते ! देविंदस्स देवरण्णो कति लोगपाला पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि लोगपाला पण्णत्ता, त जहा—सोमे जमे वेसमणे वरुणे ।

[२ प्र] राजगृह नगर मे, यावत् गौतम स्वामी ने इस प्रकार कहा—'भगवन् ! देवेन्द्र देवराज ईशान के कितने लोकपाल कहे गए है ?

[२ उ] हे गौतम ! उसके चार लोकपाल कहे गए हैं । वे इस प्रकार है—सोम, यम, वैश्रमण और वरुण ।

३ एतेसि ण भते ! लोगपालाण कति विमाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि विमाणा पण्णत्ता, त जहा—सुमणे सव्वतोभद्दे वग्गू सुवग्गू ।

[३ प्र.] भगवन् ! इन लोकपालो के कितने विमान कहे गए है ?'

[३ उ] गौतम ! इनके चार विमान है, वे इस प्रकार है—सुमन, सर्वतोभद, वल्गु और सुवल्गु ।

४ कहि ण भते ! ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सुमणे नाम महाविमाणे पण्णत्ते ?

गोयमा ! जबुद्दीवे दीवे मदरस्स पव्वयस्स उत्तरेण इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए जाव ईसाणे णाम कप्पे पण्णत्ते । तत्थ ण जाव पच वडेंसया पण्णत्ता, त जहा—अकवडेंसए फलिहवडिंसए रयणवडेंसए जायरूववडिंसए, मज्झे यऽत्थ ईसाणवडेंसए । तस्स ण ईसाणवडेंसयस्स महाविमाणस्स पुरत्थिमेण

तिरियमसखेज्जाइं जोयणसहस्साइ वीतिवतित्ता तत्थ णं ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सुमणे नाम महाविमाणे पण्णत्ते, अद्धतेरसजोयण० जहा सक्कस्स वत्तव्वता ततियसते[1] तहा ईसाणस्स वि जाव अच्चणिया समत्ता।

[४ प्र.] भगवन्! देवेन्द्र देवराज ईशान के लोकपाल सोम महाराज का 'सुमन' नामक महाविमान कहाँ है ?

[४ उ] गौतम! जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मन्दर-पर्वत के उत्तर मे इस रत्नप्रभा पृथ्वी के समतल से, यावत् ईशान नामक कल्प (देवलोक) कहा है। उसमे यावत् पाच अवतसक कहे है, वे इस प्रकार हैं—अकावतसक, स्फटिकावतसक, रत्नावतसक, और जातरूपावतसक, इन चारो अवतसको के मध्य मे ईशानावतसक है। उस ईशानावतसक नामक महाविमान से पूर्व मे तिरछे असख्येय हजार योजन आगे जाने पर देवेन्द्र देवराज ईशान के लोकपाल सोम महाराज का 'सुमन' नामक महाविमान है। उसकी लम्बाई और चौडाई साढे वारह लाख योजन है। इत्यादि सारी वक्तव्यता तृतीय शतक (सप्तम उद्देशक) मे कथित शक्रेन्द्र (के लोकपाल सोम के महाविमान) की वक्तव्यता के समान यहाँ भी ईशानेन्द्र (के लोकपाल सोम के महाविमान) के सम्बन्ध मे यावत्-अर्चनिका समाप्तिपर्यन्त कहनी चाहिए।

५ चउण्ह वि लोगपालाण विमाणे विमाणे उद्देसओ। चउसु विमाणेसु चत्तारि उद्देसा अपरिसेसा। नवरं ठितीए नाणत्तं—

आदि दुय तिभागूणा पलिया धणयस्स होंति दो चेव।
दो सतिभागा वरुणे पलियमहावच्चदेवाण ॥१॥

॥ चउत्थे सए पढम-बिइय-तइय-चउत्था उद्देसा समत्ता ॥

[५] (एक लोकपाल के विमान की वक्तव्यता जहाँ पूर्ण होती है, वहाँ एक उद्देशक समाप्त होता है।) इस प्रकार चारो लोकपालो मे से प्रत्येक के विमान की वक्तव्यता पूरी हो वहाँ एक-एक उद्देशक समझना। चारो (लोकपालो के चारो) विमानो की वक्तव्यता मे चार उद्देशक पूर्ण हुए समझना। विशेष यह है कि इनकी स्थिति मे अन्तर है। वह इस प्रकार है—आदि के दो—सोम और यम लोकपाल की स्थिति (आयु) त्रिभगन्यून दो-दो पल्योपम की है, वैश्रमण की स्थिति दो पल्योपम की है और वरुण की स्थिति त्रिभागसहित दो पल्योपम की है। अपत्यरूप देवो की स्थिति एक पल्योपम की है।

विवेचन—ईशानेन्द्र के चार लोकपालो के विमानो का निरूपण—प्रस्तुत चार उद्देशकों मे चार सूत्रो द्वारा ईशानेन्द्र के सोम, यम, वैश्रमण और वरुण लोकपालो के चार विमान, उन चारों का स्थान, तथा चारो लोकपालो की स्थिति का निरूपण किया है। सू ४ मे सोम लोकपाल के सुमन नामक महाविमान के सम्बन्ध मे बतला कर प्रथम उद्देशक पूर्ण किया है, शेष तीन उद्देशको मे दूसरे, तीसरे और चौथे लोकपाल के विमान की वक्तव्यता शक्रेन्द्र के इसी नाम के लोकपालो के विमानो की वक्तव्यता के समान अतिदेश (भलामण) करके एक एक उद्देशक पूर्ण किया।

॥ चतुर्थ शतक : प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१ तीसरे शतक का सातवाँ उद्देशक देखना चाहिए।

पंचम-छट्ठ-सत्तम-अट्ठमा उद्देसा : ईसाणलोगपालरायहाणी

पचम-ष्ठट-सप्तम-अष्टम उद्देशक : ईशान-लोकपाल-राजधानी

ईशानेन्द्र के लोकपालो की चार राजधानियो का वर्णन—

१. रायहाणीसु वि चत्तारि उद्देसा भाणियव्वा जाव एमहिड्ढीए जाव वरुणे महाराया।

॥ चउत्थे सए पच-छट्ठ-सत्तम-अट्ठमा उद्देसा समत्ता ॥

[१] चारो लोकपालो की राजधानियो के चार उद्देशक कहने चाहिए। (अर्थात् एक-एक लोकपाल की राजधानी सम्बन्धी वर्णन पूर्ण होने पर एक-एक उद्देशक पूर्ण हुआ समझना चाहिए। इस तरह चारो राजधानियो के वर्णन मे चार उद्देशक पूर्ण हुए। यो क्रमश पाचवें से लेकर आठवाँ उद्देशक) यावत् वरुण महाराज इतनी महाऋद्धि वाले यावत् (इतनी विकुर्वणाशक्ति वाले हैं,) (यहाँ तक चार उद्देशक पूर्ण होते है।)

विवेचन—चार उद्देशको मे चार लोकपालो की चार राजधानियो का वर्णन—प्रस्तुत चार उद्देशको (पाचवे से आठवे तक) का वर्णन एक ही सूत्र मे अतिदेशपूर्वक कर दिया गया है।

चार राजधानियो के क्रमश चार उद्देशक कैसे और कौन-से ?—जीवाभिगमसूत्र मे वर्णित विजय राजधानी के वर्णक के समान चार राजधानियो के चार उद्देशको का वर्णन इस प्रकार करना चाहिए—

[प्र] भगवन्! देवेन्द्र देवराज ईशान के लोकपाल सोम महाराज की सोमा नामक राजधानी कहाँ है ?

[उ] हे गौतम! वह (राजधानी) सुमन नामक महाविमान के ठीक नीचे है, इत्यादि सारा वर्णन इसी प्रकार कहना चाहिए।

इसी प्रकार क्रमश एक-एक राजधानी के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तरपूर्वक वर्णन करके शेष तीनो लोकपालो की राजधानी-सम्बन्धी एक-एक उद्देशक कहना चाहिए।[1]

॥ चतुर्थ शतक : पंचम-षष्ठ-सप्तम-अष्टम उद्देशक समाप्त ॥

---

१ 'रायहाणीसु चत्तारि उद्देसा भाणियव्वा', ते चैवम्—'कहिं ण भते! ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सोमा नाम रायहाणी पण्णत्ता ?' 'गोयमा! सुमणस्स महाविमाणस्स अहे, सपक्खि ' इत्यादि पूर्वोक्तानुसारेण जीवाभिगमोक्तविजयराजधानीवर्णकाऽनुसारेण च एकैक उद्देशकोऽध्येतव्य।—भगवती० अ० वृत्ति, पत्राक २०३ (—जीवाभिगम० पृ० २१७-२१९)

नवमो उद्देसो : नेरइअं

नवम उद्देशक : नैरयिक

नैरयिको की उत्पत्तिप्ररूपणा—

१ नेरइए ण भंते ! नेरतिएसु उववज्जइ ? अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ ?

पण्णवणाए लेस्सापदे ततिओ उद्देसओ भाणियव्वो जाव नाणाइ ।

॥ चउत्थे सए नवमो उद्देसो समत्तो ॥

[१ प्र] भगवन् ! जो नैरयिक है, क्या वह नैरयिको मे उत्पन्न होता है, या जो अनैरयिक है, वह नैरयिको मे उत्पन्न होता है ?

[१ उ] (हे गौतम !) प्रज्ञापनासूत्र मे कथित लेश्यापद का तृतीय उद्देशक यहाँ कहना चाहिए, और वह यावत् ज्ञानो के वर्णन तक कहना चाहिए ।

विवेचन—नैरयिको मे नैरयिक उत्पन्न होता है या अनैरयिक ? शका-समाधान—प्रस्तुत सूत्र मे नैरयिको की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे प्रश्न करने पर शास्त्रकार ने उत्तर मे प्रज्ञापना सूत्र के १७ वें लेश्यापद के तृतीय उद्देशक का अतिदेश किया है। वह इस प्रकार है—(प्र) 'भगवन् ! क्या नैरयिक ही नैरयिको मे उत्पन्न होता है या अनैरयिक नैरयिको मे उत्पन्न होता है ?' (उ) गौतम ! नैरयिक ही नैरयिको मे उत्पन्न होता है, अनैरयिक नैरयिको मे उत्पन्न नही होता ।'

इस कथन का आशय—यहाँ से मर कर नरक मे उत्पन्न होने वाले जीव की तिर्यञ्च या मनुष्य-सम्बन्धी आयु तो यही समाप्त हो जाती है, सिर्फ नरकायु ही बधी हुई होती है । यहां मर कर नरक मे पहुँचते हुए मार्ग मे जो एक-दो आदि समय लगते हैं, वे उसकी नरकायु मे से ही कम होते है। इस प्रकार नरकगामी जीव मार्ग मे भी नरकायु को भोगता है, इसलिए वह नैरयिक ही है । ऋजुसूत्रनय की वर्तमानपर्यायपरक दृष्टि से भी यह कथन सर्वथा उचित है कि नैरयिक ही नैरयिको मे उत्पन्न होता है, अनैरयिक नही ।

इसी तरह शेष दण्डको के जीवो की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जान लेना चाहिए ।[१]

कहाँ तक ?—प्रज्ञापनासूत्र के लेश्यापद का तीसरा उद्देशक ज्ञानसम्बन्धी वर्णन तक कहना चाहिए । वह वहाँ इस प्रकार से प्रतिपादित है—(प्र) भगवन् ! कृष्णलेश्या वाला जीव कितने ज्ञान

---

१ (क) प्रज्ञापना सूत्र पद १७ उ ३ (पृ २८७ म वि) मे देखें—"गोयमा ! नेरइए नेरइएसु उववज्जइ, नो अणेरइए णेरइएसु उववज्जइ' इत्यादि ।

(ख) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २०५

वाला होता है ?'—(उ) गौतम ! वह दो ज्ञान, तीन ज्ञान या चार ज्ञान वाला होता है। यदि दो ज्ञान हो तो—मति और श्रुत होते है, तीन ज्ञान हो तो मति, श्रुत और अवधि अथवा मति, श्रुत और मन पर्यायज्ञान होते है, यदि चार ज्ञान हो तो मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यायज्ञान होते है, इत्यादि जानना चाहिए।[1]

॥ चतुर्थ शतक . नवम उद्देशक समाप्त ॥

---

१ (क) कण्हलेस्से ण भते ! जीवे कइसु (कयरेसु) नाणेसु होज्जा ? गोयमा ! दोसु वा, तिसु वा, चउसु वा नाणेसु होज्जा। दोसु होज्जमाणे आभिणिबोहिअ-सुअणाणेसु होज्जा, 'इत्यादि।

—प्रज्ञापना पद १७ उ-३ (पृ २९१ म वि)

(ख) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २०५

ा० उद्देसो : लेस्सा

दशम उद्देशक : लेश्या

लेश्याओ का परिणमनादि पन्द्रह द्वारो से निरूपण—

१ से नूण भते ! कण्हलेस्सा नीललेस्स पप्प ताख्वत्ताए तावण्णत्ताए० ?

एव चउत्थो उद्देसओ पण्णवणाए चेव लेस्सापदे नेयव्वो जाव—

परिणाम-वण्ण-रस-गध-सुद्ध-अपसत्थ-सकिलिट्ठुण्हा—
गति-परिणाम-पदेसोगाह-वग्गणा-ठाणमप्पबहु ॥१॥

सेव भते ! सेव भते ! त्ति० ।

॥ चउत्थे सए दसमो उद्देसो समत्तो ॥

॥ चउत्थ सय समत्त ॥

[१ प्र] भगवन् ! क्या कृष्णलेश्या नीललेश्या का सयोग पाकर तद्रूप और तद्वर्ण मे परिणत हो जाती है ?

[१ उ] (हे गौतम !) प्रज्ञापना सूत्र मे उक्त लेश्यापद का चतुर्थ उद्देशक यहाँ कहना चाहिए, और वह यावत् परिणाम इत्यादि द्वार-गाथा तक कहना चाहिए। गाथा का अर्थ इस प्रकार है—

परिणाम, वर्ण, रस, गन्ध, शुद्ध, अप्रशस्त, सक्लिष्ट, उष्ण, गति, परिणाम, प्रदेश, अवगाहना, वर्गणा, स्थान और अल्पबहुत्व, (ये सब बाते लेश्याओ के सम्बन्ध मे कहनी चाहिए।)

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', (यो कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरण करते हैं।)

विवेचन—लेश्याओ का परिणमनादि पन्द्रह द्वारो से निरूपण—प्रस्तुत सूत्र मे एक लेश्या को दूसरी लेश्या का सयोग प्राप्त होने पर वह उक्त लेश्या के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शरूप मे परिणत होती है या नही ? इस प्रश्न को उठाकर उत्तर के रूप मे प्रज्ञापना के लेश्यापद के चतुर्थ उद्देशक (परिणामादि द्वारो तक) का अतिदेश किया गया है। वस्तुत लेश्या से सम्बन्धित परिणामादि १५ द्वारो की प्ररूपणा का अतिदेश किया गया है।

अतिदेश का सारांश—प्रज्ञापना मे उक्त मूलपाठ का भावार्थ इस प्रकार है—(प्र) 'भगवन् ! क्या कृष्णलेश्या नीललेश्या (के सयोग) को प्राप्त करके तद्रूप यावत् तत्स्पर्श रूप मे बारबार परिणत होती है।'

इसका तात्पर्य यह है कि कृष्णलेश्यापरिणामी जीव, यदि नीललेश्या के योग्य द्रव्यो को ग्रहण करके मृत्यु पाता है, तब वह जिस गति-योनि मे उत्पन्न होता है, वहा नीलेश्या-परिणामी होकर उत्पन्न होता है क्योकि कहा है—'जल्लेसाइ दव्वाइ परियाइत्ता काल करेइ, तल्लेसे उववज्जइ' अर्थात्-'जिस लेश्या के द्रव्यो को ग्रहण करके जीव मृत्यु पाता है, उसी लेश्या वाला होकर उत्पन्न होता है।' जो कारण होता है, वही सयोगवश कार्यरूप बन जाता है। जैसे—कारणरूप मिट्टी साधन-सयोग से घटादि कार्यरूप बन जाती है, वैसे ही कृष्णलेश्या भी कालान्तर मे साधन-सयोगो को पाकर नीललेश्या के रूप मे परिणत (परिवर्तित) हो जाती है। ऐसी स्थिति मे कृष्ण और नीललेश्या मे सिर्फ औपचारिक भेद रह जाता है, मौलिक भेद नही।

प्रज्ञापना मे एक लेश्या का लेश्यान्तर को प्राप्त कर तद्रूप यावत् तत्स्पर्शरूप मे परिणत होने का कारण पूछने पर बताया गया है—जिस प्रकार छाछ का सयोग मिलने दूध अपने मधुरादि गुणो को छोडकर छाछ के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के रूप मे परिवर्तित हो जाता है, अथवा जैसे स्वच्छ वस्त्र रग के सयोग से उस रग के रूप, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श-रूप मे परिणत हो जाता है, वैसे ही कृष्णलेश्या भी नीललेश्या का सयोग पा कर तद्रूप या तत्स्पर्शरूप मे परिणत हो जाती है। जैसे कृष्णलेश्या का नीललेश्या मे परिणत होने का कहा, वैसे ही नीललेश्या कापोतलेश्या को, कापोत तेजोलेश्या को, तेजोलेश्या पद्मलेश्या को तथा पद्मलेश्या शुक्ललेश्या को पाकर उसके रूप, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शरूप मे परिणत हो जाती है, इत्यादि सब कहना चाहिए।[1]

परिणामादि द्वार का तात्पर्य—लेश्यापद के चतुर्थ उद्देशक मे परिणामादि १५ द्वारो का यहाँ अतिदेश किया गया है, उसका तात्पर्य यह है—**परिणाम द्वार** के विषय मे ऊपर कह दिया गया है। **वर्णद्वार**—कृष्णलेश्या का वर्ण मेघादि के समान काला, नीललेश्या का भ्रमर आदिवत् नीला, कापोत-लेश्या का वर्ण खैरसार (कत्थे) के समान कापोत, तेजोलेश्या का शशक के रक्त के समान लाल, पद्मलेश्या का चम्पक पुष्प आदि के समान पीला और शुक्ललेश्या का शखादि के समान श्वेत है। **रसद्वार**—कृष्णलेश्या का रस नीम के वृक्ष के समान तिक्त (कटु), नीललेश्या का सोठ आदि के समान तीखा, कापोतलेश्या का कच्चे बेर के समान कसैला, तेजोलेश्या का पके हुए आम के समान खटमीठा, पद्मलेश्या का चन्द्रप्रभा आदि मदिरा के समान तीखा, कसैला और मधुर (तीनो सयुक्त) है, तथा शुक्ललेश्या का रस गुड के समान मधुर है। **गन्धद्वार**—कृष्ण, नील और कापोत, ये तीन लेश्याएँ दुरभिगन्ध वाली है, और तेजो, पद्म एव शुक्ल ये तीन लेश्याएँ सुरभिगन्ध वाली है। **शुद्ध-प्रशस्त सक्लिष्ट-उष्णादिद्वार**—कृष्ण, नील और कापोत, ये तीन लेश्याएँ अशुद्ध, अप्रशस्त, सक्लिष्ट, शीत

---

१ (क) 'से णूण भते ! कण्हलेस्सा नीललेस्स पप्प तारूवत्ताए, तावण्णत्ताए, तागधत्ताए, तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति ?' 'हता गोयमा ! कण्हलेस्सा नीललेस्स पप्प तारूवत्ताए जाव ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति।' से केणट्ठेण भते एव वुच्चइ-कण्हलेस्सा जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति ?' 'गोयमा ! से जहानामए खीरे दूसि पप्प, सुद्धे वा वत्थे राग पप्प तारूवत्ताए जाव ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ, से एएणट्ठेण गोयमा ! एव वुच्चइ—कण्हलेस्सा इत्यादि।'

—प्रज्ञापना० लेश्यापद १७, उ-४

(ख) भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक २०५

और रुक्ष है, तथा दुर्गति की कारण है। तेजो, पद्म और शुक्ल, ये तीन लेश्याएँ शुद्ध, प्रशस्त, असक्लिष्ट, उष्ण और स्निग्ध है, तथा सुगति की कारण हैं। **परिणाम-प्रदेश-वर्गणा-अवगाहना-स्थानादि द्वार**—लेश्याओ के तीन परिणाम—जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट। इनके भी तीन-तीन भेद करने से नौ इत्यादि भेद होते है। प्रत्येक लेश्या अनन्त प्रदेशवाली है। प्रत्येक लेश्या की अवगाहना असस्यात आकाश प्रदेशो मे है। कृष्णादि छहो लेश्याओ के योग्य द्रव्यवर्गणाए औदारिक आदि वर्गणाओ की तरह अनन्त है। तरतमता के कारण विचित्र अध्यवसायो के निमित्त रूप कृष्णादिद्रव्यो के समूह असख्य है, क्योकि अध्यवसायो के स्थान भी असख्य है। **अल्पबहुत्वद्वार**—लेश्याओ के स्थानो का अल्पबहुत्व इस प्रकार है—द्रव्यार्थरूप से कापोतलेश्या के जघन्य स्थान सबसे थोडे है, द्रव्यार्थरूप से नीललेश्या के जघन्य स्थान उससे असख्य गुणे है, द्रव्यार्थरूप से कृष्णलेश्या के जघन्य स्थान असख्य-गुणे हैं, द्रव्यार्थरूप से तेजोलेश्या के जघन्य स्थान उससे असख्य गुणे है और द्रव्यार्थरूप से पद्मलेश्या के जघन्य स्थान उससे असख्य गुणे है और द्रव्यार्थरूप से शुक्ललेश्या के जघन्य स्थान उससे भी असख्यगुणे हैं।

इत्यादिरूप से सभी द्वारो का वर्णन प्रज्ञापनासूत्रोक्त लेश्यापद के चतुर्थ उद्देशक के अनुसार जानना चाहिए।[1]

॥ चतुर्थ शतक : दशम उद्देशक समाप्त ॥

चतुर्थ शतक सम्पूर्ण

---

१ (क) देखिये—प्रज्ञापना० मलयगिरि टीका, पद १७, उ ४ मे परिणामादि द्वार की व्याख्या।
(ख) भगवती सूत्र, अ वृत्ति, पत्राक २०५-२०६

इसका तात्पर्य यह है कि कृष्णलेश्यापरिणामी जीव, यदि नीललेश्या के योग्य द्रव्यो, को ग्रहण करके मृत्यु पाता है, तब वह जिस गति-योनि मे उत्पन्न होता है, वहा नीलेश्या-परिणामी होकर उत्पन्न होता है क्योकि कहा है—'जल्लेसाइ दव्वाइ परियाइत्ता काल करेइ, तल्लेसे उववज्जइ' अर्थात्-'जिस लेश्या के द्रव्यो को ग्रहण करके जीव मृत्यु पाता है, उसी लेश्या वाला होकर उत्पन्न होता है।' जो कारण होता है, वही सयोगवश कार्यरूप बन जाता है। जैसे—कारणरूप मिट्टी साधन-सयोग से घटादि कार्यरूप बन जाती है वैसे ही कृष्णलेश्या भी कालान्तर मे साधन-सयोगो को पाकर नीललेश्या के रूप मे परिणत (परिवर्तित) हो जाती है। ऐसी स्थिति मे कृष्ण और नीललेश्या मे सिर्फ औपचारिक भेद रह जाता है, मौलिक भेद नही।

प्रज्ञापना मे एक लेश्या का लेश्यान्तर को प्राप्त कर तद्रूप यावत् तत्स्पर्शरूप मे परिणत होने का कारण पूछने पर बताया गया है—जिस प्रकार छाछ का सयोग मिलने दूध अपने मधुरादि गुणो को छोडकर छाछ के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के रूप मे परिवर्तित हो जाता है, अथवा जैसे स्वच्छ वस्त्र रग के सयोग से उस रग के रूप, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श-रूप मे परिणत हो जाता है, वैसे ही कृष्णलेश्या भी नीललेश्या का सयोग पा कर तद्रूप या तत्स्पर्शरूप मे परिणत हो जाती है। जैसे कृष्णलेश्या का नीललेश्या मे परिणत होने का कहा, वैसे ही नीललेश्या कापोतलेश्या को, कापोत तेजोलेश्या को, तेजोलेश्या पद्मलेश्या को तथा पद्मलेश्या शुक्ललेश्या को पाकर उसके रूप, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शरूप मे परिणत हो जाती है, इत्यादि सब कहना चाहिए।[1]

परिणामादि द्वार का तात्पर्य—लेश्यापद के चतुर्थ उद्देशक मे परिणामादि १५ द्वारो का यहाँ अतिदेश किया गया है, उसका तात्पर्य यह है—परिणाम द्वार के विषय मे ऊपर कह दिया गया है।' **वर्णद्वार**—कृष्णलेश्या का वर्ण मेघादि के समान काला, नीललेश्या का भ्रमर आदिवत् नीला, कापोत-लेश्या का वर्ण खैरसार (कत्थे) के समान कापोत, तेजोलेश्या का शशक के रक्त के समान लाल, पद्मलेश्या का चम्पक पुष्प आदि के समान पीला और शुक्ललेश्या का शखादि के समान श्वेत है। **रसद्वार**—कृष्णलेश्या का रस नीम के वृक्ष के समान तिक्त (कटु), नीललेश्या का सोठ आदि के समान तीखा, कापोतलेश्या का कच्चे बेर के समान कसैला, तेजोलेश्या का पके हुए आम के समान खटमीठा, पद्मलेश्या का चन्द्रप्रभा आदि मदिरा के समान तीखा, कसैला और मधुर (तीनो सयुक्त) है, तथा शुक्ललेश्या का रस गुड के समान मधुर है। **गन्धद्वार**—कृष्ण, नील और कापोत, ये तीन लेश्याएँ दुरभिगन्ध वाली है, और तेजो, पद्म एव शुक्ल ये तीन लेश्याएँ सुरभिगन्ध वाली है। **शुद्ध-प्रशस्त सक्लिष्ट-उष्णादिद्वार**—कृष्ण, नील और कापोत, ये तीन लेश्याएँ अशुद्ध, अप्रशस्त, सक्लिष्ट, शीत

---

१ (क) 'से णूण भते ! कण्हलेस्सा नीललेस्स पप्प तारूवत्ताए, तावण्णत्ताए, तागधत्ताए, तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति ?' 'हता गोयमा ! कण्हलेस्सा नीललेस्स पप्प तारूवत्ताए जाव ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति।' से केणट्ठेण भते एव वुच्चइ-कण्हलेस्सा जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति ?' 'गोयमा ! से जहानामए खीरे दूसि पप्प, सुद्धे वा वत्थे राग पप्प तारूवत्ताए जाव ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ, से एएणट्ठेण गोयमा ! एव वुच्चइ—कण्हलेस्सा इत्यादि।'

—प्रज्ञापना० लेश्यापद १७, उ-४

(ख) भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक २०५

और रुक्ष है, तथा दुर्गति की कारण है। तेजो, पद्म और शुक्ल, ये तीन लेश्याएँ शुद्ध, प्रशस्त, असंक्लिष्ट, उष्ण और स्निग्ध हैं, तथा सुगति की कारण हैं। **परिणाम-प्रदेश-वर्गणा-अवगाहना-स्थानादि द्वार**—लेश्याओं के तीन परिणाम—जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट। इनके भी तीन-तीन भेद करने से नौ इत्यादि भेद होते है। प्रत्येक लेश्या अनन्त प्रदेशवाली है। प्रत्येक लेश्या की अवगाहना असंख्यात आकाश प्रदेशो मे है। कृष्णादि छहो लेश्याओ के योग्य द्रव्यवर्गणाए औदारिक आदि वर्गणाओ की तरह अनन्त है। तरतमता के कारण विचित्र अध्यवसायो के निमित्त रूप कृष्णादिद्रव्यो के समूह असंख्य है, क्योकि अध्यवसायो के स्थान भी असंख्य है। **अल्पबहुत्वद्वार**—लेश्याओ के स्थानो का अल्पबहुत्व इस प्रकार है—द्रव्यार्थरूप से कापोतलेश्या के जघन्य स्थान सबसे थोडे है, द्रव्यार्थरूप से नीललेश्या के जघन्य स्थान उससे असंख्य गुणे है, द्रव्यार्थरूप से कृष्णलेश्या के जघन्य स्थान असंख्य-गुणे हैं, द्रव्यार्थरूप से तेजोलेश्या के जघन्य स्थान उससे असंख्य गुणे है और द्रव्यार्थरूप से पद्मलेश्या के जघन्य स्थान उससे असंख्य गुणे हैं और द्रव्यार्थरूप से शुक्ललेश्या के जघन्य स्थान उससे भी असंख्यगुणे है।

इत्यादिरूप से सभी द्वारो का वर्णन प्रज्ञापनासूत्रोक्त लेश्यापद के चतुर्थ उद्देशक के अनुसार जानना चाहिए।[1]

।। चतुर्थ शतक दशम उद्देशक समाप्त ।।

चतुर्थ शतक सम्पूर्ण

---

१ (क) देखिये—प्रज्ञापना० मलयगिरि टीका, पद १७, उ ४ मे परिणामादि द्वार की व्याख्या।
(ख) भगवती सूत्र, अ वृत्ति, पत्रांक २०५-२०६

पंचमं सयं : पंचम शतक

प्राथमिक

* व्याख्याप्रज्ञप्ति—भगवती सूत्र का यह पचम शतक है ।

* इस शतक मे सूर्य, चन्द्रमा, छद्मस्थ एव केवली की ज्ञानशक्ति, शब्द, आयुष्य वृद्धि-हानि आदि कई महत्त्वपूर्ण विपयो पर प्रकाश डाला गया है ।

* इस शतक के भी दस उद्देशक है ।

* प्रथम उद्देशक के प्ररूपण स्थान—चम्पानगरी का वर्णन करके विभिन्न दिशाओ-विदिशाओ से सूर्य के उदय-अस्त का एव दिन-रात्रि का प्ररूपण है । फिर जम्बूद्वीप मे दिवस-रात्रि कालमान का विविध दिशाओ एव प्रदेशो मे ऋतु से लेकर उत्सर्पिणीकाल तक के अस्तित्व का तथा लवण-समुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि एव पुष्करार्द्ध मे सूर्य के उदयास्त आदि का विचार किया गया है।

* द्वितीय उद्देशक मे विविध पहलुओ से चतुर्विध वायु का, चावल आदि की पूर्व-पश्चादवस्था का, अस्थि, अगार आदि की पूर्व-पश्चादवस्था का, तथा लवण-समुद्र की लम्बाई-ऊँचाई सस्थान आदि का निरूपण है ।

* तृतीय उद्देशक मे एक जीव द्वारा एक समय मे इह-पर (उभय) भव सम्बन्धी आयुष्यवेदन के मत का निराकरण करके यथार्थ प्ररूपणा तथा चौबीस दण्डको और चतुर्विध योनियो की अपेक्षा आयुष्य-सम्बन्धी विचारणा की गई है ।

* चतुर्थ उद्देशक मे छद्मस्थ और केवली की शब्दश्रवणसम्बन्धी सीमा तथा हास्य-औत्सुक्य, निद्रा, प्रचला सम्बन्धी विचारणा की गई है। फिर हरिणैगमैषी देव द्वारा गर्भापहरण का, अतिमुक्तक कुमारश्रमण की बालचेष्टा एव भगवत्समाधान का, देवो के मनोगत प्रश्न का भगवान् द्वारा मनोगत समाधान का, देवो को 'नो-सयत' कहने का, देवभाषा का, केवली और छद्मस्थ के अन्तकर आदि का, केवली के प्रशस्त मन-वचन का, उनके मन-वचन को जानने मे समर्थ वैमानिक देव का, अनुत्तरोपपातिक देवो के असीम-मन सामर्थ्य तथा उपशान्तमोहत्व का, केवली के अतीन्द्रियप्रत्यक्ष का, अवगाहन सामर्थ्य का तथा चतुर्दशपूर्वधारी के लब्धि-सामर्थ्य का निरूपण है ।

* पचम उद्देशक मे सर्वप्राणियो के एवम्भूत-अनेवम्भूत वेदन का, तथा जम्बूद्वीप मे हुए कुलकर, तीर्थंकर आदि श्लाघ्य पुरुषो का वर्णन है ।

* छठे उद्देशक मे अल्पायु-दीर्घायु के कारणभूत कर्मबन्ध के कारणो का, विक्रेता-क्रेता को किराने से सम्बन्धित लगने वाली क्रियाओ का, अग्निकाय के महाकर्म-अल्पकर्म युक्त होने का, धनुर्धर तथा धनुष-सम्बन्धित जीवो को उनसे लगने वाली क्रियाओ का, नैरयिक विकुर्वणा का, आधाकर्मादि दोषसेवी साधु का, आचार्य-उपाध्याय के सिद्धिगमन का तथा मिथ्याभ्याख्यानी के दुष्कर्मबन्ध का प्ररूपण किया गया है ।

* सातवें उद्देशक मे परमाणु और स्कन्धो के कम्पन, अवगाहन, प्रवेश तथा सार्धादि का एवं उनके परस्पर स्पर्श का द्रव्यादिगत पुद्गलो की कालापेक्षया स्थिति, अन्तरकाल, अल्पबहुत्व का, चौवीस दण्डक के जीवो के आरम्भ-परिग्रह का पचहेतु-अहेतु का निरूपण है ।

* आठवें उद्देशक मे द्रव्यादि की अपेक्षा सप्रदेशता-अप्रदेशता की, ससारी एव सिद्ध जोवो को वृद्धि हानि और अवस्थिति के कालमान की, उनके सोपचयादि की प्ररूपणा है ।

* नवें उद्देशक मे राजगृह-स्वरूप, समस्त जीवो के उद्योत-अन्धकार तथा समयादि कालज्ञान का, पार्श्वापत्यो द्वारा लोकसम्बन्धी समाधान का एव देवो के भेद-प्रभेदो का वर्णन है ।

* दसवें उद्देशक मे चम्पा मे वर्णित चन्द्रमा के उदय-अस्त आदि का अतिदेशपूर्वक वर्णन है ।[१]

---

१ (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा-१ (विसयाणुक्कमो) पृ ३६ से ४०
(ख) भगवतीसूत्र टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त खण्ड २, विषयसूची पृ ३ से ५ तक

पंचमं सयं : पंचम शतक

पंचम शतक की संहग्रणी गाथा—

> १ चप रवि १ अणिल २ गठिय ३ सद्दे ४ छउमायु ५-६ एयण ७ णियंठे ८ ।
> रायगिह ९ चपाचंदिमा १० य दस पचमम्मि सते ।।१।।

[१] (गाथा का अर्थ)—पाचवे शतक मे ये दस उद्देशक हैं—प्रथम उद्देशक मे चम्पा नगरी मे सूर्य सम्बन्धी प्रश्नोत्तर है। द्वितीय उद्देशक मे वायु-सम्बन्धी प्ररूपण है। तृतीय उद्देशक मे जाल-ग्रन्थी का उदाहरण देकर तथ्य का निरूपण किया है। चतुर्थ उद्देशक मे शब्द-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर है। पचम उद्देशक मे छद्मस्थ के सम्बन्ध मे वर्णन है। छठे उद्देशक मे आयुष्य की वृद्धि-हानि-सम्बन्धी निरूपण है। सातवे उद्देशक मे पुद्गलो के कम्पन का वर्णन है। आठवे उद्देशक मे निर्ग्रन्थी-पुत्र अनगार द्वारा पदार्थ-विषयक विचार किया है। नौवें उद्देशक मे राजगृह नगर सम्बन्धी पर्यालोचन है और चम्पानगरी मे वर्णित चन्द्रमा-सम्बन्धी प्ररूपणा है।

पढ ाे उद्देसओ : रवि

प्रथम उद्देशक : रवि

प्रथम उद्देशक का प्ररूपणा-स्थान : चम्पानगरी—

२ तेण कालेण तेण समएण चपा नाम नगरी होत्था।[1] वण्णओ। तोसे ण चपाए नगरीए पुण्णभद्दे नामे चेतिए होत्था।[1] वण्णओ। सामी समोसढे जाव[2] परिसा पडिगता।

[२] उस काल और समय मे चम्पा नाम की नगरी थी। उसका वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार जानना चाहिए। उस चम्पा नगरी के बाहर पूर्णभद्र नाम का चैत्य (व्यन्तरायतन) था। उसका भी वर्णन औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए। (एक बार) वहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे, (समवसरण लगा) यावत् परिषद् भगवान् को वन्दन करने और उनका धर्मोपदेश सुनने के लिए गई और यावत् परिषद् वापस लौट गई।

विवेचन—प्रथम उद्देशक का प्ररूपण-स्थान : चम्पानगरी—प्रस्तुत सूत्र मे प्रथम उद्देशक के उपोद्घात मे चम्पानगरी मे, पूर्णभद्र नामक व्यन्तरायतन मे भगवान् महावीर के पदार्पण, समवसरण, दर्शन-वन्दनार्थ परिषद् का आगमन तथा धर्मोपदेश श्रवण के पश्चात् पुन गमन आदि

---

१ चम्पानगरी और पूर्णभद्र चैत्य का वर्णन औपपातिक सूत्र से जान लेना।

२ यहाँ जाव शब्द से परिषद्-निर्गमन से लेकर प्रतिगमन तक सारा वर्णन पूर्ववत्।

का सक्षिप्त दिग्दर्शन कराया गया है, ताकि पाठक यह स्पष्टतया समझ सके कि प्रथम उद्देशक मे वर्णित विषयो का निरूपण चम्पानगरी मे हुआ था।[1]

चम्पानगरी तब और अब—औपपातिक सूत्र मे चम्पानगरी का विस्तृत वर्णन मिलता है, तदनुसार 'चम्पा' ऋद्धियुक्त, स्तमित एव समृद्ध नगरी थी। महावीर-चरित्र के अनुसार अपने पिता श्रेणिक राजा की मृत्यु के शोक के कारण सम्राट् कोणिक मगध की राजधानी राजगृह मे रह नही सकता था, इस कारण उसने वास्तुशास्त्रियो के परामर्श के अनुसार एक विशाल चम्पावृक्ष वाले स्थान को पसद करके अपनी राजधानी के हेतु चम्पानगरी बसाई। इसी चम्पानगरी मे दधिवाहन राजा की पुत्री चन्दनबाला का जन्म हुआ था। पाण्डवकुलभूषण प्रसिद्ध दानवीर कर्ण ने इसी नगरी को अगदेश की राजधानी बनाई थी। दशवैकालिक सूत्र-रचयिता आचार्य शय्यभव सूरि ने राजगृह से आए हुए अपने लघुवयस्क पुत्र मनक को इसी नगरी मे दीक्षा दी थी और यही दशवैकालिक सूत्र की रचना की थी। बारहवे तीर्थंकर श्री वासुपूज्य स्वामी के पाच कल्याणक इसी नगरी मे हुए थे। इस नगरी के बद हुए दरवाजो को महासती सुभद्रा ने अपने शील की महिमा से अपने कलक निवारणार्थ कच्चे सूत की चलनी बाध कर उसके द्वारा कुए मे से पानी निकाला और तीन दरवाजो पर छीट कर उन्हे खोला था। चौथा दरवाजा ज्यो का त्यो बद रखा था। परन्तु बाद मे वि स १३६० मे लक्षणावती के हम्मीर और सुलतान समदीन ने शकरपुर का किला बनाने हेतु उपयोगी पाषाणो के लिए इस दरवाजे को तोड कर इसके कपाट ले लिये थे। वर्तमान मे चम्पानगरी चम्पारन कस्बे के रूप मे भागलपुर के निकटवर्ती एक जिला है। महात्मा गाँधीजी ने चम्पारन मे प्रथम सत्याग्रह किया था।[2]

जम्बूद्वीप मे सूर्यो के उदय-अस्त एव रात्रि-दिवस से सम्बन्धित प्ररूपणा—

३ तेण कालेण तेणं समएण समणस्स भगवतो महावीरस्स जेट्ठे अतेवासी इदभूती णामं अणगारे गोतमे गोत्तेण जाव[3] एव वदासी—

[३] उस काल और उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के ज्येष्ठ अन्तेवासी (शिष्य) गौतमगोत्रीय इन्द्रभूति अनगार थे, यावत् उन्होने इस प्रकार पूछा—

४ जबुद्दीवे ण भते ! दीवे सूरिया उदीण-पादीणमुग्गच्छ पादीण-दाहिणमागच्छति ? पादीण-दाहिणमुग्गच्छ दाहिण-पडीणमागच्छति ? दाहिण-पडीणमुग्गच्छ पडीण-उदीणमागच्छति ? पडीण-उदीणमुग्गच्छ उदीचि-पादीणमागच्छति ?

---

१ भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक २०७

२ (क) जिनप्रभसूरिरचित 'चम्पापुरीकल्प'

(ख) हेमचन्द्राचार्यरचित महावीरचरित्र सर्ग १२, श्लोक १८० से १८९ तक

(ग) आचार्य शय्यभवसूरिरचित परिशिष्टपर्व सर्ग ५, श्लोक ६८, ८०, ८५

(घ) भगवतीसूत्र (टीकानुवाद टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ १४४

३ 'जाव' पद से गौतम स्वामी का समस्त वर्णन एव उपासनादि कहना चाहिए।

हंता, गोयमा ! जंबुद्दीवे णं दीवे सूरिया उदीण-पादीणमुग्गच्छ जाव[1] उदीचि-पादीणमागच्छंति ।

[४ प्र] भगवन् ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप में सूर्य क्या उत्तरपूर्व (ईशान-कोण) में उदय होकर पूर्वदक्षिण (आग्नेय कोण) में अस्त होते (होने आते) हैं ? अथवा आग्नेय कोण में उदय होकर दक्षिण-पश्चिम (नैऋत्य कोण) में अस्त होते हैं ? अथवा नैऋत्य कोण में उदय होकर पश्चिमोत्तर (वायव्यकोण) में अस्त होते हैं, या फिर पश्चिमोत्तर (वायव्यकोण) में उदय होकर उत्तरपूर्व (ईशान कोण) में अस्त होते हैं ?

[४ उ] हाँ, गौतम ! जम्बूद्वीप में सूर्य उत्तरपूर्व—ईशान कोण में उदित होकर अग्निकोण (पूर्व-दक्षिण) में अस्त होते हैं, यावत् (पूर्वोक्त कथनानुसार) ईशानकोण में अस्त होते हैं ।

५. जदा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे दिवसे भवति तदा णं उत्तरड्ढे दिवसे भवति ? जदा णं उत्तरड्ढे दिवसे भवति तदा णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमेणं राती भवति ?

हंता, गोयमा ! जदा णं जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे दिवसे जाव राती भवति ।

[५ प्र] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध में दिन होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध में भी दिन होता है ? और जब जम्बूद्वीप के उत्तरार्द्ध में दिन होता है, तब क्या मेरुपर्वत से पूर्व-पश्चिम में रात्रि होती है ?

[५ उ] हाँ, गौतम ! (यह इसी तरह होता है, अर्थात्—) जब जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध में दिन में होता है, तब यावत् रात्रि होती है ।

६ जदा णं भंते ! जंबु० मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेणं दिवसे भवति तदा णं पच्चत्थिमेण वि दिवसे भवति ? जदा णं पच्चत्थिमेणं दिवसे भवति तदा णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तर-दाहिणेणं राती भवति ?

हंता, गोयमा ! जदा णं जंबु० मंदर० पुरत्थिमेणं दिवसे जाव राती भवति ।

[६ प्र] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से पूर्व में दिन होता है, तब क्या पश्चिम में भी दिन होता है ? और जब पश्चिम में दिन होता है, , तब क्या जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से उत्तर-दक्षिण में रात्रि होती है ?

[६ उ] गौतम ! हाँ, इसी प्रकार होता है, अर्थात्—जब जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत से पूर्व में दिन होता है, तब यावत्-रात्रि होती है ।

विवेचन—जम्बूद्वीप में सूर्यों के उदय-अस्त एवं दिवस-रात्रि से सम्बन्धित प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रों में से दो सूत्रों में जम्बूद्वीपान्तर्गत सूर्यों का विभिन्न विदिशाओं (कोणों) से उदय और अस्त का निरूपण किया गया है, तथा पिछले दो सूत्रों में जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध, उत्तरार्द्ध, पूर्व-पश्चिम-पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण आदि की अपेक्षा से दिन और रात का प्ररूपण किया गया है ।

---

१ यहाँ 'जाव' पद से सम्पूर्ण प्रश्नगत वाक्य सूचित किया गया है ।

सूर्य के उदय-अस्त का व्यवहार दर्शक लोगो की दृष्टि की अपेक्षा से—यहाँ जो दिशा विदिशा या समय की दृष्टि से सूर्य का उदय-अस्त बताया गया है, वह सब व्यवहार दर्शको की दृष्टि की अपेक्षा से बताया है, क्योकि समग्र भूमण्डल पर सूर्य के उदय-अस्त का समय या दिशा-विदिशा (प्रदेश) नियत नही है। वास्तव मे देखा जाए तो सूर्य तो सदैव भूमण्डल पर विद्यमान रहता है, किन्तु जब सूर्य के समक्ष किसी प्रकार की आड (ओट या व्यवधान) आ जाती है, तब (उस समय) उस देश (उस दिशा-विदिशा) के लोग उक्त सूर्य को देख नही पाते, तब उस देश के लोग इस प्रकार का व्यवहार करते हैं—अब सूर्य अस्त हो गया है। जब सूर्य के सामने किसी प्रकार की आड नही होती, तब उस देश (दिशा-विदिशा) के लोग सूर्य को देख पाते है, और वे इस प्रकार का व्यवहार करते हैं—अब (इस समय) सूर्य उदय हो गया है। एक आचार्य ने कहा है—'सूर्य प्रति समय ज्यो-ज्यो आकाश मे आगे गति करता जाता है, त्यो-त्यो निश्चित ही इस तरफ रात्रि होती जाती है। इसलिए सूर्य की गति पर ही उदय-अस्त का व्यवहार निर्भर है। मनुष्यो की (दृष्टि की) अपेक्षा से उदय और अस्त दोनो क्रियाएँ अनियत हैं, क्योकि अपने-अपने देश (दिशा) भेद के कारण कोई किसी प्रकार का और दूसरा किसी अन्य प्रकार का व्यवहार करते है। इससे सिद्ध है कि सूर्य आकाश मे सब दिशाओ मे गति करता है, इस प्ररूपणा के अनुसार इस मान्यता का स्वत निराकरण हो जाता है कि "सूर्य पश्चिम की ओर के समुद्र मे प्रविष्ट होकर पाताल मे चला जाता है, फिर पूर्व की ओर के समुद्र पर उदय होता है।"[1]

सूर्य सभी दिशाओ मे गतिशील होते हुए भी रात्रि क्यो?—यद्यपि सूर्य सभी दिशाओ (देशो) मे गति करता है, तथापि उसका प्रकाश अमुक सीमा तक ही फैलता है, उससे आगे नही, इसलिए जगत् मे जो रात्रि-दिवस का व्यवहार होता है, वह निर्बाध है। आशय यह है कि जितनी सीमा तक जिस देश मे सूर्य का प्रकाश, जितने समय तक पहुँचता है, उतनी सीमा तक उस प्रदेश मे, उतने समय तक दिवस होता है, शेष सीमा मे, शेष प्रदेश मे उतने समय रात्रि होती है। इसलिए सूर्य के प्रकाश का क्षेत्र मर्यादित होने के कारण रात्रि-दिवस का व्यवहार होता है।

एक ही समय मे दो दिशाओ मे दिवस कैसे?—जम्बूद्वीप मे सूर्य दो है, इसलिए एक ही समय मे दो दिशाओ मे दिवस होता है और दो दिशाओ मे रात्रि होती है।

दक्षिणार्द्ध और उत्तरार्द्ध का आशय—यदि यह अर्थ माना जाएगा कि जम्बूद्वीप के उत्तर के सम्पूर्ण खण्ड और दक्षिण के सम्पूर्ण खण्ड मे दिवस होता है, तब तो सर्वत्र दिवस होगा, रात्रि कही नही, मगर यहाँ उत्तरार्द्ध और दक्षिणार्द्ध के ये अर्थ अभीष्ट न होकर उत्तरदिशा मे आया हुआ अमुक भाग 'उत्तरार्द्ध' और दक्षिणदिशा मे आया हुआ अमुक भाग 'दक्षिणार्द्ध' अर्थ ही अभीष्ट है। इसी कारण पूर्व और पश्चिम दिशा मे रात्रि का होना सगत हो सकता है।

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २०७

(ख) जह-जह समये-समये पुरओ सचरइ भक्खरो गयणे।
तह-तह इओऽवि नियमा, जायइ रयणी य भावत्थो ॥ १ ॥
एव च सइ नराण उदयत्थमणाइ होतिऽनिययाइ।
सयदेसभेए कस्सइ किंचि ववदिस्सइ नियमा ॥ २ ॥

—भगवती अ वृत्ति, पत्राक २०७ मे उद्धृत

चार विदिशाएँ, अर्थात् चार कोण—उदीण-पाईण = उत्तर-पूर्व के बीच की दिशा = ईशान-कोण, दाहिण-पडीण = दक्षिण और पश्चिम के बीच की दिशा = नैऋत्यकोण, पाईण-दाहिण = पूर्व और दक्षिण के बीच की दिशा = आग्नेय कोण, तथा पडीण-उदीण = पश्चिम और उत्तर के बीच की दिशा = वायव्य कोण।[1] उदीण = उत्तर दिशा के पास का प्रदेश उदीचीन, तथा पाईण = प्राची (पूर्व) दिशा के निकट का प्रदेश—प्राचीन।

जम्बूद्वीप मे दिवस और रात्रि का कालमान—

७ जदा ण भंते ! जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा ण उत्तरड्ढे वि उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति ? जदा ण उत्तरड्ढे उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा ण जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमेण जहन्निया दुवालसमुहुत्ता राती भवति ?

हंता, गोयमा ! जदा ण जंबु० जाव दुवालसमुहुत्ता राती भवति।

[७ प्र] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप नामक द्वीप के दक्षिणार्द्ध मे उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध मे भी उत्कृष्ट (सब मे बडा) अठारह मुहूर्त्त का दिन होता है ?, और जब उत्तरार्द्ध मे उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब क्या जम्बूद्वीप मे मन्दर (मेरु) पर्वत से पूर्व-पश्चिम मे जघन्य (छोटी से छोटी) बारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है ?

[७ उ] हाँ, गौतम ! (यह इसी तरह होती है। अर्थात्—) जब जम्बूद्वीप मे, यावत् बारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है।

८ जदा ण जंबु० मंदरस्स पुरत्थिमेण उक्कोसए अट्ठारस जाव तदा ण जंबुद्दीवे दीवे पच्चत्थिमेण वि उक्को० अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति ? जया ण पच्चत्थिमेण उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा ण भंते ! जंबुद्दीवे दीवे उत्तर० दुवालसमुहुत्ता जाव राती भवति ?

हंता, गोयमा ! जाव भवति।

[८ प्र] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के मेरु-पर्वत से पूर्व मे उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब क्या जम्बूद्वीप के पश्चिम मे भी उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त्त का दिन होता है ?, और भगवन् ! जब पश्चिम मे उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त्त का दिवस होता है, तब क्या जम्बूद्वीप के उत्तर मे जघन्य (छोटी से छोटी) बारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है ?

[८ उ] हाँ, गौतम ! यह इसी तरह—यावत् होता है।

९ जदा ण भंते ! जंबु० दाहिणड्ढे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा ण उत्तरे अट्ठारस-मुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति ? जदा ण उत्तरे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा ण जंबु० मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमेण सातिरेगा दुवालसमुहुत्ता राती भवति ?

हंता, गोयमा ! जदा ण जंबु० जाव राती भवति।

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २०७-२०८

(ख) भगवती० (विवेचनयुक्त) (पं. घेवरचन्दजी) भा. २, पृ-७५३ से ७५६ तक

[९ प्र] हे भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध मे अठारह मुहूर्त्तानन्तर (मुहूर्त्त से कुछ कम) का दिवस होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध (उत्तर) मे भी अठारह मुहूर्त्तानन्तर का दिवस होता है ? और जब उत्तरार्द्ध मे अठारह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब क्या जम्बूद्वीप मे मन्दर पर्वत से पूर्व पश्चिम दिशा मे सातिरेक (कुछ अधिक) बारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है ?

[९ उ] हाँ, गौतम ! (यह इसी तरह होती है, अर्थात्—) जब जम्बूद्वीप के यावत् रात्रि होती है।

१०. जदा ण भते ! जबुद्दीवे दीवे मदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेण अट्ठारसमुहुत्ताणतरे दिवसे भवति तदा ण पच्चत्थिमेण अट्ठारसमुहुत्ताणतरे दिवसे भवति ? जदा ण पच्चत्थिमेण अट्ठारसमुहुत्ताण तरे दिवसे भवति तदा ण जबूदीवे दीवे मदरस्स पव्वयस्स दाहिणेण साइरेगा दुवालसमुहुत्ता राती भवति ?

हता, गोयमा ! जाव भवति।

[१० प्र] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के मन्दराचल से पूव मे अठारह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब क्या पश्चिम मे भी अठारह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है ?, और जब पश्चिम मे अठारह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब क्या जम्बूद्वीप मे मेरु-पर्वत से उत्तर दक्षिण मे भी सातिरेक बारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है ?

[१० उ] हाँ, गौतम ! (यह इसी तरह) यावत् होती है।

११. एव एतेण कमेण ओसारेयव्व—सत्तरसमुहुत्ते दिवसे, तेरसमुहुत्ता राती। सत्तरस-मुहुत्ताणतरे दिवसे, सातिरेगा तेरसमुहुत्ता राती। सोलसमुहुत्ते दिवसे, चोद्दसमुहुत्ता राती। सोलस-मुहुत्ताणतरे दिवसे सातिरेगा चोद्दसमुहुत्ता राती। पन्नरसमुहुत्ते दिवसे, पन्नरसमुहुत्ता राती। पन्नरस-मुहुत्ताणतरे दिवसे, सातिरेगा पन्नरसमुहुत्ता राती। चोद्दसमुहुत्ते दिवसे, सोलसमुहुत्ता राती। चोद्दस-मुहुत्ताणतरे दिवसे, सातिरेगा सोलसमुहुत्ता राती। तेरसमुहुत्ते दिवसे, सत्तरसमुहुत्ता राती। तेरस-मुहुत्ताणतरे दिवसे, सातिरेगा सत्तरसमुहुत्ता राती।

[११] इस प्रकार इस क्रम से दिवस का परिमाण बढाना-घटाना और रात्रि का परिमाण घटाना-बढाना चाहिए। यथा—जब सत्रह मुहूर्त्त का दिवस होता है, तब तेरह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब सत्रह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब सातिरेक तेरह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब सोलह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब चौदह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब सोलह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब सातिरेक चौदह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब पन्द्रह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब पन्द्रह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब पन्द्रह मुहूर्त्तान्तर का दिन होता है, तब सातिरेक पन्द्रह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब चौदह मुहूर्त्त का दिन होता, तब सोलह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब चौदह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब सातिरेक सोलह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब तेरह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब सत्रह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब तेरह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब सातिरेक सत्रह मुहूर्त्त की रात्रि होती है।

चार विदिशाएँ, अर्थात् चार कोण—उदीण-पाईण = उत्तर-पूर्व के बीच की दिशा = ईशान-कोण, दाहिण-पडीण = दक्षिण और पश्चिम के बीच की दिशा = नैऋत्यकोण, पाईण-दाहिण = पूर्व और दक्षिण के बीच की दिशा = आग्नेय कोण, तथा पडीण-उदीण = पश्चिम और उत्तर के बीच की दिशा = वायव्य कोण।[1] उदीण = उत्तर दिशा के पास का प्रदेश उदीचीन, तथा पाईण = प्राची (पूर्व) दिशा के निकट का प्रदेश—प्राचीन।

जम्बूद्वीप मे दिवस और रात्रि का कालमान—

७ जदा ण भंते! जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा ण उत्तरड्ढे वि उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति? जदा ण उत्तरड्ढे उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा ण जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमेण जहन्निया दुवालसमुहुत्ता राती भवति?

हंता, गोयमा! जदा ण जंबु० जाव दुवालसमुहुत्ता राती भवति।

[७ प्र] भगवन्! जब जम्बूद्वीप नामक द्वीप के दक्षिणार्द्ध मे उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त का दिन होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध मे भी उत्कृष्ट (सब से बडा) अठारह मुहूर्त का दिन होता है?, और जब उत्तरार्द्ध मे उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त का दिन होता है, तब क्या जम्बूद्वीप मे मन्दर (मेरु) पर्वत से पूर्व-पश्चिम मे जघन्य (छोटी से छोटी) बारह मुहूर्त की रात्रि होती है?

[७ उ] हाँ, गौतम! (यह इसी तरह होती है। अर्थात्—) जब जम्बूद्वीप मे, यावत् बारह मुहूर्त की रात्रि होती है।

८ जदा ण जंबु० मंदरस्स पुरत्थिमेण उक्कोसए अट्ठारस जाव तदा ण जंबुद्दीवे दीवे पच्चत्थिमेण वि उक्को० अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति? जया ण पच्चत्थिमेण उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा ण भंते! जंबुद्दीवे दीवे उत्तर० दुवालसमुहुत्ता जाव राती भवति?

हंता, गोयमा! जाव भवति।

[८ प्र] भगवन्! जब जम्बूद्वीप के मेरु-पर्वत से पूर्व मे उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त का दिन होता है, तब क्या जम्बूद्वीप के पश्चिम मे भी उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त का दिन होता है?, और भगवन्! जब पश्चिम मे उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त का दिवस होता है, तब क्या जम्बूद्वीप के उत्तर मे जघन्य (छोटी से छोटी) बारह मुहूर्त की रात्रि होती है?

[८ उ] हाँ, गौतम! यह इसी तरह—यावत् होता है।

९ जदा ण भंते! जंबु० दाहिणड्ढे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा ण उत्तरे अट्ठारस-मुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति? जदा ण उत्तरे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा ण जंबु० मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमेण सातिरेगा दुवालसमुहुत्ता राती भवति?

हंता, गोयमा! जदा ण जंबु० जाव राती भवति।

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २०७-२०८

(ख) भगवती० (विवेचनयुक्त) (पं. घेवरचन्दजी) भा. २, पृ-७५३ से ७५६ तक

[९ प्र] हे भगवन्! जब जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध मे अठारह मुहूर्त्तानन्तर (मुहूर्त्त से कुछ कम) का दिवस होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध (उत्तर) मे भी अठारह मुहूर्त्तानन्तर का दिवस होता है? और जब उत्तरार्द्ध मे अठारह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब क्या जम्बूद्वीप मे मन्दर पर्वत से पूर्व पश्चिम दिशा मे सातिरेक (कुछ अधिक) बारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है?

[९ उ] हाँ, गौतम! (यह इसी तरह होती है, अर्थात्—) जब जम्बूद्वीप के यावत् रात्रि होती है।

१०. जदा ण भते! जबुद्दीवे दीवे मदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेण अट्ठारसमुहुत्ताणतरे दिवसे भवति तदा ण पच्चत्थिमेण अट्ठारसमुहुत्ताणतरे दिवसे भवति? जदा ण पच्चत्थिमेण अट्ठारसमुहुत्ताणतरे दिवसे भवति तदा ण जबूदीवे दीवे मदरस्स पव्वयस्स दाहिणेण साइरेगा दुवालसमुहुत्ता राती भवति?

हता, गोयमा! जाव भवति।

[१० प्र] भगवन्! जब जम्बूद्वीप के मन्दराचल से पूव मे अठारह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब क्या पश्चिम मे भी अठारह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है?, और जब पश्चिम मे अठारह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब क्या जम्बूद्वीप मे मेरु-पर्वत से उत्तर दक्षिण मे भी सातिरेक बारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है?

[१० उ] हाँ, गौतम! (यह इसी तरह) यावत् होती है।

११. एव एतेण कमेण ओसारेयव्व—सत्तरसमुहुत्ते दिवसे, तेरसमुहुत्ता राती। सत्तरस-मुहुत्ताणतरे दिवसे, सातिरेगा तेरसमुहुत्ता राती। सोलसमुहुत्ते दिवसे, चोद्दसमुहुत्ता राती। सोलस-मुहुत्ताणतरे दिवसे सातिरेगा चोद्दसमुहुत्ता राती। पन्नरसमुहुत्ते दिवसे, पन्नरसमुहुत्ता राती। पन्नरस-मुहुत्ताणतरे दिवसे, सातिरेगा पन्नरसमुहुत्ता राती। चोद्दसमुहुत्ते दिवसे, सोलसमुहुत्ता राती। चोद्दस-मुहुत्ताणतरे दिवसे, सातिरेगा सोलसमुहुत्ता राती। तेरसमुहुत्ते दिवसे, सत्तरसमुहुत्ता राती। तेरस-मुहुत्ताणतरे दिवसे, सातिरेगा सत्तरसमुहुत्ता राती।

[११] इस प्रकार इस क्रम से दिवस का परिमाण बढाना-घटाना और रात्रि का परिमाण घटाना-बढाना चाहिए। यथा—जब सत्रह मुहूर्त्त का दिवस होता है तब तेरह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब सत्रह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब सातिरेक तेरह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब सोलह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब चौदह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब सोलह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब सातिरेक चौदह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब पन्द्रह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब पन्द्रह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब पन्द्रह मुहूर्त्तान्तर का दिन होता है, तब सातिरेक पन्द्रह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब चौदह मुहूर्त्त का दिन होता, तब सोलह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब चौदह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब सातिरेक सोलह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब तेरह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब सत्रह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब तेरह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब सातिरेक सत्रह मुहूर्त्त की रात्रि होती है।

चार विदिशाएँ, अर्थात् चार कोण—उदीण-पाईण = उत्तर-पूर्व के बीच की दिशा = ईशान-कोण, दाहिण-पडीण = दक्षिण और पश्चिम के बीच की दिशा = नैऋत्यकोण, पाईण-दाहिण = पूर्व और दक्षिण के बीच की दिशा = आग्नेय कोण, तथा पडीण-उदीण = पश्चिम और उत्तर के बीच की दिशा = वायव्य कोण।[1] उदीण = उत्तर दिशा के पास का प्रदेश उदीचीन, तथा पाईण = प्राची (पूर्व) दिशा के निकट का प्रदेश—प्राचीन।

जम्बूद्वीप मे दिवस और रात्रि का कालमान—

७ जदा ण भंते ! जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा ण उत्तरड्ढे वि उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति ? जदा ण उत्तरड्ढे उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा ण जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमेण जहन्निया दुवालसमुहुत्ता राती भवति ?

हंता, गोयमा ! जदा ण जंबु० जाव दुवालसमुहुत्ता राती भवति।

[७ प्र] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप नामक द्वीप के दक्षिणार्द्ध मे उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त का दिन होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध मे भी उत्कृष्ट (सब मे बड़ा) अठारह मुहूर्त का दिन होता है?, और जब उत्तरार्द्ध मे उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त का दिन होता है, तब क्या जम्बूद्वीप मे मन्दर (मेरु) पर्वत से पूर्व-पश्चिम मे जघन्य (छोटी से छोटी) बारह मुहूर्त की रात्रि होती है ?

[७ उ] हाँ, गौतम ! (यह इसी तरह होती है। अर्थात्—) जब जम्बूद्वीप मे, यावत् बारह मुहूर्त की रात्रि होती है।

८ जदा ण जंबु० मंदरस्स पुरत्थिमेण उक्कोसए अट्ठारस जाव तदा ण जंबुद्दीवे दीवे पच्चत्थिमेण वि उक्को० अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति ? जया ण पच्चत्थिमेण उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा ण भंते ! जंबुद्दीवे दीवे उत्तर० दुवालसमुहुत्ता जाव राती भवति ?

हंता, गोयमा ! जाव भवति।

[८ प्र] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के मेरु-पर्वत से पूर्व मे उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त का दिन होता है, तब क्या जम्बूद्वीप के पश्चिम मे भी उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त का दिन होता है ?, और भगवन् ! जब पश्चिम मे उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त का दिवस होता है, तब क्या जम्बूद्वीप के उत्तर मे जघन्य (छोटी से छोटी) बारह मुहूर्त की रात्रि होती है ?

[८ उ] हाँ, गौतम ! यह इसी तरह—यावत् होता है।

९ जदा ण भंते ! जंबु० दाहिणड्ढे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा ण उत्तरे अट्ठारस-मुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति ? जदा ण उत्तरे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा ण जंबु० मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमेण सातिरेगा दुवालसमुहुत्ता राती भवति ?

हंता, गोयमा ! जदा ण जंबु० जाव राती भवति।

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २०७-२०८

(ख) भगवती० (विवेचनयुक्त) (पं. घेवरचन्दजी) भा. २, पृ-७५३ से ७५६ तक

[९ प्र] हे भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध मे अठारह मुहूर्त्तानन्तर (मुहूर्त्त से कुछ कम) का दिवस होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध (उत्तर) मे भी अठारह मुहूर्त्तानन्तर का दिवस होता है ? और जब उत्तरार्द्ध मे अठारह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब क्या जम्बूद्वीप मे मन्दर पर्वत से पूर्व पश्चिम दिशा मे सातिरेक (कुछ अधिक) बारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है ?

[९ उ] हाँ, गौतम ! (यह इसी तरह होती है, अर्थात्—) जब जम्बूद्वीप के यावत् रात्रि होती है ।

१०. जदा ण भते ! जबुद्दीवे दोवे मदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेण अट्ठारसमुहुत्ताणतरे दिवसे भवति तदा ण पच्चत्थिमेण अट्ठारसमुहुत्ताणतरे दिवसे भवति ? जदा ण पच्चत्थिमेण अट्ठारसमुहुत्ताण तरे दिवसे भवति तदा ण जबूदीवे दीवे मदरस्स पव्वयस्स दाहिणेण साइरेगा दुवालसमुहुत्ता राती भवति ?

हता, गोयमा ! जाव भवति ।

[१० प्र] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के मन्दराचल से पूव मे अठारह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब क्या पश्चिम मे भी अठारह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है ?, और जब पश्चिम मे अठारह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब क्या जम्बूद्वीप मे मेरु-पर्वत से उत्तर दक्षिण मे भी सातिरेक बारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है ?

[१० उ] हाँ, गौतम ! (यह इसी तरह) यावत् होती है ।

११ एव एतेण कमेण ओसारेयव्व—सत्तरसमुहुत्ते दिवसे, तेरसमुहुत्ता राती । सत्तरस-मुहुत्ताणतरे दिवसे, सातिरेगा तेरसमुहुत्ता राती । सोलसमुहुत्ते दिवसे, चोद्दसमुहुत्ता राती । सोलस-मुहुत्ताणतरे दिवसे सातिरेगा चोद्दसमुहुत्ता राती । पन्नरसमुहुत्ते दिवसे, पन्नरसमहुत्ता राती । पन्नरस-मुहुत्ताणतरे दिवसे, सातिरेगा पन्नरसमुहुत्ता राती । चोद्दसमुहुत्ते दिवसे, सोलसमुहुत्ता राती । चोद्दस-मुहुत्ताणतरे दिवसे, सातिरेगा सोलसमुहुत्ता राती । तेरसमुहुत्ते दिवसे, सत्तरसमुहुत्ता राती । तेरस-मुहुत्ताणतरे दिवसे, सातिरेगा सत्तरसमुहुत्ता राती ।

[११] इस प्रकार इस क्रम से दिवस का परिमाण बढाना-घटाना और रात्रि का परिमाण घटाना-बढाना चाहिए । यथा—जब सत्रह मुहूर्त्त का दिवस होता है तब तेरह मुहूर्त्त की रात्रि होती है । जब सत्रह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब सातिरेक तेरह मुहूर्त्त की रात्रि होती है । जब सोलह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब चौदह मुहूर्त्त की रात्रि होती है । जब सोलह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब सातिरेक चौदह मुहूर्त्त की रात्रि होती है । जब पन्द्रह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब पन्द्रह मुहूर्त्त की रात्रि होती है । जब पन्द्रह मुहूर्त्तान्तर का दिन होता है, तब सातिरेक पन्द्रह मुहूर्त्त की रात्रि होती है । जब चौदह मुहूर्त्त का दिन होता, तब सोलह मुहूर्त्त की रात्रि होती है । जब चौदह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब सातिरेक सोलह मुहूर्त्त की रात्रि होती है । जब तेरह मुहूर्त का दिन होता है, तब सत्रह मुहूर्त्त की रात्रि होती है । जब तेरह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब सातिरेक सत्रह मुहूर्त्त की रात्रि होती है ।

१२ जदा ण जबु० दाहिणड्ढे जहन्नए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति तया ण उत्तरड्ढे वि ? जया ण उत्तरड्ढे तया ण जबुदीवे दीवे मदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमे-पच्चत्थिमे ण उक्कोसिया अट्ठारस-मुहुत्ता राती भवति ?

हता, गोयमा ! एव चेव उच्चारेयव्व जाव राती भवति ।

[१२ प्र] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से दक्षिणार्द्ध मे जघन्य बारह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध मे भी (इसी तरह होता है) ? और जब उत्तरार्द्ध मे भी इसी तरह होता है, तब क्या जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से पूर्व और पश्चिम मे उत्कष्ट (सबसे बडी) अठारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है ?

[१२ उ] हाँ, गौतम ! इसी (पूर्वोक्त) प्रकार से सब कहना चाहिए, यावत् . रात्रि होती है ।

१३ जदा ण भते ! जबु० मदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेणं जहन्नए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा ण पच्चत्थिमेण वि० ? जया ण पच्चत्थिमेण वि तदा ण जबु० मदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेण उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राती भवति ?

हता, गोयमा ! जाव राती भवति ।

[१३ प्र] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के मन्दर पर्वत से पूर्व मे जघन्य (सबसे छोटा) बारह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब क्या पश्चिम मे भी इसी प्रकार होता है ? और जब पश्चिम मे इसी तरह होता है, तब क्या जम्बूद्वीप के मन्दर-पर्वत के उत्तर और दक्षिण मे उत्कृष्ट (सबसे बडी) अठारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है ?

[१३ उ] हाँ, गौतम ! यह उसी तरह यावत् रात्रि होती है ।

विवेचन—जम्बूद्वीप मे दिवस और रात्रि का काल-परिमाण—प्रस्तुत सात सूत्रो मे जम्बूद्वीप मे दिन और रात का मुहूर्त्तो के रूप मे परिमाण बताया गया है ।

दिन और रात्रि की कालगणना का सिद्धान्त—जैन सिद्धान्त की दृष्टि से दिन और रात्रि मिला कर दोनो कुल ३० मुहूर्त्त के होते है । दक्षिण और उत्तर मे दिन और रात्रि का उत्कृष्ट मान १८ मुहूर्त्त का होगा तो पूर्व और पश्चिम मे रात्रि १२ मुहूर्त्त की होगी । यदि रात्रि पूर्व व पश्चिम मे उत्कृष्टत १८ मुहूर्त्त की होगी तो दक्षिणार्द्ध एव उत्तरार्द्ध मे जघन्य १२ मुहूर्त्त का दिन होगा, इसी तरह पूर्व पश्चिम मे जघन्य १२ मुहूर्त्त का दिन होगा तो उत्तर एव दक्षिण मे रात्रि उत्कृष्ट १८ मुहूर्त्त की होगी । यदि दक्षिणार्द्ध, उत्तरार्द्ध अथवा पूर्व और पश्चिम मे १८ मुहूर्त्तानन्तर का दिन होगा तो पूर्व और पश्चिम मे अथवा उत्तर और दक्षिण मे रात्रि सातिरेक १२ मुहूर्त्त की होगी ।

तात्पर्य यह है कि ३० मुहूर्त्त अहोरात्र मे से दिवस का जितना भाग बढता या घटता है, उतना ही भाग, रात्रि का घटता या बढता जाता है । सूर्य के कुल १८४ मण्डल हैं । उनमे से जम्बूद्वीप मे ६५ और लवणसमुद्र मे शेष ११९ मण्डल हैं । जब सूर्य सर्वाभ्यन्तर मण्डल मे होता है, तब १८ मुहूर्त्त का दिन होता है और १२ मुहूर्त्त की रात्रि होती है । जब सूर्य बाह्यमण्डल से आभ्यन्तरमण्डल की ओर आता है, तब क्रमश प्रत्येक मण्डल मे दिवस बढता जाता है और रात्रि

घटती जाती है, और जब सूर्य आभ्यन्तरमण्डल से बाह्यमण्डल की ओर प्रयाण करता है, तब प्रत्येक मण्डल मे डेढ मिनट से कुछ अधिक रात्रि वढती जाती है तथा दिन उतना ही घटता जाता है। जब सूर्य सर्वाभ्यन्तर मण्डल से निकल कर उसके पास वाले दूसरे मण्डल मे जाता है, तव मुहूर्त्त के २/६१ भाग कम अठारह मुहूर्त्त का दिन होता है, जिसे शास्त्र मे 'अष्टादश-मुहूर्त्तानन्तर' कहते है, क्योकि यह समय १८ मुहूर्त्त का दिन होने के तुरत बाद मे आता है।

क्रमश· सूर्य की विभिन्न मण्डलो मे गति के अनुसार दिन-रात्रि का परिमाण इस प्रकार है—

(१) दूसरे से ३१ वे मण्डल के अर्द्धभाग मे जब सूर्य जाता है, तव दिन १७ मुहूर्त्त का, रात्रि १३ मुहूर्त्त की।

(२) ३२ वे मण्डल के अर्द्ध भाग मे जब सूर्य जाता है, तब १ मुहूर्त्त के २/६१ भाग कम १७ मुहूर्त्त का दिन और रात्रि मुहूर्त्त के २/६१ भाग अधिक १३ मुहूर्त्त।

(३) ३३वे मण्डल से ६१वे मण्डल मे जब सूर्य जाता है, तब १६ मुहूर्त्त का दिन, १४ मुहूर्त्त की रात्रि।

(४) सूर्य जब दूसरे से ९२वे मण्डल के अर्द्धभाग मे जाता है, तव १५-१५ मुहूर्त्त के दिन और रात्रि।

(५) सूर्य जब १२२वे मण्डल मे जाता है, तब दिन १४ मुहूर्त्त का होता है।

(६) सूर्य जब १५३वे मण्डल के अर्द्धभाग मे जाता है तव दिन १३ मुहूर्त्त का होता है।

(७) सूर्य जब दूसरे से सर्व बाह्य १८३वें मण्डल मे होता है, तब[1] ठीक १२ मुहूर्त्त का दिन और १८ मुहूर्त्त की रात होती है।

ऋतु से लेकर उत्सर्पिणीकाल तक विविध दिशाओ एवं प्रदेशो (क्षेत्रो) मे अस्तित्व की प्ररूपणा—

१४ जया ण भते ! जबु० दाहिणड्ढे वासाण पढमे समए पडिवज्जति तया ण उत्तरड्ढे वि

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २०८-२०९

(ख) भगवती०—हिन्दी विवेचनयुक्त (प घेवरचन्दजी) भा २, पृ ७६०-७६१

(ग) दिन और रात्रि का कालमान—घटों के रूप मे, १। मुहूर्त्त = १ घटा १ मुहूर्त्त = ४८ मिनट। यदि सूर्य १ मण्डल मे ४८ घटे रहता हो तो ४८ को १० का भाग करके भाजक सख्या को तिगुनी करने पर जितने घटे मिनट आवें, उतनी सख्या दिन के माप की होती है। जैसे ४८ घटे सूर्य रहता है तो ४८—१० = ४३/४ भागशेष = १ = ३० मिनट। १०—३० करने से ३ सिर्फ रहता है। इस प्रकार ४८ को १० का भाग देने से ४।।। घटे और ३ मिनट आते हैं। फिर उसे तीन गुणा करने पर १४। घटे ९ मिनट आते है। अभिप्राय यह है कि जब तक सूर्य एक मण्डल मे ४८ घटे तक रहता है, वहाँ तक इतने घटे (१४। घटे, ९ मिनट) का दिन बडा होता है। रात्रि के लिए भी यही बात समझना। अर्थात्—इतना बडा दिन हो तो रात्रि ९।। घटे, ६ मिनट की होती है।

—भगवती टीकानुवाद टिप्पण खण्ड २ पृ १५०

१२ जदा ण जंबु० दाहिणड्ढे जहन्नए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति तया ण उत्तरड्ढे वि ? जया ण उत्तरड्ढे तया ण जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमे-पच्चत्थिमे ण उक्कोसिया अट्ठारस-मुहुत्ता राती भवति ?

हंता, गोयमा ! एवं चेव उच्चारेयव्वं जाव राती भवति ।

[१२ प्र] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से दक्षिणार्द्ध में जघन्य बारह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध में भी (इसी तरह होता है) ? और जब उत्तरार्द्ध में भी इसी तरह होता है, तब क्या जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से पूर्व और पश्चिम में उत्कृष्ट (सबसे बड़ी) अठारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है ?

[१२ उ] हाँ, गौतम ! इसी (पूर्वोक्त) प्रकार से सब कहना चाहिए, यावत् —रात्रि होती है ।

१३ जदा ण भंते ! जंबु० मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेण जहन्नए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा ण पच्चत्थिमेण वि० ? जया ण पच्चत्थिमेण वि तदा ण जंबु० मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राती भवति ?

हंता, गोयमा ! जाव राती भवति ।

[१३ प्र] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के मन्दर पर्वत से पूर्व में जघन्य (सबसे छोटा) बारह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब क्या पश्चिम में भी इसी प्रकार होता है ? और जब पश्चिम में इसी तरह होता है, तब क्या जम्बूद्वीप के मन्दर-पर्वत के उत्तर और दक्षिण में उत्कृष्ट (सबसे बड़ी) अठारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है ?

[१३ उ] हाँ, गौतम ! यह उसी तरह यावत् रात्रि होती है ।

विवेचन—जम्बूद्वीप में दिवस और रात्रि का काल-परिमाण—प्रस्तुत सात सूत्रों में जम्बूद्वीप में दिन और रात का मुहूर्त्तों के रूप में परिमाण बताया गया है ।

दिन और रात्रि की कालगणना का सिद्धान्त—जैन सिद्धान्त की दृष्टि से दिन और रात्रि मिला कर दोनों कुल ३० मुहूर्त्त के होते हैं । दक्षिण और उत्तर में दिन और रात्रि का उत्कृष्ट मान १८ मुहूर्त्त का होगा तो पूर्व और पश्चिम में रात्रि १२ मुहूर्त्त की होगी । यदि रात्रि पूर्व व पश्चिम में उत्कृष्टतः १८ मुहूर्त्त की होगी तो दक्षिणार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध में जघन्य १२ मुहूर्त्त का दिन होगा, इसी तरह पूर्व पश्चिम में जघन्य १२ मुहूर्त्त का दिन होगा तो उत्तर एवं दक्षिण में रात्रि उत्कृष्ट १८ मुहूर्त्त की होगी । यदि दक्षिणार्द्ध, उत्तरार्द्ध अथवा पूर्व और पश्चिम में १८ मुहूर्त्तानन्तर का दिन होगा तो पूर्व और पश्चिम में अथवा उत्तर और दक्षिण में रात्रि सातिरेक १२ मुहूर्त्त की होगी ।

तात्पर्य यह है कि ३० मुहूर्त्त अहोरात्र में से दिवस का जितना भाग बढ़ता या घटता है, उतना ही भाग, रात्रि का घटता या बढ़ता जाता है । सूर्य के कुल १८४ मण्डल हैं । उनमें से जम्बूद्वीप में ६५ और लवणसमुद्र में शेष ११९ मण्डल हैं । जब सूर्य सर्वाभ्यन्तर मण्डल में होता है, तब १८ मुहूर्त्त का दिन होता है और १२ मुहूर्त्त की रात्रि होती है । जब सूर्य बाह्यमण्डल से आभ्यन्तरमण्डल की ओर आता है, तब क्रमशः प्रत्येक मण्डल में दिवस बढ़ता जाता है और रात्रि

घटती जाती है, और जब सूर्य आभ्यन्तरमण्डल से बाह्यमण्डल की ओर प्रयाण करता है, तब प्रत्येक मण्डल मे डेढ मिनट से कुछ अधिक रात्रि बढती जाती है तथा दिन उतना ही घटता जाता है। जब सूर्य सर्वाभ्यन्तर मण्डल से निकल कर उसके पास वाले दूसरे मण्डल मे जाता है, तब मुहूर्त्त के $\frac{2}{61}$ भाग कम अठारह मुहूर्त्त का दिन होता है, जिसे शास्त्र मे 'अष्टादश-मुहूर्त्तानन्तर' कहते है, क्योकि यह समय १८ मुहूर्त्त का दिन होने के तुरत बाद मे आता है।

क्रमश· सूर्य की विभिन्न मण्डलो मे गति के अनुसार दिन-रात्रि का परिमाण इस प्रकार है—

(१) दूसरे से ३१ वे मण्डल के अर्द्ध भाग मे जब सूर्य जाता है, तब दिन १७ मुहूर्त्त का, रात्रि १३ मुहूर्त्त की।

(२) ३२ वे मण्डल के अर्द्ध भाग मे जब सूर्य जाता है, तब १ मुहूर्त्त के $\frac{2}{61}$ भाग कम १७ मुहूर्त्त का दिन और रात्रि मुहूर्त्त के $\frac{2}{61}$ भाग अधिक १३ मुहूर्त्त।

(३) ३३वे मण्डल से ६१वे मण्डल मे जब सूर्य जाता है, तब १६ मुहूर्त्त का दिन, १४ मुहूर्त्त की रात्रि।

(४) सूर्य जब दूसरे से ९२वे मण्डल के अर्द्धभाग मे जाता है, तब १५-१५ मुहूर्त्त के दिन और रात्रि।

(५) सूर्य जब १२२वे मण्डल मे जाता है, तब दिन १४ मुहूर्त्त का होता है।

(६) सूर्य जब १५३वे मण्डल के अर्द्धभाग मे जाता है तब दिन १३ मुहूर्त्त का होता है।

(७) सूर्य जब दूसरे से सर्व बाह्य १८३वे मण्डल मे होता है, तब[1] ठीक १२ मुहूर्त्त का दिन और १८ मुहूर्त्त की रात होती है।

ऋतु से लेकर उत्सर्पिणीकाल तक विविध दिशाओ एवं प्रदेशो (क्षेत्रो) मे अस्तित्व की प्ररूपणा—

१४ जया ण भते ! जबु० दाहिणड्ढे वासाण पढमे समए पडिवज्जति तया ण उत्तरड्ढे वि

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २०८-२०९

(ख) भगवती०—हिन्दी विवेचनयुक्त (प घेवरचन्दजी) भा २, पृ ७६०-७६१

(ग) दिन और रात्रि का कालमान—घटो के रूप मे, १। मुहूर्त्त = १ घटा १ मुहूर्त्त = ४८ मिनट। यदि सूर्य १ मण्डल मे ४८ घटे रहता हो तो ४८ को १० का भाग करके भाजक सख्या को तिगुनी करने पर जितने घटे मिनट आवें, उतनी सख्या दिन के माप की होती है। जैसे ४८ घटे सूर्य रहता है तो ४८—१० = ४$\frac{3}{4}$ भागशेष = १ = ३० मिनट। १०—३० करने से ३ सिर्फ रहता है। इस प्रकार ४८ को १० का भाग देने से ४।। घटे और ३ मिनट आते हैं। फिर उसे तीन गुणा करने पर १४। घटे ९ मिनट आते है। अभिप्राय यह है कि जब तक सूर्य एक मण्डल मे ४८ घटे तक रहता है, वहाँ तक इतने घंटे (१४। घटे, ९ मिनट) का दिन बडा होता है। रात्रि के लिए भी यही बात समझना। अर्थात्—इतना बडा दिन हो तो रात्रि ९।। घटे, ६ मिनट की होती है।

—भगवती टीकानुवाद टिप्पण खण्ड २ पृ १५०

१२ जदा ण जबु० दाहिणड्ढे जहन्नए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति तया ण उत्तरड्ढे वि ? जया ण उत्तरड्ढे तया ण जबुदीवे दीवे मदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमे-पच्चत्थिमे ण उक्कोसिया अट्ठारस-मुहुत्ता राती भवति ?

हता, गोयमा ! एव चेव उच्चारेयव्व जाव राती भवति ।

[१२ प्र] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत मे दक्षिणार्द्ध मे जघन्य बारह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध मे भी (इसी तरह होता है) ? और जब उत्तरार्द्ध मे भी इसी तरह होता है, तब क्या जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत मे पूर्व और पश्चिम मे उत्कृष्ट (सबसे बडी) अठारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है ?

[१२ उ] हाँ, गौतम ! इसी (पूर्वोक्त) प्रकार से सब कहना चाहिए, यावत् ... रात्रि होती है ।

१३ जदा ण भते ! जबु० मदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेण जहन्नए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा ण पच्चत्थिमेण वि० ? जया ण पच्चत्थिमेण वि तदा ण जबु० मदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेण उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राती भवति ?

हता, गोयमा ! जाव राती भवति ।

[१३ प्र] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के मन्दर पर्वत से पूर्व मे जघन्य (सबसे छोटा) बारह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब क्या पश्चिम मे भी इसी प्रकार होता है ? और जब पश्चिम मे इसी तरह होता है, तब क्या जम्बूद्वीप के मन्दर-पर्वत के उत्तर और दक्षिण मे उत्कृष्ट (सबसे बडी) अठारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है ?

[१३ उ] हाँ, गौतम ! यह उसी तरह यावत् रात्रि होती है ।

विवेचन—जम्बूद्वीप मे दिवस और रात्रि का काल-परिमाण—प्रस्तुत सात सूत्रो मे जम्बूद्वीप मे दिन और रात का मुहूर्त्तो के रूप मे परिमाण बताया गया है ।

दिन और रात्रि की कालगणना का सिद्धान्त—जैन सिद्धान्त की दृष्टि से दिन और रात्रि मिला कर दोनो कुल ३० मुहूर्त्त के होते है । दक्षिण और उत्तर मे दिन और रात्रि का उत्कृष्ट मान १८ मुहूर्त्त का होगा तो पूर्व और पश्चिम मे रात्रि १२ मुहूर्त्त की होगी । यदि रात्रि पूर्व व पश्चिम मे उत्कृष्टत १८ मुहूर्त्त की होगी तो दक्षिणार्द्ध एव उत्तरार्द्ध मे जघन्य १२ मुहूर्त्त का दिन होगा, इसी तरह पूर्व पश्चिम मे जघन्य १२ मुहूर्त्त का दिन होगा तो उत्तर एव दक्षिण मे रात्रि उत्कृष्ट १८ मुहूर्त्त की होगी । यदि दक्षिणार्द्ध, उत्तरार्द्ध अथवा पूर्व और पश्चिम मे १८ मुहूर्त्तानन्तर का दिन होगा तो पूर्व और पश्चिम मे अथवा उत्तर और दक्षिण मे रात्रि सातिरेक १२ मुहूर्त्त की होगी ।

तात्पर्य यह है कि ३० मुहूर्त्त अहोरात्र मे से दिवस का जितना भाग बढता या घटता है, उतना ही भाग, रात्रि का घटता या बढता जाता है । सूर्य के कुल १८४ मण्डल है । उनमे से जम्बूद्वीप मे ६५ और लवणसमुद्र मे शेष ११९ मण्डल है । जब सूर्य सर्वाभ्यन्तर मण्डल मे होता है, तब १८ मुहूर्त्त का दिन होता है और १२ मुहूर्त्त की रात्रि होती है । जब सूर्य बाह्यमण्डल से आभ्यन्तरमण्डल की ओर आता है, तब क्रमश प्रत्येक मण्डल मे दिवस बढता जाता है और रात्रि

घटती जाती है, और जब सूर्य आभ्यन्तरमण्डल से बाह्यमण्डल की ओर प्रयाण करता है, तब प्रत्येक मण्डल मे डेढ मिनट से कुछ अधिक रात्रि बढती जाती है तथा दिन उतना ही घटता जाता है। जब सूर्य सर्वाभ्यन्तर मण्डल से निकल कर उसके पास वाले दूसरे मण्डल मे जाता है, तब मुहूर्त्त के २/६१ भाग कम अठारह मुहूर्त्त का दिन होता है, जिसे शास्त्र मे 'अष्टादश-मुहूर्त्तानन्तर' कहते है, क्योकि यह समय १८ मुहूर्त्त का दिन होने के तुरत बाद मे आता है।

क्रमशः सूर्य की विभिन्न मण्डलो मे गति के अनुसार दिन-रात्रि का परिमाण इस प्रकार है—

(१) दूसरे से ३१ वे मण्डल के अर्द्ध भाग मे जब सूर्य जाता है, तब दिन १७ मुहूर्त्त का, रात्रि १३ मुहूर्त्त की।

(२) ३२ वे मण्डल के अर्द्ध भाग मे जब सूर्य जाता है, तब १ मुहूर्त्त के २/६१ भाग कम १७ मुहूर्त्त का दिन और रात्रि मुहूर्त्त के २/६१ भाग अधिक १३ मुहूर्त्त।

(३) ३३वे मण्डल से ६१वे मण्डल मे जब सूर्य जाता है, तब १६ मुहूर्त्त का दिन, १४ मुहूर्त्त की रात्रि।

(४) सूर्य जब दूसरे से ९२वे मण्डल के अर्द्धभाग मे जाता है, तब १५-१५ मुहूर्त्त के दिन और रात्रि।

(५) सूर्य जब १२२वे मण्डल मे जाता है, तब दिन १४ मुहूर्त्त का होता है।

(६) सूर्य जब १५३वे मण्डल के अर्द्धभाग मे जाता है तब दिन १३ मुहूर्त्त का होता है।

(७) सूर्य जब दूसरे से सर्व बाह्य १८३वे मण्डल मे होता है, तब[1] ठीक १२ मुहूर्त्त का दिन और १८ मुहूर्त्त की रात होती है।

ऋतु से लेकर उत्सर्पिणीकाल तक विविध दिशाओ एवं प्रदेशों (क्षेत्रो) मे अस्तित्व की प्ररूपणा—

१४ जया ण भते ! जंबु० दाहिणड्ढे वासाण पढमे समए पडिवज्जति तया ण उत्तरड्ढे वि

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २०८-२०९

(ख) भगवती०—हिन्दी विवेचनयुक्त (प घेवरचन्दजी) भा २, पृ ७६०-७६१

(ग) दिन और रात्रि का कालमान—घटो के रूप मे, १। मुहूर्त्त = १ घटा १ मुहूर्त्त = ४८ मिनट। यदि सूर्य १ मण्डल मे ४८ घटे रहता हो तो ४८ को १० का भाग करके भाजक सख्या को तिगुनी करने पर जितने घटे मिनट आवें, उतनी सख्या दिन के माप की होती है। जैसे ४८ घटे सूर्य रहता है तो ४८—१० = ४ ३/४ भागशेष = १ = ३० मिनट। १०—३० करने से ३ सिर्फ रहता है। इस प्रकार ४८ को १० का भाग देने से ४।।। घटे और ३ मिनट आते है। फिर उसे तीन गुणा करने पर १४। घटे ९ मिनट आते हैं। अभिप्राय यह है कि जब तक सूर्य एक मण्डल मे ४८ घटे तक रहता है, वहाँ तक इतने घटे (१४। घटे, ९ मिनट) का दिन बडा होता है। रात्रि के लिए भी यही बात समझना। अर्थात्—इतना बडा दिन हो तो रात्रि ९।। घटे, ६ मिनट की होती है।

—भगवती टीकानुवाद टिप्पण खण्ड २ पृ. ९२९

वासाण पढमे समए पडिवज्जइ ? जया ण उत्तरड्ढे वासाण पढमे समए पडिवज्जइ तया ण जबुद्दीवे दीवे मदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमपच्चत्थिमेण अणतरपुरक्खडसमयसि वासाण पढमे समए पडिवज्जति ?

हत, गोयमा ! जदा ण जबु० २ दाहिणड्ढे वासाण प० स० पडिवज्जति तह चेव जाव पडिवज्जति ।

[१४ प्र] 'भगवन् ! जव जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध मे वर्षा (ऋतु) (चौमासे की मौसम) का प्रथम समय होता है, तव क्या उत्तरार्द्ध मे भी वर्षा (ऋतु) का प्रथम समय होता है ? और जव उत्तरार्द्ध मे वर्षा-ऋतु का प्रथम समय होता है, तव जम्बूद्वीप मे मन्दर-पर्वत से पूर्व पश्चिम मे वर्षा-ऋतु का प्रथम समय अनन्तर-पुरस्कृत समय मे होता है ? (अर्थात्-जिस समय दक्षिणार्द्ध मे वर्षाऋतु का प्रारम्भ होता है, उसी समय के तुरत पश्चात् दूसरे समय मे मन्दरपर्वत से पूर्व-पश्चिम मे वर्षा-ऋतु प्रारम्भ होती है ?)

[१४ उ] 'हाँ, गोतम ! (यह इसी तरह होता है । अर्थात्—) जव जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध मे वर्षा (ऋतु) का प्रथम समय होता है तव उसी तरह यावत् होता है ।'

१५ जदा ण भते ! जबु० मदरस्स० पुरत्थिमेण वासाण पढमे समए पडिवज्जति तया ण पच्चत्थिमेण वि वासाण पढमे समए पडिवज्जइ ? जया ण पच्चत्थिमेण वासाण पढमे समए पडिवज्जइ तया ण जाव मदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेण अणतरपच्छाकडसमयसि वासाणं प० स० पडिवन्ने भवति ?

हता, गोयमा ! जदा ण जबु० मदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेण एव चेव उच्चारेयव्व जाव पडिवन्ने भवति ।

[१५ प्र] भगवन् ! जव जम्बूद्वीप मे मन्दराचल से पूर्व मे वर्षा (ऋतु) का प्रथम समय होता है, तव पश्चिम मे भी क्या वर्षा (ऋतु) का प्रथम समय होता है ? और जब पश्चिम मे वर्षा (ऋतु) का प्रथम समय होता है, तव, यावत् मन्दरपर्वत से उत्तर दक्षिण मे वर्षा (ऋतु) का प्रथम समय अनन्तर-पश्चात्कृत् समय मे होता है ? (अर्थात्—मन्दरपर्वत से पश्चिम मे वर्षा ऋतु प्रारम्भ होने के प्रथम समय पहले एक समय मे वहाँ (मन्दरपर्वत के) उत्तर-दक्षिण मे वर्षा प्रारम्भ हो जाती है ?)

[१५ उ] हाँ, गौतम ! (इसी तरह होता है । अर्थात्—) जव जम्बूद्वीप मे मन्दराचल से पूर्व मे वर्षाऋतु प्रारम्भ होती है, तव पश्चिम मे भी इसी प्रकार यावत्—उत्तर दक्षिण मे वर्षाऋतु का प्रथम समय अनन्तर-पश्चात्कृत समय मे होता है, इसी तरह सारा वक्तव्य कहना चाहिए ।

१६ एव जहा समएण अभिलावो भणिओ वासाण तहा आवलियाए[1] वि भाणियव्वो २,

---

१ आवलिका सम्बन्धी पाठ इस प्रकार कहना चाहिए—'जया ण भते ! जबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे वासाण पढमा आवलिया पडिवज्जइ तया ण उत्तरड्ढे वि, जयाण उत्तरड्ढे वासाण पढमा आवलिया पडिवज्जइ, तया ण जबुद्दीवे दीवे मदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमेण अणतरपुरक्खडसमयसि वासाण पढमा आवलिया पडिवज्जइ ?' हता गोयमा ! इत्यादि । इसी प्रकार आनपान आदि पदो का भी सूत्र पाठ समझ लेना चाहिए । —स

आणापाणूण वि ३, थोवेण वि ४, लवेण वि ५, मुहुत्तेण वि ६, अहोरत्तेण वि ७, पक्खेण वि ८, मासेण वि ९, उउणा वि १०। एतेसिं सव्वेसिं जहा समयस्स अभिलावो तहा भाणियव्वो।

[१६] जिस प्रकार वर्षाऋतु के प्रथम समय के विपय मे कहा गया है, उसी प्रकार वर्षा-ऋतु के प्रारम्भ की प्रथम आवलिका के विषय मे भी कहना चाहिए। इसी प्रकार आन-पान, स्तोक, लव, मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, इन सबके विषय मे भी समय के अभिलाप की तरह कहना चाहिए।

१७ जदा ण भते! जबु० दाहिणड्ढे हेमताण पढमे समए पडिवज्जति? जहेव वासाण अभिलावो तहेव हेमताण वि २०, गिम्हाण वि ३० भाणियव्वो जाव उऊ। एव एते तिन्नि वि। एतेसिं तीसं आलावगा भाणियव्वा।

[१७ प्र] भगवन्! जब जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध मे हेमन्त ऋतु का प्रथम समय होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध मे भी हेमन्तऋतु का प्रथम समय होता है, और जब उत्तरार्द्ध मे हेमन्त ऋतु का प्रथम समय होता है, तब क्या जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से पूर्व-पश्चिम मे हेमन्त ऋतु का प्रथम समय अनन्तर पुरस्कृत समय मे होता है? इत्यादि प्रश्न है।

[१७ उ] हे गौतम! इस विषय का सारा वर्णन वर्षा-ऋतु के (अभिलाप) कथन के समान जान लेना चाहिए। इसी तरह ग्रीष्मऋतु का भी वर्णन कह देना चाहिए। हेमन्तऋतु और ग्रीष्मऋतु के प्रथम समय की तरह उनकी प्रथम आवलिका, यावत् ऋतुपर्यन्त सारा वर्णन कहना चाहिए। इस प्रकार वर्षाऋतु, हेमन्तऋतु, और ग्रीष्मऋतु, इन तीनो का एक सरीखा वर्णन है। इसलिए इन तीनो के तीस आलापक होते है।

१८ जया ण भते! जबु० मदरस्स पव्वयस्स दाहिणड्ढे पढमे अयणे पडिवज्जति तदा ण उत्तरड्ढे वि पढमे अयणे पडिवज्जइ? जहा समएण अभिलावो तहेव अयणेण वि भाणियव्वो जाव अणतरपच्छाकडसमयसि पढमे अयणे पडिवन्ने भवति।

[१८ प्र] भगवन्! जम्बूद्वीप के मन्दरपर्वत से दक्षिणार्द्ध मे जब प्रथम 'अयन' होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध मे भी प्रथम 'अयन' होता है?

[१८ उ] गौतम! जिस प्रकार 'समय' के विषय मे आलापक कहा, उसी प्रकार 'अयन' के विषय मे भी कहना चाहिए, यावत् उसका प्रथम समय अनन्तर पश्चात्कृत समय मे होता है, इत्यादि सारा वर्णन कहना चाहिए।

१९. जहा अयणेण अभिलावो तहा सवच्छरेण वि भाणियव्वो, जुएण वि, वाससतेण वि, वाससहस्सेण वि, वाससतसहस्सेण वि, पुव्वगेण वि, पुव्वेण वि, तुडियगेण वि, तुडिएण वि, एव पुव्वे २, तुडिए २, अडडे २, अववे २, हूहूए २, उप्पले २, पउमे २, नलिणे २, अत्थणिउरे २, अउए २, णउए २, पउए २, चूलिया २, सीसपहेलिया २, पलिओवमेण वि, सायरोवमेण वि, भाणितव्वो।

[१९] जिस प्रकार 'अयन' के सम्बन्ध मे कहा; उसी प्रकार सवत्सर के विषय मे भी कहना

वासाण पढमे समए पडिवज्जइ ? जया ण उत्तरड्ढे वासाण पढमे समए पडिवज्जइ तया ण जबुद्दीवे दीवे मदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमपच्चत्थिमेण अणतरपुरक्खडसमयसि वासाण पढमे समए पडिवज्जति ?

हत, गोयमा ! जदा ण जबु० २ दाहिणड्ढे वासाण प० स० पडिवज्जति तह चेव जाव पडिवज्जति ।

[१४ प्र] 'भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध मे वर्षा (ऋतु) (चौमासे की मौसम) का प्रथम समय होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध मे भी वर्षा (ऋतु) का प्रथम समय होता है ? और जब उत्तरार्द्ध मे वर्षा-ऋतु का प्रथम समय होता है, तब जम्बूद्वीप मे मन्दर-पर्वत से पूर्व पश्चिम मे वर्षा-ऋतु का प्रथम समय अनन्तर-पुरस्कृत समय मे होता है ? (अर्थात्-जिस समय दक्षिणार्द्ध मे वर्षाऋतु का प्रारम्भ होता है, उसी समय के तुरत पश्चात् दूसरे समय मे मन्दरपर्वत से पूर्व-पश्चिम मे वर्षा-ऋतु प्रारम्भ होती है ?)

[१४ उ] 'हाँ, गोतम ! (यह इसी तरह होता है। अर्थात्—) जब जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध मे वर्षा (ऋतु) का प्रथम समय होता है तब उसी तरह यावत् होता है।'

१५ जदा ण भते ! जंबु० मदरस्स० पुरत्थिमेण वासाण पढमे समए पडिवज्जति तया ण पच्चत्थिमेण वि वासाण पढमे समए पडिवज्जइ ? जया ण पच्चत्थिमेण वासाण पढमे समए पडिवज्जइ तया ण जाव मदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेण अणतरपच्छाकडसमयसि वासाण प० स० पडिवन्ने भवति ?

हता, गोयमा ! जदा ण जबु० मदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेण एव चेव उच्चारेयव्व जाव पडिवन्ने भवति ।

[१५ प्र] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप मे मन्दराचल से पूर्व मे वर्षा (ऋतु) का प्रथम समय होता है, तब पश्चिम मे भी क्या वर्षा (ऋतु) का प्रथम समय होता है ? और जब पश्चिम मे वर्षा (ऋतु) का प्रथम समय होता है, तब, यावत् मन्दरपर्वत से उत्तर दक्षिण मे वर्षा (ऋतु) का प्रथम समय अनन्तर-पश्चात्कृत् समय मे होता है ? (अर्थात्—मन्दरपर्वत से पश्चिम मे वर्षा ऋतु प्रारम्भ होने के प्रथम समय पहले एक समय मे वहाँ (मन्दरपर्वत के) उत्तर-दक्षिण मे वर्षा प्रारम्भ हो जाती है ?)

[१५ उ] हाँ, गौतम ! (इसी तरह होता है। अर्थात्—) जब जम्बूद्वीप मे मन्दराचल से पूर्व मे वर्षाऋतु प्रारम्भ होती है, तब पश्चिम मे भी इसी प्रकार यावत्—उत्तर दक्षिण मे वर्षाऋतु का प्रथम समय अनन्तर-पश्चात्कृत समय मे होता है, इसी तरह सारा वक्तव्य कहना चाहिए।

१६ एव जहा समएण अभिलावो भणिओ वासाण तहा आवलियाए[1] वि भाणियव्वो २,

---

१ आवलिका सम्बन्धी पाठ इस प्रकार कहना चाहिए—'जया ण भते ! जबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे वासाण पढमा आवलिया पडिवज्जइ तया ण उत्तरड्ढे वि, जयाण उत्तरड्ढे वासाण पढमा आवलिया पडिवज्जइ, तया ण जबुद्दीवे दीवे मदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमेण अणतरपुरक्खडसमयसि वासाण पढमा आवलिया पडिवज्जइ ?' हता गोयमा ! इत्यादि। इसी प्रकार आनपान आदि पदो का भी सूत्र पाठ समझ लेना चाहिए। —स

(असख्यात समय), (३) आणापाणू (आनपान = उच्छ्वास-नि श्वास, सख्यात आवलिकाओं का एक उच्छ्वास और इतनी ही आवलिकाओ का एक नि श्वास), (४) थोव (स्तोक—सात आनप्राणों अथवा प्राणों का एक स्तोक), (५) लव = (सात स्तोको का एक लव), (६) मुहुत्त (मुहूर्त्त = ७७ लव, अथवा ३७७३ श्वासोच्छ्वास, या दो घडी अथवा ४८ मिनट का एक मुहूर्त्त), (७) अहोरत्त—(अहोरात्र—३० मुहूर्त्त का एक अहोरात्र), (८) पक्ख (पक्ष = १५ दिनरात-अहोरात्र का एक पक्ष), (९) मास (मास—दो पक्ष का एक महीना), और उऊ (ऋतु = दो मास की एक ऋतु—मौसम)। **अयन से ले कर सागरोपम तक—अयण** (अयन = तीन ऋतुओ का एक), **सवच्छर** (दो अयन का एक सवत्सर), **जुए** (युग = पाच सवत्सर का एक युग), **वाससत** (बीस युगो का एक वर्षशत), **वाससहस्स** (दश वर्षशत का एक वर्ष—सहस्र—हजार), **वाससतसहस्स** (१०० वर्षसहस्रो का एक वर्षशतसहस्र—एक लाख वर्ष), **पुव्वग** (८४ लाख वर्षो का एक पूर्वांग), **पुव्व** (८४ लाख को ८४ लाख से गुणा करने से जितने वर्ष हो, उतने वर्षो का एक पूर्व), **तुडियग** (एक पूर्व को ८४ लाख से गुणा करने से एक त्रुटितांग), **तुडिए** (एक त्रुटितांग को ८४ लाख से गुणा करने पर एक त्रुटित), इसी प्रकार पूर्व-पूर्व की राशि को ८४ लाख से गुणा करने पर उत्तर-उत्तर की समयराशि क्रमश बनती है। वह इस प्रकार है—अटटांग, अटट, अववांग, अवव, हूहूकांग, हूहूक, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अर्थनुपूरांग, अर्थनुपूर, अयुतांग, अयुत, नयुतांग, नयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग, शीर्षप्रहेलिका (१९४ अंको की सख्या), पल्योपम और सागरोपम (ये दो गणना के विषय नही है, उपमा के विषय हैं, इन्हे उपमाकाल कहते है)।

अवसर्पिणीकाल—जिस काल मे जीवो के सहनन और सस्थान उत्तरोत्तर हीन (न्यून) होते जाते है, आयु और अवगाहना घटती जाती है, तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार—पराक्रम का क्रमश ह्रास होता जाता है, पुद्गलो के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हीन होते जाते है एव शुभ भावो मे कमी और अशुभभावो मे वृद्धि होती जाती है, उसे अवसर्पिणी काल कहते है। यह काल दस कोडाकोडी सागरोपम का होता है। इसके ६ विभाग (आरे) होते हैं। एक प्रकार से यह अर्द्ध काल-चक्र है। अवसर्पिणीकाल का प्रथम विभाग अर्थात् पहले आरे के लिए कहा गया है—**'पढमा ओसप्पिणी'**।

उत्सर्पिणीकाल—जिस काल मे जीवो के सहनन और सस्थान उत्तरोत्तर अधिकाधिक शुभ होते है, आयु और अवगाहना बढती जाती है, उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार—पराक्रम की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है, तथा पुद्गलो के वर्णादि शुभ होते जाते है, अशुभतम भाव क्रमश अशुभतर, अशुभ, शुभ, शुभतर होते हुए शुभतम हो जाते हैं, एव उच्चतम अवस्था आ जाती है, उसे उत्सर्पिणीकाल कहते है। यह काल भी दस कोडाकोडी सागरोपम का होता है। इसके भी ६ विभाग (आरे) होते हैं, यह भी अर्द्धकालचक्र कहलाता है।[1]

लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि एवं पुष्करार्द्ध मे सूर्य के उदय-अस्त तथा दिवस-रात्रि का विचार—

२२ [१] **लवणे ण भते! समुद्दे सूरिया उदीचि-पाईणमुग्गच्छ जच्चेव जबुद्दीवस्स**

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्रांक २११

(ख) भगवतीसूत्रम् (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड-२, पृ १५५

चाहिए, तथैव युग, वर्पशत, वर्पसहस्र, वर्पशतसहस्र, पूर्वाग, पूर्व, त्रुटिताग, त्रुटित, अटटाग, अटट, अववाग, अवव, हूहूकाग, हूहूक, उत्पलाग, उत्पल, पद्माग, पद्म, नलिनाग, नलिन, अर्थनूपुराग, अर्थनूपुर, अयुताग, अयुत, नयुताग, नयुत, प्रयुताग, प्रयुत, चूलिकाग, चूलिका, शीर्पप्रहेलिकाग, शीर्प-प्रहेलिका, पल्योपम और सागरोपम, (इन सब) के सम्बन्ध मे भी (पूर्वोक्त प्रकार मे) कहना चाहिए।

२० जदा ण भंते ! जबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जति तदा ण उत्तरड्ढे वि पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जइ ? जता ण उत्तरड्ढे वि पडिवज्जइ तदा ण जबुद्दीवे दीवे मदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमेण णेवत्थि ओसप्पिणी णेवत्थि उस्सप्पिणी, अवट्ठिते ण तत्थ काले पन्नत्ते समणाउसो ! ?

हता, गोयमा ! त चेव उच्चारेयव्व जाव समणाउसो !

[२० प्र] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप नामक द्वीप के दक्षिणार्द्ध मे प्रथम अवसर्पिणी होती है, तब क्या उत्तरार्द्ध मे भी प्रथम अवसर्पिणी होती है ?, और जब उत्तरार्द्ध मे प्रथम अवसर्पिणी होती है, तब क्या जम्बूद्वीप के मन्दरपर्वत के पूर्व पश्चिम मे अवसर्पिणी नही होती ?, उत्सर्पिणी नही होती ?, किन्तु हे आयुष्मान् श्रमणपु गव ! क्या वहाँ अवस्थित काल कहा गया है ?

[२० उ.] हाँ, गौतम ! इसी तरह होता है। यावत् (श्रमणपु गव ! तक) पूर्ववत् सारा वर्णन कह देना चाहिए।

२१ जहा ओसप्पिणीए आलावओ भणितो एव उस्सप्पिणीए वि भाणितव्वो।

[२१] जिस प्रकार अवसर्पिणी के विषय मे आलापक कहा है, उसी प्रकार उत्सर्पिणी के विषय मे भी कहना चाहिए।

विवेचन—विविध दिशाओं एव प्रदेशो (क्षेत्रो) मे ऋतु से लेकर उत्सर्पिणी काल तक के अस्तित्व की प्ररूपणा—प्रस्तुत सात सूत्रो मे वर्षा आदि ऋतुओ के विविध दिशाओ और प्रदेशो मे अस्तित्व की प्ररूपणा करके अहोरात्र, आनपान, मुहूर्त आदि के अस्तित्व के सम्बन्ध मे अतिदेश किया गया है। तदनन्तर अयन, युग, वर्पशत आदि से लेकर सागरोपमपर्यन्त तथा अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल तक के पूर्वादि दिशाओ तथा प्रदेशो मे अस्तित्व का अतिदेशपूर्वक प्ररूपण किया गया है।

विविध कालमानो की व्याख्या—**वासाण**=वर्षाऋतु का, **हेमताण**=हेमन्तऋतु का, **गिम्हाण**=ग्रीष्मऋतु का। ऋतु भी एक प्रकार का कालमान है। वर्षभर मे यो तो ६ ऋतुएँ मानी जाती हैं—वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर। परन्तु यहाँ तीन ऋतुओ का नामोल्लेख किया गया है, इसलिए चार-चार महीने की एक-एक ऋतु मानी जानी चाहिए। **अणतर-पुरक्खडसमयंसि**=दक्षिणार्द्ध मे प्रारम्भ होने वाली वर्षाऋतु प्रारम्भ की अपेक्षा अनन्तर (तुरन्त पूर्व) भविष्यत्कालीन समय को अनन्तरपुरस्कृत समय कहते है। **अणतरपच्छाकडसमयसि**=पूर्व और पश्चिम महाविदेह मे प्रारम्भ होने वाली वर्षा ऋतु प्रारम्भ की अपेक्षा अनन्तर (तुरन्त बाद के) अतीतकालीन समय को अनन्तर पश्चात्कृत समय कहते हैं। समय (अत्यन्त सूक्ष्मकाल) से लेकर ऋतु तक काल के १० भेद होते हैं—(१) समय, (काल का सबसे छोटा भाग, जिसका दूसरा भाग न हो सके), (२) **आवलिया**

(असख्यात समय), (३) **आणापाणू** (आनपान = उच्छ्वास-नि श्वास, सख्यात आवलिकाओं का एक उच्छ्वास और इतनी ही आवलिकाओ का एक नि श्वास), (४) **थोव** (स्तोक—सात आनप्राणो अथवा प्राणो का एक स्तोक), (५) **लव** = (सात स्तोको का एक लव), (६) **मुहुत्त** (मुहूर्त्त = ७७ लव, अथवा ३७७३ श्वासोच्छ्वास, या दो घडी अथवा ४८ मिनट का एक मुहूर्त्त), (७) **अहोरत्त**—(अहोरात्र—३० मुहूर्त्त का एक अहोरात्र), (८) **पक्ख** (पक्ष = १५ दिनरात-अहोरात्र का एक पक्ष), (९) **मास** (मास—दो पक्ष का एक महीना), और **उऊ** (ऋतु = दो मास की एक ऋतु—मौसम)। **अयन से ले कर सागरोपम तक—अयण** (अयन = तीन ऋतुओ का एक), **सवच्छर** (दो अयन का एक सवत्सर), **जुए** (युग = पाच सवत्सर का एक युग), **वाससत** (बीस युगो का एक वर्षशत), **वाससहस्स** (दश वर्षशत का एक वर्ष—सहस्र—हजार), **वाससतसहस्स** (१०० वर्षसहस्रो का एक वर्षशतसहस्र—एक लाख वर्ष), **पुव्वग** (८४ लाख वर्षो का एक पूर्वांग), **पुव्व** (८४ लाख को ८४ लाख से गुणा करने से जितने वर्ष हो, उतने वर्षो का एक पूर्व), **तुडियग** (एक पूर्व को ८४ लाख से गुणा करने से एक त्रुटितांग), **तुडिए** (एक त्रुटितांग को ८४ लाख से गुणा करने पर एक त्रुटित), इसी प्रकार पूर्व-पूर्व की राशि को ८४ लाख से गुणा करने पर उत्तर-उत्तर की समयराशि क्रमश बनती है। वह इस प्रकार है—अटटांग, अटट, अववांग, अवव, हूहूकांग, हूहूक, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अर्थनुपूरांग, अर्थनुपूर, अयुतांग, अयुत, नयुतांग, नयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग, शीर्षप्रहेलिका (१९४ अको की सख्या), पल्योपम और सागरोपम (ये दो गणना के विषय नही है, उपमा के विषय है, इन्हे उपमाकाल कहते है)।

अवसर्पिणीकाल—जिस काल मे जीवो के सहनन और सस्थान उत्तरोत्तर हीन (न्यून) होते जाते है, आयु और अवगाहना घटती जाती है, तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार—पराक्रम का क्रमश ह्रास होता जाता है, पुद्गलो के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हीन होते जाते है एव शुभ भावो मे कमी और अशुभभावो मे वृद्धि होती जाती है, उसे अवसर्पिणी काल कहते हैं। यह काल दस कोडाकोडी सागरोपम का होता है। इसके ६ विभाग (आरे) होते है। एक प्रकार से यह अर्द्ध काल-चक्र है। अवसर्पिणीकाल का प्रथम विभाग अर्थात् पहले आरे के लिए कहा गया है—**'पढमा ओसप्पिणी'**।

उत्सर्पिणीकाल—जिस काल मे जीवो के सहनन और सस्थान उत्तरोत्तर अधिकाधिक शुभ होते है, आयु और अवगाहना बढती जाती है, उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार—पराक्रम की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है, तथा पुद्गलो के वर्णादि शुभ होते जाते है, अशुभतम भाव क्रमश अशुभतर, अशुभ, शुभ, शुभतर होते हुए शुभतम हो जाते है, एव उच्चतम अवस्था आ जाती है, उसे उत्सर्पिणीकाल कहते है। यह काल भी दस कोडाकोडी सागरोपम का होता है। इसके भी ६ विभाग (आरे) होते हैं, यह भी अर्द्धकालचक्र कहलाता है।[1]

लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि एवं पुष्करार्द्ध मे सूर्य के उदय-अस्त तथा दिवस-रात्रि का विचार—

२२ [१] **लवणे ण भंते! समुद्दे सूरिया उदीचि-पाईणमुग्गच्छ जच्चेव जबुद्दीवस्स**

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २११

(ख) भगवतीसूत्रम् (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड-२, पृ १५५

वत्तव्वता भणिता सच्चेव सव्वा अपरिसेसिता लवणसमुद्दस्स वि भाणितव्वा, नवरं अभिलावो इमो जाणितव्वो— जता णं भंते ! लवणे समुद्दे दाहिणड्ढे दिवसे भवति तदा णं लवणे समुद्दे पुरत्थिम-पच्चत्थिमेणं राती भवति ?' एतेणं अभिलावेणं नेतव्वं—

[२२-१ प्र] भगवन् ! लवणसमुद्र मे सूर्य ईशानकोण मे उदय हो कर क्या अग्निकोण मे जाते है ?, इत्यादि सारा प्रश्न पूछना चाहिए।

[२२-१ उ] गौतम ! जम्बूद्वीप मे सूर्यों के सम्बन्ध मे जो वक्तव्यता कही गई है, वह सम्पूर्ण वक्तव्यता यहाँ लवणसमुद्रगत सूर्यों के सम्बन्ध मे भी कहनी चाहिए। विशेष बात यह है कि इस वक्तव्यता मे पाठ का उच्चारण इस प्रकार करना चाहिए—'भगवन् ! जब लवणसमुद्र के दक्षिणार्द्ध मे दिन होता है,' इत्यादि सारा कथन उसी प्रकार कहना चाहिए, यावत् तब लवणसमुद्र के पूर्व पश्चिम मे रात्रि होती है।' इसी अभिलाप द्वारा सब वर्णन जान लेना चाहिए।

[२] जदा णं भंते ! लवणसमुद्दे दाहिणड्ढे पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जति तदा णं उत्तरड्ढे वि पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जइ ? जदा णं उत्तरड्ढे पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जइ तदा णं लवणसमुद्दे पुरत्थिम-पच्चत्थिमेणं नेवत्थि ओसप्पिणी, णेवत्थि उस्सप्पिणी समणाउसो ! ?

हंता, गोयमा ! जाव समणाउसो !

[२२-२ प्र] भगवन् ! जब लवणसमुद्र के दक्षिणार्द्ध मे प्रथम अवसर्पिणी (काल) होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध मे भी प्रथम अवसर्पिणी (काल) होता है ? और जब उत्तरार्द्ध मे प्रथम अवसर्पिणी (काल) होता है, तब क्या लवणसमुद्र के पूर्व-पश्चिम मे अवसर्पिणी नही होती ? उत्सर्पिणी नही होती ? किन्तु हे दीर्घजीवी श्रमणपुंगव ! क्या वहा अवस्थित (अपरिवर्तनीय) काल होता है ?

[२२-२ उ] हाँ, गौतम ! (यह इसी तरह होना है।) और वहा यावत् आयुष्मान् श्रमणवर ! अवस्थित काल कहा गया है।

२३ धायतिसडे णं भंते ! दीवे सूरिया उदीचि-पादीणमुग्गच्छ ? जहेव जंबुद्दीवस्स वत्तव्वता भणिता स च्चेव धायइसडस्स वि भाणितव्वा, नवरं इमेणं अभिलावेणं सव्वे आलावगा भाणितव्वा—जता णं भंते ! धायतिसडे दीवे दाहिणड्ढे दिवसे भवति तदा णं उत्तरड्ढे वि ? जदा णं उत्तरड्ढे वि तदा णं धायइसडे दीवे मंदराणं पव्वताणं पुरत्थिम-पच्चत्थिमेणं राती भवति ?

हंता, गोयमा ! एवं जाव राती भवति।

[२३ प्र] भगवन् ! धातकीखण्ड द्वीप मे सूर्य, ईशानकोण मे उदय हो कर क्या अग्निकोण मे अस्त होते है ? इत्यादि प्रश्न।

[२३ उ] हे गौतम ! जिस प्रकार की वक्तव्यता जम्बूद्वीप के सम्बन्ध मे कही गई है, उसी प्रकार की सारी वक्तव्यता धातकीखण्ड के विषय मे भी कहनी चाहिए। परन्तु विशेष यह है कि इस पाठ का उच्चारण करते समय सभी आलापक इस प्रकार कहने चाहिए—

[प्र] भगवन् ! जब धातकीखण्ड के दक्षिणार्द्ध मे दिन होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध मे भी दिन होता है ? और जब उत्तरार्द्ध मे दिन होता है, तब क्या धातकीखण्ड द्वीप के मन्दरपर्वतो से पूर्व पश्चिम मे रात्रि होती है ?

[उ.] हाँ, गौतम ! यह इसी तरह (होता है।) यावत् रात्रि होती है।

२४ जदा ण भंते ! धायइसडे दीवे मंदराण पव्वताण पुरत्थिमेणं दिवसे भवति तदा ण पच्चत्थिमेण वि ? जदा ण पच्चत्थिमेण वि तदा ण धायइसडे दीवे मदराण पव्वयाणं उत्तरदाहिणेण राती भवति ?

हता, गोयमा ! जाव भवति। एव एतेण अभिलावेण नेयव्व जाव०।

[२४ प्र] भगवन् ! जब धातकीखण्डद्वीप के मन्दरपर्वतो से पूर्व मे दिन होता है, तब क्या पश्चिम मे भी दिन होता है ? और जब पश्चिम मे दिन होता है, तब क्या धातकीखण्डद्वीप के मन्दरपर्वतो से उत्तर-दक्षिण मे रात्रि होती है ?

[२४ उ] हां, गौतम ! (यह इसी तरह होता है,) यावत् (रात्रि) होती है और इसी अभिलाप से जानना चाहिए, यावत्—

२५. जदा णं भंते ! दाहिणड्ढे पढमा ओसप्पिणी तदा ण उत्तरड्ढे, जदा ण उत्तरड्ढे तदा ण धायइसडे दीवे मदराण पव्वयाण पुरत्थिम-पच्चत्थिमेण णेवत्थि ओसप्पिणी जाव समणाउसो ! ?

हता, गोयमा ! जाव समणाउसो !

[२५ प्र] भगवन् ! जब दक्षिणार्द्ध मे प्रथम अवसर्पिणी होती है, तब क्या उत्तरार्द्ध मे भी प्रथम अवसर्पिणी होती है ? और जब उत्तरार्द्ध मे प्रथम अवसर्पिणी होती है, तब क्या धातकीखण्ड द्वीप के मन्दरपर्वतो से पूर्व पश्चिम मे भी अवसर्पिणी नही होती ? यावत् उत्सर्पिणी नही होती ? परन्तु आयुष्मान् श्रमणवर्य ! क्या वहाँ अवस्थितकाल होता है ?

[२५ उ] हां, गौतम ! (यह इसी तरह होता है,) यावत् हे आयुष्मान् श्रमणवर्य ! अवस्थित काल होता है।

२६ जहा लवणसमुद्दस्स वत्तव्वता तहा कालोदस्स वि भाणितव्वा, नवर कालोदस्स नामं भाणितव्व।

[२६] जैसे लवणसमुद्र के विषय मे वक्तव्यता कही, वैसे कालोद (कालोदधि) के सम्बन्ध मे भी कह देनी चाहिए। विशेष इतना ही है कि वहाँ लवणसमुद्र के स्थान पर कालोदधि का नाम कहना चाहिए।

२७ अब्भितरपुक्खरद्धे णं भंते ! सूरिया उदीचि-पाईणमुग्गच्छ जहेव धायइसडस्स वत्तव्वता तहेव अब्भितरपुक्खरद्धस्स वि भाणितव्वा। नवरं अभिलावो जाणेयव्वो जाव तदा ण अब्भितर-

पुक्खरद्धे मदराण पुरत्थिम-पच्चत्थिमेण नेवत्थि श्रोसप्पिणी नेवत्थि उस्सप्पिणी, अवट्ठिते णं तत्थ काले पन्नत्ते समणाउसो !

सेव भते ! सेव भते ! त्ति० ।

।। पचमसतस्स पढमश्रो उद्देसश्रो ।।

[२७ प्र] भगवन् ! आभ्यन्तरपुष्कराद्ध मे सूर्य, ईशानकोण मे उदय होकर अग्निकोण मे अस्त होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ?

[२७ उ] जिस प्रकार धातकीखण्ड की वक्तव्यता कही गई, उसी प्रकार आभ्यन्तरपुष्करार्द्ध की वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष यह है कि धातकीखण्ड के स्थान मे आभ्यन्तरपुष्करार्द्ध का नाम कहना चाहिए, यावत्—आभ्यन्तरपुष्करार्द्ध मे मन्दरपर्वतो के पूर्व-पश्चिम मे न तो अवसर्पिणी है, और न ही उत्सर्पिणी है, किन्तु हे आयुष्मन् श्रमण ! वहाँ सदैव अवस्थित (अपरिवर्तनीय) काल कहा गया है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है !, भगवन् ! यह इसी प्रकार है' यो कहकर यावत् गौतम स्वामी विचरण करने लगे।

विवेचन—लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि तथा पुष्करार्द्ध मे सूर्य के उदय-अस्त एवं दिवस-रात्रि का विचार—प्रस्तुत पाच सूत्रो (सू २२ से २७ तक) मे लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि एव पुष्करार्द्ध को लेकर विभिन्न दिशाओ की अपेक्षा सूर्योदय तथा दिन-रात्रि-आगमन का विचार किया गया है।

जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र आदि का परिचय—जैन भौगोलिक दृष्टि से जम्बूद्वीप १ लाख योजन का विस्तृत गोलाकार है। जम्बूद्वीप मे दो सूर्य और दो चन्द्र हैं। ये मनुष्यलोक मे मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए नित्यगति करते है, इन्ही से काल का विभाग होता है। जम्बूद्वीप को चारो ओर से घेरे हुए लवणसमुद्र है, जिसका पानी खारा है। यह दो लाख योजन विस्तृत है। जम्बूद्वीप और लवणसमुद्र दोनो वलयाकार (गोल) हैं। लवणसमुद्र के चारो ओर धातकीखण्ड द्वीप है। यह चार लाख योजन का वलयाकार है। इसमे १२ सूर्य एव १२ चन्द्रमा है। धातकीखण्ड के चारो ओर कालोद (कालोदधि) समुद्र है, यह ८ लाख योजन का वलयाकार है। कालोद समुद्र के चारो ओर १६ लाख योजन का बलयाकार पुष्करवरद्वीप है। उसके बीच मे मानुषोत्तरपर्वत आ गया है, जो अढाई द्वीप और दो समुद्र के चारो ओर गढ (दुर्ग) के समान है तथा चूडी के समान गोल है। यह पर्वत बीच मे आ जाने से पुष्करवरद्वीप के दो विभाग हो गये है—(१) आभ्यन्तर पुष्करवरद्वीप और (२) बाह्य पुष्करवरद्वीप। आभ्यन्तर पुष्करवरद्वीप मे ७२ सूर्य और ७२ चन्द्र हैं। यह पर्वत मनुष्य-क्षेत्र की सीमा निर्धारित करता है, इसलिए इसे मानुषोत्तरपर्वत कहते हैं। मानुषोत्तरपर्वत के आगे भी असख्यात द्वीप-समुद्र हैं, किन्तु उनमे मनुष्य नही हैं। निष्कर्ष यह है कि मनुष्यक्षेत्र मे जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड द्वीप और अर्द्धपुष्करवर द्वीप, ये ढाई द्वीप और लवणसमुद्र तथा कालोद-समुद्र ये दो

समुद्र हैं। अढाई द्वीपो और दो समुद्रो की कुल लम्बाई-चौडाई ४५ लाख योजन है। अढाई द्वीप मे कुल १३२ सूर्य और १३२ चन्द्र हैं, और वे चर (गतिशील) है, इससे आगे के सूर्य-चन्द्र अचर (स्थिर) है। इसलिए अढाई द्वीप-समुद्रवर्ती मनुष्यक्षेत्र या समयक्षेत्र मे ही दिन, रात्रि, अयन, पक्ष, वर्ष आदि का काल का व्यवहार होता है। रात्रि-दिवस आदि काल का व्यवहार सूर्य-चन्द्र की गति पर निर्भर होने से तथा इस मनुष्यक्षेत्र के आगे सूर्य-चन्द्र के विमान जहाँ के तहाँ स्थिर होने से, वहाँ दिन रात्रि आदि काल व्यवहार नही होता।[1]

॥ पचम शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवतीसूत्र (हिन्दी विवेचनयुक्त) भा २, पृ ७७३-७७४

(ख) तत्त्वार्थसूत्र भाष्य अ ३, सू १२ से १४ तक, पृ ८३ से ८५, तथा अ ४, सू १४-१५, पृ १०० से १०३ तक

बिइओ उद्देसओ : 'अणिल'

द्वितीय उद्देशक : 'अनिल'

ईषत्पुरोवात आदि चतुर्विध वायु की दिशा, विदिशा, द्वीप, समुद्र आदि विविध पहलुओं से प्ररूपणा—

१ रायगिहे नगरे जाव एव वदासी—

[१] राजगृह नगर मे यावत् (श्री गौतमस्वामी ने) इस प्रकार पूछा—

२ अत्थि ण भते ! ईसि पुरेवाता, पत्था वाता, मदा वाता, महावाता वायति ?
हता, अत्थि ।

[२ प्र] भगवन् ! क्या ईषत्पुरोवात (ओस आदि से कुछ स्निग्ध, या चिकनी व कुछ गीली हवा), पथ्यवात (वनस्पति आदि के लिए हितकर वायु), मन्दवात (धीमे-धीमे चलने वाली हवा), तथा महावात (तीव्रगति से चलने वाली, प्रचण्ड तूफानी वायु, झझावात, या अन्धड उद्दण्ड आँधी आदि) बहती (चलती) है ?

[२ उ] हाँ, गौतम ! पूर्वोक्त वायु (हवाएँ) बहती (चलती) है ।

३ अत्थि ण भते ! पुरत्थिमेण ईसि पुरेवाता, पत्था वाता, मदा वाता, महावाता वायति ?
हता, अत्थि ।

[३ प्र] भगवन् ! क्या पूर्व दिशा से ईषत्पुरोवात, पथ्यवात, मन्दवात और महावात बहती हैं ?'

[३ उ] हाँ, गौतम ! (उपर्युक्त समस्त वायु पूर्वदिशा मे) बहती हैं ।

४ एव पच्चत्थिमेण, दाहिणेण, उत्तरेण, उत्तर-पुरत्थिमेण, पुरत्थिम-दाहिणेण, दाहिण-पच्चत्थिमेण, पच्छिम-उत्तरेण ।

[४] इसी तरह पश्चिम मे, दक्षिण मे, उत्तर मे, ईशानकोण मे, आग्नेयकोण मे, नैऋत्यकोण मे और वायव्यकोण मे (पूर्वोक्त सब वायु बहती हैं ।)

५. जदा ण भते ! पुरत्थिमेण ईसि पुरेवाता पत्था वाता मदा वाता महावाता वायति तदा ण पच्चत्थिमेण वि ईसि पुरेवाता० ? जया ण पच्चत्थिमेण ईसि पुरेवाता० तदा ण पुरत्थिमेण वि ? -

हता, गोयमा ! जदा ण पुरत्थिमेण तदा णं पच्चत्थिमेण वि ईसिं, जया ण पच्चत्थिमेण तदा ण पुरत्थिमेण वि ईसि । एव दिसासु ।

[५ प्र] भगवन्! जब पूर्व मे ईषत्पुरोवात, पथ्यवात, मन्दवात और महावात वहती है, तब क्या पश्चिम मे भी ईषत्पुरोवात आदि हवाएँ वहती है ?, और जब पश्चिम मे ईषत्पुरोवात आदि वायु बहती हैं, तब क्या पूर्व मे भी (वे हवाएँ) वहती है ?

[५ उ] हाँ, गौतम! जब पूर्व मे ईषत्पुरोवात आदि वायु बहती है, तब वे सब पश्चिम मे भी बहती हैं, और जब पश्चिम मे ईषत्पुरोवात आदि वायु वहती है, तब वे सब हवाएँ पूर्व मे भी बहती हैं। इसी प्रकार सब दिशाओ मे भी उपर्युक्त कथन करना चाहिए।

६ एव विदिसासु वि।

[६] इसी प्रकार समस्त विदिशाओ मे भी उपर्युक्त आलापक कहना चाहिए।

७. अत्थि ण भते! दीविच्चया ईसिं ?

हता, अत्थि।

[७ प्र] भगवन्! क्या द्वीप मे भी ईषत्पुरोवात आदि वायु होती है ?

[७ उ] हाँ, गौतम! होती है।

८ अत्थि ण भते! सामुद्दया ईसिं ?

हता, अत्थि।

[८ प्र] भगवन्! क्या समुद्र मे भी ईषत्पुरोवात आदि हवाएँ होती हैं ?

[८ उ] हाँ, गौतम! (समुद्र मे भी ये सब हवाएँ) होती है।

९. [१] जया ण भते! दीविच्चया ईसिं० तदा ण सामुद्दया वि ईसिं०, जदा ण सामुद्दया ईसिं० तदा ण दीविच्चया वि ईसिं० ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[९-१ प्र] भगवन्! जब द्वीप मे ईषत्पुरोवात आदि वायु बहती है, तब क्या सामुद्रिक ईषत्पुरोवात आदि वायु बहती है ? और जब सामुद्रिक ईषत्पुरोवात आदि वायु बहती हैं, तब क्या द्वीपीय ईषत्पुरोवात आदि वायु बहती है ?

[९-१ उ] हे गौतम! यह बात (अर्थ) समर्थ (शक्य) नही है।

[२] से केणट्ठेण भते! एव वुच्चति 'जदा णं दीविच्चया ईसिं णो ण तया सामुद्दया ईसिं, जया ण सामुद्दया ईसिं णो ण तदा दीविच्चया ईसिं ?

गोयमा! तेसि णं वाताण अन्नमन्नस्स विवच्चासेण लवणे समुद्दे वेल नातिक्कमति से तेणट्ठेणं जाव वाता वायति।

[९-२ प्र] भगवन्! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि जब द्वीपीय ईषत्पुरोवात आदि

हवाएँ बहती है, तब सामुद्रिक ईषत्पुरोवात आदि हवाए नही बहती, और जब सामुद्रिक ईषत्पुरोवात आदि हवाएँ बहती है, तब द्वीपीय ईषत्पुरोवात आदि हवाएँ नही बहती ?

[९-२ उ] गौतम ! ये सब वायु (हवाएँ) परस्पर व्यत्यासरूप से (एक दूसरे के विपरीत, पृथक्-पृथक् तथा एक दूसरे से साथ नही) बहती हैं। (जब द्वीप की ईषत्पुरोवात आदि वायु बहती हैं, तब समुद्र की नही बहती, और जब समुद्र की ईषत्पुरोवात आदि वायु बहती है, तब द्वीप की ये सब वायु नही बहती। इस प्रकार ये सब हवाएँ एक दूसरे के विपरीत बहती हैं।) साथ ही, वे वायु लवणसमुद्र की वेला का उल्लघन नही करती। इस कारण यावत् वे वायु पूर्वोक्त रूप से बहती हैं।

१० [१] अत्थि ण भते ! ईसिं पुरेवाता पत्था वाता मदा वाता महावाता वायति ?

हता, अत्थि।

[१०-१ प्र] भगवन् ! (यह बताइए कि) क्या ईषत्पुरोवात, पथ्यवात, मन्दवात और महावात बहती (चलती) है।

[१०-१ उ] हाँ, गौतम ! (ये सब) बहती है।

[२] कया ण भते ! ईसिं जाव वायति ?

गोयमा ! जया ण वाउयाए अहारिय रियति तदा ण ईसिं जाव वायति।

[१०-२ प्र] भगवन् ! ईषत्पुरोवात आदि वायु कब बहती है ?

[१०-२ उ] गौतम ! जब वायुकाय अपने स्वभावपूर्वक गति करता है, तब ईषत्पुरोवात आदि वायु यावत् बहती है।

११. [१] अत्थि ण भते ! ईसिं ?

हता, अत्थि।

[११-१ प्र] भगवान् ! क्या ईषत्पुरोवात आदि वायु है ?

[११-१ उ] हाँ, गौतम ! हैं।

[२] कया ण भते ! ईसिं ?

गोतमा ! जया ण वाउयाए उत्तरकिरिय रियइ तया ण ईसिं।

[११-२ प्र] भगवान् ईषत्पुरोवात आदि वायु (और भी) कभी चलती (बहती) है ?

[११-२ उ] हे गौतम ! जब वायुकाय उत्तरक्रियापूर्वक (वैक्रिय शरीर बना कर) गति करता है, तब (भी) ईषत्पुरोवात आदि वायु बहती (चलती) हैं।

१२ [१] अत्थि ण भते ! ईसिं ?

हता, अत्थि।

[१२-१ प्र] भगवन् ! ईषत्पुरोवात आदि वायु (ही) हैं (न) ?'

[१२-१ उ] हाँ, गौतम ! वे (सब वायु ही) है।

[२] कया ण भते ! ईसिं पुरेवाता पत्था वाता० ?

गोयमा ! जया ण वाउकुमारा वाउकुमारीओ वा अप्पणो वा परस्स वा तदुभयस्स वा अट्ठाए वाउकाय उदीरेंति तया ण ईसिं पुरेवाया जाव वायति ।

[१२-२ प्र] भगवन् ! ईषत्पुरोवात, पथ्यवात आदि (और) कब (किस समय मे) चलती हैं ?

[१२-२ उ] गौतम ! जब वायुकुमार देव और वायुकुमार देवियाँ, अपने लिए, दूसरो के लिए या दोनो के लिए वायुकाय की उदीरणा करते है, तब ईषत्पुरोवात आदि वायु यावत् चलती (बहती) हैं।

१३ वाउकाए ण भते ! वाउकाय चेव आणमति वा पाणमति वा ?

जहा खंदए तहा चत्तारि आलावगा नेयव्वा—अणेगसतसहस्स० । पुट्ठे उद्दाति वा । ससरीरी निक्खमति ।

[१३-१ प्र] भगवन् ! क्या वायुकाय वायुकाय को ही श्वासरूप मे ग्रहण करता है और नि श्वासरूप मे छोडता है ?

[१३ उ] गौतम ! इस सम्बन्ध मे स्कन्दक परिव्राजक के उद्देशक मे कहे अनुसार चार आलापक जानना चाहिए—यावत् (१) अनेक लाख बार मर कर, (२) स्पृष्ट हो (स्पर्श पा) कर, (३) मरता है और (४) शरीर-सहित निकलता है।

विवेचन—ईषत्पुरोवात आदि चतुर्विध वायु की विविध पहलुओ से प्ररूपणा—प्रस्तुत १३ सूत्रो मे ईषत्पुरोवात आदि चारो प्रकार के वायु के सम्बन्ध मे निम्नलिखित सात पहलुओ से प्ररूपणा की गई है—

(१) ईषत्पुरोवात आदि चारो प्रकार की वायु चलती हैं।

(२) ये सब सुमेरु से पूर्वादि चारो दिशाओ और ईशानादि चारो विदिशाओ मे चलती है।

(३) ये पूर्व मे बहती हैं, तब पश्चिम मे भी बहती है, और पश्चिम मे बहती है, तब पूर्व मे भी।

(४) द्वीप और समुद्र मे भी ये सब वायु होती है।

(५) किन्तु जब ये द्वीप मे बहती हैं, तब समुद्र मे नही बहती और समुद्र मे बहती है, तब द्वीप मे नही बहती, क्योकि ये सब एक दूसरे से विपरीत पृथक्-पृथक् बहती हैं, लवणसमुद्रीय वेला का अतिक्रमण नही करती।

(६) ईषत्पुरोवात आदि वायु हैं, और वे तीन समय मे तीन कारणो से चलती हैं—(१) जब

वायुकाय स्व-स्वभावपूर्वक गति करता है, (२) जब वह उत्तरवैक्रिय मे वैक्रिय शरीर बना कर गति करता है, तथा (३) जब वायुकुमार देव-देवीगण स्व, पर एव उभय के निमित्त वायुकाय को उदीरणा करते है।

(७) वायुकाय अचित्त हुए वायुकाय को ही श्वासोच्छ्वास के रूप मे ग्रहण करता—छोडता है।[1]

द्वीपीय और समुद्रीय हवाएँ एक साथ नहीं बहतीं—द्वीपसम्बन्धी और समुद्रसम्बन्धी वायु परस्पर विपर्यासपूर्वक बहती है, इसका तात्पर्य यह है कि जिस समय अमुक प्रकार की ईषत्पुरोवात आदि वायु चलती है, तब उसी प्रकार की दूसरी ईषत्पुरोवात आदि वायु नही चलती। इसका कारण है—वायु के द्रव्यो का स्वभाव एव सामर्थ्य ऐसा है कि वह समुद्र की वेला का अतिक्रमण नही करती। इसका आशय यह भी सम्भव है—ग्रीष्मऋतु मे समुद्र की ओर से आई हुई शीत (जल से स्निग्ध एव ठडी) वायु जब चलती है, तब द्वीप की जमीन से उठी हुई उष्ण वायु नही चलती। शीत ऋतु मे जब गर्म हवाएँ चलती हैं, तब वे द्वीप की जमीन से आई हुई होती है। यानी जब द्वीपीय उष्णवायु चलती है, तब समुद्रीय शीतवायु नही चलती। समुद्र की शीतल और द्वीप की उष्ण दोनो हवाएँ परस्पर विरुद्ध तथा परस्पर उपघातक होने मे ये दोनो एक साथ नही चलती अपितु उन दोनो मे से एक ही वायु चलती है।[2]

चतुर्विध वायु के बहने के तीन कारण—(१) ये अपनी स्वाभाविक गति से, (२) उत्तर वैक्रिय द्वारा कृत वैक्रियशरीर से, (३) वायुकुमार देव—देवीगण द्वारा स्व, पर और उभय के लिए उदीरणा किये जाने पर। यहाँ एक ही बात को तीन बार विविध पहलू से पूछे जाने के कारण तीन सूत्रो की रचना की गई है, इसलिए पुनरुक्ति दोष नही समझना चाहिए। दूसरी वाचना के अनुसार ये तीन कारण पृथक्-पृथक् सूत्रो मे बताए है, वे पृथक्-पृथक् प्रकार की वायु के बहने के बताए हैं। यथा—पहला कारण—महावायु के सिवाय अन्य वायुओ के बहने का है, दूसरा कारण—मन्दवायु के सिवाय अन्य तीन वायु के बहने का है। और तीसरा कारण चारो प्रकार की वायु के बहने का है।[3]

वायुकाय के श्वासोच्छ्वास आदि के सम्बन्ध मे चार आलापक—(१) स्कन्दक प्रकरणानुसार वायुकाय अचित्त (निर्जीव), वायु को श्वासोच्छ्वास रूप मे ग्रहण-विसर्जन करता है (२) वायुकाय, स्वकाय शस्त्र के साथ अथवा परकायशस्त्र (पखे आदि परनिमित्त से उत्पन्न हुई वायु) से स्पृष्ट होकर मरता है, बिना स्पृष्ट हुए नही मरता, (३) वायुकाय अनेक लाख बार मर-मर कर पुन पुन उसी वायुकाय मे जन्म लेता है। (४) वायुकाय तैजस कार्मणशरीर की अपेक्षा सशरीरी परलोक मे जाता है, तथा औदारिक और वैक्रिय शरीर की अपेक्षा अशरीरी होकर परलोक मे जाता है।[4]

---

१ वियाहपण्णत्ति सुत्त (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) भा १, पृ-१८८ से १९० तक

२ (क) भगवती सूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड-२, पृ १५८

(ख) भगवती अ वृत्ति, पत्राक २१२

३ भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक २१२

४ (क) भगवतीसूत्र हिन्दीविवेचनयुक्त भा २, पृ ७८०

(ख) भगवती० (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ-१६०

(ग) इस प्रकरण का विस्तृत विवेचन भगवती शतक २, उद्देशक १ सू तक स्कन्दक प्रकरण मे किया गया है। जिज्ञासुओ को वहा से देख लेना चाहिए।

कठिन शब्दो के विशेष अर्थ—'दीविच्चगा'=द्वीपसम्बन्धी, 'सामुद्दगा'=सामुद्रिक-समुद्र सम्बन्धी। वायति=वहती है—चलती है। अहारिय रियति=अपनी रीति या स्वभावानुसार गति करता है। पुट्ठे=स्पृष्ट होकर, स्पर्श पाकर।[1]

ओदन, कुल्माष और सुरा की पूर्वावस्था और पश्चादवस्था के शरीर का प्ररूपण—

१४ अह भंते! ओदणे कुम्मासे सुरा एते ण किंसरीरा ति वत्तव्व सिया?

गोयमा! ओदणे कुम्मासे सुराए य जे घणे दव्वे एए ण पुव्वभावपण्णवण पडुच्च वणस्सति-जीवसरीरा, तओ पच्छा सत्थातीता सत्थपरिणामिता अगणिज्झामिता अगणिज्झूसिता अगणिपरिणा-मिता अगणिजीवसरीरा इ वत्तव्व सिया। सुराए य जे दवे दव्वे एए ण पुव्वभावपण्णवण पडुच्च आउजीवसरीरा, ततो पच्छा सत्थातीता जाव अगणिसरीरा ति वत्तव्व सिया।

[१४ प्र] भगवन्! अब यह बताएँ कि ओदन (चावल), कुल्माष (उडद) और सुरा (मदिरा), इन तीनो द्रव्यो को किन जीवो का शरीर कहना चाहिए?

[१४ उ] गौतम! ओदन, कुल्माष और सुरा मे जो घन (ठोस या कठिन) द्रव्य है, वे पूर्वभाव-प्रज्ञापना की अपेक्षा से वनस्पतिजीव के शरीर है। उसके पश्चात् जब वे (ओदनादि द्रव्य) शस्त्रातीत (ऊखल, मूसल आदि शस्त्रो से कूटे जा कर पूर्वपर्याय से अतिक्रान्त) हो जाते है, शस्त्र-परिणत (शस्त्र लगने से नये रूप मे परिवर्तित) हो (बदल) जाते है, अग्निध्यामित (आग से जलाये गए एव काले वर्ण के बने हुए), अग्निभूषित (अग्नि से सेवित—तप्त हो जाने से पूर्वस्वभाव से रहित बने हुए) अग्निसेवित और अग्निपरिणामित (अग्नि मे जल जाने से नये आकार मे परिवर्तित) हो जाते हैं, तब वे द्रव्य अग्नि के शरीर कहलाते है। तथा सुरा (मदिरा) मे जो तरल पदार्थ है, वह पूर्वभाव प्रज्ञापना की अपेक्षा से अप्कायिक जीवो का शरीर है, और जब वह तरल पदार्थ (पूर्वोक्त प्रकार से) शस्त्रातीत यावत् अग्निपरिणामित हो जाता है, तब वह भाग, अग्निकाय—शरीर कहा जा सकता है।

विवेचन—चावल, उड़द और मदिरा की पूर्वावस्था और पश्चादवस्था के शरीर का प्ररूपण— प्रस्तुत सूत्र मे चावल, उडद, और मदिरा इन तीनो को किस किस जीव का शरीर कहा जाए? यह प्रश्न उठा कर इनकी पूर्वावस्था और पश्चादवस्था का विश्लेषण करके शास्त्रीय समाधान किया गया है।

पूर्वावस्था की अपेक्षा से—चावल, उडद, और मद्य, इन तीनो मे जो घन—ठोस या कठिन द्रव्य हैं, वे भूतपूर्व वनस्पतिकाय के शरीर है। मद्य मे जो तरल पदार्थ है, वह भूतपूर्व अप्काय के शरीर है।

पश्चादवस्था की अपेक्षा से—किन्तु इन सब के शस्त्र-परिणत, अग्निसेवित, अग्निपरिणामित

---

१ भगवती अ वृत्ति, पत्राक २१२

आदि हो जाने तथा इनके रंगरूप, आकार—रस आदि के बदल जाने से इन्हे भूतपूर्व अग्निकाय के शरीर कहा जा सकता है ।[1]

लोह आदि के शरीर का उनकी पूर्वावस्था और पश्चादवस्था की दृष्टि से निरूपण—

१५ अह ण भते ! अये तवे तउए सीसए उवले कसट्टिया, एए ण किंसरीरा इ वत्तव्व सिया ?

गोयमा ! अए तवे तउए सीसए उवले कसट्टिया,[2] एए ण पुव्वभावपण्णवण पडुच्च पुढविजीवसरीरा, तओ पच्छा सत्थातीता जाव अगणिजीवसरीरा ति वत्तव्व सिया ।

[१५ प्र] भगवन् ! प्रश्न है—लोहा, तावा, त्रपुष् (कलाई या रागा), शीशा, उपल (जला हुआ पत्थर—कोयला) और कसट्टिका (लोहे का काट—मैल), ये सब द्रव्य किन (जीवो के) शरीर कहलाते है ?

[१५ उ] गौतम ! लोहा, तावा, कलई, शीशा, कोयला और लोहे का काट, ये सब द्रव्य पूर्वप्रज्ञापना की अपेक्षा से पृथ्वीकायिक जीवो के शरीर कहे जा सकते हैं, और उसके बाद शस्त्रातीत यावत् शस्त्र-परिणामित होने पर ये अग्निकायिक जीवो के शरीर कहे जा सकते है ।

अस्थि आदि तथा अंगार आदि के शरीर का उनकी पूर्वावस्था एवं पश्चादवस्था की अपेक्षा से प्ररूपण—

१६ अह भते ! अट्ठी अट्ठिज्झामे, चम्मे चम्मज्झामे, रोमे रोमज्झामे, सिंगे सिंगज्झामे, खुरे खुरज्झामे, नखे नखज्झामे, एते ण किंसरीरा ति वत्तव्व सिया ?

गोयमा ! अट्ठी चम्मे रोमे सिंगे खुरे नहे, एए ण तसपाणजीवसरीरा । अट्ठिज्झामे चम्मज्झामे रोमज्झामे सिंगज्झामे खुरज्झामे णहज्झामे, एए ण पुव्वभावपण्णवण पडुच्च तसपाणजीवसरीरा, ततो पच्छा सत्थातीता जाव अगणि० जाव सिया ।

[१६ प्र] भगवन् ! और ये हड्डी, अस्थिध्याम (अग्नि से दूसरे स्वरूप=पर्यायान्तर को प्राप्त हड्डी और उसका जला हुआ भाग), चमडा, चमडे का जला हुआ स्वरूपान्तरप्राप्त भाग, रोम, अग्निज्वलित रोम, सीग, अग्नि प्रज्वलित विकृत सीग, खुर, अग्निप्रज्वलित खुर, नख और अग्नि-प्रज्वलित नख, ये सब किन (जीवो) के शरीर कहे जा सकते है ?

[१६ उ] गौतम ! अस्थि (हड्डी), चमडा, रोम, सीग, खुर, और नख ये सब त्रसजीवो के शरीर कहे जा सकते हैं, और जली हुई हड्डी, प्रज्वलित विकृत चमडा, जले हुए रोम, प्रज्वलित-रूपान्तरप्राप्त सीग, प्रज्वलित खुर और प्रज्वलित नख, ये सब पूर्वभावप्रज्ञापना की अपेक्षा से तो त्रसजीवो के शरीर, किन्तु उसके पश्चात् शस्त्रातीत यावत् अग्निपरिणामित होने पर ये अग्निकायिक जीवो के शरीर कहे जा सकते हैं ।

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २१३

२ 'कसट्टिका' का अर्थ भगवती, अवचूर्णि मे कसपट्टिका=कसौटी भी किया गया है ।

१७ अह भते ! इगाले छारिए, भुसे, गोमए एए ण किंसरीरा ति वत्तव्व सिया ?

गोयमा ! इगाले छारिए भुसे गोमए एए ण पुव्वभावपण्णवणाए एगिंदियजीवसरीरप्पओग-परिणामिया वि जाव पंचिंदियजीवसरीरप्पओगपरिणामिया वि, तओ पच्छा सत्थातीया जाव अगणि-जीवसरीरा ति वत्तव्व सिया ।

[१७ प्र] भगवन् ! अब प्रश्न है—अगार (कोयला, जला हुआ ईंधन या अगारा) राख, भूसा और गोबर, इन सबको किन जीवो के शरीर कहे जाएँ ?

[१७ उ] गौतम ! अगार, राख, भूसा और गोबर (छाणा) ये सब पूर्व-भाव प्रज्ञापना की अपेक्षा से एकेन्द्रियजीवो द्वारा अपने शरीर रूप से, प्रयोगो से—अपने व्यापार से अपने साथ परिणामित एकेन्द्रिय शरीर हैं, यावत् (यथासम्भव द्वीन्द्रिय से) पचेन्द्रिय जीवो तक के शरीर भी कहे जा सकते है, और तत्पश्चात् शस्त्रातीत यावत् अग्निकाय—परिणामित हो जाने पर वे अग्निकायिक जीवो के शरीर कहे जा सकते हैं ।

विवेचन—अस्थि आदि तथा अगार आदि के शरीर का उनकी पूर्वावस्था और पश्चादवस्था की अपेक्षा से प्ररूपण—प्रस्तुत सूत्रद्वय मे प्रथम हड्डी आदि तथा प्रज्वलित हड्डी आदि एव अगार आदि के शरीर के विषय मे पूछे जाने पर इनकी पूर्वावस्था और अनन्तरावस्था की अपेक्षा से उत्तर दिये गए हैं ।

अगार आदि चारो अग्निप्रज्वलित ही विवक्षित—यहाँ अगार आदि चारो द्रव्य अग्निप्रज्वलित ही विवक्षित है, अन्यथा आगे बताए गए अग्निध्यामित आदि विशेषण व्यर्थ हो जाते है ।[1]

पूर्वावस्था और अनन्तरावस्था—हड्डी आदि तो भूतपूर्व अपेक्षा से त्रस जीव के और अगार आदि एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय जीवो तक के शरीर कहे जा सकते है, किन्तु बाद की शस्त्रपरिणत एव अग्निपरिणामित अवस्था की दृष्टि से ये सब अग्निकायिक जीवो के शरीर कहे जा सकते है । हड्डी आदि तो द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रि एव पचेन्द्रिय जीवो मे से किसी भी जीव के तथा नख, खुर, सीग आदि पचेन्द्रिय जीवो के ही शरीर मे होते हैं । इसी प्रकार अगारा या राख ये दोनो वनस्पति-कायिक हरी लकडी के सूख जाने पर बनती है । भूसा भी गेहूँ आदि का होने से पहले एकेन्द्रिय (वनस्पतिकाय) का शरीर ही था, तथा गाय, भैस आदि पशु जब हरी घास, पत्ती, या गेहूँ, जौ आदि का भूसा खाते हैं, तब उनके शरीर मे से वह गोबर के रूप मे निकलता है, अत गोमय (गोबर) एकेन्द्रिय का शरीर ही माना जाता है । किन्तु पचेन्द्रिय जीवो (पशुओ) के शरीर मे द्वीन्द्रियादि जीव चले जाने से उनके शरीर प्रयोग से परिणामित होने से उन्हे द्वीन्द्रियजीव से ले कर पचेन्द्रियजीव तक का शरीर कहा जा सकता है ।[2]

लवणसमुद्र की स्थिति, स्वरूप आदि का निरूपण—

१८ लवणे ण भ ते ! समुद्दे केवतिय चक्कवालविक्खभेण पन्नत्ते ?

एवं नेयव्व जाव लोगट्ठिती लोगाणुभावे ।

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २१३

२ (क) भगवती टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त, खण्ड २, पृ-१६२

(ख) भगवती अ वृत्ति, पत्राक २१३

आदि हो जाने तथा इनके रंगरूप, आकार—रस आदि के बदल जाने से इन्हे भूतपूर्व अग्निकाय के शरीर कहा जा सकता है ।[1]

लोह आदि के शरीर का उनकी पूर्वावस्था और पश्चादवस्था की दृष्टि से निरूपण—

१५ अह ण भते ! अये तवे तउए सीसए उवले कसट्टिया, एए ण किंसरीरा इ वत्तव्व सिया ?

गोयमा ! अए तवे तउए सीसए उवले कसट्टिया,[2] एए ण पुव्वभावपण्णवण पडुच्च पुढविजीवसरीरा, तओ पच्छा सत्थातीता जाव अगणिजीवसरीरा ति वत्तव्व सिया ।

[१५ प्र] भगवन् ! प्रश्न है—लोहा, तावा, त्रपुष् (कलाई या रागा), शीशा, उपल (जला हुआ पत्थर—कोयला) और कसट्टिका (लोहे का काट—मैल), ये सब द्रव्य किन (जीवो के) शरीर कहलाते हैं ?

[१५ उ] गौतम ! लोहा, ताबा, कलई, शीशा, कोयला और लोहे का काट, ये सब द्रव्य पूर्वप्रज्ञापना की अपेक्षा से पृथ्वीकायिक जीवो के शरीर कहे जा सकते है, और उसके बाद शस्त्रातीत यावत् शस्त्र-परिणामित होने पर ये अग्निकायिक जीवो के शरीर कहे जा सकते है ।

अस्थि आदि तथा अंगार आदि के शरीर का उनकी पूर्वावस्था एवं पश्चादवस्था की अपेक्षा से प्ररूपण—

१६ अह भते ! अट्ठी अट्ठिज्झामे, चम्मे चम्मज्झामे, रोमे रोमज्झामे, सिंगे सिंगज्झामे, खुरे खुरज्झामे, नखे नखज्झामे, एते ण किंसरीरा ति वत्तव्व सिया ?

गोयमा ! अट्ठी चम्मे रोमे सिंगे खुरे नहे, एए ण तसपाणजीवसरीरा । अट्ठिज्झामे चम्मज्झामे रोमज्झामे सिंगज्झामे खुरज्झामे णहज्झामे, एए ण पुव्वभावपण्णवण पडुच्च तसपाणजीवसरीरा, ततो पच्छा सत्थातीता जाव अगणि० जाव सिया ।

[१६ प्र] भगवन् ! और ये हड्डी, अस्थिध्याम (अग्नि से दूसरे स्वरूप=पर्यायान्तर को प्राप्त हड्डी और उसका जला हुआ भाग), चमडा, चमडे का जला हुआ स्वरूपान्तरप्राप्त भाग, रोम, अग्निज्वलित रोम, सीग, अग्नि प्रज्वलित विकृत सीग, खुर, अग्निप्रज्वलित खुर, नख और अग्निप्रज्वलित नख, ये सब किन (जीवो) के शरीर कहे जा सकते है ?

[१६ उ] गौतम ! अस्थि (हड्डी), चमडा, रोम, सीग, खुर, और नख ये सब त्रसजीवो के शरीर कहे जा सकते हैं, और जली हुई हड्डी, प्रज्वलित विकृत चमडा, जले हुए रोम, प्रज्वलित-रूपान्तरप्राप्त सीग, प्रज्वलित खुर और प्रज्वलित नख, ये सब पूर्वभावप्रज्ञापना की अपेक्षा से तो त्रसजीवो के शरीर, किन्तु उसके पश्चात् शस्त्रातीत यावत् अग्निपरिणामित होने पर ये अग्निकायिक जीवो के शरीर कहे जा सकते हैं ।

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २१३

२ 'कसट्टिका' का अर्थ भगवती, अवचूर्णि मे कसपट्टिका=कसौटी भी किया गया है ।

१७ अह भते ! इगाले छारिए, भुसे, गोमए एए ण किसरीरा ति वत्तव्व सिया ?

गोयमा ! इंगाले छारिए भुसे गोमए एए ण पुव्वभावपण्णवणाए एगिंदियजीवसरीरप्पओग-परिणामिया वि जाव पंचिंदियजीवसरीरप्पओगपरिणामिया वि, तओ पच्छा सत्थातीया जाव अगणि-जीवसरीरा ति वत्तव्व सिया ।

[१७ प्र] भगवन् ! अव प्रश्न है—अगार (कोयला, जला हुआ ईंधन या अगारा) राख, भूसा और गोवर, इन सबको किन जीवो के शरीर कहे जाएँ ?

[१७ उ] गौतम ! अगार, राख, भूसा और गोवर (छाणा) ये सव पूर्व-भाव प्रज्ञापना की अपेक्षा से एकेन्द्रियजीवो द्वारा अपने शरीर रूप से, प्रयोगो से—अपने व्यापार से अपने साथ परिणामित एकेन्द्रिय शरीर है, यावत् (यथासम्भव द्वीन्द्रिय से) पचेन्द्रिय जीवो तक के शरीर भी कहे जा सकते है, और तत्पश्चात् शस्त्रातीत यावत् अग्निकाय—परिणामित हो जाने पर वे अग्निकायिक जीवो के शरीर कहे जा सकते हैं ।

विवेचन—अस्थि आदि तथा अगार आदि के शरीर का उनकी पूर्वावस्था और पश्चादवस्था की अपेक्षा से प्ररूपण—प्रस्तुत सूत्रद्वय मे प्रथम हड्डी आदि तथा प्रज्वलित हड्डी आदि एव अगार आदि के शरीर के विषय मे पूछे जाने पर इनकी पूर्वावस्था और अनन्तरावस्था की अपेक्षा से उत्तर दिये गए हैं ।

अगार आदि चारो अग्निप्रज्वलित ही विवक्षित—यहाँ अगार आदि चारो द्रव्य अग्निप्रज्वलित ही विवक्षित हैं, अन्यथा आगे बताए गए अग्निध्यामित आदि विशेषण व्यर्थ हो जाते है ।[1]

पूर्वावस्था और अनन्तरावस्था—हड्डी आदि तो भूतपूर्व अपेक्षा से त्रस जीव के और अगार आदि एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय जीवो तक के शरीर कहे जा सकते है, किन्तु वाद की शस्त्रपरिणत एव अग्निपरिणामित अवस्था की दृष्टि से ये सब अग्निकायिक जीवो के शरीर कहे जा सकते है । हड्डी आदि तो द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रि एव पचेन्द्रिय जीवो मे से किसी भी जीव के तथा नख, खुर, सीग आदि पचेन्द्रिय जीवो के ही शरीर मे होते है । इसी प्रकार अगारा या राख ये दोनो वनस्पति-कायिक हरी लकडी के सूख जाने पर बनती है । भूसा भी गेहूँ आदि का होने से पहले एकेन्द्रिय (वनस्पतिकाय) का शरीर ही था, तथा गाय, भैस आदि पशु जब हरी घास, पत्ती, या गेहूँ, जौ आदि का भूसा खाते हैं, तब उनके शरीर मे से वह गोवर के रूप मे निकलता है, अत गोमय (गोबर) एकेन्द्रिय का शरीर ही माना जाता है । किन्तु पचेन्द्रिय जीवो (पशुओ) के शरीर मे द्वीन्द्रियादि जीव चले जाने से उनके शरीर प्रयोग से परिणामित होने से उन्हे द्वीन्द्रियजीव से ले कर पचेन्द्रियजीव तक का शरीर कहा जा सकना है ।[2]

लवणसमुद्र की स्थिति, स्वरूप आदि का निरूपण—

१८ लवणे ण भ ते ! समुद्दे केवतिय चक्कवालविक्खंसेण पन्नत्ते ?

एवं नेयव्व जाव लोगट्ठिती लोगाणुभावे ।

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २१३

२ (क) भगवती टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त, खण्ड २, पृ-१६२

(ख) भगवती अ वृत्ति, पत्राक २१३

सेव भते ! सेव भते ! त्ति भगव जाव विहरति ।

।। पचम सए बिइओ उद्देसओ समत्तो ।।

[१८ प्र] भगवन् ! लवणसमुद्र का चक्रवाल—विष्कम्भ (सब तरफ की चौडाई) कितना कहा गया है ?

[१८ उ] गौतम ! (लवणसमुद्र के सम्बन्ध मे सारा वर्णन) पहले कहे अनुसार जान लेना चाहिए, यावत् लोकस्थिति लोकानुभाव तक (जीवाभिगमोक्त सूत्रपाठ) कहना चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कह कर भगवान् गौतम स्वामी यावत् विचरण करने लगे ।

विवेचन—लवणसमुद्र की चौडाई आदि के सम्बन्ध मे अतिदेशपूर्वक निरूपण—प्रस्तुत सूत्र मे जीवाभिगमोक्त सूत्रपाठ का लोकस्थिति-लोकानुभाव-पर्यन्त अतिदेश करके लवणसमुद्र सम्बन्धी निरूपण किया गया है ।

जीवाभिगम मे लवणसमुद्र-सम्बन्धी वर्णन सक्षेप मे—लवणसमुद्र का सस्थान गोतीर्थ, नौका, सीप-सम्पुट, अश्वस्कन्ध, और वलभी के जैसा, गोल चूडी के आकार का है । उसका चक्रवाल-विष्कम्भ २ लाख योजन का है । तथा १५८११३९ से कुछ अधिक उसका परिक्षेप (घेरा) है । उसका उद्वेध (ऊँचाई-गहराई) १ हजार योजन है । इसकी ऊँचाई १६ हजार योजन, सर्वाग्र १७ हजार योजन का है । इतना विस्तृत और विशाल लवण समुद्र से अब तक जम्बूद्वीप क्यो नही डूबा, इसका कारण है—भारत और ऐरवत क्षेत्रो मे स्वभाव से भद्र, विनीत, उपशान्त, मन्दकषाय, सरल, कोमल, जितेन्द्रिय, भद्र और नम्र अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव, चारण, विद्याधर, श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका एव धर्मात्मा मनुष्य है, उनके प्रभाव से लवणसमुद्र जम्बूद्वीप को डुबाता नही है, यावत् जलमय नही करता यावत् इस प्रकार का लोक का स्वभाव भी है, यहाँ तक कहना चाहिए ।[1]

।। पचम शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ।।

---

१ (क) भगवती अ वृत्ति, पत्राक २१४

(ख) जीवाभिगम सूत्र प्रतिपत्ति ३, उद्देशक २, सूत्र १७३, लवणसमुद्राधिकार पृ-३२४-२५

तइओ उद्देसओ : गंठिय

तृतीय उद्देशक : ग्रन्थिका

एक जीव द्वारा एक समय मे इहभविक एवं परभविक आयुष्य-वेदन विषयक अन्य-तीर्थिक मत निराकरणपूर्वक भगवान् का समाधान—

१ अण्णउत्थिया ण भ ते ! एवमाइक्खति भा० प० एव परूवेंति—से जहानामए जालगठिया सिया आणुपुव्विगढिया अणतरगढिया परपरगढिता अन्नमन्नगढिता अन्नमन्नगुरुयत्ताए अन्नमन्नभारियत्ताए अन्नमन्नगुरुयसभारियत्ताए अन्नमन्नघडत्ताए चिट्ठति, एवामेव बहूण जीवाण बहूसु आजातिसहस्सेसु बहूइ आउयसहस्साइ आणुपुव्विगढियाइ जाव चिट्ठ ति। एगे वि य ण जीवे एगेण समएण दो आउयाइ पडिसवेदयति, त जहा—इहभवियाउय च परभवियाउय च, ज समय इहभवियाउय पडिसवेदेइ त समयं परभवियाउय पडिसवेदेइ, जाव से कहमेय भ ते ! एव ?

गोतमा ! ज ण ते अन्नउत्थिया त चेव जाव परभवियाउय च; जे ते एवमाहसु मिच्छा ते एवमाहसु। अह पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि—जहानामए जालगठिया सिया जाव अन्नमन्नघडत्ताए चिट्ठति, एवामेव एगमेगस्स जीवस्स बहूहिं आजातिसहस्सेहिं बहूइ आउयसहस्साइ आणुपुव्विगढियाइ जाव चिट्ठ ति। एगे वि य ण जीवे एगेण समएण एग आउय पडिसवेदेइ, त जहा—इहभवियाउय वा परभवियाउय वा, ज समय इहभवियाउय पडिसवेदेइ नो त समय पर० पडिसवेदेति, ज समय प० नो त समय इहभवियाउय प०, इहभवियाउयस्स पडिसवेयणाए नो परभवियाउय पडिसवेदेइ, परभवियाउयस्स पडिसवेयणाए नो इहभवियाउय पडिसवेदेति। एव खलु एगे जीवे एगेण समएण एग आउय प०, त जहा—इहभवियाउय वा, परभवियाउय वा।

[१ प्र] भगवन् ! अन्यतीर्थिक ऐसा कहते है, भाषण करते है, बतलाते हैं, प्ररूपणा करते है कि जैसे कोई (एक) जालग्रन्थि (गाठे लगी हुई, जाल) हो, जिसमे क्रम से गाठे दी हुई हो, एक के बाद दूसरी अन्तररहित (अनन्तर) गाठे लगाई हुई हो, परम्परा से गू थी हुई हो, परस्पर गू थी हुई हो, ऐसी वह जालग्रन्थि परस्पर विस्तार रूप से, परस्पर भाररूप से तथा परस्पर विस्तार और भाररूप से, परस्पर सघटित रूप से यावत् रहती है, (अर्थात्—जाल तो एक है, लेकिन उसमे जैसे अनेक गाठे सलग्न रहती हैं) वैसे ही बहुत-से जीवो के साथ क्रमश हजारो-लाखो जन्मो से सम्बन्धित बहुत-से आयुष्य परस्पर क्रमश गू थे हुए हैं, यावत् परस्पर सलग्न रहते है। ऐसी स्थिति मे उनमे से एक जीव भी एक समय मे दो आयुष्यो को वेदता (भोगता—अनुभव करता) है। यथा एक ही जीव, इस भव का आयुष्य वेदता है और वही जीव, परभव का भी आयुष्य वेदता है। जिस समय इस भव के आयुष्य का वेदन करता है, उसी समय वह जीव परभव के आयुष्य का भी वेदन करता है, यावत् हे भगवन् ! यह (बात) किस तरह है ?

[१ उ] गौतम ! उन अन्यतीर्थिको ने जो यह कहा है कि यावत् एक ही जीव, एक ही समय मे इस भव का और पर-भव का—दोनो का आयुष्य (एक साथ) वेदता है, उनका यह सब (पूर्वोक्त) कथन मिथ्या है। हे गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूँ, यावत् प्ररूपणा करता हूँ कि—जैसे कोई एक जाल ग्रन्थि हो और वह यावत् परस्पर सघटित [सामूहिक रूप से सलग्न] रहती है, इसी प्रकार क्रमपूर्वक वहुत-से सहस्रो जन्मो से सम्बन्धित, वहुत-से हजारो आयुष्य, एक-एक जीव के साथ शृ खला (साकल) की कडी के समान परस्पर क्रमश ग्रथित (गू थे हुए) यावत् रहते है। (ऐसा होने से) एक जीव एक समय मे एक ही आयुष्य का प्रतिसवेदन (अनुभव) करता हे, जैसे कि—या तो वह इस भव का ही आयुष्य वेदता हे, अथवा पर भव का ही आयुष्य वेदता है। परन्तु जिस समय इस भव के आयुष्य का प्रतिसवेदन करता है, उस समय परभव के आयुष्य का प्रतिसवेदन नहीं करता, और जिस समय परभव के आयुष्य का प्रतिसवेदन करता हे, उस समय इस भव के आयुष्य का प्रतिसवेदन नही करता। इस भव के आयुष्य का वेदन करने से परभव का आयुष्य नही वेदा जाता और परभव के आयुष्य का वेदन करने से इस भव का आयुष्य नही वेदा जाता। इस प्रकार एक जीव एक समय मे एक ही आयुष्य का वेदन करता है, वह इस प्रकार—या तो इस भव के आयुष्य का, अथवा परभव के आयुष्य का।

विवेचन—एक जीव द्वारा एक समय मे इहभविक एव परभविक आयुष्य वेदन विषयक अन्यतीर्थिकमतनिराकरण पूर्वक भगवान् का समाधान—प्रस्तुत सूत्र मे अन्यतीर्थिको के एक जीव द्वारा एक समय मे उभयभविक आयुष्य-वेदन के मत का खण्डन करते हुए भगवान् द्वारा प्रतिपादित एकभविक आयुष्य-वेदन का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है।

जाल की गाठो के समान अनेक जीवो के अनेक आयुष्यो की गाठ—यहा अन्यतीर्थिको के द्वारा निरूपित जाल (मछलिया पकडने के जाल) की गाठो का उदाहरण देकर समझाया गया है कि जिस प्रकार जाल एक के बाद एक, क्रमपूर्वक, अन्तर-रहित गाठे देकर बनाया जाता है, और वह जाल उन सब गाठो से गुम्फित—सलग्न रहता है। इसी तरह जीवो ने अनेक भव किये है, उन अनेक भवो के अनेक आयुष्य उस जाल की गाठो के समान परस्पर सलग्न है, इसलिए एक जीव दो भव का आयुष्य (एक साथ) वेदता है।' भगवान् ने इस मत को मिथ्या बताया है। उनका आशय यह है कि अनेक जीवो के एक साथ अनेक आयुष्यो के या एक जीव के एक साथ दो आयुष्यो के वेदन को सिद्ध करने के लिए अन्यतीर्थिको ने जो जालग्रन्थि का दृष्टान्त दिया है, वह अयुक्त है, क्योकि प्रश्न होता है, वे सब आयुष्य जीव के प्रदेशो के साथ परस्पर भलीभाति सम्बद्ध है या असम्बद्ध ? यदि वे सब आयुष्य जीव के प्रदेशो के साथ भलीभाति सम्बद्ध है तो जालग्रन्थि के समान उनको बताना मिथ्या है, क्योकि वे सब आयुष्य तो भिन्न-भिन्न जीवो के साथ सम्बद्ध है, इस कारण वे सब पृथक्-पृथक् होने से उनको जालग्रन्थि की तरह परस्पर सलग्न बताना ठीक नही। यदि उनको जालग्रन्थि की तरह बताया जाएगा तो सभी जीवो का सम्बन्ध उन सब आयुष्यो के साथ मानना पडेगा, क्योकि आयुष्यो का सीधा सम्बन्ध जीवो के साथ है। इसीलिए जीवो के साथ जालग्रन्थि की तरह परस्पर सम्बन्ध माना जाने पर सभी जीवो द्वारा एक साथ सभी प्रकार के आयुष्य भोगने का प्रसग आएगा, जो कि प्रत्यक्षबाधित है, तथा जैसे एक जाल के साथ अनेक ग्रन्थियाँ होती है, एक जीव के साथ भी अनेक भवो के आयुष्य का सम्बन्ध होने से एक साथ अनेक गतियों के वेदन का प्रसग आएगा, जो प्रत्यक्षविरुद्ध है। अत जालग्रन्थि की तरह एक जीव के साथ दो या अनेक भवो

के आयुष्य का वेदन मानना युक्तिसगत नही। यदि यह माना जाएगा कि उन आयुष्यो का जीव से साथ कोई सम्बन्ध नही है, तो आयुष्य के कारण जो जीवो को देवादि गति मे उत्पन्न होना पडता है, वह सम्भव न हो सकेगा। अत जीव और आयुष्य का परस्पर सम्बन्ध तो मानना चाहिए, अन्यथा, जीव और आयुष्य का किसी प्रकार का सम्बन्ध न होने से जीव पर आयुष्य निमित्तक असर जरा भी नही होगा। अत आयुष्य और जीव का परस्पर सम्बन्ध शृ खलारूप समझना चाहिए। शृ खला की कडियाँ जैसे परस्पर सलग्न होती है, वैसे ही एक भव के आयुष्य के साथ दूसरे भव का आयुष्य प्रतिबद्ध है और उसके साथ तीसरे, चौथे, पाँचवे आदि भवो का आयुष्य क्रमश शृ खलावत् प्रतिबद्ध है। तात्पर्य यह है कि इस तरह एक के बाद दूसरे आयुष्य का वेदन होता रहता है, किन्तु एक ही भव मे अनेक आयुष्य नही भोगे जाते। वर्त्तमान भव के आयुष्य का वेदन करते समय भावी जन्म के आयुष्य का बंध तो हो जाता है, पर उसका उदय नही होता, अतएव एक जीव एक भव मे एक ही आयुष्य का वेदन करता है।[1]

चौबीस दण्डको तथा चतुर्विध योनियो की अपेक्षा से आयुष्यबन्ध सम्बन्धी विचार—

२ जीवे ण भते! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से ण भते! किं साउए सकमति, निराउए सकमति?

गोयमा! साउए सकमति, नो निराउए सकमति।

[२ प्र] भगवन्! जो जीव नैरयिको मे उत्पन्न होने के योग्य है, क्या वह जीव यही से आयुष्य-युक्त होकर नरक मे जाता है, अथवा आयुष्य रहित होकर जाता है?

[२ उ] गौतम! (जो जीव नैरयिको मे उत्पन्न होने वाला है,) वह यही से आयुष्ययुक्त होकर नरक मे जाता है, परन्तु आयुष्यरहित होकर नरक मे नही जाता।

३ से ण भते! आउए कहिं कडे? कहिं समाइण्णे?

गोयमा! पुरिमे भवे कडे, पुरिमे भवे समाइण्णे।

[३ प्र] हे भगवन्! उस जीव ने वह आयुष्य कहाँ बाँधा? और उस आयुष्य-सम्बन्धी आचरण कहाँ किया?

[३ उ] गौतम! उस (नारक) जीव ने वह आयुष्य पूर्वभव मे बाँधा था और उस आयुष्य-सम्बन्धी आचरण भी पूर्वभव मे किया था।

४ एव जाव वेमाणियाण दडओ।

[४] जिस प्रकार यह बात नैरयिक के विषय मे कही गई है, इसी प्रकार यावत् वैमानिक तक सभी दण्डको के विषय मे कहनी चाहिए।

---

१ (क) भगवती अ वृत्ति, पत्राक २१४

(ख) भगवती हिन्दी विवेचन भाग २, पृ ७९०

(ग) भगवती सूत्र (टीकानुवाद-टिप्पण) खण्ड १ मे प्रथम शतक, उद्दे ९, सू २९५ पृ २०४ देखिये।

५. से नूण भ ते ! जे ज भविए जोणिं उववज्जित्तए से तमाउय पकरेइ, त जहा—नेरतियाउय वा जाव देवाउयं वा ?

हता, गोयमा ! जे ज भविए जोणिं उववज्जित्तए से तमाउय पकरेइ, त जहा—नेरइयाउय वा, तिरि०, मणु०, देवाउय वा। नेरइयाउय पकरेमाणे सत्तविह पकरेइ, त जहा—रयणप्पभापुढविनेरइयाउय वा जाव अहेसत्तमापुढविनेरइयाउय वा। तिरिक्खजोणियाउय पकरेमाणे पचविह पकरेइ, त जहा—एगिंदियतिरिक्खजोणियाउय वा, भेदो सव्वो भाणियव्वो। मणुस्साउय दुविह। देवाउय चउव्विह।

सेव भ ते ! सेव भ ते ! त्ति०।

॥ पचम सए : तइओ उद्देसओ ॥

[५ प्र] भगवन् ! जो जीव जिस योनि मे उत्पन्न होने योग्य होता है, क्या वह जीव, उस योनि सम्बन्धी आयुष्य बाधता है ? जैसे कि जो जीव नरक योनि मे उत्पन्न होने योग्य होता है, क्या वह नरकयोनि का आयुष्य बाधता है, यावत् देवयोनि मे उत्पन्न होने योग्य जीव क्या देवयोनि का आयुष्य बाधता है ?

[५ उ] हाँ, गौतम ! जो जीव जिस योनि मे उत्पन्न होने योग्य होता है, वह जीव उस योनिसम्बन्धी आयुष्य को बाँधता है। जैसे कि नरक योनि मे उत्पन्न होने योग्य जीव नरकयोनि का आयुष्य बाधता है, तिर्यञ्चयोनि मे उत्पन्न होने योग्य जीव, तिर्यञ्चयोनि का आयुष्य बाधता है, मनुष्ययोनि मे उत्पन्न होने योग्य जीव मनुष्ययोनि का आयुष्य बाँधता है यावत् देवयोनि मे उत्पन्न होने योग्य जीव देवयोनि का आयुष्य बाधता है।

जो जीव नरक का आयुष्य बाधता है, वह सात प्रकार की नरकभूमि मे से किसी एक प्रकार की नरकभूमि सम्बन्धी आयुष्य बाधता है। यथा—रत्नप्रभा (प्रथम नरक) पृथ्वी का आयुष्य, अथवा यावत् अध सप्तम पृथ्वी (सप्तम नरक) का आयुष्य बाधता है। जो जीव तिर्यञ्चयोनि का आयुष्य बाधता है, वह पाच प्रकार के तिर्यञ्चो मे से किसी एक प्रकार का तिर्यञ्च-सम्बन्धी आयुष्य बाधता है। यथा—एकेन्द्रिय् तिर्यञ्चयोनि का आयुष्य इत्यादि। तिर्यञ्च के सभी भेद-विशेष विस्तृत रूप से यहाँ कहने चाहिए। जो जीव मनुष्य-सम्बन्धी आयुष्य बाधता है, वह दो प्रकार के मनुष्यो मे से किसी एक प्रकार के मनुष्य-सम्बन्धी आयुष्य को बाधता है, (यथा-सम्मूर्च्छिम मनुष्य का, अथवा गर्भज मनुष्य का।) जो जीव देवसम्बन्धी आयुष्य बाधता है, तो वह चार प्रकार के देवो मे से किसी एक प्रकार के देव का आयुष्य बाधता है। (यथा—भवनपति देव का, वाणव्यन्तर देव का, ज्योतिष्क देव का अथवा वैमानिक देव का आयुष्य। इनमे से किसी एक प्रकार के देव का आयुष्य बाधता है।)

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कह कर यावत् विचरते है।

विवेचन—चौबीस दण्डको तथा चतुर्विध योनियो की अपेक्षा से आयुष्यबन्ध सम्बन्धी

विचार—प्रस्तुत चार सूत्रो मे मुख्यतया चार पहलुओ से चारो गतियो तथा चौवीसो दण्डको के जीवो का आयुष्यबन्ध-सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किया गया है। वे चार पहलू इस प्रकार है—

(१) नरक से लेकर वैमानिक देवो तक चौवीस ही दण्डको का दूसरी गति मे जाने योग्य जीव आयुष्य सहित होकर दूसरी गति मे जाता है।

(२) जीव अगली गति मे जाने योग्य आयुष्य इसी गति मे बाध लेता है तथा तद्योग्य आचरण इसी (पूर्व) गति मे करता है।

(३) नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चारो मे से जो जीव जिस योनि मे उत्पन्न होने योग्य होता है, वह उसी योनि का आयुष्य बाध लेता है।

(४) नरकयोनि का आयुष्य बाधने वाला सात नरको मे से किसी एक नरक का, तिर्यञ्चयोनि का आयुष्य बाधने वाला जीव पाच प्रकार के तिर्यंचो मे किसी एक प्रकार के तिर्यञ्च का, एव मनुष्ययोनि सम्बन्धी आयुष्य बाधने वाला जीव दो प्रकार के मनुष्यो मे से किसी एक प्रकार के मनुष्य का और देवयोनि का आयुष्य बाधने वाला जीव चार प्रकार के देवो मे से किसी एक प्रकार के देव का आयुष्य बाधता है।[1]

॥ पचम शतक . तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१ भगवती अ० वृत्ति, पत्राक २१५

चउत्थो उद्देसओ : 'सद्द'

चतुर्थ उद्देशक : शब्द

छद्मस्थ और केवली द्वारा शब्द-श्रवण-सम्बन्धी सीमा की प्ररूपणा—

१ छउमत्थे ण भंते ! मणुस्से आउडिज्जमाणाइं सद्दाइं सुणेति, तं जहा—संखसद्दाणि वा, सिंगसद्दाणि वा, संखियसद्दाणि वा, खरमुहिसद्दाणि वा, पोयासद्दाणि वा, परिपिरियासद्दाणि वा, पणवसद्दाणि वा, पडहसद्दाणि वा, भंभासद्दाणि वा, होरंभसद्दाणि वा, भेरिसद्दाणि वा, झल्लरिसद्दाणि वा, दुंदुभिसद्दाणि वा, तताणि वा, वितताणि वा, घणाणि वा, झुसिराणि वा ?

हंता, गोयमा ! छउमत्थे णं मणूसे आउडिज्जमाणाइं सद्दाइं सुणेति, तं जहा—संखसद्दाणि वा जाव झुसिराणि वा ।

[१ प्र] भगवन् ! छद्मस्थ मनुष्य क्या बजाये जाते हुए वाद्यो (के) शब्दो को सुनता है ? यथा—शंख के शब्द, रणसींगे के शब्द, शंखिका (छोटे शंख) के शब्द, खरमुही (काहली नामक बाजे) के शब्द, पोता (बड़ी काहली) के शब्द, परिपीरिता (सूअर के चमड़े से मढ़े हुए मुख वाले एक प्रकार के बाजे) के शब्द, पणव (ढोल) के शब्द, पटह (ढोलकी) के शब्द, भंभा (छोटी भेरी) के शब्द, झल्लरी (झालर) के शब्द, दुन्दुभि के शब्द, तत (तांत वाले बाजों—वीणा आदि वाद्यो) के शब्द, विततशब्द (ढोल आदि विस्तृत बाजो के शब्द), घनशब्द (ठोस बाजो—कांस्य, ताल आदि वाद्यो के शब्द), शुषिरशब्द (बीच मे पोले बाजो—बिगुल, बाँसुरी, बंशी आदि के शब्द), इत्यादि बाजो के शब्दो को ।

[१ उ] हाँ गौतम ! छद्मस्थ मनुष्य बजाये जाते हुए शंख यावत्—शुषिर आदि (पूर्वोक्त) वाद्यो के शब्दो को सुनता है ।

२ ताइं भंते ! किं पुट्ठाइं सुणेति ? अपुट्ठाइं सुणेति ?

गोयमा ! पुट्ठाइं[1] सुणेति, नो अपुट्ठाइं सुणेति जाव णियमा छद्दिसिं सुणेति ।

[२ प्र] भगवन् ! क्या वह (छद्मस्थ) उन (पूर्वोक्त वाद्यो के) शब्दो को स्पृष्ट होने (कानो से स्पर्श किये जाने—टकराने) पर सुनता है, या अस्पृष्ट होने (कानो से स्पर्श न करने- न टकराने) पर भी सुन लेता है ?

[२ उ] गौतम ! छद्मस्थ मनुष्य (उन वाद्यो के) स्पृष्ट (कानो से स्पर्श किये गए—टकराए

---

१ 'पुट्ठाइं सुणेति' इस सम्बन्ध मे भगवती सूत्र प्रथम शतक के प्रथम उद्देशक का आहाराधिकार देखना चाहिए । भगवती० (टीकानुवाद टिप्पणयुक्त) खण्ड १, पृ ७० से ७२ तक ।

हुए) शब्दो को सुनता है, अस्पृष्ट शब्दो को नही सुनता, यावत् नियम से छह दिशाओ से आए हुए स्पृष्ट शब्दो को सुनता है।

३ छउमत्थे ण भ ते ! मणुस्से किं आरगताइ सद्दाइ सुणेइ ? पारगताइं सद्दाइ सुणेइ ?
गोयमा ! आरगयाइ सद्दाइ सुणेइ, नो पारगयाइ सद्दाइ सुणेइ ।

[३ प्र] भगवन् ! क्या छद्मस्थ मनुष्य आरगत (आराद्गत—इन्द्रिय विपय के समीप रहे हुए) शब्दो को सुनता है, अथवा पारगत (इन्द्रिय विषय से दूर रहे हुए) शब्दो को सुनता है ?

[३ उ] गौतम ! (छद्मस्थ मनुष्य) आरगत शब्दो को सुनता है, किन्तु पारगत शब्दो को नही सुन पाता ।

४ [१] जहा ण भ ते ! छउमत्थे मणुस्से आरगयाइ सद्दाइ सुणेइ, नो पारगयाइ सद्दाइं सुणेइ, तहा ण भ ते ! केवली किं आरगयाइ सद्दाइ सुणेइ, नो पारगयाइ सद्दाइ सुणेइ ?

गोयमा ! केवली ण आरगय वा पारगय वा सव्वदूरमूलमणंतिय सद्द जाणइ पासइ ।

[४-१ प्र] भगवन् ! जैसे छद्मस्थ मनुष्य आरगत शब्दो को सुनता है, किन्तु पारगत शब्दो को नही सुनता, वैसे ही, हे भगवन् ! क्या केवली (केवलज्ञानी) भी आरगत शब्दो को ही सुन पाता है, पारगत शब्दो को नही सुन पाता ?

[४-१ उ] गौतम ! केवली मनुष्य तो आरगत, पारगत, अथवा समस्त दूरवर्ती (दूर तथा अत्यन्त दूर के) और निकटवर्ती (निकट तथा अत्यन्त निकट के) अनन्त (अन्तरहित) शब्दो को जानता और देखता है।

[२] से केणट्ठे ण त चेव केवली ण आरगयं वा जाव पासइ ?

गोयमा ! केवली ण पुरत्थिमेणं मिय पि जाणइ, अमियं पि जाणइ, एव दाहिणेणं, पच्चत्थिमेण, उत्तरेणं, उड्ढ, अहे मिय पि जाणइ, अमियं पि जाणइ, सव्व जाणइ केवली, सव्व पासइ केवली, सव्वतो जाणइ पासइ, सव्वकाल जा० पा०, सव्वभावे जाणइ केवली, सव्वभावे पासइ केवली, अणते नाणे केवलिस्स, अणते दसणे केवलिस्स, निव्वुडे नाणे केवलिस्स,[१] निव्वुडे दसणे केवलिस्स । से तेणट्ठे ण जाव पासइ ।

[४-२ प्र] भगवन् ! इसका क्या कारण है कि केवली मनुष्य आरगत, पारगत, अथवा यावत् सभी प्रकार के (दूरवर्ती, निकटवर्ती) अनन्त शब्दो को जानता-देखता है ?

[४-२ उ] गौतम ! केवली (भगवान् सर्वज्ञ) पूर्व दिशा की मित वस्तु को भी जानता—देखता है, और अमित वस्तु को भी जानता-देखता है, इसी प्रकार दक्षिण दिशा, पश्चिम दिशा, उत्तर दिशा, ऊर्ध्वदिशा और अधोदिशा की मित वस्तु को भी जानता-देखता है तथा अमित वस्तु को भी जानता-देखता है । केवलज्ञानी सब जानता है और सब देखता है। केवली भगवान् सर्वत (सब

१ पाठान्तर—'निव्वुडे वितिमिरे विसुद्धे' इन तीनो विशेषणो से युक्त पाठ अन्य प्रतियो मे मिलता है ।

ओर से) जानता-देखता है, केवली सर्वकाल मे, सर्वभावो (पदार्थो) को जानता-देखता है। केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) के अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन होता है। केवलज्ञानी का ज्ञान और दर्शन निरावरण (सभी प्रकार के आवरणो से रहित) होता है।

हे गौतम! इसी कारण से ऐसा कहा गया है कि केवली मनुष्य आरगत और पारगत शब्दो को, यावत् सभी प्रकार के दूरवर्ती और निकटवर्ती शब्दो को जानता-देखता है।

विवेचन—छद्मस्थ और केवली की शब्द-श्रवण-सम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रो मे छद्मस्थ और केवली मनुष्य के द्वारा शब्दश्रवण के सम्बन्ध मे निम्नोक्त तीन तथ्यो का निरूपण किया गया है—(१) छद्मस्थ मनुष्य बजाये जाते हुए शख आदि वाद्यो के शब्दो को सुनता है।

(२) किन्तु वह (छद्मस्थ) उन बजाये हुए वाद्य-शब्दो को कानो से स्पर्श होने पर सुनता है, तथा इन्द्रिय विषय के निकटवर्त्ती शब्दो को सुन सकता है।

(३) केवलज्ञानी आरगत पारगत, निकट-दूर के समस्त अनन्त शब्दो को जानता-देखता है तथा वह सभी दिशाओ से, सब ओर से, सब काल मे अपने निरावरण अनन्त-परिपूर्ण-केवलज्ञान केवलदर्शन से सर्वभावो (पदार्थो) को जानता-देखता है।

मूल सूत्र मे छद्मस्थ के लिए 'सुणेइ' क्रियापद का प्रयोग किया गया है जब कि केवली के लिए 'जाणइ पासइ' पद का प्रयोग किया है। इस भेद का कारण यह है कि छद्मस्थ जीव कान से शब्द सुनता है किन्तु केवली शब्द को कान से नही सुनते, केवलज्ञान-दर्शन से ही जानते-देखते हैं।

'आउडिज्जमाणाइ' पद की व्याख्या—सस्कृत मे इस शब्द के दो रूपान्तर होते है—(१) आजोड्माना एव (आजोड्यमानानि) (२) 'आकुट्यमानानि'। प्रथमरूपान्तर की व्याख्या इस प्रकार है—मुखादि से आसम्बद्ध होते हुए वाद्यविशेष, अर्थात्—मुख के साथ शख का सयोग होने से, हाथ के साथ ढोल का सयोग होने से, लकडी के टुकडे या डडे के साथ झालर का सयोग होने से, इसी तरह अन्यान्य पदार्थो के साथ अनेक प्रकार के वाद्यो का सयोग होने से, अथवा बजाने के साधनरूप अनेक प्रकार के पदार्थो के पीटने—कूटने—चोट लगाने अथवा टकराने से बजने वाले अनेक प्रकार के बाजो से।

कठिन शब्दो की व्याख्या—**आरगयाइ**=इन्द्रियो के निकट भाग मे स्थित, या इन्द्रिय-गोचर। **पारगयाइ**=इन्द्रियविषयो से पर, दूर या अगोचर रहे हुए। **सव्वदूरमूलमणतिय**=(१) सर्वथा दूर और मूल=निकट मे रहे हुए शब्द को, तथा अनन्तिक अर्थात्—न तो बहुत दूर और न बहुत निकट अर्थात्—मध्यवर्ती शब्दो को, (२) अथवा सर्वदूरमूल यानी अनादि और अन्तरहित शब्दो को। **णिव्वुडे नाणे**=कर्मो से अत्यन्त निवृत्त होने के कारण निरावरण ज्ञान।[२]

छद्मस्थ और केवली के हास्य और औत्सुक्य सम्बन्धी प्ररूपणा—

५ छउमत्थे ण भते! मणुस्से हसेज्ज वा? उस्सुआएज्ज वा?

हता, हसेज्ज वा, उस्सुयाएज्ज वा।

---

१ वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा १, पृ १९४-१९५

२ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २१६

(ख) भगवतीसूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ १७१

[५ प्र] भगवन् ! क्या छद्मस्थ मनुष्य हसता है तथा (किसी पदार्थ को ग्रहण करने के लिए) उत्सुक (उतावला) होता है ?

[५ उ] गौतम ! हाँ, छद्मस्थ मनुष्य हसता तथा उत्सुक होता है ।

६ [१] जहा णं भंते ! छउमत्थे मणुस्से हसेज्ज वा उस्सु० तहा ण केवली वि हसेज्ज वा, उस्सुयाएज्ज वा ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे ।

[६-१ प्र] भगवन् ! जैसे छद्मस्थ मनुष्य हसता है तथा उत्सुक होता है, वैसे क्या केवली भी हसता और उत्सुक होता है ?

[६-१ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है । (अर्थात्—छद्मस्थ मनुष्य की तरह केवली न तो हसता है और न उत्सुक होता है ।)

[२] से केणट्ठेण भते ! जाव नो ण तहा केवली हसेज्ज वा, उस्सुयाएज्ज वा ?

गोयमा ! ज ण जीवा चरित्तमोहणिज्जकम्मस्स उदएण हसंति वा उस्सुयायति वा, से णं केवलिस्स नत्थि, से तेणट्ठेणं जाव नो ण तहा केवली हसेज्ज वा, उस्सुयाएज्ज वा ।

[६-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि केवली मनुष्य (छद्मस्थ की तरह) न तो हसता है और न उत्सुक होता है ?

[६-२ उ] गौतम ! जीव, चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से हसते हैं या उत्सुक होते है, किन्तु वह (चारित्रमोहनीय कर्म) केवलीभगवान् के नही है, (उनके चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय हो चुका है ।) इस कारण से यह कहा जाता है कि जैसे छद्मस्थ मनुष्य हसता है अथवा उत्सुक होता है, वैसे केवलीमनुष्य न तो हसता है और न ही उत्सुक होता है ।

७ जीवे ण भते ! हसमाणे वा उस्सुयमाणे वा कति कम्मपगडीओ बधति ?

गोयमा ! सत्तविहबधए वा अट्ठविहबंधए वा ।

[७ प्र] भगवन् ! हसता हुआ या उत्सुक होता हुआ जीव कितनी कर्मप्रकृतियो (कितने प्रकार के कर्म) को बाधता है ?

[७ उ] गौतम ! (हसता हुआ या उत्सुक होता हुआ जीव) सात प्रकार के कर्मो को बाधता है, अथवा आठ प्रकार के कर्मो को बाधता है ।

८ एव जाव[१] वेमाणिए ।

[८] इसी प्रकार (नैरयिक से लेकर) वैमानिकपर्यन्त चौबीस ही दण्डको के लिए (ऐसा आलापक) कहना चाहिए ।

---

१ 'जाव' पद यहाँ नैरयिक से लेकर वैमानिक पर्यन्त चौबीस दण्डको का सूचक है ।

९ पोहत्तिएहिं जीवेगिंदियवज्जो तियभगो ।

[९] जब उपर्युक्त प्रश्न बहुत जीवो की अपेक्षा पूछा जाए, तो उसके उत्तर मे समुच्चय जीव और एकेन्द्रिय को छोडकर कर्मबन्ध से सम्बन्धित तीन भग (विकल्प) कहने चाहिए ।

विवेचन—छद्मस्थ और केवली के हास्य और औत्सुक्य—प्रस्तुत ५ सूत्रो (सू ५ से ९ तक) मे छद्मस्थ और केवलज्ञानी मनुष्य के हसने और उत्सुक (किसी वस्तु को लेने के लिए उतावला) होने के सम्बन्ध मे पाच तथ्यो का निरूपण किया गया है—

१ छद्मस्थ मनुष्य हसता भी है और उत्सुक भी होता है ।

२ केवली मनुष्य न हसता है, और न उत्सुक होता है ।

३. क्योकि केवली के चारित्रमोहनीय कर्म का उदय नही होता, वह क्षीण हो चुका है ।

४ जीव (एक जीव) हसता और उत्सुक होता है, तब सात या आठ प्रकार के कर्म बाध लेता है ।

५ यह बात नैरयिक से लेकर वैमानिक तक चौबीस ही दण्डको पर घटित होती है ।

६ जब बहुवचन (बहुत-से जीवो) की अपेक्षा से कहा जाए, तब समुच्चय जीव और एकेन्द्रिय को छोडकर शेष १९ दण्डको मे कर्मबन्ध सम्बन्धी तीन भग कहने चाहिए ।

तीन भग—पृथक्त्वसूत्रो (पोहत्तिएहिं) अर्थात् बहुवचन-सूत्रो (बहुत-से जीवो) की अपेक्षा से पाच एकेन्द्रियो मे हास्यादि न होने से ५ स्थावरो के ५ दण्डको को छोडकर शेष १९ दण्डको मे कर्मबन्धसम्बन्धी तीन भग होते हैं—(१) सभी जीव सात प्रकार के कर्म बाधते है, (२) बहुत-से जीव ७ प्रकार के कर्म बाधते है और एक जीव ८ प्रकार के कर्म बाधता है, (३) बहुत-से जीव ७ प्रकार के कर्मों को और बहुत-से जीव ८ प्रकार के कर्मो को बाधते है ।[1]

आयुकर्म के बन्ध के समय आठ और जब आयुकर्म न बध रहा हो, तब सात कर्मों का बन्ध समझना चाहिए ।

छद्मस्थ और केवली का निद्रा और प्रचला से सम्बन्धित प्ररूपण—

१० छउमत्थे ण भते ! मणूसे निद्दाएज्ज वा ? पयलाएज्ज वा ?

हता, निद्दाएज्ज वा, पयलाएज्ज वा ।

[१० प्र] भगवन् ! क्या छद्मस्थ मनुष्य निद्रा लेता है अथवा प्रचला नामक निद्रा लेता है ?

[१० उ] हाँ, गौतम ! छद्मस्थ मनुष्य निद्रा लेता है और प्रचला निद्रा (खडा खडा नीद) भी लेता है ।

११ जहा हसेज्ज वा तहा, नवर दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएण निद्दायति वा, पयलायति वा । से ण केवलिस्स नत्थि । अन्न त चेव ।

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २१७

[११] जिस प्रकार हसने (और उत्सुक होने) के सम्बन्ध मे (छद्मस्थ और केवली मनुष्य के विषय मे) प्रश्नोत्तर बतलाए गए है, उसी प्रकार निद्रा और प्रचला-निद्रा के सम्बन्ध मे (छद्मस्थ और केवली मनुष्य के विषय मे) प्रश्नोत्तर जान लेने चाहिए। विशेप यह है कि छद्मस्थ मनुष्य दर्शनावरणीय कर्म के उदय से निद्रा अथवा प्रचला लेता है, जबकि केवली भगवान् के वह दर्शनावरणीय कर्म नही है, (उनके दर्शनावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय हो चुका है।) इसलिए केवली न तो निद्रा लेता है, न ही प्रचलानिद्रा लेता है। शेष सब पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

१२ जीवे ण भते ! निद्दायमाणे वा पयलायमाणे वा कति कम्मपगडीओ बधति ?

गोयमा ! सत्तविहबधए वा अट्ठविहबधए वा।

[१२ प्र] भगवन् ! निद्रा लेता हुआ अथवा प्रचलानिद्रा लेता हुआ जीव कितनी कर्म-प्रकृतियो (कितने प्रकार के कर्मो) को बाधता है ?

[१२ उ] गौतम ! निद्रा अथवा प्रचला-निद्रा लेता हुआ जीव सात कर्मो की प्रकृतियो का बन्ध करता है, अथवा आठ कर्मो की प्रकृतियो का बन्ध करता है।

१३ एवं जाव वेमाणिए।

[१३] इसी तरह (एकवचन की अपेक्षा से) [नैरयिक से लेकर] वैमानिक-पर्यन्त (चौवीस ही दण्डको के लिए) कहना चाहिए।

१४ पोहत्तिएसु जीवेगिंदियवज्जो तियभगो।

[१४] जब उपर्युक्त प्रश्न बहुवचन (बहुत-से जीवो) की अपेक्षा से पूछा जाए, तब (समुच्चय) जीव और एकेन्द्रिय को छोड कर [शेष १९ दण्डको मे] कर्मबन्ध-सम्बन्धी तीन भंग कहने चाहिए।

विवेचन—छद्मस्थ और केवली का निद्रा और प्रचला से सम्बन्धित प्ररूपण—प्रस्तुत चार सूत्रो मे हास्य और औत्सुक्य के सूत्रो की तरह ही सारा निरूपण है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ हास्य और औत्सुक्य के बदले निद्रा और प्रचला शब्द प्रयुक्त हुए है। शेष सब पूर्ववत् है।

हरिनैगमेषी द्वारा गर्भापहरण किये जाने के सम्बन्ध मे शंका-समाधान—

१५. हरी णं भंते ! नेगमेसी सक्कदूते इत्थीगब्भ साहरमाणे किं गब्भाओ गब्भ साहरति ! गब्भाओ जोणिं साहरइ ? जोणीतो गब्भ साहरति ? जोणीतो जोणिं साहरइ ?

गोयमा ! नो गब्भातो गब्भ साहरति, नो गब्भाओ जोणिं साहरति, नो जोणीतो जोणिं साहरति, परामसिय परामसिय अव्वाबाहेण अव्वाबाह जोणीओ गब्भ साहरइ।

[१५ प्र] भगवन् ! इन्द्र (हरि)-सम्बन्धी शक्रदूत हरिनैगमेषी देव जब स्त्री के गर्भ का सहरण करता है, तब क्या वह एक गर्भाशय से गर्भ को उठाकर दूसरे गर्भाशय मे रखता है ? या गर्भ को लेकर योनि द्वारा दूसरी (स्त्री) के उदर मे रखता है ? अथवा योनि से (गर्भ को बाहर

निकाल कर दूसरी स्त्री के) गर्भाशय मे रखता है ? या फिर योनि द्वारा गर्भ को पेट मे से बाहर निकाल कर (वापस उसी तरह) योनि द्वारा ही (दूसरी स्त्री के पेट मे) रखता है ?

[१५ उ] हे गौतम ! वह हरिनैगमेषी देव, एक गर्भाशय से गर्भ को उठा कर दूसरे गर्भाशय मे नही रखता, गर्भाशय से गर्भ को लेकर उसे योनि द्वारा दूसरी स्त्री के उदर मे नही रखता, तथा योनि द्वारा गर्भ को (पेट मे से) बाहर निकालकर (वापस उसी तरह) योनि द्वारा दूसरी स्त्री के पेट मे नही रखता, परन्तु अपने हाथ से गर्भ को स्पर्श कर करके, उस गर्भ को कुछ पीडा (बाधा) न हो, इस तरीके से उसे योनि द्वारा बाहर निकाल कर दूसरी स्त्री के गर्भाशय मे रख देता है।

१६ पभू ण भंते ! हरिणेगमेसी सक्कस्स दूते इत्थीगब्भ नहसिरसि वा रोमकूवसि वा साहरित्तए वा नीहरित्तए वा ?

हता, पभू, नो चेव ण तस्स गब्भस्स किचि वि आबाह वा विबाह वा उप्पाएज्जा, छविच्छेद पुण करेज्जा, एसुहुम च ण साहरिज्ज वा, नीहरिज्ज वा।

[१६ प्र] भगवन् ! क्या शक्र का दूत हरिनैगमेषी देव, स्त्री के गर्भ को नखाग्र (नख के सिरे) द्वारा, अथवा रोमकूप (छिद्र) द्वारा गर्भाशय मे रखने या गर्भाशय से निकालने से समर्थ है ?

[१६ उ] हाँ, गौतम ! हरिनैगमेषी देव उपर्युक्त रीति से कार्य करने मे समर्थ है। (किन्तु ऐसा करते हुए) वह देव उस गर्भ को थोडी या बहुत, किञ्चित्मात्र भी पीडा नही पहुँचाता। हाँ, वह उस गर्भ का छविच्छेद (शरीर का छेदन-भेदन) करता है, और फिर उसे बहुत सूक्ष्म करके अदर रखता है, अथवा इसी तरह अदर से बाहर निकालता है।

विवेचन—हरिनैगमेषी देव द्वारा गर्भापहरण किये जाने के सम्बन्ध मे ***शका-समाधान***—सूत्रद्वय (सू १५ और १६) मे शक्रेन्द्र के दूत एव गर्भापहारक हरिनैगमेषी देव द्वारा गर्भापहरण कैसे, किस तरीके से किया जाता है ? तथा क्या वह नखाग्र और रोमकूप द्वारा गर्भ को गर्भाशय मे रखने या उससे निकालने मे समर्थ है ? इन दो शकाओ को प्रस्तुत करके भगवान् द्वारा दिया गया उनका सुन्दर एव सन्तोषजनक समाधान अकित किया गया है।

हरिनैगमेषी देव का सक्षिप्त परिचय—'हरि', इन्द्र को कहते है तथा इन्द्र से सम्बन्धित व्यक्ति को भी हरि कहते हैं। इसलिए हरिनैगमेषी का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ (निर्वचन) इस प्रकार किया गया है—हरि=इन्द्र के, नैगम=आदेश को जो चाहता है, वह हरिनैगमेषी, अथवा हरि=इन्द्र का नैगमेषी नामक देव। शक्रेन्द्र की पदाति (पैदल) सेना का वह नायक तथा शक्रदूत है। शक्रेन्द्र की आज्ञा से उसी ने भगवान् महावीर की माता त्रिशलादेवी के गर्भ मे देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ से भगवान् महावीर के गर्भ को सहरण करके स्थापित किया था।

यद्यपि यहाँ भगवान् महावीर का नाम मूलपाठ मे नही दिया है, तथापि हरिनैगमेषी का नाम आने से यह घटना भ० महावीर से सम्बन्धित होने की सभावना है। वृत्तिकार का कथन है कि अगर इस घटना को भ० महावीर के साथ घटित करना न होता तो 'हरिनैगमेषी' नाम मूलपाठ मे न देकर सामान्यरूप से देव का निरूपण किया जाता।

भगवतीसूत्र के अतिरिक्त हरिणैगमेषी द्वारा गर्भापहरण का वृत्तान्त अन्तकृद्दशाग मे, आचाराग भावना चूलिका मे, तथा कल्पसूत्र मे भी उल्लिखित है।[1]

गर्भसहरण के चार प्रकारो मे से तीसरा प्रकार ही स्वीकार्य—मूलपाठ मे गर्भापहरण के ४ तरीके विकल्परूप मे उठाए गए है, किन्तु हरिनैगमेषी द्वारा योनि द्वारा गर्भ को निकाल कर दूसरी स्त्री के गर्भाशय मे रखना—ही उपयोगी और लोकप्रसिद्ध तीसरा तरीका ही अपनाया जाता है, क्योकि यह लौकिक प्रथा है कि कच्चा (अधूरा) या पक्का (पूरा) कोई भी गर्भ स्वाभाविक रूप से योनि द्वारा ही बाहर आता है।

कठिन शब्दो की व्याख्या—साहरइ=सहरण करता है, साहरित्तए=सहरण—प्रवेश कराने के लिए। नीहरित्तए=निकालने के लिए। आबाह=थोडी-सी बाधा-पीडा, विबाह=विशेप बाधा-पीडा।[2]

अतिमुक्तक कुमारश्रमण की बालचेष्टा तथा भगवान् द्वारा स्थविर मुनियो का समाधान—

१७. [१] तेण कालेण तेण समएण समणस्स भगवतो महावीरस्स अतेवासी अतिमुत्ते णामं कुमारसमणे पगतिभद्दए जाव विणीए।

[१७-१] उस काल और उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के अन्तेवासी (समीप रहने वाले=शिष्य) अतिमुक्तक नामक कुमार श्रमण थे। वे प्रकृति से भद्र यावत् विनीत थे।

[२] तए ण से अतिमुत्ते कुमारसमणे अन्नया कयाइ महावुट्ठिकायसि निवयमाणसि कक्ख-पडिग्गह-रयहरणमायाए बहिया सपट्ठिते विहाराए।

[१७-२] (दीक्षित होने के) पश्चात् वह अतिमुक्तक कुमार श्रमण किसी दिन महावृष्टिकाय (मूसलधार वर्षा) पड रही थी, तब काख (बगल) मे अपना रजोहरण तथा (हाथ मे, झोली मे) पात्र लेकर बाहर विहार (स्थण्डिल भूमिका मे बडी शका के निवारण) के लिए रवाना (प्रस्थित) हुए (चले)।

[३] तए ण से अतिमुत्ते कुमारसमणे वाहयं वहमाण पासति, २ मट्टियापालिं बधति, २ 'नाविया मे २' णाविओ विव णावमय पडिग्गहक, उदगसि कट्टु पव्वाहमाणे पव्वाहमाणे अभिरमति।

---

१ (क) अभिधान राजेन्द्रकोष, भाग ७, पृ ११९४ हरेरिन्द्रस्य नैगममादेशमिच्छतीति हरिनैगमेषी, अथवा हरेरिन्द्रस्य नैगमेषी नामा देव। (आव म २ अ)
(ख) आचाराग अन्तिम भावना-चूलिका।
(ग) अन्तकृद्दशाग अ ७, वर्ग ४, सुलसाप्रकरण
(घ) भगवतीसूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ १७४-१७५
(ङ) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २१८

२ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २१८
(ख) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) भा १, पृ ११६

[१७-३] तत्पश्चात् (बाहर जाते हुए) उस अतिमुक्तक कुमारश्रमण ने (मार्ग मे) बहता हुआ पानी का एक छोटा-सा नाला देखा। उसे देखकर उसने उस नाले के दोनो ओर मिट्टी की पाल बाधी। इसके पश्चात् नाविक जिस प्रकार अपनी नौका पानी मे छोडता है, उसी प्रकार उसने भी अपने पात्र को नौकारूप मानकर, पानी मे छोडा। फिर 'यह मेरी नाव है, यह मेरी नाव है', यो पात्रीरूपी नौका को पानी मे प्रवाहित करते (बहाते=तिराते हुए) क्रीडा करने (खेलने) लगे।

[४] त च थेरा अद्दक्खु। जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छति, २ एव वदासी—एवं खलु देवाणुप्पियाण अतेवासी अतिमुत्ते णाम कुमारसमणे, से ण भ ते! अतिमुत्ते कुमारसमणे कतिहि भवग्गहणेहि सिज्झिहिति जाव अत करेहिति!

'अज्जो!' ति समणे भगव महावीरे ते थेरे एव वदासी—एव खलु अज्जो! मम अतेवासी अतिमुत्ते णाम कुमारसमणे पगतिभद्दए जाव विणीए, से ण अतिमुत्ते कुमारसमणे इमेण चेव भवग्गहणेण सिज्झिहिति जाव अत करेहिति। त मा ण अज्जो! तुब्भे अतिमुत्त कुमारसमण हीलेह निंदह खिसह गरहह अवमन्नह। तुब्भे ण देवाणुप्पिया! अतिमुत्त कुमारसमण अगिलाए सगिण्हह, अगिलाए उवगिण्हह, अगिलाए भत्तेण पाणेण विणयेण वेयावडिय करेह। अतिमुत्ते ण कुमारसमणे अतकरे चेव, अतिमसरीरिए चेव।

[१७-४] इस प्रकार करते हुए उस अतिमुक्तक कुमारश्रमण को स्थविरो ने देखा। स्थविर (अतिमुक्तक कुमारश्रमण को कुछ भी कहे बिना) जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ आए और निकट आकर उन्होने उनसे पूछा (कहा)—

[प्र] भगवन्! आप देवानुप्रिय का अन्तेवासी (शिष्य) जो अतिमुक्तक कुमारश्रमण है, वह अतिमुक्तक कुमारश्रमण कितने भव (जन्म) ग्रहण करके सिद्ध होगा, यावत् सर्वदुखो का अन्त करेगा?

[उ] 'हे आर्यो!' इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी उन स्थविरो को सम्बोधित करके कहने लगे—'आर्यो! मेरा अन्तेवासी (शिष्य) अतिमुक्तक नामक कुमारश्रमण, जो प्रकृति से भद्र यावत् प्रकृति से विनीत है, वह अतिमुक्तक कुमारश्रमण इसी भव (जन्मग्रहण) से सिद्ध होगा, यावत् सब दु.खो का अन्त करेगा। अत हे आर्यो! तुम अतिमुक्तक कुमारश्रमण की हीलना मत करो, न ही उसे झिडको (जनता के समक्ष चिढाओ, डाटो या खिसना करो), न ही गर्हा (बदनामी) और अवमानना (अपमान) करो। किन्तु हे देवानुप्रियो! तुम अग्लानभाव से (ग्लानि—घृणा या खिन्नता लाए बिना) अतिमुक्तक कुमारश्रमण को स्वीकार करो, अग्लान भाव से (सयम मे) उसकी सहायता (उपग्रह=उपकार) करो, और अग्लानभाव से आहार-पानी से विनय सहित उसकी वैयावृत्य (सेवा-शुश्रूषा) करो, क्योकि अतिमुक्तक कुमारश्रमण (इसी भव मे सब कर्मो का या ससार का) अन्त करने वाला है, और चरम (अन्तिम) शरीरी है।

[५] तए ण ते थेरा भगवतो समणेण भगवता महावीरेण एव वुत्ता समाणा समण भगव महावीर वदति णमसति, अतिमुत्त कुमारसमण अगिलाए सगिण्हति जाव वेयावडिय करेंति।

[१७-५] तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर (तत्क्षण) उन स्थविर भगवन्तो ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार किया। फिर उन स्थविर मुनियो ने अतिमुक्तक कुमारश्रमण को अग्लान भाव से स्वीकार किया और यावत् वे उसकी वैयावृत्य (सेवाशुश्रूषा) करने लगे।

विवेचन—अतिमुक्तक कुमारश्रमण की बालचेष्टा तथा भगवान् द्वारा स्थविरो का समाधान— प्रस्तुत १७ वे सूत्र के पाच विभागो मे अतिमुक्तक कुमारश्रमण द्वारा पात्ररूपी नौका वर्षा के जल मे तिराने की बालचेष्टा से लेकर भगवान् द्वारा किये गए समाधान से स्थविरो की अतिमुक्तक मुनि की सेवा मे अग्लानिपूर्वक सलग्नता तक का वृत्तान्त दिया गया है।

भगवान द्वारा आविष्कृत सुधार का मनोवैज्ञानिक उपाय—यद्यपि अतिमुक्तक कुमारश्रमण द्वारा सचित्त जल मे अपने पात्र को नौका रूप मानकर तिराना और क्रीडा करना, साधुजीवन चर्या मे दोषयुक्त था, उसे देखकर स्थविरमुनियो के मन मे अतिमुक्तक श्रमण के सयम के प्रति शका उत्पन्न होना स्वाभाविक था। किन्तु एक तो बालसुलभ स्वभाव के कारण अतिमुक्तक मुनि से ऐसा हुआ था, दूसरे वे प्रकृति से भद्र, सरल और विनीत थे, हठाग्रही और अविनीत नही थे। इसलिए एकान्त मे वात्सल्यभाव से भगवान् ने उन्हे समझाया होगा, तब वे तुरन्त अपनी भूल को मान गए होगे, और उसके लिए यथोचित प्रायश्चित्त लेकर उन्होने आत्मशुद्धि भी कर ली होगी। शास्त्र के मूलपाठ मे उल्लेख न होने पर भी **'पगइभद्दए जाव पगईविणीए'** पदो से ऐसी सभावना की जा सकती है।

दूसरी ओर—भगवान् ने स्थविरो की मनोदशा अतिमुक्तक के प्रति घृणा, उपेक्षा, अवमानना और ग्लानि से युक्त देखी तो उन्होने स्थविरो को भी वात्सल्यवश सम्बोधित करके अतिमुक्तक के प्रति घृणादि भाव छोडकर अग्लानभाव से उसकी सेवा करने की प्रेरणा दी। ऐसे मनोवैज्ञानिक उपाय से भगवान् ने दोषयुक्त व्यक्ति को सुधारने का अचूक उपाय बता दिया। साथ ही अतिमुक्तक मुनि मे निहित गुणो को प्रकट करके उन्हे भगवान् ने चरमशरीरी एव भवान्तकर बताया, यह भी स्थविरो को घृणादि से मुक्त करने का ठोस उपाय था।[1]

'कुमारश्रमण'—अल्पवय मे दीक्षित होने के कारण अतिमुक्तक को **'कुमारश्रमण'** कहा गया है।

दो देवो के मनोगत प्रश्न के भगवान् द्वारा प्रदत्त मनोगत उत्तर पर गौतमस्वामी का मन.समाधान—

१८ [१] तेण कालेण तेण समएण महासुक्कातो कप्पातो महासामाणातो विमाणातो[2] दो देवा महिड्ढीया जाव[3] महाणुभागा समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिय पाउब्भूता।

[१८-१] उस काल और उस समय मे महाशुक्र कल्प (देवलोक) से महासामान (महासर्ग या महास्वर्ग) नामक महाविमान (विमान) से दो महर्द्धिक यावत् महानुभाग देव श्रमण भगवान् महावीर के पास प्रादुर्भूत (प्रगट) हुए (आए)।

---

१ (क) भगवती (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ १७७-१७८
(ख) भगवती अ वृत्ति, पत्राक २१९ के आधार पर

२ पाठान्तर—'महासग्गातो महाविमाणाओ'

३ 'जाव' पद से 'महज्जुती' इत्यादि देववर्णन मे आया हुआ समग्र विशेषणयुक्त पाठ कहना चाहिए।

[१७-३] तत्पश्चात् (बाहर जाते हुए) उस अतिमुक्तक कुमारश्रमण ने (मार्ग मे) बहता हुआ पानी का एक छोटा-सा नाला देखा। उसे देखकर उसने उस नाले के दोनो ओर मिट्टी की पाल बाधी। इसके पश्चात् नाविक जिस प्रकार अपनी नौका पानी मे छोडता है, उसी प्रकार उसने भी अपने पात्र को नौकारूप मानकर, पानी मे छोडा। फिर 'यह मेरी नाव है, यह मेरी नाव है', यो पात्रीरूपी नौका को पानी मे प्रवाहित करते (बहाते=तिराते हुए) क्रीडा करने (खेलने) लगे।

[४] त च थेरा अद्दक्खु। जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छति, २ एव वदासी—एवं खलु देवाणुप्पियाण अतेवासी अतिमुत्ते णाम कुमारसमणे, से ण भ ते! अतिमुत्ते कुमारसमणे कतिहि भवग्गहणेहि सिज्झिहिति जाव अत करेहिति!

'अज्जो!' ति समणे भगव महावीरे ते थेरे एव वदासी—एव खलु अज्जो! मम अतेवासी अतिमुत्ते णाम कुमारसमणे पगतिभद्दए जाव विणीए, से ण अतिमुत्ते कुमारसमणे इमेण चेव भवग्गहणेण सिज्झिहिति जाव अत करेहिति। त मा ण अज्जो! तुब्मे अतिमुत्त कुमारसमण हीलेह निंदह खिसह गरहह अवमन्नह। तुब्मे ण देवाणुप्पिया! अतिमुत्त कुमारसमण अगिलाए सगिण्हह, अगिलाए उवगिण्हह, अगिलाए भत्तेणं पाणेण विणयेण वेयावडिय करेह। अतिमुत्ते ण कुमारसमणे अतकरे चेव, अतिमसरीरिए चेव।

[१७-४] इस प्रकार करते हुए उस अतिमुक्तक कुमारश्रमण को स्थविरो ने देखा। स्थविर (अतिमुक्तक कुमारश्रमण को कुछ भी कहे बिना) जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ आए और निकट आकर उन्होने उनसे पूछा (कहा)—

[प्र] भगवन्! आप देवानुप्रिय का अन्तेवासी (शिष्य) जो अतिमुक्तक कुमारश्रमण है, वह अतिमुक्तक कुमारश्रमण कितने भव (जन्म) ग्रहण करके सिद्ध होगा, यावत् सर्वदु खो का अन्त करेगा?

[उ] 'हे आर्यो!' इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी उन स्थविरो को सम्बोधित करके कहने लगे—'आर्यो! मेरा अन्तेवासी (शिष्य) अतिमुक्तक नामक कुमारश्रमण, जो प्रकृति से भद्र यावत् प्रकृति से विनीत है, वह अतिमुक्तक कुमारश्रमण इसी भव (जन्मग्रहण) से सिद्ध होगा, यावत् सब दु खो का अन्त करेगा। अत हे आर्यो! तुम अतिमुक्तक कुमारश्रमण की हीलना मत करो, न ही उसे झिडको (जनता के समक्ष चिढाओ, डाटो या खिसना करो), न ही गर्हा (बदनामी) और अवमानना (अपमान) करो। किन्तु हे देवानुप्रियो! तुम अग्लानभाव से (ग्लानि—घृणा या खिन्नता लाए बिना) अतिमुक्तक कुमारश्रमण को स्वीकार करो, अग्लान भाव से (सयम मे) उसकी सहायता (उपग्रह=उपकार) करो, और अग्लानभाव से आहार-पानी से विनय सहित उसकी वैयावृत्य (सेवा-शुश्रूषा) करो, क्योकि अतिमुक्तक कुमारश्रमण (इसी भव मे सब कर्मो का या ससार का) अन्त करने वाला है, और चरम (अन्तिम) शरीरी है।

[५] तए ण ते थेरा भगवतो समणेण भगवता महावीरेण एव वुत्ता समाणा समण भगव महावीर वदति णमसति, अतिमुत्त कुमारसमण अगिलाए सगिण्हति जाव वेयावडिय करेंति।

[१७-५] तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर (तत्क्षण) उन स्थविर भगवन्तो ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार किया। फिर उन स्थविर मुनियो ने अतिमुक्तक कुमारश्रमण को अग्लान भाव से स्वीकार किया और यावत् वे उसकी वैयावृत्य (सेवाशुश्रूषा) करने लगे।

विवेचन—अतिमुक्तक कुमारश्रमण की बालचेष्टा तथा भगवान् द्वारा स्थविरो का समाधान— प्रस्तुत १७ वे सूत्र के पाच विभागो मे अतिमुक्तक कुमारश्रमण द्वारा पात्ररूपी नौका वर्षा के जल मे तिराने की बालचेष्टा से लेकर भगवान् द्वारा किये गए समाधान से स्थविरो की अतिमुक्तक मुनि की सेवा मे अग्लानिपूर्वक सलग्नता तक का वृत्तान्त दिया गया है।

भगवान द्वारा आविष्कृत सुधार का मनोवैज्ञानिक उपाय—यद्यपि अतिमुक्तक कुमारश्रमण द्वारा सचित्त जल मे अपने पात्र को नौका रूप मानकर तिराना और क्रीडा करना, साधुजीवन चर्या मे दोषयुक्त था, उसे देखकर स्थविरमुनियो के मन मे अतिमुक्तक श्रमण के सयम के प्रति शका उत्पन्न होना स्वाभाविक था। किन्तु एक तो बालसुलभ स्वभाव के कारण अतिमुक्तक मुनि से ऐसा हुआ था, दूसरे वे प्रकृति से भद्र, सरल और विनीत थे, हठाग्रही और अविनीत नही थे। इसलिए एकान्त मे वात्सल्यभाव से भगवान् ने उन्हे समझाया होगा, तब वे तुरन्त अपनी भूल को मान गए होगे, और उसके लिए यथोचित प्रायश्चित्त लेकर उन्होने आत्मशुद्धि भी कर ली होगी। शास्त्र के मूलपाठ मे उल्लेख न होने पर भी 'पगइभद्दए जाव पगईविणीए' पदो से ऐसी सभावना की जा सकती है।

दूसरी ओर—भगवान् ने स्थविरो की मनोदशा अतिमुक्तक के प्रति घृणा, उपेक्षा, अवमानना और ग्लानि से युक्त देखी तो उन्होने स्थविरो को भी वात्सल्यवश सम्बोधित करके अतिमुक्तक के प्रति घृणादि भाव छोडकर अग्लानभाव से उसकी सेवा करने की प्रेरणा दी। ऐसे मनोवैज्ञानिक उपाय से भगवान् ने दोषयुक्त व्यक्ति को सुधारने का अचूक उपाय बता दिया। साथ ही अतिमुक्तक मुनि मे निहित गुणो को प्रकट करके उन्हे भगवान् ने चरमशरीरी एव भवान्तकर बताया, यह भी स्थविरो को घृणादि से मुक्त करने का ठोस उपाय था।[1]

'कुमारश्रमण'—अल्पवय मे दीक्षित होने के कारण अतिमुक्तक को 'कुमारश्रमण' कहा गया है।

दो देवो के मनोगत प्रश्न के भगवान् द्वारा प्रदत्त मनोगत उत्तर पर गौतमस्वामी का मनःसमाधान—

१८ [१] तेण कालेण तेण समएण महासुक्कातो कप्पातो महासामाणातो विमाणातो[2] दो देवा महिड्ढीया जाव[3] महाणुभागा समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिय पाउब्भूता।

[१८-१] उस काल और उस समय मे महाशुक्र कल्प (देवलोक) से महासामान (महासर्ग या महास्वर्ग) नामक महाविमान (विमान) से दो महर्द्धिक यावत् महानुभाग देव श्रमण भगवान् महावीर के पास प्रादुर्भूत (प्रगट) हुए (आए)।

---

१ (क) भगवती (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ १७७-१७८
(ख) भगवती अ वृत्ति, पत्राक २१९ के आधार पर

२ पाठान्तर—'महासग्गातो महाविमाणाओ'

३ 'जाव' पद मे 'महज्जुती' इत्यादि देववर्णन मे आया हुआ समग्र विशेषणयुक्त पाठ कहना चाहिए।

[२] तए णं ते देवा समण भगव महावीर वदति, नमसति, वदित्ता नमसित्ता मणसा चेव इम एतारूव वागरण पुच्छति—कति ण भ ते ! देवाणुप्पियाण अतेवासिसयाइ सिज्झिहिति जाव अत करेहिंति ? तए ण समणे भगव महावीरे तेहि देवेहि मणसा पुट्ठे, तेसि देवाण मणसा चेव इम एतारूव वागरण वागरेति—एव खलु देवाणुप्पिया ! मम सत्त अतेवासिसताइ सिज्झिहिति जाव अत करेहिंति।

[१८-२ प्र] तत्पश्चात् उन देवो ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके उन्होने मन से ही (मन ही मन) (श्रमण भगवान् महावीर से) इस प्रकार का ऐसा प्रश्न पूछा—'भगवन् ! आपके कितने सौ शिष्य सिद्ध होगे यावत् सर्व दु खो का अन्त करेगे ?'

[१८-२ उ] तत्पश्चात् उन देवो द्वारा मन से पूछे जाने पर श्रमण भगवान् महावीर ने उन देवो को भी मन से ही इस प्रकार का उत्तर दिया—'हे देवानुप्रियो ! मेरे सात सौ शिष्य सिद्ध होगे, यावत् सब दु खो का अन्त करेगे।'

[३] तए ण ते देवा समणेण भगवया महावीरेण मणसा पुट्ठेण मणसा चेव इम एतारूव वागरण वागरिया समाणा हट्ठतुट्ठा जाव हयहियया समण भगव महावीर वदति णमसति, २ त्ता मणसा चेव सुस्सूसमाणा णमसमाणा अभिमुहा जाव पज्जुवासति।

[१८-३] इस प्रकार उन देवो द्वारा मन से पूछे गए प्रश्न का उत्तर श्रमण भगवान् महावीर ने भी मन से ही इस प्रकार दिया, जिससे वे देव हर्षित, सन्तुष्ट (यावत्) हृदय वाले एव प्रफुल्लित हुए। फिर उन्होने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके मन से उनकी शुश्रूषा और नमस्कार करते हुए अभिमुख होकर यावत् पर्युपासना करने लगे।

१९ [१] तेण कालेण तेण समएण समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अतेवासी इदभूती णाम अणगारे जाव अदूरसामते उड्ढजाणू जाव विहरति।

[१९-१] उस काल और उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी (पट्टशिष्य) इन्द्रभूति नामक अनगार यावत् न अतिदूर और न ही अतिनिकट उत्कुटुक (उकडू) आसन से बैठे हुए यावत् पर्युपासना करते हुए उनकी सेवा मे रहते थे।

[२] तए ण तस्स भगवतो गोतमस्स झाणतरियाए वट्टमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—'एव खलु दो देवा महिड्ढीया जाव महाणुभागा समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिय पाउब्भूया, त नो खलु अह ते देवे जाणामि कयरातो कप्पातो वा सग्गातो वा विमाणातो वा कस्स वा अत्थस्स अट्ठाए इह हव्वमागता ?' त गच्छामि ण भगव महावीर वदामि णमंसामि जाव[1] पज्जुवासामि, इमाइ च ण एयारूवाइ वागरणाइं पुच्छिस्सामि त्ति कट्टु एवं सपेहेति, २ उट्ठाए उट्ठेति, २ जेणेव समणे भगव महावीरे जाव पज्जुवासति।

१ 'जाव' शब्द से गौतमस्वामी द्वारा समाचरित आराधना-पर्युपासना सम्बन्धी पूर्वोक्त समग्र वर्णन कहना चाहिए।

[१९-२] तत्पश्चात् ध्यानान्तरिका मे प्रवृत्त होते हुए (प्रचलित ध्यान की समाप्ति होने पर और दूसरा ध्यान प्रारम्भ करने से पूर्व) भगवान् गौतम के मन मे इस प्रकार का इस रूप का अध्यवसाय (सकल्प) उत्पन्न हुआ—निश्चय ही महर्द्धिक यावत् महानुभाग (महाभाग्यशाली) दो देव, श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के निकट प्रकट हुए, किन्तु मैं तो उन देवो को नही जानता कि वे कौन-से कल्प (देवलोक) से या स्वर्ग से, कौन-से विमान से और किस प्रयोजन से शीघ्र यहाँ आए है? अत मैं भगवान् महावीर स्वामी के पास जाऊँ और वन्दना-नमस्कार करू, यावत् पर्युपासना करू, और ऐसा करके मै इन और इस प्रकार के उन (मेरे मन मे पहले उत्पन्न) प्रश्नो को पूछूँ। यों श्री गौतम स्वामी ने विचार किया और अपने स्थान से उठे। फिर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ आए यावत् उनकी पर्युपासना करने लगे।

[३] 'गोयमा!' इ समणे भगव महावीरे भगव गोयम एव वदासी—से नूण तव गोयमा! झाणतरियाए वट्टमाणस्स इमेतारूवे अज्झत्थिए जाव जेणेव मम अंतिए तेणेव हव्वमागए। से नूणं गोतमा! अट्ठे समट्ठे? हंता, अत्थि। त गच्छाहि ण गोतमा! एते चेव देवा इमाइ एतारूवाइं वागरणाइ वागरेहिंति।

[१९-३] इसके पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने गौतम आदि अनगारो को सम्बोधित करके भगवान् गौतम से इस प्रकार कहा—'गौतम! एक ध्यान को समाप्त करके दूसरा ध्यान प्रारम्भ करने से पूर्व (ध्यानान्तरिका मे प्रवृत्त होते समय) तुम्हारे मन मे इस प्रकार का अध्यवसाय (सकल्प) उत्पन्न हुआ कि मैं देवो सम्बन्धी तथ्य जानने के लिए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की सेवा मे जा कर उन्हे वन्दन-नमस्कार करू, यावत् उनकी पर्युपासना करू, उसके पश्चात् पूर्वोक्त प्रश्न पूछूँ, यावत् इसी कारण से जहाँ मै हूँ वहाँ तुम मेरे पास शीघ्र आए हो। हे गौतम! यही बात है न? (क्या यह अर्थ समर्थ है?)' (श्री गौतम स्वामी ने कहा—)' हाँ, भगवन्! यह बात ऐसी ही है।'

(इसके पश्चात् भगवान् महावीर स्वामी ने कहा–) 'गौतम! तुम (अपनी शका के निवारणार्थ उन्ही देवो के पास) जाओ। वे देव ही इस प्रकार की जो भी बाते हुई थी, तुम्हे बताएँगे।'

[४] तए ण भगव गोतमे समणेण भगवया महावीरेण अब्भणुण्णाए समाणे समणं भगव महावीर वदति णमसति, २ जेणेव ते देवा तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

[१९-४] तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर द्वारा इस प्रकार की आज्ञा मिलने पर भगवान् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया और फिर जिस तरफ वे देव थे, उसी ओर जाने का सकल्प किया।

[५] तए ण ते देवा भगव गोतम एज्जमाण पासति, २ हट्ठा जाव हयहियया खिप्पामेव अब्भुट्ठेंति, २ खिप्पामेव पच्चुवगच्छति, २ जेणेव भगव गोतमे तेणेव उवागच्छति, २ त्ता जाव णमसित्ता एव वदासी—एव खलु भ ते! अम्हे महासुक्कातो कप्पातो महासामाणातो[1] विमाणातो

---

१ पाठान्तर—'महासग्गातो महाविमाणातो'।

दो देवा महिड्ढिया जाव पादुब्भूता, तए ण अम्हे समण भगव महावीर वदामो णमसामो, २ मणसा चेव इमाइ एतारूवाइ वागरणाइ पुच्छामो—कति ण भ ते ! देवाणुप्पियाण अतेवासिसयाइ सिज्झिहिति जाव अत करेहिति ? तए ण समणे भगव महावीरे अम्हेहिं मणसा पुट्ठे अम्ह मणसा चेव इम एतारूव वागरण वागरेति—एव खलु देवाणुप्पिया ! मम सत्त अतेवासि० जाव अत करेहिति । तए ण अम्हे समणेण भगवया महावीरेण मणसा पुट्ठेण मणसा चेव इम एतारूव वागरण वागरिया समाणा समण भगव महावीर वदामो नमसामो, २ जाव पज्जुवासामो त्ति कट्टु भगव गोतम वदति नमसति, २ जामेव दिसि पाउब्भूता तामेव दिसि पडिगया ।

[१९-५] इधर उन देवो ने भगवान् गौतम स्वामी को अपनी ओर आते देखा तो वे अत्यन्त हर्षित हुए यावत् ,उनका हृदय प्रफुल्लित हो गया, वे शीघ्र ही खडे हुए, फुर्ती से उनके सामने गए और जहाँ गौतम स्वामी थे, वहाँ उनके पास पहुँचे । फिर उन्हे यावत् वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार बोले—'भगवन् ! महाशुक्रकल्प (सप्तम देवलोक) से, महासामान (महासर्ग या महास्वर्ग) नामक महाविमान से हम दोनो महर्द्धिक यावत् महानुभाग देव यहाँ आये है । यहाँ आ कर हमने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार किया और मन से ही (मन ही मन) इस प्रकार की ये बाते पूछी कि 'भगवन् ! आप देवानुप्रिय के कितने शिष्य सिद्ध होगे यावत् सर्वदु खो का अन्त करेगे ?' तब हमारे द्वारा मन से ही श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से (यह प्रश्न) पूछे जाने पर उन्होने हमे मन से ही इस प्रकार का यह उत्तर दिया—'हे देवानुप्रियो ! मेरे सात सौ शिष्य सिद्ध होगे, यावत् सर्वदु खो का अन्त करेगे ।' 'इस प्रकार मन से पूछे गए प्रश्न का उत्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी द्वारा मन से ही प्राप्त करके हम अत्यन्त हृष्ट और सन्तुष्ट हुए यावत् हमारा हृदय उनके प्रति खिंच गया । अतएव हम श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार करके यावत् उनकी पर्यु-पासना कर रहे है ।' यो कह कर उन देवो ने भगवान् गौतम स्वामी को वन्दन-नमस्कार किया और वे दोनो देव जिस दिशा से आए (प्रादुर्भूत हुए) थे, उसी दिशा मे वापस लौट गए ।

विवेचन—दो देवो के मनोगत प्रश्न के भगवान् द्वारा प्रदत्त मनोगत उत्तर पर गौतम स्वामी का मन समाधान—प्रस्तुत दो सूत्रो द्वारा शास्त्रकार वे सात तथ्यो का स्पष्टीकरण किया है—

(१) दो देवो का अपना जिज्ञासा शान्त करने हेतु भगवान् महावीर की सेवा मे आगमन ।

(२) सिद्ध-मुक्त होने वाले भगवान् के शिष्यो के सम्बन्ध मे देवो द्वारा प्रस्तुत मनोगत प्रश्न ।

(३) उनका मनोगत प्रश्न जान कर भगवान् द्वारा मन से ही प्रदत्त उत्तर—'मेरे सात सौ शिष्य सिद्ध होगे ।'

(४) यथार्थ उत्तर पा कर देव हृष्ट और सन्तुष्ट होकर वन्दन नमस्कार करके पर्युपासना मे लीन हुए ।

(५) गौतम स्वामी के ध्यानपरायण मन मे देवो के सम्बन्ध मे उठी हुई जिज्ञासा शान्त करने का विचार ।

(६) भगवान् द्वारा गौतमस्वामी को अपनी जिज्ञासा शान्त करने हेतु देवो के पास जाने का परामर्श ।

(७) देवो द्वारा अपने आगमन के उद्देश्य और उसमे प्राप्त सफलता का अथ से इति तक गौतमस्वामी से निवेदन ।

प्रतिफलित तथ्य—इस समग्र वृत्तान्त पर से चार तथ्य प्रतिफलित होते हैं—

(१) देवो की तथा सर्वज्ञ तीर्थकर की क्रमश प्रचण्ड मन शक्ति और आत्मशक्ति ।

(२) सत्य की प्राप्ति होने पर देव हृष्ट-तुष्ट, विनम्र और धर्मात्मा के पर्युपासक वन जाते है ।

(३) सत्यार्थी गौतमस्वामी की प्रबल ज्ञानपिपासा ।

(४) अपने से निम्नगुणस्थानवर्ती देवो के पास सत्य-तथ्य जानने का भगवान् का परामर्श मान कर विनम्रमूर्ति जिज्ञासुशिरोमणि श्री गौतमस्वामी का देवो के पास गमन, और यथार्थमन -समाधान से सन्तोष ।[1]

कठिन शब्दो के विशेष अर्थ—**अब्भणुण्णाए**=आज्ञा प्राप्त होने पर । **खिप्पामेव**=शीघ्र ही । **पहारेत्थ गमणाए**=जाने के लिए मन मे धारणा की । **एज्जमाण**=आते हुए । **अब्भुट्ठेंति**=उठ खडे होते हैं । **पच्चुवागच्छति**=सामने आते है । **झाणतरिया**=ध्यानान्तरिका—एक ध्यान समाप्त करके जब तक दूसरा ध्यान प्रारम्भ न किया जाए उसके बीच का समय ।[2]

देवो को संयत, असंयत, एवं संयतासंयत न कहकर 'नो-संयत"कथन-निर्देश—

२० 'भ ते !' त्ति भगव गोतमे समण जाव एव वदासी—देवा ण भ ते ! 'सजया' ति वत्तव्व सिया ? गोतमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । अब्भक्खाणमेय देवाणं ।

[२० प्र] 'भगवन् !' इस प्रकार सम्बोधित करके भगवान् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार किया यावत् इस प्रकार पूछा—'भगवन् ! क्या देवो को 'सयत' कहा जा सकता है ?

[२० उ] 'गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (यथार्थ सम्यक्) नही है, यह (देवो को 'सयत' कहना) देवो के लिए अभ्याख्यान (मिथ्या आरोपित कथन) है ।

२१ भ ते ! 'असजता' ति वत्तव्व सिया ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । णिट्ठुरवयणमेयं देवाण ।

[२१ प्र] भगवन् ! क्या देवो को 'असयत' कहना चाहिए ?

[२१ ए] गौतम ! यह अर्थ (भी) समर्थ (सम्यक् अर्थ) नही है । देवो के लिए ('देव असयत हैं') यह (कथन) निष्ठुर वचन है ।

---

१ वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भाग १, पृ १९८-१९९

२ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २२१

२२. भंते ! 'संजयासंजया' ति वत्तव्वं सिया ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । असब्भूयमेयं देवाणं ।

[२२ प्र] भगवन् ! क्या देवों को 'संयतासंयत' कहना चाहिए ?

[२२ उ] गौतम ! यह अर्थ (भी) समर्थ नहीं है, देवों को 'संयतासंयत' कहना (देवों के लिए) असद्भूत (असत्य) वचन है ।

२३. से किं खाति णं भंते ! देवा ति वत्तव्वं सिया ? गोयमा ! देवा णं 'नोसंजया' ति वत्तव्वं सिया ।

[२३ प्र] भगवन् ! तो फिर देवों को किस नाम से कहना (पुकारना) चाहिए ?

[२३ उ] गौतम ! देवों को 'नोसंयत' कहा जा सकता है ।

विवेचन—देवों को संयत, असंयत और संयतासंयत न कह कर 'नोसंयत'-कथन-निर्देश— प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. २० से २२ तक) में देवों को संयत, असंयत एवं संयतासंयत न कहने का कारण बताकर चतुर्थ सूत्र में 'नोसंयत' कहने का भगवान् का निर्देश अंकित किया गया है ।

देवों के लिए 'नोसंयत' शब्द उपयुक्त क्यों ? दो कारण—(१) जिस प्रकार 'मृत' और 'दिवंगत' का अर्थ एक होते हुए भी 'मर गया' शब्द निष्ठुर (कठोर) वचन होने से 'स्वर्गवासी हो गया' ऐसे अनिष्ठुर शब्दों का प्रयोग किया जाता है वैसे ही यहाँ 'असंयत' शब्द के बदले 'नोसंयत' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

(२) ऊपर के देवलोकों के देवों में गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान न्यून होने तथा लेश्या भी प्रशस्त तथा सम्यग्दृष्टि होने से कषाय भी मन्द होने तथा ब्रह्मचारी होने के कारण यत्किंचित् भावसंयतता उनमें आ जाती है, इन देवों की अपेक्षा से उन्हें 'नोसंयत' कहना उचित है ।[1]

देवों की भाषा एवं विशिष्ट भाषा : अर्धमागधी—

२४. देवा णं भंते ! कयराए भासाए भासंति ? कतरा वा भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति ? गोयमा ! देवा णं अद्धमागहाए भासाए भासंति, सा वि य णं अद्धमागहा भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति ।

[२४ प्र] भगवन् ! देव कौन-सी भाषा बोलते हैं ? अथवा (देवों द्वारा) बोली जाती हुई कौन-सी भाषा विशिष्टरूप होती है ?

[२४ उ] गौतम ! देव अर्धमागधी भाषा बोलते हैं, और बोली जाती हुई वह अर्धमागधी भाषा ही विशिष्टरूप होती है ।

---

१ (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २२१

(ख) 'गति-शरीर-परिग्रहाऽभिमानतो हीना'—तत्त्वार्थ सूत्र अ. ४, सू-२२

'परेऽप्रवीचाराः'—तत्त्वार्थसूत्र, अ. ४, सू. १०

विवेचन—देवो की भाषा एव विशिष्टरूप भाषा अर्धमागधी—प्रस्तुत सूत्र मे देवो की भाषा-सम्बन्धी प्ररूपणा की गई है ।

अर्धमागधी का स्वरूप—वृत्तिकार के अनुसार जो भाषा मगधदेश मे बोली जाती है, उसे मागधी कहते है । जिस भाषा मे मागधी और प्राकृत आदि भाषाओ के लक्षण (निशान) का मिश्रण हो गया हो, उसे अर्धमागधी भाषा कहते है । अर्धमागधी शब्द की व्युत्पत्ति—'**मागध्या अर्धम् अर्धमागधी**' के अनुसार अर्धमागधी शब्द स्पष्टत सूचित करता है कि जिस भाषा मे आधी मागधी भाषा हो और आधी दूसरी भाषाएँ मिश्रित हुई हो, वही अर्धमागधी भाषा है । आचार्य जिनदास महत्तर ने निशीथ-चूर्णि मे अर्धमागधी का स्वरूप इस प्रकार बताया है—'मगध देश की आधी भाषा मे जो निबद्ध है, वह अर्धमागधी है अथवा अठारह प्रकार की देशी भाषा मे नियत हुई जो भाषा है, वह अर्धमागधी है । 'प्राकृतसर्वस्व' मे महर्षि मार्कण्डेय बताते है, मगधदेश और सूरसेन देश अधिक दूर न होने से तथा शौरसेनी भाषा मे पाली और प्राकृत भाषा का मिश्रण होने से तथा मागधी के साथ सम्पर्क होने से शौरसेनी को ही अर्धमागधी[1] कहने मे कोई आपत्ति नही ।

विभिन्न धर्मो की अलग-अलग देवभाषाओ का समावेश अर्धमागधी मे—वैदिक धर्मसम्प्रदाय ने सस्कृत को देवभाषा माना है । बौद्धसम्प्रदाय ने पाली को, इस्लाम ने अरबी को, ईसाई धर्म-सम्प्रदाय ने हिब्रू को देवभाषा माना है । अगर अपभ्र श भाषा मे इन सबको गतार्थ कर दे तो जैनधर्म-सम्प्रदाय मान्य देवभाषा अर्धमागधी मे इन सब धर्मसम्प्रदायो की देवभाषाओ का समावेश हो जाता है । भ० महावीर के युग मे भाषा के सम्बन्ध मे यह मिथ्या धारणा फैली हुई थी कि 'अमुक भाषा देव-भाषा है, अमुक अपभ्रष्ट भाषा । देवभाषा बोलने से पुण्य और अपभ्रष्ट भाषा बोलने से पाप होता है ।' परन्तु महावीर ने कहा कि भाषा का पुण्य-पाप से कोई सम्बन्ध नही है । चारित्र-आचरण शुद्ध न होगा तो कोरी भाषा दुर्गति से बचा नही सकती 'न चित्ता तायए भासा'[2]

केवली और छद्मस्थ द्वारा अन्तकर, अन्तिम शरीरी चरमकर्म और चरमनिर्जरा को जानने-देखने के सम्बन्ध मे प्ररूपणा—

२५ केवली ण भ ते ! अतकर वा अतिमसरीरिय वा जाणति पासइ ?

हता, गोयमा ! जाणति पासति ।

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २२१
 (ख) सिद्धहेमशब्दानुशासन, अ ८, पाद ४
 (ग) भगवतीसूत्र टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त खण्ड २ पृ १८२
 (घ) निशीथचूर्णि (लि भा पृ ३५२) मे—'मगहद्धविसयभासानिबद्ध अद्धमागह, अहवा अट्ठारसदेसी-भासाणियत अद्धमागध ।'
 (ङ) प्राकृत-सर्वस्व (पृ १०३) मे—'शौरसेन्या अदूरत्वाद् इयमेवार्धमागधी ।'

२ (क) भगवतीसूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ १८२
 (ख) 'अद्धमागह' भाषा किल षड्विधा भवति, यदाह—
 'प्राकृत-सस्कृत-मागध-पिशाचभाषा च शौरसेनी च ।
 षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्र श ॥ —भगवती अ वृत्ति, पत्राक २२१
 (ग) जैनसाहित्य का बृहत् इतिहास, भा १, पृ २०३
 (घ) उत्तराध्ययनसूत्र, अ ६, गा १०-"न चित्ता "

२२ भंते ! 'संजयासंजया' ति वत्तव्वं सिया ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । असब्भूयमेयं देवाणं ।

[२२ प्र] भगवन् ! क्या देवों को 'संयतासंयत' कहना चाहिए ?

[२२ उ] गौतम ! यह अर्थ (भी) समर्थ नहीं है, देवों को 'संयतासंयत' कहना (देवों के लिए) असद्भूत (असत्य) वचन है ।

२३. से किं खाति णं भंते ! देवा ति वत्तव्वं सिया ? गोयमा ! देवा णं 'नोसंजया' ति वत्तव्वं सिया ।

[२३ प्र] भगवन् ! तो फिर देवों को किस नाम से कहना (पुकारना) चाहिए ?

[२३ उ] गौतम ! देवों को 'नोसंयत' कहा जा सकता है ।

विवेचन—देवों को संयत, असंयत और संयतासंयत न कह कर 'नोसंयत'-कथन-निर्देश— प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. २० से २२ तक) में देवों को संयत, असंयत एवं संयतासंयत न कहने का कारण बताकर चतुर्थ सूत्र में 'नोसंयत' कहने का भगवान् का निर्देश अंकित किया गया है ।

देवों के लिए 'नोसंयत' शब्द उपयुक्त क्यों ? दो कारण—(१) जिस प्रकार 'मृत' और 'दिवंगत' का अर्थ एक होते हुए भी 'मर गया' शब्द निष्ठुर (कठोर) वचन होने से 'स्वर्गवासी हो गया' ऐसे अनिष्ठुर शब्दों का प्रयोग किया जाता है वैसे ही यहाँ 'असंयत' शब्द के बदले 'नोसंयत' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

(२) ऊपर के देवलोकों के देवों में गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान न्यून होने तथा लेश्या भी प्रशस्त तथा सम्यग्दृष्टि होने से कषाय भी मन्द होने तथा ब्रह्मचारी होने के कारण यत्किंचित् भावसंयतता उनमें आ जाती है, इन देवों की अपेक्षा से उन्हें 'नोसंयत' कहना उचित है ।[1]

देवों की भाषा एवं विशिष्ट भाषा : अर्धमागधी—

२४ देवा णं भंते ! कयराए भासाए भासंति ? कतरा वा भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति ? गोयमा ! देवा णं अद्धमागहाए भासाए भासंति, सा वि य णं अद्धमागहा भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति ।

[२४ प्र] भगवन् ! देव कौन-सी भाषा बोलते हैं ? अथवा (देवों द्वारा) बोली जाती हुई कौन-सी भाषा विशिष्टरूप होती है ?

[२४ उ] गौतम ! देव अर्धमागधी भाषा बोलते हैं, और बोली जाती हुई वह अर्धमागधी भाषा ही विशिष्टरूप होती है ।

---

१ (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २२१

(ख) 'गति-शरीर-परिग्रहाऽभिमानतो हीना'-तत्त्वार्थ सूत्र अ. ४, सू-२२

'परेऽप्रवीचारा'—तत्त्वार्थसूत्र, अ. ४, सू. १०

विवेचन—देवो की भाषा एव विशिष्टरूप भाषा अर्धमागधी—प्रस्तुत सूत्र मे देवो की भाषा-सम्बन्धी प्ररूपणा की गई है।

अर्धमागधी का स्वरूप—वृत्तिकार के अनुसार जो भाषा मगधदेश मे बोली जाती है, उसे मागधी कहते हैं। जिस भाषा मे मागधी और प्राकृत आदि भाषाओ के लक्षण (निशान) का मिश्रण हो गया हो, उसे अर्धमागधी भाषा कहते है। अर्धमागधी शब्द की व्युत्पत्ति—'मागध्या अर्धम् अर्धमागधी' के अनुसार अर्धमागधी शब्द स्पष्टत सूचित करता है कि जिस भाषा मे आधी मागधी भाषा हो और आधी दूसरी भाषाएँ मिश्रित हुई हो, वही अर्धमागधी भाषा है। आचार्य जिनदास महत्तर ने निशीथ-चूर्णि मे अर्धमागधी का स्वरूप इस प्रकार बताया है—'मगध देश की आधी भाषा मे जो निबद्ध है, वह अर्धमागधी है अथवा अठारह प्रकार की देशी भाषा मे नियत हुई जो भाषा हे, वह अर्धमागधी है। 'प्राकृतसर्वस्व' मे महर्षि मार्कण्डेय बताते है, मगधदेश और सूरसेन देश अधिक दूर न होने से तथा शौरसेनी भाषा मे पाली और प्राकृत भाषा का मिश्रण होने से तथा मागधी के साथ सम्पर्क होने से शौरसेनी को ही **अर्धमागधी**[1] कहने मे कोई आपत्ति नही।

विभिन्न धर्मो की अलग-अलग देवभाषाओ का समावेश अर्धमागधी मे—वैदिक धर्मसम्प्रदाय ने सस्कृत को देवभाषा माना है। बौद्धसम्प्रदाय ने पाली को, इस्लाम ने अरबी को, ईसाई धर्म-सम्प्रदाय ने हिब्रू को देवभाषा माना है। अगर अपभ्र श भाषा मे इन सबको गतार्थ कर दें तो जैनधर्म-सम्प्रदाय मान्य देवभाषा अर्धमागधी मे इन सब धर्मसम्प्रदायो की देवभाषाओ का समावेश हो जाता है। भ० महावीर के युग मे भाषा के सम्बन्ध मे यह मिथ्या धारणा फैली हुई थी कि 'अमुक भाषा देव-भाषा है, अमुक अपभ्रष्ट भाषा। देवभाषा बोलने से पुण्य और अपभ्रष्ट भाषा बोलने से पाप होता है।' परन्तु महावीर ने कहा कि भाषा का पुण्य-पाप से कोई सम्बन्ध नही है। चारित्र-आचरण शुद्ध न होगा तो कोरी भाषा दुर्गति से बचा नही सकती **'न चित्ता तायए भासा'**[2]

केवली और छद्मस्थ द्वारा अन्तकर, अन्तिम शरीरी चरमकर्म और चरमनिर्जरा को जानने-देखने के सम्बन्ध में प्ररूपणा—

२५ केवली ण भ ते ! अतकर वा अतिमसरीरियं वा जाणति पासइ ?

हता, गोयमा ! जाणति पासति।

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २२१

(ख) सिद्धहेमशब्दानुशासन, अ ८, पाद ४

(ग) भगवतीसूत्र टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त खण्ड २ पृ १८२

(घ) निशीथचूर्णि (लि भा पृ ३५२) मे—'मगहद्धविसयभासानिबद्ध अद्धमागह, अहवा अट्ठारसदेसी-भासाणियत अद्धमागध।'

(ङ) प्राकृत-सर्वस्व (पृ १०३) मे—'शौरसेन्या अदूरत्वाद् इयमेवार्धमागधी।'

२ (क) भगवतीसूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ १८२

(ख) 'अद्धमागह' भाषा किल षड्विधा भवति, यदाह—

'प्राकृत-सस्कृत-मागध-पिशाचभाषा च शौरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्र श ॥' —भगवती अ वृत्ति, पत्राक २२१

(ग) जैनसाहित्य का बृहत् इतिहास, भा १, पृ २०३

(घ) उत्तराध्ययनसूत्र, अ ६, गा १०-"न चित्ता"

[२५ प्र.] भगवन् ! क्या केवली मनुष्य अन्तकर (कर्मों का या ससार का अन्त करने वाले) को अथवा चरमशरीरी को जानता-देखता है ?

[२५ उ] हाँ गौतम ! वह उसे जानता-देखता है।'

२६ [१] जहा ण भते ! केवली अतकर वा अतिमसरीरिय वा जाणति पासति तथा ण छउमत्थे वि अतकर वा अतिमसरीरिय वा जाणति पासति ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, सोच्चा जाणति पासति पमाणतो वा ।

[२६-१ प्र] भगवन् ! जिस प्रकार केवली मनुष्य अन्तकर को, अथवा अन्तिमशरीरी को जानता-देखता है, क्या उसी प्रकार छद्मस्थ-मनुष्य भी अन्तकर को अथवा अन्तिमशरीरी को जानता-देखता है ?

[२६-१ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही, (अर्थात्—केवली की तरह छद्मस्थ अपने ही ज्ञान से नही जान सकता), किन्तु छद्मस्थ मनुष्य किसी से सुन कर अथवा प्रमाण द्वारा अन्तकर और अन्तिम शरीरी को जानता-देखता है।

[२] से किं त सोच्चा ?

सोच्चा ण केवलिस्स वा, केवलिसावयस्स वा, केवलिसावियाए वा, केवलिउवासगस्स वा, केवलिउवासियाए वा, तप्पक्खियस्स वा, तप्पक्खियसावगस्स वा, तप्पक्खियसावियाए वा, तप्पक्खिय-उवासगस्स वा तप्पक्खियउवासियाए वा। से त सोच्चा ।

[२६-२ प्र] भगवन् ! सुन कर (किसीसे सुन कर) का अर्थ क्या है ? (अर्थात्—वह किससे सुन कर जान—देख पाता है ?)

[२६-२ उ] हे गौतम ! केवली से, केवली के श्रावक से, केवली की श्राविका से, केवली के उपासक से, केवली की उपासिका से, केवली-पाक्षिक (स्वयम्बुद्ध) से, केवलीपाक्षिक के श्रावक से, केवली-पाक्षिक की श्राविका से, केवलीपाक्षिक के उपासक से अथवा केवलीपाक्षिक की उपासिका से, इनमे से किसी भी एक से 'सुनकर' छद्मस्थ मनुष्य यावत् जानता और देखता है। यह हुआ 'सोच्चा'='सुन कर' का अर्थ ।

[३] से किं त पमाणे ?

पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते, त जहा—पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे । जहा अणुयोगद्दारे तहा णेयव्व पमाण जाव तेण पर नो अत्तागमे, नो अणतरागमे, परपरागमे ।

[२६-३ प्र] भगवन् (और) वह 'प्रमाण' क्या है ? कितने हैं ?

[२६-३ उ] गौतम ! प्रमाण चार प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) औपम्य (उपमान) और (४) आगम । प्रमाण के विषय मे जिस प्रकार अनुयोग-द्वारसूत्र मे कहा गया है, उसी प्रकार यहाँ भी जान लेना चाहिए, यावत् न आत्मागम, न अनन्त-रागम, किन्तु परम्परागम तक कहना चाहिए।

२७ केवली ण भंते ! चरमकम्म वा चरमनिज्जर वा जाणति, पासति ?

हंता, गोयमा ! जाणति, पासति ।

[२७ प्र] भगवन् क्या केवली मनुष्य चरम कर्म को अथवा चरम निर्जरा को जानता-देखता है?

[२७ उ] हाँ, गौतम ! केवली चरम कर्म को या चरम निर्जरा को जानता-देखता है ।

२८. जहा ण भंते ! केवली चरमकम्म वा०, जहा ण अंतकरेण आलावगो तहा चरमकम्मेणं वि अपरिसेसितो णेयव्वो ।

[२८ प्र] भगवन् ! जिस प्रकार केवली चरमकर्म को या चरमनिर्जरा को जानता-देखता है, क्या उसी तरह छद्मस्थ भी यावत् जानता-देखता है ?

[२८ उ] गौतम ! जिस प्रकार 'अन्तकर' के विषय मे आलापक कहा था, उसी प्रकार 'चरमकर्म' का पूरा आलापक कहना चाहिए ।

विवेचन—केवली और छद्मस्थ द्वारा अन्तकर, अन्तिमशरीरी, चरमकर्म और चरमनिर्जरा को जानने-देखने के सम्बन्ध मे प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रो मे क्रमश छह तथ्यो का प्रतिपादन किया गया है—(१) केवली मनुष्य अन्तकर और अन्तिम शरीरी को जानता-देखता है, (२) किन्तु छद्मस्थ मनुष्य केवली की तरह पारमार्थिक प्रत्यक्ष से इन्हे नही जानता-देखता, वह सुनकर या प्रमाण से जानता-देखता है । (३) सुन कर का अर्थ है—केवली, केवली के श्रावक-श्राविका तथा उपासक-उपासिका से, और स्वयबुद्ध, स्वयम्बुद्ध के श्रावक-श्राविका तथा उपासक-उपासिका से । (४) 'प्रमाण द्वारा' का अर्थ है—अनुयोगद्वार वर्णित प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणो से । (५) केवली मनुष्य चरमकर्म और चरमनिर्जरा को आत्मप्रत्यक्ष से जानता-देखता है । (६) छद्मस्थ इन्हे केवली की तरह नही जान-देख पाता वह पूर्ववत् सुन कर या प्रमाण से जानता-देखता है ।[1]

चरमकर्म एव चरमनिर्जरा की व्याख्या—शैलेशी अवस्था के अन्तिम समय मे जिस कर्म का अनुभव हो, उसे **चरमकर्म** तथा उसके अनन्तर समय मे (शीघ्र ही) जो कर्म जीवप्रदेशो से झड जाते हैं, उसे **चरमनिर्जरा** कहते है ।

प्रमाण : स्वरूप और प्रकार—जिसके द्वारा वस्तु का सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित परिच्छेद—विश्लेषणपूर्वक ज्ञान किया जाता है, वह प्रमाण है । अथवा स्व (ज्ञानरूप आत्मा) और पर (आत्मा से भिन्न पदार्थ) का व्यवसायी—निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है । अनुयोगद्वार सूत्र मे 'ज्ञानगुणप्रमाण' का विस्तृत निरूपण है । सक्षेप मे इस प्रकार है—**ज्ञानगुणप्रमाण के मुख्यतया चार प्रकार हैं**—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमा और आगम ।

प्रत्यक्ष के दो भेद—इन्द्रियप्रत्यक्ष और नो-इन्द्रियप्रत्यक्ष । इन्द्रियप्रत्यक्ष के ५ इन्द्रियो की अपेक्षा से ५ भेद और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष के तीन भेद—अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान और केवलज्ञान ।

अनुमान के तीन मुख्य प्रकार—पूर्ववत् शेषवत् और दृष्ट साधर्म्यवत् । घर से भागे हुए पुत्र को उसके पूर्व के निशान (क्षत, व्रण, लाञ्छन, मस, तिल आदि) से अनुमान करके जान लिया जाता है,

---

१ वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूल-पाठ-टिप्पणयुक्त) भा १, पृ २००-२०१

वह पूर्ववत् । कार्य, कारण, गुण, अवयव और आश्रय द्वारा किये गए अनुमान से होने वाला ज्ञान शेषवत् । दृष्टसाधर्म्यवत्—यथा—एक पुरुष को देख कर अनेक पुरुषो का अनुमान, एक पके चावल को देखकर अनेक चावलो के पकाने का अनुमान, सामान्यदृष्टवत् तथा अनेक पुरुषो के बीच मे अपने परिचित विशिष्ट व्यक्ति को जानना विशेषदृष्टवत् है । इसके भी अतीतकालग्रहण, वर्तमानकालग्रहण और अनागतकालग्रहण ये तीन भेद हैं ।

उपमान (उपमा) के दो भेद—साधर्म्य से उपमा, वैधर्म्य से उपमा । साधर्म्य और वैधर्म्य उपमान के भी तीन-तीन भेद है—किंचित्साधर्म्य, प्राय साधर्म्य और सर्वसाधर्म्य, किंचितवैधर्म्य, प्राय वैधर्म्य और सर्ववैधर्म्य ।

आगम के दो भेद—लौकिक आगम और लोकोत्तर-आगमप्रमाण ।[1]

केवली के प्रकृष्ट मन-वचन को जानने-देखने मे समर्थ वैमानिक देव—

२९. केवली ण भते ! पणीत मण वा, वइ वा धारेज्जा ?

हंता, धारेज्जा ।

[२९ प्र] भगवन् ! क्या केवली प्रकृष्ट (प्रणीत=प्रशस्त) मन और प्रकृष्ट वचन धारण करता है ?

[२९ उ] हाँ, गौतम ! धारण करता है ।

३० [१] जे ण भते ! केवली पणीयं मणं वा वइ वा धारेज्जा त ण वेमाणिया देवा जाणति, पासति ?

गोयमा ! अत्थेगइया जाणति पासति, अत्थेगइया न जाणति न पासंति ।

[३०-१ प्र] भगवन् ! केवली जिस प्रकार के प्रकृष्ट मन और प्रकृष्ट वचन को धारण करता है, क्या उसे वैमानिक देव जानते-देखते है ?

[३०-१ उ] गौतम ! कितने ही (वैमानिक देव उसे) जानते-देखते हैं, और कितने ही (देव) नही जानते-देखते ।

[२] से केणट्ठेण जाव न जाणति न पासति ?

गोयमा ! वेमाणिया देवा दुविहा पण्णत्ता, त जहा—मायिमिच्छादिट्ठिउववन्नगा य, अमायि-

---

१ (क) अनुयोगद्वारसूत्र, ज्ञानगुणप्रमाण-प्रकरण पृ २११ से २१९ तक

(ख) भगवतीसूत्र, (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ १८३ से १८६ तक

(ग) प्रकर्षेण सशयाऽऽद्यभावस्वभावेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तु येन तत्प्रमाणम् ॥

'स्व-पर-व्यवसायि ज्ञान प्रमाणम् ।'　　—रत्नाकरावतारिका १ परि

(घ) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २२२

सम्मद्दिट्ठिउववन्नगा य।[1] एवं अणंतर-परंपर-पज्जत्ताऽपज्जत्ता य उवउत्ता अणुवउत्ता। तत्थ णं जे ते उवउत्ता ते जाणंति पासंति। से तेणट्ठेणं०, तं चेव।

[३०-२ प्र] भगवन्! कितने ही देव यावत् जानते-देखते है, कितने ही नही जानते-देखते, ऐसा किस कारण से कहा जाता है?

[३०-२ उ] गौतम! वैमानिक देव दो प्रकार के कहे गए है, वे इस प्रकार है—मायी-मिथ्यादृष्टिरूप से उत्पन्न और अमायीसम्यग्दृष्टिरूप से उत्पन्न। [इन दोनो मे से जो मायी-मिथ्यादृष्टिरूप से उत्पन्न हुए है, वे (वैमानिक देव केवली के प्रकृष्ट मन-वचन को) नही जानते-देखते तथा जो अमायी सम्यग्दृष्टिरूप से उत्पन्न हुए है, वे जानते-देखते हैं।]

[प्र] भगवन् यह किस कारण से कहा जाता है कि अमायी सम्यग्दृष्टि वैमानिक देव यावत् जानते-देखते हैं?

[उ] गौतम! अमायी सम्यग्दृष्टि वैमानिक देव दो प्रकार के कहे गए है, यथा—अनन्तरोपपन्नक और परम्परोपपन्नक। इनमे से जो अनन्तरोपपन्नक है, वे नही जानते-देखते, किन्तु जो परम्परोपपन्नक हैं, वे जानते-देखते है।

[प्र] भगवन्! परम्परोपपन्नक वैमानिक देव जानते-देखते है, ऐसा कहने का क्या कारण है?

[उ] गौतम! परम्परोपपन्नक वैमानिक देव दो प्रकार के कहे गए है, यथा—पर्याप्त और अपर्याप्त। इनमे से जो पर्याप्त हैं, वे इसे जानते-देखते हैं, किन्तु जो अपर्याप्त वैमानिक देव है, वे नही जानते-देखते।]

इसी तरह अनन्तरोपपन्नक-परम्परोपपन्नक, पर्याप्त-अपर्याप्त, एवं उपयोगयुक्त (उपयुक्त)-उपयोगरहित (अनुपयुक्त) इस प्रकार के वैमानिक देवो मे से जो उपयोगयुक्त (उपयुक्त) वैमानिक देव हैं, वे ही (केवली के प्रकृष्ट मन एवं वचन को) जानते-देखते हैं। इसी कारण से ऐसा कहा गया है कि कितने ही वैमानिक देव जानते-देखते है, और कितने ही नही जानते-देखते।

विवेचन—केवली के प्रकृष्ट मन-वचन को जानने-देखने मे समर्थ वैमानिक देव—प्रस्तुत (३० वें) सूत्र मे केवली के प्रकृष्ट मन और वचन को कौन-से वैमानिक देव जानते है, कौन-से नही जानते? इस विषय मे शका उठाकर सिद्धान्तसम्मत समाधान प्रस्तुत किया गया है।

निष्कर्ष—जो वैमानिक देव मायी-मिथ्यादृष्टि हैं, उनको सम्यग्ज्ञान नही होता, अमायी

---

१ वृत्तिकार के अनुसार वाचनान्तर मे 'अमायिसम्मदिट्ठिउववन्नगा य, के बाद 'एवं अणंतर'—तक निम्नोक्त सूत्र-पाठ साक्षात् उपलब्ध है—

तत्थ णं जे ते माइमिच्छादिट्ठीउववन्नगा ते न याणंति न पासंति। तत्थ णं जे ते अमाईसम्मादिट्ठीउववन्नगा ते णं जाणंति पासंति। से केणट्ठेणं एवं वु० अमाईसम्मदिट्ठी जाव पा०? गोयमा! अमाईसम्मदिट्ठी दुविहा पण्णत्ता—अणंतरोववन्नगा य परंपरोववन्नगा य। तत्थ अणंतरोववन्नगा न जा०, परंपरोववन्नगा जाणंति। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ, परंपरोववन्नगा जाव जाणंति? गोयमा! परंपरोववन्नगा दुविहा पण्णत्ता—पज्जत्तगा अपज्जत्तगा य। पज्जत्ता जा०। अपज्जत्तगा न जा०।

सम्यग्दृष्टि वैमानिको मे से जो अनन्तरोपपन्नक होते है, उन्हे भी ज्ञान नही होता, तथा परम्परोपपन्नक वैमानिको मे भी जो अपर्याप्त होते है, उन्हे भी ज्ञान नही होता, इसी प्रकार जो पर्याप्त वैमानिक देव है, उनमे जो उपयोगयुक्त होता है, वही केवली के प्रकृष्ट मन-वचन को जान-देख सकता है, उपयोगरहित नही । तात्पर्य यह है कि जो वैमानिक देव अमायी सम्यग्दृष्टि, परम्परोपपन्नक पर्याप्त एव उपयोगयुक्त होते हैं,[1] वे ही केवली के प्रकृष्ट मन-वचन को जान-देख सकते हैं ।

अनुत्तरौपपातिक देवो का असीम मनोद्रव्य-सामर्थ्य और उपशान्तमोहत्त्व—

३१. [१] पभू ण भते ! अणुत्तरोववातिया देवा तत्थगया चेव समाणा इहगतेण केवलिणा सद्धि आलाव वा सलाव वा करेत्तए ?

हता, पभू ।

[३१-१ प्र] भगवन् ! क्या अनुत्तरौपपातिक (अनुत्तरविमानो मे उत्पन्न हुए) देव अपने स्थान पर रहे हुए ही, यहाँ रहे हुए केवली के साथ आलाप (एक बार बातचीत) और सलाप (बार-बार बातचीत) करने मे समर्थ हैं ?

[३१-१ उ] गौतम ! हाँ, (वे ऐसा करने मे) समर्थ है ।

[२] से केणट्ठेण जाव पभू ण अणुत्तरोववातिया देवा जाव करेत्तए ?

गोयमा ! ज ण अणुत्तरोववातिया देवा तत्थगता चेव समाणा अट्ठं वा हेउ वा पसिण वा कारण वा वागरण वा पुच्छति, त ण इहगते केवली अट्ठ वा जाव वागरण वा वागरेति । से तेणट्ठेण० ।

[३१-२ प्र] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि अनुत्तरौपपातिक देव यावत् आलाप और सलाप करने मे समर्थ है ?

[३१-२ उ] हे गौतम ! अनुत्तरौपपातिक देव अपने स्थान पर रहे हुए ही, जो अर्थ, हेतु, प्रश्न, कारण अथवा व्याकरण (व्याख्या) पूछते है, उस (अर्थ, हेतु आदि) का उत्तर यहाँ रहे हुए केवली भगवान् देते हैं । इस कारण से यह कहा गया है कि अनुत्तरौपपातिक देव यावत् आलाप-सलाप करने मे समर्थ है ।

३२. [१] ज ण भते ! इहगए चेव केवली अट्ठं वा जाव वागरेति त ण अणुत्तरोववातिया देवा तत्थगता चेव समाणा जाणति, पासति ?

हता, जाणति पासति ।

[३२-१ प्र] भगवन् ! केवली भगवान् यहाँ रहे हुए जिस अर्थ, यावत् व्याकरण का उत्तर देते हैं, क्या उस उत्तर को वहाँ रहे हुए अनुत्तरौपपातिक देव जानते-देखते हैं ?

---

१ (क) वियाहपण्णत्तिसूत्र (मूलपाठटिप्पणयुक्त), पृ २०१
(ख) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २२३

[३२-१ उ] हाँ गौतम ! वे जानते-देखते हे ।

[२] से केणट्ठेण जाव पासति ?

गोतमा ! तेसि ण देवाण अणताओ मणोदव्ववग्गणाओ लद्धाओ पत्ताओ अभिसमन्नागताओ भवति । से तेणट्ठेण ज ण इहगते केवली जाव पा० ।

[३२-२ प्र] भगवन् ! ऐसा किस कारण से (कहा जाता है कि वहाँ रहे हुए अनुत्तरौपपातिक देव, यहाँ रहे हुए केवली के द्वारा प्रदत्त उत्तर को) जानते-देखते है ?

[३२-२ उ] गौतम ! उन देवो को अनन्त मनोद्रव्य-वर्गणा लब्ध (उपलब्ध) है, प्राप्त हैं, अभिसमन्वागत (अभिमुख समानीत=सम्मुख की हुई) हैं। इस कारण से यहाँ विराजित केवली भगवान् द्वारा कथित्त अर्थ, हेतु आदि को वे वहाँ रहे हुए ही जान-देख लेते है ।

३३ अणुत्तरोववातिया ण भते ! देवा किं उदिण्णमोहा उवसतमोहा खीणमोहा ?

गोयमा ! नो उदिण्णमोहा, उवसतमोहा, नो खीणमोहा ।

[३३ प्र] भगवन् ! क्या अनुत्तरौपपातिक देव उदीर्णमोह हैं, उपशान्त-मोह है, अथवा क्षीणमोह हैं ?

[३३ उ] गौतम ! वे उदीर्ण-मोह नही हैं, उपशान्तमोह है, क्षीणमोह नही है ।

विवेचन—अनुत्तरौपपातिक देवों का असीम मनोद्रव्यसामर्थ्य और उपशान्तमोहत्व—प्रस्तुत त्रिसूत्री मे अनुत्तरौपपातिक देवो की विशिष्ट मानसिकशक्ति और उसकी उपलब्धि के कारण का परिचय दिया गया है ।

चार निष्कर्ष—(१) अनुत्तरौपपातिक देव स्वस्थान मे रहे हुए ही यहाँ विराजित केवली के साथ (मनोगत) आलाप-सलाप कर सकते है, (२) वे अपने स्थान मे रहे हुए यहाँ विराजित केवली से प्रश्नादि पूछते हैं और केवली द्वारा प्रदत्त उत्तर को जानते देखते है, (३) क्योकि उन्हे अनन्त मनोद्रव्यवर्गणा उपलब्ध, प्राप्त और अभिमुखसमानीत है, (४) उनका मोह उपशान्त है, किन्तु वे उदीर्णमोह या क्षीणमोह नही है ।

अनुत्तरौपपातिक देवो का अनन्त मनोद्रव्य-सामर्थ्य—अनुत्तरौपपातिक देवो के अवधिज्ञान का विषय सम्भिन्न लोकनाडी (लोकनाडी से कुछ कम) है। जो अवधिज्ञान लोकनाडी का ग्राहक (ज्ञाता) होता है, वह असीम मनोवर्गणा ग्राहक होता ही है, क्योकि जिस अवधिज्ञान का विषय लोक का सख्येय भाग होता है, वह भी मनोद्रव्य का ग्राहक होता है, तो फिर जिस अवधिज्ञान का विषय सम्भिन्न लोकनाडी है, वह मनोद्रव्य का ग्राहक हो, इसमे सन्देह ही क्या ? इसलिए अनुत्तरविमानवासी देवो का मनोद्रव्यसामर्थ्य असीम है ।

अनुत्तरौपपातिक देव उपशान्तमोह हैं—अनुत्तरौपपातिक देवो के वेदमोहनीय का उदय उत्कट नही हैं, इसलिए वे उदीर्णमोह नही है, वे क्षीणमोह भी नही, क्योकि उनमे क्षपक श्रेणी का अभाव

१ भवगतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २२३

है, किन्तु उनमे मैथुन का कथमपि सद्भाव न होने से तथा वेदमोहनीय अनुत्कट होने से वे 'उपशान्त-मोह' कहे गए है।

अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञानी केवली इन्द्रियो से नही जानते-देखते—

३४ [१] केवली ण भंते ! आयाणेहिं जाणइ, पासइ ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

[३४-१ प्र] भगवन् ! क्या केवली भगवान् आदानो (इन्द्रियो) से जानते और देखते हैं ?

[३४-१ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है।

[२] से केणट्ठेण जाव केवली ण आयाणेहिं न जाणति, न पासति ?

गोयमा ! केवली णं पुरत्थिमेण मियं पि जाणति, अमियं पि जाणइ जाव[1] निव्वुडे दसणे केवलिस्स । से तेणट्ठेण० ।

[३४-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से केवली भगवान् इन्द्रियो (आदानो) से नही जानते-देखते ?

[३४-२ उ] गौतम ! केवली भगवान् पूर्वदिशा मे मित (सीमित) भी जानते-देखते है, अमित (असीम) भी जानते-देखते हैं, यावत् केवली भगवान् का (ज्ञान और) दर्शन निरावरण है। इस कारण से कहा गया है कि वे इन्द्रियो से नही जानते-देखते ।

विवेचन—अतीन्द्रियप्रत्यक्षज्ञानी केवली इन्द्रियो से नहीं जानते-देखते—प्रस्तुत सूत्र मे यह सैद्धान्तिक प्ररूपणा की गई है कि केवलज्ञानी का दर्शन और ज्ञान परिपूर्ण एव निरावरण होने के कारण उन्हे इन्द्रियो से जानने-देखने की आवश्यकता नही पडती ।

केवली भगवान् का वर्तमान और भविष्य में अवगाहन-सामर्थ्य—

३५ [१] केवली णं भंते ! अस्सि समयसि जेसु आगासपदेसेसु हत्थं वा पादं वा बाहं वा ऊरुं वा ओगाहित्ताणं चिट्ठति, पभू णं भंते ! केवली सेयकालसि वि तेसु चेव आगासपदेसेसु हत्थं वा जाव ओगाहित्ताणं चिट्ठित्तए ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

[३५-१ प्र] भगवन् ! केवली भगवान् इस समय (वर्त्तमान) मे जिन आकाश-प्रदेशो पर अपने हाथ, पैर, बाहू और उरू (जघा) को अवगाहित करके रहते है, क्या भविष्यत्काल मे भी वे उन्ही आकाशप्रदेशो पर अपने हाथ आदि को अवगाहित करके रह सकते हैं ?

[३५-१ उ] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नही है।

---

१ 'जाव' शब्द से यहाँ शतक ५ उ ४, सू ४-२ मे अंकित पाठ—'पुव दाहिणेण' से लेकर 'निव्वुडे दसणे केवलिस्स' तक समझना चाहिए।

[२] से केणट्ठेण भते ! जाव केवली ण अस्सि समयसि जेसु आगासपदेसेसु हत्थ वा जाव चिट्ठति नो णं पभू केवली सेयकालसि वि तेसु चेव आगासपदेसेसु हत्थं वा जाव चिट्ठित्तए ?

गोयमा ! केवलिस्स ण वीरियसजोगसद्दव्वताए चलाइ उवगरणाइ भवति चलोवगरणट्ठयाए य ण केवली अस्सि समयसि जेसु आगासपदेसेसु हत्थ वा जाव चिट्ठति णो ण पभू केवली सेयकालसि वि तेसु चेव जाव चिट्ठित्तए । से तेणट्ठेणं जाव वुच्चइ—केवली ण अस्सि समयसि जाव चिट्ठित्तए ?

[३५-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि केवली भगवान् इस समय मे जिन आकाशप्रदेशो पर अपने हाथ आदि को यावत् अवगाढ करके रहते हैं, भविष्यकाल मे वे उन्ही आकाशप्रदेशो पर अपने हाथ आदि को यावत् अवगाढ करके रहने मे समर्थ नही है ?'

[३५-२ उ] गौतम ! केवली भगवान् का जीवद्रव्य वीर्यप्रधान योग वाला होता है, इससे उनके हाथ आदि उपकरण (अगोपाग) चलायमान होते है । हाथ आदि अगो के चलित होते रहने से वर्तमान (इस) समय मे जिन आकाशप्रदेशो मे केवली भगवान् अपने हाथ आदि को अवगाहित करके रहे हुए हैं, उन्ही आकाशप्रदेशो पर भविष्यत्काल मे वे हाथ आदि को अवगाहित करके नही रह सकते । इसी कारण से यह कहा गया है कि केवली भगवान् इस समय मे जिन आकाशप्रदेशो पर अपने हाथ, पैर यावत् उरू को अवगाहित करके रहते हैं, उस समय के पश्चात् आगामी समय मे वे उन्ही आकाशप्रदेशो पर अपने हाथ आदि को अवगाहित करके नही रह सकते ।

विवेचन—केवली भगवान् का वर्तमान और भविष्य मे अवगाहनसामर्थ्य—प्रस्तुत सूत्र मे केवली भगवान् के अवगाहन-सामर्थ्य के विषय मे प्ररूपणा की गई है कि वे वर्तमान समय मे जिन आकाशप्रदेशो पर अपने हाथ आदि को अवगाहित करके रहते है, भविष्य मे उन्ही आकाशप्रदेशो को अवगाहित करके रहेगे ऐसा नही है क्योकि उनका जीवद्रव्य वीर्यप्रधान योग वाला होने से उनके अग चलित होते रहते हैं, इसलिए वे उन्ही आकाशप्रदेशो को उस समय के अनन्तर भविष्यत्काल मे अवगाहित नही कर सकते ।[1]

कठिन शब्दो के अर्थ—अस्सि समयसि=इस (वर्त्तमान) समय मे । **ऊरु**=जघा । **सेयकालसि**= भविष्यत्काल मे । **वीरियसजोगसद्दव्वताए**=वीर्यप्रधान योग वाला स्व (जीव) द्रव्य होने से । **चलोवकरणट्ठयाए**=उपकरण (हाथ आदि अगोपाग) चल—(अस्थिर) होने के कारण ।[2]

चतुर्दश पूर्वधारी का लब्धि-सामर्थ्य-निरूपण—

३६ [१] पभू ण भते ! चोद्दसपुव्वी घडाओ घडसहस्सं, पडाओ पडसहस्स, कडाओ कडसहस्स, रहाओ रहसहस्स, छत्ताओ छत्तसहस्सं, दडाओ दडसहस्स अभिनिव्वत्तित्ता उवदसेत्तए ?

हता, पभू ।

[३६-१ प्र] भगवन् ! क्या चतुर्दशपूर्वधारी (श्रुतकेवली) एक घडे मे से हजार घडे, एक वस्त्र मे से हजार वस्त्र, एक कट (चटाई) मे से हजार कट, एक रथ मे से हजार रथ, एक छत्र मे से हजार छत्र और एक दण्ड मे से हजार दण्ड करके दिखलाने मे समर्थ है ?

---

१ वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा १, पृ २०३

२ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २२४

[३६-१ उ] हाँ, गौतम! वे ऐसा करके दिखलाने मे समर्थ है।

[२] से केणट्ठेण पभू चोद्दसपुव्वी जाव उवदसेत्तए?

गोयमा! चउद्दसपुव्विस्स ण अणताइ दव्वाइ उक्करियाभेदेण भिज्जमाणाइं लद्धाइ पत्ताइं अभिसमन्नागताइ भवंति। से तेणट्ठेण जाव उवदसित्तए।

सेव भते! सेव भते! त्ति०।

॥ पचमे सए : चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥

[३३-२ प्र] भगवन्! चतुर्दशपूर्वधारी एक घट मे से हजार घट यावत् करके दिखलाने (प्रदर्शित करने) मे कैसे समर्थ है?

[३६-२ उ] गौतम! चतुर्दशपूर्वधारी श्रुतकेवली ने उत्करिका भेद द्वारा भेदे जाते हुए अनन्त द्रव्यो को लब्ध किया है, प्राप्त किया है तथा अभिसमन्वागत किया है। इस कारण से वह उपर्युक्त प्रकार से एक घट से हजार घट आदि करके दिखलाने मे समर्थ है।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है', यो कहकर यावत् गौतम स्वामी विचरण करने लगे।

विवेचन—चतुर्दश-पूर्वधारी का लब्धि-सामर्थ्य—प्रस्तुत सूत्र मे निरूपण किया गया है कि चतुर्दशपूर्वधारी श्रुतकेवली मे श्रुत से उत्पन्न हुई एक प्रकार की लब्धि से उत्करिकाभेद से भिद्यमान अनन्तद्रव्यो के आश्रय द्वारा एक घट, पट, कट, रथ, छत्र और दण्ड से सहस्र घट-पट-कटादि बनाकर दिखला सकने का सामर्थ्य है।[1]

उत्करिका भेद : स्वरूप और विश्लेषण—पुद्गलो को पाच प्रकार से खण्डित (भिन्न-टुकडे-टुकडे) किया जाता है। इन्हे 'पुद्गलो के भेद' कहते है, वे पाच प्रकार के है—(१) खण्डभेद, (२) प्रतरभेद, (३) चूर्णिकाभेद, (४) अनुतटिका-भेद और (५) उत्करिका भेद। जैसे ढेले को फैंकने पर उसके टुकडे-टुकडे हो जाते है, इसी तरह लोहे, ताम्बे आदि पुद्गलो के भेद को **'खण्डभेद'** कहते है। एक तह के ऊपर दूसरी तह का होना **'प्रतरभेद'** कहलाता है। जैसे—अभ्रक (भोडल) भोजपत्र आदि मे प्रतरभेद पाया जाता है। तिल, गेहूँ आदि के पिस जाने पर भेद होना, **'चूर्णिका-भेद'** कहलाता है। तालाब आदि मे फटी हुई दरार के समान पुद्गलो के भेद को **'अनुतटिकाभेद'** कहते है। एरण्ड के बीज के समान पुद्गलो के भेद को **'उत्करिकाभेद'** कहते है।[2]

लब्ध, प्राप्त और अभिसमन्वागत की प्रकरणसगत व्याख्या—लब्ध=लब्धिविशेष द्वारा ग्रहण करने योग्य बनाये हुए, **प्राप्त**=लब्धि-विशेष द्वारा ग्रहण किये हुए, **अभिसमन्वागत**=घटादि रूप से परिणमाने के लिए प्रारम्भ किये हुए। इन तीनो के द्वारा चतुर्दशपूर्वधारी श्रुतकेवली एक घट आदि से हजार घट आदि आहारक शरीर की तरह बनाकर मनुष्यो को दिखला सकता है।[3]

॥ पचम शतक : चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

१ (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा १, पृ २०३
(ख) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २२४

२ (क) प्रज्ञापनासूत्र पद ११, भाषापद (पृ २६६ स) मे विस्तृत टिप्पण।
(ख) प्रज्ञापना मलयगिरि टीका, पद ११ मे सक्षिप्त विवेचन।
(ग) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २२४

३ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २२४

पं ाो उद्देसओ : 'छउमत्थ'

पंचम उद्देशक : 'छद्मस्थ'

छद्मस्थ मानव सिद्ध हो सकता है, या केवली होकर ? : एक चर्चा—

१ छउमत्थे ण भंते ! मणूसे तीयमणतं सासत समय केवलेण संजमेणं० ?

जहा पढमसए चउत्थुद्देसे आलावगा तहा नेयव्व जाव 'अलमत्थु' त्ति वत्तव्व सिया ।

[१ प्र] भगवन् ! क्या छद्मस्थ मनुष्य शाश्वत, अनन्त, अतीत काल (भूतकाल) मे केवल सयम द्वारा सिद्ध हुआ है ?

[१ उ] गौतम ! जिस प्रकार प्रथम शतक के चतुर्थ उद्देशक मे कहा है, वैसा ही आलापक यहाँ भी कहना चाहिए, (और वह) यावत् 'अलमस्तु' कहा जा सकता है, यहाँ तक कहना चाहिए ।

विवेचन—छद्मस्थ मानव सिद्ध हो सकता है, या केवली होकर ? प्रस्तुत सूत्र मे छद्मस्थ मनुष्य केवल सयम द्वारा सिद्ध (मुक्त) हो सकता है या केवली होकर ही सिद्ध हो सकता है, यह प्रश्न उठाकर प्रथम शतकीय चतुर्थ उद्देशक मे प्ररूपित समाधान का अतिदेश किया गया है । वहाँ सक्षेप मे यही समाधान है कि केवलज्ञानी हुए बिना कोई भी व्यक्ति सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वदु खान्तकर, परिनिर्वाण प्राप्त, उत्पन्न ज्ञान-दर्शनधर, जिन, अर्हत् केवली और 'अलमस्तु' नही हो सकता ।[१]

समस्त प्राणियों द्वारा एवम्भूत-अनेवम्भूतवेदन सम्बन्धी प्ररूपणा—

२ [१] अन्नउत्थिया ण भंते ! एवमाइक्खति जाव परूवेंति सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता एवभूयं वेदणं वेदेंति, से कहमेय भ ते ! एव ?

गोयमा ! ज ण अन्नउत्थिया एवमाइक्खति जाव वेदेंति, जे ते एवमाहसु मिच्छा ते एवमाहसु । अह पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि—अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता एवभूय वेदण वेदेंति, अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता अणेवभूय वेदण वेदेंति ।

[२-१प्र] भगवन् ! अन्यतीर्थिक ऐसा कहते हैं यावत् प्ररूपणा करते हैं कि समस्त प्राण, समस्त भूत, समस्त जीव और समस्त सत्त्व, एवभूत (जिस प्रकार कर्म बाधा है, उसी प्रकार) वेदना वेदते (भोगते=अनुभव करते) हैं, भगवन् ! यह ऐसा कैसे है ?

[२-१ उ] गौतम ! वे अन्यतीर्थिक जो इस प्रकार कहते है, यावत् प्ररूपणा करते हैं कि सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्व एवभूत वेदना वेदते हैं, उन्होने यह मिथ्या कथन किया है । हे गौतम !

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति

(ख) भगवतीसूत्र प्रथम शतक चतुर्थ उद्देशक, सू १५९ से १६३ तक (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) प्रथमखण्ड पृ १३७-१३८

मैं यो कहता हूँ, यावत् प्ररूपणा करता हूँ कि कितने ही प्राण, भूत, जीव और सत्त्व, एवभूत वेदना वेदते हैं और कितने ही प्राण, भूत, जीव और सत्त्व, अनेवंभूत (जिस प्रकार से कर्म बाधा है, उससे भिन्न प्रकार से) वेदना वेदते हैं।

[२] **से केणट्ठेण अत्थेगइया० त चेव उच्चारेयव्व।**

गोयमा ! जे ण पाणा भूया जीवा सत्ता जहा कडा कम्मा तहा वेदण वेदेंति ते ण पाणा भूया जीवा सत्ता एवभूय वेदण वेदति। जे ण पाणा भूया जीवा सत्ता जहा कडा कम्मा नो तहा वेदण वेदेंति ते ण पाणा भूया जीवा सत्ता अणेवभूय वेदण वेदेंति। से तेणट्ठेण० तहेव।

[२-२ प्र] 'भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है, कि कितने ही प्राण भूत आदि एवभूत और कितने ही अनेवभूत वेदना वेदते है ?

[२-२ उ] गौतम ! जो प्राण, भूत, जीव और सत्त्व, जिस प्रकार स्वय ने कर्म किये है, उसी प्रकार वेदना वेदते है (उसी प्रकार उदय मे आने पर भोगते—अनुभव करते) है, वे प्राण, भूत, जीव और सत्त्व, एवभूत वेदना वेदते हैं किन्तु जो प्राण, भूत, जीव और सत्त्व, जिस प्रकार कर्म किये है, उसी प्रकार वेदना नही वेदते (भिन्न प्रकार से वेदन करते हैं) वे प्राण, भूत, जीव और सत्त्व अनेवभूत वेदना वेदते है। इसी कारण से ऐसा कहा जाता है कि कतिपय प्राण भूतादि एवम्भूत वेदना वेदते हैं और कतिपय प्राण भूतादि अनेवभूत वेदना वेदते हैं।

३ [१] **नेरतिया णं भ ते ! किं एवभूत वेदण वेदेंति ? अणेवंभूय वेदण वेदेंति ?**

गोयमा ! नेरइया ण एवभूय पि वेदण वेदेंति, अणेवभूय पि वेदणं वेदेंति।

[३-१ प्र] भगवन् ! नैरयिक क्या एवम्भूत वेदना वेदते है, अथवा अनेवम्भूत वेदना वेदते हैं ?

[३-१ उ] गौतम ! नैरयिक एवम्भूत वेदना भी वेदते हैं और अनेवम्भूत वेदना भी वेदते हैं।

[२] **से केणट्ठेणं० ? त चेव।**

गोयमा ! जे ण नेरइया जहा कडा कम्मा तहा वेयण वेदेंति ते ण नेरइया एवभूयं वेदण वेदेंति। जे ण नेरतिया जहा कडा कम्मा णो तहा वेदण वेदेंति ते णं नेरइया अणेवभूय वेदण वेदेंति। से तेणट्ठेण०।

[३-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ? (पूर्ववत् सारा पाठ यहाँ कहना चाहिए।)

[३-२ उ] गौतम ! जो नैरयिक अपने किये हुए कर्मों के अनुसार वेदना वेदते हैं वे एवम्भूत वेदना वेदते हैं और जो नैरयिक अपने किये हुए कर्मों के अनुसार वेदना नही वेदते, (अपितु भिन्न प्रकार से वेदते हैं,) वे अनेवम्भूत वेदना वेदते है।

४. एव जाव वेमाणिया। संसारमडल नेयव्व।

[४] इसी प्रकार यावत् वैमानिक-(दण्डक) पर्यन्त संसार मण्डल (ससारी जीवो के समूह) के विषय मे जानना चाहिए।

विवेचन—समस्त प्राणियो द्वारा एवम्भूत-अनेवम्भूतवेदन-सम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रो मे जीवो द्वारा कर्मफलवेदन के विषय मे क्रमश चार तथ्यो का निरूपण, शास्त्रकार ने किया है—

(१) अन्यतीर्थिको का मत यह है कि सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्व एवम्भूत वेदना वेदते हैं।

(२) तीर्थंकर भगवन् महावीर का कथन यह है कि यह मान्यता यथार्थ नही है। कतिपय जीव एवम्भूत वेदना वेदते है और कतिपय जीव अनेवभूत वेदना वेदते है।

(३) इसका करण यह है कि जो प्राणी, जैसे कर्म किये है उसी प्रकार से असातावेदनीयादि कर्म का उदय होने पर वेदना को वेद (भोग)ते हैं, वे एवम्भूतवेदनावेदक होते है, इससे विपरीत जो कर्मबन्ध के अनुसार वेदना का वेदन नही करते, वे अनेवम्भूतवेदनावेदक होते है।

(४) यही प्ररूपणा नैरयिको के दण्डक से लेकर वैमानिकदण्डक-पर्यन्त समस्त ससारी जीवो के सम्बन्ध मे समझनी चाहिए।[1]

एवम्भूतवेदन और अनेवम्भूतवेदन का रहस्य—जिन प्राणियो ने जिस प्रकार से कर्म बाधे है, उन कर्मो के उदय मे आने पर वे उसी प्रकार से असाता आदि वेदना भोग लेते है, उनका वह वेदन एवम्भूतवेदनावेदन है, किन्तु जो प्राणी जिस प्रकार से कर्म बाधते है, उसी प्रकार से उनके फलस्वरूप वेदना नही वेदते, उनका वह वेदन—अनेवम्भूतवेदना वेदन है। जैसे—कई व्यक्ति दीर्घ-काल मे भोगने योग्य आयुष्य आदि कर्मो की उदीरणा करके अल्पकाल मे ही भोग लेते है, उनका वह वेदन अनेवम्भूत वेदना-वेदन कहलाएगा। अन्यथा, अपमृत्यु (अकालमृत्यु) का अथवा युद्ध आदि मे लाखो मनुष्यो का एक साथ एक ही समय मे मरण कैसे सगत होगा!

आगमोक्त सिद्धान्त के अनुसार जिन जीवो के जिन कर्मो का स्थितिघात, रसघात प्रकृति-सक्रमण आदि हो जाते हैं, वे अनेवम्भूत वेदना वेदते है, किन्तु जिन जीवो के स्थितिघात, रसघात आदि नही होते, वे एवम्भूत वेदना[2] वेदते है।

अवसर्पिणीकाल मे हुए कुलकर तीर्थंकरादि की संख्या का निरूपण—

[[५ प्र] जंबुद्दीवे ण भंते! इह भारहे वासे इमीसे उस्सप्पिणीए समाए कइ कुलगरा होत्था?

[५ उ.] गोयमा! सत्त।

[५ प्र] भगवन्! जम्बूद्वीप मे, इस भारतवर्ष मे, इस अवसर्पिणी काल मे कितने कुलकर हुए हैं?

---

१ वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा १, पृ २०४

२ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २२५

[५ उ] गौतम ! (जम्बूद्वीप मे, इस भारतवर्ष मे, इस अवसर्पिणी काल मे) सात कुलकर हुए है ।

६ एव चेव तित्थयरमायरो, पियरो, पढमा सिस्सिणीओ, चक्कवट्टिमायरो, इत्थिरयण, बलदेवा, वासुदेवा वासुदेवमायरो, पियरो, एएसिं पडिसत्तू जहा समवाए णामपरिवाडीए तहा णेयव्वा ।][1]

सेव भते ! सेव भते ! त्ति जाव विहरइ ।

॥ पचम सए : पचमो उद्देसओ समत्तो ॥

[६] इसी तरह तीर्थंकरो की माता, पिता, प्रथम शिष्याएँ, चक्रवर्त्तियो की माताएँ, स्त्रीरत्न, बलदेव, वासुदेव, वासुदेवो के माता-पिता, प्रतिवासुदेव आदि का कथन जिस प्रकार 'समवायागसूत्र' मे नाम की परिपाटी मे किया गया है, उसी प्रकार यहाँ भी कहना चाहिए ।]

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कह कर यावत् विचरने लगे ।

विवेचन—अवसर्पिणीकाल मे हुए कुलकर-तीर्थंकरादि की सख्या का निरूपण—प्रस्तुत दो सूत्रो मे भरतक्षेत्र मे हुए कुलकर तथा तीर्थंकरमाता आदि की सख्या का प्रतिपादन समवायागसूत्र के अतिदेशपूर्वक किया गया है ।

कुलकर—अपने-अपने युग मे जो मानवकुलो की मर्यादा निर्धारित करते है, वे कुलकर कहलाते है । वर्त्तमान अवसर्पिणीकाल मे हुए ७ कुलकर ये हैं—(१) विमलवाहन, (२) चक्षुषमान, (३) यशस्वान् (४) अभिचन्द्र (५) प्रसेनजित (६) मरुदेव और (७) नाभि । इनकी भार्याओ के नाम क्रमश ये हैं—(१) चन्द्रयशा, (२) चन्द्रकान्ता, (३) सुरूपा, (४) प्रतिरूपा, (५) चक्षुष्कान्ता, (६) श्रीकान्ता और (७) मरुदेवी ।

चौबीस तीर्थंकरो के नाम—(१) श्रीऋषभदेव (आदिनाथ) स्वामी, (२) श्रीअजितनाथ स्वामी (३) श्रीसम्भवनाथस्वामी, (४) श्रीअभिनन्दनस्वामी, (५) श्रीसुमतिनाथस्वामी, (६) श्रीपद्मप्रभ-स्वामी, (७) श्रीसुपार्श्वनाथस्वामी (८) श्रीचन्द्रप्रभस्वामी, (९) श्रीसुविधिनाथस्वामी (पुष्पदन्तस्वामी), (१०) श्रीशीतलनाथस्वामी, (११) श्रीश्रेयासनाथस्वामी (१२) श्रीवासुपूज्यस्वामी, (१३) श्रीविमलनाथस्वामी, (१४) श्रीअनन्तनाथस्वामी, (१५) श्री धर्मनाथस्वामी, (१६) श्रीशान्तिनाथस्वामी, (१७) श्रीकुन्थुनाथ स्वामी, (१८) श्रीअरनाथस्वामी,

१ यह पाठ आगमोदय समिति से प्रकाशित भगवतीसूत्र की अभयदेवसूरीयवृत्ति मे नही है, वहाँ वृत्तिकार ने इस पाठ का सकेत अवश्य किया है—'अथवा इह स्थाने वाचनान्तरे कुलकर-तीर्थंकरादि-वक्तव्यता दृश्यते' (अथवा इस स्थान मे अन्य वाचना मे कुलकर-तीर्थंकर आदि की वक्तव्यता दृष्टिगोचर होती है) । यही कारण है कि भगवती टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त खण्ड २, पृ १९५, तथा भगवती हिन्दी विवेचनयुक्त भा २, पृ ८३६ मे यह पाठ और इसका अनुवाद दिया गया है । —स०

(१९) श्रीमल्लिनाथस्वामी, (२०) श्रीमुनिसुव्रतस्वामी, (२१) श्रीनमिनाथस्वामी (२२) श्री अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) स्वामी, (२३) श्रीपार्श्वनाथस्वामी, और (२४) श्रीमहावीर (वर्धमान) स्वामी।

चौबीस तीर्थंकरो के पिता के नाम—(१) नाभि (२) जितशत्रु, (३) जितारि, (४) सवर, (५) मेघ, (६) धर, (७) प्रतिष्ठ, (८) महासेन, (९) सुग्रीव, (१०) दृढरथ, (११) विष्णु, (१२) वसुपूज्य, (१३) कृतवर्मा, (१४) सिंहसेन, (१५) भानु (१६) विश्वसेन, (१७) सूर, (१८) सुदर्शन, (१९) कुम्भ, (२०) सुमित्र, (२१) विजय, (२२) समुद्रविजय, (२३) अश्वसेन और (२४) सिद्धार्थ।

चौबीस तीर्थंकरो की माताओ के नाम—(१) मरुदेवी, (२) विजयादेवी, (३) सेना, (४) सिद्धार्था (५) मगला, (६) सुसीमा, (७) पृथ्वी (८) लक्ष्मणा (लक्षणा) (९) रामा, (१०) नन्दा, (११) विष्णु, (१२) जया, (१३) श्यामा, (१४) सुयशा, (१५) सुव्रता, (१६) अचिरा, (१७) श्री, (१८) देवी, (१९) प्रभावती, (२०) पद्मा, (२१) वप्रा, (२२) शिवा, (२३) वामा, और (२४) त्रिशलादेवी।

चौबीस तीर्थंकरो की प्रथम शिष्याओ के नाम—(१) ब्राह्मी, (२) फल्गु (फाल्गुनी), (३) श्यामा, (४) अजिता, (५) काश्यपी, (६) रति, (७) सोमा, (८) सुमना, (९) वारुणी, (१०) सुलशा (सुयशा), (११) धारणी, (१२) धरिणी, (१३) धरणीधरा (धरा), (१४) पद्मा, (१५) शिवा, (१६) श्रुति (सुभा), (१७) दामिनी (ऋजुका), (१८) रक्षिका (रक्षिता), (१९) वन्धुमती, (२०) पुष्पवती, (२१) अनिला (अमिला), (२२) यक्षदत्ता (अधिका) (२३) पुष्पचूला और (२४) चन्दना (चन्दनबाला)।

बारह चक्रवर्तियो के नाम—(१) भरत, (२) सगर, (३) मघवान् (४) सनत्कुमार, (५) शान्तिनाथ, (६) कुन्थुनाथ, (७) अरनाथ, (८) सुभूम, (९) महापद्म, (१०) हरिषेण, (११) जय और (१२) ब्रह्मदत्त।

चक्रवर्त्तियो की माताओ के नाम—(१) सुमगला, (२) यशस्वती, (३) भद्रा, (४) सुदेवी, (५) अचिरा, (६) श्री, (७) देवी, (८) तारा, (९) ज्वाला, (१०) मेरा, (११) वप्रा और (१२) चुल्लणी।

चक्रवर्त्तियो के स्त्रीरत्नो के नाम—(१) सुभद्रा, (२) भद्रा, (३) सुनन्दा, (४) जया, (५) विजया, (६) कृष्णश्री, (७) सूर्यश्री, (८) पद्मश्री, (९) वसुन्धरा, (१०) देवी, (११) लक्ष्मीमती और (१२) कुरुमती।

नौ बलदेवो के नाम—(१) अचल, (२) विजय, (३) भद्र, (४) सुप्रभ, (५) सुदर्शन, (६) आनन्द, (७) नन्दन, (८) पद्म, और (९) राम।

नौ वासुदेवो के नाम—(१) त्रिपृष्ठ, (२) द्विपृष्ठ, (३) स्वयम्भू, (४) पुरुषोत्तम (५) पुरुषसिंह, (६) पुरुष-पुण्डरीक, (७) दत्त, (८) नारायण और (९) कृष्ण।

नौ वासुदेवो की माताश्रो के नाम—(१) मृगावती, (२) उमा, (३) पृथ्वी, (४) सीता, (५) अम्बिका, (६) लक्ष्मीमती, (७) शेषवती, (८) कैकयी और (९) देवकी।

नौ वासुदेवो के पिताश्रो के नाम—(१) प्रजापति, (२) ब्रह्म, (३) सोम, (४) रुद्र, (५) शिव, (६) महाशिव, (७) अग्निशिव, (८) दशरथ और (९) वासुदेव।

नौ वासुदेवो के प्रतिशत्रु—प्रतिवासुदेवो के नाम—(१) अश्वग्रीव, (२) तारक, (३) मेरक, (४) मधुकैटभ, (५) निशुम्भ, (६) बली, (७) प्रभराज (प्रह्लाद) (८) रावण और (९) जरासन्ध।[1]

इसके अतिरिक्त समवायागसूत्र मे भूतकालीन और भविष्यकालीन अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी के तीर्थंकरो और चक्रवत्तियो आदि के नामो का भी उल्लेख है, यहाँ विस्तारभय से उन्हे नही दे रहे हैं।

॥ पचम शतक पचम उद्देशक समाप्त ॥

---

१ (क) भगवतीसूत्र (हिन्दी विवेचन) भाग २, पृ ८३७ से ८३९ तक।
(ख) समवायागसूत्र (स पृ १५० से १५५ तक)
(ग) आवश्यकनियुं क्ति (प्रारम्भ)
(घ) भगवती० (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ १९५ से १९८ तक

छट्ठो उद्देसओ : 'आउ'

छठा उद्देशक : 'आयुष्य'

अल्पायु और दीर्घायु के कारणभूत कर्मबन्ध के कारणों का निरूपण—

१ कहं णं भंते ! जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति ?

गोतमा ! तिहिं ठाणेहिं, त जहा—पाणे अइवाएत्ता, मुसं वइत्ता, तहारूव समण वा माहण वा अफासुएण अणेसणिज्जेण असण-पाण-खाइम-साइमेण पडिलाभेत्ता, एव खलु जीवा अप्पाउयत्ताए कम्म पकरेंति।

[१ प्र] भगवन् ! जीव अल्पायु के कारणभूत कर्म किस कारण से बाधते है ?

[१ उ.] गौतम ! तीन कारणो से जीव अल्पायु के कारणभूत कर्म बांधते है—(१) प्राणियो की हिंसा करके, (२) असत्य भाषण करके और (३) तथारूप श्रमण या माहन को अप्रासुक, अनेषणीय अशन, पान, खादिम और स्वादिम—(रूप चतुर्विध आहार) दे (प्रतिलाभित) कर। इस प्रकार (तीन कारणो से) जीव अल्पायुष्कफल वाला (कम जीने का कारणभूत) कर्म बाधते हैं।

२ कह णं भ ते ! जीवा दीहाउयत्ताए कम्म पकरेंति ?

गोयमा ! तिहिं ठाणेहिं—नो पाणे अतिवाइत्ता, नो मुस वदित्ता, तहारूव समण वा माहण वा फासुएसणिज्जेण असण-पाण-खाइम-साइमेण पडिलाभेत्ता, एवं खलु जीवा दीहाउयत्ताए कम्म पकरेंति।

[२ प्र] भगवन् ! जीव दीर्घायु के कारणभूत कर्म कैसे बाधते हैं ?

[२ उ] गौतम ! तीन कारणो से जीव दीर्घायु के कारणभूत कर्म बाधते है—(१) प्राणातिपात न करने से, (२) असत्य न बोलने से, और (३) तथारूप श्रमण और माहन को प्रासुक और एषणीय अशन, पान, खादिम और स्वादिम—(रूप चतुर्विध आहार) देने से। इस प्रकार (तीन कारणो) से जीव दीर्घायुष्क के (कारणभूत) कर्म का बन्ध करते है।

३ कह ण भ ते ! जीवा असुभदीहाउयत्ताए कम्म पकरेंति ?

गोयमा ! पाणे अतिवाइत्ता, मुस वइत्ता, तहारूव समण वा माहण वा हीलित्ता निंदित्ता खिंसित्ता गरहित्ता अवमन्नित्ता, अन्नतरेण अमणुण्णेण अपीतिकारएण असण-पाण-खाइम-साइमेण पडिलाभेत्ता, एव खलु जीवा असुभदीहाउयत्ताए कम्म पकरेंति।

[३ प्र] भगवन् ! जीव अशुभ दीर्घायु के कारणभूत कर्म किन कारणो से (कैसे) बाधते है ?

[३ उ] गौतम ! प्राणियो की हिंसा करके, असत्य बोल कर, एव तथारूप श्रमण और माहन की (जातिप्रकाश द्वारा) हीलना, (मन द्वारा) निन्दा, खिंसना (लोगो के समक्ष झिडकना, बदनाम

करना), गर्हा (जनता के समक्ष निन्दा) एव अपमान करके, अमनोज्ञ और अप्रीतिकर अशन, पान, खादिम और स्वादिम (रूप चतुर्विध आहार) दे (प्रतिलाभित) करके। इस प्रकार (इन तीन कारणो से) जीव अशुभ दीर्घायु के कारणभूत कर्म बाधते है।

४ कह ण भते ! जीवा सुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति ?

गोयमा ! नो पाणे अतिवातित्ता, नो मुस वइत्ता, तहारूव समण वा माहणं वा वदित्ता नमसित्ता जाव पज्जुवासित्ता, अन्नतरेण मणुण्णेण पीतिकारएण असण-पाण-खाइम-साइमेण पडिलाभेत्ता, एव खलु जीवा सुभदीहाउयत्ताए कम्म पकरेंति।

[४ प्र] भगवन् ! जीव शुभ दीर्घायु के कारणभूत कर्म किन कारणो से बाधते है ?

[४ उ] गौतम ! प्राणिहिंसा न करने से, असत्य न बोलने से, और तथारूप श्रमण या माहन को वन्दना, नमस्कार यावत् पर्युपासना करके मनोज्ञ एव प्रीतिकारक अशन, पान, खादिम और स्वादिम देने (प्रतिलाभित करने) से। इस प्रकार जीव (इन तीन कारणो से) शुभ दीर्घायु का कारणभूत कर्म बाधते है।

विवेचन—अल्पायु और दीर्घायु के कारणभूत कर्मबन्ध के कारणो का निरूपण—प्रस्तुत चार सूत्रो मे क्रमश अल्पायु, दीर्घायु, अशुभ दीर्घायु और शुभ दीर्घायु के कारणभूत कर्मबन्ध के कारणो पर प्रकाश डाला गया है।

अल्पायु और दीर्घायु का तथा उनके कारणो का रहस्य—प्रथम सूत्र मे अल्पायुबन्ध के कारण बतलाए गए हैं। यहाँ अल्प आयु, दीर्घ आयु की अपेक्षा से समझनी चाहिए, क्षुल्लकभवग्रहणरूप निगोद की आयु नही। अर्थात्—प्रासुक-एषणीय आहारादि लेने वाले मुनि को अप्रासुक-अनेषणीय आहारादि देने से जो अल्प आयु का बन्ध होना बताया गया है, उसका अर्थ इतना ही समझना चाहिए कि दीर्घायु की अपेक्षा जिसकी आयु थोडी है। जैनशास्त्र मे पारगत मुनि किसी सासारिक ऋद्धि-सम्पत्तियुक्त भोगी पुरुष की अल्प आयु मे मृत्यु सुनकर प्राय कहते है—इस व्यक्ति ने पूर्व जन्मो मे प्राणिवध आदि अशुभ कर्मो का आचरण किया होगा। अत यहाँ अल्पायु का अर्थ—मानवदीर्घायु की अपेक्षा अल्प आयु पाना है।

इससे आगे के सूत्र मे दीर्घायुबन्ध के कारणो का निरूपण किया गया है, उनको देखते हुए प्रतीत होता है, यह दीर्घायु भी पूर्ववत् अल्पायु की अपेक्षा दीर्घायु समझनी चाहिए, वह भी सुखरूप शुभ दीर्घायु ही यहाँ विवक्षित है, अशुभ दीर्घायु (कसाई, चोर आदि पापकर्म परायण व्यक्ति की दीर्घायु) नही। क्योकि इस सूत्र मे उक्त दीर्घायु के तीन कारणो मे से तीसरे कारण मे अन्तर है—जैसे तथारूप श्रमण-माहन को प्रासुक एषणीय आहार देने से दीर्घायुरूप फल मिलता है। किन्तु आगे के दो सूत्रो मे शुभ दीर्घायु और अशुभ दीर्घायुरूप फल के दो कारण पूर्व सूत्र निर्दिष्ट कारणो के समान ही है। तीसरे और चौथे सूत्र मे क्रमश तथारूप श्रमण-माहन को वन्दन-नमन-पर्युपासनापूर्वक मनोज्ञ-प्रीतिकर आहार देना शुभ दीर्घायु का और तथारूप श्रमण-माहन की हीलना-निन्दा आदि करके उसे अमनोज्ञ एव अप्रीतिकर आहार देना, अशुभ दीर्घायु का तीसरा कारण बताया गया है।[1]

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २२६-२२७

इसके अतिरिक्त अल्प-आयु के जो दो प्रारम्भिक कारण—प्राणातिपात और मृषावाद बताए गए है, वे भी यहाँ सभी प्रकार के प्राणातिपात और मृषावाद नही लिए जाते, अपितु प्रसगोपात्त तथारूप श्रमण को आहार देने के लिए जो आधाकर्मादि दोपयुक्त आहार तैयार किया जाता है, उसमे जो प्राणातिपात होता है उसका, तथा वह दोषयुक्त आहार साधु को देने के लिए जो झूठ बोला जाता है कि यह हमने अपने लिए बनाया है, आपको तनिक भी शका नही करनी चाहिए, इत्यादि रूप से जो मृषावाद होता है, उसका यहाँ ग्रहण किया गया है।[1]

चू कि आगे के अशुभ-दीर्घायु तथा शुभ दीर्घायु के कारण बताने वाले दो सूत्रो मे प्रासुक एषणीय तथा अप्रासुक अनेषणीय का उल्लेख नही है। वहाँ केवल प्रीतिकर या अप्रीतिकर आहार देने का उल्लेख है। इसलिए यहाँ जो प्रीतिपूर्वक मनोज्ञ आहार, अप्रासुक अनेषणीय दिया जाता है, उसे शुभ अल्पायु-बन्ध का कारण समझना चाहिए, अशुभ अल्पायुबन्ध का कारण नही।

दूसरे सूत्र मे दीर्घ-आयु-बन्ध के कारणो का कथन है, वह भी शुभ दीर्घायु समझनी चाहिए जो जीवदया आदि धार्मिक कार्यो को करने से होती है। जैसे कि लोक मे दीर्घायुष्क पुरुष को देखकर कहा जाता है, इसने पूर्वजन्म मे जीवदयादिरूप धर्मकृत्य किये होगे। देवगति मे अपेक्षाकृत शुभ दीर्घायु होती है।[2]

चू कि अवहीलना, अवज्ञा मात्सर्य आदि करके दान देने मे जो प्राणातिपात एव मृषावाद की क्रियाएँ देखी जाती हैं, वे नरकगति का कारण होने से अशुभ दीर्घायु हो सकती है। अन्य ग्रन्थो मे भी इसी तथ्य का समर्थन है।[3]

विक्रेता और क्रेता को विक्रेय माल से सम्बन्धित लगने वाली क्रियाएँ—

५ गाहावतिस्स ण भते! भंड विकिणमाणस्स केइ भड अवहरेज्जा, तस्स ण भंते! तं भडं अणुगवेसमाणस्स किं आरभिया किरिया कज्जइ? पारिग्गहिया०, मायावत्तिया०, अपच्चक्खा०, मिच्छादसण० ?

गोयमा! आरभिया किरिया कज्जइ, पारि०, माया०, अपच्च०, मिच्छादसणकिरिया सिय कज्जति, सिय नो कज्जति। अह से भडे अभिसमन्नागते भवति ततो से पच्छा सव्वाओ ताओ पयणुईभवति।

---

१ 'तथाहि प्राणातिपाताद्याधाकर्मादिकरणतो मृषोक्त यथा—साधो! स्वार्थं सिद्धमिद भक्तादि, कल्पनीय वा, नाशका कार्य्या'—स्थानाग टीका

२ (क) अणुव्वय-महव्वएहिं य बालतवो अकामणिज्जराए य। देवाउय निबधइ, सम्मदिट्ठीय जो जीवो।
—भगवती० टीका, पत्राक २२६

(ख) समणोवासगस्स तहारूव समण वा माहण वा फासुएण असण-पाण-खाइम साइमेण पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ? गोयमा! एगतसो णिज्जरा कज्जइ। —भगवतीसूत्र, पत्राक २२७

३ 'मिच्छदिट्ठी महारभपरिग्गहो तिव्वलोभनिस्सीलो।
निरयाउय निबधइ, पावमई रोद्दपरिणामो॥' —भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २२७ मे उद्धृत

[५ प्र.] भगवन् ! भाण्ड (किराने का सामान) बेचते हुए किसी गृहस्थ का वह किराने का माल कोई अपहरण कर (चुरा) ले, फिर उस किराने के सामान की खोज करते हुए उस गृहस्थ को, हे भगवन् ! क्या आरम्भिकी क्रिया लगती है, या पारिग्रहिकी क्रिया लगती है ? अथवा मायाप्रत्ययिकी, अप्रत्याख्यानिकी या मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रिया लगती है ?

[५ उ.] गौतम ! (अपहृत किराने को खोजते हुए पुरुष को) आरम्भिकी क्रिया लगती है, तथा पारिग्रहिकी, मायाप्रत्ययिकी एव अप्रत्याख्यानिकी क्रिया भी लगती है, किन्तु मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रिया कदाचित् लगती है, और कदाचित् नही लगती । (किराने के सामान की खोज करते हुए) यदि चुराया हुआ सामान वापस मिल जाता है, तो वे सब (पूर्वोक्त) क्रियाएँ प्रतनु (अल्प—हल्की) हो जाती है ।

६ गाहावतिस्स ण भ ते ! भड विक्किणमाणस्स कइए भड सातिज्जेज्जा, भडे य से अणुवणीए सिया, गाहावतिस्स ण भ ते ! ताओ भ डाओ कि आरभिया किरिया कज्जइ जाव मिच्छा-दंसणवत्तिया किरिया कज्जइ ? कइयस्स वा ताओ भडाओ कि आरभिया किरिया कज्जइ जाव मिच्छादसणवत्तिया किरिया कज्जइ ?

गोयमा ! गाहावतिस्स ताओ भडाओ आरभिया किरिया कज्जइ जाव अपच्चक्खाणिया, मिच्छादसणवत्तिया किरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ । कइयस्स ण ताओ सव्वाओ पयणुई-भवति ।

[६ प्र] भगवन् ! किराना बेचने वाले गृहस्थ से किसी व्यक्ति ने किराने का माल खरीद लिया, उस सौदे को पक्का करने के लिए खरीददार ने सत्यकार (बयाना या साई) भी दे दिया, किन्तु वह (किराने का माल) अभी तक अनुपनीत (ले जाया गया नही) है, (बेचने वाले के यहाँ ही पडा है ।) (ऐसी स्थिति मे) भगवन् ! उस भाण्डविक्रेता को उस किराने के माल से आरम्भिकी यावत् मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रियाओ मे से कौन-सी क्रिया लगती है ?

[६ उ] गौतम ! उस गृहपति को उस किराने के सामान से आरम्भिकी से लेकर अप्रत्याख्यानिकी तक चार क्रियाएँ लगती है । मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया कदाचित् लगती है और कदाचित् नही लगती । खरीददार को तो ये सब क्रियाएँ प्रतनु (अल्प या हल्की) हो जाती है ।

७ गाहावतिस्स ण भ ते ! भड विक्किणमाणस्स जाव भडे से उवणीए सिया, कइयस्स ण भ ते ! ताओ भ डाओ कि आरभिया किरिया कज्जति० ? गाहावतिस्स वा ताओ भ डाओ कि आरभिया किरिया कज्जति ?

गोयमा ! कइयस्स ताओ भ डाओ हेट्ठिल्लाओ चत्तारि किरियाओ कज्जति, मिच्छादसण-किरिया भयणाए । गाहावतिस्स ण ताओ सव्वाओ पयणुईभवति ।

[७ प्र] भगवन् ! किराना बेचने वाले गृहस्थ के यहाँ से यावत् खरीददार उस किराने के माल को अपने यहाँ ले आया, (ऐसी स्थिति मे) भगवन् ! उस खरीददार को उस (खरीदे हुए)

किराने के माल से आरम्भिकी से लेकर मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी तक कितनी क्रियाएँ लगती हे ? और उस विक्रेता गृहस्थ को पाचो क्रियाओ मे से कितनी क्रियाएँ लगती है ?

[७ उ] गौतम ! (उपर्युक्त स्थिति मे) खरीददार को उस किराने के सामान से आरम्भिकी से लेकर अप्रत्याख्यानिकी तक चारो क्रियाएँ लगती हे, मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रिया की भजना है, (अर्थात्—खरीददार यदि मिथ्यादृष्टि हो तो मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया लगती है, अगर वह मिथ्यादृष्टि न हो तो नही लगती)। विक्रेता गृहस्थ को तो (मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रिया की भजना के साथ) ये सब क्रियाएँ प्रतनु (अल्प) होती है।

८ [१] गाहावतिस्स णं भंते ! भंड जाव धणे य[1] से अणुवणीए सिया० ?

एय पि जहा 'भंडे उवणीते' तहा नेयव्व।

[८-१ प्र] भगवन् ! भाण्ड-विक्रेता गृहस्थ से खरीददार ने किराने का माल खरीद लिया, किन्तु जब तक उस विक्रेता को उस माल का मूल्यरूप धन नही मिला, तव तक, हे भगवन् ! उस खरीददार को उस अनुपनीत धन से कितनी क्रियाएँ लगती है ? (साथ ही) उस विक्रेता को कितनी क्रियाएँ लगती हैं ?

[८-१ उ] गौतम ! यह आलापक भी उपनीत भाण्ड (खरीददार द्वारा ले जाए जाने वाले किराने) के आलापक के समान समझना चाहिए।

[२] चउत्थो आलावगो[1]-धणे य से उवणीए सिया जहा पढमो आलावगो 'भंडे य से अणुवणीए सिया' तहा नेयव्वो। पढम-चउत्थाणं एक्को गमो। बितिय-ततियाणं एक्को गमो।

[८-२] चतुर्थ आलापक—यदि धन उपनीत हो तो प्रथम आलापक, (जो कि अनुपनीत भाण्ड के विषय मे कहा है) के समान समझना चाहिए। (साराश यह है कि) पहला और चौथा आलापक समान है, इसी तरह दूसरा और तीसरा आलापक समान है।

विवेचन—विक्रेता और क्रेता को विक्रेय माल से लगने वाली क्रियाएँ—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू ५ से ८ तक) मे भाण्ड-विक्रेता और खरीददार को किराने के माल (भाण्ड)-सम्बन्धी विभिन्न अवस्थाओ मे लगने वाली क्रियाओ का निरूपण किया गया है।

---

१ धन से सम्बन्धित प्रथम आलापक इस प्रकार कहना चाहिए—

"गाहावइस्स ण भंते ! भंड विक्किणमाणस्स कइए भंड साइज्जेज्जा, धणे य से अणुवणीए सिया, कइयस्स ण ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ ५ ? गाहावइस्स य ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ ५ ? गोयमा ! कइयस्स ताओ धणाओ हेट्ठिल्लाओ चत्तारि किरियाओ कज्जंति, मिच्छादसणकिरिया भयणाए। गाहावइस्स ण ताओ सव्वाओ पतणुईभवति।" —भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक २२९

१ धन से सम्बन्धित चतुर्थ आलापक इस प्रकार कहना चाहिए—

"गाहावइस्स ण भंते ! भंड विक्किणमाणस्स कइए भंड साइज्जेज्जा धणे य से उवणीए सिया, गाहावइस्स ण भंते ! ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ ५ ? कइयस्स वा ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ ५ ? गोयमा ! गाहावइस्स ताओ धणाओ आरंभिया ५, मिच्छादसणवत्तिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ। कइयस्स ण ताओ सव्वाओ पयणुईभवति"—भगवती अ वृत्ति, प २२९

छह प्रतिफलित तथ्य—(१) किराना बेचने वाले का किराना (माल) कोई चुरा ले जाए तो उस किराने को खोजने मे विक्रेता को आरम्भिकी आदि ४ क्रियाएँ लगती है, परन्तु मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रिया, कदाचित् लगती है, कदाचित् नही लगती। (२) यदि चुराया हुआ किराने का माल वापस मिल जाए तो विक्रेता को ये सब क्रियाएँ मन्द रूप मे लगती है। (३) खरीददार ने विक्रेता से किराना (माल) खरीद लिया, उस सौदे को पक्का करने के लिए साई भी दे दी, किन्तु माल दूकान से उठाया नही, तब तक खरीददार को उस किराने-सम्बन्धी क्रियाएँ हलके रूप मे लगती हैं, जबकि विक्रेता को वे क्रियाएँ भारी रूप मे लगती है। (४) विक्रेता द्वारा किराना खरीददार को सौप दिये जाने पर वह उसे उठाकर ले जाता है, ऐसी स्थिति मे विक्रेता को वे सब सम्भावित क्रियाएँ हलके रूप मे लगती है, जब कि खरीददार को भारी रूप मे। (५) विक्रेता से खरीददार ने किराना खरीद लिया, किन्तु उसका मूल्यरूप धन विक्रेता को नही दिया, ऐसी स्थिति मे विक्रेता को आरम्भिकी आदि चारो क्रियाएँ हलके रूप मे लगती है, जबकि खरीददार को वे ही क्रियाएँ भारी रूप मे लगती है। और (६) किराने का मूल्यरूप धन खरीददार द्वारा चुका देने के बाद विक्रेता को धनसम्बन्धी चारो सम्भावित क्रियाएँ भारी-रूप मे लगती है, जबकि खरीददार को वे सब सम्भावित क्रियाएँ अल्परूप मे लगती हैं।[1]

क्रियाएँ कब हल्के रूप मे, कब भारी रूप मे?—(१) चुराये हुए माल की खोज करते समय विक्रेता (व्यापारी) विशेष प्रयत्नशील होता है, इसलिए उसे सम्भावित क्रियाएँ भारीरूप मे लगती हैं, किन्तु जब व्यापारी को चुराया हुआ माल मिल जाता है, तब उसका खोज करने का प्रयत्न बन्द हो जाता है, इसलिए वे सब सम्भावित क्रियाएँ हल्की हो जाती हैं। (२) विक्रेता के यहाँ खरीददार के द्वारा खरीदा हुआ माल पडा रहता है, वह उसका होने से तत्सम्बन्धित क्रियाएँ भारीरूप मे लगती हैं, किन्तु खरीददार उस माल को उठाकर अपने घर ले जाता है, तब खरीददार को वे सब क्रियाएँ भारीरूप मे और विक्रेता को हल्के रूप मे लगती हैं। (३) किराने का मूल्यरूप धन जब तक खरीददार द्वारा विक्रेता को नही दिया गया है, तब तक वह धन खरीददार का है, अत उससे सम्बन्धित क्रियाएँ खरीददार को भारीरूप मे और विक्रेता को हल्के रूप मे लगती हैं, किन्तु खरीददार खरीदे हुए किराने का मूल्यरूप धन विक्रेता को चुका देता है, उस स्थिति मे विक्रेता को उस धनसम्बन्धी क्रियाएँ भारीरूप मे, तथा खरीददार को हल्के रूप मे लगती हैं।

मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रिया—तभी लगती है, जब विक्रेता या क्रेता मिथ्यादृष्टि हो, सम्यग्दृष्टि होने पर नही लगती।

कठिन शब्दो के अर्थ—**विकिणमाणस्स**=विक्रय करते हुए। **अवहरेज्जा**=अपहरण करे (चुरा ले जाए)। **सिय कज्जइ**=कदाचित् लगती है। **पयणुईभवति**=प्रतनु=हल्की या अल्प हो जाती है। **साइज्जेज्जा**=सत्यकार (सौदा पक्का) करने हेतु साई या बयाना दे दे। **अभिसमण्णागए**=माल वापस मिल जाए। **कइयस्स**=खरीददार के। **गवेसमाणस्स**=खोजते-ढूढते हुए। **अणुवणीए**=अनुपनीत—नही ले जाया गया। **उवणीए**=उपनीत—माल उठाकर ले जाया गया।[2]

---

१ (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा १, पृ २०६
(ख) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २२८

२ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २२८-२२९

अग्निकाय : कब महाकर्मादि से युक्त, कब अल्पकर्मादि से युक्त ?

९ अगणिकाए ण भ ते ! अहुणोज्जलिते समाणे महाकम्मतराए चेव महाकिरियतराए चेव, महासवतराए चेव, महावेदणतराए चेव भवति । अहे ण समए समए वोक्कसिज्जमाणे वोक्कसिज्जमाणे वोच्छिज्जमाणे चरिमकालसमयसि इगालभूते मुम्मुरभूते छारियभूते, तओ पच्छा अप्पकम्मतराए चेव, अप्पकिरियतराए चेव, अप्पासवतराए चेव, अप्पवेदणतराए चेव भवति ?

हता, गोयमा ! अगणिकाए ण अहुणुज्जलिते समाणे० त चेव ।

[९ प्र] भगवन् ! तत्काल प्रज्वलित अग्निकाय क्या महाकर्मयुक्त, तथा महाक्रिया, महाश्रव और महावेदना से युक्त होता है ? और इसके पश्चात् समय-समय मे (क्षण-क्षण मे) क्रमश कम होता हुआ—बुझता हुआ तथा अन्तिम समय मे (जब) अगारभूत, मुर्मुरभूत (भोभर-सा हुआ) और भस्मभूत हो जाता है (तब) क्या वह अग्निकाय अल्पकर्मयुक्त तथा अल्पक्रिया, अल्पाश्रव अल्पवेदना से युक्त होता है ?

[९ उ] हाँ गौतम ! तत्काल प्रज्वलित अग्निकाय महाकर्मयुक्त भस्मभूत हो जाता है, उसके पश्चात् यावत् अल्पवेदनायुक्त होता है ।

विवेचन—अग्निकाय कब महाकर्मादि से युक्त, कब अल्पकर्मादि से युक्त ?—प्रस्तुत नौवे सूत्र मे तत्काल प्रज्वलित अग्निकाय को महाकर्म, महाक्रिया, महाआश्रव एव महावेदना से युक्त तथा धीरे-धीरे क्रमश अगारे-सा, मुर्मुर-सा एव भस्म-सा हो जाने पर उसे अल्पकर्म, अल्पक्रिया, अल्प-आश्रव और अल्प-वेदना से युक्त बताया गया है ।

महाकर्मादि या अल्पकर्मादि से युक्त होने का रहस्य—तत्काल प्रज्वलित अग्नि बन्ध की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय आदि महाकर्मबन्ध का कारण होने से 'महाकर्मतर' है । अग्नि का जलना क्रियारूप होने से यह महाक्रियातर है । अग्निकाय नवीन कर्मो के ग्रहण करने मे कारणभूत होने से यह महाश्रवतर है । अग्नि लगने के पश्चात् होने वाली तथा उस कर्म (अग्निकाय से बद्ध कर्म) से उत्पन्न होने वाली पीडा के कारण अथवा परस्पर शरीर के सम्बाध (दबने) से होने वाली पीडा के कारण वह महावेदनातर है । लेकिन जब प्रज्वलित हुई अग्नि क्रमश बुझने लगती है, तब क्रमश अगार आदि अवस्था को प्राप्त होती हुई वह अल्पकर्मतर, अल्पक्रियातर, अल्पाश्रवतर एव अल्पवेदनातर हो जाती है । बुझते-बुझते जब वह भस्मावस्था को प्राप्त हो जाती है, तब वह कर्मादि-रहित हो जाती है ।[1]

कठिन शब्दो की व्याख्या—अहुणोज्जलिए=अभी-अभी तत्काल जलाया हुआ । **वोक्कसिज्जमाणे**=अपकर्ष को प्राप्त (कम) होता हुआ । **अप्प**=अग्नि की अगारादि अवस्था की अपेक्षा अल्प यानी थोडा, तथा भस्म की अपेक्षा अल्प का अर्थ अभाव करना चाहिए ।[2]

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २२९

२ वही, पत्राक २२९

धनुष चलाने वाले व्यक्ति को तथा धनुष से सम्बन्धित जीवो को उनसे लगने वाली क्रियाएँ—

१० [१] पुरिसे ण भ ते ! धणु परामुसति, धणु परामुसित्ता उसु परामुसति, उसु परामुसित्ता ठाण ठाति, ठाण ठिच्चा आयतकण्णायय उसु करेति, आययकण्णायय उसु करेत्ता उड्ढ वेहास उसु उव्विहति, २ ततो ण से उसु उड्ढ वेहास उव्विहिए समाणे जाइ तत्थ पाणाइ भूयाइं जीवाइ सत्ताइ अभिहणति वत्तेति लेस्सेति सघाएति सघट्टेति परितावेति किलामेति, ठाणाओ ठाण. सकामेति, जीवितातो ववरोवेति, तए ण भ ते ! से पुरिसे कतिकिरिए ?

गोयमा ! जाव च ण से पुरिसे धणु परामुसति जाव उव्विहति ताव च ण से पुरिसे काइयाए जाव पाणातिवातकिरियाए, पर्चाहि किरियाहि पुट्ठे ।

[१०-१ प्र] भगवन् ! कोई पुरुष धनुष को स्पर्श करता है, धनुष का स्पर्श करके वह बाण का स्पर्श (ग्रहण) करता है, बाण का स्पर्श करके (धनुष से बाण फेंकने के) स्थान पर से आसनपूर्वक बैठता है, उस स्थिति मे बैठकर फेंके जाने वाले बाण को कान तक आयत करे—खीचे, खीच कर ऊँचे आकाश मे बाण फेंकता है। ऊँचे आकाश मे फेंका हुआ वह बाण, वहाँ आकाश मे जिन प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को सामने आते हुए मारे (हनन करे) उन्हे सिकोड दे, अथवा उन्हे ढक दे, उन्हे परस्पर श्लिष्ट कर (चिपका) दे, उन्हे परस्पर सहत (सघात= एकत्रित) करे, उनका सघट्टा—जोर से स्पर्श करे, उनको परिताप-सताप (पीडा) दे, उन्हे क्लान्त करे—थकाए, हैरान करे, एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकाए, एव उन्हे जीवन से रहित कर दे, तो हे भगवन् ! उस पुरुष को कितनी क्रियाएँ लगती हैं ?

[१०-१ उ] गौतम ! यावत् वह पुरुष धनुष को ग्रहण करता यावत् बाण को फेंकता है, तावत् वह पुरुष कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी, और प्राणातिपातिकी, इन पाच क्रियाओ से स्पृष्ट होता है।

[२] जेसि पि य ण जीवाण सरीरेहितो धणू निव्वत्तिए ते वि य ण जीवा काइयाए जाव पर्चाहि किरियाहि पुट्ठे ।

[१०-२] जिन जीवो के शरीरो से वह धनुष बना (निष्पन्न हुआ) है, वे जीव भी पाच क्रियाओ से स्पृष्ट होते हैं।

११ एव धणुपुट्ठे पर्चाहि किरियाहि । जीवा पर्चाहि । ण्हारू पर्चाहि । उसू पर्चाहि । सरे पत्तणे फले ण्हारू पर्चाहि ।

[११] इसी प्रकार धनुष की पीठ भी पाच क्रियाओ से स्पृष्ट होती है। जीवा (डोरी) पाच क्रियाओ से, ण्हारू (स्नायु) पाँच क्रियाओ से एव बाण पाच क्रियाओ से तथा शर, पत्र, फल और ण्हारू भी पाच क्रियाओ से स्पृष्ट होते हैं।

१२. अहे ण से उसू अप्पणो गरुयत्ताए भारियत्ताए गुरुसभारियत्ताए अहे वीससाए पच्चोवयमाणे जाइ तत्थ पाणाइ जाव[1] जीवितातो ववरोवेति, एव च ण से पुरिसे कतिकिरिए ?

गोयमा ! जाव च ण से उसू अप्पणो गरुययाए जाव[2] ववरोवेति ताव च ण से पुरिसे काइयाए जाव चउहि किरियाहि पुट्ठे । जेसि पि य ण जीवाण सरीरेहि धणू निव्वत्तिए ते वि जीवा चउहि किरियाहि । धणुपुट्ठे चउहि । जीवा चउहि । ण्हारू चउहि । उसू पचहि । सरे, पत्तणे, फले, ण्हारू पचहि । जे वि य से जीवा अहे पच्चोवयमाणस्स उवग्गहे चिट्ठ ति ते वि य ण जीवा काइयाए जाव पचहि किरियाहि पुट्ठा ।

[१२ प्र] 'हे भगवन् ! जब वह बाण अपनी गुरुता से, अपने भारीपन से, अपने गुरुसभारता से स्वाभाविकरूप (विस्रसा प्रयोग) से नीचे गिर रहा हो, तब (ऊपर से नीचे गिरता हुआ) वह (बाण) (बीच मार्ग मे) प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को यावत् जीवन (जीवित) से रहित कर देता है, तब उस बाण फैंकने वाले पुरुष को कितनी क्रियाएँ लगती है ?

[१२ उ] गौतम ! जब वह बाण अपनी गुरुता आदि से नीचे गिरता हुआ, यावत् जीवो को जीवन रहित कर देता है, तब वह बाण फैंकने वाला) पुरुष कायिकी आदि चार क्रियाओ से स्पृष्ट होता है । जिन जीवो के शरीर से धनुष बना है, वे जीव भी चार क्रियाओ से, धनुष की पीठ चार क्रियाओ से, जीवा (ज्या=डोरी) चार क्रियाओ से, ण्हारू चार क्रियाओ से, बाण पाच क्रियाओ से, तथा शर, पत्र, फल और ण्हारू पाच क्रियाओ से स्पृष्ट होते है । 'नीचे' गिरते हुए बाण के अवग्रह मे जो जीव आते है, वे जीव भी कायिकी आदि पाच क्रियाओ से स्पृष्ट होते है ।

विवेचन—धनुष चलाने वाले व्यक्ति को तथा धनुष से सम्बन्धित जीवो को उनसे लगने वाली क्रियाएँ—प्रस्तुत तीन सूत्रो (सू १० से १२ तक) मे धनुष चलाने वाले व्यक्ति को तथा धनुप के विविध उपकरण (अवयव) जिन-जिन जीवो के शरीरो से बने है उनको बाण छूटते समय तथा बाण के नीचे गिरते समय होने वाली प्राणि-हिंसा से लगने वाली क्रियाओ का निरूपण किया गया है ।

किसको, क्यो, कैसे और कितनी क्रियाएँ लगती है ?—एक व्यक्ति धनुष हाथो मे लेता है, फिर बाण उठाता है, उसे धनुष पर चढा कर विशेष प्रकार के आसन से बैठता है, फिर कान तक बाण को खीचता और छोडता है । छूटा हुआ वह बाण आकाशस्थ या उसकी चपेट मे आए हुए प्राणी के प्राणो का विविध प्रकार से उत्पीडन एव हनन करता है, ऐसी स्थिति मे उस पुरुष को धनुष हाथ मे लेने से छोडने तक मे कायिकी से लेकर प्राणातिपातिकी तक पाचो क्रियाएँ लगती हैं । इसी प्रकार जिन जीवो के शरीर से धनुष, धनु पृष्ठ, डोरी, ण्हारू, बाण, शर, पत्र, फल और ण्हारू आदि धनुष एव धनुष के उपकरण बने हैं उन जीवो को भी पाच क्रियाएँ लगती हैं । यद्यपि वे इस समय अचेतन है तथापि उन जीवो ने मरते समय अपने शरीर का व्युत्सर्ग नही किया था, वे अविरति के परिणाम

---

१ 'जाव' पद यहाँ निम्नोक्त पाठ का सूचक है—

'भूयाइ जीवाइ सत्ताइ अभिहणति वत्तेति लेस्सेति सघाएति सघट्टेति परितावेति किलामेति ठाणाओ ठाण सकामेति' ।

(जो कि अशुभकर्म-बन्ध के हेतु है) से युक्त थे, इसलिए उन्हे भी पाचो क्रियाएँ लगती हैं। सिद्धो के अचेतन शरीर जीवहिंसा के निमित्त होने पर भी सिद्धो को कर्मबन्ध नही होता, न उन्हे कोई क्रिया लगती है, क्योकि उन्होने शरीर का तथा कर्मबन्ध के हेतु अविरति परिणाम का सर्वथा त्याग कर दिया था। रजोहरण, पात्र, वस्त्र आदि साधु के उपकरणो से जीवदया आदि करने से रजोहरणादि के भूतपूर्व जीवो को पुण्यबन्ध नही होता, क्योकि रजोहरणादि के जीवो के मरते समय पुण्यबन्ध के हेतुरूप विवेक, शुभ अध्यवसाय आदि नही होते।

इसके अतिरिक्त अपने भारीपन आदि के कारण जब बाण नीचे गिरता है, तब जिन जीवो के शरीर से वह बाण बना है, उन्हे पाचो क्रियाएँ लगती है, क्योकि बाणादिरूप बने हुए जीवो के शरीर तो उस समय मुख्यतया जीवहिंसा मे प्रवृत्त होते है, जबकि धनुष की डोरी, धनु पृष्ठ आदि साक्षात् वधक्रिया मे प्रवृत्त न होकर केवल निमित्तमात्र बनते है, इसलिए उन्हे चार क्रियाएँ लगती हैं। वीतराग सर्वज्ञ प्रभु ने जैसा अपने ज्ञान मे देखा है, वैसा ही कहा है, इसलिए उनके वचन प्रमाण मान कर उन पर श्रद्धा करनी चाहिए।[1]

कठिन शब्दो के अर्थ—परामुसइ=स्पर्श-ग्रहण करता है। उसु=बाण। आययकण्णायय=कान तक खीचा हुआ। वेहास=आकाश मे। उव्विहइ=फेंकता है। जीवा=धनुष की डोरी (ज्या), ण्हारू=स्नायु, पच्चोवयमाणे=नीचे गिरता हुआ।[2]

अन्यतीर्थिकप्ररूपित मनुष्यसमाकीर्ण मनुष्यलोक के बदले नारकसमाकीर्ण नरकलोक की प्ररूपणा एवं नैरयिक-विकुर्वणा—

१३ अन्नउत्थिया ण भते! एवमाइक्खति जाव परूवेंति—से जहानामए जुवति जुवाणे हत्थेणं हत्थे गेण्हेज्जा, चक्कस्स वा नाभी अरगाउत्ता सिया एवामेव जाव चत्तारि पच जोयणसताइ बहुसमाइण्णे मणुयलोए मणुस्सेहिं। से कहमेत भते! एव?

गोतमा! ज ण ते अन्नउत्थिया जाव मणुस्सेहिं, जे ते एवमाहसु मिच्छा०। अह पुण गोयमा! एवमाइक्खामि जाव एवामेव चत्तारि पच जोयणसताइ बहुसमाइण्णे निरयलोए नेरइएहिं।

[१३ प्र] भगवन्! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते है, यावत् प्ररूपणा करते है कि जैसे कोई युवक अपने हाथ से युवती का हाथ (कस कर) पकडे हुए (खडा) हो, अथवा जैसे आरो से एकदम सटी (जकडी) हुई चक्र (पहिये) की नाभि हो, इसी प्रकार यावत् चार सौ-पाच सौ योजन तक यह मनुष्यलोक मनुष्यो से ठसाठस भरा हुआ है। भगवन्! यह सिद्धान्त प्ररूपण कैसे है?

[१३ उ] हे गौतम! अन्यतीर्थियो का यह कथन मिथ्या है। मैं इस प्रकार कहता हूँ, यावत् प्ररूपणा करता हूँ कि चार-सौ, पाँच सौ योजन तक नरकलोक, नैरयिक जीवो से ठसाठस भरा हुआ है।

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २३०

२ वही, पत्राक २३०

१४. नेरइया ण भते ! किं एगत्त पभू विउव्वित्तए ? पुहत्त पभू विकुव्वित्तए ?

जहा जीवाभिगमे[1] आलावगो तहा नेयव्वो जाव दुरहियास ।

[१२ प्र] भगवन् ! क्या नैरयिक जीव, एकत्व (एक रूप) की विकुर्वणा करने मे समर्थ हे, अथवा बहुत्व (बहुत से रूपो) की विकुर्वणा करने मे समर्थ है ?

[१४ उ] गौतम ! इस विषय मे जीवाभिगमसूत्र मे जिस प्रकार आलापक कहा है, उसी प्रकार का आलापक यहाँ भी 'दुरहियास' शब्द तक कहना चाहिए ।

विवेचन—अन्यतीर्थिक-प्ररूपित मनुष्य समाकीर्ण मनुष्य लोक के बदले नारकसमाकीर्ण नरकलोक प्ररूपणा, एव नैरयिक-विकुर्वणा—प्रस्तुत दो सूत्रो मे दो मुख्य तथ्यो का निरूपण किया गया है—(१) मनुष्योक ४००-५०० योजन तक ठसाठस मनुष्यो से भरा है, अन्यतीर्थिको के विभग-ज्ञान द्वारा प्ररूपित इस कथन को मिथ्या बताकर नरक लोक नैरयिक जीवो से ठसाठस भरा है, इस तथ्य की प्ररूपणा की गई है ।

(२) नैरयिक जीव एकरूप एव अनेक रूपो की विकुर्वणा करने मे समर्थ है ।[2]

नैरयिको की विकुर्वणा के सम्बन्ध मे जीवाभिगम का अतिदेश—जीवाभिगम सूत्र के आलापक का सार इस प्रकार है—रत्नप्रभा आदि नरको मे नैरयिक जीव एकत्व (एकरूप) की भी विकुर्वणा करने मे समर्थ है, बहुत्व (बहुत-से रूपो) की भी । एकत्व की विकुर्वणा करते है, तब वे एक बडे मुद्गर या मुसु ढि, करवत, तलवार, शक्ति, हल, गदा, मूसल, चक्र, नाराच, कुन्त (भाला), तोमर, शूल और लकडी यावत् भिडमाल के रूप की विकुर्वणा कर सकते हैं और, जब बहुत्व (बहुत से रूपो) की विकुर्वणा करते हैं, तब मुद्गर से लेकर भिडमाल तक बहुत-से शस्त्रो की विकुर्वणा कर सकते है । वे सब सख्येय होते है, असख्येय नही । इसी प्रकार वे सम्बद्ध और सदृश रूपो की विकुर्वणा करते है, असम्बद्ध एव असदृश रूपो की नही । इस प्रकार की विकुर्वणा करके वे एक दूसरे के शरीर को अभिघात पहुँचाते हुए वेदना की उदीरणा करते हैं । वह वेदना उज्ज्वल (तीव्र), विपुल (व्यापक), प्रगाढ, कर्कश, कटुक, परुष (कठोर), निष्ठुर, चण्ड, तीव्र, दुर्ग, दु खरूप और दु सह होती है ।[3]

---

१ आलापक इस प्रकार है—

"गोयमा ! एगत्त पि पहू विउव्वित्तए पुहत्त पि पहू विउव्वित्तए ।` एगत्त विउव्वमाणे एग मह मोग्गर-रूव मुसु ढिरूव वा' इत्यादि । 'पुहत्त विउव्वमाणे मोग्गररूवाणि वा' इत्यादि । ताइ सखेज्जाइ नो असखेज्जाइ । एव सबद्धाइ २ सरीराइ विउव्वति, विउव्वित्ता अन्नमन्नस्स काय अभिहणमाणा २ वेयण उदीरेंति उज्जल विउल पगाढ कक्कस कडुयं फरुस निट्ठुर चड तिव्व दुक्ख दुग्ग दुरहियास त्ति"

—जीवाभिगम प्र ३ उ -२ भगवती अ वृत्ति, पृ २३१

२ वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठटिप्पणयुक्त) भा-१ पृ-२०८-२०९

३ (क) जीवाभिगम सूत्र, प्रतिपत्ति ३, द्वितीय उद्देशक नारकस्वरूपवर्णन, पृ ११७

(ख) भगवती-टीकानुवाद ख २, पृ-२०८

विविध प्रकार से आधाकर्मादि दोषसेवी साधु अनाराधक कैसे ?, आराधक कैसे ?

१५ [१] 'आहाकम्म ण अणवज्जे' त्ति मण पहारेत्ता भवति, से ण तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कते काल करेति नत्थि तस्स आराहणा ।

[१५-१] 'आधाकर्म अनवद्य-निर्दोष है', इस प्रकार जो साधु मन मे समझता (धारणा बना लेता) है, वह यदि उस आधाकर्म-स्थान की आलोचना (तदनुसार प्रायश्चित्त) एव प्रतिक्रमण किये बिना ही काल कर जाता है, तो उसके आराधना नही होती ।

[२] से ण तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कते काल करेति अत्थि तस्स आराहणा ।

[१५-२] वह (पूर्वोक्त प्रकार की धारणा वाला साधु) यदि उस (आधाकर्म-) स्थान की आलोचना एव प्रतिक्रमण करके काल करता है, तो उसके आराधना होती है ।

[३] एतेण गमेण नेयव्व—कीयकड ठवियग रइयग कतारभत्त दुब्भिक्खभत्त वद्दलियाभत्त गिलाणभत्त सिज्जातरपिंड रायपिंड ।

[१५-३] आधाकर्म के (पूर्वोक्त) आलापकद्वय के अनुसार ही क्रीतकृत (साधु के लिए खरीद कर लाया हुआ), स्थापित (साधु के लिए स्थापित करके रखा हुआ) रचितक (साधु के लिये बिखरे हुए चूरे को मोदक के रूप मे बाधा हुआ (औद्देशिक दोष का भेदरूप), कान्तारभक्त (अटवी मे भिक्षुको के निर्वाह के लिये तैयार किया हुआ आहार), दुर्भिक्षभक्त (दुष्काल के समय भिक्षुओ के लिये तैयार किया हुआ आहार), वर्दलिकाभक्त (आकाश मे बादल छाये हो, घनघोर वर्षा हो रही हो, ऐसे समय मे भिक्षुओ के लिए तैयार किया हुआ आहार), ग्लान भक्त (ग्लान—रुग्ण के लिए बनाया हुआ आहार), शय्यातरपिण्ड (जिसकी आज्ञा से मकान मे ठहरे हैं, उस व्यक्ति के यहाँ से आहार लेना), राजपिण्ड (राजा के लिए तैयार किया गया आहार), इन सब दोषो से युक्त आहारादि के विषय मे (आधाकर्म सम्बन्धी आलापकद्वय के समान ही) प्रत्येक के दो-दो आलापक कहने चाहिए ।

१६ [१] 'आहाकम्म ण अणवज्जे' त्ति बहुजणमज्झे भासित्ता सयमेव परिभुंजित्ता भवति, से ण तस्स ठाणस्स जाव[1] अत्थि तस्स आराहणा ।

[२] एय पि तह चेव जाव[1] रायपिंड ।

[१६-१] आधाकर्म अनवद्य (निर्दोष) है, इस प्रकार जो साधु बहुत-से मनुष्यो के बीच मे कह (भाषण) कर, स्वय ही उस आधाकर्म-आहारादि का सेवन (उपभोग) करता है, यदि वह उस स्थान की आलोचना एव प्रतिक्रमण किये बिना ही काल कर जाता है तो उसके आराधना नही होती, यावत् यदि वह उस स्थान की आलोचना—प्रतिक्रमण करके काल करता है, तो उसके आराधना होती है ।

[१६-२] आधाकर्मसम्बन्धी इस प्रकार के आलापकद्वय के समान क्रीतकृत से लेकर राजपिण्डदोष तक पूर्वोक्त प्रकार से प्रत्येक के दो-दो आलापक समझ लेने चाहिए ।

---

१ 'जाव' पद से यहाँ पूर्ववत् 'अणालोइय' का तथा 'आलोइय' का आलापक कहना चाहिए ।

१७ 'आहाकम्म ण अणवज्जे' त्ति सय अन्नमन्नस्स अणुप्पदावेत्ता भवति, से ण तस्स० एय तह चेव जाव रायपिंड ।

[१७] 'आधाकर्म अनवद्य है', इस प्रकार कह कर, जो साधु स्वय परस्पर (भोजन करता है, तथा) दूसरे साधुओ को दिलाता है, किन्तु उस आधाकर्म दोष स्थान की आलोचना-प्रतिक्रमण किये बिना काल करता है तो उसके अनाराधना तथा यावत् आलोचनादि करके काल करता है तो उसके आराधना होती है। इसी प्रकार क्रीतकृत से लेकर राजपिण्ड तक पूर्ववत् यावत् अनाराधना एव आराधना जान लेनी चाहिए।

१८ 'आहाकम्म ण अणवज्जे' त्ति बहुजणमज्झे पन्नवइत्ता भवति, से ण तस्स जाव[1] अत्थि आराहणा जाव रायपिंड ।

[१८] 'आधाकर्म अनवद्य है', इस प्रकार जो साधु बहुत-से लोगो के वीच मे प्ररूपण (प्रज्ञापन) करता है, उसके भी यावत् आराधना नही होती, तथा वह यावत् आलोचना-प्रतिक्रमण करके काल करता है, उसके आराधना होती है।

इसी प्रकार क्रीतकृत से लेकर यावत् राजपिण्ड तक पूर्वोक्त प्रकार से अनाराधना होती है, तथा यावत् आराधना होती है।

विवेचन—विविध प्रकार से आधाकर्मादि दोषसेवी साधु अनाराधक कैसे, आराधक कैसे ?— प्रस्तुत चार सूत्रो मे आधाकर्मादि दोष से दूषित आहारादि को निष्पाप समझने वाले, सभा मे निष्पाप कहकर सेवन करने वाले, स्वय वैसा दोषयुक्त आहार करने तथा दूसरे को दिलाने वाले, बहुजन समाज मे आधाकर्मादि के निर्दोष होने की प्ररूपणा करने वाले साधु के विराधक एव आराधक होने का रहस्य बताया गया है।[2]

विराधना और आराधना का रहस्य—आधाकर्म से लेकर राजपिण्ड तक मे से किसी भी दोष का किसी भी रूप मे मन-वचन-काया से सेवन करने वाला साधु यदि अन्तिम समय मे उस दोष-स्थान की आलोचना-प्रतिक्रमणादि किये बिना ही काल कर जाता है तो वह विराधक होता है, आराधक नही, किन्तु यदि पूर्वोक्त दोषो मे से किसी दोष का किसी भी रूप मे सेवन करने वाला साधु अन्तिम समय मे उस दोष की आलोचना-प्रतिक्रमण कर लेता है, तो वह आराधक होता है। निष्कर्ष यह है कि दोषो की आलोचना-प्रतिक्रमणादि न करके काल करने वाला साधु विराधक और आलोचना-प्रतिक्रमणादि करके काल करने वाला साधु आराधक होता है। आधाकर्मादि दोष निर्दोष होने की मन मे धारणा बना लेना, तथा आधाकर्मादि के विषय मे निर्दोष होने की प्ररूपणा करना विपरीतश्रद्धानादिरूप होने से दर्शन-विराधना है, इन्हे विपरीत रूप मे जानना ज्ञान-विराधना है। तथा इन दोषो को निर्दोष कह कर स्वय आधाकर्मादि आहारादि सेवन करना, तथा दूसरो को वैसा दोषयुक्त आहार दिलाना, चारित्रविराधना है।[3]

---

१ जाव पद से यहाँ 'अणालोइय' इत्यादि पद तथा 'आलोइय' इत्यादि पद कहने चाहिए।

२ वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा १, पृ २०९-२१०

३ भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक २३१

आधाकर्म की व्याख्या—साधु के निमित्त से जो सचित्त को अचित्त बनाया जाता है, अचित्त दाल, चावल आदि को पकाया जाता है, मकान आदि बनाए जाते है, या वस्त्रादि बुनाए जाते है, उन्हे आधाकर्म कहते है ।[1]

गणसंरक्षणतत्पर आचार्य-उपाध्याय के सम्बन्ध मे सिद्धत्व-प्ररूपणा—

१९ आयरिय-उवज्झाए ण भते ! सविसयसि गण अगिलाए सगिण्हमाणे अगिलाए उवगिण्हमाणे कतिहि भवग्गहणेहि सिज्झति जाव अत करेति ?

गोतमा ! अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेण सिज्झति अत्थेगइए दोच्चेण भवग्गहणेण सिज्झति, तच्च पुण भवग्गहण नातिक्कमति ।

[१९ प्र] भगवन् ! अपने विषय मे (सूत्र और अर्थ की वाचना-प्रदान करने मे) गण (शिष्यवर्ग) को अग्लान (अखेद) भाव से स्वीकार (सग्रह) करते (अर्थात्-सूत्रार्थ पढाते) हुए तथा अग्लानभाव से उन्हे (शिष्यवर्ग को सयम पालन मे) सहायता करते हुए आचार्य और उपाध्याय, कितने भव (जन्म) ग्रहण करके सिद्ध होते हैं, यावत् सर्व दु खो का अन्त करते हैं ?

[१९ उ] गौतम ! कितने ही आचार्य-उपाध्याय उसी भव से सिद्ध होते है, कितने ही दो भव ग्रहण करके सिद्ध होते है, किन्तु तीसरे भव का अतिक्रमण नही करते ।

विवेचन—तथारूप आचार्य-उपाध्याय के सम्बन्ध मे सिद्धत्वप्ररूपणा—जो आचार्य और उपाध्याय अपने कर्तव्य और दायित्व का भली-भाति वहन करते है, उनके सम्बन्ध मे एक, दो या अधिक से अधिक तीन भव मे सिद्धत्व प्राप्ति की प्ररूपणा की गई है ।

एक दो या तीन भव में मुक्त—कई आचार्य-उपाध्याय उसी भव मे मुक्त हो जाते है, कई देवलोक मे जा कर दूसरा मनुष्यभव धारण करके मुक्त होते हैं, और कितने ही देवलोक मे जाकर तीसरा मनुष्यभव धारण करके मुक्त होते है, किन्तु तीन भव से अधिक भव नही करते ।[2]

मिथ्यादोषारोपणकर्ता के दुष्कर्मबन्ध-प्ररूपणा—

२० जे ण भते ! पर अलिएण असतएण अब्भक्खाणेणं अब्भक्खाति तस्स ण कहप्पगारा कम्मा कज्जति ?

गोयमा ! जे ण पर अलिएण असतएण अब्भक्खाणेण अब्भक्खाति तस्स ण तहप्पगारा चेव कम्मा कज्जति, जत्थेव ण अभिसमागच्छति तत्थेव ण पडिसवेदेति, ततो से पच्छा वेदेति ।

सेव भते ! २ त्ति० ।

॥ पचमसए : छट्ठो उद्देसओ ॥

---

१ "आधाकर्म—आधया साधुप्रणिधानेन यत्सचेतनमचेतन क्रियते, अचेतन वा पच्यते, चीयते वा गृहादिकम्, वयते वा वस्त्रादिकम्, तदाधाकर्म ।"—भगवती हि विवेचन, भा २, पृ ८६०

२ भगवती सूत्र वृत्ति, पत्राक २३२

[२० प्र] भगवन् ! जो दूसरे पर सद्भूत का अपलाप और असद्भूत का आरोप करके असत्य मिथ्यादोषारोपण (अभ्याख्यान) करता है, उसे किस प्रकार के कर्म बधते है ?

[२० उ] गौतम ! जो दूसरे पर सद्भूत का अपलाप और असद्भूत का आरोपण करके मिथ्या दोष लगाता है, उसके उसी प्रकार के कर्म बधते हैं। वह जिस योनि मे जाता है, वही उन कर्मो को वेदता (भोगता) है और वेदन करने के पश्चात् उनकी निर्जरा करता है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कहकर यावत् गौतम-स्वामी विचरने लगे।

विवेचन—मिथ्यादोषारोपणकर्ता के दुष्कर्मबन्धन प्ररूपणा—जो व्यक्ति दूसरे पर अविद्यमान या अशोभनीय कार्य करने का दोषारोपण करता है, वह उसी रूप मे उसका फल पाता है। इस प्रकार दुष्कर्मबन्ध की प्ररूपणा की गई है।

ब्रह्मचर्यपालक को अब्रह्मचारी कहना, यह सद्भूत का अपलाप है, अचोर को चोर कहना असद्भूत दोष का आरोपण है। ऐसा करके किसी पर मिथ्या दोषारोपण करने से इसी प्रकार का फल देने वाले कर्मो कर बन्ध होता है। ऐसा कर्मबन्ध करने वाला वैसा ही फल पाता है।

कठिन शब्दो की व्याख्या—अलिएण=सत्य बात का अपलाप करना। **असब्भूएण**=असद्भूत =अविद्यमान बात को प्रकट करना। **अब्भक्खाणेण**=अभ्याख्यान=मिथ्यादोषारोपण।[1]

॥ पचम शतक छठा उद्देशक समाप्त ॥

---

१ (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ) भा १, पृ २१०, (ख) भगवती अ वृत्ति, पत्राक २३२

त ा ो उद्देसओ : ए ग

सप्तम उद्देशक : एजन

परमाणुपुद्गल-द्विप्रदेशिकादि स्कन्धो के एजनादि के विषय मे प्ररूपणा—

१ परमाणुपोग्गले ण भंते ! एयति वेयति जाव[1] त त भाव परिणमति ?

गोयमा ! सिय एयति वेयति जाव परिणमति, सिय णो एयति जाव णो परिणमति ।

[१ प्र] भगवन् ! क्या परमाणु पुद्गल कापता है, विशेष रूप से कापता है ? यावत् उस-उस भाव मे (विभिन्न परिणामो मे) परिणत होता है ?

[१ उ] गौतम ! परमाणु पुद्गल कदाचित् कापता है, विशेष कापता है, यावत् उस-उस भाव मे परिणत होता है, कदाचित् नही कापता, यावत् उस-उस भाव मे परिणत नही होता ।

२ [१] दुपदेसिए ण भते ! खधे एयति जाव परिणमइ ?

गोयमा ! सिय एयति जाव परिणमति, सिय णो एयति जाव णो परिणमति; सिय देसे एयति, देसे नो एयति ।

[२-१ प्र] भगवन् ! क्या द्विप्रदेशिक स्कन्ध कापता है, विशेष कापता है, यावत् उस-उस भाव मे परिणत होता है ?

[२-१ उ] हे गौतम ! कदाचित् कम्पित होता है, यावत् परिणत होता है, कदाचित् कम्पित नही होता, यावत् परिणत नही होता । कदाचित् एक देश (भाग) से कम्पित होता है, एक देश से कम्पित नही होता ।

[२] तिपदेसिए ण भते ! खधे एयति० ?

गोयमा ! सिय एयति १, सिय नो एयति २, सिय देसे एयति, नो देसे एयति ३, सिए देसे एयति नो देसा एयति ४, सिय देसा एयति नो देसे एयति ५ ।

[२-२ प्र] भगवन् ! क्या त्रिप्रदेशिक स्कन्ध कम्पित होता है, यावत् परिणत होता है ?

[२-२ उ] गौतम ! कदाचित् कम्पित होता है, कदाचित् कम्पित नही होता, कदाचित् एक देश से कम्पित होता है, और एक देश से कम्पित नही होता, कदाचित् एक देश से कम्पित होता है, और बहुत देशो से कम्पित नही होता, कदाचित् बहुत देशो से कम्पित होता है और एक देश से कम्पित नही होता ।

---

१ 'जाव' पद यहाँ 'चलति, फदति, खोभति' इन क्रियापदो का सूचक है ।

[३] चउप्पएसिए ण भंते ! खधे एयति० ?

गोयमा ! सिय एयति १, सिय नो एयति २, सिय देसे एयति, णो देसे एयति ३, सिय देसे एयति णो देसा एयति ४, सिय देसा एयति नो देसे एयति ५, सिय देसा एयति नो देसा एयति ६।

[२-३ प्र] भगवन् ! क्या चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध कम्पित होता है ?

[२-३ उ,] गौतम ! कदाचित् कम्पित होता है, कदाचिन् कम्पित नही होता, कदाचित् उसका एकदेश कम्पित होता है, कदाचित् एकदेश कम्पित नही होता, कदाचित् एकदेश कम्पित होता है, और बहुत देश कम्पित नही होते, कदाचित् बहुत देश कम्पित होते है और एक देश कम्पित नही होता, कदाचित् बहुत देश कम्पित होते है और बहुत देश कम्पित नही होते।

[४] जहा चउप्पदेसिओ तहा पचपदेसिओ, तहा जाव अणतपदेसिओ।

[२-४] जिस प्रकार चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के विषय मे कहा गया है, उसी प्रकार पचप्रदेशी स्कन्ध से लेकर यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक (प्रत्येक स्कन्ध के लिए) कहना चाहिए।

विवेचन—परमाणुपुद्गल और स्कन्धो के कम्पन आदि के विषय मे प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र मे परमाणुपुद्गल तथा द्विप्रदेशिक स्कन्ध से लेकर अनन्तप्रदेशिक स्कन्ध के कम्पन (एजन), विशेष कम्पन, चलन, स्पन्दन, क्षोभण और उस-उस भाव मे परिणमन के सम्बन्ध मे प्रश्न उठाकर उसका सैद्धान्तिक अनेकान्तशैली से समाधान किया गया है।[1]

परमाणुपुद्गल से लेकर अनन्तप्रदेशीस्कन्ध तक कम्पनादि धर्म—पुद्गलो मे कम्पनादि धर्म कादाचित्क है। इस कारण परमाणुपुद्गल मे कम्पन आदि विषयक दो भग, द्विप्रदेशिक स्कन्ध मे तीन भग, त्रिप्रदेशिक स्कन्ध मे पाच भग और चतुष्प्रदेशी स्कन्ध से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक प्रत्येक स्कन्ध मे कम्पनादि के ६ भग होते हैं।

विशिष्ट शब्दो के अर्थ—एयति = कापता है। वेयति = विशेष कापता है। सिय = कदाचित्।[2]

परमाणु पुद्गल से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक के विषय मे विभिन्न पहलुओ से प्रश्नोत्तर—

३ [१] परमाणुपोग्गले ण भंते ! असिधारं वा खुरधारं वा ओगाहेज्जा ?

हता, ओगाहेज्जा।

[३-१ प्र] भगवन् ! क्या परमाणु पुद्गल तलवार की धार या क्षुरधार (उस्तरे की धार) पर अवगाहन करके रह सकता है ?

[३-१ उ] हाँ, गौतम ! वह अवगाहन करके रह सकता है।

---

१ वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा १, पृ २१०-२११

२ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २३२

[२] से ण भते ! तत्थ छिज्जेज्ज वा भिज्जेज्ज वा ?

गोतमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, नो खलु तत्थ सत्थ कमति ।

[३-२ प्र] भगवन् ! उस धार पर अवगाहित होकर रहा हुआ परमाणुपुद्गल छिन्न या भिन्न हो जाता है ?

[३-२ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ (शक्य) नही है । परमाणुपुद्गल मे शस्त्र क्रमण (प्रवेश) नही कर सकता ।

४ एव जाव असखेज्जपएसिओ ।

[४] इसी तरह (द्विप्रदेशी स्कन्ध से लेकर) यावत् असख्यप्रदेशी स्कन्ध तक समझ लेना चाहिए । (निष्कर्ष यह है कि एक परमाणु से असख्यप्रदेशी स्कन्ध तक किसी भी शस्त्र से छिन्नभिन्न नही होता, क्योकि कोई भी शस्त्र इसमे प्रविष्ट नही हो सकता)।

५. [१] अणतपदेसिए ण भते ! खंधे असिधार वा खुरधार वा ओगाहेज्जा ?

हता, ओगाहेज्जा ।

[५-१ प्र.] भगवन् ! क्या अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तलवार की धार पर या क्षुरधार पर अवगाहन करके रह सकता है ?

[५-१ उ] हाँ, गौतम ! वह रह सकता है ।

[२] से ण तत्थ छिज्जेज्ज वा भिज्जेज्ज वा ?

गोयमा ! अत्थेगइए छिज्जेज्ज वा भिज्जेज्ज वा, अत्थेगइए नो छिज्जेज्ज वा नो भिज्जेज्ज वा ।

[५-२ प्र] भगवन् ! क्या तलवार की धार को या क्षुरधार को अवगाहित करके रहा हुआ अनन्तप्रदेशी स्कन्ध छिन्न या भिन्न हो जाता है ?

[५-२ उ] हे गौतम ! कोई अनन्तप्रदेशी स्कन्ध छिन्न या भिन्न हो जाता है, और कोई न छिन्न होता है, न भिन्न होता है ।

६ एव अगणिकायस्स मज्झमज्झेण । तहिं णवर 'झियाएज्जा' भाणितव्व ।

[६] जिस प्रकार छेदन-भेदन के विषय मे प्रश्नोत्तर किये गए हैं, उसी तरह से 'अग्निकाय के बीच मे प्रवेश करता है'—इसी प्रकार के प्रश्नोत्तर एक परमाणुपुद्गल से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक के कहने चाहिए । किन्तु अन्तर इतना ही है कि जहाँ उस पाठ मे सम्भावित छेदन-भेदन का कथन किया है, वहाँ इस पाठ मे 'जलता है' इस प्रकार कहना चाहिए ।

७ एव पुक्खलसवट्टगस्स महामेहस्स मज्झमज्झेण । तहिं 'उल्ले सिया' ।

[७] इसी प्रकार पुष्कर-सवर्त्तक नामक महामेघ के मध्य मे (बीचोबीच) प्रवेश करता है, इस प्रकार के प्रश्नोत्तर (एक परमाणुपुद्गल से लेकर अनन्नप्रदेशी स्कन्ध तक के) कहने चाहिए। किन्तु वहाँ सम्भावित 'छिन्न-भिन्न होता है' के स्थान पर यहाँ 'गीला होता—भीग जाता है,' कहना चाहिए।

८ एव गगाए महाणदीए पडिसोत हव्वमागच्छेज्जा। तहिं विणिघायमावज्जेज्जा, उदगावत्त वा उदगबिंदु वा ओगाहेज्जा, से ण तत्थ परियावज्जेज्जा।

[८] इसी प्रकार 'गगा महानदी के प्रतिस्रोत (विपरीत प्रवाह) मे वह परमाणुपुद्गल आता है और प्रतिस्खलित होता है।' इस तरह के तथा 'उदकावर्त्त या उदकविन्दु मे प्रवेश करता है, और वहाँ वह (परमाणु आदि) विनष्ट होता है,' (इस तरह के प्रश्नोत्तर एक परमाणुपुद्गल से लेकर अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध तक के कहने चाहिए।)

विवेचन—परमाणु पुद्गल से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक के सम्बन्ध मे विभिन्न पहलुओं से प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत सूत्रो मे परमाणुपुद्गल से अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक के अवगाहन करके रहने, छिन्न-भिन्न होने, अग्निकाय मे प्रवेश करने, उसमे जल जाने, पुष्करसवर्त्तक महामेघ मे प्रवेश करने उसमे भीग जाने, गगानदी के प्रतिस्रोत मे आने तथा उसमे प्रतिस्खलित होने, उदकावर्त्त या उदकविन्दु मे प्रवेश करने और वहाँ विनष्ट होने के सम्बन्ध मे प्रश्न उठा कर, अवगाहन करके रहने और छिन्न-भिन्न होने के प्रश्न के उत्तर की तरह ही इन सबके सगत और सम्भावित प्रश्नोत्तरो का अतिदेश किया गया है।[३]

असख्यप्रदेशी स्कन्ध तक छिन्न-भिन्नता नहीं, अनन्तप्रदेशी स्कन्ध मे कादाचित्क छिन्न-भिन्नता—छेदन—दो टुकडे हो जाने का नाम है और भेदन—विदारण होने या बीच मे से चीरे जाने का नाम है। परमाणुपुद्गल से लेकर असख्यप्रदेशी स्कन्ध तक सूक्ष्मपरिणामवाला होने से उसका छेदन-भेदन नही हो पाता, किन्तु अनन्तप्रदेशी स्कन्ध बादर परिणाम वाला होने से वह कदाचित् छेदन-भेदन को प्राप्त हो जाता है, कदाचित् नही। इसी प्रकार अग्निकाय मे प्रवेश करने तथा जल जाने आदि सभी प्रश्नो के उत्तर के सन्बन्ध मे छेदन-भेदन आदि की तरह ही[४] समझ लेना चाहिए। अर्थात् सभी उत्तरो का स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए।

परमाणुपुद्गल से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक सार्ध, समध्य आदि एवं तद्विपरीत होने के विषय मे प्रश्नोत्तर—

९ परमाणुपोग्गले ण भते! किं सअड्ढे समज्झे सपदेसे? उदाहु अणड्ढे अमज्झे अपदेसे?
गोतमा! अणड्ढे अमज्झे अपदेसे, नो सअड्ढे नो समज्झे नो सपदेसे।

[९ प्र] भगवन्! क्या परमाणु-पुद्गल सार्ध, समध्य और सप्रदेश है, अथवा अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश है?

---

३ वियाहपण्णत्ति सुत्त, (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) भा-१, पृ २१०-२११
४ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २३३

[९ उ] गौतम ! (परमाणुपुद्गल) अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश है, किन्तु, सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश नही है।

१० [१] दुपदेसिए ण भते ! खधे किं सअड्ढे समज्झे सपदेसे ? उदाहु अणड्ढे अमज्झे अपदेसे ?

गोयमा ! सअड्ढे अमज्झे, सपदेसे, णो अणड्ढे णो समज्झे णो अपदेसे।

[१०-१ प्र] भगवन् ! क्या द्विप्रदेशिक स्कन्ध सार्ध, समध्य और सप्रदेश है, अथवा अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश है ?

[१०-१ उ] गौतम ! द्विप्रदेशी स्कन्ध सार्ध, अमध्य और सप्रदेश है, किन्तु अनर्ध, समध्य और अप्रदेश नही है।

[२] तिपदेसिए ण भ ते ! खधे ० पुच्छा।

गोयमा ! अणड्ढे समज्झे सपदेसे, नो सअड्ढे णो अमज्झे णो अपदेसे।

[१०-२ प्र] भगवन् ! क्या त्रिप्रदेशी स्कन्ध सार्ध, अमध्य और सप्रदेश है, अथवा अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश है।

[१०-२ उ] गौतम ! त्रिप्रदेशी स्कन्ध अनर्ध है, समध्य है और सप्रदेश है, किन्तु सार्ध नही है, अमध्य नही है, और अप्रदेश नही है।

[३] जहा दुपदेसिओ तहा जे समा ते भाणियव्वा। जे विसमा ते जहा तिपएसिओ तहा भाणियव्वा।

[१०-३] जिस प्रकार द्विप्रदेशी स्कन्ध के विषय मे सार्ध आदि विभाग बतलाए गए है, उसी प्रकार समसख्या (बेकी की सख्या) वाले स्कन्धो के विषय मे कहना चाहिए। तथा विषमसख्या एकी—एक की सख्या) वाले स्कन्धो के विषय मे त्रिप्रदेशी स्कन्ध के विषय मे कहे गए अनुसार कहना चाहिए।

[४] सखेज्जपदेसिए ण भ ते ! खधे किं सअड्ढे ६, पुच्छा ?

गोयमा ! सिय सअड्ढे अमज्झे सपदेसे, सिय अणड्ढे समज्झे सपदेसे।

[१०-४ प्र] भगवन् ! क्या सख्यात-प्रदेशी स्कन्ध सार्ध, समध्य और सप्रदेश है, अथवा अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश है ?

[१०-४ उ] गौतम ! वह कदाचित् सार्ध होता है, अमध्य होता है, और सप्रदेश होता है, और कदाचित् अनर्ध होता है, समध्य होता है और सप्रदेश होता है।

[५] जहा सखेज्जपदेसिओ तहा असंखेज्जपदेसिओ वि अणतपदेसिओ वि।

[१०-५] जिस प्रकार सख्यातप्रदेशी स्कन्ध के विषय मे कहा गया है, उसी प्रकार असख्यात-प्रदेशी स्कन्ध और अनन्तप्रदेशी स्कन्ध के विषय मे भी जान लेना चाहिए।

विवेचन—परमाणुपुद्गल से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक के सार्ध, समध्य आदि एवं तद्विपरीत होने के विषय मे प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत सूत्रद्वय मे परमाणुपुद्गल आदि के सार्ध आदि होने, न होने के विषय मे प्रश्नोत्तर अकित है।

फलित निष्कर्ष—परमाणुपुद्गल अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश, होते है। परन्तु जो द्विप्रदेशी जैसे समसख्या (दो, चार, छह, आठ आदि सख्या) वाले स्कन्ध होते है वे सार्ध, अमध्य और सप्रदेश होते हैं, जबकि जो त्रिप्रदेशी जैसे विषम (तीन-पाच, सात, नौ आदि एकी) सख्या वाले स्कन्ध होते हैं वे अनर्ध, समध्य और सप्रदेश होते हैं। इसी प्रकार सख्यातप्रदेशी, असख्यातप्रदेशी और अनन्त-प्रदेशी स्कन्धो मे जो समसख्यकप्रदेशी होते है, वे सार्ध, अमध्य और सप्रदेशी होते है, और जो विषम-सख्यक-प्रदेशी होते है, वे अनर्द्ध, समध्य और सप्रदेश होते है।

सार्ध, समध्य, सप्रदेश, अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश—सअड्ढे=सार्ध, जिसका बराबर आधा भाग हो सके, **समज्झे**—मध्यसहित—जिसका मध्य भाग हो, **सप्पदेसे**=जो स्कन्ध प्रदेशयुक्त होता है। **अणड्ढे**=जो स्कन्ध अर्धरहित (अनर्द्ध) होता है, **अमज्झे**=जिस स्कन्ध के मध्य नही होता, और अप्रदेश—प्रदेशरहित।[1]

परमाणुपुद्गल-द्विप्रदेशी आदि स्कन्धों की परस्पर स्पर्शप्ररूपणा—

११ [१] परमाणुपोग्गले णं भंते! परमाणुपोग्गल फुसमाणे किं देसेण देस फुसति १? देसेण देसे फुसति २? देसेण सव्व फुसति ३? देसेहिं देसं फुसति ४? देसेहिं देसे फुसति ५? देसेहिं सव्व फुसति ६? सव्वेण देस फुसति ७? सव्वेण देसे फुसति ८? सव्वेण सव्व फुसति ९?

गोयमा! नो देसेण देस फुसति, नो देसेण देसे फुसति, नो देसेण सव्व फुसति, णो देसेहिं देसं फुसति, नो देसेहिं देसे फुसति, नो देसेहिं सव्वं फुसति, णो सव्वेणं देस फुसति, णो सव्वेण देसे फुसति, सव्वेणं सव्वं फुसति।

[११-१ प्र] भगवन्! परमाणुपुद्गल, परमाणुपुद्गल को स्पर्श करता हुआ १-क्या एक-देश से एकदेश को स्पर्श करता है?, २-एकदेश से बहुत देशो को स्पर्श करता है?, ३ अथवा एकदेश से सबको स्पर्श करता है?, ४ अथवा बहुत देशो से एकदेश को स्पर्श करता है?, ५ या बहुत देशो से बहुत देशो को स्पर्श करता है?, ६ अथवा बहुत देशो से सभी को स्पर्श करता है?, ७ अथवा सर्व से एकदेश को स्पर्श करता है?, ८ या सर्व से बहुत देशो को स्पर्श करता है?, अथवा ९ सर्व से सर्व को स्पर्श करता है?

[११-१ उ] गौतम! (परमाणुपुद्गल परमाणपुद्गल को) १ एकदेश से एकदेश को स्पर्श नही करता, २ एकदेश से बहुत देशो को स्पर्श नही करता, ३ एकदेश से सर्व को स्पर्श नही करता, ४ बहुत देशो से एकदेश को स्पर्श नही करता, ५ बहुत देशो से बहुत देशो को स्पर्श नही करता, ६ बहुत देशो से सभी को स्पर्श नही करता, ७ न सर्व से एकदेश को स्पर्श करता है, ८ न सर्व से बहुत देशो को स्पर्श करता है, अपितु ९ सर्व से सर्व को स्पर्श करता है।

---

१ भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक २३३

[९ उ] गौतम ! (परमाणुपुद्गल) अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश है, किन्तु, सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश नही है।

१० [१] दुपदेसिए ण भते ! खधे किं सअड्ढे समज्झे सपदेसे ? उदाहु अणड्ढे अमज्झे अपदेसे ?

गोयमा ! सअड्ढे अमज्झे, सपदेसे, णो अणड्ढे णो समज्झे णो अपदेसे ।

[१०-१ प्र] भगवन् ! क्या द्विप्रदेशिक स्कन्ध सार्ध, समध्य और सप्रदेश है, अथवा अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश है ?

[१०-१ उ] गौतम ! द्विप्रदेशी स्कन्ध सार्ध, अमध्य और सप्रदेश है, किन्तु अनर्ध, समध्य और अप्रदेश नही है।

[२] तिपदेसिए ण भ ते ! खधे ० पुच्छा ।

गोयमा ! अणड्ढे समज्झे सपदेसे, नो सअड्ढे णो अमज्झे णो अपदेसे ।

[१०-२ प्र] भगवन् ! क्या त्रिप्रदेशी स्कन्ध सार्ध, अमध्य और सप्रदेश है, अथवा अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश है।

[१०-२ उ] गौतम ! त्रिप्रदेशी स्कन्ध अनर्ध है, समध्य है और सप्रदेश है, किन्तु सार्ध नही है, अमध्य नही है, और अप्रदेश नही है।

[३] जहा दुपदेसिओ तहा जे समा ते भाणियव्वा । जे विसमा ते जहा तिपएसिओ तहा भाणियव्वा ।

[१०-३] जिस प्रकार द्विप्रदेशी स्कन्ध के विषय मे सार्ध आदि विभाग बतलाए गए है, उसी प्रकार समसख्या (बेकी की सख्या) वाले स्कन्धो के विषय मे कहना चाहिए। तथा विषमसख्या एकी—एक की सख्या) वाले स्कन्धो के विषय मे त्रिप्रदेशी स्कन्ध के विषय मे कहे गए अनुसार कहना चाहिए।

[४] सखेज्जपदेसिए णं भ ते ! खधे किं सअड्ढे ६, पुच्छा ?

गोयमा ! सिय सअड्ढे अमज्झे सपदेसे, सिय अणड्ढे समज्झे सपदेसे ।

[१०-४ प्र] भगवन् ! क्या सख्यात-प्रदेशी स्कन्ध सार्ध, समध्य और सप्रदेश है, अथवा अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश है ?

[१०-४ उ] गौतम ! वह कदाचित् सार्ध होता है, अमध्य होता है, और सप्रदेश होता है, और कदाचित् अनर्ध होता है, समध्य होता है और सप्रदेश होता है।

[५] जहा सखेज्जपदेसिओ तहा असंखेज्जपदेसिओ वि अणतपदेसिओ वि ।

[१०-५] जिस प्रकार सख्यातप्रदेशी स्कन्ध के विषय मे कहा गया है, उसी प्रकार असख्यात-प्रदेशी स्कन्ध और अनन्तप्रदेशी स्कन्ध के विषय मे भी जान लेना चाहिए।

[२] एवं परमाणुपोग्गले दुपदेसिय फुसमाणे सत्तम-णवमेहिं फुसति।

[११-२] इसी प्रकार द्विप्रदेशी स्कन्ध को स्पर्श करता हुआ परमाणु-पुद्गल सातवें (सर्व से एकदेश का) अथवा नौवे (सर्व से सर्व का), इन दो विकल्पो से स्पर्श करता है।

[३] परमाणुपोग्गले तिपदेसिय फुसमाणे निप्पच्छिमएहिं तिहिं फुसति।

[११-३] त्रिप्रदेशीस्कन्ध को स्पर्श करता हुआ परमाणुपुद्गल (उपर्युक्त नौ विकल्पो मे से) अन्तिम तीन विकल्पो (सातवे, आठवे और नौवे) से स्पर्श करता है। (अर्थात्-७-सर्व से एकदेश को, ८-सर्व से बहुत देशो को और ९-सर्व से सर्व को स्पर्श करता है।)

[४] जहा परमाणुपोग्गलो तिपदेसिय फुसाविओ एव फुसावेयव्वो जाव अणंतपदेसिओ।

[११-४] जिस प्रकार एक परमाणुपुद्गल द्वारा त्रिप्रदेशीस्कन्ध के स्पर्श करने का आलापक कहा गया है, उसी प्रकार एक परमाणुपुद्गल से चतुष्प्रदेशीस्कन्ध, पचप्रदेशी स्कन्ध यावत् सख्यात-प्रदेशी स्कन्ध, असख्यातप्रदेशीस्कन्ध एव अनन्तप्रदेशीस्कन्ध तक को स्पर्श करने का आलापक कहना चाहिए। (अर्थात्—एक परमाणुपुद्गल अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक को तीन विकल्पो से स्पर्श करता है।)

१२ [१] दुपदेसिए ण भते! खधे परमाणुपोग्गल फुसमाणे० पुच्छा?

ततिय-नवमेहिं फुसति।

[१२-१ प्र] भगवन्! द्विप्रदेशी स्कन्ध परमाणुपुद्गल को स्पर्श करता हुआ किस प्रकार स्पर्श करता है?

[१२-१ उ] हे गौतम! (द्विप्रदेशीस्कन्ध परमाणुपुद्गल को) तीसरे और नौवे विकल्प से (अर्थात्—एकदेश से सर्व को, तथा सर्व से सर्व को) स्पर्श करता है।

[२] दुपएसिओ दुपदेसिय फुसमाणो पढम-तइय-सत्तम-णवमेहिं फुसति।

[१२-२] द्विप्रदेशीस्कन्ध, द्विप्रदेशीस्कन्ध को स्पर्श करता हुआ पहले, तीसरे, सातवे और नौवे विकल्प से स्पर्श करता है।

[३] दुपएसिओ तिपदेसिय फुसमाणो आदिल्लएहि य पच्छिल्लएहि य तिहिं फुसति, मज्झिम-एहिं तिहिं वि पडिसेहेयव्व।

[१२-३] द्विप्रदेशीस्कन्ध, त्रिप्रदेशीस्कन्ध को स्पर्श करता हुआ आदिम तीन (प्रथम, द्वितीय और तृतीय) तथा अन्तिम तीन (सप्तम, अष्टम और नवम) विकल्पो से स्पर्श करता है। इसमे बीच के तीन (चतुर्थ, पचम और षष्ठ) विकल्पो को छोड देना चाहिए।

[४] दुपदेसिओ जहा तिपदेसिय फुसावितो एव फुसावेयव्वो जाव अणतपदेसिय।

[१२-४] जिस प्रकार द्विप्रदेशीस्कन्ध द्वारा त्रिप्रदेशीस्कन्ध के स्पर्श का आलापक कहा गया है, उसी प्रकार द्विप्रदेशीस्कन्ध द्वारा चतुष्प्रदेशीस्कन्ध, पचप्रदेशीस्कन्ध यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध के स्पर्श का आलापक कहना चाहिए ।

१३ [१] तिपदेसिए ण भ ते ! खधे परमाणुपोग्गल फुसमाणे० पुच्छा ।

ततिय-छट्ठ-नवमेहिं फुसति ।

[१३-१ प्र] भगवन् ! अब त्रिप्रदेशीस्कन्ध द्वारा परमाणुपुद्गल को स्पर्श करने के सम्बन्ध मे पृच्छा है ।

[१३-१ उ] गौतम ! त्रिप्रदेशीस्कन्ध परमाणुपुद्गल को तीसरे, छठे और नौवे विकल्प से, (अर्थात्—एकदेश से सर्व को, बहुत देशो से सर्व को और सर्व से सर्व को) स्पर्श करता है ।

[२] तिपदेसिओ दुपदेसिय फुसमाणो पढमएण ततियएण चउत्थ-छट्ठ-सत्तम-णवमेहिं फुसति ।

[१३-२] त्रिप्रदेशी स्कन्ध, द्विप्रदेशी स्कन्ध को स्पर्श करता हुआ पहले, तीसरे, चौथे, छठे, सातवें और नौवे विकल्प से स्पर्श करता है ।

[३] तिपदेसिओ तिपदेसिय फुसमाणो सव्वेसु वि ठाणेसु फुसति ।

[१३-३] त्रिप्रदेशीस्कन्ध को स्पर्श करता हुआ त्रिप्रदेशीस्कन्ध पूर्वोक्त सभी स्थानो (नौ ही विकल्पो) से स्पर्श करता है ।

[४] जहा तिपदेसिओ तिपदेसिय फुसावितो एव तिपदेसिओ जाव अणतपएसिएण सजोएयव्वो ।

[१३-४] जिस प्रकार त्रिप्रदेशीस्कन्ध द्वारा त्रिप्रदेशीस्कन्ध को स्पर्श करने के सम्बन्ध मे आलापक कहा गया है, उसी प्रकार त्रिप्रदेशीस्कन्ध द्वारा चतुष्प्रदेशी स्कन्ध, यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध को स्पर्श करने के सम्बन्ध मे आलापक कहना चाहिए ।

[५] जहा तिपदेसिओ एव जाव अणतपएसिओ भाणियव्वो ।

[१३-५] जिस प्रकार त्रिप्रदेशीस्कन्ध के द्वारा स्पर्श के सम्बन्ध मे (तेरहवे सूत्र के चार भागो मे) कहा गया है, वैसे ही (चतुष्प्रदेशी स्कन्ध से) यावत् (अनन्तप्रदेशीस्कन्ध द्वारा परमाणु-पुद्गल से लेकर) अनन्तप्रदेशीस्कन्ध तक को स्पर्श करने के सम्बन्ध मे कहना चाहिए ।

विवेचन—परमाणुपुद्गल, द्विप्रदेशीस्कन्ध आदि की परस्पर स्पर्श-सम्बन्धी प्ररूपणा— प्रस्तुत तीन सूत्रो द्वारा परमाणुपुद्गल से लेकर द्विप्रदेशीस्कन्ध, त्रिप्रदेशीस्कन्ध यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध के परस्पर स्पर्श की प्ररूपणा नौ विकल्पो मे से अमुक विकल्पो द्वारा की गई है ।

स्पर्श के नौ विकल्प—(१) एकदेश से एकदेश का स्पर्श, (२) एकदेश से बहुत देशो का स्पर्श, (३) एकदेश से सर्व का स्पर्श, (४) बहुत देशो से एक देश का स्पर्श, (५) बहुत देशो से बहुत देशो

का स्पर्श, (६) बहुत देशो से सर्व का स्पर्श, (७) सर्व से एकदेश का स्पर्श (८) सर्व से बहुत देशो का स्पर्श और (९) सर्व से सर्व का स्पर्श। देश का अर्थ यहाँ भाग है, और 'सर्व' का अर्थ है—सम्पूर्ण भाग।

सर्व से सर्व के स्पर्श की व्याख्या—सर्व से सर्व को स्पर्श करने का अर्थ यह नही है कि दो परमाणु परस्पर मिलकर एक हो जाते हैं, परन्तु इसका अर्थ यह है कि दो परमाणु समस्त स्वात्मा द्वारा परस्पर एक दूसरे का स्पर्श करते है, क्योकि दो परमाणुओ मे आधा आदि विभाग नही होते।

द्विप्रदेशी और त्रिप्रदेशी स्कन्ध मे अन्तर—द्विप्रदेशीस्कन्ध स्वय अवयवी है, वह किसी का अवयव नही है, इसलिए इसमे सर्व से दो (बहुत) देशो का स्पर्श घटित नही होता, जबकि त्रिप्रदेशी-स्कन्ध मे तीन प्रदेशो की अपेक्षा दो प्रदेशो का स्पर्श करते समय एक प्रदेश बाकी रहता है।[1]

द्रव्य-क्षेत्र-भावगत पुद्गलों का काल की अपेक्षा से निरूपण—

१४ [१] परमाणुपोग्गले ण भंते ! कालतो केवच्चिर होति ?

गोयमा ! जहन्नेण एग समय, उक्कोसेण असखेज्ज काल।

[१४-१ प्र] भगवन् ! परमाणुपुद्गल काल की अपेक्षा कब तक रहता है ?

[१४-१ उ] गौतम ! परमाणुपुद्गल (परमाणुपुद्गल के रूप मे) जघन्य (कम से कम) एक समय तक रहता है, और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) असख्यकाल तक रहता है।

[२] एव जाव अणतपदेसिओ।

[१४-२] इसी प्रकार (द्विप्रदेशीस्कन्ध से लेकर) यावत् अनन्तप्रदेशीस्कन्ध तक कहना चाहिए।

१५. [१] एगपदेसोगाढे ण भंते ! पोग्गले सेए तम्मि वा ठाणे अन्नम्मि वा ठाणे कालओ केवचिर होइ ?

गोयमा ! जहन्नेण एग समय, उक्कोसेण आवलियाए असखेज्जइभाग।

[१५-१ प्र] भगवन् ! एक आकाश-प्रदेशावगाढ (एक आकाशप्रदेश मे स्थित) पुद्गल उस (स्व)स्थान मे या अन्य स्थान मे काल की अपेक्षा से कब तक सकम्प (सैज) रहता है ?

[१५-१ उ] गौतम ! (एकप्रदेशावगाढ पुद्गल) जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट आवलिका के असख्येय भाग तक (उभय स्थानो मे) सकम्प रहता है।

[२] एव जाव असखेज्जपदेसोगाढे।

[१५-२] इसी तरह (द्विप्रदेशावगाढ से लेकर) यावत् असख्येय प्रदेशावगाढ तक कहना चाहिए।

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २३४

[३] एगपदेसोगाढे ण भते ! पोग्गले निरेए कालओ केवचिर होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समय, उक्कोसेण असखेज्ज काल ।

[१५-३ प्र] भगवन् ! एक आकाशप्रदेश मे अवगाढ पुद्गल काल की अपेक्षा से कब तक निष्कम्प (निरेज) रहता है ?

[१५-३ उ] गौतम ! (एक-प्रदेशावगाढ पुद्गल) जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) असख्येय काल तक निष्कम्प रहता है ।

[४] एव जाव असखेज्जपदेसोगाढे ।

[१५-४] इसी प्रकार (द्विप्रदेशावगाढ से लेकर) यावत् असख्येय प्रदेशावगाढ तक (के विषय मे कहना चाहिए ।)

१६ [१] एगगुणकालए ण भते ! पोग्गले कालतो केवचिर होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं एग समय, उक्कोसेण असखेज्ज कालं ।

[१६-१ प्र] भगवन् ! एकगुण काला पुद्गल काल की अपेक्षा से कब तक (एकगुण काला) रहता है ?

[१६-१ उ] गौतम ! जघन्यत एक समय तक और उत्कृष्टत असख्येयकाल तक (एक-गुण काला पुद्गल रहता है ।)

[२] एव जाव अणतगुणकालए ।

[१६-२] इसी प्रकार (द्विगुणकाले पुद्गल से लेकर) यावत् अनन्तगुणकाले पुद्गल का (पूर्वोक्त प्रकार से) कथन करना चाहिए ।

१७ एव वण्ण-गध-रस-फास० जाव अणतगुणलुक्खे ।

[१७] इसी प्रकार (एक गुण) वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले पुद्गल के विषय मे यावत् अनन्तगुण रूक्ष पुद्गल तक पूर्वोक्त प्रकार से काल की अपेक्षा से कथन करना चाहिए ।

१८ एव सुहुमपरिणए पोग्गले ।

[१८] इसी प्रकार सूक्ष्म-परिणत (सूक्ष्म-परिणामी) पुद्गल के सम्बन्ध मे कहना चाहिए ।

१९ एव बादरपरिणए पोग्गले ।

[१९] इसी प्रकार बादर-परिणत (स्थूल परिणाम वाले) पुद्गल के सम्बन्ध मे कहना चाहिए ।

२० सद्दपरिणते णं भते ! पुग्गले कालओ केवचिर होइ ?

गोयमा ! जहन्नेण एग समय, उक्कोसेण आवलियाए असखेज्जइभाग ।

[२० प्र) भगवन्! शब्दपरिणत पुद्गल काल की अपेक्षा से कब तक (शब्दपरिणत) रहता है ?

[२० उ] गौतम! शब्दपरिणतपुद्गल जघन्यत एक समय तक और उत्कृष्टत आवलिका के असख्येय भाग तक रहता है।

२१. असद्दपरिणते जहा एगगुणकालए।

[२१] जिस प्रकार एकगुण काले पुद्गल के विषय मे कहा है, उसी तरह अशब्दपरिणत पुद्गल (की कालावधि) के विषय मे (कहना चाहिए।)

विवेचन—द्रव्य-क्षेत्र-भावगत पुद्गलो का काल की अपेक्षा से निरूपण—प्रस्तुत आठ सूत्रो द्वारा शास्त्रकार ने द्रव्यगत, क्षेत्रगत, एव वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शभावगत पुद्गलो का काल की अपेक्षा से निरूपण किया है।

द्रव्य-क्षेत्र-भावगतपुद्गल—प्रस्तुत सूत्रो मे 'परमाणुपुद्गल' का उल्लेख करके द्रव्यगत पुद्गल की ओर, एकप्रदेशावगाढ आदि कथन करके क्षेत्रगतपुद्गल की ओर, तथा वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श गुणयुक्त, शब्दपरिणत-अशब्दपरिणत, सकम्प-निष्कम्प, एकगुणकृष्ण इत्यादि कथन से भावगत पुद्गल की ओर सकेत किया है। तथा इन सब प्रकार के विशिष्ट पुद्गलो का कालसम्बन्धी अर्थात् पुद्गलो की सस्थितिसम्बन्धी निरूपण है। कोई भी पुद्गल 'अनन्तप्रदेशावगाढ' नही होता, वह उत्कृष्ट असख्येयप्रदेशावगाढ होता है, क्योकि पुद्गल लोकाकाश मे ही रहते हैं और लोकाकाश के प्रदेश असख्यात ही है। इसी तरह परमाणुपुद्गल उत्कृष्ट असख्यातकाल तक रहता है, उसके पश्चात् पुद्गलो की एकरूप स्थिति नही रहती।[1]

विविध पुद्गलो का अन्तरकाल—

२२. परमाणुपोग्गलस्स ण भते अतर कालतो केवचिर होइ ?

गोयमा! जहन्नेण एग समय, उक्कोसेण असखेज्ज काल।

[२२ प्र] भगवन्! परमाणु-पुद्गल का काल की अपेक्षा से कितना लम्बा अन्तर होता है ? (अर्थात्—जो पुद्गल अभी परमाणुरूप है उसे अपना परमाणुपन छोडकर, स्कन्धादिरूप मे परिणत होने पर, पुन परमाणुपन प्राप्त करने मे कितने लम्बे काल का अन्तर होता है ?)

[२२ उ] गौतम! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट असख्येय काल का अन्तर होता है।

२३ [१] दुप्पदेसियस्स ण भते! खधस्स अतर कालओ केवचिर होइ ?

गोयमा! जहन्नेण एग समयं, उक्कोसेण अणत काल।

[२२-१ प्र] भगवन्! द्विप्रदेशिक स्कन्ध का काल की अपेक्षा से कितना लम्बा अन्तर होता है ?

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २३५

[२३-१ उ] गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्टत अनन्तकाल का अन्तर होता है ?

[२] एव जाव अणतपदेसिओ ।

[२३-२] इसी तरह (त्रिप्रदेशिकस्कन्ध से लेकर) यावत् अनन्तप्रदेशिकस्कन्ध तक कहना चाहिए ।

२४ [१] एगपदेसोगाढस्स ण भते ! पोग्गलस्स सेयस्स अतर कालतो केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेण एगं समयं, उक्कोसेण असंखेज्ज काल ।

[२४-१ प्र] भगवन् ! एकप्रदेशावगाढ सकम्प पुद्गल का अन्तर कितने काल का होता है ? (अर्थात्—एक आकाश-प्रदेश मे स्थित सकम्प पुद्गल अपना कम्पन वद करे, तो उसे पुन कम्पन करने मे—सकम्प होने मे—कितना समय लगता है ?)

[२४-१ उ] हे गौतम ! जघन्यत एक समय का, और उत्कृष्टत असख्येयकाल का अन्तर होता है। (अर्थात्—वह पुद्गल जब कम्पन करता रुक जाए—अकम्प अवस्था को प्राप्त हो और फिर कम्पन प्रारम्भ करे—सकम्प बने तो उसका अन्तर कम से कम एक समय और अधिक से अधिक असख्यात काल का है ।)

[२] एवं जाव असखेज्जपदेसोगाढे ।

[२४-२] इसी तरह (द्विप्रदेशावगाढ सकम्प पुद्गल से लेकर) यावत् असख्यप्रदेशावगाढ तक का अन्तर कहना चाहिए ।

२५ [१] एगपदेसोगाढस्स णं भते ! पोग्गलस्स निरेयस्स अतर कालतो केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेण एग समयं, उक्कोसेण आवलियाए असखेज्जइभागं ।

[२५-१ प्र] भगवन् ! एकप्रदेशावगाढ निष्कम्प पुद्गल का अन्तर कालत कितने काल का होता है ?

[२५-१ उ] गौतम ! जघन्यत एक समय का और उत्कृष्टत आवलिका के असख्येय भाग का अन्तर होता है ।

[२] एव जाव असखेज्जपएसोगाढे ।

[२५-२] इसी तरह (द्विप्रदेशावगाढ निष्कम्प पुद्गल से लेकर) यावत् असख्येयप्रदेशावगाढ तक कहना चाहिए ।

२६ वण्ण-गध-रस-फास-सुहुमपरिणय-बादरपरिणयाण एतेसिं ज च्चेव सचिट्ठणा त चेव अतर पि भाणियव्व ।

[२६] वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शगत, सूक्ष्म-परिणत एव बादरपरिणत पुद्गलो का जो सस्थितिकाल (सचिट्ठणाकाल) कहा गया है, वही उनका अन्तरकाल समझना चाहिए ।

२७ सद्दपरिणयस्स ण भते ! पोग्गलस्स अतर कालतो केवचिर होइ ?

गोयमा ! जहन्नेण एग समय, उक्कोसेण असखेज्ज कालं ।

[२७ प्र] भगवन् ! शब्दपरिणत पुद्गल का अन्तर काल की अपेक्षा कितने काल का होता है ?

[२७ उ] गौतम ! जघन्य एक समय का उत्कृष्टत असख्येय काल का अन्तर होता है ।

२८ असद्दपरिणयस्स ण भते ! पोग्गलस्स अतर कालओ केवचिर होइ ?

गोयमा ! जहण्णेण एग समय, उक्कोसेण आवलियाए असखेज्जइभाग ।

[२८ प्र] भगवन् ! अशब्दपरिणत पुद्गल का अन्तर कालत. कितने काल का होता है ?

[२८ उ] गौतम ! जघन्य एक समय का और उत्कृष्टत आवलिका के असख्येय भाग का अन्तर होता है ।

विवेचन—विविध पुद्गलो का अन्तर-काल—प्रस्तुत सात (सू २२ से २८ तक) सूत्रो मे परमाणुपुद्गल, द्विप्रदेशीस्कन्ध से लेकर अनन्तप्रदेशी तक के सामान्य अन्तर-काल तथा सकम्प, निष्कम्प वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-सूक्ष्म-बादरपरिणत एव शब्दपरिणत-अशब्दपरिणत के विशिष्ट अन्तर काल का निरूपण किया गया है ।

अन्तरकाल की व्याख्या—एक विशिष्ट पुद्गल अपना वह वैशिष्ट्य छोड कर दूसरे रूप मे परिणत हो जाने पर फिर वापस उसी भूतपूर्व विशिष्टरूप को जितने काल बाद प्राप्त् करता है, उसे ही अन्तरकाल कहते हैं ।[1]

क्षेत्रादि-स्थानायु का अल्प-बहुत्व—

२९ एयस्स ण भते ! दव्वट्ठाणाउयस्स खेत्तट्ठाणाउयस्स ओगाहणट्ठाणाउयस्स भावट्ठाणाउयस्स कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवे खेत्तट्ठाणाउए, ओगाहणट्ठाणाउए असखेज्जगुणे, दव्वट्ठाणाउए असखेज्जगुणे, भावट्ठाणाउए असखेज्जगुणे ।

खेत्तोगाहण-दव्वे भावट्ठाणाउय च अप्पबहु ।
खेत्ते सव्वत्थोवे सेसा ठाणा असखगुणा ॥१॥

[२९ प्र] भगवन् ! इन द्रव्यस्थानायु, क्षेत्रस्थानायु, अवगाहनास्थानायु और भावस्थानायु, इन सबमे कौन किससे कम, अधिक, तुल्य और विशेषाधिक है ?

[२९ उ] गौतम ! सबसे कम क्षेत्रस्थानायु है, उससे अवगाहनास्थानायु असख्येयगुणा है, उससे द्रव्य-स्थानायु असख्येगुणा है और उससे भावस्थानायु असख्येयगुणा है ।

---

१ भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक २३५

गाथा का भावार्थ—क्षेत्रस्थानायु, अवगाहना-स्थानायु, द्रव्यस्थानायु और भावस्थानायु, इनका अल्प-बहुत्व कहना चाहिए। इनमे क्षेत्रस्थानायु सबसे अल्प है, शेप तीन स्थानायु क्रमश असख्येयगुणा है।

विवेचन—क्षेत्रादिस्थानायु का अल्पबहुत्व—प्रस्तुत सूत्र और तदनुरूप गाथा मे क्षेत्र, अवगाहना, द्रव्य और भावरूप स्थानायु के अल्प-बहुत्व की प्ररूपणा की गई है।

द्रव्य-स्थानायु आदि का स्वरूप—पुद्गल द्रव्य का स्थान—यानी परमाणु, द्विप्रदेशिकादि स्कन्ध आदि रूप मे अवस्थान की आयु अर्थात् स्थिति (रहना) द्रव्यस्थानायु है। एकप्रदेशादि क्षेत्र मे पुद्गलो के अवस्थान को क्षेत्रस्थानायु कहते हैं। इसी प्रकार पुद्गलो के आधार-स्थलरूप एक प्रकार का आकार अवगाहना है, इस अवगाहित किये हुए परिमित क्षेत्र मे पुद्गलो का रहना अवगाहना-स्थानायु कहलाता है। द्रव्य के विभिन्न रूपो मे परिवर्तित होने पर भी द्रव्य के आश्रित गुणो का जो अवस्थान रहता है, उसे भावस्थानायु कहते है।[1]

द्रव्यस्थानायु आदि के अल्प-बहुत्व का रहस्य—द्रव्यस्थानायु आदि चारो मे क्षेत्र अमूर्तिक होने से तथा उसके साथ पुद्गलो के बध का कारण 'स्निग्धत्व' न होने से पुद्गलो का क्षेत्रावस्थान-काल (अर्थात्—क्षेत्रस्थानायु) सबसे थोडा बताया गया है। एक क्षेत्र मे रहा हुआ पुद्गल दूसरे क्षेत्र मे चला जाता है, तब भी उसकी अवगाहना वही रहती है, इसलिए क्षेत्रस्थानायु की अपेक्षा अवगाहनास्थानायु असख्यगुणा है। सकोच-विकासरूप अवगाहना की निवृत्ति हो जाने पर भी द्रव्य दीर्घकाल तक रहता है, इसलिए अवगाहना-स्थानायु की अपेक्षा द्रव्यस्थानायु असख्यगुणा है। द्रव्य की निवृत्ति, या अन्यरूप मे परिणति होने पर द्रव्य मे बहुत से गुणो की स्थिति चिरकाल तक रहती है, सब गुणो का नाश नही होता, अनेक गुण अवस्थित रहते है, इसलिए द्रव्यस्थानायु की अपेक्षा भावस्थानायु असख्यगुणा है।[2]

चौबीस दण्डको के जीवो के आरम्भ-परिग्रहयुक्त होने की सहेतुक प्ररूपणा—

३०. [१] नेरइया ण भते ! किं सारभा सपरिग्गहा ? उदाहु अणारंभा अपरिग्गहा ?

गोयमा ! नेरइया सारभा सपरिग्गहा, नो अणारभा णो अपरिग्गहा।

[३०-१ प्र] भगवन् ! क्या नैरयिक आरम्भ और परिग्रह से सहित होते है, अथवा अनारम्भी एव अपरिग्रही होते हैं ?

[३०-१ उ] गौतम ! नैरयिक सारम्भ एव सपरिग्रह होते है, किन्तु अनारम्भी एव अपरिग्रही नही होते।

[२] से केणट्ठेण जाव अपरिग्गहा ?

गोयमा ! नेरइया ण पुढविकाय समारभति जाव तसकाय समारभति, सरीरा परिग्गहिया भवति, कम्मा परिग्गहिया भवति, सचित्त-अचित्त-मीसयाइं दव्वाइ परिग्गहियाइ भवति; से तेणट्ठेण त चेव।

---

१ (क) भगवती अ वृत्ति, पत्राक २३६ (ख) भगवती० हिंदी विवेचन, भा २, पृ ८८३-८८४

२ (क) भगवती अ वृत्ति, पत्राक, २३६-२३७ (ख) भगवती० हिन्दी विवेचन, भा २, पृ ८८४
(ग) 'स्निग्धरूक्षत्वाद् वन्ध'—तत्त्वार्थसूत्र अ ५, सू ३२

[३०-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से वे आरम्भयुक्त एव परिग्रह-सहित होते है, किन्तु अनारम्भी एव अपरिग्रही नही होते ।

[३०-२ उ] गौतम ! नैरयिक पृथ्वीकाय का समारम्भ करते है, यावत् त्रसकाय का समारम्भ करते हैं, (इसलिए वे आरम्भयुक्त है) तथा उन्होने शरीर परिगृहीत किये (ममत्वरूप से ग्रहण किये—अपनाए) हुए है, कर्म (ज्ञानावरणीयादिकर्मवर्गणा के पुद्गलरूप द्रव्यकर्म तथा रागद्वेषादि-रूप भावकम) परिगृहीत किये हुए है, और, सचित्त अचित्त एव मिश्र द्रव्य परिगृहीत किये (ममत्वपूर्वक ग्रहण किये) हुए है, इस कारण से हे गौतम ! नैरयिक परिग्रहसहित है, किन्तु अनारम्भी और अपरिग्रही नही है ।

३१. [१] असुरकुमारा ण भते ! किं सारभा सपरिग्गहा ? उदाहु अणारभा अपरिग्गहा ?

गोयमा ! असुरकुमारा सारभा सपरिग्गहा, नो अणारभा अपरिग्गहा ।

[३१-१ प्र] भगवन् ! असुरकुमार क्या आरम्भयुक्त एव परिग्रह-सहित होते है, अथवा अनारम्भी एव अपरिग्रही होते है ?

[३१-१ उ] गौतम ! असुरकुमार भी सारम्भ एव सपरिग्रह होते है, किन्तु अनारम्भी एव अपरिग्रही नही होते ।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोयमा ! असुरकुमारा ण पुढविकाय समारभति जाव तसकाय समारंभति, सरीरा परिग्गहिया भवति, कम्मा परिग्गहिया भवति, भवणा परि० भवति, देवा देवीओ मणुस्सा मणुस्सीओ तिरिक्खजोणिया तिरिक्खजोणिणीओ परिग्गहियाओ भवति, आसण-सयण-भडमत्तोवगरणा परिग्गहिया भवति, सचित्त-अचित्त-मीसयाइ दव्वाइ परिग्गहियाइ भवति, से तेणट्ठेण तहेव ।

[३१-२ प्र] भगवन् ! असुरकुमार किस कारण से सारम्भ एव सपरिग्रह होते हैं, किन्तु अनारम्भी एव अपरिग्रही नही होते ?

[३१-२ उ] गौतम ! असुरकुमार पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक का समारम्भ करते है, तथा उन्होने शरीर परिगृहीत किये हुए है, कर्म परिगृहीत किये हुए हैं, भवन परिगृहीत (ममत्वपूर्वक ग्रहण) किये हुए हैं, वे देव-देवियो, मनुष्य पुरुष-स्त्रियो, तिर्यञ्च नर-मादाओ को परिगृहीत किये हुए हैं, तथा वे आसन, शयन, भाण्ड (मिट्टी के बर्तन या अन्य सामान) मात्रक (बर्तन—कासी आदि धातुओ के पात्र), एव विविध उपकरण (कडाही, कुडछी आदि) परिगृहीत किये (ममतापूर्वक सग्रह किये) हुए है, एव सचित्त, अचित्त तथा मिश्र द्रव्य परिगृहीत किये हुए हैं । इस कारण से वे आरम्भ-युक्त एव परिग्रहसहित हैं, किन्तु अनारम्भी और अपरिग्रही नही है ।

[३] एव जाव थणियकुमारा ।

[३१-३] इसी प्रकार (नागकुमार से लेकर) यावत् स्तनितकुमार तक कहना चाहिए ।

३२ एगिंदिया जहा नेरइया ।

[३२] जिस तरह नैरयिको के (सारम्भ-सपरिग्रह होने के) विषय मे कहा है, उसी तरह (पृथ्वीकायादि) एकेन्द्रियो के विषय मे कहना चाहिए।

३३ [१] बेइंदिया ण भंते ! किं सारंभा सपरिग्गहा० ?

त चेव जाव सरीरा परिग्गहिया भवंति, बाहिरिया भंडमत्तोवगरणा परि० भवंति, सचित्त-अचित्त० जाव भवंति।

[३३-१ प्र] भगवन्! द्वीन्द्रिय जीव क्या सारम्भ-सपरिग्रह होते है, अथवा अनारम्भी एव अपरिग्रही होते हैं ?

[३३-१ उ.] गौतम! द्वीन्द्रिय जीव भी आरम्भ-परिग्रह से युक्त है, वे अनारम्भी-अपरिगृही नही हैं, इसका कारण भी वही पूर्वोक्त है। (वे षट्काय का आरम्भ करते है) तथा यावत् उन्होने शरीर परिगृहीत किये हुए हैं, उनके बाह्य भाण्ड (मिट्टी के बर्तन), मात्रक (कासे आदि धातुओ के पात्र) तथा विविध उपकरण परिगृहीत किये हुए होते है, एव सचित्त, अचित्त तथा मिश्र द्रव्य भी परिगृहीत किये हुए होते है। इसलिए वे यावत् अनारम्भी, अपरिग्रही नही होते।

[२] एव जाव चउरिंदिया।

[३३-२] इसी प्रकार त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवो के विषय मे कहना चाहिए।

३४. पंचिंदियतिरिक्खजोणिया ण भंते ?

त चेव जाव कम्मा परिग्गहिया भवंति, टंका कूडा सेला सिहरी पब्भारा परिग्गहिया भवंति, जल-थल-बिल-गुह-लेणा परिग्गहिया भवंति, उज्झर-निज्झर-चिल्लल-पल्लल-वप्पिणा परिग्गहिया भवंति, अगड-तडाग-दह-नदीओ वावि-पुक्खरिणी-दीहिया गुंजालिया सरा सरपंतियाओ सरसर-पंतियाओ बिलपंतियाओ परिग्गहियाओ भवंति, आराम उज्जाणा काणणा वणाइं वणसंडाइं वणराईओ परिग्गहियाओ भवंति, देवउल-सभा-पवा-थूभा खातिय-परिखाओ परिग्गहियाओ भवंति, पागा-रट्टालग-चरिया-दार-गोपुरा परिग्गहिया भवंति, पासाद-घर-सरण-लेण-आवणा परिग्गहिता भवंति, सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापहा परिग्गहिया भवंति, सगड-रह-जाण-जुग्ग-गिल्लि-थिल्लि-सीय-संदमाणियाओ परिग्गहियाओ भवंति, लोही-लोहकडाह-कडच्छुया परिग्गहिया भवंति भवणा परिग्गहिया भवंति, देवा देवीओ मणुस्सा चित्ताचित्त मणुस्सीओ तिरिक्खजोणिया तिरिक्खजो-णिणीओ आसण-सयण-खंभ-भंड-सचित्ताचित्त-मीसयाइं दव्वाइं परिग्गहियाइं भवंति; से तेणट्ठेणं०।

[३४ प्र] भगवन्! पञ्चेन्द्रिय तिर्यंग्योनिक जीव क्या आरम्भ-परिग्रहयुक्त है, अथवा आरम्भ-परिग्रहरहित है ?

[३४ उ] गौतम! पञ्चेन्द्रिय तिर्यंग्योनिक जीव, आरम्भ-परिग्रह-युक्त है, किन्तु आरम्भ-परिग्रहरहित नही है, क्योकि उन्होने शरीर यावत् कर्म परिगृहीत किये है। तथा उनके टंक (पर्वत से विच्छिन्न टुकडा), कूट (शिखर अथवा उनके हाथी आदि को बाधने के स्थान), शैल (मुण्ड-

पर्वत), शिखरी (चोटी वाले पर्वत), एव प्राग्भार (थोडे से झुके पर्वत के प्रदेश) परिगृहीत (ममतापूर्वक ग्रहण किये हुए) होते हैं। इसी प्रकार जल, स्थल, बिल, गुफा, लयन (पहाड खोद कर बनाए हुए पर्वतगृह) भी परिगृहीत होते है। उनके द्वारा उज्झर (पर्वततट से नीचे गिरने वाला जलप्रपात), निर्झर (पर्वत से बहने वाला जलस्रोत—झरना), चिल्लल (कीचड मिला हुआ पानी या जलाशय), पल्लल (प्रल्हाददायक जलाशय) तथा वप्रीग (क्यारियो वाला जलस्थान अथवा तटप्रदेश) परिगृहीत होते हैं। उनके द्वारा कूप, तडाग (तालाब), द्रह (झील या जलाशय), नदी, वापी (चोकोन बावडी), पुष्करिणी (गोल बावडी या कमलो से युक्त बावडी), दीर्घिका (हौज या लम्बी बावडी), सरोवर, सर-पक्ति (सरोवरश्रेणी), सरसरपक्ति (एक सरोवर से दूसरे सरोवर मे पानी जाने का नाला), एव बिलपक्ति (बिलो की श्रेणी) परिगृहीत होते है। तथा आराम (लतामण्डप आदि से सुशोभित परिवार के आमोद-प्रमोद का स्थान), उद्यान (सार्वजनिक बगीचा), कानन (सामान्य वृक्षो से युक्त ग्राम के निकट-वर्ती वन), वन (गाँव से दूर स्थित जगल), वनखण्ड (एक ही जाति के वृक्षो से युक्त वन), वनराजि (वृक्षो की पक्ति), ये सब परिगृहीत किये हुए होते है। फिर देवकुल (देवमन्दिर), सभा, आश्रम, प्रपा (प्याऊ), स्तूभ (खम्भा या स्तूप), खाई, परिखा (ऊपर और नीचे समान खोदी हुई खाई), ये भी परिगृहीत की होती हैं, तथा प्राकार (किला), अट्टालक (अटारी), या किले पर बनाया हुआ मकान अथवा झरोखा), चरिका (घर और किले के बीच मे हाथी आदि के जाने का मार्ग), द्वार, गोपुर (नगरद्वार), ये सब परिगृहीत किये होते हैं। इनके द्वारा प्रासाद (देवभवन या राजमहल), घर, सरण (झोपडा), लयन (पर्वतगृह), आपण (दुकान) परिगृहीत किये जाते हैं। शृ गाटक (सिंघाडे के आकार का △ त्रिकोण मार्ग), त्रिक (तीन मार्ग मिलते है, ऐसा स्थान), चतुष्क (चौक—जहाँ चार मार्ग □ मिलते हैं), चत्वर (जहाँ सब मार्ग मिलते हो ऐसा स्थान, या आगन), चतुर्मुख (चार द्वारो वाला मकान या देवालय), महापथ (राजमार्ग या चौडी सडक) परिग्रहीत होते हैं। शकट (गाडी), रथ, यान (सवारी या वाहन), युग्य (युगल हाथ प्रमाण एक प्रकार की पालखी), गिल्ली (अम्बाडी), थिल्ली (घोडे का पलान-काठी), शिविका (पालखी या डोली), स्यन्दमानिका (म्याना या सुखपालकी) आदि परिगृहीत किये होते हैं। लौही (लोहे की दाल-भात पकाने की देगची या बटलोई), लोहे की कडाही, कुडछी आदि चीजे परिग्रहरूप मे गृहीत होती है। इनके द्वारा भवन (भवनपति देवो के निवासस्थान) भी परिगृहीत होते है। (इनके अतिरिक्त) देवदेवियाँ, मनुष्यनर-नारियाँ, एव तिर्यंच नर-मादाएँ, आसन, शयन, खण्ड (टुकडा), भाण्ड (बर्तन या किराने का सामान) एव सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य परिगृहीत होते है। इस कारण से ये पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीव आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं, किन्तु अनारम्भी—अपरिग्रही नही होते।

३५ जहा तिरिक्खजोणिया तहा मणुस्सा वि भाणियव्वा।

[३५] जिस प्रकार तिर्यञ्चपञ्चेन्द्रिय जीवो के (सारम्भ सपरिग्रह होने के) विषय मे कहा, उसी प्रकार मनुष्यो के विषय मे भी कहना चाहिए।

३६ वाणमतर-जोतिस-वेमाणिया जहा भवणवासी तहा नेयव्वा।

[३६] जिस प्रकार भवनवासी देवो के विषय मे कहा, वैसे ही वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो के (आरम्भ-परिग्रहयुक्त होने के) विषय मे (सहेतुक) कहना चाहिए।

विवेचन—चौबीस दण्डको के जीवो के आरम्भपरिग्रहयुक्त होने की सहेतुक प्ररूपणा— प्रस्तुत सात सूत्रो (सू ३० से ३६ तक) मे नारको से लेकर वैमानिक तक चौवीस ही दण्डको के जीवो के आरम्भ-परिग्रहयुक्त होने की कारणसहित प्ररूपणा विविध प्रश्नोत्तरो द्वारा की गई है।

आरम्भ और परिग्रह का स्वरूप—आरम्भ का अर्थ है—वह प्रवृत्ति जिससे किसी भी जीव का उपमर्दन—प्राणहनन होता हो। और परिग्रह का अर्थ है—किसी भी वस्तु या भाव का ममता-मूर्च्छापूर्वक ग्रहण या सग्रह। यद्यपि एकेन्द्रिय आदि जीव आरम्भ करते या परिग्रहयुक्त होते दिखाई नही देते, तथापि जब तक जीव द्वारा मन-वचन-काया से—स्वेच्छा से आरम्भ एव परिग्रह का प्रत्याख्यान (त्याग) नही किया जाता, तब तक आरम्भ और परिग्रह का दोप लगता ही है, इसलिए उन्हे आरम्भ-परिग्रहयुक्त कहा गया है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय प्राणियो के भी सिद्धान्तानुसार शरीर, कर्म एव कुछ सम्बन्धित उपकरणो का परिग्रह होता है, और उनके द्वारा अपने खाद्य, शरीररक्षा आदि कारणो से आरम्भ भी होता है। तिर्यचपचेन्द्रिय जीवो, मनुष्यो, नारको, तथा समस्त प्रकार के देवो के द्वारा आरम्भ और परिग्रह मे लिप्तता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि मनुष्यो मे वीतराग पुरुष, केवली, तथा निर्ग्रन्थ साधुसाध्वी आरम्भ-परिग्रह से मुक्त होते हैं, किन्तु यहाँ समग्र मनुष्यजाति की अपेक्षा से मनुष्य को सारम्भ-सपरिग्रह बताया गया है।[1]

विविध अपेक्षाओ से पांच हेतु-अहेतुओ का निरूपण—

३७ पच हेतू पण्णत्ता, तं जहा—हेतु जाणति, हेतु पासति, हेतु बुज्झति, हेतु अभिसमागच्छति, हेतु छउमत्थमरण मरति।

[३७] पाँच हेतु कहे गए हैं, वे इस प्रकार है—(१) हेतु को जानता है, (२) हेतु को देखता (सामान्यरूप से जानता) है, (३) हेतु का बोध प्राप्त करता—तात्त्विक श्रद्धान करता है, (४) हेतु का अभिसमागम—अभिमुख होकर सम्यक् रूप से प्राप्त—करता है, और (५) हेतुयुक्त छद्मस्थमरणपूर्वक मरता है।

३८ पच हेतू पण्णत्ता, त जहा—हेतुणा जाणति जाव हेतुणा छउमत्थमरण मरति।

[३८] पाँच हेतु (प्रकारान्तर से) कहे गए हैं। वे इस प्रकार—(१) हेतु (अनुमान) द्वारा (अनुमेय को) सम्यक् जानता है, (२) हेतु (अनुमान) से देखता (सामान्य ज्ञान करता) है, (३) हेतु द्वारा (वस्तु-तत्त्व को सम्यक् जानकर) श्रद्धा करता है, (४) हेतु द्वारा सम्यक्तया प्राप्त करता है, और (५) हेतु (अध्यवसायादि) से छद्मस्थमरण मरता है।

३९ पच हेतू पण्णत्ता, त जहा—हेतु न जाणइ जाव हेतु अण्णाणमरण मरति।

[३९] पाँच हेतु (मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से) कहे गए है। यथा—(१) हेतु को नही जानता, (२) हेतु को नही देखता (३) हेतु की बोधप्राप्ति (श्रद्धा) नही करता, (४) हेतु को प्राप्त नही करता, और (५) हेतुयुक्त अज्ञानमरण मरता है।

---

१ (क) भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक २३८

(ख) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा १, पृ २१६ से २१८ तक

४० पच हेतू पण्णत्ता, त जहा—हेतुणा ण जाणति जाव हेतुणा अण्णाणमरण मरति ।

[४०] पाँच हेतु कहे गए है । यथा—(१) हेतु से नही जानता, यावत् (५) हेतु से अज्ञान-मरण मरता है ।

४१ पच अहेऊ पण्णत्ता, त जहा—अहेउ जाणइ जाव अहेउ केवलिमरण मरति ।

[४१] पाच अहेतु कहे गए हैं—(१) अहेतु को जानता है, यावत् (५) अहेतुयुक्त केवलि-मरण मरता है ।

४२ पच अहेऊ पण्णत्ता, त जहा—अहेउणा जाणइ जाव अहेउणा केवलिमरण मरइ ।

[४२] पाच अहेतु कहे गए है—(१) अहेतु द्वारा जानता है, यावत् (५) अहेतु द्वारा केवलि-मरण मरता है ।

४३ पच अहेऊ पण्णत्ता, त जहा—अहेउ न जाणइ जाव अहेउ छउमत्थमरण मरइ ।

[४३] पाच अहेतु कहे गए हैं—(१) अहेतु को नही जानता, यावत् (५) अहेतुयुक्त छद्मस्थ-मरण मरता है ।

४४ पच अहेऊ पण्णत्ता, त जहा—अहेउणा न जाणइ जाव अहेउणा छउमत्थमरण मरइ ।

सेव भते ! सेवं भते ! त्ति० ।

॥ पचमसए : सत्तमो उद्देसओ समत्तो ॥

[४४] पाच अहेतु कहे गए हैं—(१) अहेतु से नही जानता, यावत् (५) अहेतु से छद्मस्थ-मरण मरता है ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कह कर यावत् श्री-गौतमस्वामी विचरण करते हैं ।

विवेचन—विविध अपेक्षाओ से पांच हेतु-अहेतुओ का निरूपण—प्रस्तुत आठ सूत्रो (सू ३७ से ४४) द्वारा शास्त्रकार ने भिन्न-भिन्न दृष्टियो से, तथा विभिन्न क्रियाओ की अपेक्षा से पाच प्रकार के हेतुओ और पाच प्रकार के अहेतुओ का तात्त्विक निरूपण किया है ।

हेतु-अहेतु विषयक सूत्रो का रहस्य—प्रस्तुत आठ सूत्र, हेतु को, हेतु द्वारा, अहेतु को, अहेतु द्वारा इत्यादि रूप से कहे गए हैं । इनमे से प्रारम्भ के चार सूत्र छद्मस्थ की अपेक्षा से और बाद के ४ सूत्र केवली की अपेक्षा से कहे गए हैं । पहले के चार सूत्रो मे से पहला-दूसरा सूत्र सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ की अपेक्षा से और तीसरा-चौथा सूत्र मिथ्यादृष्टि छद्मस्थ की अपेक्षा से है । इन दो-दो सूत्रो मे अन्तर यह है कि प्रथम दो प्रकार के व्यक्ति छद्मस्थ होने से साध्य का निश्चय करने के लिए साध्य से अविनाभूत कारण—हेतु को अथवा हेतु से सम्यक् जानते हैं, देखते हैं, श्रद्धा करते है, साध्यसिद्धि के लिए सम्यक् हेतु प्रयोग करके वस्तुतत्त्व प्राप्त करते है, और सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ का मरण हेतुपूर्वक या हेतु से समझ कर होता है, अज्ञानमरण नही होता, जबकि आगे के दो

सूत्रो मे मिथ्यादृष्टि छद्मस्थ हेतु को सम्यक्तया नही जानता-देखता, न ही सम्यक् श्रद्धा करता है, न वह हेतु का सम्यक् प्रयोग करके वस्तुतत्त्व को प्राप्त करता हे और मिथ्यादृष्टि छद्मस्थ होने के नाते सम्यग्ज्ञान न होने से अज्ञानमरणपूर्वक मरता है। इमी प्रकार मिथ्यादृष्टि छद्मम्थ हेतु द्वारा सम्यक् ज्ञान और दर्शन नही कर पाता, न ही हेतु से सम्यक् श्रद्धा करता है, न हेतु के प्रयोग से वस्तुतत्त्व का निश्चय कर पाता है, तथा हेतु का प्रयोग गलत करने से अज्ञानमरणपूर्वक ही मृत्यु प्राप्त करता है। इसके पश्चात्—पिछले चार सूत्रो मे से दो सूत्रो मे केवलज्ञानी की अपेक्षा से कहा गया है कि केवलज्ञानियो को सकलप्रत्यक्ष होने से उन्हे हेतु की अथवा हेतु द्वारा जानने (अनुमान करने) की आवश्यकता नही रहती। केवलज्ञानी स्वय 'अहेतु' कहलाते है। अत अहेतु से ही वे जानते-देखते है, अहेतुप्रयोग से ही वे क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते है, इसलिए पूर्ण श्रद्धा करते हैं, वस्तुतत्त्व का निश्चय भी अहेतु से करते है, और अहेतु से यानी बिना किसी उपक्रम—हेतु से नही मरते, वे निरुपक्रमी होने से किसी भी निमित्त से मृत्यु नही पाते। इसलिए अहेतु केवलिमरण है उनका।

सातवा और आठवा सूत्र अवधिज्ञानी मन पर्यायज्ञानी छद्मस्थ की अपेक्षा से है—वे अहेतु व्यवहार करने वाले जीव सर्वथा अहेतु से नही जानते, अपितु कथचित् जानते है, कथचित् नही—जानते-देखते। अध्यवसानादि उपक्रमकारण न होने से अहेतुमरण, किन्तु छद्मस्थमरण (केवलिमरण नही) होता है।[1]

इन आठ सूत्रो के विषय मे वृत्तिकार अभयदेवसूरि स्वय कहते है—कि "हमने अपनी समझ के अनुसार इन हेतुओ का शब्दश अर्थ कर दिया है, इनका वास्तविक भावार्थ बहुश्रुत ही जानते है।"

॥ पचम शतक सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

---

१२ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २३९

(ख) 'गमनिकामात्रमेवेदम् अष्टानामपि सूत्राणाम्, भावार्थं तु बहुश्रुता विदन्ति।'

—भ अ वृत्ति, पत्राक २३९

अट्ठमो उद्देसओ : नियंठ

अष्टम उद्देशक : निर्ग्रन्थ

पुद्गलो की द्रव्यादि की अपेक्षा सप्रदेशता-अप्रदेशता आदि के सम्बन्ध मे निर्ग्रन्थीपुत्र और नारदपुत्र की चर्चा—

१ तेण कालेण तेण समएण जाव परिसा पडिगता। तेण कालेण तेण समएण समणस्स भगवओ महावीरस्स अतेवासी नारयपुत्ते नाम अणगारे पगतिभद्दए जाव[1] विहरति।

[१] उस काल और उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर पधारे। परिषद् दर्शन के लिये गई, यावत् धर्मोपदेश श्रवण कर वापस लौट गई। उस काल और उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के अन्तेवासी (शिष्य) नारदपुत्र नाम के अनगार थे। वे प्रकृतिभद्र थे यावत् आत्मा को भावित करते विचरते थे।

२ तेण कालेण तेण समएण समणस्स भगवओ महावीरस्स अतेवासी नियठिपुत्ते णाम अणगारे पगतिभद्दए जाव[2] विहरति।

[२] उस काल और उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी निर्ग्रन्थीपुत्र नामक अनगार थे। वे प्रकृति से भद्र थे, यावत् विचरण करते थे।

३ तए णं से नियठिपुत्ते अणगारे जेणामेव नारयपुत्ते अणगारे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता नारयपुत्त अणगार एव वदासी—सव्वपोग्गला ते अज्जो! किं सअड्ढा समज्झा सपदेसा? उदाहु अणड्ढा समज्झा अपएसा?

'अज्जो' त्ति नारयपुत्ते अणगारे नियठिपुत्त अणगार एव वदासी—सव्वपोग्गला मे अज्जो! सअड्ढा समज्झा सपदेसा, नो अणड्ढा अमज्झा अपएसा।

[३ प्र] एक बार निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार, जहाँ नारदपुत्र नामक अनगार थे, वहाँ आए और उनके पास आकर उन्होने नारदपुत्र अनगार से इस प्रकार पूछा—(कहा—) 'हे आर्य! तुम्हारे मतानुसार सब पुद्गल क्या सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, अथवा अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश है?

[३ उ] 'हे आर्य!' इस प्रकार सम्बोधित कर नारदपुत्र अनगार ने निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार से इस प्रकार कहा—आर्य, मेरे मतानुसार सभी पुद्गल सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश है, किन्तु अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश नहीं है।

---

१ यहाँ दोनो जगह 'जाव' पद से 'विणीए' इत्यादि पूर्ववर्णित श्रमण वर्णन कहना चाहिए।

२ यहा 'जाव' शब्द से पूर्वसूचित 'समोसढे' तक भगवान् का तथा परिषद् का वर्णन कहना चाहिए।

४. तए ण से नियठिपुत्ते अणगारे नारदपुत्त अणगार एव वदासी—जति ण ते अज्जो ! सव्व-पोग्गला सअड्ढा समज्झा सपदेसा, नो अणड्ढा अमज्झा अपदेसा; किं दव्वादेसेण अज्जो ! सव्व-पोग्गला सअड्ढा समज्झा सपदेसा, नो अणड्ढा अमज्झा अपदेसा ? खेत्तादेसेण अज्जो ! सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपदेसा ? तह चेव । कालादेसेण० त चेव ? भावादेसेण अज्जो ! ० त चेव ?

तए ण से नारयपुत्ते अणगारे नियठिपुत्त अणगार एव वदासी—दव्वादेसेण वि मे अज्जो ! सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपदेसा, नो अणड्ढा अमज्झा अपदेसा, खेत्ताएसेण वि सव्वपोग्गला सअड्ढा०; तह चेव कालादेसेण वि, त चेव भावादेसेण वि ।

[४-प्र.] तत्पश्चात् उन निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार ने नारदपुत्र अनगार से यो कहा—हे आर्य ! यदि तुम्हारे मतानुसार सभी पुद्गल सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश है, अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश नही है, तो क्या, हे आर्य ! द्रव्यादेश (द्रव्य की अपेक्षा) से वे सर्वपुद्गल सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, किन्तु अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश नही है ? अथवा हे आर्य ! क्या क्षेत्रादेश से सभी पुद्गल सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश आदि पूर्ववत् है ? या कालादेश से सभी पुद्गल उसी प्रकार है या भावादेश से समस्त पुद्गल उसी प्रकार हैं ?

[४-उ] तदनन्तर वह नारदपुत्र अनगार, निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार से यो कहने लगे—हे आर्य ! मेरे मतानुसार (विचार मे), द्रव्यादेश से भी सभी पुद्गल सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश है, किन्तु अनर्द्ध अमध्य और अप्रदेश नही हैं। क्षेत्रादेश से भी सभी पुद्गल सार्द्ध, समध्य आदि उसी तरह है, कालादेश से भी वे सब उसी तरह है, तथा भावादेश से भी उसी प्रकार हैं ।

५ तए ण से नियठिपुत्ते अणगारे नारयपुत्त अणगार एव वयासी—जति ण अज्जो ! दव्वा-देसेण सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपएसा, नो अणड्ढा अमज्झा अपएसा, एवं ते परमाणुपोग्गले वि सअड्ढे समज्झे सपएसे, णो अणड्ढे अमज्झे अपएसे, जति ण अज्जो ! खेत्तादेसेण वि सव्वपोग्गला सअ० ३, जाव एव ते एगपदेसोगाढे वि पोग्गले सअड्ढे समज्झे सपदेसे; जति ण अज्जो ! कालादेसेणं सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपएसा, एव ते एगसमयठितीए वि पोग्गले ३[1]; तं चेव जति ण अज्जो ! भावादेसेण सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपएसा ३[1], एव ते एगगुणकालए वि पोग्गले सअड्ढे ३[1] त चेव, अह ते एव न भवति, तो ज वदसि दव्वादेसेण वि सव्वपोग्गला सअ०[1] ३ नो अणड्ढा अमज्झा अपदेसा, एव खेत्तादेसेण वि, काला०, भावादेसेण वि तं ण मिच्छा ।

[५ प्र] इस पर निर्ग्रन्थपुत्र अनगार ने नारदपुत्र अनगार से इस प्रकार प्रतिप्रश्न किया—हे आर्य ! तुम्हारे मतानुसार द्रव्यादेश से सभी पुदगल यदि सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश है, तो क्या तुम्हारे मतानुसार परमाणुपुद्गल भी इसी प्रकार सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, किन्तु अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश नही हैं ? और हे आर्य ! क्षेत्रादेश से भी यदि सभी पुद्गल सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश हैं तो तुम्हारे मतानुसार एकप्रदेशावगाढ पुद्गल भी सार्द्ध, समध्य एव सप्रदेश होने चाहिए !

---

१ यहाँ '३' का अक तथा 'जाव' पद 'सअड्ढा समज्झा सपदेसा' पाठ का सूचक है ।

और फिर हे आर्य ! यदि कालादेश से भी समस्त पुद्गल सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश है, तो तुम्हारे मतानुसार एक समय की स्थिति वाला पुद्गल भी सार्द्ध, समध्य एव सप्रदेश होना चाहिए। इसी प्रकार भावादेश से भी हे आर्य ! सभी पुद्गल यदि सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश है, तो तदनुसार एकगुण काला पुद्गल भी तुम्हे सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश मानना चाहिए। यदि आपके मतानुसार ऐसा नही है, तो फिर आपने जो यह कहा था कि द्रव्यादेश से भी सभी पुद्गल सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश है, क्षेत्रादेश से भी उसी तरह है, कालादेश से और भावादेश से भी उसी तरह है, किन्तु वे अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश नही है, इस प्रकार का आपका यह कथन मिथ्या हो जाता है।

६. तए ण से नारयपुत्ते अणगारे नियंठिपुत्त अणगार एव वदासि—नो खलु वय देवाणुप्पिया ! एतमट्ठ जाणामो पासामो, जति ण देवाणुप्पिया ! नो गिलायंति परिकहित्तए त इच्छामि ण देवाणुप्पियाण अंतिए एतमट्ठं सोच्चा निसम्म जाणित्तए।

[६-जिज्ञासा] तब नारदपुत्र अनगार ने निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार से इस प्रकार कहा—"हे देवानुप्रिय ! निश्चय ही हम इस अर्थ (तथ्य) को नही जानते-देखते (अर्थात्—इस विषय का ज्ञान और दर्शन हमे नही है।) हे देवानुप्रिय ! यदि आपको इस अर्थ के परिकथन (स्पष्टीकरणपूर्वक कहने) मे किसी प्रकार की ग्लानि, ऊब या अप्रसन्नता) न हो तो मै आप देवानुप्रिय से इस अर्थ को सुनकर, अवधारणपूर्वक जानना चाहता हूँ।"

७ तए ण से नियंठिपुत्ते अणगारे नारयपुत्त अणगार एव वदासी—दव्वादेसेण वि मे अज्जो सव्वपोग्गला सपदेसा वि अपदेसा वि अणता। खेत्तादेसेण वि एव चेव। कालादेसेण वि एव चेव। जे दव्वतो अपदेसे से खेत्तओ नियमा अपदेसे, कालतो सिय सपदेसे सिय अपदेसे, भावओ सिय सपदेसे सिय अपदेसे। जे खेत्तओ अपदेसे से दव्वतो सिय सपदेसे सिय अपदेसे, कालतो भयणाए, भावतो भयणाए। जहा खेत्तओ एव कालतो। भावतो। जे दव्वतो सपदेसे से खेत्ततो सिय सपदेसे सिय अपदेसे, एव कालतो भावतो वि। जे खेत्ततो सपदेसे से दव्वतो नियमा सपदेसे, कालओ भयणाए, भावतो भयणाए। जहा दव्वतो तहा कालतो भावतो वि।

[७-समाधान] इस पर निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार ने नारदपुत्र अनगार से इस प्रकार कहा (समाधान किया)—हे आर्य ! मेरी धारणानुसार द्रव्यादेश से भी पुद्गल सप्रदेश भी है, अप्रदेश भी हैं, और वे पुद्गल अनन्त है। क्षेत्रादेश से भी इसी तरह है, और कालादेश से तथा भावादेश से भी वे इसी तरह हैं। जो पुद्गल द्रव्यादेश से अप्रदेश हैं, वे क्षेत्रादेश से भी नियमत (निश्चितरूप से) अप्रदेश हैं। कालादेश से उनमे से कोई सप्रदेश होते हैं, कोई अप्रदेश होते है और भावादेश से भी कोई सप्रदेश तथा कोई अप्रदेश होते हैं। जो पुद्गल क्षेत्रादेश से अप्रदेश होते है, उनमे कोई द्रव्यादेश से सप्रदेश और कोई अप्रदेश होते है, कालादेश और भावादेश से इसी प्रकार की भजना (कोई सप्रदेश और कोई अप्रदेश) जाननी चाहिए। जिस प्रकार क्षेत्र (क्षेत्रादेश) से कहा, उसी प्रकार काल से और भाव से भी कहना चाहिए। जो पुद्गल द्रव्य से सप्रदेश होते है, वे क्षेत्र से कोई सप्रदेश और कोई अप्रदेश होते हैं, इसी प्रकार काल से और भाव से भी वे सप्रदेश और अप्रदेश समझ लेने चाहिए। जो पुद्गल क्षेत्र से सप्रदेश होते है, वे द्रव्य से नियमत (निश्चित ही) सप्रदेश होते है, किन्तु काल से

तथा भाव से भजना से (विकल्प से—कदाचित् सप्रदेश, कदाचित् अप्रदेश) जानना चाहिए। जैसे (सप्रदेशी पुद्गल के सम्बन्ध मे) द्रव्य से (द्रव्य की अपेक्षा से) कहा, वैसे ही काल से (कालादेश से) और भाव (भावादेश) से भी कथन करना चाहिए।

८. एतेसि ण भते ! पोग्गलाण दव्वादेसेण खेत्तादेसेण कालादेसेण भावादेसेण सपदेसाण य अपदेसाण य कतरे कतरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

नारयपुत्ता ! सव्वथोवा पोग्गला भावादेसेणं अपदेसा, कालादेसेण अपदेसा असखेज्जगुणा, दव्वादेसेण अपदेसा असखेज्जगुणा, खेत्तादेसेण अपदेसा असखेज्जगुणा, खेत्तादेसेण चेव सपदेसा असखेज्जगुणा, दव्वादेसेण सपदेसा विसेसाहिया, कालादेसेण सपदेसा विसेसाहिया, भावादेसेण सपदेसा विसेसाहिया।

[८ प्र] हे भगवन् ! (निर्ग्रन्थीपुत्र !) द्रव्यादेश से, क्षेत्रादेश से, कालादेश से और भावादेश से, सप्रदेश और अप्रदेश पुद्गलो मे कौन किन से कम, अधिक, तुल्य और विशेषाधिक है ?

[८ उ] हे नारदपुत्र ! भावादेश से अप्रदेश पुद्गल सबसे थोडे है। उनकी अपेक्षा कालादेश से अप्रदेश पुद्गल असख्येयगुणा है, उनकी अपेक्षा द्रव्यादेश से अप्रदेश पुद्गल असख्येयगुणा हैं और उनकी अपेक्षा भी क्षेत्रादेश से अप्रदेश पुद्गल असख्येयगुणा है। उनसे क्षेत्रादेश से सप्रदेश पुद्गल असख्यातगुणा है, उनसे द्रव्यादेशेन सप्रदेश पुद्गल विशेषाधिक है, उनसे कालादेशेन सप्रदेश पुद्गल विशेषाधिक है और उनसे भी भावादेशेन सप्रदेश पुद्गल विशेषाधिक है।

९ तए ण से नारयपुत्ते अणगारे नियठिपुत्त अणगार वदइ नमसइ, नियठिपुत्त अणगार वदित्ता नमसित्ता एतमट्ठ सम्मं विणएण भुज्जो भुज्जो खामेति, २त्ता सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे विहरइ।

[९] इसके पश्चात् (यह सुन कर) नारदपुत्र अनगार ने निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार को वन्दन नमस्कार किया। उन्हे (निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार को) वन्दन-नमस्कार करके उनसे इस (अपनी कही हुई मिथ्या) बात के लिए सम्यक् विनयपूर्वक-बार-बार उन्होने क्षमायाचना की। इस प्रकार क्षमायाचना करके वे (नारदपुत्र अनगार) सयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करने लगे।

विवेचन—द्रव्यादि की अपेक्षा पुद्गलो की सप्रदेशता-अप्रदेशता के सम्बन्ध मे निर्ग्रन्थीपुत्र और नारदपुत्र अनगार की चर्चा—प्रस्तुत ९ सूत्रो मे भगवान् महावीर के ही दो शिष्यो—निर्ग्रन्थीपुत्र और नारदपुत्र के बीच द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से सर्वपुद्गलो की सार्द्धता-अनर्द्धता, समध्यता-अमध्यता और सप्रदेशता-अप्रदेशता के सम्बन्ध मे हुई मधुर चर्चा का वर्णन किया गया है।[1]

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादेश का स्वरूप—द्रव्य की अपेक्षा परमाणुत्व आदि का कथन करना द्रव्यादेश, एकप्रदेशावगाढत्व इत्यादि का कथन करना क्षेत्रादेश; एक समय की स्थिति आदि का कथन कालादेश और एकगुण काला इत्यादि कथन भावादेश कहलाता है। दूसरे शब्दो मे द्रव्यादि की अपेक्षा क्रमश द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादेश का अर्थ है।[2]

---

१ वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) भा १, पृ २१९ से २२१

२ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २४१ (ख) भगवतीसूत्र (हिन्दी विवेचन) भा २, पृ ८९९

सप्रदेश-अप्रदेश के कथन मे सार्द्ध-अनर्द्ध और समध्य-अमध्य का समावेश—निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार ने यद्यपि सप्रदेश-अप्रदेश का ही निरूपण किया है, किन्तु सप्रदेश मे सार्द्ध और समध्य का, तथा अप्रदेश मे अनर्द्ध और अमध्य का ग्रहण कर लेना चाहिए।[1]

द्रव्यादि की अपेक्षा पुद्गलो की अप्रदेशता के विषय मे—जो पुद्गल **द्रव्य से अप्रदेश**—परमाणुरूप है, वह पुद्गल क्षेत्र से एकप्रदेशावगाढ होने से नियमत अप्रदेश है। काल से वह पुद्गल यदि एक समय की स्थिति वाला है तो अप्रदेश है और यदि वह अनेक समय की स्थिति वाला है तो सप्रदेश है। इस तरह भाव से एकगुण काला आदि है तो अप्रदेश है, और अनेकगुण काला आदि है तो सप्रदेश है।

जो पुद्गल **क्षेत्र की अपेक्षा अप्रदेश** (एकक्षेत्रावगाढ) होता है, वह द्रव्य से कदाचित् सप्रदेश और कदाचित् अप्रदेश होता है, क्योकि क्षेत्र (आकाश) के एक प्रदेश मे रहने वाले द्वचणुक आदि सप्रदेश हैं, किन्तु क्षेत्र से वे अप्रदेश है, तथैव परमाणु एक प्रदेश मे रहने वाला होने से द्रव्य से अप्रदेश है, वैसे ही क्षेत्र से भी अप्रदेश है। जो पुद्गल क्षेत्र से अप्रदेश है, वह काल से कदाचित् अप्रदेश और कदाचित् सप्रदेश इस प्रकार होता है। जैसे—कोई पुद्गल क्षेत्र से एकप्रदेश मे रहने वाला है, वह यदि एक समय की स्थिति वाला है तो कालापेक्षया अप्रदेश है, किन्तु यदि वह अनेक समय की स्थिति वाला है तो कालापेक्षया सप्रदेश है। जो पुद्गल **क्षेत्र की अपेक्षा अप्रदेश है**, यदि वह अनेकगुण काला आदि है तो भाव की अपेक्षा अप्रदेश है, किन्तु यदि वह अनेकगुण काला आदि है तो क्षेत्र की अपेक्षा अप्रदेश होते हुए भी भाव की अपेक्षा सप्रदेश है। क्षेत्र से अप्रदेश पुद्गल के कथन की तरह **काल और भाव से भी** कथन करना चाहिए। यथा— **जो पुद्गल काल से अप्रदेश होता है**, वह द्रव्य से, क्षेत्र से और भाव से कदाचित् सप्रदेश और कदाचित् अप्रदेश होता है। तथा **जो पुद्गल भाव से अप्रदेश** होता है, वह द्रव्य से, क्षेत्र से और काल से कदाचित् सप्रदेश होता है, और कदाचित् अप्रदेश।

द्रव्यादि की अपेक्षा पुद्गलो की सप्रदेशता के विषय मे—जो पुद्गल द्वचणुकादिरूप होने से **द्रव्य से सप्रदेश** होता है, वह क्षेत्र से कदाचित् सप्रदेश और कदाचित् अप्रदेश होता है, क्योकि वह यदि दो प्रदेशो मे रहता है तो सप्रदेश है और एक ही प्रदेश मे रहता है तो अप्रदेश है। इसी तरह काल से और भाव से भी कहना चाहिए।

आकाश के दो या अधिक प्रदेशो मे रहने वाला पुद्गल **क्षेत्र से सप्रदेश** है, वह द्रव्य से भी सप्रदेश ही होता है, क्योकि जो पुद्गल द्रव्य से अप्रदेश होता है, वह दो आदि प्रदेशो मे नही रह सकता। जो पुद्गल क्षेत्र से सप्रदेश होता है, वह काल से और भाव से कदाचित् सप्रदेश होता है, कदाचित् अप्रदेश होता है।

जो पुद्गल **काल से सप्रदेश** होता है, वह द्रव्य से, क्षेत्र से और भाव से कदाचित् सप्रदेश होता है, कदाचित् अप्रदेश होता है।

जो पुद्गल **भाव से सप्रदेश** होता है, वह द्रव्य से, क्षेत्र से और काल से कदाचित् सप्रदेश और कदाचित् अप्रदेश होता है।[2]

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २४१ (ख) भगवती सूत्र (हिन्दी विवेचन) भा २, पृ ९००

२ (क) भगवती० अ वृत्ति, पत्राक २४१ से २४३ तक

(ख) भगवतीसूत्र (हिन्दी विवेचन) भा २, पृ ९००-९०१

सप्रदेश-अप्रदेश पुद्गलो का अल्प-बहुत्व—सबसे थोडे एक गुणकाला आदि भाव से अप्रदेशी पुद्गल है, उनसे असख्यात गुणा है—एक समय की स्थितिवाले—काल से अप्रदेशी पुद्गल। उनमे असख्यातगुणा है—समस्त परमाणु पुद्गल, जो द्रव्य से अप्रदेशी पुद्गल है, उनसे भी असख्यात गुणे हैं—क्षेत्र से अप्रदेशी पुद्गल, जो एक-एक आकाशप्रदेश के अवगाहन किये हुए हे। उनसे भी असख्यातगुणे है—क्षेत्र से सप्रदेशी पुद्गल, जिनमे द्विप्रदेशावगाढ से लेकर असख्येयप्रदेशावगाढ आते हैं। उनसे द्रव्य से सप्रदेशी पुद्गल—अर्थात्—द्विप्रदेशीस्कन्ध से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक के पुद्गल विशेषाधिक है। उनसे काल से सप्रदेशी पुद्गल—दो समय की स्थिति वाले से लेकर असख्यात समय की स्थिति वाले पुद्गल विशेपाधिक है। उनमे भी भाव से सप्रदेशी पुद्गल—दो गुण काले यावत् अनन्तगुणकाले पुद्गल आदि विशेषाधिक हैं।[1]

संसारी और सिद्ध जीवो की वृद्धि हानि और अवस्थिति एवं उनके कालमान की प्ररूपणा—

१०. 'भते!' त्ति भगव गोतमे समण जाव एव वदासी—जीवा ण भते! किं वड्ढति, हायति, अवट्ठिया ?

गोयमा! जीवा णो वड्ढति, नो हायति, अवट्ठिता।

[१० प्र] 'भगवन्!' यो कह कर भगवान् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से यावत् इस प्रकार पूछा—भगवन्! क्या जीव बढते है, घटते है या अवस्थित रहते है ?

[१० उ] गौतम! जीव न बढते है, न घटते है, किन्तु अवस्थित रहते हैं।

११ नेरतिया ण भते! किं वड्ढति, हायति, अवट्ठिता ?

गोयमा! नेरइया वड्ढति वि, हायति वि, अवट्ठिया वि।

[११ प्र] भगवन्! क्या नैरयिक बढते है, घटते है, अथवा अवस्थित रहते है ?

[११ उ] गौतम! नैरयिक बढते भी है, घटते भी है और अवस्थित भी रहते है।

१२. जहा नेरइया एव जाव वेमाणिया।

[१२] जिस प्रकार नैरयिको के विषय मे कहा, इसी प्रकार वैमानिक-पर्यन्त (चौबीस ही दण्डको के जीवो के विषय मे) कहना चाहिए।

१३. सिद्धा ण भते! ० पुच्छा।

गोयमा! सिद्धा वड्ढति, नो हायति, अवट्ठिता वि।

[१३ प्र] भगवन्! सिद्धो के विषय मे मेरी पृच्छा है (कि वे बढते है, घटते है या अवस्थित रहते है ?)

---

१ (क) भगवती० अ वृत्ति, पत्राक २४३ (ख) भगवती० (हिन्दी विवेचन) भा २, पृ ९०१

[१३ उ] गौतम ! सिद्ध बढते है, घटते नही, वे अविस्थत भी रहते हैं।

१४ जीवा ण भते ! केवतिय काल अवट्ठिता ?

गोयमा ! सव्वद्ध ।

[१४ प्र] भगवन् ! जीव कितने काल तक अवस्थित रहते हैं ?

[१४ उ] गौतम ! सर्वाद्धा (अर्थात्—सब काल मे जीव अवस्थित ही रहते हैं)।

चौबीस दण्डको की वृद्धि, हानि और अवस्थित कालमान की प्ररूपणा

१५ [१] नेरतिया ण भते ! केवतिय काल वड्ढति ?

गोयमा ! जहन्नेण एग समय, उक्कोसेण आवलियाए असंखेज्जतिभाग ।

[१५-१ प्र] भगवन् ! नैरयिक कितने काल तक बढते है ?

[१५-१ उ] गौतम ! नैरयिक जीव जघन्यत एक समय तक, और उत्कृष्टत आवलिका के असख्यात भाग तक बढते है।

[२] एव हायति ।

[१५-२] जिस प्रकार बढने का काल कहा है, उसी प्रकार घटने का काल भी (उतना ही) कहना चाहिए।

[३] नेरइया ण भते ! केवतिय काल अवट्ठिया !

गोयमा ! जहन्नेण एग समय, उक्कोसेण चउव्वीस मुहुत्ता ।

[१५-३ प्र] भगवन् ! नैरयिक कितने काल तक अवस्थित रहते है ?

[१५-३ उ] गौतम ! (नैरयिक जीव) जघन्यत एक समय तक और उत्कृष्टत चौबीस मुहूर्त तक (अवस्थित रहते हैं।)

[४] एव सत्तसु वि पुढवीसु 'वड्ढति, हायति' भाणियव्व । नवर अवट्ठितेसु इम नाणत्त, त जहा—रयणप्पभाए पुढवीए अडतालीस मुहुत्ता,[1] सक्करप्पभाए चोद्दस राइदियाइ, वालुयप्पभाए मास, पकप्पभाए दो मासा, धूमप्पभाए चत्तारि मासा, तमाए अट्ठ मासा, तमतमाए बारस मासा ।

[१५-४] इसी प्रकार सातो नरक-पृथ्वियो के जीव बढते हैं, घटते है, किन्तु अवस्थित रहने के काल मे इस प्रकार भिन्नता है। यथा—रत्नप्रभापृथ्वी मे ४८ मुहूर्त्त का, शर्कराप्रभापृथ्वी मे चौवीस अहोरात्रि का, वालुकाप्रभापृथ्वी मे एक मास का, पकप्रभा मे दो मास का, धूमप्रभा मे चार मास का, तम प्रभा मे आठ मास का और तमस्तम प्रभा मे बारह मास का अवस्थान-काल है।

---

१ रत्नप्रभा आदि मे उत्पाद-उद्वर्तन-विरहकाल २४ मुहूर्त्त आदि बताया गया है, उसके लिए देखें—प्रज्ञापना-सूत्र का छठा व्युत्क्रान्ति पद।—स

१६ [१] असुरकुमारा वि वड्ढति हायति, जहा नेरइया। अवट्ठिता जहन्नेण एक्क समय, उक्कोसेण अट्ठचालीस मुहुत्ता।

[१६-१] जिस प्रकार नैरयिक जीवो की वृद्धि-हानि के विपय मे कहा है, उसी प्रकार असुरकुमार देवो की वृद्धि-हानि के सम्वन्ध मे समझना चाहिए। असुरकुमार देव जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट ४८ मुहूर्त तक अवस्थित रहते है।

[२] एव दसविहा वि।

[१६-२] इसी प्रकार दस ही प्रकार के भवनपतिदेवो की वृद्धि, हानि और अवस्थिति का कथन करना चाहिए।

१७ एगिंदिया वड्ढति वि, हायति वि, अवट्ठिया वि। एतेहिं तिहि वि जहन्नेण एक्क समय, उक्कोसेण आवलियाए असखेज्जतिभाग।

[१७] एकेन्द्रिय जीव बढते भी है, घटते भी है और अवस्थित भी रहते है। इन तीनो (वृद्धि-हानि-अवस्थिति) का काल जघन्यत एक समय और उत्कृष्टः आवलिका का असख्यातवा भाग (समझना चाहिए।)

१८. [१] बेइदिया वड्ढति हायति तहेव अवट्ठिता जहन्नेण एक्क समय, उक्कोसेण दो अतोमुहुत्ता।

[१८-१] द्वीन्द्रिय जीव भी इसी प्रकार बढते-घटते है। इनके अवस्थान-काल मे भिन्नता इस प्रकार है—ये जघन्यत एक समय तक और उत्कृष्टत दो अन्तर्मुहूर्त्त तक अवस्थित रहते है।

[२] एव जाव चतुरिंदिया।

[१८-२] द्वीन्द्रिय की तरह त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवो तक (का वृद्धि-हानि-अवस्थिति-काल) कहना चाहिए।

१९ अवसेसा सव्वे वड्ढति, हायति तहेव। अवट्ठियाण णाणत्त इम, त जहा—सम्मुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं दो अतोमुहुत्ता। गब्भवक्कतियाणं चउव्वीस मुहुत्ता। सम्मुच्छिममणुस्साणं अट्ठचत्तालीस मुहुत्ता। गब्भवक्कतियमणुस्साण चउव्वीस मुहुत्ता। वाणमतर-जोतिस-सोहम्मीसाणेसु अट्ठचत्तालीस मुहुत्ता। सणकुमारे अट्ठारस रातिंदियाइ चत्तालीस य मुहुत्ता। माहिंदे चउवीस रातिंदियाइ, वीस य मुहुत्ता। बभलोए पच चत्तालीस रातिंदियाइ। लंतए नउतिं रातिंदियाइ। महासुक्के सट्ठ रातिंदियसत। सहस्सारे दो रातिंदियसताइ। आणय-पाणयाणं सखेज्जा मासा। आरणऽच्चुयाणं सखेज्जाइ वासाइं। एव गेवेज्जगदेवाण। विजय-वेजयत-जयत-अपराजियाण असखिज्जाइवाससहस्साइ। सव्वट्ठसिद्धे य पलिओवमस्स सखेज्जतिभागो। एव भाणियव्व-वड्ढति हायति जहन्नेण एक्कं समयं, उक्कोसेण आवलियाए असखेज्जतिभाग, अवट्ठियाणं ज भणियं।

[१९] शेष सब जीव (तिर्यञ्चपञ्चेन्द्रिय, मनुष्य, वाणव्यन्तर देव, ज्योतिष्क देव और वैमानिक देव), बढते-घटते हैं, यह पहले की तरह ही कहना चाहिए। किन्तु उनके अवस्थान-काल मे इस प्रकार भिन्नता है, यथा—सम्मूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक जीवो का (अवस्थानकाल) दो अन्तर्मुहूर्त्त का, गर्भज पचेन्द्रिय तिर्यग्योनिको का चौबीस मुहूर्त्त का, सम्मूर्च्छिम मनुष्यो का ४८ मुहूर्त्त का, गर्भज मनुष्यो का चौबीस मुहूर्त्त का, बाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्म, ईशान देवो का ४८ मुहूर्त्त का, सनत्कुमार देव का अठारह अहोरात्रि तथा चालीस मुहूर्त्त का अवस्थानकाल है। माहेन्द्र देवलोक के देवो का चौबीस रात्रिदिन और बीस मुहूर्त्त का, ब्रह्मलोकवर्ती देवो का ४५ रात्रिदिवस का, लान्तक देवो का ९० रात्रिदिवस का, महाशुक्र-देवलोकस्थ देवो का १६० अहोरात्रि का, सहस्रार-देवो का दो सौ रात्रिदिन का, आनत और प्राणत देवलोक के देवो का सख्येय मास का, आरण और अच्युत देवलोक के देवो का सख्येय वर्षो का अवस्थान-काल है। इसी प्रकार नौ ग्रैवेयक देवो के (अवस्थान-काल के) विषय मे जान लेना चाहिए। विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित विमान-वासी देवो का अवस्थानकाल असख्येय हजार वर्षो का है। तथा सर्वार्थसिद्ध-विमानवासी देवो का अवस्थानकाल पल्योपम का सख्यातवाँ भाग है।

और ये सब जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट आवलिका के असख्यातवे भाग तक बढते-घटते है, इस प्रकार कहना चाहिए, और इनका अवस्थानकाल जो ऊपर कहा गया है, वही है।

२०. [१] सिद्धा ण भते ! केवतिय काल वड्ढति ?

गोयमा ! जहण्णेण एक्क समयं, उक्कोसेण अट्ठ समया।

[२०-१ प्र.] भगवन् ! सिद्ध कितने काल तक बढते है ?

[२०-१ उ] गौतम ! जघन्यत एक समय और उत्कृष्टत आठ समय तक सिद्ध बढते है।

[२] केवतिय काल अवट्ठिया ?

गोयमा ! जहन्नेण एक्क समय, उक्कोसेणं छम्मासा।

[२०-२ प्र] भगवन् ! सिद्ध कितने काल तक अवस्थित रहते है ?

[२०-२ उ] गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह मास तक सिद्ध अवस्थित रहते है।

विवेचन—ससारी और सिद्ध जीवो की वृद्धि, हानि और अवस्थिति एव उनके काल-मान की प्ररूपणा—प्रस्तुत ग्यारह सूत्रो (सू. १० से २० तक) मे समस्त जीवो की वृद्धि, हानि एव अवस्थिति तथा इनके काल-मान की प्ररूपणा की गई है।

वृद्धि, हानि और अवस्थिति का तात्पर्य—कोई भी जीव जब बहुत उत्पन्न होते है और थोडे मरते है, तब 'वे बढते हैं,' ऐसा व्यपदेश किया जाता है, और जब वे बहुत मरते है और थोडे उत्पन्न होते है, तब 'वे घटते हैं,' ऐसा व्यपदेश किया जाता है। जब उत्पत्ति और मरण समान सख्या मे होता है, अर्थात्—जितने जीव उत्पन्न होते हैं, उतने ही मरते है, अथवा कुछ काल तक जीव का जन्म-मरण नही होता, तब यह कहा जाता है कि 'वे अवस्थित हैं।'

उदाहरणार्थ—नैरयिक जीवो का अवस्थान काल २४ मुहूर्त्त का कहा गया है। वह इस प्रकार समझना चाहिए—सातो नरकपृथ्वियो मे १२ मुहूर्त्त तक न तो कोई जीव उत्पन्न होता है, और न ही किसी जीव का मरण (उद्वर्तन) होता है। इस प्रकार का उत्कृष्ट विरहकाल होने मे इतने समय तक नैरयिक जीव अवस्थित रहते है, तथा दूसरे १२ मुहूर्त्त तक जितने जीव नरको मे उत्पन्न होते हैं, उतने ही जीव वहाँ से मरते है, यह भी नैरयिको का अवस्थानकाल है। तात्पर्य यह है कि २४ मुहूर्त्त तक नैरयिको की (हानि-वृद्धिरहित) एक परिमाणता होने मे उनका अवस्थानकाल २४ मूहूर्त्त का कहा गया है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवो का अवस्थानकाल उत्कृष्ट दो अन्तर्मुहूर्त्त का बताया गया है। एक अन्तर्मुहूर्त्त तो उनका विरहकाल है। विरहकाल अवस्थानकाल से आधा होता है। इस कारण दूसरे अन्तर्मुहूर्त्त मे वे समान सख्या मे उत्पन्न होते और मरते है। इस प्रकार इनका अवस्थानकाल दो अन्तर्मुहूर्त्त का हो जाता है।[1]

सिद्ध पर्याय सादि अनन्त होने से उनकी सख्या कम नही हो सकती, परन्तु जब कोई जीव नया सिद्ध होता है तब वृद्धि होती है। जितने काल तक कोई भी जीव सिद्ध नही होता उतने काल तक सिद्ध अवस्थित (उतने के उतने) ही रहते है।

संसारी एवं सिद्ध जीवो मे सोपचयादि चार भंग एवं उनके कालमान का निरूपण—

२१. जीवा ण भते ! किं सोवचया, सावचया, सोवचयसावचया, निरुवचयनिरवचया ?

गोयमा ! जीवा णो सोवचया, नो सावचया, णो सोवचयसावचया, निरुवचयनिरवचया।

[२१ प्र] भगवन् ! क्या जीव सोपचय (उपचयसहित) हैं, सापचय (अपचयसहित) है, सोपचय-सापचय (उपचय-अपचयसहित) है या निरुपचय (उपचयरहित)-निरपचय (अपचय-रहित) हैं ?

[२१ उ] गौतम ! जीव न सोपचय है, और न ही सापचय है, और न सोपचय-सापचय हैं, किन्तु निरुपचय-निरपचय है।

२२ एगिदिया ततियपदे, सेसा जीवा चउहि वि पदेहिं भाणियव्वा।

[२२] एकेन्द्रिय जीवो मे तीसरा पद (विकल्प—सोपचय-सापचय) कहना चाहिए। शेष सब जीवो मे चारो ही पद (विकल्प) कहने चाहिए।

२३ सिद्धा ण भते ! ० पुच्छा।

गोयमा ! सिद्धा सोवचया, णो सावचया, णो सोवचयसावचया, निरुवचयनिरवचया।

[२३ प्र] भगवन् ! क्या सिद्ध भगवान् सोपचय हैं, सापचय है, सोपचय-सापचय है या निरुपचय-निरपचय हैं ?

---

१ (क) भगवतीसूत्र, अ वृत्ति, पत्राक २४५

(ख) भगवतीसूत्र (हिन्दी विवेचन) भा २, पृ ९११-९१२

[२३ उ] गौतम ! सिद्ध भगवान् सोपचय है, सापचय नही है, सोपचय-सापचय भी नही है, किन्तु निरुपचय-निरपचय है ।

२४ जीवा ण भते ! केवतिय काल निरुवचयनिरवचया ?

गोयमा ! सव्वद्ध ।

[२४ प्र] भगवन् ! जीव कितने काल तक निरुपचय-निरपचय रहते है ?

[२४ उ] गौतम ! जीव सर्वकाल तक निरुपचय-निरपचय रहते है ।

२५ [१] नेरतिया ण भते ! केवतिय काल सोवचया ?

गोयमा ! जहन्नेण एक्क समय, उक्कोसेण आवलियाए असखेज्जइभाग ।

[२५-१ प्र] भगवन् ! नैरयिक कितने काल तक सोपचय रहते है ?

[२५-१ उ] गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट आवलिका के असख्येय भाग तक नैरयिक सोपचय रहते है ।

[२] केवतिय काल सावचया ?

एव चेव ।

[२५-२ प्र] भगवन् ! नैरयिक कितने काल तक सापचय रहते है ?

[२५-२ उ] (गौतम !) उसी प्रकार (सोपचय के पूर्वोक्त कालमानानुसार) सापचय का काल जानना चाहिए ।

[३] केवतिय काल सोवचयसावचया ?

एव चेव ।

[२५-३ प्र] और वे सोपचय-सापचय कितने काल तक रहते है ?

[२५-३ उ] (गौतम !) सोपचय का जितना काल कहा है, उतना ही सोपचय-सापचय का काल जानना चाहिए ।

[४] केवतिय काल निरुवचयनिरवचया ?

गोयमा ! जहन्नेण एक्क समय, उक्कोसेण बारस मुहुत्ता ।

[२५-४ प्र] नैरयिक कितने काल तक निरुपचय-निरपचय रहते हैं ?

[२५-४ उ] गौतम ! नैरयिक जीव जघन्य एक समय और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त्त तक निरुपचय-निरपचय रहते है ।

२६ एगिंदिया सव्वे सोवचयसावचया सव्वद्ध ।

[२६] सभी एकेन्द्रिय जीव सर्व काल (सर्वदा) सोपचय-सापचय रहते है ।

२७. सेसा सव्वे सोवचया वि, सावचया वि, सोवचयसावचया वि, निरुवचयनिरवचया वि जहन्नेण एगं समय, उक्कोसेण आवलियाए असखेज्जतिभाग अवट्ठिएहिं वक्कतिकालो[1] भाणियव्वो।

[२७] शेष सभी जीव सोपचय भी है, सापचय भी है, सोपचय-सापचय भी हैं और निरुपचय-निरपचय भी है। इन चारो का काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट, आवलिका का असख्यातवाँ भाग है। अवस्थितो (निरुपचय-निरपचय) मे व्युत्क्रान्तिकाल (विरहकाल) के अनुसार कहना चाहिए।

२८ [१] सिद्धा ण भते! केवतिय काल सोवचया?

गोयमा! जहन्नेण एक्क समय, उक्कोसेण अट्ठ समया।

[२८-१ प्र] भगवन्! सिद्ध भगवान् कितने काल तक सोपचय रहते है?

[२८-१ उ] गौतम! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट आठ समय तक वे सोपचय रहते है।

[२] केवतिय कालं निरुवचयनिरवचया?

जहन्नेण एक्क समय, उक्कोसेण छम्मासा।

सेव भते! सेवं भते! त्ति०।

॥ पचमसए अट्ठमो उद्देसो ॥

[२८-२ प्र] और सिद्ध भगवान्, निरुपचय-निरपचय कितने काल तक रहते है?

[२८-२ उ] (गौतम!) वे जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह मास तक निरुपचय-निरपचय रहते है।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है' यो कहकर गौतम स्वामी यावत् विचरने लगे।

विवेचन—ससारी और सिद्ध जीवो मे सोपचयादि चतुर्भंग एव उनके काल-मान का निरूपण— प्रस्तुत आठ सूत्रो मे समुच्चयजीवो, तथा चौबीस दण्डको व सिद्धो मे सोपचयादि के अस्तित्व एव उनके कालमान का निरूपण किया गया है।

सोपचयादि चार भंगो का तात्पर्य—सोपचय का अर्थ है—वृद्धिसहित। अर्थात्—पहले के जितने जीव हैं, उनमे नये जीवो की उत्पत्ति होती है, उसे **सोपचय** कहते हैं। पहले के जीवो मे से कई जीवो के मर जाने से सख्या घट जाती है, उसे **सापचय** (हानिसहित) कहते है। उत्पाद और उद्‌वर्तन (मरण) द्वारा एक साथ वृद्धि-हानि होती है, उसे **सोपचय-सापचय** (वृद्धिहानिसहित) कहते है, उत्पाद और उद्‌वर्तन के अभाव से वृद्धि-हानि न होना **'निरुपचय-निरपचय'** कहलाता है।

---

१ व्युत्क्रान्ति (विरह) काल के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी के लिए 'प्रज्ञापनासूत्र' का छठा 'व्युत्क्रान्ति पद' देखना चाहिए।—स

[२३ उ] गौतम ! सिद्ध भगवान् सोपचय है, सापचय नही है, सोपचय-सापचय भी नही है, किन्तु निरुपचय-निरपचय है।

२४ जीवा णं भंते ! केवतियं काल निरुवचयनिरवचया ?

गोयमा ! सव्वद्धं ।

[२४ प्र] भगवन् ! जीव कितने काल तक निरुपचय-निरपचय रहते है ?

[२४ उ] गौतम ! जीव सर्वकाल तक निरुपचय-निरपचय रहते है।

२५ [१] नेरतिया ण भंते ! केवतिय काल सोवचया ?

गोयमा ! जहन्नेण एक्कं समय, उक्कोसेण आवलियाए असखेज्जइभाग ।

[२५-१ प्र] भगवन् ! नैरयिक कितने काल तक सोपचय रहते है ?

[२५-१ उ] गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट आवलिका के असख्येय भाग तक नैरयिक सोपचय रहते है।

[२] केवतिय काल सावचया ?

एव चेव ।

[२५-२ प्र] भगवन् ! नैरयिक कितने काल तक सापचय रहते है ?

[२५-२ उ] (गौतम !) उसी प्रकार (सोपचय के पूर्वोक्त कालमानानुसार) सापचय का काल जानना चाहिए।

[३] केवतिय कालं सोवचयसावचया ?

एव चेव ।

[२५-३ प्र] और वे सोपचय-सापचय कितने काल तक रहते है ?

[२५-३ उ] (गौतम !) सोपचय का जितना काल कहा है, उतना ही सोपचय-सापचय का काल जानना चाहिए।

[४] केवतिय काल निरुवचयनिरवचया ?

गोयमा ! जहन्नेण एक्क समयं, उक्कोसेणं बारस मुहुत्ता ।

[२५-४ प्र] नैरयिक कितने काल तक निरुपचय-निरपचय रहते है ?

[२५-४ उ] गौतम ! नैरयिक जीव जघन्य एक समय और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त्त तक निरुपचय-निरपचय रहते हैं।

२६ एगिंदिया सव्वे सोवचयसावचया सव्वद्ध ।

[२६] सभी एकेन्द्रिय जीव सर्व काल (सर्वदा) सोपचय-सापचय रहते है।

२७. सेसा सव्वे सोवचया वि, सावचया वि, सोवचयसावचया वि, निरुवचयनिरवचया वि जहन्नेण एगं समय, उक्कोसेण आवलियाए असखेज्जतिभाग अवट्ठिएहिं वक्कतिकालो[1] भाणियव्वो।

[२७] शेष सभी जीव सोपचय भी है, सापचय भी है, सोपचय-सापचय भी हैं और निरुपचय-निरपचय भी है। इन चारो का काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट, आवलिका का असख्यातवाँ भाग है। अवस्थितो (निरुपचय-निरपचय) मे व्युत्क्रान्तिकाल (विरहकाल) के अनुसार कहना चाहिए।

२८ [१] सिद्धा ण भते ! केवतिय काल सोवचया ?

गोयमा ! जहन्नेण एक्क समय, उक्कोसेण अट्ठ समया।

[२८-१ प्र] भगवन् ! सिद्ध भगवान् कितने काल तक सोपचय रहते है ?

[२८-१ उ] गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट आठ समय तक वे सोपचय रहते है।

[२] केवतिय कालं निरुवचयनिरवचया ?

जहन्नेण एक्क समय, उक्कोसेण छम्मासा।

सेव भते ! सेव भते ! त्ति०।

॥ पचमसए अट्ठमो उद्देसो ॥

[२८-२ प्र] और सिद्ध भगवान्, निरुपचय-निरपचय कितने काल तक रहते है ?

[२८-२ उ] (गौतम !) वे जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह मास तक निरुपचय-निरपचय रहते है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है' यो कहकर गौतम स्वामी यावत् विचरने लगे।

विवेचन—ससारी और सिद्ध जीवो मे सोपचयादि चतुर्भंग एव उनके काल-मान का निरूपण— प्रस्तुत आठ सूत्रो मे समुच्चयजीवो, तथा चौबीस दण्डको व सिद्धो मे सोपचयादि के अस्तित्व एव उनके कालमान का निरूपण किया गया है।

सोपचयादि चार भंगो का तात्पर्य—सोपचय का अर्थ है—वृद्धिसहित। अर्थात्—पहले के जितने जीव है, उनमे नये जीवो की उत्पत्ति होती है, उसे सोपचय कहते है। पहले के जीवो में से कई जीवो के मर जाने से सख्या घट जाती है, उसे सापचय (हानिसहित) कहते है। उत्पाद और उद्वर्तन (मरण) द्वारा एक साथ वृद्धि-हानि होती है, उसे सोपचय-सापचय (वृद्धिहानिसहित) कहते हैं, उत्पाद और उद्वर्तन के अभाव से वृद्धि-हानि न होना 'निरुपचय-निरपचय' कहलाता है।

---

१ व्युत्क्रान्ति (विरह) काल के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी के लिए 'प्रज्ञापनासूत्र' का छठा 'व्युत्क्रान्ति पद' देखना चाहिए।—स

[२३ उ] गौतम ! सिद्ध भगवान् सोपचय है, सापचय नही है, सोपचय-सापचय भी नही है, किन्तु निरुपचय-निरपचय है।

२४ जीवा ण भते ! केवतियं काल निरुवचयनिरवचया ?

गोयमा ! सव्वद्ध ।

[२४ प्र] भगवन् ! जीव कितने काल तक निरुपचय-निरपचय रहते है ?

[२४ उ] गौतम ! जीव सर्वकाल तक निरुपचय-निरपचय रहते हैं।

२५ [१] नेरतिया ण भते ! केवतिय काल सोवचया ?

गोयमा ! जहन्नेण एक्कं समय, उक्कोसेण आवलियाए असखेज्जइभाग ।

[२५-१ प्र] भगवन् ! नैरयिक कितने काल तक सोपचय रहते है ?

[२५-१ उ] गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट आवलिका के असख्येय भाग तक नैरयिक सोपचय रहते है।

[२] केवतिय काल सावचया ?

एव चेव ।

[२५-२ प्र] भगवन् ! नैरयिक कितने काल तक सापचय रहते है ?

[२५-२ उ] (गौतम !) उसी प्रकार (सोपचय के पूर्वोक्त कालमानानुसार) सापचय का काल जानना चाहिए।

[३] केवतिय कालं सोवचयसावचया ?

एव चेव ।

[२५-३ प्र] और वे सोपचय-सापचय कितने काल तक रहते है ?

[२५-३ उ] (गौतम !) सोपचय का जितना काल कहा है, उतना ही सोपचय-सापचय का काल जानना चाहिए।

[४] केवतिय काल निरुवचयनिरवचया ?

गोयमा ! जहन्नेण एक्क समय, उक्कोसेणं बारस मुहुत्ता ।

[२५-४ प्र] नैरयिक कितने काल तक निरुपचय-निरपचय रहते है ?

[२५-४ उ] गौतम ! नैरयिक जीव जघन्य एक समय और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त्त तक निरुपचय-निरपचय रहते है।

२६ एगिंदिया सव्वे सोवचयसावचया सव्वद्ध ।

[२६] सभी एकेन्द्रिय जीव सर्व काल (सर्वदा) सोपचय-सापचय रहते है।

नवमो उद्देसओ : 'रायगिह'

नवम उद्देशक : 'राजगृह'

राजगृह के स्वरूप का तात्त्विक दृष्टि से निर्णय—

१ तेण कालेण तेण समएण जाव[1] एव वयासी—

[१] उस काल और उस समय मे यावत् गौतमस्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर से इस प्रकार पूछा—

२ [१] किमिद भते ! 'नगर रायगिह' ति पवुच्चति ? कि पुढवी 'नगर रायगिह' ति पवुच्चति ? आऊ 'नगर रायगिह' ति पवुच्चति ? जाव[2] वणस्सती ? जहा एयणुद्देसए[3] पंचिदिय-तिरिक्खजोणियाण वत्तव्वता तहा भाणियव्वं जाव सचित्त-अचित्त-मीसयाइ दव्वाइ 'नगर रायगिह' ति पवुच्चति ?

गोतमा ! पुढवी वि 'नगरं रायगिह' ति पवुच्चति जाव सचित्त-अचित्त-मीसियाइ दव्वाइ 'नगर रायगिह' ति पवुच्चति ।

[२-१ प्र] भगवन् ! यह 'राजगृह' नगर क्या है—क्या कहलाता है ? क्या पृथ्वी राजगृह नगर कहलाता है ?, अथवा क्या जल राजगृहनगर कहलाता है ? यावत् वनस्पति क्या राजगृहनगर कहलाता है ? जिस प्रकार 'एजन' नामक उद्देशक (पचम शतक के सप्तम उद्देशक) मे पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्योनि जीवो की (परिग्रह-विषयक) वक्तव्यता कही गई है, क्या उसी प्रकार यहाँ भी कहनी चाहिए ? (अर्थात्—क्या 'कूट' राजगृह नगर कहलाता है ? शैल राजगृह नगर कहलाता है ? इत्यादि), यावत् क्या सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य, (मिलकर) राजगृह नगर कहलाता है ?

[२-१ उ] गौतम ! पृथ्वी भी राजगृहनगर कहलाती है, यावत् सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य (सब मिलकर) भी राजगृहनगर कहलाता है ।

[२] से केणट्ठेण० ?

गोयमा ! पुढवी जीवा ति य अजीवा ति य 'नगर रायगिह' ति पवुच्चति जाव सचित्त-

---

१ 'जाव' शब्द से यहाँ पूर्वसूचित भगवद्वर्णन, नगर-वर्णन, समवसरण-वर्णन एव परिषद् के आगमन-प्रतिगमन का वर्णन कहना चाहिए ।

२ यहाँ 'जाव' शब्द 'तेउ-वाउ' पदो का सूचक है ।

३ पाँचवें शतक के ७ वें उद्देशक (एजन) मे वर्णित तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय वक्तव्यता मे टका, कूडा, सेला आदि पदो को यहाँ कहना चाहिए ।

शंका-समाधान—इस प्रकरण से पूर्व सूत्रो मे उक्त वृद्धि, हानि और अवस्थिति के ही समानार्थक क्रमश उपचय, अपचय और सोपचयापचय शब्द हैं, फिर भी इन नये सूत्रो की आवश्यकता इसलिए है कि पूर्वसूत्रो मे जीवो के परिमाण का कथन अभीष्ट है, जबकि इन सूत्रो मे परिमाण की अपेक्षा बिना केवल उत्पाद और उद्वर्तन इष्ट है। तथा तीसरे भग मे वृद्धि, हानि और अवस्थिति इन तीनो का समावेश हो जाता है।[1]

॥ पचम शतक अष्टम उद्देशक समाप्त ॥

---

१ (क) भगवती अ वृत्ति, पत्राक २४५ (ख) भगवती० हिन्दी विवेचन, भा २, पृ ९१२-९१३

[४-१ प्र] भगवन् ! नैरयिको के (निवासस्थान मे) उद्योत होता है, अथवा अन्धकार होता है ?

[४-१ उ] गौतम ! नैरयिक जीवो के (स्थान मे) उद्योत नही होता, (किन्तु) अन्धकार होता है।

[२] से केणट्ठेण० ?

गोतमा ! नेरइयाण असुभा पोग्गला, असुभे पोग्गलपरिणामे, से तेणट्ठेण० ।

[४-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से नैरयिको के (स्थान मे) उद्योत नही होता, अन्धकार होता है ?

[४-२ उ] गौतम ! नैरयिक जीवो के अशुभ पुद्गल और अशुभ पुद्गल परिणाम होते है, इस कारण से वहाँ उद्योत नही, किन्तु अन्धकार होता है ।

५ [१] असुरकुमाराण भते ! किं उज्जोते, अधकारे ?

गोयमा ! असुरकुमाराण उज्जोते, नो अधकारे ।

[५-१ प्र] भगवन् ! असुरकुमारो के क्या उद्योत होता है, अथवा अन्धकार होता है ?

[५-१ उ] गौतम ! असुरकुमारो के उद्योत होता है, अन्धकार नही होता ।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोतमा ! असुरकुमाराण सुभा पोग्गला, सुभे पोग्गलपरिणामे, से तेणट्ठेण एव वुच्चति० ।

[५-२ प्र] भगवन् ! यह किस कारण से कहा जाता है (कि असुरकुमारो के उद्योत होता है, अन्धकार नही ?)

[५-२ उ] गौतम ! असुरकुमारो के शुभ पुद्गल या शुभ परिणाम होते है, इस कारण से कहा जाता है कि उनके उद्योत होता है, अन्धकार नही होता ।

[३] एव जाव[1] थणियाण ।

[५-३] इसी प्रकार (नागकुमार देवो से लेकर) स्तनितकुमार देवो तक के लिए कहना चाहिए ।

६ पुढविकाइया जाव[2] तेइदिया जहा नेरइया ।

[६] जिस प्रकार नैरयिक जीवो के (उद्योत-अन्धकार के) विषय मे कथन किया, उसी प्रकार पृथ्वीकायिक जीवो से लेकर त्रीन्द्रिय जीवो तक के विषय मे कहना चाहिए ।

---

१ 'जाव' पद नागकुमार से लेकर स्तनितकुमार तक का सूचक है ।

२ यहाँ जाव पद पृथ्वीकायादि पाँच स्थावर से लेकर द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय जीवो तक का सूचक है ।

अचित्त-मीसियाइं दव्वाइं जीवा ति य अजीवा ति य 'नगर रायगिह' ति पणुच्चति, से तेणट्ठेण त चेव।

[२-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से (पृथ्वी को राजगृहनगर कहा जाता है, यावत् सचित्त अचित्त-मिश्र द्रव्यो को राजगृहनगर कहा जाता है ?)

[२-२ उ] गौतम ! पृथ्वी जीव-(पिण्ड) है और अजीव-(पिण्ड) भी है, इसलिए यह राजगृह नगर कहलाती है, यावत् सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य भी जीव है, और अजीव भी हैं, इसलिए ये द्रव्य (मिलकर) राजगृहनगर कहलाते है। हे गौतम ! इसी कारण से पृथ्वी आदि को राजगृहनगर कहा जाता है।

विवेचन—राजगृह के स्वरूप का निर्णय : तात्त्विक दृष्टि से—श्री गौतमस्वामी ने प्राय बहुत से प्रश्न श्रमण भगवान् महावीर से राजगृह मे पूछे थे, भगवान् के बहुत-से विहार भी राजगृह मे हुए थे। इसलिए नौवे उद्देशक के प्रारम्भ मे राजगृह नगर के स्वरूप के विषय मे तात्त्विक दृष्टि से पूछा गया है।

निष्कर्ष—चू कि पृथ्वी आदि के समुदाय के बिना तथा राजगृह मे निवास करने वाले मनुष्य पशु-पक्षी आदि के समूह के बिना 'राजगृह' शब्द की प्रवृत्ति नही हो सकती, अत राजगृह जीवाजीव रूप है।[1]

चौबीस दण्डक के जीवो के उद्योत-अन्धकार के विषय मे प्ररूपणा—

३ [१] से नूण भ ते दिया उज्जोते, राति अधकारे ?

हता गोयमा ! जाव अधकारे।

[३-१ प्र] हे भगवन् ! क्या दिन मे उद्योत (प्रकाश) और रात्रि मे अन्धकार होता है ?

[३-१ उ] हाँ गौतम ! दिन मे उद्योत और रात्रि मे अन्धकार होता है।

[२] से केणट्ठेण० ?

गोतमा ! दिया सुभा पोग्गला, सुभे पोग्गलपरिणामे, रत्ति असुभा पोग्गला, असुभे पोग्गलपरिणामे, से तेणट्ठेण०।

[४-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से दिन मे उद्योत और रात्रि मे अन्धकार होता है ?

[३-२ उ] गौतम ! दिन मे शुभ पुद्गल होते है अर्थात् शुभ पुद्गल-परिणाम होते हैं, किन्तु रात्रि मे अशुभ पुद्गल अर्थात् अशुभपुद्गल-परिणाम होते है। इस कारण से दिन मे उद्योत और रात्रि मे अन्धकार होता है।

४ [१] नेरइयाण भते ! कि उज्जोए, अंधकारे ?

गोयमा ! नेरइयाण नो उज्जोए, अधयारे।

---

१ भगवती अ वृत्ति, पत्राक २४६

[४-१ प्र] भगवन् ! नैरयिको के (निवासस्थान मे) उद्योत होता है, अथवा अन्धकार होता है ?

[४-१ उ] गौतम ! नैरयिक जीवो के (स्थान मे) उद्योत नही होता, (किन्तु) अन्धकार होता है।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोतमा ! नेरइयाण असुभा पोग्गला, असुभे पोग्गलपरिणामे, से तेणट्ठेणं० ।

[४-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से नैरयिको के (स्थान मे) उद्योत नही होता, अन्धकार होता है ?

[४-२ उ] गौतम ! नैरयिक जीवो के अशुभ पुद्गल और अशुभ पुद्गल परिणाम होते है, इस कारण से वहाँ उद्योत नही, किन्तु अन्धकार होता है।

५ [१] असुरकुमाराण भते ! किं उज्जोते, अधकारे ?

गोयमा ! असुरकुमाराण उज्जोते, नो अधकारे ।

[५-१ प्र] भगवन् ! असुरकुमारो के क्या उद्योत होता है, अथवा अन्धकार होता है ?

[५-१ उ] गौतम ! असुरकुमारो के उद्योत होता है, अन्धकार नही होता ।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोतमा ! असुरकुमाराण सुभा पोग्गला, सुभे पोग्गलपरिणामे, से तेणट्ठेणं एव वुच्चति० ।

[५-२ प्र] भगवन् ! यह किस कारण से कहा जाता है (कि असुरकुमारो के उद्योत होता है, अन्धकार नही ?)

[५-२ उ] गौतम ! असुरकुमारो के शुभ पुद्गल या शुभ परिणाम होते हैं, इस कारण से कहा जाता है कि उनके उद्योत होता है, अन्धकार नही होता ।

[३] एव जाव[1] थणियाणं ।

[५-३] इसी प्रकार (नागकुमार देवो से लेकर) स्तनितकुमार देवो तक के लिए कहना चाहिए ।

६ पुढविकाइया जाव[2] तेइंदिया जहा नेरइया ।

[६] जिस प्रकार नैरयिक जीवो के (उद्योत-अन्धकार के) विषय मे कथन किया, उसी प्रकार पृथ्वीकायिक जीवो से लेकर त्रीन्द्रिय जीवो तक के विषय मे कहना चाहिए ।

---

१ 'जाव' पद नागकुमार से लेकर स्तनितकुमार तक का सूचक है ।

२ यहाँ जाव पद पृथ्वीकायादि पाँच स्थावर से लेकर द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय जीवो तक का सूचक है ।

७. [१] चउरिंदियाण भं ते ! किं उज्जोते, अंधकारे ?

गोतमा ! उज्जोते वि, अंधकारे वि ।

[७-१ प्र] भगवन् ! चतुरिन्द्रिय जीवो के क्या उद्योत है अथवा अन्धकार है ?

[७-१ उ] गौतम ! चतुरिन्द्रिय जीवो के उद्योत भी है, अन्धकार भी है ।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोतमा ! चतुरिंदियाण सुभाऽसुभा पोग्गला, सुभाऽसुभे पोग्गलपरिणामे, से तेणट्ठेणं० ।

[७-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से चतुरिन्द्रिय जीवो के उद्योत भी है, अन्धकार भी है ?

[७-२ उ] गौतम ! चतुरिन्द्रिय जीवो के शुभ और अशुभ (दोनो प्रकार के) पुद्गल होते हैं, तथा शुभ और अशुभ पुद्गल परिणाम होते है, इसलिए ऐसा कहा जाता है, कि उनके उद्योत भी है और अन्धकार भी है ।

८. एवं जाव[1] मणुस्साणं ।

[८] इसी प्रकार (तिर्यञ्चपञ्चेन्द्रिय और) यावत् मनुष्यो तक के लिए कहना चाहिए ।

९ वाणमंतर-जोतिस-वेमाणिया जहा असुरकुमारा ।

[९] जिस प्रकार असुरकुमारो के (उद्योत-अन्धकार) के विषय मे कहा, उसी प्रकार वाण-व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो के विषय मे भी कहना चाहिए ।

विवेचन—चौबीस दण्डक के जीवो के उद्योत-अन्धकार के विषय मे प्ररूपणा—प्रस्तुत सात सूत्रो (सू ३ से ९ तक) मे नैरयिक जीवो से लेकर वैमानिक देवो तक के उद्योत और अन्धकार के सम्बन्ध मे कारण-पूर्वक सैद्धान्तिक प्ररूपणा की गई है ।

उद्योत और अन्धकार के कारण शुभाशुभ पुद्गल एवं परिणाम—क्यो और कैसे ?—शास्त्रकार ने दिन मे शुभ और रात्रि मे अशुभ पुद्गलो का कारण प्रकाश और अन्धकार बतलाया है, इसके पीछे रहस्य यह है कि दिन मे सूर्य की किरणो के सम्पर्क के कारण पुद्गल के परिणाम शुभ होते है, किन्तु रात्रि मे सूर्यकिरण-सम्पर्क न होने से पुद्गलो का परिणमन अशुभ होता है ।

नरको मे पुद्गलो की शुभता के निमित्तभूत सूर्यकिरणो का प्रकाश नही है, इसलिए वहाँ अन्धकार है । पृथ्वीकायिक से लेकर त्रीन्द्रिय तक के जीव, जो मनुष्यक्षेत्र मे है, और उन्हे सूर्य-किरणो आदि का सम्पर्क भी है, फिर भी उनमे अन्धकार कहा है, उसका कारण यह है कि उनके चक्षुरिन्द्रिय न होने से दृश्य वस्तु दिखाई नही देती, फलत शुभ पुद्गलो का कार्य उनमे नही होता, उस अपेक्षा से उनमे अशुभ पुद्गल है, अत उनमे अन्धकार ही है । चतुरिन्द्रिय जीवो से लेकर मनुष्य तक मे शुभाशुभ दोनो पुद्गल होते है, क्योकि उनके आँख होने पर भी जब रविकिरणादि का सद्भाव होता है, तब दृश्य पदार्थो के ज्ञान मे निमित्त होने से उनमे शुभ पुद्गल होते है, किन्तु

---

१ यहाँ 'जाव' पद से तिर्यञ्चपचेन्द्रियो एवं मनुष्यो का ग्रहण करना चाहिए ।

रविकिरणादि का सम्पर्क नही होता, तब पदार्थज्ञान का अजनक होने से उनमे अशुभ पुद्गल होते है। भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो के रहने के आश्रय (स्थान) आदि की भास्वरता के कारण वहाँ शुभ पुद्गल है, अतएव अन्धकार नही उद्योत है।[1]

चौबीस दण्डको मे समयादि काल-ज्ञानसम्बन्धी प्ररूपणा—

१४ [१] अत्थि ण भते ! नेरइयाण तत्थगयाण एव पण्णायति, त जहा—समया ति वा आवलिया ति वा जाव[2] ओसप्पिणी ति वा उस्सप्पिणी ति वा ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[१०-१ प्र] भगवन् ! क्या वहाँ (नरकक्षेत्र मे) रहे हुए नैरयिको को इस प्रकार का प्रज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) होता है, जैसे कि—(यह) समय (है), आवलिका (है), यावत् (यह) उत्सर्पिणी काल (या) अवसर्पिणी काल (है) ?

[१०-१ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ (शक्य) नही है। (अर्थात्—वहाँ रहे हुए नैरयिक जीवो को समयादि का प्रज्ञान नही होता।)

[२] से केणट्ठेण जाव[3] समया ति वा आवलिया ति वा जाव ओसप्पिणी ति वा उस्सप्पिणी ति वा ?

गोयमा ! इह तेसि माण, इह तेसि पमाण, इह तेसि एव पण्णायति, त जहा—समया ति वा जाव उस्सप्पिणी ति वा। से तेणट्ठेण जाव नो एव पण्णायति, त जहा—समया ति वा जाव उस्सप्पिणी ति वा।

[१०-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से नरकस्थ नैरयिको को समय, आवलिका, यावत् उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल का प्रज्ञान नही होता ?

[१०-२ उ] गौतम ! यहाँ (मनुष्यलोक मे) समयादि का मान है, यहाँ उनका प्रमाण है, इसलिए यहाँ (मनुष्य क्षेत्र मे) उनका (समयादि का) ऐसा प्रज्ञान होता है कि—यह समय है, यावत् यह उत्सर्पिणीकाल है, (किन्तु नरक मे न तो समयादि का मान है, न प्रमाण है और न ही प्रज्ञान है।) इस कारण से कहा जाता है कि नरकस्थित नैरयिको को इस प्रकार से समय, आवलिका यावत् उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी-काल का प्रज्ञान नही होता।

११ एव जाव पचेंदियतिरिक्खजोणियाण।

[११] जिस प्रकार नरकस्थित नैरयिको के (समयादिप्रज्ञान के) विषय मे कहा गया है;

---

१ भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक २४७

२ यहाँ 'जाव' पद से लव, स्तोक, मुहूर्त्त, दिवस, मास इत्यादि समस्त काल-विभागसूचक अवसर्पिणीपर्यन्त शब्दो का कथन करना चाहिए।

३ 'जाव' पद यहाँ समग्र प्रश्न वाक्य पुन उच्चारण करने का सूचक है।

उसी प्रकार (भवनपति देवो, स्थावर जीवो, तीन विकलेन्द्रियो से ले कर) यावत् पचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक जीवो तक के लिए कहना चाहिए।

१२ [१] अत्थि ण भते ! मणुस्साण इहगताण एव पण्णायति, त जहा—समया ति वा जाव उस्सप्पिणी ति वा ?

हता, अत्थि।

[१२-१ प्र] भगवन् ! क्या यहाँ (मनुष्यलोक मे) रहे हुए मनुष्यो को इस प्रकार का प्रज्ञान होता है, कि (यह) समय (है,) अथवा यावत् (यह) उत्सर्पिणीकाल (है) ?

[१२-१ उ] हाँ, गौतम ! (यहाँ रहे हुए मनुष्यो को समयादि का प्रज्ञान) होता है।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोतमा ! इह तेसिं माणं, इह तेसिं पमाण, इह चेव तेसिं एवं पण्णायति, त जहा—समया ति वा जाव उस्सप्पिणी ति वा। से तेणट्ठेणं०।

[१२-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से (ऐसा कहा जाता है) ?

[१२-२ उ] गौतम ! यहाँ (मनुष्यलोक मे) उनका (समयादि का) मान है यहाँ उनका प्रमाण है, इसलिए यहाँ उनको उनका (समयादि का) इस प्रकार से प्रज्ञान होता है, यथा—यह समय है, या यावत् यह उत्सर्पिणीकाल है। इस कारण से ऐसा कहा जाता है कि यहाँ रहे हुए मनुष्यो को समयादि का प्रज्ञान होता है।

१३ वाणमतर-जोतिस-वेमाणियाणं जहा नेरइयाण।

[१३] जिस प्रकार नैरयिक जीवो के विषय मे कहा गया है, उसी प्रकार वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एव वैमानिक देवो के (समयादिप्रज्ञान के) विषय मे कहना चाहिए।

विवेचन—चौबीस दण्डक के जीवो मे समयादिकाल के ज्ञानसम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रो (सू १० से १३ तक) मे नैरयिक से लेकर वैमानिक तक के जीवो मे से कहाँ-कहाँ किन-किन जीवो को समयादि का ज्ञान नही होता, किनको होता है ? और किस कारण से ? यह निरूपण किया गया है।

निष्कर्ष—चौवीस दण्डक के जीवो मे से मनुष्यलोक मे स्थित मनुष्यो के अतिरिक्त मनुष्यलोक-बाह्य किसी भी जीव को समय आवलिका आदि का ज्ञान नही होता, क्योकि वहाँ समयादि का मान-प्रमाण नही होता है। समयादि की अभिव्यक्ति सूर्य की गति से होती है और सूर्य की गति मनुष्यलोक मे ही है, नरकादि मे नही। इसीलिए यहाँ कहा गया है कि मनुष्यलोक स्थित मनुष्यो को ही समयादि का ज्ञान होता है, मनुष्यलोक से वाहर समयादि कालविभाग का व्यवहार नही होता। यद्यपि मनुष्यलोक मे कितने ही तिर्यंच-पचेन्द्रिय, भवनपति, वाणव्यन्तर, और ज्योतिष्कदेव हैं, तथापि वे स्वल्प हैं और कालविभाग के अव्यवहारी है, साथ ही मनुष्यलोक के वाहर वे वहुत हैं। अत उन

बहुतो की अपेक्षा से यह कहा गया है कि पचेन्द्रियतिर्यंच, भवनपति, वाणव्यन्तर एव ज्योतिष्कदेव समय आदि कालविभाग को नही जानते ।[1]

मान और प्रमाण का अर्थ—समय, आवलिका आदि काल के विभाग है । इनमे अपेक्षाकृत सूक्ष्म काल 'मान' कहलाता है, और अपेक्षाकृत प्रकृष्ट काल 'प्रमाण' । जैसे—'मुहूर्त्त' मान है, मुहूर्त्त की अपेक्षा सूक्ष्म होने से 'लव' 'प्रमाण' है । लव की अपेक्षा 'स्तोक' प्रमाण है और स्तोक की अपेक्षा 'लव' मान है । इस प्रकार से 'समय' तक जान लेना चाहिए ।[2]

पार्श्वापत्य स्थविरो द्वारा भगवान् से लोक-सम्बन्धी शंका-समाधान एवं पंचमहाव्रत धर्म मे समर्पण—

१४ [१] तेण कालेण तेण समएण पासावच्चिज्जा थेरा भगवतो जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामते ठिच्चा एव वदासी—से नूण भ ते ! असखेज्जे लोए, अणता रातिदिया उप्पज्जिसु वा उप्पज्जति वा उप्पज्जिस्सति वा ?, विगच्छिसु वा विगच्छति वा विगच्छिस्सति वा ?, परित्ता रातिदिया उप्पज्जिसु वा उप्पज्जति वा उप्पज्जिस्सति वा ? विगच्छिसु वा ३ ?

हता, अज्जो ! असखेज्जे लोए, अणता रातिदिया० त चेव ।

[१४-१ प्र] उस काल और उस समय मे पार्श्वापत्य (पार्श्वनाथ भगवान् के सन्तानीय शिष्य) स्थविर भगवन्त, जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, वहाँ आए । वहाँ आ कर वे श्रमण भगवान् महावीर से अदूरसामन्त (अर्थात्—न बहुत दूर और न बहुत निकट, अपितु यथायोग्य स्थान पर) खडे रह कर इस प्रकार पूछने लगे—भगवन् ! असख्य लोक मे क्या अनन्त रात्रि-दिवस उत्पन्न हुए है, उत्पन्न होते है और उत्पन्न होगे, तथा नष्ट हुए है, नष्ट होते है और नष्ट होगे ? अथवा परिमित (नियत परिमाण वाले) रात्रि-दिवस उत्पन्न हुए है, उत्पन्न होते है और उत्पन्न होगे, तथा नष्ट हुए है, नष्ट होते है और नष्ट होगे ?

[१४-१ उ] हाँ, आर्यो ! असख्य लोक मे अनन्त रात्रि-दिवस उत्पन्न हुए है, उत्पन्न होते है, यावत् उपर्युक्त रूप सारा पाठ कहना चाहिए ।

[२] से केणट्ठे ण जाव विगच्छिस्संति वा ? से नूण मे अज्जो ! पासेण अरहया पुरिसादाणीएणं "सासते लोए वुइते अणादीए अणवदग्गे परित्ते परिवुडे, हेट्ठा विच्छिण्णे, मज्झे सखित्ते, उप्पि विसाले, 'अहे पलियकसठिते, मज्झे वरवइरविग्गहिते, उप्पि उद्धमुइगाकारसठिते । तसि च ण सासयसि लोगसि अणादियसि अणवदग्गसि परित्तसि परिवुडसि हेट्ठा विच्छिण्णसि, मज्झे सखित्तसि,

---

१ (क) भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक २४७
(ख) 'मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके', 'तत्कृत कालविभाग,' 'बहिरवस्थिता'—तत्वार्थसूत्र अ ४ सू १४-१५-१६ ।

२ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २४७

उप्पिं विसालंसि, अहे पलियंकसंठियंसि, मज्झे वरवइरविग्गहियंसि, उप्पिं उद्धमुइंगाकारसंठियंसि अणंता जीवघणा उप्पज्जित्ता उप्पज्जित्ता निलीयंति, परित्ता जीवघणा उप्पज्जित्ता उप्पज्जित्ता निलीयंति। से भूए उप्पन्ने विगते परिणए अजीवेहिं लोक्कति, पलोक्कइ। जे लोक्कइ से लोए ?

'हंता, भगवं !'। से तेणट्ठेणं अज्जो ! एवं वुच्चति असंखेज्जे तं चेव[1]।

[१४-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से असंख्य लोक मे अनन्त रात्रि-दिवस उत्पन्न यावत् नष्ट होगे ?

[१४-२ उ] हे आर्यो ! यह निश्चित है कि आपके (गुरुस्वरूप) पुरुषादानीय (पुरुषो मे ग्राह्य), अर्हत् पार्श्वनाथ ने लोक को शाश्वत कहा है। इसी प्रकार लोक को अनादि, अनवदग्र (अनन्त), परिमित, अलोक से परिवृत (घिरा हुआ), नीचे विस्तीर्ण, मध्य मे संक्षिप्त, और ऊपर विशाल, तथा नीचे पल्यंकाकार, बीच मे उत्तम वज्राकार और ऊपर ऊर्ध्वमृदंगाकार कहा है। उस प्रकार के शाश्वत, अनादि, अनन्त, परित्त, परिवृत, नीचे विस्तीर्ण, मध्य मे संक्षिप्त, ऊपर विशाल, तथा नीचे पल्यंकाकार, मध्य मे उत्तमवज्राकार और ऊपर ऊर्ध्वमृदंगाकारसंस्थित लोक मे अनन्त जीवघन उत्पन्न हो-हो कर नष्ट होते है और परित्त (नियत=असंख्य) जीवघन भी उत्पन्न हो-हो कर विनष्ट होते हैं। इसीलिए ही तो यह लोक भूत है, उत्पन्न है, विगत है, परिणत है। यह, अजीवो (अपनी सत्ता को धारण करते, नष्ट होते, और विभिन्न रूपो मे परिणत होते लोक के अनन्यभूत पुद्गलादि) से लोकित—निश्चित होता है, तथा यह (भूत आदि धर्म वाला लोक) विशेषरूप से लोकित—निश्चित होता है। 'जो (प्रमाण से) लोकित—अवलोकित होता है, वही लोक है न ?' (पार्श्वापत्य स्थविर—) हाँ, भगवन् ! (वही लोक है।) इसी कारण से, हे आर्यो ! ऐसा कहा जाता है कि असंख्य लोक मे (अनन्त रात्रिदिवस यावत् परिमित रात्रि-दिवस यावत् विनष्ट होगे।) इत्यादि सब पूर्ववत् कहना चाहिए।

[३] तप्पभिइं च णं ते पासावच्चेज्जा थेरा भगवंतो समणं भगवं महावीरं पच्चभिजाणंति 'सव्वण्णुं सव्वदरिसिं'।

[१४-३] तब से वे पार्श्वापत्य स्थविर भगवन्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को सर्वज्ञ और सर्वदर्शी जानने लगे।

१५ [१] तए णं ते थेरा भगवंतो समणं भगवं महावीरं वंदंति नमसंति, २ एवं वदासी—इच्छामो णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सप्पडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

[१५-१] इसके पश्चात् उन (पार्श्वापत्य) स्थविर भगवन्तो ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके वे इस प्रकार बोले—'भगवन् चातुर्याम धर्म के बदले हम आपके समीप प्रतिक्रमण सहित पंचमहाव्रतरूप धर्म को स्वीकार करके विचरण करना चाहते है।

---

१ यहाँ 'लोक' के पूर्वसूचित समग्र विशेषण कहने चाहिए।

[२] 'ग्रहासुह देवाणुप्पिया ! मा पडिबध करेह ।'

[१५-२ भगवान्—] 'देवानुप्रियो ! जिस प्रकार आपको सुख हो, वैसा करो, किन्तु प्रतिबन्ध (शुभ कार्य मे ढील या रुकावट) मत करो ।'

१६. तए ण ते पासावच्चिज्जा थेरा भगवतो जाव[1] चरिमेहिं उस्सासनिस्सासेहिं सिद्धा जाव[2] सव्वदुक्खप्पहीणा, ग्रत्थेगइया देवा देवलोगेसु उववन्ना ।

[१६] इसके पश्चात् वे पार्श्वापत्य स्थविर भगवन्त, यावत् अन्तिम उच्छ्वास-नि श्वास के साथ सिद्ध हुए यावत् सर्वदु खो से प्रहीण (मुक्त-रहित) हुए और (उनमे से) कई (स्थविर) देवलोको मे देवरूप मे उत्पन्न हुए ।

विवेचन—पार्श्वापत्य स्थविरो द्वारा भगवान् से लोक-सम्बन्धी शका-समाधान एव पचमहाव्रत-धर्म मे समर्पण—प्रस्तुत तीन सूत्रो द्वारा शास्त्रकार ने पार्श्वनाथशिष्य स्थविरो के भगवान् महावीर के पास लोक सम्बन्धी शका के समाधानार्थ आगमन से लेकर उनके सिद्धिगमन या स्वर्गगमन तक का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है ।

पार्श्वापत्य स्थविरो द्वारा कृत दो प्रश्नो का आशय—(१) स्थविरो द्वारा पूछे गए प्रथम प्रश्न का आशय यह है कि जो लोक असख्यात प्रदेशवाला है, उसमे अनन्त रात्रि-दिवस (काल), कैसे हो या रह सकते है ? क्योकि लोकरूप आधार असख्यात होने से छोटा है और रात्रिदिवसरूप आधेय अनन्त होने से बडा है । अत छोटे आधार मे बडा आधेय कैसे रह सकता है ? (२) दूसरे प्रश्न का आशय यह है कि जब रात्रिदिवस (काल) अनन्त है, तो परित्त कैसे हो सकते है ?

भगवान् द्वारा दिये गए समाधान का आशय—उपर्युक्त दोनो प्रश्नो के समाधान का आशय यह है—एक मकान मे हजारो दीपको का प्रकाश समा सकता है, वैसे ही तथाविधस्वभाव होने से असख्य-प्रदेशात्मक लोक मे अनन्त जीव रहते है । वे जीव, साधारण शरीर की अपेक्षा एक ही स्थान मे, एक ही समय मे, आदिकाल मे अनन्त उत्पन्न होते है और अनन्त ही विनष्ट होते है । उस समय वह समयादिकाल साधारण शरीर मे रहने वाले अनन्तजीवो मे से प्रत्येक जीव मे विद्यमान है, तथैव प्रत्येक शरीर मे रहने वाले परित्त (परिमित) जीवो मे से प्रत्येक जीव मे विद्यमान है । क्योकि वह समयादि काल मे जीवो की स्थिति पर्यायरूप है । इस प्रकार काल अनन्त भी हुआ और परित्त भी हुआ । इसी कारण से कहा गया—असख्यलोक मे रात्रिदिवस अनन्त भी है, परित्त भी । इसी प्रकार तीनो काल मे हो सकता है ।

लोक अनन्त भी है, परित्त भी; इसका तात्पर्य—भगवान् महावीर ने अपने पूर्वज पुरुषो मे माननीय (आदानीय) तीर्थंकर पार्श्वनाथ के मत का ही विश्लेषण करते हुए बताया कि लोक शाश्वत एव प्रतिक्षण स्थिर भी है और उत्पन्न, विगत (विनाशी) एव परिणामी (निरन्वय विनाशी नही किन्तु विविधपर्यायप्राप्त) भी है । वह अनादि होते हुए भी अनन्त है । अनन्त (अन्तरहित) होते हुए भी प्रदेशो की अपेक्षा से परित्त (परिमित—असख्येय) है ।

---

१ 'जाव' पद से यहाँ निर्वाणगामी मुनि का वर्णन करना चाहिए ।

२ 'जाव' पद से यहाँ 'बुद्धा परिनिव्वुडा' आदि पद कहने चाहिए ।

अनन्त जीवघन और परित्त जीवघन—अनन्त जीवघन का अर्थ है—परिमाण से अनन्त अथवा जीवसन्तति की अपेक्षा अनन्त। जीवसतति का कभी अन्त नही होता इसलिए सूक्ष्मादि साधारण शरीरो की अपेक्षा तथा सतति की अपेक्षा जीव अनन्त है। वे अनन्तपर्याय-समूहरूप होने से तथा असख्येयप्रदेशो का पिण्डरूप होने से घन कहलाते है। ये हुए अनन्त जीवघन। तथा प्रत्येक शरीर वाले भूत भविष्यत्काल की सतति की अपेक्षा से रहित होने से पूर्वोक्तरूप से परित्त जीवघन कहलाते हैं। चू कि अनन्त और परित्त जीवो के सम्बन्ध से रात्रि-दिवसरूप कालविशेष भी अनन्त और परित्त कहलाता है। इसलिए अनन्त जीवरूप लोक के सम्बन्ध से रात्रिदिवसरूप कालविशेष भी अनन्त हो जाता है और परित्त जीवरूप लोक के सम्बन्ध से रात्रिदिवसरूप कालविशेष भी परित्त हो जाता है। अत इन दोनो मे परस्पर विरोध नही है।[1]

चातुर्याम एव सप्रतिक्रमण पचमहाव्रत मे अन्तर—सर्वथा प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान और बहिद्धादान का त्याग चातुर्याम धर्म है, और सर्वथा प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से विरमण पचमहाव्रत धर्म है। बहिद्धादान मे मैथुन और परिग्रह दोनो का समावेश हो जाता है। इसलिए इन दोनो प्रकार के धर्मो मे विशेष अन्तर नही है। भरत और ऐरवत क्षेत्र के २४ तीर्थंकरो मे से प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरो के सिवाय बीच के २२ तीर्थंकरो के शासन मे तथा महाविदेह क्षेत्र मे चातुर्याम प्रतिक्रमणरहित (कारण होने पर प्रतिक्रमण) धर्म प्रवृत्त होता है, किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरो के शासन मे सप्रतिक्रमण पचमहाव्रत धर्म प्रवृत्त होता है।[2]

१७—कइविहा ण भते ! देवलोगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! चउव्विहा देवलोगा पण्णत्ता, त जहा—भवणवासी-वाणमतर-जोइसिय-वेमाणिय-भेएण। भवणवासी दसविहा, वाणमतरा अट्ठविहा, जोइसिया पचविहा, वेमाणिया दुविहा।

[१७ प्र] भगवन् ! देवगण कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[१७ उ.] गौतम ! देवगण चार प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार है—भवनवासी, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक के भेद से (चार प्रकार होते हैं।) भवनवासी दस प्रकार के हैं। वाणव्यन्तर आठ प्रकार के हैं, ज्योतिष्क पाच प्रकार के है और वैमानिक दो प्रकार के हैं।

विवेचन—देवलोक और उसके भेद-प्रभेदो का निरूपण—प्रस्तुत सूत्र मे देवगण के मुख्य चार प्रकार और उनमे से प्रत्येक के प्रभेदो का निरूपण किया गया है।

देवलोक का तात्पर्य—प्रस्तुत प्रसग मे देवलोक का अर्थ—देवो का निवासस्थान या देवक्षेत्र

१ (क) भगवती सूत्र अ वृत्ति पत्राक २४८-२४९ (ख) भगवती हिन्दी विवेचन भा २ पृ ९२५

२ (क) भगवती० हिन्दी विवेचन भा २ पृ ९२७, (ख) भगवती अ वृत्ति पत्राक २४९

(ग) सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स पच्छिमस्स य जिणस्स। मज्झिमगाण जिणाण, कारणजाए पडिक्कमण।

(घ) मूलपाठ के इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि भगवान् महावीर एव अर्हत् पार्श्वनाथ एक ही परम्परा के तीर्थंकर है, यह तथ्य पार्श्वापत्य स्थविरो को ज्ञात न था। इसी कारण प्रथम साक्षात्कार मे वे भगवान् महावीर के पास आकर वन्दना-नमस्कार किये विना अथवा विनय भाव व्यक्त किये विना ही उनसे प्रश्न पूछते हैं। —जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास भा १ पृ १९७

नही, अपितु देव-समूह या देवनिकाय ही यथोचित है, क्योकि यहाँ प्रश्न के उत्तर मे देवलोक के भेद न बताकर देवो के भेद-प्रभेद बताए है। तत्त्वार्थसूत्र मे देवो के चार निकाय बताए गए है।[1]

भवनवासी देवो के दस भेद—१ असुरकुमार, २ नागकुमार, ३ सुवर्ण (सुपर्ण)कुमार, ४ विद्युत्कुमार, ५ अग्निकुमार, ६ द्वीपकुमार, ७ उदधिकुमार, ८ दिशाकुमार, ९ पवनकुमार और १० स्तनितकुमार।

वाणव्यन्तर देवो के आठ भेद—किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच।

ज्योतिष्क देवो के पाच भेद—सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे।

वैमानिक देवो के दो भेद—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। पहले से लेकर बारहवे देवलोक तक के देव 'कल्पोपपन्न' और उनसे ऊपर नौ ग्रैवेयक एव पच अनुत्तरविमानवासी देव 'कल्पातीत' कहलाते हैं।[2]

किमिय रायगिह ति य, उज्जोए अधकार-समए य।
पासतिवासि-पुच्छा, राइदिय देवलोगा य॥

उद्देशक की सग्रह-गाथा

[१८ गाथार्थ] राजगृह नगर क्या है ? दिन मे उद्योत और रात्रि मे अन्धकार क्यो होता है ? समय आदि काल का ज्ञान किन जीवो को होता है, किनको नही ? रात्रि-दिवस के विषय मे पार्श्वजिनशिष्यो के प्रश्न और देवलोकविषयक प्रश्न, इतने विषय इस नौवे उद्देशक मे कहे गए है।

॥ पचम शतक . नवम उद्देशक समाप्त ॥

---

१ (क) 'देवाश्चतुर्निकाया'—तत्त्वार्थसूत्र अ ४ सू १ (ख) भगवती (हिंदी विवेचन) भा २, पृ ९२९

२ (क) तत्त्वार्थसूत्र अ ४ सू ११, १२, १३, १७-१८ (ख) भगवती (हिन्दी विवेचन) भा २, पृ ९२९

अनन्त जीवघन और परित्त जीवघन—अनन्त जीवघन का अर्थ है—परिमाण से अनन्त अथवा जीवसन्तति की अपेक्षा अनन्त। जीवसतति का कभी अन्त नही होता इसलिए सूक्ष्मादि साधारण शरीरो की अपेक्षा तथा सतति की अपेक्षा जीव अनन्त है। वे अनन्तपर्याय-समूहरूप होने से तथा असख्येयप्रदेशो का पिण्डरूप होने से घन कहलाते हैं। ये हुए अनन्त जीवघन। तथा प्रत्येक शरीर वाले भूत भविष्यत्काल की सतति की अपेक्षा से रहित होने से पूर्वोक्तरूप से परित्त जीवघन कहलाते है। चू कि अनन्त और परित्त जीवो के सम्बन्ध से रात्रि-दिवसरूप कालविशेष भी अनन्त और परित्त कहलाता है। इसलिए अनन्त जीवरूप लोक के सम्बन्ध से रात्रिदिवसरूप कालविशेष भी अनन्त हो जाता है और परित्त जीवरूप लोक के सम्बन्ध से रात्रिदिवसरूप कालविशेप भी परित्त हो जाता है। अत इन दोनो मे परस्पर विरोध नही है।[1]

चातुर्याम एव सप्रतिक्रमण पचमहाव्रत मे अन्तर—सर्वथा प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान और बहिद्धादान का त्याग चातुर्याम धर्म है, और सर्वथा प्राणातिपात, मृपावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से विरमण पचमहाव्रत धर्म है। बहिद्धादान मे मैथुन और परिग्रह दोनो का समावेश हो जाता है। इसलिए इन दोनो प्रकार के धर्मो मे विशेष अन्तर नही है। भरत और ऐरवत क्षेत्र के २४ तीर्थकरो मे से प्रथम और अन्तिम तीर्थकरो के सिवाय बीच के २२ तीर्थकरो के शासन मे तथा महाविदेह क्षेत्र मे चातुर्याम प्रतिक्रमणरहित (कारण होने पर प्रतिक्रमण) धर्म प्रवृत्त होता है, किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरो के शासन मे सप्रतिक्रमण पचमहाव्रत धर्म प्रवृत्त होता है।[2]

१७—कइविहा ण भते ! देवलोगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! चउव्विहा देवलोगा पण्णत्ता, त जहा—भवणवासी-वाणमतर-जोइसिय-वेमाणिय-भेएण। भवणवासी दसविहा, वाणमंतरा अट्ठविहा, जोइसिया पचविहा, वेमाणिया दुविहा।

[१७ प्र] भगवन् ! देवगण कितने प्रकार के कहे गए है ?

[१७ उ.] गौतम ! देवगण चार प्रकार के कहे गए है। वे इस प्रकार है—भवनवासी, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक के भेद से (चार प्रकार होते है।) भवनवासी दस प्रकार के हैं। वाणव्यन्तर आठ प्रकार के हैं, ज्योतिष्क पाच प्रकार के है और वैमानिक दो प्रकार के है।

विवेचन—देवलोक और उसके भेद-प्रभेदो का निरूपण—प्रस्तुत सूत्र मे देवगण के मुख्य चार प्रकार और उनमे से प्रत्येक के प्रभेदो का निरूपण किया गया है।

देवलोक का तात्पर्य—प्रस्तुत प्रसग मे देवलोक का अर्थ—देवो का निवासस्थान या देवक्षेत्र

---

१ (क) भगवती सूत्र अ वृत्ति पत्राक २४८-२४९ (ख) भगवती हिन्दी विवेचन भा २ पृ ९२५

२ (क) भगवती० हिन्दी विवेचन भा २ पृ ९२७, (ख) भगवती अ वृत्ति पत्राक २४९

(ग) सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स पच्छिमस्स य जिणस्स। मज्झिमगाण जिणाण, कारणजाए पडिक्कमण।

(घ) मूलपाठ के इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि भगवान् महावीर एव अर्हत् पार्श्वनाथ एक ही परम्परा के तीर्थंकर है, यह तथ्य पार्श्वापत्य स्थविरो को ज्ञात न था। इसी कारण प्रथम साक्षात्कार मे वे भगवान् महावीर के पास आकर वन्दना-नमस्कार किये विना अथवा विनय भाव व्यक्त किये बिना ही उनसे प्रश्न पूछते हैं। —जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास भा १ पृ १९७

नही, अपितु देव-समूह या देवनिकाय ही यथोचित है, क्योकि यहाँ प्रश्न के उत्तर मे देवलोक के भेद न बताकर देवो के भेद-प्रभेद बताए है। तत्त्वार्थसूत्र मे देवो के चार निकाय बताए गए है।[1]

भवनवासी देवो के दस भेद—१ असुरकुमार, २ नागकुमार, ३ सुवर्ण (सुपर्ण)कुमार, ४ विद्युत्कुमार, ५ अग्निकुमार, ६ द्वीपकुमार, ७ उदधिकुमार, ८ दिशाकुमार, ९ पवन-कुमार और १० स्तनितकुमार।

वाणव्यन्तर देवो के आठ भेद—किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच।

ज्योतिष्क देवो के पांच भेद—सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे।

वैमानिक देवो के दो भेद—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। पहले से लेकर बारहवे देवलोक तक के देव 'कल्पोपपन्न' और उनसे ऊपर नौ ग्रैवेयक एव पच अनुत्तरविमानवासी देव 'कल्पातीत' कहलाते हैं।[2]

किमिय रायगिह त्ति य, उज्जोए अधकार-समए य।
पासतिवासि-पुच्छा, राइदिय देवलोगा य॥

उद्देशक की सग्रह-गाथा

[१८ गाथार्थ] राजगृह नगर क्या है ? दिन मे उद्योत और रात्रि मे अन्धकार क्यो होता है ? समय आदि काल का ज्ञान किन जीवो को होता है, किनको नही ? रात्रि-दिवस के विषय मे पार्श्वजिनशिष्यो के प्रश्न और देवलोकविषयक प्रश्न, इतने विषय इस नौवे उद्देशक मे कहे गए है।

॥ पचम शतक · नवम उद्देशक समाप्त ॥

---

१ (क) 'देवाश्चतुर्निकाया'—तत्त्वार्थसूत्र अ ४ सू १ (ख) भगवती (हिंदी विवेचन) भा २, पृ ९२९

२ (क) तत्त्वार्थसूत्र अ ४ सू ११, १२, १३, १७-१८ (ख) भगवती (हिन्दी विवेचन) भा २, पृ ९२९

दसमो उद्देसओ : 'चंपाचंदिमा'

दशम उद्देशक : 'चम्पा-चन्द्रमा'

[१] तेण कालेण तेण समाएण चपा णाम णयरी, जहा पढिमिल्लो उद्देसग्रो तहा णेयव्वो एसो वि, णवर चदिमा भाणियव्वा।

[१] उस काल और उस समय मे चम्पा नाम की नगरी थी। जैसे (पचम शतक का) प्रथम उद्देशक कहा है, उसी प्रकार यह उद्देशक भी कहना चाहिए। विशेपता यह है कि यहाँ 'चन्द्रमा' कहना चाहिए।

विवेचन—जम्बूद्वीप मे चन्द्रमा के उदय-अस्त आदि से सम्बन्धित अतिदेशपूर्वक वर्णन— प्रस्तुत उद्देशक के प्रथम सूत्र मे चम्पानगरी मे श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित चन्द्रमा का उदय-अस्त-सम्बन्धी वर्णन, पचम शतक के प्रथम उद्देशक (चम्पा-रवि) मे वर्णित सूर्य के उदय-अस्त सम्बन्धी वर्णन का हवाला देकर किया गया है।

चम्पा-चन्द्रमा—चन्द्रमा का उदय-अस्त-सम्वन्धी प्ररूपण श्रमण भगवान् महावीर स्वामी द्वारा चम्पा नगरी मे किया गया था, इसलिए इस उद्देशक का नाम 'चम्पा-चन्द्रमा' रखा गया है। रवि के वदले चन्द्रमा नाम के अतिरिक्त सारा ही वर्णन सूर्य के उदयास्त वर्णनवत् समझना चाहिए।

॥ पंचम शतक : दशम उद्देशक समाप्त ॥

॥ पंचम शतक सम्पूर्ण ॥

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमो मे जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रो का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल मे स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियो मे भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायो का उल्लेख करते है। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थो का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या सयुक्त होने के कारण, इन का भी आगमो मे अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, त जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, त जहा—अट्ठी, मस, सोणिते, असुतिसामते, सुसाणसामते, चदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अतो ओरालिए सरीरगे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान १०

नो कप्पति निग्गथाण वा, निग्गथीण वा चउहि महापाडिवएहि सज्झाय करित्तए, त जहा—आसाढपाडिवए, इदमहापाडिवए, कत्तिअपाडिवए, सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा, चउहि सझाहि सज्झाय करेत्तए, त जहा—पडिमाते, पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा, चाउक्काल सज्झाय करेत्तए, त जहा—पुव्वण्हे, अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या, इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गए हैं। जिनका सक्षेप मे निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. उल्कापात-तारापतन—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नही करना चाहिए।

२ दिग्दाह—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पडे कि दिशा मे आग सी लगी है, तब भी स्वाध्याय नही करना चाहिए।

गर्जन और विद्युत् प्राय ऋतु स्वभाव से ही होता है। अत आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नही माना जाता।

५. **निर्घात**—बिना बादल के आकाश मे व्यन्तरादिकृत घोर गर्जना होने पर, या बादलो सहित आकाश मे कडकने पर दो पहर तक अस्वाध्याय काल है।

६ **यूपक** - शुक्ल पक्ष मे प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनो प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

७ **यक्षादीप्त**—कभी किसी दिशा मे बिजली चमकने जैसा, थोडे थोडे समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अत आकाश मे जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

८ **धूमिकाकृष्ण**—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघो का गर्भमास होता है। इसमे धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धु ध पडती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धु ध पडती रहे, तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

९ **मिहिकाश्वेत**—शीतकाल मे श्वेत वर्ण का सूक्ष्म जलरूप धु ध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. **रज-उद्घात**—वायु के कारण आकाश मे चारो ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नही करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के है।

औदारिक सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३ **हड्डी मांस और रुधिर**—पचेन्द्रिय तिर्यच की हड्डी मास और रुधिर यदि सामने दिखाई दे, तो जब तक वहाँ से यह वस्तुएँ उठाई न जाएँ तब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओ के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि मास और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एव बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमश सात एव आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४ **अशुचि**—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५ **श्मशान**—श्मशानभूमि के चारो ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६ **चन्द्रग्रहण**—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

१७ **सूर्यग्रहण**—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमश आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बडे मान्य राजा अथवा राष्ट्रपुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसस्कार न हो तब तक स्वाध्याय न करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो तब तक शनै शनै स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओ मे परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक और उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नही करे।

२० औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पडा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पडा हो तो स्वाध्याय नही करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये है।

२१-२८. चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढपूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव है। इन पूर्णिमाओ के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते है। इनमे स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२ प्रात॰, साय, मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रात सूर्य उगने से एक घडी पहिले तथा एक घडी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घडी पहले तथा एक घडी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर मे एक घडी आगे और एक घडी पीछे एव अर्धरात्रि मे भी एक घडी आगे तथा एक घडी पीछे स्वाध्याय नही करना चाहिए।

—

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१ श्री सेठ मोहनमलजी चोरडिया, मद्रास
२ श्री गुलाबचन्दजी मागीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३ श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४ श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरडिया, बैंगलोर
५ श्री प्रेमराजजी भवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६ श्री एस किशनचन्दजी चोरडिया, मद्रास
७ श्री कवरलालजी बेताला, गोहाटी
८ श्री सेठ खीवराजजी चोरडिया, मद्रास
९ श्री गुमानमलजी चोरडिया, मद्रास
१० श्री एस बादलचन्दजी चोरडिया, मद्रास
११ श्री जे दुलीचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१२ श्री एस रतनचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१३ श्री जे. अन्नराजजी चोरडिया, मद्रास
१४ श्री एस सायरचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१५ श्री आर शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१६ श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरडिया, मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१ श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२ श्री जसराजजी गणेशमलजी सचेती, जोधपुर
३ श्री तिलोकचदजी सागरमलजी सचेती, मद्रास
४ श्री पूषालालजी किस्तूरचदजी सुराणा, कटगी
५ श्री आर प्रसन्नचन्दजी चोरडिया, मद्रास
६ श्री दीपचन्दजी बोकडिया, मद्रास
७ श्री मूलचन्दजी चोरडिया, कटगी
८ श्री वर्द्धमान इन्डस्ट्रीज, कानपुर
९ श्री मागीलालजी मिश्रीलालजी सचेती, दुर्ग

सरक्षक

१ श्री बिरदीचदजी प्रकाशचदजी तलेसरा, पाली
२ श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३ श्री प्रेमराजजी जतनराजजी मेहता, मेडता सिटी
४ श्री शा० जडावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५ श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपडा, ब्यावर
६ श्री मोहनलालजी नेमीचदजी ललवाणी, चागाटोला
७ श्री दीपचदजी चन्दनमलजी चोरडिया, मद्रास
८ श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चागाटोला
९ श्रीमती सिरेकुँवर बाई धर्मपत्नी स्व श्री सुगनचदजी झामड, मदुरान्तकम
१० श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K G F) जाडन
११ श्री थानचदजी मेहता, जोधपुर
१२ श्री भैरुदानजी लाभचदजी सुराणा, नागौर
१३ श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
१४ श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया, ब्यावर
१५ श्री इन्द्रचदजी बैद, राजनादगाव
१६ श्री रावतमलजी भीकमचदजी पगारिया, बालाघाट
१७ श्री गणेशमलजी धर्मीचदजी काकरिया, टगला
१८ श्री सुगनचन्दजी बोकडिया, इन्दौर
१९ श्री हरकचदजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२० श्री रघुनाथमलजी लिखमीचदजी लोढा, चागाटोला
२१ श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चागाटोला

२२ श्री सागरमलजी नोरतमलजी पीचा, मद्रास
२३ श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी बालिया, अहमदाबाद
२४ श्री केशरीमलजी जवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५ श्री रतनचदजी उत्तमचदजी मोदी, ब्यावर
२६ श्री धर्मीचदजी भागचदजी बोहरा, भूठा
२७ श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढा, डोडीलोहारा
२८ श्री गुणचदजी दलीचदजी कटारिया, बेल्लारी
२९ श्री मूलचदजी सुजानमलजी सचेती, जोधपुर
३० श्री सी० अमरचदजी बोथरा, मद्रास
३१ श्री सवरीलालजी मूलचदजी सुराणा, मद्रास
३२ श्री बादलचदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३ श्री लालचदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४ श्री हीरालालजी पन्नालालजी चोपडा, अजमेर
३५ श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बेंगलोर
३६ श्री भवरीमलजी चोरडिया, मद्रास
३७ श्री भवरलालजी गोठी, मद्रास
३८ श्री जालमचदजी रिखबचदजी बाफना, आगरा
३९ श्री घेवरचदजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४० श्री जबरचदजी गेलडा, मद्रास
४१ श्री जडावमलजी सुगनचदजी, मद्रास
४२ श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३ श्री चेनमलजी सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४ श्री लूणकरणजी रिखबचदजी लोढा, मद्रास
४५ श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१ श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसी, मेडतासिटी
२ श्री छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
३ श्री पूनमचदजी नाहटा, जोधपुर
४ श्री भवरलालजी विजयराजजी काकरिया, विल्लीपुरम्
५ श्री भवरलालजी चोपडा, ब्यावर
६ श्री विजयराजजी रतनलालजी चतर, ब्यावर
७ श्री बी गजराजजी बोकडिया, सलेम
८ श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी काठेड, पाली
९ श्री के पुखराजजी वाफणा, मद्रास
१० श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११ श्री मोहनलालजी मगलचदजी पगारिया, रायपुर
१२ श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणिया, चण्डावल
१३ श्री भवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१४ श्री उत्तमचदजी मागीलालजी, जोधपुर
१५ श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६ श्री सुमेरमलजी मेडतिया, जोधपुर
१७ श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टाटिया, जोधपुर
१८ श्री उदयराजजी पुखराजजी सचेती, जोधपुर
१९ श्री बादरमलजी पुखराजजी बट, कानपुर
२० श्रीमती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री जवरीलालजी गोठी, जोधपुर
२१ श्री रायचदजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२ श्री घेवरचदजी रूपराजजी, जोधपुर
२३ श्री भवरलालजी माणकचदजी सुराणा, मद्रास
२४ श्री जवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
२५ श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेडतासिटी
२६ श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
२७ श्री जसराजजी जवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८ श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९ श्री नेमीचदजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३० श्री ताराचदजी केवलचदजी कर्णावट, जोधपुर
३१ श्री आसूमल एण्ड क०, जोधपुर
३२ श्री पुखराजजी लोढा, जोधपुर
३३ श्रीमती सुगनीबाई W/o श्री मिश्रीलालजी साड, जोधपुर
३४ श्री बच्छराजजी सुराणा, जोधपुर
३५ श्री हरकचन्दजी मेहता, जोधपुर
३६ श्री देवराजजी लाभचदजी मेडतिया, जोधपुर
३७ श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
३८ श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टाटिया, जोधपुर
३९ श्री मागीलालजी चोरडिया, कुचेरा

४० श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१ श्री श्रीकचदजी हेमराज जी सोनी, दुर्ग
४२ श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३ श्री घीसूलालजी लालचदजी पारख, दुर्ग
४४ श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट क) जोधपुर
४५ श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६ श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार, बेंगलोर
४७ श्री भवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
४८ श्री लालचदजी मोतीलालजी गादिया, बेंगलोर
४९ श्री भवरलालजी नवरत्नमलजी साखला, मेट्टूपालियम
५० श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१ श्री आसकरणजी जसराज जी पारख, दुर्ग
५२ श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३ श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेडतासिटी
५४ श्री घेवरचदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५ श्री मागीलालजी रेखचदजी पारख, जोधपुर
५६ श्री मुन्नीलालजी मूलचदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७ श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८ श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेडता सिटी
५९ श्री भवरलालजी रिखवचदजी नाहटा, नागौर
६० श्री मागीलालजी प्रकाशचन्दजी रुणवाल, मैसूर
६१ श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया
६२ श्री हरकचदजी जुगराजजी बाफना, बैंगलोर
६३ श्री चन्दनमलजी प्रेमचदजी मोदी, भिलाई
६४ श्री भीवराजजी बाघमार, कुचेरा
६५ श्री तिलोकचदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
६६ श्री विजयलालजी प्रेमचदजी गुलेच्छा, राजनादगाँव
६७ श्री रावतमलजी छाजेड, भिलाई
६८ श्री भवरलालजी डूगरमलजी कांकरिया, भिलाई
६९ श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
७० श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसघ, दल्ली-राजहरा
७१ श्री चम्पालालजी बुद्धराजजी बाफणा, ब्यावर
७२ श्री गगारामजी इन्द्रचदजी बोहरा, कुचेरा
७३ श्री फतेहराजजी नेमीचदजी कर्णावट, कलकत्ता
७४ श्री बालचदजी थानचन्दजी भुरट, कलकत्ता
७५ श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६ श्री जवरीलालजी शातिलालजी सुराणा, बोलारम
७७ श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८ श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९ श्री माणकचदजी रतनलालजी मुणोत, टगला
८० श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढा, ब्यावर
८१ श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गौहाटी
८२ श्री पारसमलजी महावीरचदजी बाफना, गोठन
८३ श्री फकीरचदजी कमलचदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४ श्री मांगीलालजी मदनलालजी चोरडिया भैरूद
८५ श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६ श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७ श्री सरदारमलजी एन्ड कम्पनी, जोधपुर
८८ श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
८९ श्री पुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९० श्री इन्द्रचन्दजी मुकन्दचन्दजी, इन्दौर
९१ श्री भवरलालजी बाफणा, इन्दौर
९२ श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३ श्री बालचन्दजी अमरचन्दजी मोदी
९४ श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भडारी
९५ श्री कमलाकवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६ श्री अखेचदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७ श्री सुगनचन्दजी सचेती, राजनादगाँव